दर्शन दिग्दर्शन

राहुल सांकृत्यायन

किताब महल, इलाहाबाद

१९७८

प्रथम संस्करण, १९४४
द्वितीय संस्करण, १९४७
तृतीय संस्करण, १९६१
पुनः मुद्रितः १९७८

प्रकाशक : किताब महल, इलाहाबाद ।
मुद्रक : किताब महल (डब्लू० डी०) प्रा० लि०, इलाहाबाद ।

समर्पण

का० प्र० जायसवालकी स्नेह पूर्ण स्मृति में
जिनके शब्द पुस्तक लिखते वक्त
बराबर कानोंमें गूँजते थे, और
जिन्हें सुनानेकी उत्कंठा-
में कितनी ही बार में
भूल जाता था, कि
सुननें वाला
चिर-निद्रा-
विलीन
है।

भूमिका

मानवका अस्तित्व पृथ्वीपर यद्यपि लाखों वर्षोंसे है, किन्तु उसके दिमाग की उड़ानका सबसे भव्य-युग ५०००-३००० ई० पू० है, जब कि उसने खेती, नहर, सौर-पंचांग आदि-आदि कितने ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा समाजकी कायापलट करनेवाले आविष्कार किए। इस तरहकी मानव-मस्तिष्ककी तीव्रता हम फिर १७६० ई० के बादसे पाते हैं, जब कि आधुनिक आविष्कारोका सिलसिला शुरू होता है। किन्तु दर्शनका अस्तित्व तो पहिले युगमे था ही नही, और दूसरे युगमे वह एक बूढा बुजुर्ग है, जो अपने दिन बिता चुका है, बूढा होनेसे उसकी इज्जत की जाती जरूर है, किन्तु उसकी बातकी ओर लोगोंका ध्यान तभी खिचता है, जब कि वह प्रयोग-आश्रित चिन्तन—साइंस—का पल्ला पकडता है। यद्यपि इस बातको सर राधाकृष्णन् जैसे पुराने ढर्रेके "धर्म-प्रचारक" माननेके लिए तैयार नही है, उनका कहना है—

"प्राचीन भारतमे दर्शन किसी भी दूसरी साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न हो, सदा एक स्वतत्र स्थान रखता रहा है।"[1] भारतीय दर्शन साइंस या कलाका लग्गू-भग्गू न रहा हो, किन्तु धर्मका लग्गू-भग्गू तो वह सदासे चला आता है, और धर्मकी गुलामीसे बदतर गुलामी और क्या हो सकती है?

३०००-२६०० ई० पू० मानव-जातिके बौद्धिक जीवनके उत्कर्ष नही अपकर्षका समय है; इन सदियोंमे मानवने बहुत कम नए आविष्कार किए। पहिलेकी दो सहस्राब्दियोंके कड़े मानसिक श्रमके बाद १०००-७०० ई० पू० में, जान पड़ता है, मानव-मस्तिष्क पूर्ण विश्राम लेना चाहता

---

१. 'History of Indian Philosophy, Vol. I., p. 22

था, और इसी स्वप्नावस्थाकी उपज दर्शन है; और इस तरहका प्रारंभ निश्चय ही हमारे दिलमे उसकी इज्जतको बढाता नही घटाता है। लेकिन, दर्शनका जो प्रभात है, वही उसका मध्याह्न नही है। दर्शनका सुवर्णयुग ७०० ई० पू० से बादकी तीन और चार शताब्दियाँ हैं, इसी वक्त भारत मे उपनिषद्से लेकर बुद्ध तकके, और यूरोपमे थेल्ससे लेकर अरस्तू तकके दर्शनोका निर्माण होता है। यह दोनो दर्शन-धाराएँ आपसमे मिलकर विश्वकी सारी दर्शन-धाराओका उद्गम बनती है—सिकन्दरके बाद किस तरह यह दोनो धाराएँ मिलती है, और कैसे दोनो धाराओका प्रतिनिधि नव-अफलातूनी दर्शन आगे प्रगति करता है, इसे पाठक आगे पढेंगे।

दर्शनका यह सुवर्णयुग, यद्यपि प्रथम और अन्तिम आविष्कारयुगोंकी समानता नही कर सकता, किन्तु साथ ही यह मानव-मस्तिष्ककी निद्राका समय नही था। कहना चाहिए, इस समयका शक्तिशाली दर्शन अलग-थलग नही बल्कि एक बहुमुखीन प्रगतिकी उपज है। मानव-समाजकी प्रगतिके बारेमे हम अन्यत्र[1] बतला आए है, कि सभी देशोंमे इस प्रगतिके एक साथ होनेका कोई नियम नही है। ६०० ई० पू० वह वक्त है, जब कि मिश्र, मसोपोतामिया और सिन्धु-उपत्यकाके पुराने मानव अपनी आसमानी उडानके बाद थककर बैठ गए थे; लेकिन इसी वक्त नवागतुकोके मिश्रणसे उत्पन्न जातियाँ—हिन्दू और यूनानी—अपनी दिमागी उडान शुरू करती है। दर्शन-क्षेत्रमे यूनानी ६००-३०० ई० पू० तक आगे बढते रहते हैं, किन्तु हिन्दू ४०० ई० पू० के आसपास थककर बैठ जाते है। यूरोपमें ३०० ई० पू०मे ही अँधेरा छा जाता है, और १६०० ई० मे १९ शताब्दियोके बाद नया प्रकाश (पुनर्जागरण) आने लगता है, यद्यपि इसमें शक नहीं इस लंबे कालकी तीन शताब्दियों—९००-१२०० ई०—मे दर्शनकी मशाल बिल्कुल बुझती नही, बल्कि इस्लामिक दार्शनिकोंके हाथमें वह बड़े जोरसे जलती रहती है, और पीछे उसीसे आधुनिक यूरोप अपने दर्शनके प्रदीपको

---

१. 'मानव-समाज', (किताब महल, इलाहाबाद)

जलानेमें सफल होता है। उधर दर्शनकी भारतीय शाखा ४०० ई० पू० की बादकी चार शताब्दियोंमें राखकी ढेरमें चिंगारी बनी पड़ी रहती है। किन्तु ईसाकी पहिलीसे छठी शताब्दी तक—विशेषकर पिछली तीन शताब्दियोंमें—वह अपना कमाल दिखलाती है। यह वह समय है, जब कि पश्चिममें दर्शनकी अवस्था अब्तर रही है। नवीसे बारहवीं सदी तक भारतीय दर्शन इस्लामिक दर्शनका समकालीन ही नही समकक्ष रहता है, किन्तु उसके बाद वह ऐसी चिर-समाधि लेता है, कि आजतक भी उसकी समाधि खुली नही है। इस्लामिक दर्शनके अवसानके बाद यूरोपीय दर्शनकी भी यही हालत हुई होती, यदि उसने सोलहवी सदीमे[1] धर्मसे अपनेको मुक्त न किया होता।—सोलहवी सदी यूरोपमे स्कोलास्तिक—धर्मपोषक—दर्शनका अन्त करती है, किन्तु भारतमें एकके बाद स्कोलास्तिक दाकतर पैदा होते रहे है, और दर्शनकी इस दासताको वह गर्वकी बात समझते है। यह उनकी समझमे नही आता, कि साइस और कलाका सहयोगी बननेका मतलब है, जीवित प्रकृति—प्रयोग—का जबर्दस्त आश्रय ग्रहणकर अपनी सृजनशक्तिको बढाना, जो दर्शन उससे आजादी चाहता है, वह बुद्धि, जीवन और खुद आजादीसे भी आजादी चाहता है।

विश्वव्यापी दर्शनकी धाराको देखनेसे मालूम होगा, कि वह राष्ट्रीयकी अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय ज्यादा है। दार्शनिक विचारोके ग्रहण करनेमें उसने कही ज्यादा उदारता दिखलाई, जितना कि धर्मने एक दूसरे देशके धर्मोंको स्वीकार करनेमे। यह कहना गलत होगा, कि दर्शनके विचारोंके पीछे आर्थिक प्रश्नोका कोई लगाव नही था, तो भी धर्मोंकी अपेक्षा वह बहुत कम एक राष्ट्रके स्वार्थको दूसरेपर लादना चाहता रहा; इसीलिए हम जितना गगा, आमू-दजला और नालदा-बुखारा-बगदाद-कार्दोवाका स्वतत्र स्नेह-पूर्ण समागम दर्शनोंमें पाते हैं, उतना साइसके क्षेत्रसे अलग कही नही पाते। हमे अफसोस है, समय और साधनके अभावसे हम चीन-जापानकी दार्शनिक धाराको नही दे सके; किंतु वैसा होनेपर भी इस निष्कर्षमें तो कोई अन्तर,

---

१. देखिए परिशिष्ट "दार्शनिकोंका काल-क्रम"

नही पडता कि दर्शनक्षेत्रमे राष्ट्रीयताकी तान छेडनेवाला खुद धोखेमे है और दूसरोको धोखेमे डालना चाहता है।

मैंने यहाँ दर्शनको विस्तृत भूगोलके मानचित्रपर एक पीढ़ीके बाद दूसरी पीढीको सामने रखते हुए देखनेकी कोशिश की है, मैं इसमें कितना सफल हुआ हूँ, इसे कहनेका अधिकारी मैं नही हूँ। किन्तु मैं इतना जरूर समझता हूँ, कि दर्शनके समझनेका यही ठीक तरीका है, और मुझे अफसोस है कि अभी तक किसी भाषामे दर्शनको इस तरह अध्ययन करनेका प्रयत्न नही किया गया है।—लेकिन इस तरीकेकी उपेक्षा ज्यादा समय तक नही की जा सकेगी, यह निश्चित है।

पुस्तक लिखनेमे जिन ग्रथोमे मुझ सहायता मिली है, उनकी तथा उनके लेखकोकी नामावली मैने पुस्तकके अन्तमे दे दी है। उनके ग्रथोका मैं जितना ऋणी हूँ, उससे कृतज्ञता-प्रकाशन द्वारा मैं अपनेको उऋण नही समझता—और वस्तुत ऐसे ऋणके उऋण होनेका तो एक ही रास्ता है, कि हिन्दीमे दर्शनपर ऐसी पुस्तके निकलने लगे, "दर्शन-दिग्दर्शन" को कोई याद भी न करे। प्रत्येक ग्रथकारको, मैं समझता हूँ, अपने ग्रथके प्रति यही भाव रखना चाहिए।—अमरता? बहुत भारी भ्रमके सिवा और कुछ नही है।

पुस्तक लिखनेमे पुस्तको तथा आवश्यक सामग्री सुलभ करनेमे भदन्त आनद कौसल्यायन और पडित उदयनारायण तिवारी, एम० ए०, साहित्य-रत्नने सहायता की है, शिष्टाचारके नाते एसे आत्मीयोको भी धन्यवाद देता हूँ।

सेंट्रल जेल, हजारीबाग
२५-३-१९४२

राहुल सांकृत्यायन

दो शब्द

प्रथम सस्करणमे जो अशुद्धियाँ रह गई थी उनको राहुलजीके सहकर्मी तथा मित्र श्री महादेवप्रसाद साहाने राहुलजीकी अनुपस्थितिमे ठीक कर दिया है। हम उनके बहुत आभारी हैं।

—प्रकाशक

दर्शन-दिग्दर्शन

विषय-सूची

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

पंचदश अध्याय

पृष्ठ

सप्तदश अध्याय

ईश्वरवादी दर्शन

§ १ बुद्धिवादी न्याय

१

यूनानी दर्शन

अध्याय १

१. यूनानी दर्शन

यूनान या यवन एक प्रदेशके कारण पड़ा सारे देशका नाम है, जिस तरह कि सिन्धुसे हिन्दुस्तान और पारससे पारस्य (ईरान)। वस्तुतः इवन या यवन उन पुरियों (अथेन्स आदि) का नाम था, जो कि क्षुद्र-एसिया (आधुनिक एसियाई तुर्की) और युरोपके बीचके समुद्रमें पड़ती थी। इन पुरियोंके नागरिक नाविक-जीवन और व्यापारमें बहुत कुशल थे; और इसके लिये वे दूर-दूर तककी सामुद्रिक और स्थलीय यात्रायें करते रहते थे। ईसापूर्व छठी-सातवी शताब्दियोंमें इन यवनी पुरियोंकी यह सरगर्मी ही थी, जिससे बाहरी दुनियाको इनका पता लगा और उन्हींके नामपर सारा देश यवन या यूनान कहा जाने लगा।

यूनान उस वक्त व्यापारके लिये ही नही, शिल्प और कलाके लिये भी विख्यात था और उसके दक्ष कारीगरोंके हाथोंकी बनी चीजोंकी बहुत माँग थी। यवन व्यापारी दूसरे देशोंमें जाकर, सिर्फ सौदेका ही परिवर्तन नही करते थे, बल्कि विचारोंका भी दान-आदान करते थे, जो कि ईसा-पूर्वकी तीसरी-दूसरी सदियोंके 'कार्ला' आदि गुफाओमे अंकित उनके बौद्ध मठोंके लिये दिये दानोंसे सिद्ध है। किन्तु यह पीछेकी बात है, जिस समयकी बात हम कह रहे हैं, उस समय मिश्र, बाबुलकी सभ्यतायें बहुत पुरानी और सम्माननीय समझी जाती थी। यवन सौदागरोंने इन पुरानी सभ्यताओंसे प्राकृतिक-विज्ञान, ज्योतिष, रेखा-गणित, अंक-गणित, वैद्यककी कितनी ही बातें सीखी और सीखकर एक अच्छे शिष्यकी भाँति उन्हे आगे भी विकसित किया। इसी विचार-विनिमयका दूसरा परिणाम था

यूनानी-दर्शनकी सबसे पुरानी शाखा—युनिक सम्प्रदाय (थेल, अनक्सि-मन्दर अनक्सिमन, आदि) का प्रादुर्भाव।

§१. तत्त्वजिज्ञासु युनिक[1] दार्शनिक

(६०० से ४०० ई० पू०)

युनिक दार्शनिकोकी जिज्ञासाका मुख्य लक्ष्य था उस मूलतत्त्वका पता लगाना, जिससे विश्वकी सारी चीजें बनी हैं। वे सिर्फ कल्पनाके ही आकाशमे उड़नेवाले नही थे, बल्कि उनमे, **अनक्सिमन्दर**को हम उस वक्तकी ज्ञात दुनियाका नकशा बनाते देखते है, यही नकशा बहुत समय तक व्यापारियोके लिये पथ-प्रदर्शकका काम देता रहा। इस प्रकार हम देखते हैं, कि ये दार्शनिक व्यवहार या वैज्ञानिक प्रयोगो से अपनेको अलग-थलग रखना नही चाहते थे।

उपनिषद्के दार्शनिकोको भी हम इससे एक सदी पहले यह बहस करते पाते हैं कि 'विश्वका मूल उपादान क्या है—जिस एकके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता है।' हमारे यहाँ[2] किसीने अग्निको मूलतत्त्व कहा, किसीने आकाशको, किसीने वायुको, और किसीने आत्मा या ब्रह्मको। युनिक दार्शनिक थेल, (लगभग ६२४–५३४ ई० पू०) का कहना था, कि "पानी ही प्रथम तत्त्व[3] है। अनक्सिमन्दर (६११–५४६ ई० पू०) का कहना था, कि भूतोके जिन स्थूल सान्त-रूपको हम देखते है, मूलतत्त्व को उनसे अत्यन्त सूक्ष्म होना चाहिए। उसने इसका नाम 'अनन्त' और 'अनिश्चित' रखा। इसी 'अनन्त' और 'अनिश्चित' तत्त्वसे आग, हवा, पानी, मिट्टी—मूलतत्त्व बने है। अनक्सिमन (५८८–५२४ ई० पू०) पानीको मूलतत्त्व मानता था।

---

१. Ionic. २. देखो पृष्ठ ४५२ (अग्नि), ४८० (वायु)।
३. (आप एव अग्र आसन्)

इन पुराने युनिक दार्शनिकोंमें हम एक खास बात यह देखते हैं, कि वह यह प्रश्न नही उठाते, कि इन तत्त्वोंको किसने बनाया ! उनका प्रश्न है 'ये कैसे बने ?' भारतमें इनके समकालीन **चार्वाक** और **बुद्ध** को भी किसी बनानेवाले विधाताके प्रश्नको नही छेड़ते देखते हैं। इन युनिक दार्शनिकोंके लिए जीवन महाभूतसे अलग चीज न थी, जिसके लिए कि एक पृथक् **चालक** चेतनशक्तिकी जरूरत हो। गरजते-बादल, 'चलती-नदी, लहराता-समुद्र, हिलता-वृक्ष, काँपती-पृथ्वी, उनकी निर्जीवता नहीं, सजीवताको साबित करती है। इसीलिए भूतोंसे परे किसी **अन्तर्यामी** को जाननेका सवाल उन्होंने नही उठाया।

ये थे युनिक दार्शनिक, जिन्होंने पाश्चात्य दर्शनके विकासमें पहिला प्रयास किया।

§२. बुद्धिवाद

पिथागोर (लगभग ५८२-४९३ ई० पू०)—युनिक दार्शनिकोंके बाद अगले विकासमें हम विचारकोंको और सूक्ष्म तर्क-वितर्ककी ओर लगे देखते हैं। युनिक दार्शनिक महाभूतोंके किनारे-किनारे आगे बढ़ते हुए मूल-तत्त्वकी खोज कर रहे थे। अब हम पिथागोर जैसे दार्शनिकोंको किनारेसे छलाँग मारकर आगे बढ़ते देखते हैं। पिथागोर भी केवल दार्शनिक न था, वह अपने समयका श्रेष्ठ गणितज्ञ था। कहते है, वह भारत आया—या यहाँके विचारोंसे प्रभावित हुआ था और यहींसे उसने पुनर्जन्मका सिद्धान्त (और शायद शारीरक ब्रह्मको भी) लिया था। जो भी हो, उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति वह भी ठोस विश्वको छोड़कर कल्पना-जगत्मे उड़ना चाहता था, यह उसके दर्शनसे स्पष्ट है। इस प्रकारके दर्शनको भारतीय परम्परामें **विज्ञानवाद** कहते हैं। पिथागोर मूलतत्त्वको ढूँढते हुए, स्थूल व्यक्तिको छोड़ आकृतिकी ओर दौड़ता है। उसका कहना था, महाभूत मूलतत्त्व नही हैं, न उनके सूक्ष्म रूप ही। मूलतत्त्व—पदार्थ—है आकृति या आकार। वीणाके तारकी लम्बाई और उसके स्वरका खास सम्बन्ध है।

अंगुलीसे दबाकर जितनी लम्बाई या आकारका हम इस्तेमाल करते हैं, उसीके अनुसार स्वर निकलता है। वीणाके तारकी लम्बाईके दृष्टान्तका पिथागोरके दर्शनमें बहुत ज्यादा उपयोग किया गया है। शरीरके स्वास्थ्य-के बारेमें भी उसका कहना था, "वह आकृति (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाईके-खास परिमाण) पर निर्भर है।" इस तरह पिथागोर इस निष्कर्षपर पहुँचा, कि 'मूलतत्त्व आकृति है।' आकृति (लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई) चूँकि सख्या (गिनती) में प्रकट की जा सकती है, इसीलिए महावाक्य प्रसिद्ध हुआ, "सभी चीजें संख्यायें हैं" और इस प्रकार हमारे यहाँके वैयाकरणोंके 'शब्द-ब्रह्म' की भाँति, पिथागोरका 'संख्या-ब्रह्म' प्रसिद्ध हुआ। उस समयके यूनानी संख्या-सकेत भी कई विन्दुओंको खास आकृतिमें रख-कर लिखे जाते थे—यही बात हमारे यहाँकी ब्राह्मी-लिपिकी सख्याओंपर भी लागू थी, जिसमे कि पाइयों की संख्या बढाकर संख्या-संकेत होता था। इससे भी "सख्या-ब्रह्म' के प्रचारमे पिथागोरके अनुयायियोंको आसानी पडी। विन्दु, रेखाओंको बनाते हैं; रेखायें, तलको; और तल, ठोस पदार्थ को; गोया विन्दु या सख्या ही सबकी जड है।

युनिक दार्शनिकोंकी विचार-धारा अगली चिन्तन-धाराको गति देकर विलीन हो गई, किंतु पिथागोरकी विचार-धाराने एक दर्शन-सम्प्रदाय चलाया, जो कई शताब्दियों तक चलता रहा और आगे चलकर अफलातूं—अरस्तूंके दर्शनका उज्जीवक हुआ।

१ – अद्वैतवाद

ईरानके शहंशाह **कोरोश्** (५५०-५२९ ई० पू०) ने क्षुद्र-एसियाको जीतकर जब युनिक पुरियोंपर भी अधिकार कर लिया, तो उस वक्त कितने ही यूनानी इधर-उधर भाग गये, जिनमें पिथागोरके कुछ अनु-यायी एलिया (दक्षिण इताली) में जा बसे। पिथागोरकी शिक्षा सिर्फ दार्शनिक ही नही थी, बल्कि बुद्ध और वर्द्धमानकी भाँति वह एक धार्मिक सम्प्रदायका सस्थापक था, जिसके अपने मठ और साधक होते थे। किंतु

एलियाके विचारक शुद्ध दार्शनिक पहलूपर ज्यादा जोर देते थे। इनका दर्शन **स्थिरवाद** था, अर्थात् परिवर्तन केवल स्थूल-दृष्टिसे दीखता है, सूक्ष्म-दृष्टिसे देखनेपर हम स्थिर-तत्त्वों, या तत्त्वोंपर ही पहुँचते हैं।

(१) **क्सेनोफेन्** (५७६ (७)-४८० ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोंमें क्सेनोफेन्का देवताओंके विरुद्ध यह वाक्य बहुत प्रसिद्ध है—"मर्त्य (मनुष्य) विश्वास करते हैं कि देवता उसी तरह अस्तित्वमें आये जैसे कि हम, और देवताओंके पास भी इन्द्रियाँ, वाणी, काया है, किंतु यदि बैलों या घोडोंके पास हाथ होते, तो बैल, देवताओंको बैलकी शकलके बनाते; घोड़े, घोडेकी तरह बनाते। इथोपिया (अबीसीनिया) वाले अपने देवताओंको काले और चिपटी नाकवाले बनाते हैं और थ्रेसवाले अपने देवताओंको रक्तकेश, नीलनेत्र वाले।" क्सेनोफेन् ईश्वरको साकार, मनुष्य जैसा माननेके बिल्कुल विरुद्ध था, तथा बहुदेववादको भी नही चाहता था। वह मानता था, कि "एक महान् ईश्वर है, जो काया और चिन्तन दोनोंमे मर्त्य जैसा नही है।" वह उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति कहता था—"सब एकमे है और एक ईश्वर है।" इस वाक्यके प्रथम भाग से एकेश्वरवाद आया है और दूसरेमे ब्रह्म-अद्वैत। वह अपने ब्रह्म-वादके बारेमे स्पष्ट कहता है—"ईश्वर जगत् है, वह शुद्ध (केवल) आत्मा नही है, बल्कि सारी प्राणयुक्ति प्रकृति (वही) है।" अर्थात् वह रामानुजसे भी ज्यादा स्पष्ट शब्दों मे ईश्वर और जगत्‌की अभिन्नताको मानता था, साथ ही शकरकी भाँति प्रकृतिसे इन्कार नहीं करता था।

(२) **परमेनिद्** (५४० (४)-? ई० पू०)—एलियाके दार्शनिकोंमे दूसरा प्रसिद्ध पुरुष परमेनिद् हुआ। 'न सत्‌से असत् हो सकता है और न असत्‌से सत्‌की उत्पत्ति कभी हो सकती'; गोया इसी वाक्यकी प्रतिध्वनि हमें वैशेषिक[1] और भगवद्गीता[2] मे मिलती है। इस तरह वह इस परिणामपर पहुँचा, कि जगत् एक, अ-कृत, अ-विनाशी, सत्य वस्तु है।

---

१. 'नासतः सदुत्पत्तिः"। २. "नासतो विद्यते भावः"(गीता ३।१६)

गति या दूसरे जो परिवर्तन हमें जगत्में दिखलाई देते हैं, वह भ्रम हैं।

(३) जेनो (जन्म ४९० ई० पू०)—एलियाका एक राजनीतिज्ञ दार्शनिक था। सभी एलियातिक दार्शनिकोंकी भाँति वह स्थिर अद्वैत-वादी था। वहसमे बाद, प्रतिवाद, सवाद या द्वन्द्ववादका प्रयोग पहिले-पहिल जेनोहीने किया था (यद्यपि उसका वैसा करना स्थिरवादकी सिद्धिके लिये था, क्षणिक-वादके लिये नहीं), इसलिए जेनोको द्वन्द्ववादका पिता कहते हैं।

सारे एलियातिक दार्शनिक, इन्द्रिय-प्रत्यक्षको वास्तविक ज्ञानका साधक नहीं मानते थे, उनका कहना था कि सत्यका साक्षात्कार चिन्तन—विज्ञान-से होता है, इद्रियाँ केवल भ्रम उत्पादन करती हैं। वास्तविकता एक अद्वैत है, जिसका साक्षात्कार इन्द्रियों द्वारा नही, चिन्तन-द्वारा ही किया जा सकता है।

एलिय़ातिकोंका दर्शन स्थिर-विज्ञान-अद्वैतवाद है।

२—द्वैतवाद

अद्वैतवादी एलियातिक चाहे स्वत: इस परिणामपर पहुँचे हो, अथवा बाहरी (भारतीय) रहस्यवादी प्रभावके कारण; किन्तु अपनेसे पहिलेवाले 'थेल' आदि दार्शनिकोंकी स्वदेशी धारासे वह बहुत भिन्नता रखते थे, इसमे सदेह नही। इन अद्वैतवादियोंके विरुद्ध एक दूसरी भी विचारधारा थी, जो स्थिरवादी होते हुए भी परिवर्तनकी व्याख्या अपने द्वैतवादसे करती थी—अर्थात् मूलतत्त्व, अनेक, स्थिर, नित्य हैं, किन्तु उनमें सयोग-वियोग होता रहता है, जिसके कारण हमे परिवर्तन दिखलाई पड़ता है।

(१) हेराक्लितु (लगभग ५३५-४७५ ई० पू०)—हेराक्लितुका वही समय है, जो कि गौतम बुद्धका। हेराक्लितु भी बुद्धकी भाँति ही परिवर्तनवाद, क्षणिक-वादको मानता था। हेराक्लितुके ख्यालके अनुसार जगतकी सष्टि और प्रलयके युग होते हैं। हर बार सृष्टि बनकर अन्तमें

आग द्वारा उसका नाश होता है। भारतीय परम्परामें भी जल और अग्नि-प्रलयका जिक्र आता है। यद्यपि उपनिषद् और उससे पहिले के साहित्यमे उसका नाम नही है। बुद्धके उपदेशोमें इसका कुछ इशारा मिलता है और पीछे वसुबन्धु आदि तो "अग्नि-सवर्त्तनी"[1] का बहुत जोरसे जिक्र करते हैं।

युनिक दार्शनिकोकी भाँति ही हेराक्लितु भी एक अंतिम तत्त्व अग्निकी बात करता है, लेकिन उसका जोर परिवर्तन या परिणामवाद-पर बहुत ज्यादा है। दुनिया निरन्तर बदल रही है, हर एक 'चीज' दीप-शिखाकी भाँति हर वक्त नष्ट, और उत्पन्न हो रही है। चीजोंमें किसी तरहकी वास्तविक स्थिरता नही। स्थिरता केवल भ्रम है, जो परिवर्तनकी शीघ्रता तथा सदृश-उत्पत्ति (उत्पन्न होनेवाली चीज अपने से पहिलेके समान होती है) के कारण होता है। परिवर्तन विश्वका जीवन है। इस प्रकार हेराक्लितु एलियातिकोसे बिलकुल उलटा मत रखता था। वह अद्वैती नही, द्वैती, स्थिरवादी नही, परिवर्तनवादी था।

हेराक्लितुका जन्म एफेसु[2] के एक रईस घरानेमे हुआ था, लेकिन वह समय ऐसा था, जब कि पुराने रईसोकी प्रभुताको हटाकर, यूनानी व्यापारी वहांके शासक बन चुके थे। हेराक्लितुके मनमे "ते हि नो दिवसा गताः"[3] की आग लगी हुई थी और वह इस स्थितिको सहन नही कर सकता था और समयके परिवर्तनकी जबर्दस्त हवाने उसे एक जबर्दस्त परिवर्तन-वादी दार्शनिक बना दिया। शायद, यदि रईसोका राज्य होता, तो हेराक्लितु परिवर्तनके सत्यको देख भी न पाता। हेराक्लितुने एक क्रान्तिकारी दर्शनकी सृष्टि की, किन्तु व्यवहारमे उसकी क्रान्ति, व्यापारियोके राज्यको उलटना भर चाहती थी। वह आजीवन रईसमिजाज रहा और जनतन्त्रताको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखता था, आखिर इसी जनतन्त्रताने तो उसके अपने वर्गको सिंहासनसे खींचकर धूलिमे ला पटका था।

---

१. अभिधर्म-कोश (वसुबंधु)। २. Ephesus. ३. हाय! वे हमारे दिन चले गये।

हेराक्लितुके लेखोंके बहुत थोड़ेसे अंश मिले हैं। जगत्‌के निरन्तर परिवर्तनशील होनेके बारेमें वह उदाहरण देता है—"तुम उसी नदी में दो बार नही उतर सकते; क्योंकि दूसरे, और फिर दूसरे पानी वहाँ से सदा बह रहे हैं। जगत्‌की सृष्टि उसका नाश (=प्रलय) है, उसका नाश उसकी सृष्टि है। कोई चीज़ नही है, जिसके पास स्थायी गुण हो। सगीतका समन्वय निम्न और उच्च स्वरोंका समागम—**विरोधियोंका समागम**[१] है।"

जगत् चल रहा है, संघर्षसे, "युद्ध सबका पिता और सबका राजा है—उसके बिना जगत् खतम हो जायेगा, गति-शून्य हो मर जायेगा।"

अनित्यता या परिवर्तनके अटल नियमपर जोर देते हुए हेराक्लितु कहता है—"यह एक ऐसा नियम है, जिसे न देवताओंने बनाया, न मनुष्योंने; वह सदासे रहा है और रहेगा—एक सदा जीवित अग्नि (बनकर) निश्चित मानके अनुसार प्रदीप्त होता, और निश्चित मानके अनुसार बुझता।" **निश्चित मान** (मात्रा) या नापपर हेराक्लितुका वैसे ही बहुत जोर था, जैसा कि उसके सामयिक बुद्धका।

हेराक्लितु अनजाने ही दुनियाके ज़बर्दस्त क्रान्तिकारी दर्शन—द्वन्द्वात्मक (क्षणिक-) भौतिकवाद (मार्क्सवादी दर्शन) का विधाता बना। बुद्ध-दर्शनका भी वही लक्ष्य था, किंतु मज़हबी भूल-भुलैयोंमे वह इतना उलझ गया कि आगे विकसित न हो सका। हेगेल्‌ने उसे अपने दर्शनका आधार बनाकर एक सांगोपांग गंभीर आधुनिक दर्शनका रूप दिया।

हेराक्लितुके लिए मन और भौतिक तत्त्वमें किसी एकको प्रधानता देनेकी जरूरत न थी। हेगेल्‌ने मनको प्रधानता दी—भौतिक तत्त्व नही, मन या विज्ञान असली तत्त्व—परिवर्तित होते हुए भी—है, और इस प्रकार वह जगत्‌से मनको ओर न जाकर मनसे जगत्‌की ओर बढ़नेका प्रयास करते हुए द्वन्द्वात्मकवादको विज्ञानवाद ही बना शीर्षासन करा

---

१. Unity of opposites.

रहा था। मार्क्सने उसे इस सांसतसे बचाया, और दोनों पैरोंके बल, ठोस पृथ्वीपर ला रखा—भौतिकतत्त्व, 'आसमानी' विज्ञान (मन) के विकास नहीं हैं, बल्कि विज्ञान ही भौतिक-तत्त्वोंका चरम-विकास है, ऊपरसे नीचे आनेकी जरूरत नही, बल्कि नीचेसे ऊपर जानेमें बात ज्यादा दुरुस्त उतरती है।

(२) **अनक्सागोर्** (५००-४२८ ई० पू०) अनक्सागोर्ने द्वैतवाद-का और विकास किया। उसने कहा कि हेराक्लितुकी भाँति, आग जैसे किसी एक तत्त्वको मूलतत्त्व या **प्रधान** माननेकी जरूरत नही। ये **बीज** (मूल कारण) अनेक प्रकार के हो सकते हैं और उनके मिलनेसे ही सारी चीजें बनती हैं।

(३) **एम्पेदोकल्** (४९५-३५ ई० पू०) अनक्सागोर्के समकालीन एम्पेदोकल्ने मूल-तत्त्वोंकी सख्या अनिश्चित नही रखनी चाही, और युनिक दार्शनिकोंकी शिक्षासे फायदा उठाकर अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी—ये चार "बीज" निश्चित कर दिये। यही चारों तरहके बीज एक दूसरेके सयोग और वियोगसे विश्व और उसकी सभी चीजोंको बनाते और बिगाडते रहते हैं। सयोग, वियोग कैसे संभव है; इसके लिये एम्पेदोकल्ने एक और कल्पनाकी—"जैसे शरीरमे राग, द्वेष मिलने और हटने के कारण होते हैं, उसी तरह इन बीजोंमे राग और द्वेष मौजूद हैं।" एम्पेदोकल्की ख्याली उडानने इस सिलसिलेमें और आगे बढकर कहा कि—"मूल बीज ही नही खुद शरीरके अग भी पहिले अलग-अलग थे, और फिर एक दूसरेसे मिलकर एक शरीर बन गए।" उसने यह भी कहा कि—"भिन्न-भिन्न अंगोंसे मिलकर जितने प्रकारके शरीर बनते हैं, उनमें सबसे योग्यतम ही बच रहते हैं, बाकी नष्ट हो जाते हैं—" ये विचार **मेल** और **विकासके** सिद्धान्तोंकी पूर्व झलक हैं।

(४) **देमोक्रितु** (४६०-३७० ई० पू०)—देमोक्रितु यूनानी द्वैतवादी दार्शनिकोंमे ही प्रधान स्थान नही रखता, बल्कि अपने **परमाणुवादके** कारण, पौरस्त्य पाश्चात्य दोनों दर्शनोंमें उसका बहुत ऊँचा स्थान है। भारतीय दर्शनमें परमाणुवादका **प्रवेश** यूनानियोंके संपर्कसे ही हुआ, इसमें

संदेहकी गुंजाइश नहीं; जब कि उपनिषद् और उससे पहिलेके ही साहित्यमें नहीं, बल्कि जैन और बौद्ध पिटकोंमें भी हम उसका पता नहीं पाते। वैशेषिकदर्शन यूनानी दर्शनका भारतीय संस्करण है। क्या जाने अथेन्सका पुर-चिह्न उल्लू ही, वैशेषिकके 'औलूक्य-दर्शन' नाम पड़नेका कारण हुआ हो। इसपर आगे हम और कहेंगे। २०० ई० पू० के आसपास जब वैशेषिकने परमाणुवादको अपनाकर भारतीय-दर्शन-क्षेत्रमें अपनी धाक जमानी चाही, तो उसके बाद किसी भी दर्शनको उसके बिना रहना मुश्किल हो गया। मध्यकालके सभी भारतीय बुद्धिवादीदार्शनिक—न्याय, वैशेषिक, बौद्ध और जैन—परमाणुको निजी व्याख्याके साथ अपना अंग बनाते हैं। परमाणुवादको दर्शनमें ऊँचा स्थान यद्यपि देमोक्रितु[1] की लेखनीने दिलाया, किन्तु सबसे पहिले उसका ख्याल उसके गुरु लेउकिप्पू[2] (५००-४३० ई० पू०) को आया था। देमोक्रितुका जन्म ४६० ई० पू० में (बुद्धके निर्वाणके २३ साल बाद) थ्रेसके समुद्रीतटपर स्थित अब्देराके व्यापारी नगरमें हुआ था।

परमाणुवादी देमोक्रितु एलियातिकोंसे द्वैतवादमें भेद रखता है, किन्तु वह चरम-परिवर्तनको नहीं मानता। वास्तविकता, नित्य, ध्रुव, अपरिवर्तनशील है। साथ ही परिवर्तन भी जो दीख रहा है, वह वस्तुओंके निरंतर गतिके कारण होता है। हाँ वास्तविक तत्त्व एक अद्वैत नहीं, बल्कि अनेक—द्वैत है और ये मूलतत्त्व एक दूसरेसे अलग-अलग हैं, जिनके बीचकी जगह खाली—आकाश है। मूलतत्त्व अ-तो मो न् अ-छेद्य, अ-वेध्य हैं—अ-तोमोन्से ही अंग्रेजी एटम् (=परमाणु) शब्द निकला है।

परमाणु—परमाणु अतिसूक्ष्म अविभाज्य तत्त्व है, किन्तु वह रेखागणितका विन्दु या शक्ति-केन्द्र नहीं है, बल्कि उसमें परिमाण या विस्तार है; गणित द्वारा अविभाज्य नहीं, बल्कि कायिक तौरसे अविभाज्य है; अर्थात् परमाणुके भीतर आकाश नहीं है। सभी परमाणु एक आकार

---

१. Democritus. २. Leucippus.

परिमाण—अर्थात् एक लंबाई, चौड़ाई, मुटाई—के नहीं होते। परमाणुओंसे बने पिंडोंके आकारोंमें भेद हैं। परमाणुओंके आकार उनके स्थान और क्रमके कारण हैं। परमाणु-जगत्की आरम्भिक इकाइयाँ, ईंटें या अक्षर हैं। जैसे २, ३ का भेद आकारमें है; ३, ६ का भेद स्थितिके कारण है—अगर ३का मुँह दूसरी ओर फेर दें तो वही ६ हो जायगा ३६ और ६३ का अंतर अंकके क्रम-भेदके कारण है। परमाणु गतिशून्य तत्त्व नहीं है, बल्कि उनमे स्वाभाविक गति होती है। परमाणु निरन्तर हरकत करते रहते हैं। इस तरह हरकत करते रहनेसे उनका दूसरोंके साथ संयोग होता है और इस तरह जगत् और उसके सारे पिंड बनते हैं। किसी-किसी वक्त ये पिंड आपसमें टकराते हैं, फिर कितने ही परमाणु उनसे टूट निकलते हैं। इस तरह देमोक्रितुका परमाणु-सिद्धान्त पिछली शताब्दीके यांत्रिक भौतिकवादसे बहुत समानता रखता है, और विश्वके अस्तित्वकी व्याख्या भौतिकतत्त्वों और गतिके द्वारा करता है। देमोक्रितु शब्द, वर्ण, रस, गन्धकी सत्ताको व्यवहारके लिये ही मानता है; नहीं तो "वस्तुतः न मीठा है न कडुवा, न ठंडा है न गरम। वस्तुतः यहाँ है परमाणु और शून्य।" इस तरह परमाणुवादी दार्शनिक बाह्य जगत् और उसकी वस्तुओंको एक भ्रम या इंद्रजालसे बढ़कर नहीं मानते।

३ – सोफीवाद

कोरोश् और दारयोशके समय युनिक नगर जब ईरानियोंके हाथमे चला गया तो कितने ही विचारके लोग इधर-उधर चले गये, यह हम बतला आये हैं। जिस तरह इस वक्त पियागोरके अनुयायियोंने भागकर एलिया-में अपना केन्द्र बनाया, उसी तरह और विचारक भी भगे, मगर उन्होंने एक जगह रहनेके बदले घुमन्तू या परिव्राजक होकर रहना पसन्द किया। इन्हें सोफी[1] या ज्ञानी कहते हैं। यद्यपि इस्लामी परिभाषामें प्रसिद्ध सूफी

---

१. Sophist.

(अद्वैतवादी सम्प्रदाय) इसी शब्दसे निकला है, किन्तु प्राचीन यूनानके इन सोफियों और इस्लामी सूफियोंका दार्शनिक सम्प्रदाय एक नहीं है, इसलिए हम उसे यहाँ सूफी न लिख सोफी लिख रहे हैं। सोफी एक अशान्त, तितर-बितर होते समाज तथा राज्य-क्रान्तिकी उपज थे, इसलिए पहिलेसे चली आती बातोपर उनका विश्वास कम था, उनमे ज्ञानकी बड़ी प्यास थी। वह खुद ज्ञानका सग्रह करते थे, साथ ही उसका वितरण करना भी अपना कर्त्तव्य समझते थे। उनके प्रयत्नसे ज्ञानका बहुत विस्तार हुआ, चारो ओर ज्ञानकी चर्चा होने लगी। "पुराणमित्येव न साधु सर्वं" (पुराना है इसीलिए ठीक है, यह नही मानना चाहिए) यह एक तरह उनका नारा था। सत्यके अन्वेषणके लिए बुद्धिको हर तरहके बन्धनोंसे मुक्त करके इस्तेमाल करनेकी बात उन्होने लोगोंको समझाई। सोफियोंने भी अपनेसे कुछ समय पहिले गुजर गये बुद्धकी भाँति सत्यके दो भेद रूढि और वास्तविक किये। रूढि-सत्य ही बुद्धका सवृति (शकरका व्यवहार) सत्य है, और वास्तविक सत्य परमार्थ-सत्य है। सोफियोका एक महावाक्य था— "मनुष्य वस्तुओका नाप या माप (कसौटी) है।"

सोफियोंके जमानेमे ही अथेन्स यूनानी दर्शनके पठन-पाठनका केन्द्र बन गया और उसने सुक्रात, अफलातूँ और अरस्तू जैसे दार्शनिक पैदा किये।

§ ३. यूनानी दर्शन का मध्याह्न

ईसा-पूर्व चौथी सदी यूनानी दर्शनका सुवर्ण-युग है। थोड़ा पहिले सुक्रातने अपने मौखिक उपदेशों द्वारा अथेन्सके तरुणोमे तहलका मचाया था, किन्तु उसके अधूरे कामको उसके शिष्य अफलातू और प्रशिष्य अरस्तू-ने पूरा किया। इस दर्शनको दो भागोंमे बाँटा जा सकता है, पहिला सुक्रात गुरु-शिष्यका यथार्थवाद और दूसरा अरस्तूका प्रयोगवाद।

१—यथार्थवादी सुक्रात (४६९-३९९ ई० पू०)

सोफियोके कितने ही विचार सुक्रात मानता था। सोफियोंकी भाँति मौखिक शिक्षा और आचार द्वारा उदाहरण देना उसे भी पसन्द थे।

वस्तुतः उसके समसामयिक भी सुकातको एक सोफी समझते थे। सोफियो-की भाँति साधारण शिक्षा तथा मानव-सदाचारपर वह जोर देता था और उन्हींकी तरह पुरानी रूढ़ियोंपर प्रहार करता था। लेकिन उसका प्रहार सिर्फ अभावात्मक नही था। वह कहता था, सच्चा ज्ञान सम्भव है बशर्ते कि उसके लिये ठीक तौरपर प्रयत्न किया जावे; जो बातें हमारी समझमे आती हैं या हमारे सामने आई हैं, उन्हे तत्सम्बन्धी घटनाओंपर हम परखें, इस तरह अनेक परखोंके बाद हम एक सच्चाईपर पहुँच सकते हैं। "ज्ञानके समान पवित्रतम कोई चीज़ नही है";[1] वाक्यमें गीताने सुकातकी ही बातको दुहराया है। "ठीक करनेके लिये ठीक सोचना ज़रूरी है" सुकातका कथन था।

बुद्धकी भाँति सुकातने कोई ग्रंथ नही लिखा, किन्तु बुद्धके शिष्योंने उनके जीवनके समयमे कठस्थ करना शुरू किया था, जिससे हम उनके उपदेशोंको बहुत कुछ सीधे तौरपर जान सकते हैं; किन्तु सुकातके उप-देशोंके बारेमें वह भी सुभीता नही। सुकातका क्या जीवन-दर्शन था, यह उसके आचरणसे ही मालूम हो सकता है, लेकिन उसकी व्याख्या भिन्न-भिन्न लेखक भिन्न-भिन्न ढगसे करते हैं। कुछ लेखक सुकातकी प्रसन्नमुखता और मर्यादित जीवन-उपभोगको दिखलाकर बतलाते हैं कि वह भोगवादी[2] था। अन्तिस्थेन और दूसरे लेखक उसकी शारीरिक कष्टोकी ओरसे बे-पर्वाही तथा आवश्यकता पड़नेपर जीवन-सुखको भी छोडनेके लिये तैयार रहनेको दिखलाकर उसे सादा जीवनका पक्षपाती बतलाते हैं।

सुकातको हवाई बहस पसद न थी। "विश्वका स्वभाव क्या है, सृष्टि कैसे अस्तित्वमे आई या नक्षत्र जगत्के भिन्न-भिन्न प्राकट्य किन शक्तियोंके कारण होते हैं", इत्यादि प्रश्नोंपर बहस करने को वह मूर्ख-क्रीड़ा कहता था।

---

१. "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" (गीता ४।३८)

२. Hedonist.

सुक्रात अथेन्सके एक बहुत ही गरीब घरमे पैदा हुआ था। गंभीर विद्वान् और ख्याति-प्राप्त हो जानेपर भी उसने वैवाहिक सुखकी लालसा न की। ज्ञानका संग्रह और प्रसार यही उसके जीवनके मुख्य लक्ष्य थे। तरुणोंके बिगाडने, देवनिन्दक और नास्तिक होनेका झूठा दोष उसपर लगाया गया था और इसके लिए उसे जहर देकर मारनेका दंड मिला था। सुक्रातने जहरका प्याला खुशी-खुशी पिया और जान देदी।

२ – बुद्धिवादी अफलातूं (४२७-३४७ ई० पू०)

अफलातूं अथेन्सके एक रईस-घरमे पैदा हुआ था। अपने वर्ग के दूसरे मेधावी लडकोंकी भाँति उसने भी संगीत, साहित्य, चित्र और दर्शनका आरम्भिक ज्ञान प्राप्त किया। ४०७ ई० पू० मे जब वह २० सालका था, तभी सुक्रातके पास आया और अपने गुरुकी मृत्यु (३९९ ई० पू०) तक उसके ही साथ रहा।

कोई भी दर्शन शून्यमें नहीं पैदा होता; वह जिस परिस्थितिमे पैदा होता है, उसकी उसपर छाप होती है। अफलातूं रईस-घरानेका था और उस वर्गकी प्रभुताका उस वक्तके यूनानमे ह्रास हो चुका था, उसकी जगह व्यापारी शक्तिशाली बन चुके थे, इसलिए उस समयके समाजकी व्यवस्थामे अफलातूं सन्तुष्ट नहीं हो सकता था, और जब अपने निरपराध गुरु सुक्रातको जनसम्मत शासकों द्वारा मारे जाते देखा तो उसके मनपर इसका और भी बुरा असर पडा। इस बात का प्रभाव हम उसके लोकोत्तरवादी दर्शनमे देखते हैं, जिसमें एक वक्त अफलातूं एक रहस्यवादी ऋषिकी तरह दिखाई पडता है और दूसरी जगह एक दुनियादार राजनीतिककी भाँति। वह तत्कालीन समाजको हटाकर, एक नया समाज कायम करना चाहता है—यद्यपि उसका यह नया समाज भी इस लोकका नही, एक बिल्कुल लोकोत्तर समाज है। वह अपने समय के अथेन्ससे कितना असन्तुष्ट था, वह इस कथनसे मालूम होता है—"हालमे अथेन्समे जनतंत्रता चलाई गई। मैंने समझा था, यह अन्यायके शासनके स्थानपर न्यायका शासन होगा। इसलिए

मैं इसकी गति-विधिको बड़े ध्यानसे देखता रहा। किन्तु थोड़े ही समयके बाद मैंने इन सज्जनोंको ऐसी जनतंत्रता बनाते देखा, जिसके सामने पहिलेका शासन सुवर्णयुग था। उन्होंने मेरे बूढ़े मित्र—जिसे अत्यन्त सच्चा आदमी कहनेमें मुझे कोई संकोच नहीं—को एक ऐसे नागरिकको पकड़वानेका हुक्म दिया, जिसे कि, अपने रास्तेसे वह दूर करना चाहते थे। उनकी मशा थी कि चाहे सुकात पसन्द करे या न करे, लेकिन वह नये शासनकी कार्रवाइयोंमें सहयोग दे। उसने उनकी आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया और इनके पापोंमें सम्मिलित होनेकी बनिस्बत वह मरनेके लिये तैयार हो गया। जब मैंने खुद यह और बहुत कुछ और देखा, तो मुझे सख्त घृणा हो गई और मैंने ऐसी शोचनीय सरकारसे नाता तोड़ लिया। पहिले मेरी बहुत इच्छा थी कि राजनीतिमे शामिल होऊँ, लेकिन जब मैंने इन सब बातोंपर विचार किया तो देखा कि राजनीतिक परिस्थिति कितनी दुर्व्यवस्थित है" इस तरह सोचकर अफलातूंने इस लोकके समाजके निर्माणमें तो भाग नहीं लिया, किंतु उसने एक उटोपियन—दिमागी या हवाई—प्रजातन्त्र जरूर तैयार करना चाहा और घोषित किया—"मानव-जाति बुराइयोंसे तब तक बच नहीं सकती, जब तक कि वास्तविक दार्शनिकों के हाथमें राजनीतिक शक्ति नहीं चली जाती अथवा कोई योजना (चमत्कार) ऐसा नहीं होता जिसमे कि राजनीतिज्ञ ही दार्शनिक बन जायें।"[१]

अफलातूं किस तरह का समाज चाहता था, इसे हम अन्यत्र[२] कह आये हैं, यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अफलातूंका दर्शन उस समाजकी उपज है, जिसमें जीवनोपयोगी सामग्रीका उत्पादन अधिकतर दास या कम्मी करते थे। अफलातूंका वर्ग या तो उसी तरहकी राजनीतिमें संलग्न था, जिसकी कि अफलातूं शिकायत कर चुका है, अथवा संगीत साहित्य और दर्शनका आनन्द ले रहा था।

---

१. Plato: Seventh Letter. २. मानव-समाज, पृष्ठ ११६-२२

अफ़लातूंका दर्शन—दर्शनमे अफलातूंकी प्रवृत्ति हम पहिलेके परस्पर-विरोधी दार्शनिक विचारोंके समन्वयकी ओर देखते हैं। वह सुक्रातकी इस बातसे सहमत था कि ठीकतौरसे प्रयत्न करनेपर ज्ञान (या तत्त्व-ज्ञान) सम्भव है। साथ ही वह हेराक्लितुकी रायसे भी सहमत था कि साधारण तौरसे जिन पदार्थोंका साक्षात्कार हम करते हैं वे सभी सदा बदलती, सदा बहती धारा है और उनके बारेमे किसी महासत्यपर नही पहुँचा जा सकता। वह एलियातिकोंकी भाँति एक परिवर्तनशीलजगत् (विज्ञान-जगत्) को मानता था, परमाणुवादियोंके बहुत्व (द्वैत)-वादको समर्थन करते हुए कहता था कि मूलतत्त्व—विज्ञान—बहुत हैं। इस तरह वह इस परिणाम-पर पहुँचा कि—"ज्ञानका यथार्थ विषय सदा—परिवर्तनशील, जगत्—प्रवाह और उसकी चीजें नही हैं, बल्कि उसका विषय है लोकातीत, अचल, एक-रस, इद्रिय-अगोचर, पदार्थ, **विज्ञान** (=मन)" जो कि पिथागोरकी आकृतिसे मिलता-जुलता था। इस तरह पियागोर हेराक्लितु और सुक्रात तीनोंके दार्शनिक विचारोका समन्वय अफलातूंके दर्शनने करना चाहा।

अफलातूंके लिये इंद्रिय-प्रत्यक्षका ज्ञानमे बहुत कम महत्त्व था। इद्रिय-प्रत्यक्ष वस्तुओकी वास्तविकताको नही प्रकट करता, वह हमे सिर्फ उनकी बाहरी झाँकी कराता है—राय सच्ची भी हो सकती है, झूठी भी; इसलिए सिर्फ राय कोई महत्त्व नही रखती, वास्तविक ज्ञान बुद्धि या चिन्तन-से होता है। इन्द्रियोंकी दुनिया एक घटिया-दर्जेकी 'नकली' वास्तविकता है, वह वास्तविकताका मोटा-सा अटकल भर है।

ज्ञानकी प्राप्ति दो प्रकारके चिन्तनपर निर्भर है—(१) **विज्ञान**[1] (=मन) मे बिखरे हुए **विशेषों**[2] का ख्यालमें लाना, (२) विज्ञानका **जाति**[3] या सामान्यके रूपमे वर्गीकरण करना। यह **सामान्य, विशेष** भारतीय न्याय वैशेषिक दर्शनमें बहुत आता है। वैशेषिक सूत्रोके छः पदार्थोंमें सामान्य,

---

१. Idea. २. Particular. ३. Archtype.

विशेष, चौथे-पाँचवें पदार्थ हैं और उनका उद्गम इसी यूनानी दार्शनिक अफलातूंसे हुआ था। अफलातूं यह भी मानता था कि जो चिन्तन ज्ञानका साधन है, उसे विज्ञानके रूपमे होना चाहिए; बाह्यजगत्के जो प्रतिबिंब या वेदना जिसको इन्द्रियाँ लाती हैं, उसपर चिन्तन करके हम सत्य तक नही पहुँच सकते।

अफलातूं कुछ पदार्थोंको स्वतःसिद्ध[1] कहता था, इनमे गणितसबधी ज्ञान—संख्या, तथा तर्क-संबधी पदार्थ—भाव, अभाव, सादृश्य, भेद, एकता, अनेकता—शामिल हैं। इनमेंसे कितने ही पदार्थोंका वर्णन वैशेषिकमें भी आता है।

ज्ञानकी परिभाषा करते हुए अफलातूं कहता है—"विज्ञान और वास्तविकताका सामंजस्य ज्ञान है, वास्तविकता निर्विषय नही हो सकती, उसका अवश्य कोई विषय होना चाहिए और वही विषय एक-रस विज्ञान है।

भाव पदार्थके बारेमें वह कहता है—सच्चा भाव स्थिर, अपरिवर्तनशील, अनादि है, इसलिए वास्तविक ज्ञानके लिए हमें वस्तुओंके इसी स्थिर अपरिवर्तनशील सारको जानना चाहिए।

सामान्य, विशेष—जब हम इद्रियोंसे प्राप्त प्रतिबिंबो या वेदनाओंसे नहीं, बल्कि उनसे परे शुद्ध विज्ञानसे ज्ञानको प्राप्त करते हैं, तो वस्तुओंमे हमें सार्वत्रिक (सामान्य) अपरिवर्तनशील, सारतत्त्वका ज्ञान होता है, और यही सच्चा-ज्ञान (=तत्त्वज्ञान) है। भारतमें सामान्यके जबर्दस्त दुश्मन बौद्ध रहे हैं, क्योंकि इसमे उन्हे नित्यवादकी स्थापनाकी छिपी कोशिश मालूम होती थी। नैयायिक, व्यक्ति, आकृति, जाति तीनोंको पदार्थ[2] मानते थे। प्रत्यक्षवादी कहते थे कि सत्ता व्यक्तियोंकी ही है, दिमागसे बाहर विज्ञान या जातिकी तरहकी किसी चीजका अस्तित्व नही पाया जाता; अन्तस्थेनने कहा था—"मैं एक अश्व (=घोड़ा) तो देखता हूँ, किंतु अश्वता (सामान्य) को नही देखता।" पिथागोर "आकृति" पर

---

१. Apriori. २. व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थाः—न्यायसूत्र २।२।६७

जोर देता था, यह हम बतला चुके हैं; अफलातूँ सामान्यका पक्षपाती था। वह परिवर्तनशील विश्वकी तहमें अपरिवर्तनशील एक-रस-तत्त्वको साबित करना चाहता था, जिसकें लिये सामान्य एक अच्छा हथियार था। इस रहस्यसे बौद्ध नैयायिक अच्छी तरह वाकिफ थे, इसीलिये धर्मकीर्तिको हम सामान्यकी बुरी गति बनाते देखेंगे। अफलातूँ कहता था—वस्तुओंका आदिम, अनादि, अगोचर, मूल-स्वरूप[1] वस्तुओंसे पहिले उनसे अलग तथा स्वतंत्र मौजूद था। वस्तुओं में परिवर्तन होते हैं, किंतु इस मूल-रूपपर उसका कोई असर नही पडता। अश्व एक खास पिंड है, जिसको हम आँखों से देखते, हाथोंसे छूते या दूसरी इंद्रियोंसे प्रत्यक्ष करते हैं; किंतु वर्तमान, भूत और भविष्यके लाखो, अनगिनत अश्वोंके भीतर अश्वपन (=अश्व-सामान्य) एक ऐसी चीज पाई जाती है, जो अश्व-व्यक्तियोंके मरनेपर भी नष्ट नही होती, वह अश्व-व्यक्तिके पैदा होनेसे पहिले भी मौजूद रही। अफलातूँ इस अश्वता या अश्वसामान्यको अश्व-वस्तुका आदिम, अनादि, अगोचर मूल-स्वरूप, अश्ववस्तुसे पहिले, उससे अलग, स्वतंत्र, वस्तु; परिवर्तनसे अप्रभावित, एक नित्य-तत्त्व सिद्ध करना चाहता है। वह कहता है—व्यक्तिके रूपमे जिन वस्तुओंको हम देखते हैं, वह इन्हीं अनादि मूल-स्वरूपो—सामान्यों (अश्वता, गोता) के प्रतिबिंब या अपूर्ण नकल हैं। व्यक्तियाँ आती-जाती रहेगी, किंतु विज्ञान या मूलस्वरूप (=सामान्य) सदा एक-रस बने रहेंगे, मनुष्य व्यक्तिगत तौरसे आते-जाते रहेंगे, किन्तु मनुष्यसामान्यके—मनुष्य-जाति—सदा मौजूद रहेगी।

विज्ञान[2]—एक-दूसरेसे सम्बद्ध हो विज्ञान एक पूर्ण काया बनाते हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न विज्ञानोंके अपने स्थान नियत हैं। अफलातूँका समाज दासो और स्वामियोंका समाज था, जिसमें अपने स्वार्थोंके कारण जबर्दस्त आन्तरिक विरोध था। ऐसे विरोधोंको मौखिक काव्यमयी व्याख्या द्वारा अफलातूँने दूर ही नही करना चाहा था, बल्कि उससे कुछ सदियों पहिले

---

१. Archtype. २. Idea.

भारतके ऋषियोंने भी उसी अभिप्रायसे पुरुषसूक्त बनाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रकी सिर, बाहु, जाँघ, पैरसे उपमा दे, सामाजिक शान्ति कायम करनी चाही थी। दर्शन-क्षेत्रमे इस तरह की उपमासे अफलातूं विज्ञानोंके ऊँचे-नीचे दर्जे कायम करना चाहता है। सबसे श्रेष्ठ (=उच्चतम) विज्ञान, ईश्वर-विज्ञान है, जो कि बाकी सभी विज्ञानोका स्रोत है। यह विज्ञान महान् है, इससे परे और कोई दूसरा महान् विज्ञान नही है।

दो संसार--ससारमे दो प्रकारके तत्त्व है, एक विज्ञान (=मन) दूसरा भौतिक तत्त्व। किन्तु इनमे विज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है, वही अनर्घतम पदार्थ है, हर एक चीजका रूप और सार अन्तमे जाकर इसी तत्त्व (=विज्ञान) पर निर्भर है। विश्वमे वही नियमन और नियन्त्रण करता है। दूसरे भौतिक तत्त्व, मूल नही, कार्य, चमत्कारक नही, सुस्त, चेनन नही, जड, स्वेच्छा-गति नही, अनिच्छित-गतिकी शक्तियाँ है, वे इच्छा बिना ही विज्ञानके दास है, विज्ञानकी आज्ञापर नाचते हैं, और किसी तरह भी हो विज्ञानकी छाप उनपर लगती है। यही मूलस्वरूप (विज्ञान) सक्रिय कारण है, भौतिक तत्त्व सहयोगी कारण हैं।

ईश्वर--उच्चतम विज्ञान ईश्वर (विधाता=देमीउर्ग)[1] है, यह कह आये है। अफलातूं विधाताकी उपमा मूर्तिकारसे देता है। विधाता मानव-मूर्तिकारकी भाँति विज्ञान-जगत् (मानसिक दुनिया) मे मौजूद नमूने (मूल-स्वरूप, सामान्य) के अनुसार भौतिक-विश्वको बनाता है। विज्ञानके अनुसार जहाँ तक ईश्वर उसके लिये सम्भव है, वह एक पूर्ण विश्व बनाता है, इतनेपर भी यदि विश्वमे कुछ अपूर्णता दिखाई पडती है, तो मूर्तिकारको दोष न देना चाहिए, क्योकि आखिर उसे भौतिक तत्त्वोपर काम करना है, और भौतिक तत्त्व विधाताकी कृतिमे बाधा डालते हैं। पीछे आनेवाले हमारे नैयायिकोकी भाँति विधाता (=देमीउर्ग) जनक नही इजीनियर (वास्तुशास्त्री) है। वह स्वय उच्चतम विज्ञान है, किन्तु साथ ही भौतिक

---

१. Demiurge.

तत्त्व भी पहिलेसे मौजूद है—भौतिक-जगत् और विज्ञान-जगत्—यह दो दुनियाएँ पहिलेसे मौजूद है। इन दोनोंमें संबंध जोड़ने—विज्ञानके रूपमें मौजूद **मूल-स्वरूपों** (=सामान्यो) के अनुसार भौतिक तत्त्वोंको गढ़नेके लिये एक हस्तीकी जरूरत थी, विधाता वही हस्ती है। वही बाह्य और अन्तर-जगत्की सधि कराता है। अफलातूंका विधाता 'शिव' (=अच्छा) है, उसकी वह सूर्यसे उपमा देता है—सूर्य वस्तुओंके बढ़ने (बनने) का भी स्रोत है और उस प्रकाशका भी जिससे उनका ज्ञान होता है। इसी तरह 'शिव' सभी वस्तु—सत्यो, और तत्सबधी हमारे ज्ञानका भी स्रोत है।

दर्शनकी विशेषता—अफलातूंका दर्शन बुद्धिवादी है, क्योकि वह ज्ञानके लिये इन्द्रिय-प्रत्यक्षपर नही, बुद्धिपर जोर देता है; प्रत्यक्ष जगत्से अलग, बुद्धिगम्य विज्ञान-जगत् उसका वास्तविक जगत् है। विज्ञानवादी तो अफलातूं है ही, क्योकि विज्ञान-जगत्, (=मूलस्वरूप)—ही उसके लिये एकमात्र सार है। बाह्यार्थवादी भी उसे कह सकते हैं, क्योंकि बाहरी दुनियाको वह निराधार नही, एक वास्तविक जगत् (=विज्ञानजगत्) का बाहरी प्रकाश कहता है। सारी दुनियाको मिलानेवाले महाविज्ञान (=ईश्वर) की सत्ताको स्वीकार कर वह ब्रह्मवादी भी है, किन्तु वह भौतिकवादी बिलकुल नही है, क्योकि भौतिक तत्त्व और उससे बनी दुनियाको वह प्रधान नही गौण मानता है।

अफलातूंके सामाजिक, राजनीतिक विचारके बारेमें 'मानव-समाज' मे कहा जा चुका है। वह समाजमे परिवर्तन चाहता था, किन्तु परिवर्तन ठोस मौजूदा समाजको लेकर नही, बल्कि **मूल-स्वरूपके** आधारपर।

३ – वस्तुवादी अरस्तू[१] (३८४-३२२ ई० पू०)

अरस्तूं बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०) से एक सदी पीछे स्तगिरामे पैदा हुआ था। उसका पिता निकोमाचु[२] सिकन्दरके बाप तथा मकदूनियाके

१. कृतियाँ दे० पृष्ठ ११५, २२१-३, २७०-१ २. Nicomachus.

राजा फिलिपका राजवैद्य था। उसके बाल्य-कालमे अफलातूँकी ख्याति खूब फैली हुई थी। १७ वर्षकी उम्रमें (३६७ ई० पू०) अरस्तू अफलातूँकी पाठशालामें दाखिल हुआ और तबतक अपने गुरुके साथ रहा, जब तक कि (बीस वर्ष बाद) अफलातूँ (३४७ ई० पू० मे) मर नहीं गया। फिलिपको अपने लडके सिकन्दर (३५३-३२३ ई० पू०) की शिक्षाके लिये एक योग्य शिक्षककी जरूरत थी। उसकी दृष्टि अरस्तूँपर पडी। विश्व-विजयी सिकन्दरके निर्माणमे अरस्तूँका खास हाथ था और इसका बीज ढूँढ़नेके लिये हमे उसके गुरु अफलातूँ तथा परमगुरु सुक्रात तक जाना पडेगा। सुक्रात अपने स्वतत्र विचारोके लिय अथेन्सके जननिर्वाचित शासकोंके कोपका भाजन बना। अफलातूँ अपने समयके समाजसे असन्तुष्ट था, इसलिए उसमें परिवर्तन करके एक साम्यवादी समाज कायम करना चाहता था; लेकिन इस समाजकी बुनियाद वह धरतीपर नही डालना चाहता था। वह उसे 'विज्ञान-जगत्' से लाना चाहता था, और उसका शासन लौकिक-पुरुषोके हाथमे नही, बल्कि लोकसे परे ख्याली दुनियामे उडनेवाले दार्शनिकोंके हाथमें देना चाहता था। यदि अफलातूँको पता होता कि उसके साम्यवादी समाजकी स्थापनामे एक विश्व-विजेता सहायक हो सकता है, तो १८वी १९वी सदीके युरोपियन समाजवादियों—प्रूधों (१८०९-६५) आदिकी भाँति वह भी साम्यवादी राजाकी तलाश करता। अरस्तू बीस साल तक अपने गुरुके विचारोंको सुनता रहा, इसलिए उनका असर उसपर होना जरूरी था। कोई ताज्जुब नहीं, यदि अफलातूँका साम्यवादी राज्य अरस्तू द्वारा होकर सिकन्दरके पास विश्व-राज्य या चक्रवर्ती-राज्यके रूपमे पहुँचा। बुद्ध अपने साधुओंके संघमे पूरा आर्थिक साम्यवाद—जहाँ तक उपभोग सामग्रीका सम्बन्ध है—कायम करना चाहते थे, यदि वह सभव समझते तो शायद विस्तृत समाजमे भी उसका प्रयोग करते, किन्तु बुद्धकी वस्तु-वादिता उन्हे इस तरहके तजर्बे से रोकती थी। ऐसे विचारोंको रखते भी बुद्ध, चक्रवर्तीवाद—सारे विश्वका एक धर्मराजा होना—के बड़े प्रशंसक थे। हो सकता है

अरस्तूने भी अपने शिष्य सिकन्दरमें बाल्य-कालहीसे अपने और अपने गुरुके स्वप्नोंको सत्य करनेके लिये चक्रवर्तीवाद भरना शुरू किया हो। अरस्तूने अथेन्स आदिके प्रजातंत्र ही नहीं देखे थे, बल्कि वह तीन महा-द्वीपोंमें राज्य रखनेवाले ईरानके चक्रवर्तियोंसे भी परिचित था। सवाल हो सकता है, यदि अरस्तूने सिकन्दरमें ये भाव पैदा किये, तो उसने विश्व-विजयके साथ दूसरे स्वप्नोंका भी क्यों नहीं प्रयोग किया? उत्तर यही है कि सिकन्दर दार्शनिक स्वप्नचारी नही था, वह अपने सामने यूनानियोंको अपने ठोस भालों, तलवारोंसे सफलता प्राप्त करते देख रहा था, इसलिये वह अपने स्वप्नचारी परमगुरुकी सारी शिक्षायें माननेके लिये बाध्य न था।

अरस्तू सिर्फ दार्शनिक ही नही, राजनीतिक विचारक भी था, यह तो इसीसे पता लगता है, कि ३२३ ई० पू० मे सिकन्दरकी मृत्युके समय अथेन्समे मकदूनिया और मकदूनिया-विरोधी जो दो दल हो गये थे, अरस्तू उनमें मकदूनिया-विरोधी दलका समर्थक था। शायद अब उसे अपनी गलती मालूम हुई और तलवारके एकाधिपत्यसे अथेन्सका पहिलेवाला जनतांत्रिक बनिया-राज्य ही उसे पसन्द आने लगा। इस विरोधसे अथेन्सके स्वामी उसके विरुद्ध हो गये और अरस्तूको जान बचाकर युबोइया भाग जाना पड़ा, जहाँ उसी साल (३२२ ई० पू०) उसकी मृत्यु हुई।

(१) **दार्शनिक विचार**—अरस्तूकी कृतियाँ विशाल है। अपने समय तक जितना ज्ञान-भडार समाजमे जमा हो चुका था, अरस्तूके ग्रन्थ उसके लिये विश्व-कोषका काम देते हैं। यही नही उसने खुद भी मनुष्यके ज्ञान-भडार-को बहुत बढाया। अरस्तू अफलातूंके दार्शनिक विचारोंसे बिलकुल असहमत था, यह तो नही कहा जा सकता; क्योंकि वह विज्ञान-जगत्‌से इन्कार नही करता था। सुक्रात और अफलातूं की तरह, ज्ञानके लिये विज्ञानके महत्त्वको वह मानता था, किन्तु वह भौतिक-जगत्‌से अलग-थलग तथा एक मात्र प्रधान जगत् है; इसे वह माननेके लिये तैयार न था। बाहरी दुनिया (प्रत्यक्ष-जगत्) को समझनेके लिये, उसकी व्याख्याके लिये, अमर-जगत्

(विज्ञान-जगत्) की जरूरतको वह स्वीकार करता था। युनिक दार्शनिक सिर्फ भौतिक पहलूपर जोर देते थे, पिथागोर और अफलातूं **मूलस्वरूप** या **विज्ञान** ('आकृति' या 'मूलस्वरूप') पर जोर देते थे, किन्तु अरस्तू दोनोको अभिन्न अग मानता था—'मूलस्वरूप' (विज्ञान) भौतिक तत्त्वों-मे मौजूद है, और भौतिक तत्त्व 'मूलस्वरूपो' (विज्ञानो) मे, सामान्य (=जाति) व्यक्तियोमे मौजूद है, इन दोनोको अलग समझा जा सकता है, किंतु अलग नही किया जा सकता। अफलातूं दार्शनिकके अतिरिक्त गणितशास्त्री भी था और गणितकी काल्पनिक विन्दु, रेखा, सख्या आदिकी छाप उसके दर्शनपर भी मिलती है। अरस्तू प्राणिशास्त्री भी था, इसलिए **विज्ञानों** और भौतिक-तत्त्वोको अलग करके नही देखा जा सकता था। विज्ञान और भौतिक-तत्त्व, स्थिरता (एलियातिक) और परिवर्तनशीलता (हरा-क्लितु) का वह समन्वय करना चाहता था। वह सभी चीजोंमे **विज्ञान** (=मूलस्वरूप) और भौतिक तत्त्वोको देखता था। मूर्तिमें संगमर्मर भौतिक तत्त्व है और उसके ऊपर जो आकृति लादी गई है, वह **विज्ञान** जो कि मूर्तिकारके दिमागसे निकला है। वनस्पति, पशु या मनुष्यमे शरीर-भौतिक तत्त्व है, और पाचन, वेदना आदि **विज्ञान-तत्त्व**। आकृतिके बिना कोई चीज नही है, पृथ्वी, जल, आग और हवा भी बिना आकृतिके नही है, ये भी मूल गुण—रुक्षता, नर्मी, उष्णता, सर्दी—के भिन्न-भिन्न योगोंसे बनें है। साख्यके विद्यमान सस्करणमे इन्ही मूलगुणोको तन्मात्रा कहकर उन्हे भूतोका कारण कहा गया और यह अरस्तूके इसी ख्यालसे लिया गया मालूम होता है। भौतिक तत्त्व वह है जिनमे वृद्धि या विकास हो सकता है, यद्यपि यह वृद्धि या विकास एक सीमा रखता है। पत्थरका खड किसी तरहकी मूर्ति बन सकता है, किन्तु वृक्ष नही बन सकता। एक पौधा या अमोला बढकर पीपल बन सकता है, किन्तु पशु नही बन सकता। इस विचार-धाराने अरस्तूको **जाति-स्थिरताके** सिद्धान्तपर पहुँचा दिया और वह समझने लगा कि जातियोंमे परिवर्तन नही होता। इस धारणा-ने अरस्तूको प्राणिशास्त्रमे और आगे नही बढने दिया और वह उन्नीसवी

सदीके महान् प्राणिशास्त्रीय आविष्कार **जाति-परिवर्तन**' तक नही पहुँच सका। इतना होते हुए भी एक पाँतीमे न सही अलग-अलग पाँतियोंमें हुए विकास और उनके सादृश्यकी ओर ध्यान दिये बिना वह नही रह सकता था। छोटी-छोटी प्राणि-जातियोकी पाँतीसे क्रमश आगे बढ़ती प्राणि-जातियोंके उच्च-उच्चतर विकासको उसने देखा। विज्ञान (= **मूलस्वरूप**)-रहित भौतिक तत्त्वोका विकास उतना गहरा नही है, जितना कि विज्ञान-युक्त तत्त्वोका। इस विकासका उच्चतम रूप वह है जिससे आगे विकासकी गुजाइश नही। अतएव जो भौतिक तत्त्वकी परिभाषामे आ नही सकता, वह ईश्वर है। वह अफलातूँका अपरिवर्तनशील **विज्ञान** सिर्फ यही ईश्वर है, जो कि अरस्तूके विचारसे विधाता (कर्ता) नही है, क्योकि विज्ञान और भौतिक तत्त्व हमेशासे वहाँ मौजूद थे। तो भी, जैसे भी हो, सभी वस्तुओका खिचाव ईश्वरकी ओर है। दुनियाकी चाह वह है और उसकी उपस्थिति मात्रसे वस्तुएँ ऊँचे विकासकी ओर अग्रसर होती हैं।[२] वह विश्वका अचल चालक है, "यह उसका प्रेम ही है जो जगत्को चला रहा है।"

अरस्तू चार प्रकारके कारण मानता है—(१) **उपादान कारण**—जैसे घडेके लिये मिट्टी (२) **मूल-स्वरूप** या विज्ञान कारण—जिन नियमोके अनुसार कार्य (—घडा) बनता है (३) **निमित्त कारण**[३]—जिसके द्वारा उपादान कारण कार्यकी शकल लेता है जैसे कुम्हार आदि, (४) **अंतिम कारण** या प्रयोजन—जिसके लिये कि कारण बना। पहिले और तीसरे कारणाको भारतीय नैयायिकोने ले लिया है। अरस्तूका यह भी कहना है कि हर कायको चारो तरहके कारणोकी जरूरत नही, कितनोके लिये उपादान और निमित्त कारण ही काफी होते है।

---

१ देखो 'विश्वकी रूपरेखा' प्रकाशक किताब महल, इलाहाबाद

२ यह कल्पना सांख्यके पुरुषसे मिलती-जुलती है, यद्यपि अनीश्वरवादी सांख्य एककी जगह अनेक पुरुष मानता है। ३ Efficient cause.

(२) **ज्ञान**—अरस्तूका कहना था—ज्ञानकी प्राप्तिके लिये यह जरूरी है कि हम अपनी बुद्धिसे ज्यादा अपनी इन्द्रियोंपर विश्वास रक्खें, और अपनी बुद्धिपर उसी वक्त विश्वास करें जब कि उसका समर्थन घटनायें करती हो। सच्चा ज्ञान सिर्फ घटनाओंका परिचय ही नही बल्कि यह भी जानना है कि किन वजहो, किन कारणो या स्थितियोंसे वैसा होता है। जो विद्या या दर्शन आदिम या चरम कारणपर विचार करता है, उसे अरस्तू **प्रथम दर्शन** कहता है, आज-कल उसे ही अध्यात्मशास्त्र कहते हैं। अरस्तू तर्कशास्त्रके प्रथम आचार्योंमे है। उसके अनुसार तर्कका काम वह तरीका बतलाना है, जिससे हम ज्ञान तक पहुँच सकें। इस तरह तर्क, दर्शन तक पहुँचनेके लिये सोपान (=सीढ़ी) है। चिन्तन या जिस प्रक्रियासे हम ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसका विश्लेषण तर्कका मुख्य विषय है। तर्क वस्तुत शुद्ध चिन्तनकी विद्या है। हमारे चिन्तनका आरम्भ सदा इद्रिय-प्रत्यक्षसे होता है। हम पहिले विशेषको जानते हैं, फिर उससे सामान्यपर पहुँचते है—अर्थात् पहिले अधिक ज्ञातको जानते हैं, फिर उससे और अधिक ज्ञात और अधिक निश्चितको। हम पहिले अलग-अलग जगह रसोई-घरमे, श्मशानमे (इंजनमे भी) धुएँके साथ आगको देखते हैं, फिर हमारी सामान्य धारणा बनती है—जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है।

अरस्तूने अपने तर्क शास्त्रके लिये दस और कही आठ प्रमेय[1] (ज्ञानके विषय) माने हैं—(१) वह क्या है यानी **द्रव्य** (मनुष्य), (२) किनसे बना है यानी **गुण**, (३) वह कितना बडा है यानी **परिमाण** (३॥ हाथ) (४) क्या **संबंध** रखता है यानी सम्बन्ध (बृहत्तर दुगना), (५) वह कहाँ है, **दिशा** या देश (सडक पर), (६) कब होता है यानी **काल**; (७) किस तरह है, यानी **आसन** (लेटा या बैठा), (८) किस तरह है यानी **स्थिति** (कपडे पहिने या हथियार-बन्द), (९) वह क्या करता है

---

१ Category

यानी **कर्म** (पड़ता है), (१०) क्या परिणाम है यानी **निष्क्रियता** (कुछ नही करता)। इनमे द्रव्य, गुण, कर्म, वैशेषिकके छ पदार्थोंमें मौजूद हैं, काल, दिशा उसके नौ द्रव्योंमे है, बाकीमेसे भी कितनोका जिक्र वैशेषिक और न्याय करते है। सिकन्दरके आक्रमणसे पहिलेके किसी भारतीय ग्रथमे इन बातोका विवेचन नही आया है जिससे कहना पड़ता है कि यह हमारे दर्शनपर यवनआचार्योंका ऋण है। इसपर हम आगे कहेंगे।

अरस्तू **व्यक्ति** या विशेषको वास्तविक द्रव्य मानता है, हाँ यह व्यक्ति बदलता या जीर्ण होता रहता है—सभी चीजें जिनका हम साक्षात्कार कर सकते हैं, परिवर्तनशील होती हैं। भूत या विज्ञान दोनों न नये उत्पन्न होते हैं और न सदा के लिये लुप्त होते हैं, वे वस्तुओके अनादि सनातन मूलतत्त्व है। परिवर्तन या वृद्धि शून्यमे नही हो सकती, इनका कोई आश्रय या आधार होना चाहिए। वही परिवर्तन-रहित कूटस्थ आधारभूत और विज्ञान ('मूलस्वरूप') हैं। भूत और विज्ञानके मिलनेसे ही परिवर्तन और गति (=हरकत) होती है। अरस्तू गतिके चार भेद बतलाता है—(१) द्रव्य-सबधी गति—उत्पादन, विनाश, (२) परिमाण-सम्बन्धी गति—सयोग, विभागसे पिडके परिमाणमे परिवर्तन, (३) गुण-सबधी गति—एक चीजका दूसरी चीजमे परिवर्तन—दूधका दही, पानीका बर्फ बनना, (४) देश-सम्बन्धी गति—एक जगहसे दूसरी जगह जाना।

अरस्तू दार्शनिक होनेके अतिरिक्त एक बहुत बड़ा प्राणि-शास्त्री भी था, यह बतला आये है। उसका पिता स्वय वैद्य था और वैद्योका प्राणि-शास्त्रसे परिचय होना जरूरी है। हिप्पोक्रात[1] और उसके अनुयायियोने प्राणिशास्त्र-सबधी गवेषणाओं का ई० पू० पाँचवी सदीमे आरम्भ किया था। अरस्तूने उन्हे बहुत आगे बढाया और एक तरह जीवन-विकास सिद्धान्तका उसे प्रवर्तक कहना चाहिए। अरस्तूके प्राणिशास्त्रीय कार्यको

१ Hippocrates of Cos

उसके शिष्य थ्योफास्तु[१] (३९०-२८५ ई० पू०) ने जारी रखा, किन्तु आगे फिर दो सहस्र शताब्दियोंके लिये वह रुक गया। डार्विनने अरस्तूकी प्राणिशास्त्रीय गवेषणाओंकी बहुत दाद दी है।

यूनानी दार्शनिकोंका ऋणी होना हमारे यहाँके कितने ही विद्वानोंको बहुत खटकता है। वह साबित करना चाहते हैं कि भारतने बिना दूसरी जातियोंकी सहायताके ही अपने सारे ज्ञान-विज्ञानको विकसित कर लिया; और इसीलिए जिन सिद्धान्तोंके विकासके प्रवाहकी हमारे तथा यूनानियोंके सम्पर्कसे पहिले लिखे गये भारतीय साहित्यमें गन्ध तक नहीं मिलती, उसके लिये भी जबर्दस्त खींचा-तानी करते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि जब सिकन्दर भारतमें (३२३ ई० पू०) आया था तब यूनान दर्शन, कला, साहित्य आदिमें उन्नतिके शिखरपर पहुँचा हुआ था। उस समय, और बादमें भी लाखों यूनानी हमारे देशमें आकर सदाके लिये यहीं रह गये और आज वह हमारे रक्त-मांसमें इस तरह घुल-मिल गये हैं कि उसका पता आँखसे नहीं इतिहासके ज्ञानसे ही मिलता है। जिस तरह चुपचाप यूनानियों का रुधिर-मांस हमारा अभिन्न अंग बन गया, उसी तरह उनके ज्ञानका बहुत-सा हिस्सा भी हमारे ज्ञानमें समा गया। गधार-मूर्तिकलामें जिस तरह यवन-कलाकी स्पष्ट और गुप्त मूर्ति-कलामे अस्पष्ट छाप देखते हैं, उसी तरह हमें यह स्वीकार करनेसे इन्कार नहीं करना चाहिए कि हमारे मठोंमें साधु-भिक्षु और हमारी पाठशालाओंमें अध्यापक बनकर बैठे शिक्षित सभ्य यूनानी हमारे लिए अपने विद्वानोंका भी कोई तोहफा लाये थे।

§ ४—यूनानी दर्शन का अन्त

खेरोनियाके युद्ध (३३८ ई० पू०) में यूनानने मकदूनियासे हार खाकर अपनी स्वतन्त्रता गँवाई। इसने यूनानकी आत्माको इतना चूर्ण कर दिया

१. Theophrastus.

कि वह फिर न सँभल सका। अरस्तू यद्यपि ३२२ ई० पू० तक जीता रहा, किन्तु उसके बहुतसे महत्त्वपूर्ण दार्शनिक चिन्तन पहिले ही हो चुके थे। पराजित यूनान हेराक्लितु, देमोक्रितु, अफलातूँ, अरस्तूके जैसे स्वच्छन्द सजीव दर्शनको नहीं प्रदान कर सकता था—अरथीके साथ "राम-नाम सत" ही निकलता है। यद्यपि अरस्तूकी मृत्युके बाद कई शताब्दियों तक यूनानी दर्शन प्रचलित रहा किन्तु वह "राम-नाम-सत" का दर्शन था। विपदामे पड़े लोग अपने अवसादको धर्म या आचार-सम्बन्धी शिक्षासे हटाना चाहते है। चाहे बुद्धिवादी स्तोइकोंको[1] ले लीजिए या भौतिकवादी एपीकुरियोको[2] अथवा सन्देहवादियोको, सभी जीवनकी आचार और धर्म-संबंधी समस्याओंमे उलझे हुए हैं; और उनका अवसान चित्तकी शान्ति या बाहरी बंधनोसे मुक्तिके उपाय सोचनेके साथ होता है।

१ – एपीकुरीय भौतिकवाद

एपीकुरीयोके अनुसार दर्शनका लक्ष्य मनुष्यको सुखी जीवनकी ओर ले जाना है। इनका दर्शन देमोक्रितुके यांत्रिक परमाणुवादपर आधारित था—विश्व असख्य भौतिक परमाणुओंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाका परिणाम है। उसके पीछे कोई प्रयोजन या ज्ञानशक्ति काम नही कर रही है। हर वक्त चलते रहते, एक दूसरेसे मिलते अलग होते इन्ही परमाणुओंके योगसे मनुष्य भी बना, वह सदा परिवर्तित होता एक प्रवाह है। जीवनके अन्तमे ये परमाणु फिर बिखर जायँगे; इसलिए मनुष्यको सुख या आनन्द प्राप्त करनेका अवकाश इस जीवनसे परे नही मिलेगा, जिसके लिए कि उसे इस जीवनको भुला देना चाहिए। अतएव मनुष्य को आनन्द प्राप्त करनेकी कोशिश यहाँ करनी चाहिए और जो तरीके, नियम, सयम उसके जीवनको सुखमय बना सकते हैं, उन्हे स्वीकार करना चाहिए। एपीकुरीय दार्शनिक, इस प्रकार भोगवादी थे, किन्तु

---

१. Stoics. २. Epicureans.

उनका भोगवाद सिर्फ व्यक्तिके लिये ही नहीं, समाजके लिये भी था; इसलिए उसे संकीर्ण वैयक्तिक स्वार्थ नही कहा जा सकता। यदि दूसरोंके सुखवाद और इनके सुखवादमे फर्क था तो यही, कि जहाँ दूसरे परलोक—परजन्ममे वैयक्तिक सुखके चाहक थे, वहाँ एपीकुरीय इसी लोक, इसी जन्ममे मनुष्य—व्यक्ति और समाज दोनों—को सुखी देखना चाहते थे।

एपीकुरु[1] (३४१-२७० ई० पू०)—यूनानी भोगवादका संस्थापक एपीकुरु, समोस् द्वीपमें अथेन्स-प्रवासी माँ-बापके घरमें पैदा हुआ था। अध्ययनकालमे उसका परिचय देमोक्रितुके दर्शन—परमाणुवादसे हुआ, जिसके आधारपर उसने अपने दर्शनका निर्माण किया और उसके प्रचारके लिये ३०६ ई० पू० मे (बुद्धके निर्वाणसे पौने दो सौ वर्ष बाद) अथेन्समें अपना विद्यालय कायम कर मृत्यु (२७० ई० पू०) तक अध्ययन-अध्यापन करता रहा। अपने जीवनमें ही उसके बहुतसे मित्र और अनुयायी थे, और पीछे तो उनकी संख्या और बढ़ी। उनमे अपने सुखसे सुख माननेवाले भी हो सकते हैं, जिनके कि उदाहरणको लेकर दूसरोंने एपीकुरीयवादको भी चार्वाककी भाँति "ऋणं कृत्वा घृत पिबेत्" माननेवाला कहकर बदनाम करना शुरू किया।

एपीकुरुका कहना था कि, "यदि अपनी इंद्रियोंपर विश्वास न करे, तो हम किसी ज्ञानको नही प्राप्त कर सकते। इन्द्रियाँ कभी-कभी गलत खबरें देती है, किंतु उन गलतियोंको पुन:-पुनः प्रयोग करके अथवा दूसरोंके तजर्बेसे दूर किया जा सकता है।" इस प्रकार एपीकुरु हमारे यहाँ के चार्वाक-दर्शनकी भाँति प्रत्यक्ष-प्रमाणपर बहुत अधिक जोर देता था।

२—स्तोइकोंका शारीरिक (ब्रह्म)वाद

स्तोइकोंका दर्शन, क्सेनोफेन[2] (५७०-४८० ई० पू०) के जगत्-शारीरिक-ब्रह्मवादकी ही एक शाखा थी। हम कह आये हैं कि पियागोर स्वय

---

१. Epicurus.　　२. Xenophanes.

भारतीय दर्शनसे प्रभावित हुआ था, और खेनोफेन उसीका उत्तराधिकारी था; इस प्रकार स्तोइकोंकी शिक्षामें भारतीय दर्शनकी छाप हो, यह कोई अचरजकी बात नहीं। ३३२ ई० पू० मे सिकन्दरने मिश्रमे सिकन्दरियां नगर बसाया था, जो पीछे तीनों महाद्वीपोंका जबर्दस्त व्यापारिक केन्द्र ही नहीं बन गया, बल्कि वह तीनों द्वीपोंकी उच्चतम सस्कृति, दर्शन, तथा दूसरे विचारोंके आदान-प्रदानका भी केन्द्र बन गया। सिकन्दरिया स्तोइकोंका एक केन्द्र था, इसलिए पूर्वीय विचारोंसे परिचित होनेके लिये यहाँ उन्हें बहुत सुभीता था।

अरस्तू द्वैतवादी था, विज्ञान और भूत दोनोंको अनादि मानता था। ईश्वर उसके लिये निमित्त कारण था। स्तोइकोने द्वैतवादमे परिवर्तन किया और रामानुजके दर्शनकी भाँति माना कि ब्रह्म (ईश्वर) अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारण है, अर्थात् ब्रह्म और जगत् दो नही हैं, जगत् भगवान्का शरीर, एक सजीव शरीर है। भगवान् विश्वका आत्मा (लोगो[1]) है। जीवनके सभी बीज या कीट उसमे मौजूद है। उसीके भीतर सृष्टिको सारी शक्ति निहित है।

जेनो—(३३६-२६४ ई० पू०)—एलियातिक जेनो (४९०-३० ई० पू०) के १०६ वर्ष बाद साईप्रसमें स्तोइक दर्शनका आचार्य दूसरा जेनो पैदा हुआ था। साईप्रस युरोपसे ज्यादा एसियाके नजदीक है, उसी तरह जेनोका स्तोइक-दर्शन भी एसियाके ज्यादा नजदीक है। ३०४ ई० पू० मे जेनोने अपना विद्यालय 'स्तोआ पोईकिले'[2] (=नुकीली अटारी) पर खोला, जिसकी वजहसे उसके सम्प्रदायका नाम ही 'स्तोइक' (नुकीला) पड़ गया। जेनोके बाद स्तोइक दर्शनका आचार्य क्लियन्य[3] (२६४-२३२ ई० पू०) हुआ। यह फीनीसीय व्यापारी दार्शनिक अशोकका समकालीन था।

स्तोइक तर्कके जबर्दस्त पक्षपाती थे। उनका कहना था—"दर्शन एक खेत है; जिसकी रक्षाके लिए तर्क एक काँटोंकी बाड़ है, भौतिक-शास्त्र

---

१. Logos. २. Stoa Poikile. ३. Cleanthes.

खेतकी मिट्टी और आचार-शास्त्र फल है।" तर्ककी बाड़का ख्याल हमारे न्यायने स्तोइकोंसे ही लेकर कहा है—"तर्क तत्त्व-निश्चयकी रक्षाके लिये काँटेकी बाड़ है।"[1]

स्तोइक एपीकुरीयोंसे इस बातमें एकमत थे कि हमारे सभी ज्ञानका आधार इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है।—हमारा ज्ञान या तो प्रत्यक्षसे आता है या उससे प्राप्त साधारण विचार या ज्ञानसे। किसी बातको सच तभी मानना चाहिए, जब कि वस्तुएँ उसकी पुष्टि करती हैं। साइंस (=विद्या) सच्चे निर्णयोंका एक ऐसा सुसगठित ज्ञान है, जो एक सिद्धान्तका दूसरे सिद्धान्तसे सिद्ध होना जरूरी कर देता है।

स्तोइक उसी वस्तुको सच्ची मानते हैं, जो क्रिया करती है या जिस पर क्रिया होती है। जो क्रिया-शून्य है उसकी सत्ताको वह स्वीकार नहीं करते। इसीलिए **शुद्ध विज्ञान** (=ईश्वर) को वह अरस्तूकी भाँति निष्क्रिय नहीं मानते। ईश्वर और जगत् जब शरीर और शारीरके तौरपर अभिन्न हैं तो शरीर (=जगत्) की क्रिया शारीर (=ईश्वर) की अपनी ही क्रिया है। भौतिक तत्त्वोंके बिना शक्ति नहीं और शक्तिके बिना भौतिक तत्त्व नही मिल सकते, इसलिए भौतिक-तत्त्वको सर्वत्र शक्ति (=ईश्वर) से व्याप्त मानना चाहिए। यह ख्याल उपनिषद्के अतर्यामीवाद'से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेंगे। स्तोइकोंका यह अग-अगी अवयव-अवयवी वाला सिद्धान्त वेदातके सूत्रों, उसकी बोधायनवृत्ति तथा रामानुज-भाष्यमे भी पाया जाता है। इसका यह मतलब नही कि शरीर-शरीरी भाव उपनिषद्मे है ही नही। यह भाव वहाँ था, किन्तु उसे स्तोइकोंने और तर्क-सम्मत बनानेके लिये जो युक्तियाँ दी, उनसे बादरायण, बौधायन आदिने फायदा उठाया—ऐसा मालूम होता है।

क्षुद्रसे क्षुद्र वस्तुएँ भी भगवान्के अग हैं, वह एक और सब है। प्रकृति, ईश्वर, भाग्य, भवितव्यता एक ही हैं। जब प्रकृति ईश्वरसे अभिन्न

१. "तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।" न्यायसूत्र ४।२।५०

है, तो हमारे जीवनके लिये सबसे अच्छा आदर्श प्रकृति ही हो सकती है, इसीलिए स्तोइक प्राकृतिक जीवनके पक्षपाती थे। सभी प्राणी चूँकि ईश्वर-प्रकृति-अद्वैतकी ही सन्तानें या अंग हैं, इसलिए स्तोइक विश्वभ्रातृ-भावके माननेवाले थे—"सभी मनुष्य भाई-भाई हैं और ईश्वर सबका पिता है।"—एपिक्तेतुने कहा था।

स्तोइक दर्शनका प्रचार कई शताब्दियों तक रहा। रोमन सम्राट् **मर्कस औरेलियस** (१२१-१८० ई०)—जो नागार्जुनका समकालीन था—स्तोइकोंका एक बहुत बड़ा दार्शनिक समझा जाता है। ईसाई-धर्मके आरम्भिक प्रचारके समय उपरले वर्गमे स्तोइकवादका बहुत प्रचार था, किन्तु ऐसे गम्भीर तर्क-कंटक-शाखा-रक्षित दर्शनको हटाकर ईसाइयतकी बच्चोंकी कहानियाँ अपना अधिकार जमानेमें कैसे सफल हुईं, इसका कारण यही था कि कहानियाँ पृथ्वीके ठोस पुत्रों—निम्न श्रेणीके मजदूरों गुलामो—में फैलकर शक्ति बन, उनके हाथो और हृदयको संघर्ष करनेके लिए मजबूत कर रही थी; जब कि हवामे उड़नेवाले राजाओं और अमीरोंका ब्रह्म-दर्शन गरीबोंके पसीनेकी कमाईको खाकर मोटे हुए उनके शरीरके लिए लवण-भास्करका काम दे रहा था। ख्याली जगत् और वास्तविक जगत्का जहाँ आपसमे मुकाबला होता है, वहाँ परिणाम ऐसा ही देखा जाता है।

३ – सन्देहवाद

"हम वस्तुओंके स्वभावको नहीं जान सकते। इन्द्रियाँ हमे सिर्फ इतना ही बतलाती हैं कि चीजें कैसी देख पड़ती हैं, वह वस्तुतः क्या हैं इसे जानना सम्भव नही है।"

पिर्हो (३६५-२७० ई० पू०)—पिर्हो एलिस् (यूनान) में अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०) से उन्नीस साल बाद पैदा हुआ था। जेनो की भाँति पिर्होको भी देमोक्रितुके ग्रन्थोंने दर्शनकी ओर खींचा। जब सिकन्दरने पूर्वकी दिग्विजय-यात्रा की, तो पिर्हो भी उसकी फौजके साथ था। ईरानमें उसने पारसी धर्माचार्योंसे शिक्षा प्राप्त की थी।

भारतमें भी वह कितने ही साल रहा और वहाँके एक दार्शनिक सम्प्रदाय—जिसे यूनानी लेखक गिम्नो-सोफी[1] नाम देते हैं—का उसने अध्ययन किया था। गिम्नो जिनसे मिलता-जुलता शब्द मालूम होता है। बौद्ध और जैन दोनो अपने धर्म-संस्थापकको जिन (=विजेता) कहते हैं। लेकिन जहाँ तक पिर्‌होके विचारोका सम्बन्ध है, वह बौद्ध सिद्धान्तोका एकांगीन विकास मालूम होता है, जिन्हे कि हम ईसाकी दूसरी सदीके नागार्जुनमे पाते हैं। नागार्जुनका शून्यवाद पुराने वैपुल्यवादियोंसे विकसित हुआ है, और वैपुल्यवादियोके होनेका पता अशोकके समय तक लगता है। अशोक पिर्‌होकी मृत्यु (२७० ई० पू०) से एक साल बाद (२६९ ई० पू०) गद्दीपर बैठा था। इस तरह पिर्‌होके भारत आनेके समय वैपुल्यवादी मौजूद थे। भारतसे पिर्‌हो एलिस् लौट गया। उसका विचार था—वस्तुओका अपना स्वभाव क्या है, इसे जानना असम्भव है। कोई भी सिद्धान्त पेश किया जावे, उतनी ही मजबूत युक्ति (=प्रमाण) के साथ ठीक उससे उल्टी बात कही जा सकती है, इसलिए अच्छा यही है कि अपना अन्तिम बौद्धिक निर्णय ही न दिया जावे, जीवनको इसी स्थितिमे रखना ठीक है। नागार्जुनके वर्णनमे हम इसकी समानताको देखेंगे, किन्तु इसमे नागार्जुनको पिर्‌होका ऋणी न मानकर यही मानना अच्छा होगा कि दोनोका ही उद्‌गम वही वैपुल्यवाद, हेतुवाद या उत्तरापथवाद थे।

पिर्‌हो ज्ञानको असाध्य साबित करनेके लिए कहता है—किन्तु किसी चीजको ठीक साबित करनेके लिए या तो उसे स्वतः प्रमाण मान लेना होगा जो कि गलत तर्क है, या दूसरी चीजको प्रमाण मानकर चलना होगा जिसके लिये कि फिर प्रमाणकी जरूरत होगी। नागार्जुनने 'विग्रह-व्यावर्तनी" मे ठीक इन्ही युक्तियों द्वारा प्रमाणकी प्रामाणिकताका खंडन किया है।

ईश्वर-खंडन—पिर्‌होके अनुयायी स्तोइकोंके ब्रह्म (=ईश्वर) वादका खंडन करते थे। स्तोइक कहते थे—"जगत्‌की सृष्टिमे खास प्रयोजन मालूम

1. Gymno-sophist.

होता है और वह प्रयोजन तभी हो सकता है, जब कि कोई चेतनशक्ति उसे सामने रखकर संसारकी सृष्टि करे। इस तरह **प्रयोजनवाद ईश्वरकी** हस्तीको सिद्ध करता है।" संदेहवादियोंका कहना था—"जगत्में कोई ऐसा प्रयोजन नही दीख पड़ता, वहाँ न बुद्धिपूर्वकता दिखाई पड़ती है, और न वह शिव सुन्दर ही है। बुद्धिपूर्वकता होती तो गलती कर-करके —हजारो ढाँचोंको नष्ट कर-करके—नये स्वरूपोंकी अस्थायी हस्तीके आनेकी ज़रूरत नही होती; और दुनियाको शिव सुन्दर तो वही कह सकते हैं जो सदा स्वप्नकी दुनियामे विचरण करते हैं। यदि दुनियामें यह बातें भी नही होती, तो भी उससे ईश्वर नही, स्वाभाविकता ही सिद्ध होती। स्तोइक (और वेदान्ती भी) ईश्वरको विश्वात्मा मानते हैं। पिर्‌होके अनुयायी कहते थे कि "तब उसका मतलब है कि वह वेदना या अनुभव करता है। जो वेदना या अनुभव करता है, वह परिवर्तनशील है; जो परिवर्तनशील है, वह नित्य एक-रस नही हो सकता। यदि वह अपरिवर्तनशील एकरस है, तो वह एक कठिन निर्जीव पदार्थ है। और विश्वात्माको शरीरधारी माननेपर मनुष्यकी भाँति उसे परिवर्तनशील—नाशवान् तो मानना ही होगा। यदि वह शिव (अच्छा) है, तो वह मनुष्यकी भाँति आचारकी कसौटीके अन्दर आ जाता है, और यदि शिव नही, तो घोर है और मनुष्यसे निम्नश्रेणीका है। इस प्रकार ईश्वरका विचार परस्पर-विरोधी दलीलोंसे भरा हुआ है। हमारी बुद्धि उसे ग्रहण नही कर सकती, इसलिए उसका ज्ञान असम्भव है।"

पिर्‌होके बाद उसके दार्शनिक सम्प्रदायके कितने ही आचार्य हुए, जिनमे मुख्य थे—अर्कोसिलो[१] (३१५-२४१ ई० पू०), कर्न्योद[२] (२१३-१२९ ई० पू०), अस्कालोन्का अन्तियोक[३] (६८ ई०), लारिस्साका फिलो[४] (८० ई०), क्लितोमाछु[५] (११० ई०)।

---

१. Arcosilaus. २. Carneodes. ३. Antiochus of Ascalon. ४. Philo of Larissa ५. Clitomachus.

सदेहवादके अनुयायी कितने ही अच्छे-अच्छे दार्शनिक विद्वान् होते रहे, किन्तु सभी स्तोइकोंकी भाँति आकाशविहारी थे, इनका काम ज्यादातर निषेधात्मक या ध्वसात्मक था, और सामने कोई रचनात्मक प्रोग्राम नही था। इसलिए ईसाइयतने इस्तोइकोंके साथ इन कोरे फिलासफरोका भी खात्मा कर दिया।

४ – नवीन-अफ़लातूनी दर्शन[1]

पश्चिममे यूनानी दर्शनने अपने अन्तिम दिन नव-अफलातूनी दर्शनके रूपमे देखे। यह पाश्चात्य दर्शन और पौरस्त्य-योग, रहस्यवाद, अध्यात्म-शास्त्रका एक अजीब मिश्रण था और यवन-रोमन सभ्यताके पतन और बुढापेको प्रकट करता था। यूनानी दर्शनोंमे हम देख चुके हैं कि अफलातूँका लोकोत्तर विज्ञानवाद धर्म और अध्यात्मविद्याके सबसे अधिक नज़दीक था।

ईसा-पूर्व पहली सदीमे रोम-साम्राज्यमे दो बडे-बडे शहर थे, एक तो राजधानी बिजन्तिउम्[2] या आधुनिक इस्तांबोल (कुस्तुन्तुनिया) और दूसरा मिश्र सिकन्दरिया। दोनो पूर्व और पश्चिमके वाणिज्य ही नही, सस्कृत, धर्म, दर्शन, कला सबके विनिमयके स्थान थे। बिजन्तिउम् था युरोपकी भूमिपर, किन्तु उसपर पश्चिमकी अपेक्षा पूरबकी छाप ज्यादा थी। सिकन्दरियाके बारेमे कह चुके हैं कि वह व्यापारका केन्द्र ही नही था बल्कि विद्याके लिये पश्चिमकी नालन्दा थी। ईसा-पूर्व पहिली सदीमे लकाके 'रत्न-माल्य चेत्य (रुवन्वेलि स्तूप, अनुराधपुर) के उद्घाटन-उत्सवमें सिकन्दरियाके बौद्ध भिक्षु धर्मरक्षित आनेका जिक्र[3] आता है, वह यही सिकन्दरिया हो सकती है, और इससे मालूम होता है कि ईसा-पूर्व तीसरी सदीमे अशोककी सहायतासे जो भिक्षु विदेशों और यवनलोक (यूनानी

---

[1] Neo-platonism. [2] Byzantium.

[3]. महावंश २९।३९ (भदंत आनंद कौसल्यायनका हिन्दी-अनुवाद, पृष्ठ १३९)।

साम्राज्य) में भेजे गये थे, उन्होंने सिकन्दरियामें भी अपना मठ कायम किया था। धर्म व्यापारका अनुगमन करता है, यह कहावत उस वक्त भी चरितार्थ थी। जहाँ-तहाँ विदेशोंमें भारतीय व्यापारी बस गये थे, जिसे उनके धर्म-प्रचारकोंको उस देशके विचार तथा समाजके बारेमें जाननेका ही अधिक सुभीता न होता था, बल्कि ये व्यापारी उनके मठोंके बनाने और शरीर-निर्वाहके लिये मदद देते थे। यूनानके राष्ट्रीय अध पतन और निराशाके समय पूर्वीय साधुओ, योगियोंकी योग-तपस्या, संसारकी असारता परलोकवादकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित होना स्वाभाविक था, और हम देखते है कि हजारो शिक्षित, सस्कृत रोमक और यवन 'सत्य और निर्वाण' के साक्षात्कारके लिए सिकन्दरियासे रेगिस्तानका रास्ता लेते है। वहाँ वे दरिद्रता, उपवास, योग और भजनमे अपने दिन गुजारते हैं। दुनिया छोडकर भागनेवाले इस समुदायमे सैनिक, व्यापारी, दार्शनिक, महात्मा सभी शामिल थे। यद्यपि सिकन्दरियामे अफलातूँ ही नही, अरस्तूका यथार्थवादी दर्शन भी पढा-पढाया जाता था, किन्तु जो दुनियासे ऊब गये थे और जिन्हे सुधारका कोई रास्ता नहीं दिखाई पडता था, वे अफलातूँके विज्ञानवादको ही सबसे ज्यादा पसन्द करते।

पश्चिमी जगत्‌का उस समय भारतकी ही नही, ईरानकीभी पुरानी सस्कृतिसे सम्बन्ध था, बल्कि पासका-पडोसी होनेसे ईरानका सम्बन्ध ज्यादा नजदीकका था। ईरान, दर्शनकी उडानमे हमेशा भारतसे पीछे रहा। पिथागोर (५७०-५०० ई० पू०) और सिकन्दर (३५६-२३ ई० पू०) के समयसे ही भारत अपनी सम्पत्तिके लिये ही नही, दार्शनिको और योगियोंके लिये भी मशहूर था। इसीलिए यूनानी दर्शनको नवीन अफलातूनीय दर्शनके रूपमे परिणत करनेका श्रेय भारतीय दर्शनको ही है। निराशावाद, रहस्यवाद, दु खवाद, लोकोतरवाद वही उठते हैं, जहाँकी भूमि वहाँके समाजके नायकोंको असन्तुष्ट कर देती है—या तो बराबरके युद्ध, राज्यक्रान्ति और उनके कारण होनेवाले दुर्भिक्ष, महामारी जीवनको कडुवा बना देते हैं, अथवा समाजके भीतरकी विषमता—गन्दगी, समृद्धि

भोगोंको 'अंगूर खट्टे' [illegible] है। सातवीं-छठवीं सदी ई० पू० में भारतमें उपनिषदोंका [illegible], रहस्यवाद, इन्हीं परि-स्थितियोंमें पैदा हुआ था और [illegible] जगह स्थिरता प्रदान कर भारतने इन विचार-धाराओंको भी [illegible] प्रदान की। पीछे आने वाले बौद्ध-जैन तथा दूसरे दर्शन उसी निराशावाद और रहस्यवादके नये संस्करण हैं, आखिर सामाजिक विकासके रुक जानेपर भी बौद्धिक विकास तो भारतीयोंका कुछ होता ही रहा, जिसकी वजहसे निराशावाद और रहस्यवादको भी नये रूप देनेकी जरूरत पड़ी। भारतने समाजको नया करनेमे तो सिर खपाना नही चाहा, क्योंकि सदियाँ बीतती गईं और गद-गियाँ जमा होती रहीं—बढते कर्जको मुलतवी करने वाले ऋणीकी भाँति उनका सफाया करना और मुश्किल हो गया। ऐसी विषम परिस्थितिमें बिल्लोके सामने कबूतरके आँख मूँदने या शुतुर्मुर्गके बालूमें मुँह छिपानेकी नीति आदमीको ज्यादा पसन्द आती है। भारतने निराशावाद-रहस्यवादको अपनाकर उसके उपनिषद्, जैन, बौद्ध, योग, वेदान्त, शैव, पाचरात्र, महा-यान तत्र-यान, भक्तिमार्ग, निर्गुणमार्ग, कबीरपन्थ, नानकपन्थ, सखी-समाज, ब्रह्म-समाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, राधावल्लभीय, राधा-स्वामी आदि नये सस्करणोंको करके उसी बिल्ली-कबूतर-नीतिका अनु-सरण किया।

भारतकी तरहकी परिस्थितिमे जब दूसरे देश और समाज भी आ पडते हैं, उस समय यही आजमूदा नुस्खा वहाँ भी काम आता है। आज युरोप, अमेरिकामे जो बौद्ध, वेदान्त, थ्योसोफी, प्रेतविद्याकी चर्चा है, वह भी वही शुतुर्मुर्गी नीति है—समाजके परिवर्तनकी जगह लोकसे 'भागने' का प्रयत्न है।

ईसापूर्व पहिली सदीका यवन-रोमका नायक-शासक समाज, भोग समृद्धिमे नाक तक डूबा, सामाजिक विषमता और गदगीके कारण अनि-श्चित भविष्य तथा अजीर्णका शिकार था। वह भी इस परिस्थितिसे जान छुडाना चाहता था, इसके लिये उसका स्वदेशीय नुस्खा अफलातूँका दर्शन

काफी न था, उसके लिए और कड़ी बोतल जरूरी थी, जिसके लिए उन्होंने भारतीय रहस्यवाद-निराशावादको अफलातूनी दर्शनमें मिला दिया। इन्द्रियो द्वारा प्रत्यक्ष सारी दुनिया माया, भ्रम, इन्द्र-जाल है, मानस (विज्ञान) जगत् ही सच्चा है। सत्य और मानसिक शान्ति तभी मिल सकती है, जब कि मनुष्य जीवनसे अलग हो। एक लम्बे सयम-यम-नियमके साथ, इसी जन्मकी नहीं, अनेक जन्मकी ससिद्धिके साथ उस अकथ, अज्ञेय, रहस्यमयी दुनियाको जाननेपर, हृदयकी गाँठे टूट जाती हैं, सारे सशय छिन्न हो जाते है, लाखो जन्मके दोष (कर्म) क्षीण हो जाते हैं; उस पर-अपर (परले-उरले) को देख कर।"

नवीन-अफलातूनीय दार्शनिकोमे सिकन्दरियाका फिलो यूदियों[1] (ई० पू० २५ से ५० ई०) बहुत महत्त्व रखता है। उसने अफलातूं और भारतीय दर्शनके साथ यहूदी शिक्षाका समन्वय करना चाहा, इसके लिए उसने यहूदी फरिश्तोको भगवान् और मनुष्यके बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाले अफलातूनी विज्ञानका आलकारिक रूप बतलाया।

लेकिन यह आलकारिक व्याख्या उतनी सफल नही हुई, जिसपर इस कामको प्लोतिन्[2] (२०५-७१ ई०) ने अपने हाथमे लिया। नाशोन्मुख भव्य प्रासादके कगूरे, मीनार, छत और दीवारें एक-एक ईंट करके गिरते है, वही हालत पतनोन्मुख सस्कृतिकी भी होती है। ईसाकी तीसरी सदीके आरम्भमे रोमन सस्कृति भी इस अवस्थामे पहुँच गई थी। प्लोतिन् उसका ही प्रतीक था। प्लोतिन् और उसके जैसे दूसरे विचारक भी वस्तु-स्थितिसे मुकाबिला करनेसे जी चुराना चाहत हैं। वह दुनियाकी सारी व्यवस्था—समाजकी गदगियों—को जाननेकी काफी समझ रखते है, किन्तु अज्ञान, कायरपन या अपने समृद्धवर्गके स्वार्थके ख्यालसे उस व्यवस्थाके उलटनेमे योगदान नही करना चाहते, उन्हें इससे अच्छी वह ख्याली-दुनिया मालूम होती है, जिसका निर्माण बड़े यत्नके साथ अफलातूँने किया था।

---

१. Philo Judaeus. २. Plotinus.

नवीन अफलातूनीय दर्शनकी शिक्षा थी—"सभी चीजें एक अज्ञेय परमतत्त्व,[1] अनादि विज्ञान[2]से पैदा हुई हैं। परमात्मासे उनका सम्बन्ध वस्तुके तौरपर नहीं, बल्कि कल्पनाके तौर पर है, यही कल्पना करना उस परमतत्त्वके अस्तित्वका परिचायक है। परमतत्त्वके किसी गुणको समझनेके लिये हमारे पास कोई इन्द्रिय या साधन नहीं है। इस परमतत्त्वसे एक आत्मा पैदा होता है, जिसे ईश्वर कहते हैं और जो विश्वका सृष्टिकर्ता है। शंकरके वेदान्तमें भी ईश्वर (परमात्मा)को परमतत्त्व मानते हैं। यह ईश्वर या "दिव्य विज्ञान" ध्यान करके[3] अपने शरीरसे विश्व-आत्माको पैदा करता है, जो कि विश्वका भी आत्मा है, दुनियाके अनगिनत जीवात्माओंका भी। दुनिया अब तैयार हो गई है। किन्तु दिव्य-विज्ञानका काम इतनेसे समाप्त नहीं होता, वह लगातार आत्माओंको प्रकटकर इस देखनेकी दुनियामें भेज रहा है और जिन्होंने अपने सांसारिक कर्तव्यको पालन कर लिया है, उन्हें अपनी गोदमें वापस ले रहा है।

अफलातूंने प्रयोग या अनुभवसे ऊपर, बुद्धिको माना था, किन्तु नवीन-अफलातूनी समाधिके साक्षात्कार, आत्मानुभूति[4]को बुद्धिसे भी ऊपर मानते थे। प्लोतिनुने कहा—"उस सर्व महान् (परमतत्त्व) को बुद्धिके चिन्तनसे नहीं बल्कि अचिन्तनसे, बुद्धिसे परे जाकर जाना जा सकता है।"

इस रहस्यवादने ईसाई-धर्म और खासकर ईसाई सन्त अगस्तिन् (३५४-४३० ई०) पर बहुत प्रभाव डाला। आज भी पूर्वीय ईसाई चर्च (स्लावदेशोंकी ईसाइयत)पर भारतीय नवीन-अफलातूनीय दर्शनकी जबरदस्त छाप है, योग, ज्ञान, वैराग्यका दौरदौरा है। पश्चिमी रोमन कैथलिक चर्चको सन्त तामस् अक्विना (१२२५-७४ ई०) ने जमीनपर लानेकी कुछ कोशिश की, मगर रहस्यवादसे धर्मका पिंड छूट ही कैसे सकता है?

---

१. Absolute. २. Intelligence. ३. "सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्"—मनु० १।८ ४. Intuition.

४७ ई० पू० में रोमनोंने सिकन्दरियापर अधिकार किया। उसके बाद उसका वैभव क्षीण होने लगा। आमतौरसे दर्शनकी ओर उनकी विशेष रुचि न थी तो भी कुछ रोमनोंने यूनानी दर्शनके अध्ययन-अध्यापनमे सहायता की। सिसरो (१०६-४३ ई० पू०) का नाम इस बारेमे विशेषतः उल्लेखनीय है, इसके ग्रथोंने पीछे भी यूनानी दर्शनको जीवित रखनेमे बहुत काम किया। लुक्रेशियो[१] (९८-५५ ई० पू०) ने देमोक्रितुके परमाणुवादको हम तक पहुँचानेमे बडी सहायता की। स्तोइक दार्शनिक सम्राट् मर्कस् औरेलियस् (१२१-१८० ई०) का जिक्र पहले आ चुका है। यूनानी दर्शनके बारेमे अतिम लेखनी बोयथेऊ[२] (४८०-५२४)की थी, जो कि दिग्नाग (४५० ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०)के बीचके कालमे पैदा हुआ था और जिसने "दर्शनके-सन्तोष"[३] नामक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रथने बहुत दिनो तक विद्यार्थियोके लिये प्रकरण या परिचय-ग्रथका काम दिया।

ईसाई-धर्मपर पीछे नवीन-अफलातूनीय दर्शनका असर पडा जरूर, किंतु शुरूमे ईसाई-धर्म प्रचारक दर्शनको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे और ईसाके सीधे-सादे जीवन तथा गरीबोके प्रेमकी कथाये कहकर साधारण जनताको अपनी ओर खीच रहे थे। उनका जोर, ज्ञान और वैयक्तिक प्रयत्नपर नही बल्कि विश्वास और आत्मसमर्पणपर था। आदिम ईसाई नेता दर्शनको खतरनाक समझते थे। ३९० ई० मे लाटपादरी थेवफिलने धर्म-विरोधी पुस्तकोंका भडार समझकर सिकन्दरिया के सारे पुस्तकालयोको जलवा दिया। ४१५ ई० मे सिकन्दरिया के ज्योतिषी थ्योन[४] की लडकी तथा स्वय गणितकी पडिता हिपाशिया[५]का ईसाई धर्मान्धोंने बडी निर्दयताके साथ वध किया। ऐसे कितने ही पाशविक वधो और अत्याचारोंसे ईसाई धर्मान्धोंको सतोष नही हुआ और अन्तमे ५२९ ई० मे—जिस शताब्दी मे भाव्य, चन्द्रकीर्ति, प्रशस्तपाद उद्योतकर जैसे दार्शनिक

१. Lucretius. २. Boetheus. ३. Consolations of Philosophy. ४. Theon. ५. Hibatia

तथा वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त जैसे ज्योतिषी हमारे यहाँ स्वतन्त्र चिन्तनमें लगे थे—ईसाई राजा जस्तीनियनने[1] राजाज्ञा निकाल दर्शनके सभी विद्यालयोंको बन्द कर दिया। तबसे युरोपमें सात सौ वर्षोंकी कालरात्रि शुरू होती है, जिसमें दर्शन विस्मृत सा हो जाता है।

५ – अगस्तिन् (३५३-४३० ई०)

यूनानी दर्शनके साथ शुरूमें ईसाइयतका बर्ताव कैसा रहा? इसका जिक्र हम कर चुके हैं। लेकिन तलवारसे ज्ञानकी चोट जबरदस्त होती है। जिस समय (३९०) लाट-पादरी थेवफिल सिकन्दरियाके पुस्तकालयोंको जला रहा था, उस समय ओरोलियो अगस्तिन ४७ वर्षका था, और यद्यपि वह अब ईसाई साधु था, किंतु पहिलेके पढ़े दर्शनको वह भूल नहीं सकता था; इसीलिये उसने दर्शनको ईसाई-धर्मकी खिदमतमें लगाना चाहा।

अगस्तिन तगस्तेर (उत्तरी अफ़ीका) मे ईसाई माँ (मोनिका) और काफिर बापसे पैदा हुआ था। साधु होने के बाद तीन साल (३८४-८६) तक वह मिलन (इताली) मे पादरी रहा। उसने यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति युक्तिद्वारा ईसाई-धर्मका मंडन करना चाहा—ईश्वरने दुनियाको 'असत्'से नहीं पैदा किया। अपने विकास के वास्ते यह बात उसके लिए जरूरी नहीं है। ईश्वर लगातार सृष्टि करता रहता है। ऐसा न हो तो ससार छिन्न-भिन्न हो जाय। संसार बिलकुल ही ईश्वरके अवलबनपर है। संसार काल और देशमें बनाया गया—यह हम नही कह सकते, क्योंकि जब ईश्वरने संसार बनाया उससे पहिले देश-काल नही थे। ससारको बनाते हुए उसने देश-कालको बनाया! तो भी ईश्वरकी सृष्टि सदा रहनेवाली सृष्टि नहीं है। संसारका आदि है; सृष्टि सान्त, परिवर्तनशील और नाशमान है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसने भौतिक तत्त्वोंको भी पैदा किया।

---

१. Justinian.

२

इस्लामी दर्शन

अध्याय २

२. इस्लामी दर्शन

पैगंबर मुहम्मद और इस्लामकी सफलता

§ १. इस्लाम

ईसाकी छठीं सदी वह समय है, जब कि भारतमें एक बहुत शक्तिशाली राज्य—गुप्त साम्राज्य—खतम होकर छोटे-छोटे राज्योंमें बँटने लगा था, तो भी अन्तिम बिखरावके लिए अभी एक सदीकी देर थी। गुप्तोंके बाद उत्तरी भारतके एक विशाल केन्द्रीकृत राज्यको पहिले मौखरियोंने और फिर अन्तमें काफी सफलताके साथ हर्षवर्द्धनने हस्तावलम्ब दिया था। जिस वक्त इस्लामके संस्थापक पैगंबर मुहम्मद अपने धर्मका प्रचार कर रहे थे, उस वक्त भारतमे हर्षवर्द्धनका राज्य था, और दर्शन-नभमें धर्मकीर्ति जैसा एक महान् नक्षत्र चमक रहा था।

छठी सदीका अरब हाल तकके अरबकी भाँति ही छोटे-छोटे स्वतन्त्र कबीलोंमें बँटा हुआ था। आजकी भाँति ही उस वक्त भी भेड़-ऊँट का पालना और एक दूसरे को लूटना अरबोंकी जीविकाके "वैध" साधन थे। हाँ, इतना अन्तर कमसे कम पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०)के बादसे जरूर है, कि इब्न-सऊदके शासनमें कुछ हद तक कबीलोंकी निरंकुशताको अरबके बहुतसे भागोंमें कम किया गया। पैगंबर मुहम्मदके समय अरबके कुछ भाग तथा लाल-सागरके उस पार अबीसीनियाका ईसाई राज्य था। उसके ऊपर मिश्र रोमनोंके हाथमें था। उत्तरमें सिरिया

(दमिश्क) आदि रोमन कैसर (राजधानी बिजन्तिपुरम् कुस्तुन्तुनिया, वर्तमान इस्ताम्बूल)के शासनमें था। पूर्वमें मेसोपोतामिया (इराक) और ईरानपर सासानी (पारसी) शाहशाह शासन कर रहे थे। अरब बद्दू (खानाबदोश) कबीलोंका रेगिस्तानी इलाका था। उसके पश्चिमी भागमें मक्का (बक्का) और यस्रिब् (मदीना)के शहर वाणिज्य-मार्गपर होनेसे खास महत्व रखते थे। यस्रिबका महत्व तो उसकी तिजारत और यहूदी सौदागरों के कारण था, किन्तु मक्का सारी अरब जाति का महान् तीर्थ था, जहाँपर सालमे एक बार लडाकू अरब भी हथियार हाथसे हटा रोजा रख श्रद्धापूर्वक तीर्थ करने आते थे, और इसी वक्त एक महीनेके लिए वहाँ व्यापारिक मेला भी लग जाता था।

१ — पैगंबर मुहम्मद

(१) **जीवनी**—अरबों का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ होने के कारण मक्काके काबा-मन्दिरके पुजारियो (पडों)को उससे काफी आमदनी ही नही थी, बल्कि वह कुल और सस्कृतिमे अरबोंमें ऊँचा स्थान रखते थे। पैगबर मुहम्मदका जन्म ५७० ई० मे मक्काके एक पुजारी वश—कुरैश—मे हुआ। उनके माता-पिता बचपनही मे मर गये, और बच्चेकी परवरिशका भार दादा और चाचापर पडा।

मक्काके पुजारी पूजा-पडापनके अतिरिक्त व्यापार भी किया करते थे। एक बार उनके चाचा अबूतालिब जब व्यापारके लिये शामकी ओर जा रहे थे, तो बालक मुहम्मदने ऊँटकी नकेल पकडकर ले चलनेका इतना जबर्दस्त आग्रह किया, कि उन्हे साथ ले जाना पडा। इस तरह होश सँभालनेसे पहिले ही इस्लामके भावी पैगबरने आसपासके देशो, उनकी उर्वर और मरु-भूमियों, वहाँके भिन्न-भिन्न धार्मिक रीति-रवाजोंको देखा था। जवान होनेपर व्यापार-निपुणताकी बात सुनकर उनकी भावी पत्नी तथा मक्काकी एक धनाढ्य विधवा खदीजाने उन्हे अपने कारवाँका मुखिया बनाकर व्यापार करनेके लिए भेजा। पैगंबर मुहम्मद आजन्म

अनपढ़ (उम्मी) रहे, यह बात विवादास्पद है—खासकर एक बड़े व्यापारी कारवाँके सरदारके लिए तो भारी नुकसानकी चीज हो सकती है। यदि ऐसा हो तो भी अनपढ़का अर्थ अबुद्धि नहीं होता। तरुण मुहम्मद एक तीव्र प्रतिभाके धनी थे, इसमें सन्देह नहीं, और ऐसी प्रतिभाके साथ पुस्तकोंसे भी ज्यादा वह देश-देशान्तरके यातायात तथा तरह-तरहके लोगोंकी सगतिसे फ़ायदा उठा सकते थे, और उन्होंने फायदा उठाया भी।

पैगंबर मुहम्मदके अपने वंशका धर्म अरबकी तत्कालीन मूर्तिपूजा थी और काबाके मन्दिरमें लात, वक्क जैसे ३६० देवता और साथ ही किसी टूटे तारेका भग्न भाग एक कृष्ण-पाषाण (हज्र असवद्) पूजे जाते थे। पत्थरके देवता प्रकृतिकी सर्वश्रेष्ठ उपज मानवकी बुद्धिका खुल्लमखुल्ला उपहास कर रहे थे, किन्तु पुरोहित-वर्ग अपने स्वार्थके लिए हर तरहकी बुद्धि सुलभ चालाकियोंसे उसे जारी रखना चाहता था। मुहम्मद साहब उन आदमियोंमें थे, जो समाजमें रूढ़िवश मानी जाती हर एक बातको बिना ननु-नचके मानना नहीं पसन्द करते। साथ ही अपनी वाणिज्य-यात्राओंमे वह ऐसे धर्मवालोंसे मिल चुके थे, जिनके धर्म अरबोंकी मूर्ति-पूजाकी अपेक्षा ज्यादा प्रशस्त मालूम होते थे। खासकर ईसाई साधुओं और उनके मठोंकी शान्ति तथा बौद्धिक वातावरण, और यहूदियोंकी मूर्ति-रहित एक-ईश्वर-भक्ति उन्हे ज्यादा पसंद आई थी। यह तो इसीसे साबित है कि कुरानमें यहूदी पैगंबरो और ईसाको भी भगवान्‌की ओरसे भेजे गये (रसूल) और उनकी तौरात (पुरानी बाइबल)[१] और इंजील[२] को ईश्वरीय पुस्तक माना गया है। उनकी महिमाको बीसियों जगह दुह-राया गया, और बार-बार यह बात साबित करने का प्रयत्न किया गया है, कि उनमें एक पैगंबरके आनेकी भविष्यवाणी है, जो कि और दूसरा नही बल्कि यही मुहम्मद अरबी है। तत्कालीन अरब घोर मूर्तिपूजक और बहुदेव-विश्वासी जरूर थे, किन्तु साथ ही यहूदी, ईसाई तथा आस-

१. Old Testament. २. New Testament.

पासके दूसरे धर्मानुयायियोंके सम्पर्कमें आनेसे यह बात भी स्वीकार करते थे, कि इन सब देवताओंके ऊपर एक ईश्वर (यह नहीं अल्लाह) है। कहा जा सकता है कि इस अल्लाहको वह यहूदियोंके यहोवाकी भाँति बिलकुल यहूदी पुरुषोंकी भाँति लंबी सफेद दाढी, नूरानी पेशानी और लंबे चोगे वाला स्वर्गस्थ व्यक्ति मानते थे, अथवा ईसाइयों—खासकर नस्तोरी[1] ईसाइयों (जिनकी संख्या कि उस समय शाम आदि देशों में अधिक थी)—के निराकार-साकार-मिश्रित भगवान् पिताकी तरह। हाँ, वह इस अल्लाहकी तरफसे भेजे खास व्यक्तियों (रसूलों) और किताबोंको नहीं मानते थे—अथवा वह स्थायी रसूलों और किताबोंकी जगह कुछ समयके लिए सिर पर देवता ले आने वाले ओझों—सयानोंको रसूल और उनके भाषणोंको आस्मानी किताबका स्थान देते थे। दोनों तरहके "रसूलों" और "किताबों"-के फायदे भी हैं और नुकसान भी, किन्तु यह तो साफ है कि कबीलोंको मिलाकर एक बड़ी अरब कौम तथा कौमों-कौमोंको मिलाकर एक बड़ी धार्मिक सल्तनत कायम करनेके लिए ओझा—सयाने जैसे रसूल और उनके इलाही वचन बिलकुल अपर्याप्त थे। मुहम्मद साहेबने व्यापारी जीवनमें देखा होगा कि अरबके कबीलोंके इलाकेमें पद-पदपर लूट-मार तथा चुंगी-करकी आफतके मारे व्यापारी परेशान थे; यदि एक कबीलेके इलाकेसे अल्ला-अल्ला करके किसी तरह जान-माल बचाकर निकल भी गये, तो आगे ही दूसरा कबीला चुंगी या भेंट उगाहने तथा मौका पाते ही छापा मारनेके लिए तैयार दिखाई पड़ता था। इसके विरुद्ध जहाँ वह रोमके कैसर या ईरानके शाहके राज्यमें प्रवेश करते, वहाँ एक बार केन्द्रीय सर्कारके फर्माबरदार चुंगी-कर्मचारियोंको महसूल चुकाते ही रात-दिन भयके मारे दबे जाते उनके दिलपरसे एक भारी बोझ यकायक हट जाता दिखाई पडता था। इस तरहके चिरव्यापी तजर्बेके बिनापर हजरत मुहम्मद यदि सभी कबीलोंको मिलाकर एक राज्य और छापा—

---

१. Nestorian.

लूटमार एवं जंगलके कानून—जिसकी लाठी उसकी भैंस—की जगह इस्लाम (=शान्ति) का विधान चाहते हों, तो आश्चर्य ही क्या है। एक शासन और शान्ति (=इस्लाम) स्थापनको अपना लक्ष्य बनाते हुए भी मुहम्मद साहेब जैसा मानव प्रकृतिका गंभीर परख रखनेवाला व्यक्ति सिर्फ आँख मूँदकर स्वप्न देखनेवाला नहीं हो सकता था। वह भलीभाँति समझते थे कि जिस शान्ति, व्यापार और धर्म-प्रचारमें सशस्त्र बाधाको रोकना वह चाहते हैं, वह निश्चेष्ट ईश्वर, प्रार्थना तथा हथियार रख निहत्थे बन जानेसे स्थापित नहीं हो सकती। उसके लिए एक उद्देश्यको लेकर आदमियोंकी सुसंगठित सशस्त्र गिरोहकी जरूरत है, जो कि अपने दृढ संकल्प और सुव्यवस्थित शस्त्रबलसे इस्लाम (=शान्ति)-स्थापनामें बाधा देनेवालोंको नष्ट या पराजित करनेमें सफल हो।

हाँ, तो मुहम्मद साहेबके विस्तृत तजर्बेने उन्हें बतला दिया था, कि कबीलोंको एक विस्तृत राज्य बनाने, उस विस्तृत राज्यको अपनी सीमा तथा शक्ति बढ़ानेके लिए किन-किन बातोंकी आवश्यकता है। पुरोहितोंके मारे मक्काके समाजमें उनके धर्मका विरोध करते हुए एक नये धर्मका पैगंबर बनाना आसान काम न था। मुहम्मद साहेब काफी आत्मसंयमी व्यक्ति थे, ईसाई साधुओंकी भाँति हेराकी गुफाओंमें भी उन्होंने कितनी ही बार एकान्तवास किया था।

(२) **नई आर्थिक व्याख्या**—चाहे वह तिब्बतकी हो, अरब, या हमारे सीमा प्रान्तकी, सभी कबीला-प्रथा रखनेवाली जातियोंमें पशुपालन, कृषि या वाणिज्यके अतिरिक्त लूटकी आमदनी (=माले-ग़नीमत) भी वैध जीविका मानी जाती रही है। माले-ग़नीमतको बिलकुल हराम कर देनेका मतलब था, अरबोंके पुराने भावपर ही नहीं, उनके आर्थिक आयके जरियेपर हमला करना—चाहे इस तरहकी आयसे सारे अरब-परिवारों-को फायदा न पहुँचता हो, किन्तु जूये के पाशेकी भाँति कभी अपनी किस्मत के पलटा खानेकी आशाको तो वह छोड़ नहीं सकते थे। हजरत मुहम्मद-ने "माले-ग़नीमत" नाम रखते हुए भी उसे ईरान और रोमके देशविजय-

की "प्रेटों" जैसे, किन्तु उससे विस्तृत अर्थमें बदलना चाहा, तो भी मालूम होता है, अरब-प्रायद्वीपमें यह प्रयत्न कभी सफल नहीं हुआ। वहांके लोगोंने माले-ग़नीमतका वही पुराना अर्थ समझा और ऊपरसे अल्लाह्-के आदेशके ऐन मुताबिक समझ लिया, जिसका ही परिणाम यह था, कि अरबसे बाहर अन्-अरबी लोग जहां लूट-छापाके धर्मको हटाकर शान्ति (=इस्लाम) स्थापन करनेमें बहुत हद तक समर्थ हुए, वहां अरबी कबीले तेरह सौ वर्ष पहिलेके पुराने दस्तूरपर आज भी करीब-करीब कायम मालूम होते हैं। जो कुछ भी हो, माले-ग़नीमतकी नई व्याख्या—विजयसे प्राप्त होने वाली आमदनी, जिसमेंसे ⅕ सरकारी खजाने (बैत्-उल्-माल) को मिलना चाहिए और बाकी योद्धाओंमें बराबर-बराबर बांट देना चाहिए—विस्तृत राज्य-स्थापन करनेकी इच्छावाले एक व्यवहार-कुशल दूरदर्शी शासककी सूझ थी; जिसने आर्थिक लाभकी इच्छाको जागृत रखकर, पहिले अरबी रेगिस्तानके कठोर जीवन-वाले बद्दू तरुणों और पीछे हर मुल्कके इस्लाम-लाने वाले समाजमें प्रसारित तथा कठोर-जीवी लोगोंको इस्लामी सेनामें भरती होनेका भारी आकर्षण पैदा किया; और साथ ही बढते हुए बैत्-उल्-मालने एक बलशाली संगठित शासनकी बुनियाद रक्खी। माले-ग़नीमतके बांटनेमे समानता तथा खुद अरबी कबीले वाले व्यक्तियोके भीतर भाई-चारे बराबरीके ख्यालने इस्लामी "समानता" का जो नमूना लोगोके सामने रखा, वह बहुत अंशमें कुछ समय तक और पिछले अंशमे बहुत कुछ सदी एक भारी संगठन पैदा करनेमें सफल हुआ है।

माले-ग़नीमतकी इस व्याख्याने आर्थिक वितरणके एक नये जब-र्दस्त क्रान्तिकारी रूपको पेश किया, जिसने कि अल्लाहके स्वर्गीय इनाम तथा अनन्त जीवनके ख्यालसे उत्पन्न होने वाली निर्भीकतासे मिलकर दुनियामें वह उथल-पुथल की, जिसे कि हम इस्लामका सजीव इतिहास कहते हैं। यह सच है, कि माले-ग़नीमतकी यह व्याख्या कितने ही अंशोंमें दारयोश (दारा), सिकन्दर, चन्द्रगुप्त मौर्य ही नहीं दूसरे साधारण राजाओं-

के विजयोंमें भी मानी जाती थी; किन्तु वह उतनी दूर तक न जाती थी। वहाँ साधारण योद्धाओंमें वितरण करते वक्त उतनी समानताका ख्याल नहीं रखा जाता था; और सबसे बढ़कर कमी तो यह थी, कि विजित जातिके साधारण निःस्व लोगोंको इसमें भागीदार बननेका कोई मौका न था। इस्लामने विजित जातिके अधिकांश धनी और प्रभु-वर्गको जहाँ पामाल किया, वहाँ अपनी शरणमें आनेवाले—खासकर पीड़ित—वर्गको विजय-लाभमें साझीदार बनानेका रास्ता बिलकुल खुला रक्खा। स्मरण रखना चाहिए, इस्लामका जिससे मुकाबिला था, वह सामन्तों-पुरोहितोंका शासन था, जो कि सामन्तशाही शोषण और दासताके आर्थिक ढाँचेपर आश्रित था। यह सही है कि इस्लामने इस मौलिक आर्थिक ढाँचेको बदलना अपना उद्देश्य कभी नहीं घोषित किया, किन्तु उसके मुकाबिलेमें अरबमें अभ्यस्त कबीलों वाले भ्रातृत्व और समानताको जरूर इस्तेमाल किया, जिससे कि उसने सीमित शासक वर्गके नीचेकी साधारण जनताके कितने ही भागको आकर्षित और मुक्त करनेमें सफलता पाई। यद्यपि इस्लामने कबीलेके पिछड़े हुए सामाजिक ढाँचेसे यह बात ली थी, किन्तु परिणामतः उसने इस अर्थमें एक प्रगतिशील शक्तिका काम किया; और सड़ाँद फैलाने वाले बहुतसे सामन्त-परिवारों और उनके स्वार्थोंको नष्टकर, हर जगह नई शक्तियोंको सतहपर आनेका मौका दिया। यह ठीक है कि यह शक्तियाँ भी आगे उसी 'रफ्तार-बेढंगी'को अख्तियार करनेवाली थीं। दासों-दासियोंको मालिककी सम्पत्ति तथा युद्धमें लूटका माल बनानेके लिए अकेले इस्लामको दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस वक्तका सारा सभ्य संसार—चीन, भारत, ईरान, रोम—इसे अनुचित नहीं समझता था।

यहूदी और ईसाई धर्म-पुस्तकोंका पैगंबरने अरबी कबीलोंकी दृष्टिसे गंभीरतापूर्वक अध्ययन किया था—यदि वह वस्तुतः अनपढ़ थे, तो उन्होंने ध्यानसे उन्हें सुना था। और फिर चालीस वर्षकी अवस्थामें खूब आगा-पीछा सोचकर उन्होंने अपनेको अल्लाहका भेजा (रसूल) घोषित

किया। उनकी जीवनीकी बहुत सी बातों तथा कुरानकी शिक्षाके बारेमें मैं अपने "कुरान-सार" में लिख चुका हूँ, इसलिए उन्हें यहाँ नहीं लिखना चाहता, न वह इस पुस्तकका विषय है। पैगंबर मुहम्मदने सही मानेमें "घरसे दानारम्भ" की अंग्रेजी कहावत को चरितार्थ किया, और पहिले-पहिल उनकी स्त्री खदीजाने उनके धर्मको स्वीकार किया। विरोधी विरोध भी करते थे, किन्तु उनके अनुयायी—जिनमें उनकी ही भाँति मक्काके व्यापारी-योद्धा ही ज्यादा थे—बढ़ते ही गये। मक्काके पुजारी—कुरेश—इसपर उनकी जानके गाहक बन गये, और अन्तमें उन्हे मक्का छोड यस्रिबको सन् ६१४ ई० 'हिज्रत' (=प्रवास) कर जाना पड़ा; इसी यादगारमे मुसलमानोंने हिज्री सन् आरम्भ किया और मदीनत्-उल्-नबी (नबीका नगर) होनेके कारण पीछे यस्रिबका नाम ही मदीना पड़ गया। मक्का तक पैगबर-इस्लाम एक धार्मिक सुधारक या प्रचारक थे, किन्तु मदीनामे उनको अपने अनुयायियोका आर्थिक, सामाजिक विचारक, व्यवस्थापक एव सैनिक नेता भी बनना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनकी मृत्युके समय (६२२ ई०) पश्चिमी अरबके कितने ही प्रमुख कबीलोने इस्लाम ही नही कबूल किया, बल्कि उन्होंने अपनी निरकुशताको कमकर एक सगठन मे बँधना स्वीकार किया, और सारे अरब भाषा-भाषी लोगोंमे भी उसके लिए आकाक्षा पैदा कर दी।

२ – पैगंबर के उत्तराधिकारी

हजरत मुहम्मद स्वय राजतन्त्रके विरुद्ध न थे, इसीलिए पहिले उन्होने अपने पडोसी राजाओं—ईरानके जर्तुश्ती शाह, और रोमके ईसाई कैसर—को इस्लाम कबूल करनेकी दावत दी थी, और यह उनके राज्यपर किसी तरहके हस्तक्षेप का ख्याल करके नही किया गया था, तो भी उन्होने अरब और उसके द्वारा इस्लामी जगत्के सामने जिस राजनीतिक ढाँचेकी कल्पना रखी, उसमें निरकुश राजतंत्र क्या, सही मानेमे राजतत्रकी भी गुजाइश न होकर, छोटे-छोटे कबीलोंकी जगह

अनेक-देशव्यापी एक विशाल कबीलेका ख्याल काम कर रहा था—इस्लाम अरब और अरब-भिन्न मुल्कोंमें फैले, सभी अरबी तथा अन्-अरबी मुसलमान अपनेको एक कबीला समझें। पैगंबरके जीवन भर वह खुद ईश्वरकी ओरसे भेजा हुआ उनका सर्दार है, किन्तु पैगंबरकी मृत्युके बाद सर्दारको इस बड़े इस्लामी कबीलेका विश्वास-भाजन होना चाहिए। विश्वास-भाजन होनेकी कसौटी क्या है, इसके बारेमें पैगंबरने कोई साफ व्यवस्था नहीं बनाई; अथवा कबीलोंके नमूनेपर जिस व्यवस्थाको बनाया जा सकता था, वही बनी-उमैया (६६१-७५० ई०)के सिन्धसे स्पेन तक फैले राज्यमें व्यवहृत नहीं की जा सकती थी। ज्यादा-से-ज्यादा यही कहा जा सकता है, कि उनके दिमागमें अपने उत्तराधिकारी शासक (=खलीफा) के लिए यही ख्याल हो सकता था, कि वह कबीलेके सर्दारकी भाँति कबीलेके सामने अपनेको जवाबदेह माने और कैसरों तथा शाहंशाहोंकी भाँति अपनेको निरंकुश न समझे। लेकिन यह व्यवस्था जो एक छोटे कबीलेमें सफलतापूर्वक भले ही चल सकती हो, अनेक प्रकारकी भाषाओं-संस्कृतियों-देशोंसे मिलकर बने इस्लामी राज्यमें चल न सकती थी, और पैगंबरके निःस्वार्थ आदर्शवादी सहकारियों—अबूबकर (६३२-४२ ई०), उमर (६४२-४४ ई०), उस्मान (६४४-५६ ई०) तथा अली (६५६-६१ ई०) की खिलाफत (उत्तराधिकारी शासन) के बीतते-बीतते बिलकुल बेकार साबित हो गई। पैगंबरके आँख मूँदनेके ३९ वर्ष बाद अमीर-म्वाविया (६६१-८० ई०) के हाथ में शासनकी बागडोर गई, और तबसे उसके सारे उत्तराधिकारी चाहे वह उसके अपने खान्दान—बनी-उमैय्या[1] (६६१-७४७ ई०)—के हों या बनी-अब्बास (७४९-१०२७ ई०)[2] के, शाहों और कैसरोंकी भाँति ही स्वेच्छाचारी शासक थे।

---

1. म्वाविया (६६१-८० ई०), यजीद प्रथम (६८०-७१७), उमर द्वितीय (७१७-२० ई०), यजीद द्वि० (७२०-२४ ई०), हिशाम (७२४-४३ ई०), वलीद (७४३ ई०), यजीद तृतीय (७४३-४४), इब्न-म्वाविया (७४४-४७ ई०)।

2. अबुल्-अब्बास (७४९-५४ ई०) और उसकी सन्तान।

३—अनुयायियोंमें पहिली फूट

हर एक कबीलेके अलग-अलग इलाहों (=खुदाओं) को हटाना इस्लामके लिए इसलिए भी जरूरी था—एक कबीलेके इलाह को दूसरे क्यों कबूल करने लगे। फिर एक अल्लाह और नई आर्थिक व्याख्याको लेकर जबतक एकीकरण सिर्फ अरबोंके बीच था, तबतक एक भाषा, एक संस्कृति—एक जातीयता—के कारण कोई भारी दिक्कत पेश नहीं हुई; किन्तु जब अन्-अरब जातियाँ इस्लामके धार्मिक और लौकिक राज्यमें शामिल होने लगी, तो सिर्फ़ एक अल्लाह तथा उसके रसूलसे काम चलने वाला न था। दो सभ्यताओंके प्रतिनिधि दो जातियोका जब समागम चाहे खुशीसे या जबर्दस्तीसे होता है—तो दोनोंका आदान-प्रदान तो स्वाभाविक है, किन्तु जब एक दूसरेको लुप्तकर उसकी जगह लेना चाहती हैं, तो मामला बेढब हो जाता है, क्योंकि राज्य-शासनकी अपेक्षा संस्कृतिकी जड ज्यादा गहरी होती है। इसी सास्कृतिक झगड़ेने आगे चलकर अरबोंके इस्लामी शासनको अन्-अरबी शासनमे परिणत कर दिया, यह हम अभी बतलाने वाले है। किन्तु, उससे पहिले हम अरब-अरब समागमकी पहिली प्रतिक्रियाका अरबोके भीतर क्या असर पडा, उमे बतलाना चाहते है।

तीसरे खलीफा उस्मान (६४४-५६ ई०) ने सिरियाकी विजयके बाद उमैय्या-वशके सर्दार म्वावियाको दमिश्कका गवर्नर बनाकर भेजा। दमिश्क रोमन-क्षत्रपकी राजधानी था, और वहाँका राज-प्रबध रोमन-कानून रोमन-राज-व्यवस्थाके अनुसार होता था। म्वावियाके सामने प्रश्न था, नये मुल्कका शासन किस ढगसे किया जाये? क्या वहाँ अरबी कबीलोंकी राज्य-व्यवस्था लागू की जाये, या रोमन सामन्तशाही व्यवस्थाको रहने दिया जाये। इस प्रश्न को तलवार नही हल कर सकती थी, क्योंकि शासन-परिवर्तनसे कानूनी तथा सामाजिक ढाँचेका बदलना कहीं ज्यादा मुश्किल है। फिर सामन्तशाही व्यवस्था कबीलाशाहीके आगेका विकास है, सामन्त-शाहीसे कबीलाशाहीमे ले आना मानव-समाजकी प्रगतिको पीछेकी ओर

मोड़ना था। म्वावियाकी व्यावहारिक बुद्धि भलीभाँति समझ सकती थी कि ऐसा करनेके लिए सिरियाके लोगोंको पहिले बद्दू तथा अर्ध-बद्दू कबीलेमें परिवर्तित करना होगा। उसकी पैनी राजनीतिक दृष्टि बतलाती थी कि उससे कहीं अच्छा यह है, कि रोमन सामन्ती ढाँचेको रहने दिया जावे और लोगोंको अपने शासन मानने तथा अधिकसे-अधिक आदमियोंको इस्लाममें दाखिलकर उसे मजबूत करनेका प्रयत्न किया जाये। म्वावियाने रोम-राज्यप्रणालीको स्वीकार किया।

इस्लामको जो लोग अरबियतका अभिन्न अंग समझते थे, उन्हें यह बुरा लगा। जिन्होंने पैगंबरके सादे जीवनको देखा था, जिन्होंने कबीलोंकी विलासशून्य, भ्रातृत्वपूर्ण समानताके जीवनको देखा था, उन्हें म्वावियाकी हरकत बुरी लगी। शायद गाढ़ेकी चादर ओढ़े खजूरके नीचे सोनेवाला अथवा दासको ऊँटपर चढ़ाये यरुशिलममें दाखिल होनेवाला उमर अब भी खलीफा होता, तो म्वाविया वैसा न कर सकता, किन्तु समय बदल रहा था। पैगंबरके दामाद और परम विश्वासी अनुयायी अलीको जब मालूम हुआ, तो उन्होंने इसकी सख्त निन्दा की, इसे इस्लामपर भारी प्रहार समझ उसके खिलाफ आवाज उठाई। उनका मत था कि हमारी सल्तनत चाहे रोमपर हो या ईरानपर, वह अरबी कबीलोंकी सादगी-समानताको लिये होनी चाहिए। अलीकी आवाज अरण्य-रोदन थी। सफल शासक म्वावियासे खलीफा उस्मानको नाराज होनेकी जरूरत न थी। म्वाविया और अलीमे स्थायी वैमनस्य हो गया; किन्तु यह वैमनस्य सिर्फ दो व्यक्तियोंका वैमनस्य नहीं था, बल्कि इसके पीछे पहिले तो विकासमें आगे बढ़ी तथा पिछड़ी दो सामाजिक व्यवस्थाओं—सामन्तशाही एव कबीलाशाही—की होड़का प्रश्न था; दूसरे दो सभ्यताओंकी टक्करके वक्त समझौते या "दोमेसे केवल एक" का सवाल था।

अली (६५६-६१) पैगंबरके सगे चचेरे भाई तथा एकमात्र दामाद थे। अपने गुणोंसे भी वह उनके स्नेहपात्र थे, इसलिए कुछ लोगोंका ख्याल था कि पैगंबरके बाद खिलाफत उन्हींको मिलनी चाहिए थी।

किन्तु दूसरी शक्तियाँ और जबरदस्त थीं, जिनके कारण अबूबकर, उमर और उस्मानके मरनेके बाद अलीको खिलाफत मिली। दमिश्कके जबर्दस्त गवर्नर म्वावियाकी उनकी अनबन थी, किन्तु कबीलोंकी बनावट मदीनामें बैठे खलीफाको इजाजत नही दे सकती थी, कि अली म्वावियाको गवर्नरी से हटाकर बनी-उमैय्या खान्दानको अपना दुश्मन बना गृहयुद्ध शुरू कर दें। अलीका शासन म्वावियाकी अर्धप्रकट बगावत तथा बाहरी सभ्यताओंसे इस्लामके प्रभावित होनेका समय था। यद्यपि अली म्वावियाका कुछ नही बिगाड़ सके, किन्तु, म्वावियाको अली और उनकी सन्तानसे सबसे अधिक डर था। अलीके मरनेके बाद म्वावियाने खिलाफतको अपने हाथमे करनेमे सफलता जरूर पाई, किन्तु पैगबरकी एकलौती पुत्री फातमा तथा अलीके दोनों पुत्रों—हसन और हुसैन—के जीवित रहते वह कब सुखकी नीद सो सकता था। आखिर सीधे-सादे अरब तो खलीफाके शाही ठाट-बाट और अपनी अवस्थाका मुकाबिला करके म्वावियाके विरुद्ध आसानीसे भड़काये जा सकते थे। उसने हसनको तो उनकी बीवी के द्वारा जहर दिलाकर अपने रास्तेसे हटाया और हुसैनके खतरेको हटानेके लिए म्वावियाके बेटे यजीदने षड्यन्त्र किया। यजीदने अधीनता स्वीकारकर झगडेको मिटा डालनेके लिए हुसैनको बड़े आग्रहपूर्वक कूफा (यही बस्राके सूबेदार यजीदकी उस वक्त राजधानी थी) बुलाया। रास्तेमे कर्बलाके रेगिस्तानमे किस निर्दयताके साथ सपरिवार हुसैनको मारा गया, वह दिल हिला देनेवाली घटना इतिहासके हर एक विद्यार्थीको मालूम है।

हुसैनकी शहादत दर्दनाक है। हर एक सहृदय व्यक्तिकी सहानुभूति हुसैन तथा उनके ६९ साथियोके प्रति होनी जरूरी है। यजीदके सरकारी दबदबेके होते भी जब कर्बलाके शहीदोके सत्तर सिर कूफामे यजीदके सामने रखे गये और नृशस यजीदने हुसैनके सिरको डडेसे हटाया तो एक बूढेके मुँहसे यकायक आवाज निकल आई—"अरे! धीरे-धीरे! यह पैगबरका नाती है। अल्लाहकी कसम मैंने खुद इन्ही ओठोको हजरतके मुँहसे चुम्बित होते देखा था।" मानवताके न्यायालयमें हम यजीदको भारी

अपराधी ठहरा सकते हैं; किन्तु प्रकृति ऐसी मानवताकी कायल नहीं है, उसका हर अगला कदम पिछलेके ध्वंसपर बढ़ता है। आखिर अली, हुसैन या उसके अनुयायी विकासको सामन्त-शाहीसे आगेकी ओर नहीं बल्कि पीछे खींचकर कबीलेशाहीकी ओर ले जाना चाहते थे; जिसमें यदि सफलता होती तो इस्लाम उस कला, साहित्य, दर्शनका निर्माण न कर सकता, जिसे हमने भारत, ईरान, मेसोपोतामिया, तुर्की और स्पेनमें देखा, और यूनानी दर्शन द्वारा फिरसे वह युरोपमें उस पुनर्जागरणको न करा पाता; जिसने आगे चलकर वैज्ञानिक युगको अस्तित्वमें ला दुनियाकी कायापलट करनेका जबर्दस्त आयोजन कराया।

४ – इस्लामी सिद्धान्त

कुरानी इस्लामके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त हैं—ईश्वर एक है, वह बहुत कुछ साकारसा है, और उसका मुख्य निवास इस दुनियासे बहुत दूर छै आसमानोंको पारकर सातवें आसमानपर है। वह दुनियाको सिर्फ "कुन्" (हो) कहकर अभावसे बनाता है। प्राणियोंमें आगसे बने फरिश्ते (देवता) और मिट्टीसे बने मनुष्य सर्वश्रेष्ठ हैं। फरिश्तोंमेंसे कुछ गुमराह होकर अल्लाहके सदाके लिए दुश्मन बन गए हैं, और वे मनुष्योंको गुमराह करनेकी कोशिश करते हैं, इन्हें ही शैतान कहते हैं। इनका सरदार इब्लीस है, जिसका फरिश्ता होते वक्तका नाम अजाजील था। मनुष्य दुनियामें केवल एक बार जन्म लेता है। और ईश्वर-वचन (कुरान) के द्वारा विहित (पुण्य) निषिद्ध (पाप) कर्म करके उसके फलस्वरूप अनंतकालके लिए स्वर्ग या नर्क पाता है। स्वर्गमें सुन्दर प्रासाद, अगूरोंके बाग, शहद-शराबकी नहरें, एकसे अधिक सुन्दरियाँ (हूरें) तथा बहुतसे तरुण चाकर (गिल्मान) होते हैं। दया, सत्य-भाषण, चोरी न करना, आदि सर्वधर्म साधारण भले कामोंके अतिरिक्त नमाज, रोजा, (उपवास) दान (जकात) और हज (जीवनमें एक बार काबा-दर्शन) ये चार मुख्य हैं।

निषिद्ध कर्मोंमें अनेक देवताओं और उनकी मूर्तियोंका पूजन, शराब-पीना, हराम मांस (सुअर तथा कलमा बिना पढ़े मारे गये जानवरका मांस) खाना आदि है।[1]

१ विस्तारके लिये देखो मेरी पुस्तक "इस्लाम धर्मकी रूपरेखा।"

अध्याय ३

यूनानी दर्शनका प्रवास और उसके अरबी अनुवाद

§१ – अरस्तूके ग्रन्थोंका पुनः प्रचार

इस्लामिक दर्शन यूनानी दर्शन—खासकर अरस्तूके दर्शन तथा उसमे नव-अफलातूनी (पिथागोर-अफलातून-भारतीय दर्शन) दर्शनके पुटका ही विवरण और नई व्याख्या है, यह हमें आगे मालूम होगा। यद्यपि अफलातूं (प्लातो) तथा दूसरे यूनानी दार्शनिकोंके ग्रन्थोंके भी भाषान्तर अरबीमे हुए, किन्तु इस्लामिक दार्शनिक सदा अरस्तूका अनुसरण करते रहे, इसलिए एक बार फिर हमें अरस्तूकी कृतियोकी जीवनयात्रापर नजर डालनी पडेगी, क्योकि उसी यात्राका एक महत्त्वपूर्ण भाग इस्लामिक दर्शनका निर्माण है।

१ – अरस्तूके ग्रन्थोंकी गति

अरस्तूके मरने (३२२ ई० पू०) के बाद उसकी पुस्तकें (स्वरचित तथा संगृहीत) उसके शिष्य तथा सम्बन्धी थ्योफास्तु (देवभ्रात) के हाथ में आई। थ्योफास्तु स्वयं दार्शनिक और दर्शन-अध्यापनमें अरस्तूका उत्तराधिकारी था, इसलिए वह इन पुस्तकोंकी क़दर जानता था। लेकिन २८७ ई० पू० में जब उसकी मृत्यु हुई, तो यह सारी पुस्तकें उसके शिष्य नेलुसको मिलीं, और फिर १३३ ई० पू०के करीब तक उसीके

खान्दानमें रहीं। इसके बीचहीमें यह खान्दान क्षुद्र-एसियामें प्रवास कर गया, और साथ ही इस ग्रन्थराशिको भी लेता गया। लेकिन इस समय इन किताबोंको बहुत ही छिपा रखनेकी—धरतीमे गाड़कर रखनेकी कोशिश की गई, कारण यह था कि ईसा-पूर्व तीसरी-दूसरी सदीके यूनानी राजे बड़े ही विद्याप्रेमी थे (इसकी बानगी हमें भारतके यवन-राजा मिनान्दरमें मिलेगी) और पुस्तक-संग्रहका उन्हें बहुत शौक था। १३३ ई० पू०में रोमनोंने यूनान-शासित देशों (क्षुद्र-एसिया आदि) पर अधिकार किया। इसी समय नेलुस्के परिवारवाले अरस्तूके ग्रन्थोंमें पुड़िया तो नहीं बाँधने लगे थे, क्योंकि वह कागजपर नहीं लिखे हुए थे, और वैसा करनेसे उतना नफा भी न था; बल्कि उन्होंने उन्हें तहखानेसे निकालकर बाजारमें बेंचना शुरू किया। संयोगवश यह सारी ग्रन्थ-राशि अथेन्स (यूनान) के एक विद्या-प्रेमी अमीर अल्पीकनने खरीद लिया, और काफी समय तक वह उसके पास रही। ८६ ई० पू० में रोमन सेनापति सलरसेलाने जब अथेन्स विजय किया, तो उसे उस ऐतिहासिक नगरके साथ उसकी महान् देन अरस्तूकी यह ग्रन्थ-राशि भी हाथ लगी, जिसे कि वह रोममें उठा ले गया, और उसे अंधकारपूर्ण तहखानेमें रखनेकी जगह एक सार्वजनिक पुस्तकालयमें रख दिया। इस प्रकार दो शताब्दियोंके बाद अरस्तूकी कृतियोंको समझदार दिमागोंपर अपना असर डालनेका मौका मिला। अन्द्रानिकुने अरस्तूके बिखरे लेखोंको नियमानुसार क्रम-बद्ध किया।

अरस्तूकी कृतियोंकी जो तीन पुरानी सूचियाँ आजकल उपलब्ध हैं, उनमें देवजानि लारितुकी सूचीमे १४६, अनानिमुकी सूचीमें भी पुस्तकोंकी सख्या करीब-करीब उतनी ही है। किन्तु अन्द्रानिकुने जो सूची स्वय अरस्तूके संग्रहको देखकर बनाई, उसमे उपरोक्त दोनों सूचियोंसे कम पुस्तकें हैं। पहिले दो सूचीकारोंने अरस्तू-संवाद और लेख, कथा-पुस्तकें, प्राणि-बनस्पति-सम्बन्धी साधारण लेखों, ऐतिहासिक, किस्सों, धर्म-सम्बन्धी मामूली पुस्तकोंको भी अरस्तूकी कृतियोंमे शामिल कर दिया है, जिन्हें कि अन्द्रानिक

अरस्तूके ग्रन्थ नहीं समझता। वस्तुतः हमारे यहाँ जैसे व्यास, बुद्ध, शंकरके नामसे दूसरोंके बहुतसे ग्रन्थ बनकर उनके मत्थे मढ़ दिये गये, वही बात अरस्तूके साथ भी हुई।

अरस्तूकी कृतियोंको[1] विषय-क्रमसे लगाकर जितने भागोंमें बाँटा गया है उनमें मुख्य यह हैं—(१) तर्क-शास्त्र, (२) भौतिक-शास्त्र, (३) अति-भौतिक (अध्यात्म)-शास्त्र, (४) आचार, (५) राजनीति। तर्कशास्त्रमें ही अलंकार, आचार तथा प्राणि-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी शामिल हैं।

२ — अरस्तूका पुनः पठन-पाठन

अरस्तूके ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें आसानी पैदा करनेके लिए सिकन्दर अफ़ादिसियस्ने विवरण लिखे। विवरण लिखते वक्त उसने अरस्तूकी असली किताबोंपर लिखनेका खूब ख्याल रखा और इसमें अन्द्रानिकूकी सूचीसे उसे मदद मिली।

सिकन्दरके साम्राज्यके जब टुकड़े-टुकड़े हुए तो मिश्र-सेनापति ताल्मी[2] (अशोकके लेखोंमें तुरमाय) के हाथ आया, तबसे ४७ ई० पू० तक ताल्मी-वंशने उसपर शासन किया और धीरे-धीरे मिश्रकी राजधानी सिकन्दरिया (अलिकसुन्दरिया, अलसदा) व्यापार-केन्द्रके अतिरिक्त विद्याकेन्द्र होनेमें दूसरा अथेन्स बन गई। ईसाई-धर्मका प्रचार जब रोममें बढ़ने लगा था, उस वक्त यूनानी-दर्शनके पठन-पाठनका जबरदस्त केन्द्र सिकन्दरिया थी। इस वक्त नव-अफलातूनी दर्शनका प्रचार बढ़ा यह हम पहिले बतला चुके हैं। फिलो यूदियो (ई० पू० २५-५० ई०) सिकन्दरियाका एक भारी दर्शन-अध्यापक था। ईसाकी तीसरी सदीमें प्लोतिनु (२०५-७१ ई०) सिकन्दरियामें दर्शन पढ़ाता था। ये सभी दार्शनिक रहस्यवादी नव-अफलातूनी दर्शनके अनुयायी थे, किन्तु इनके पठन-पाठनमें अरस्तूके ग्रन्थ भी शामिल थे। पोर्फिरी[3] (फोर्फोरियोस्) भी यद्यपि दर्शनमें नव-अफलातूनी

---

१. देखो फाराबी, पृष्ठ ११४-५ २. Ptolemy, ३. Porphyry.

था, किन्तु उसने अरस्तूके ग्रन्थोंको समझनेकी पूरी कोशिश की। इसका जन्म २३३ ई० में शाम (सिरिया) के तायर नगरमें हुआ था, किन्तु इसने शिक्षा सिकन्दरियामे प्लोतिनुके पास पाई, और यही पीछे अध्यापन करने लगा। इसने अरस्तूकी पुस्तकोपर विवरण और भाष्य लिखे। तर्कशास्त्रके विद्यार्थियोंके लिए इसने एक प्रकरण ग्रन्थ ईसागोजी लिखा, जिसे अरबोंने अरस्तूकी कृति समझा। यह ग्रन्थ आज भी अरबी मदरसोंमें उसी तरह पढ़ाया जाता हैं, जैसे संस्कृत विद्यालयोमे तर्क-संग्रह और मुक्तावलि।

ईसाई-धर्म दूसरे सामीय एकेश्वरवादी धर्मोंकी भाँति दर्शनका विरोधी था, भक्तिवाद और दर्शन (बुद्धिवाद) मे सभी जगह ऐसा विरोध देखा जाता है। जब ईसाइयोंके हाथमे राज-शासन आया, तो उसने इस खतरेको दूर करना चाहा। किस तरह पादरी थेवफिलने ३०० ई०मे सिकन्दरियाके सारे पुस्तकालयोंको जला दिया और किस तरह ४१५ ई०मे ईसाइयोंने सिकन्दरियामे गणितकी आचार्या हिपाशियाका बड़ी निर्दयताके साथ वध किया, इसका जिक्र हो चुका है। अन्तमें ईसाई राजा जस्तीनियनने ५२९ ई०मे राजाज्ञा निकाल दर्शनका पठन-पाठन बिलकुल बन्द कर दिया।

§२ – यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास और दर्शनानुवाद

१ – यूनानी दार्शनिकोंका प्रवास

दर्शनद्रोही जस्तीनियनके शासनके वक्तहीसे रोमन साम्राज्यके पडोसमे उसका प्रतिद्वंद्वी ईरानी साम्राज्य था, जिसने अभी किसी ईसाई या दूसरे अ-सहिष्णु सामी धर्मको स्वीकार न किया था; उस समय ईरानका शाहंशाह कवद (४८७-९८ ई०) था।

मज्दक—कवदके समय ईरानका विख्यात दार्शनिक मज्दक मौजूद

था। दर्शनमें उसके विचार भौतिकवादी थे। वह साम्यवाद और संघवाद-का प्रचारक था। उसकी शिक्षा थी—सम्पत्ति वैयक्तिक नहीं साघिक होनी चाहिए, सारे मनुष्य समान और एक परिवार-सम्मिलित होने चाहिए। संयम, श्रद्धा, जीव-दया रखना मनुष्य होनेकी जवाबदेही है। मज्दककी शिक्षाका ईरानियोंमें बड़ी तेजीसे प्रसार हुआ, और खुद कवद भी जब उसका अनुयायी बन गया, तो अमीर और पुरोहित-वर्गको खतरा साफ दिखलाई देने लगा। मज्दकके सिद्धान्तोंको युक्तियोंसे नहीं काटा जा सकता था, इसलिए उन्हें तलवारसे काटनेका प्रयत्न करना जरूरी मालूम हुआ। कवदको कैदकर उसके भाई जामास्प (४९८-५०१ ई०) को गद्दीपर बैठाया गया। पुरोहितों तथा सामन्तोंने बहुतेरा उकसाया किन्तु जामास्प भाईके खूनसे हाथ रँगनेके लिए तैयार न हुआ, जिसमें साधारण जनतामें मज्दककी शिक्षाका प्रभाव भी एक कारण था। कवद किसी तरह जेलसे भाग गया। उस वक्त युरोप और एसियामें (भारतमें भी) मध्य-एसियाके असभ्य बद्दू-हूणोंका आतंक छाया हुआ था। कवदने उनकी सहायतासे फिर गद्दी पाई। कवदने पहिले तो मज्दकी विचारोंके साथ वैयक्तिक सहानुभूति रखी, लेकिन जब साम्यवाद प्रयोगक्षेत्रमें उतरने लगा, तो हर समयके शिक्षित "आदर्शवादियों" की भाँति वह उसका विरोधी बन गया, और उसकी आज्ञासे हजारों साम्यवादी मज्दकी तलवारके घाट उतारे गये।

५२९ ई० में जस्तीनियनने दर्शनके पठन-पाठनका निषेध किया था। इससे पहिले ५२१ ई०में कवदके छोटे लड़के खुशरो (५२१-७० ई०) ने बड़े-छोटे भाइयोंका हननकर गद्दी सँभाली। मज्दकी साम्यवादी अब भी अपने प्रभावको बढ़ा रहे थे, इसलिए पुरोहितों और अमीरोंके लाडले खुशरोंने एक लाख मज्दकी आदर्शवादियोंका खूनकर अपनी न्यायप्रियता-का परिचय दिया; इसी सफलताके उपलक्षमें उसने नौशेरवाँ (नये-शाह)-की उपाधि धारण की; अमीरों-पुरोहितों की दुनिया ने उसे "न्यायी" (आदिल) की पदवी दी।

२ – यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके ईरानी तथा सुरियानी अनुवाद

नौशेरवाँके इन काले कारनामोंके अतिरिक्त कुछ अच्छे काम भी है, जिनमे एक है, अनाथ यूनानी दार्शनिकोको शरण देना। ५२९ ई० मे सात नव-अफलातूनी दार्शनिक अथेन्ससे जान बचाकर भागनेपर मजबूर[१] हुए, इनमे सिम्पेलु और देमासियु भी थे। इन्होंने नौशेरवाँके राज्यमे शरण ली। शरण देनेमे नौशेरवाँकी उदार-हृदयनाका उतना हाथ न था, जितना कि अपने प्रतिद्वंद्वी रोमन कैसरके विरोधियोंको शरण देनेकी भावना। अपने पूर्वजोंकी भाँति नौशेरवाँका भी रोमन कैसरसे अकसर युद्ध ठना रहता था। एक युद्धको अनिर्णयात्मक तौरपर खतम कर ५४९ ई० मे उसने रोमको पराजितकर अपनी शर्तोंपर सुलह करवानेमे सफलता पाई। सुलहकी शर्तोंमे एक यह भी थी कि रोमन कैसर अपने राज्यमे धार्मिक (दार्शनिक) विचारोकी स्वतंत्रता रहने देगा। इस सधिके अनुसार कुछ विद्वान् स्वदेश लौटनेमे सफल हुए, किन्तु सिम्पेलु और देमासियुको लौटनेकी इजाजत न मिल सकी।

(१) ईरानी (पहलवी) भाषामें अनुवाद—नौशेरवाँने जन्देशापोरमें एक विद्यापीठ कायम किया था, जिसमे दर्शन और वैद्यककी शिक्षा खास तौरसे दी जाती थी। इस विद्यापीठमे इस समय पठन-पाठनके अतिरिक्त कितने ही यूनानी दर्शन तथा दूसरे ग्रन्थो (जिनमे पौलुस् पर्सा द्वारा अनुवादित अरस्तूके तर्कशास्त्रका अनुवाद भी है) का पहलवीमे अनुवाद हुआ। अनुवादकोमे कितने ही नस्तोरीय सम्प्रदायके ईसाई भी थे, जो कि खुद कैसर-स्वीकृत ईसाई सम्प्रदाय के कोपभाजन थे।

ज़्वानवाद (ईरानी नास्तिकवाद)—यहाँ पर यह भी याद रखना

---

१. Diogenes, Hermias, Eulalius, Priscian, Dumascius, Isidore and Simplicius.

चाहिए कि ईरानमें स्वतंत्र विचारोंकी धारा पहिलेसे भी चली आती थी। नौशेरवाँसे पहिले यज्दागिर्द द्वितीय (४३९-५७ ई०) के समय एक नास्तिकवाद प्रचलित था, जिसे ज़्वानवाद कहते हैं। ज़्वान पहलवी भाषामें काल (अरबी-दह्र) को कहते हैं। ये लोग कालको ही मूल कारण मानते थे, इसीलिए इन्हे ज़्वानवादी-कालवादी (अरबी—दह्रिया) कहते थे। नास्तिक होते भी यह भाग्यवादके विश्वासी थे।

(२) सुरियानी (सिरियाकी) भाषामें अनुवाद—ईस्वी सन्‌की पहिली सदियोंमे दुनियाके व्यापारक्षेत्रमें सिरियन (शामी) लोगोंका एक खास स्थान था। जिस तरह वे ईरानी, रोम, भारत और चीनके व्यापारमें प्रधानता रखते थे, उसी तरह पश्चिमी एसिया, अफ्रीका और यूरोप—पश्चिममें फ्रास तक—का व्यापार सिरियन लोगोंके हाथमें था। बल्कि मद्रासके सिरियन ईसाई इस बातके सबूत हैं, कि सिरियन सौदागर दक्षिणी भारत तक दौड़ लगाते थे। व्यापारके साथ धर्म, सस्कृतिका आदान-प्रदान होना स्वाभाविक है, और सिरियनोंने यही बात यूनानी दर्शनके साथ की। सिरियन विद्वानोंने यूनानी सभ्यताके साथ उनके दर्शनको भी सिकन्दरिया (मिश्र), अन्तियोक (क्षुद्र-एसियाका यूनानी नगर) से लेकर ईरान (जन्देशापोर), और मेसोपोतामिया, निसिबी, (ईरान, एदेस्सा) तक फैलाया। पश्चिमी और पूर्वी (ईरानी) दोनों ईसाई सम्प्रदायोंकी धर्म-भाषा सुरियानी (सिरियाकी भाषा) थी, किन्तु उसके साथ उनके मठोंमें यूनानी भाषा भी पढ़ाई जाती थी। एदेस्सा (मेसोपोतामिया) भी ईसाइयोंका एक विद्याकेन्द्र था, जिसकी वजहसे एदेस्साकी भाषा (सुरियानीकी एक बोली) साहित्यकी भाषाके दर्जे तक पहुँच गई। उसके अध्यापकोंके नस्तोरीय विचार देखकर ४८९ ई० मे एदेस्साके मठ-विद्यालयको बद कर दिया गया, जिसके बाद उसे निसिबी (सिरिया)में खोला गया।

(क) निसिबी (सिरिया)—निसिबी नगर ईरानियोंके अधिकृत प्रदेशमे था, और सासानी शाहका वरद हस्त उसके ऊपर था। नस्तोरीय ईसाई सम्प्रदायके धर्मकी शिक्षाके साथ-साथ यहाँ दर्शन और वैद्यकका

भी पठन-पाठन होता था। दर्शनकी ओर विद्यार्थियों और अध्यापकोंका झुकाव तथा आदर अधिक देख धर्मनेताओंको फिक्र पड़ी, और ५९० ई० में उन्होंने नियम बनाया, कि जिस कमरेमें धर्म-पाठ हो, वहाँ लौकिक विद्याका पाठ नही होना चाहिए।

मेसोपोतामियाके इस भागमे जिसमे निसिबी, एदेस्सा तथा हरानके शहर थे, उस समय सुरियानी भाषा-भाषी था। पिछले महायुद्ध (१९१४-१८ ई०) के बाद मेसोपोतामियाके सुरियानी ईसाइयोको किस तरह निर्दयतापूर्वक कत्ल-आम किया गया था, इसे अभी बहुतसे पाठक भूले न होंगे। आज मेसोपोतामिया (ईराक) सिरिया (क्षुद्र-एसियाका एक भाग) मिश्र, मराकोमें जो अरबी भाषा देखी जाती है, वह इस्लाम और अरबोंके प्रसारके कारण हुआ। इस तरह ईसाकी प्राथमिक शताब्दियोंमें एदेस्सा और उसका पड़ोसी नगर ईरान भी सुरियानी भाषा-भाषी था।

मेसोपोतामियाके इस विद्यापीठमे चौथीसे आठवी सदी तक बहुतसे यूनानी-दर्शन तथा शास्त्रीय-ग्रन्थोंका तर्जुमा होता रहा, जिनमे सर्जियस (४६६-५३६ ई०) के अनुवाद विषय और परिमाण दोनोंके ख्यालसे बहुत पूर्ण थे। जब मेसोपोतामियापर इस्लामका अधिकार हो गया, तब भी सुरियानी अनुवादका काम जारी रहा, एदेस्साके याकूब (६४०-७०८ ई०) ने अपने अनुवाद इसी समय किये थे। इन अनुवादोंमे सब जगह मूलके अनुकरण करनेकी कोशिश की गई है, किन्तु यूनानी देवी-देवताओं तथा महापुरुषोंके स्थानपर ईसाई महापुरुषोंको रखा गया। इस बातमें अरब अनुवाद और भी आगे तक गये। सुरियानी अनुवादोंमे अरस्तूके तर्कशास्त्र-का ही अनुवाद ज्यादा देखा जाता है, और उस वक्तके सुरियानी विद्वान् अरस्तूको सिर्फ तर्कशास्त्री समझते थे।

इन्हीं सिरियन (सुरियानी) लोगोंने पीछे आठवीं-दसवीं सदीमें बगदादके खलीफोंके शासनमे यूनानी ग्रन्थोंको सुरियानी अनुवादोंकी मददसे या स्वतन्त्र रूपसे अरबी भाषामें तर्जुमा किया। सुरियानियोंका सबसे बड़ा

महत्त्व यह है, कि यूनानी अपने दर्शनको जहाँ लाकर छोड़ देते हैं, वहाँसे वह उसे आगे—विचारमें नहीं कालमें—ले जाते हैं; और अरबोंको आगे-की जिम्मेवारी देकर अपने कार्यको समाप्त करते हैं।

(ख) हरानके साबी—जब यूनान तथा दूसरे पश्चिमी देशोंमें ईसाई-धर्मके जबर्दस्त प्रचारसे यूनानी तथा दूसरे देवी-देवता भूले जा चुके थे, तब भी मेसोपोतामियाके हरान नगरमें सभ्य मूर्तिपूजक मौजूद थे जो यूनानके दार्शनिक विचारोंके साथ-साथ देवी-देवताओंमें श्रद्धा रखते थे; किन्तु सातवी सदीके मध्यमें इस्लामिक विजयके साथ उनके देवताओं और देवालयोंकी खैरियत नहीं रह सकती थी, इसलिए उनकी पूजा-अर्चा चली गई, हाँ किन्तु उनके दार्शनिक विचारोंको नष्ट करना उतना आसान न था। पीछे इन्हीं साबियोंने इस्लाममें अपने दार्शनिक विचारोंको डालकर भारी गड़बड़ी पैदा की, जिसके लिए कि कट्टर मुसलमान उन्हें बराबर कोसते रहे। इन्ही साबी लोगोंका यूनानी दर्शनके अरबी तर्जुमा करनेमें भी खास हाथ था।

३ – यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके अरबी अनुवाद (७०४-१००० ई०)

प्रथम चार अरब खलीफोंके बाद अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०) के खलीफा बनने, कबीलाशाही (अरबी) एवं सामन्तशाही व्यवस्थाके द्वंद्व, और हुसेनकी शहादतके साथ कबीलाशाहीके दफन होनेकी बातका हम जिक्र कर चुके हैं। म्वावियाके वंश (बनी-उमैय्या) की खिलाफतके दिनों (६६१-७५० ई०) में इस्लाम धर्मको भरसक हर तरहके बाहरी प्रभावसे सुरक्षित रखनेकी कोशिश की गई, किन्तु जहाँ तक राज्य-व्यवस्था तथा दूसरे सांस्कृतिक जीवन-क्षेत्रका सम्बन्ध था, अरबोंने उन सभी [illegible] जातियोंसे कितनी ही बातें सीखनेकी कोशिश कीं, जिनके सम्पर्कमें वह खुद आये। विशेषकर दरबारी ठाट-बाट, शान-शौकतमें तो उन्होंने [illegible]

ईरानी शाहोंकी नकल की। उजड्ड अरबोंकी कड़ी आलोचना तथा क्रियात्मक कोपसे बचनेके लिए अमीर म्वावियाने पहिले ही चालाकीसे राजधानीको मदीनासे दमिश्कमे बदल लिया था, और इस प्रकार मदीनाका महत्त्व सिर्फ एक तीर्थका रह गया।

बनी-उमैय्याके शासनकालमे ही इस्लामी सल्तनत मध्य-एसियासे उत्तरी अफ्रीका और स्पेन तक फैल गई, यह बतला आये हैं, और एक प्रकार जहाँ तक अरब तलवारका सम्बन्ध था, यह उसकी सफलताकी चरम सीमा थी। उसके बाद इस्लाम युरोप, एसिया, भारतीय सागरके बहुतसे भागोपर फैला जरूर, किन्तु उसके फैलानेवाले अरब नही अन्-अरब मुसलमान थे।

पहिली टक्करमे अरबी मुसलमानोने कबीलाशाहीके सवालको तो छोड दिया, किन्तु समझौता इतनेहीपर होनेवाला नही था। जो अन्-अरब ईरानी या शामी जातिया इस्लामको कबूल कर चुकी थी, वह असभ्य बद्दू नही, बल्कि अरबोसे बहुत ऊँचे दर्जेकी सभ्यताकी धनी थी, इसलिए वह अरबकी तलवार तथा धर्म (इस्लाम)के सामने सर झुका सकती थी, किन्तु अपनी मानसिक तथा बौद्धिक संस्कृतिको तिलाजलि देना उनके बसकी बात न थी, क्योकि उसका मतलब था सारी जातिमेसे बौद्धिक योग्यताको हटाकर अज्ञता—तारुण्यसे लौटकर शैशव—मे जाना। यही वजह हुई, जो बनी-उमैय्याके बाद हम इस्लामी शासकोको समझौतेमे और आगे बढते देखते है।

म्वाविया, यजीद, उमर (२) कुशल शासक थे, किन्तु जैसे-जैसे राजवश पुराना होता गया, खलीफा अधिक शक्तिसे हीन होते गये, यहाँ तक कि म्वावियाके आठवे उत्तराधिकारी इब्न-म्वाविया (७४४-४७ ई०) को तख्तसे हाथ धोना पडा। जिस कूफाका शासक रहते वक्त यजीदने हुसैनके खूनसे "अपने हाथो" को रँगा था, वहीके एक अरब-सर्दार अब्दुल् अब्बास (७४९-५४ ई०)ने अपने खिलाफतकी घोषणाकी। खलीफाको कबीलेका विश्वासपात्र होना चाहिए, यह बात तो बनी-उमैय्याने ही खतम कर दी थी, और दुनियाके दूसरे राजाओकी भाँति तलवारको अन्तिम निर्णायक मान

लिया था, इसलिए अब्बासकी इस हरकतकी शिकायत वह क्या कर सकते थे ? अब्बासने बनी-उमैय्याके शाहजादोंमेंसे जिन्हें पाया उन्हें कत्ल किया, यद्यपि यह कत्ल उतना दर्दनाक न था, जैसा कि कर्बलाके शहीदोंका, किन्तु इतिहासके पुराने पाठको कुछ अंशोंमे "दुहराया" जरूर। इन्ही शाहजादों-मेसे एक—अब्दुर्रहमान दाखिल पश्चिमकी ओर भाग गया, और स्पेन तथा मराकोमे अपने वंशके शासनको कुछ समय तक और बचा रखनेमे समर्थ हुआ।

अब्बासने सारे एसियाई इस्लामी राज्यपर अधिकार जमाया। आरम्भिक समयमे अब्बासी राजवंश (अब्बासियों) ने भी अपनी राजधानी दमिश्क रखी, किन्तु अब्बासके बेटे खलीफा मसूर (७५४-७५ ई०) ने ७६२मे बगदाद नगरको बसाया, और पीछे राजधानी भी वही बदल दी गई। अब खिलाफत एक तरह से अरबी वातावरणसे हटकर अन्-अरब—ईरानी तथा सुरियानी—वातावरणमे आगई, इसलिए अब्बासी खलीफोंपर बाहरी प्रभाव ज्यादा पड़ने लगा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि आरंभसे ही मुसलमानोंने अरबी खूनको शुद्ध रखनेका ख्याल नही किया, खासकर माँकी तरफसे। पैगम्बरके नाती हुसैनकी पत्नी अन्तिम ईरानी शाह यज्द-गिर्द तृतीय (६३४-४२ ई०)की पुत्री हुस्नबानू थी। बनी-उमैय्या इस बारेमे और उदार थे। यही बात अब्बासियोंके बारेमें थी। इस तरह साफ है कि जिन खलीफोको अब भी अरब समझा जाता था, उनमे भी अन्-अरब खून ही ज्यादा था। यह और वातावरण मिलकर उनपर कितना प्रभाव डाल सकते थे, यह जानना आसान है।

(१) **अनुवाद-कार्य**—उपरोक्त कारणोंसे बगदाद[1] के खलीफोंका पहिले खलीफोंसे विचारके सम्बन्धमे ज्यादा उदार होना पड़ा। उनकी सल्तनतमें बुखारा, समरकन्द, बलख, नै-शापोर, रे, बगदाद, कूफा, दमिश्क

---

१. यह नाम भी पारसी है, जिसका संस्कृत रूप होगा भग (बग्) दत्त = भगवान्‌की दी हुई।

आदिमें बड़े-बड़े विद्यापीठ कायम हुए, जिनमें आरम्भमें यद्यपि कुरान और इस्लामकी ही शिक्षा दी जाती थी, किन्तु समयके साथ उन्हें दूसरी विद्याओं-की ओर भी ध्यान देना पड़ा। मंसूर (७५४-७५), हारून (७८६-८०९ ई०) और मामून (८११-३३ ई०) अरबी शालिवाहन और विक्रम थे, जिनके दरबारमें देश-विदेशके विद्वानोंका बड़ा सम्मान होता था। वे स्वयं विद्वान् थे और इनके शाहजादोंकी शिक्षा कुरान, उसकी व्याख्याओं और परंपराओं तक ही सीमित न थी, बल्कि उनकी शिक्षामें यूनानी दर्शन, भारतीय ज्योतिष और गणित भी शामिल थे। गोया इस प्रकार अब्बासी खलीफावंशमें अरबके सीधे-सादे बद्दुओंकी यदि कोई चीज बाकी रह गई थी, वह अरबी भाषा थी, जो कि उस वक्त सारे इस्लामी सल्तनतकी राजकीय तथा सास्कृतिक भाषा थी।

यज़ीद प्रथम (६८०-७१७ ई०) के पुत्र खालिद (मृ० ७०४ ई०) को कीमिया (रसायन) का बहुत शौक था। कहते हैं, उसीने पहिले-पहिल एक ईसाई साधु द्वारा कीमियाकी एक पुस्तकका यूनानीसे अरबी भाषामे अनुवाद कराया। मसूर (७५४-७५ ई०)के शासनमे वैद्यक, तर्कशास्त्र, भौतिक विज्ञानके ग्रन्थ पहलवी या सुरियानी भाषासे अरबीमे अनुवादित हुए। इस समयके अनुवादकोंमें इब्न-अल्-मुकफ़्फ़ाका नाम खास तौरसे मशहूर है। मुक़फ़्फ़ा स्वय ईरानी जातिका ही नही बल्कि ईरानी धर्मका भी अनुयायी था। इसने कितने ही यूनानी दर्शन-ग्रन्थोंके भी अनुवाद किये थे, किन्तु बहुतसे दूसरे प्राचीन अरबी अनुवादोकी भाँति वह काल-कवलित हो गये, और हम तक नहीं पहुँच सके, किन्तु उन्होंने प्रथम दार्श-निक विचारधारा प्रवर्तित करनेमें बडा काम किया था, इसमे तो शक ही नही।

हारून और मामूनके अनुवादकोंमें कुछ सस्कृत पडित भी थे, जिन्होंने वैद्यक और ज्योतिषके कितने ही ग्रन्थोंके अरबी अनुवाद करनेमे सहायता दी। इस समयके कुछ दर्शन-अनुवादक और उनके अनुवादित ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

अनुवादक	काल	अनुवादित ग्रन्थ	मूलकार
योहन (योहन्ना) बिन्-बितरिक्	नवीं सदी	तेमाउस	अफलातूं
,,	,,	प्राणिशास्त्र	अरस्तू
,,	,,	मनोविज्ञान	,,
,,	,,	तर्कशास्त्रके अंश	,,
अब्दुल्ला नइमल्हिम्सी	६३५ ई०	"सोफिस्तिक"	अफलातूं
अब्दुल्ला नइमुल्-हिम्सी	८३५ ई०	भौतिक शास्त्र-टीका[1]	फिलोपोनु
क़स्ता इब्न-लूका अल्बलबक्की	,,	,,	,,
,,	,,	,,	सिकंदर अफ़्रादिसियस्

मामून (८११-३३ ई०) के बाद भी अनुवादका काम जारी रहा, और उस वक्तके प्रसिद्ध अनुवादकोंमे हैं—होनेन इब्न-इस्हाक (९१० ई०) होवैश इब्न-उल्-हसन्, अबूबिश्र मत्ता इब्न-यूनुस् अल्-क़न्नाई (९४० ई०) अबू-ज़किया इब्न-आदी...मन्तिकी (९७४ ई०), अबू-अली ईसा जूरा (१००८ ई०), अबुल-ख़ैर अल्-हसन खम्मार (जन्म ९४२ ई०)।

(२) **समकालीन बौद्ध तिब्बती अनुवाद**—अनुवाद द्वारा अपनी भाषाको समृद्ध तथा अपनी जातिको सुशिक्षित बनाना हर एक उन्नतिशील सभ्य या असभ्य जातिमें देखा जाता है। चीनने ईसाकी पहिली सदीसे सातवीं सदी तक हजारों भारतीय ग्रन्थोंका चीनीमें अनुवाद बड़े भारी आयोजन और परिश्रमके साथ इसीलिए कराया था। तिब्बती लोग भी अरब के बद्दुओं की भाँति खानाबदोश अक्षर-संस्कृति-रहित असभ्य जाति के थे। उन्हींकी भाँति तथा उसी समयमें स्रोङ्-चन्-गन्पो (६३०-९८ ई०) जैसे नेताके नेतृत्वमे उन्होंने सारे हिमालय, मध्य-एसिया तथा चीनके

---

१. अरस्तूकी पुस्तक।

पश्चिमी तीन सूबोंको जीत एक विशाल साम्राज्य कायम किया। और एक बार तो तिब्बती घोड़ोंने गंगा-गंडकके सगमका भी पानी पिया था। अरबोंकी भाँति ही तिब्बतियोंको भी एक विस्तृत राज्य कायम कर लेनेपर कबीलेशाही तरीकेको छोड़ सामन्तशाही राजनीति, और सस्कृतिकी शिक्षा लेनी पड़ी, जिसमें राजनीति तो चीनसे ली। पैगबर मुहम्मदकी तरह स्वय धर्मचिन्तक न होनेसे स्रोङ्-चन्ने चीन, भारत, मध्य-एसियामे प्रचलित बौद्ध धर्मको अपनाया, जिसने उसे सम्यता, कला, धर्म, साहित्य आदिकी शिक्षा तेजीसे तथा बहुत सहानुभूतिपूर्वक तो दी जरूर, किन्तु साथ ही अपने दु खवाद तथा आदर्शवादी अहिंसावादकी इतनी गहरी घूंट पिलाई कि स्रोङ्-चन्के वश (६३०-९०२ ई०) के साथ ही तिब्बती जातिका जीवन-स्रोत सूख गया। तिब्बती, अरबी दोनों जातियोंने एक ही साथ दिग्विजय प्रारम्भ किया था, एक ही साथ दोनोंने विजित जातियोंसे सम्यताकी शिक्षा प्राप्त की। यद्यपि अतिशीत-प्रधान भूमिके वासी होनेसे तिब्बती बहुत दूर तक तो नही बढ़े, किन्तु साम्राज्य-विस्तारके साथ वह पश्चिममे बल्तिस्तान (कश्मीर), लदाख, लाहुल, स्पिती तक, दक्खिनमे हिमालयके बहुतसे भागो, भूटान और बर्मा तक वह जरूर फैले। सवसे बडी समानता दोनोमे हम पाते हैं, कि मसूर-हारून-मामूनका समय (७५४-९३३ ई०) करीब-करीब वही है जो कि ठि-दे-चुग्-तन्, और ठि स्रोङ-दे-च्वन् ठि-दे-चन्का (७४०-८७७ ई०) का है; और इसी समय अरबकी भाँति तिब्बतने भी हजारो सस्कृत ग्रन्थोंका अपनी भाषामे अनुवाद कराया, इसका अधिकाश भाग अब भी सुरक्षित है। यह दोनो जातियाँ आपसमे अपरिचित न थी, पूर्वी मध्य-एसिया (वर्तमान सिन्-क्याङ्) तथा गिल्गितके पास दोनो राज्योंकी सीमा मिलती थी, और दोनो राज्यशक्तियोंमे मित्रतापूर्ण सन्धि भी हुई थी, यद्यपि इस सन्धिके कारण सीमान्त जातियों—विशेषकर ताजिको—का भारी अनर्थ हुआ था।

(३) **अरबी अनुवाद**—यदि हम अनुवादकोंके धर्मपर विचार करते हैं, तो तिब्बती और अरबी अनुवादोंमें बहुत अन्तर पाते हैं। तिब्बती

भाषाके अनुवादक चाहे भारतीय हो अथवा तिब्बती, सभी बौद्ध थे। यह जरूरी भी था, क्योंकि वैद्यक, छन्द काव्यके कुछ ग्रन्थोंके अतिरिक्त जिन ग्रन्थोंका अनुवाद उन्हें करना था वह बौद्ध धर्म या दर्शनपर थे। तिब्बती अनुवाद जितने शुद्ध हैं, उसका उदाहरण और भाषामें मिलना मुश्किल है। अरबी अनुवादकोंमें कुछके नाम यह हैं, इनमें प्रायः सभी यहूदी, ईसाई या साबी धर्मके माननेवाले थे।

जार्ज बिन-जिब्रील	ईसा बिन्-यूनस्	इब्राहीम हरानी
कस्ता-बिन्-लूका	साबित बिन् क़र	याक़ूब बिन् इस्हाक़ किन्दी[1]
मा-र्सजियस	जोरिया हम्सी	हुनैन इब्न-इस्हाक़[1]
ईसा बिन्-मार्जियस्	फीसोन र्सजिस्	अयूब रहावी
हुज्जाज बिन्-मत्र	वसील मतरान	यूसुफ़ तबीब
कब्जा रहावी	हैरान	अबू-यूसुफ योहन्ना
अब्द यशूअ बिन्-बह्ले ज	तदरस	बितरीक़
शेर यशूअ बिन्-क़त्रब्	सनान्बिन-सावित्	यह्या बिन्-बितरीक़
सादरी अस्कफ़		

अ-मुस्लिम अनुवादक अपने धर्मको बदलना नही चाहते थे, और उनके संरक्षक इस्लामी शासकोकी इस बारेमे क्या नीति थी इसका अच्छा उदाहरण इब्न-जिब्रीलका है। खलीफा मंसूर (७५४-७५ ई०)ने एक बार जिब्रीलसे पूछा कि, तुम मुसलमान क्यों नही हो जाते, उसने उत्तर दिया—अपने बाप-दादोंके धर्ममें ही मरूँगा। चाहे वह जन्नत (स्वर्ग)मे हो, या दोजख (नर्क)मे, मैं भी वही उन्हीके साथ रहना चाहता हूँ।" इसपर खलीफा हँस पड़ा, और अनुवादकको भारी इनाम दिया।

---

१. ये अरबी मुसलमान थे।

अध्याय ४

दर्शनका प्रभाव और इस्लाममें मतभेद

§१. इस्लाममें मतभेद

क़ुरानकी भाषा सीधी-सादी थी। किसी बातके कहनेका उसका तरीका वही था, जिसे कि हर एक बद्दू अनपढ़ समझ सकता था। इसमे शक नही उसमें कितनी ही जगह तुक, अनुप्रास जैसे काव्यके शब्दालकारो-का ही नही बल्कि उपमा आदिकाभी प्रयोग हुआ है, किन्तु ये प्रयोग भी उतनी ही मात्रामे हैं, जिसे कि साधारण अरबी भाषाभाषी अनपढ़ व्यक्ति समझ सकते हैं। इस तरह जब तक पैगंबर-कालीन अरबोंके बौद्धिक तल तक बात रही, तथा इस्लामी राजनीतिमे उसीका प्रभाव रहा, तब तक काम ठीक चलता रहा, किन्तु जैसे ही इस्लामिक दुनिया अरबके प्रायद्वीपसे बाहर फैलने लगी और उससे वे विचार टकराने लगे, जिनका जिक्र पिछले अध्यायोंमें हो आया है, वैसे ही इस्लाममें मतभेद होना जरूरी था।

१ – फ़िक़ा या धर्ममीमांसकों का ज़ोर

पैगबरके जीते-जी क़ुरान और पैगबरकी बात हर एक प्रश्नके हल करनेके लिए काफ़ी थी। पैगंबरके देहान्त (६२२ ई०) के बाद क़ुरान और पैगबरका आचार (सुन्नत या सदाचार) प्रमाण माना जाने लगा। यद्यपि सभी हदीसो (पैगबर-वाक्यो, स्मृतियो) के सग्रह करनेकी कोशिश शुरू हुई थी, तो भी पैगबरकी मृत्युके बाद एक सदी बीतते-बीतते अक्ल (बुद्धि) ने

दखल देना शुरू किया, और अक्ल (=बुद्धि, युक्ति) और नक्ल (=शब्द, धर्मग्रन्थ) का सवाल उठने लगा। हमारे यहाँके मीमांसकोंकी भाँति इस्लामिक मीमांसकों—फ़िक़ावाले फ़कीहों—का भी इसीपर जोर था, कि कुरान स्वतः प्रमाण है, उसके बाद पैगंबर-वाक्य तथा सदाचार प्रमाण होते हैं। मीमांसकोंके नित्य[1], नैमित्तिक[2] काम्य[3] कर्मोंकी भाँति फ़िक़ाने कर्मोंका भेद निम्न प्रकार किया है—

(१) नित्य या अवश्यकरणीय कर्म, जिसके न करनेपर पाप होता है, जैसे नमाज़।

(२) नैमित्तिक (वाजिब) कर्म जिसे धर्मने विहित किया है, और जिसके करनेपर पुण्य होता है, किन्तु न करनेसे पाप नहीं होता।

(३) अनुमोदित कर्म, जिसपर धर्म बहुत जोर नही देता।

(४) असम्मत कर्म, जिसके करनेकी धर्म सम्मति नहीं देता, किन्तु करनेपर कर्ताको दंडनीय नही ठहराता।

(५) निषिद्ध कर्म, जिस कर्मकी धर्म मनाही करता है, और करनेपर हर हालतमे कर्ताको दंडनीय ठहराता है।

फ़िक़ाके आचार्योंमें चार बहुत मशहूर हैं—

१. इमाम अबू-हनीफ़ा (७६७ ई०) कूफा (मेसोपोतामिया) के रहनेवाले थे। इनके अनुयायियोंको हनफ़ी कहा जाता है। इनका भारतमें बहुत जोर है।

२ इमाम मालिक (७१५-९५ ई०) मदीना निवासी थे। इनके अनुयायी मालिकी कहे जाते हैं। स्पेन और मराकोंके मुसलमान पहिले सारे मालिकी थे। इमाम मालिकने पैगंबर-वचन (हदीस) को धर्मनिर्णयमे

---

१. जिसके न करनेसे पाप होता है, अतः अवश्य करणीय है।

२. नैमित्तिक (अर्ध-आवश्यक) कर्म पापादिके दूर करनेके लिये किया जाता है। ३. काम्यकर्म किसी कामनाकी पूर्तिके लिये किया जाता है, और न करनेसे कोई हर्ज नहीं।

बहुत जोरके साथ इस्तेमाल किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि विद्वानों-ने हदीसोंको जमा करना शुरू किया, और हदीसवालों (अहले-हदीस) का एक प्रभावशाली गिरोह बन गया।

३. इमाम शाफ़ई (७६७-८२० ई०) ने शाफ़ई नामक तीसरे फ़िक़ा-सम्प्रदायकी नींव डाली। यह सुन्नत (सदाचार) पर ज्यादा जोर देते थे।

४ इमाम अहमद इब्न-हबलने हबलिया नामक तीसरे फ़िक़ा-सम्प्रदायकी नीव डाली। यह ईश्वरको साकार मानते है।

हनफ़ी और शाफई दोनों मतोमे कयास—दृष्टान्त द्वारा किसी निष्कर्ष-पर पहुँचना—पर ज्यादा जोर रहा है, और यह साफ है, कि इमाम हनीफा-को इस विचारपर पहुँचनेमें (कूफा) के बौद्धिक वायुमडलने बहुत मदद दी। शाफईने इस बातमे हनफ़ियोंसे बहुत कुछ लिया।

कुरान, सुन्नत (पैगंबरी सदाचार), कयासके अतिरिक्त चौथा प्रमाण बहुमत (इज्माअ) को भी माना जाने लगा। इनमे पूर्व-पूर्वको बलवत्तर प्रमाण समझा गया है।

२ – मतभेदों (=फित्नों)का प्रारम्भ

(१) हलूल—मुस्लिम ऐतिहासिक इस्लाममे पहिले मतभेदको इब्न-सबा (सबा-पुत्र) के नामसे सबद्ध करते हैं, जो कि सातवी सदीमें हुआ था। इब्न-सबा यहूदीसे मुसलमान हुआ था; और विरोधियोंके मुकाबिलेमे हजरत अली (पैगबरके दामाद) मे भारी श्रद्धा रखता था। इसने हलूल (अर्थात् जीव अल्लाहमें समा जाता है)का सिद्धान्त निकाला था।

(पुराने शीआ)—इब्न-सबाके बाद शीआ और दूसरे सम्प्रदाय पैदा हुए। किन्तु उस वक्त तक इनके मतभेद दार्शनिक रूप न लेकर ज्यादातर कुरान और पैगबर-सन्तानके प्रति श्रद्धा और अश्रद्धापर निर्भर थे। शीआ लोगोंका कहना था कि पैगबरके उत्तराधिकारी होनेका अधिकार उनकी पुत्री फातमा तथा अलीकी सन्तानको है। हाँ, आगे चलकर दार्शनिक

मतभेदोंसे इन्होंने फायदा उठाया और मोतजला तथा सूफियोंकी बहुतसी बातें लीं, और अन्तमें अरबों ईरानियोंके द्वंद्वसे फायदा उठानेमें इतनी सफलता प्राप्त की, कि ईरानमे पंद्रहवीं सदीमें जब सफावी वंश (१४९९-१७३६ ई०)का शासन कायम हुआ, तो उसने शीआ-मतको राज-धर्म घोषित कर दिया।

(२) **जीव कर्म करनेमें स्वतंत्र**---अबू-यूनस् ईरानी (अजमी) पैगंबरके साथियों (सहाबा) मेसे था। इसने यह सिद्धान्त निकाला कि जीव काम करनेमें स्वतन्त्र है, यदि करनेमें स्वतन्त्र न हो, तो उसे दंड नही मिलना चाहिए। बनी-उमैय्याके शासनकालमे इस सिद्धान्तने राजनीतिक आन्दोलनका रूप ले लिया था। माबद बिन्-खालिक ज्रहनीने कर्म-स्वा-तन्त्र्यके प्रचार द्वारा लोगोको शासकोंके खिलाफ भड़काना शुरू किया; उसके विरुद्ध दूसरी ओर शासक बनी-उमैय्या कर्म-पारतन्त्र्य के सिद्धान्तको इस्लाम-सम्मत कहकर प्रचार करते थे।

(३) **ईश्वर निर्गुण (विशेषण-रहित)**---जहम बिन्-सफ़वानका कहना था कि अल्लाह सभी गुणों या विशेषणोंसे रहित है, यदि उसमे गुण माने जाये तो उसके साथ दूसरी वस्तुओंके अस्तित्वको मानना पड़ेगा। जैसे, उसे ज्ञाता (ज्ञान-गुणवाला) माने, तो यह भी मानना पड़ेगा कि वह चीजें भी सदा रहेंगी, जिनका कि ज्ञान ईश्वरको है। फिर ऐसी हालतमे इस्लामका ईश्वर-अद्वैत (तौहीद)-वाद खतम हो जायगा। अतएव अल्लाह कर्ता, ज्ञाता, श्रोता, सृष्टिकर्ता, दडकर्ता.. .कुछ नही है। यह विचार शकराचार्यके निर्विशेष चिन्मात्र (विशेषणसे रहित चेतनामात्र ही एकतत्त्व है) से कितना मिलता है, इसे हम आगे देखेंगे, किन्तु इस वक्त तक शंकर (७८८-८२० ई०) अभी पैदा नही हुए थे; तो भी नव-अफलातूनवाद एव बौद्धोंका विज्ञानवाद उस वक्त मौजूद था।

(४) **अन्तस्तमवाद**[1] **(बातिनी)**---ईरानियों (=अजमियो)ने

---

१. बातिनी।

एक और सिद्धान्त पैदा किया, जिसके अनुसार कुरानमें जो कुछ भी कहा गया है, उसके अर्थ दो प्रकारके होते हैं—एक बाहरी (जाहिरी), दूसरा बातिनी (आन्तरिक या अन्तस्तम)। इस सिद्धान्तके अनुसार कुरानके हर वाक्यका अर्थ उसके शब्दसे भिन्न किया जा सकता है, और इस प्रकार सारी इस्लामिक परपराको उलटा जा सकता है। इस सिद्धान्तके माननेवाले ज़िन्दीक़ कहे जाते हैं, जिनके ही तालीमिया (शिक्षार्थी), मुल्हिद, बातिनी, इस्माइली आदि भिन्न-भिन्न नाम हैं। आगाखानी मुसलमान इसी मत के अनुयायी हैं।

§ २. इस्लाम के दार्शनिक संप्रदाय

आदिम इस्लाम सीधे-सादे रेगिस्तानी लोगोंका भोलाभाला विश्वास था, किन्तु आगेकी ऐतिहासिक प्रगतिने उसमे गड़बड़ी शुरू की, इसका जिक्र कुछ हो चुका है। मेसोपोतामियाके बसरा जैसे नगर इस तरहके मतभेदोके लिए उर्वर स्थान थे, यह बात भी पीछे के पन्नोको पढनेवाले आसानीसे समझ सकते है।

१ – मोतज़ला सम्प्रदाय

बसरा मोतज़लोंकी जन्म और कर्म-भूमि थी। मोतज़ला इस्लामका पहिला सम्प्रदाय था, जिसने दर्शनके प्रभावको अपने विचारो द्वारा व्यक्त किया। उनके विचार इस प्रकार थे—

(१) **जीव कर्ममें स्वतंत्र**—जीवको परतन्त्र माननेपर उसे बुरे कर्मोका दंड देना अन्याय है, इसीलिए अबू-यूनुस्की तरह मोतज़ली कहते थे, कि जीव कर्म करनेमे स्वतत्र है।

(२) **ईश्वर सिर्फ भलाइयोंका स्रोत**—इस्लामके सीधे-सादे विश्वास-मे ईश्वर सर्वशक्तिमान् और अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त कोई सर्वोपरि शक्ति नही है। मोतज़लोंकी तर्कप्रणाली थी—दुनियामें हम भलाइयाँ ही नही बुराइयाँ भी देखते हैं किन्तु इन बुराइयोंका स्रोत भगवान् नहीं हो

सकते, क्योंकि वह केवल भलाइयोंके ही स्रोत (शिव) हैं। भलाइयोंका स्रोत होने के ही कारण ईश्वर नर्क आदिके दंड नही दे सकता।

(३) **ईश्वर निर्गुण**—अहम् बिन्-सफ़वानकी तरह मोतज़ली ईश्वर-को निर्गुण मानते थे,—दया आदि गुणोंका स्वामी होनेपर ईश्वरके अतिरिक्त उन वस्तुओंके सनातन अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा, जिनपर कि ईश्वर अपने दया आदि गुण प्रदर्शित करता है, जिसका अर्थ होगा ईश्वर-के अतिरिक्त दूसरे भी कितने ही सनातन पदार्थ हैं।

(४) **ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता सीमित**—इस्लाममें आम-विश्वास था कि ईश्वरकी शक्ति असीम है। मोतज़ली पूछते थे—क्या ईश्वर अन्याय कर सकता है? यदि नहीं तो इसका अर्थ है ईश्वरकी शक्तिमत्ता इतनी विस्तृत नही है कि वह बुराइयोंको भी करने लगे। पुराने मोतज़ली कहते थे, कि ईश्वर वैसा करनेमें समर्थ होते भी शिव होनेके कारण वैसा नहीं कर सकता। पीछेवाले मोतज़ली ईश्वरमे ऐसी शक्तिका ही साफ-साफ अभाव मानते थे।

(५) **ईश्वरीय चमत्कार (=मोजज़ा) गलत**—और धर्मोंकी भाँति इस्लाममे—और खुद कुरानमें भी —ईश्वर और पैगंबरोंकी इच्छानुसार अप्राकृतिक घटनाओंका घटना माना जाता है। मोतज़ली चिन्तकोंका कहना था, कि हर एक पदार्थके अपने स्वाभाविक गुण होते हैं, जो कभी बदल नही सकते; जैसे आगका स्वाभाविक गुण गर्मी है, जो कि आगके रहते कभी नही बदल सकती। पैगबरोंकी जीवनियोंमे जिन्हे हम मोजज़ा समझते हैं, उनका या तो कोई दूसरा अर्थ है अथवा वह प्रकृतिके ऐसे नियमोंके अनुसार घटित हुए हैं, जिनका हमें ज्ञान नही है और हम उन्हे अप्राकृतिक घटना कह डालते है।

(६) **जगत् अनादि नहीं सादि**—दूसरे मुसलमानों की भाँति मोत-ज़ला-पथवाले भी जगत्को ईश्वरकी कृति मानते थे, उन्हींकी तरह ये भी जगत्को अभावसे भावमें आया मानते थे। इस प्रकार इस बातमें वह अरस्तू-के जगत् अनादिवादके विरोधी थे।

(७) **कुरान भी अनादि नहीं सादि**—सनातनी मुसलमान मोतजलियोके जगत्-सादिवादसे खुश नही हो सकते थे, क्योंकि जिस तरह ईश्वरकृत होनेसे वह जगत्‌को सादि मानते थे, उसी तरह ईश्वरकृत होनेके कारण वह कुरानको भी सादि मानते थे। अल्लाहकी भाँति कुरानको अनादि माननेको मोतजली द्वैतवाद तथा मूर्ति-पूजा जैसा दुष्कर्म बतलाते थे। हम कह चुके है कि कर्म स्वातन्त्र्य जैसे सिद्धान्तको लेकर जहमीने उमैय्या खलीफोंके खिलाफ आन्दोलन खडा कर दिया था, बनी-उमैय्याको खतमकर जब अब्बासीय खलीफा बने तो उनको सहानुभूति कर्म-स्वातन्त्र्यवादियो तथा उनके उत्तराधिकारियो—मोतजलियो—के विचारकोंके प्रति होनी जरूरी थी। बगदादके मोतजली खलीफा कुरानके अनादि होनेके सिद्धान्तको कुफ्र (नास्तिकता) मानते थे, और इसके लिए लोगोको राजदड दिया जाता था। कुरानको सादि बतला मोतजली अल्लाहके प्रति अपनी भारी श्रद्धा दिखाते हो यह बात न थी, इससे उनका अभिप्राय यह था कि कुरान भी अनित्य ग्रन्थोमे है, इसलिए उसकी व्याख्या करनेमे काफी स्वतन्त्रताकी गुजाइश है, और इस प्रकार पुस्तककी अपेक्षा बुद्धिका महत्त्व बढाया जा सकता है। उनका मत था—ईश्वरने जब जगत् और मानवको पैदा किया, तो साथ ही मनुष्यमे भलाई-बुराई, सच्चाई-झुठाईके परखने तथा भगवान्‌को जाननेके लिए बुद्धि भी प्रदान की। इस प्रकार वह ग्रन्थोक्त धर्मकी अपेक्षा निसर्ग (बुद्धि)-सिद्ध धर्मपर ज्यादा ज़ोर देना चाहते थे। यह ऐसी बात थी, जिसके लिए सनातनी मुसलमान मोतजलियोको क्षमा नही कर सकते थे, और वस्तुत काफिर, मोतजली तथा दहरिया (जडवादी, नास्तिक) उनकी भाषामे अब भी पर्यायवाची शब्द है।

(८) **इस्लामिक वाद-शास्त्रके प्रवर्तक**—मोतजला यद्यपि ग्रन्थवादके पक्षपाती न थे, किन्तु साथ ही वह ग्रन्थको प्रमाणकोटिमे उठाना भी नही चाहते थे। बुद्धिवादी दुनियामे, वह अच्छी तरह समझते थे कि, अरबोकी भोली श्रद्धासे काम नही चल सकता; इसलिए उन्होंने ग्रन्थ (कुरान) और बुद्धिमें समन्वय करना चाहा, लेकिन इसका आवश्यक परिणाम यह

हुआ, कि उन्हें कितने ही पुराने विश्वासोंसे इन्कार करना पड़ा, और कुरानकी व्याख्यामें काफी स्वतन्त्रता बर्तनेकी जरूरत महसूस हुई। अपने इस समन्वयके कामके लिए उन्हें इस्लामी **वादशास्त्र** (इल्म-कलाम) की नींव रखनी पड़ी; जो बगदादके आरंभिक खलीफोंकी बौद्धिक नव-जागृतिके समय पसंद भले ही किया गया हो, किन्तु पीछे वह अश्अरी, ग़ज़ाली, जैसे "पुराणवादी" आधुनिकोंकी दृष्टिमें बुरी चीज मालूम हुई।

मोतज़लियोंकी इस्लामके प्रति नेकनीयतीके बारेमें तो सन्देह न करनेका यह काफी प्रमाण है, कि वह यूनानी दर्शन तथा अरस्तूके तर्कशास्त्रके सख्त दुश्मन थे, किन्तु इस दुश्मनीमें वह बुद्धिके हथियारको ही इस्तेमाल कर सकते थे, जिसके कारण उन्हे कितनीही बार इस्लामके "सीधे रास्ते" (सरातल-मुस्तकीम) से भटक जाना पड़ता था।

(९) **मोतज़ली आचार्य**—हारून-मामून-शासनकाल (७८६-८३३ ई०) दूसरी भाषाओंसे अरबीमें अनुवाद करनेका सुनहला काल था। इन अनुवादके कारण जो बौद्धिक नव-जागृति हुई, और उसके कारण इस्लामके बारेमे जो लोगोंको सन्देह होने लगा, उसीसे लड़नेके लिए मोतज़ला सम्प्रदाय पैदा हुआ था। मोतज़लाके झंडेके नीचे खड़े होकर जिन विद्वानोंने इस लड़ाईको लड़ा था, उनमेसे कुछ ये हैं—

(क) **अल्लाफ़ अबुल-हुजैल अल्-अल्लाफ़**—यह मोतज़लियोंका सबसे बड़ा विद्वान है। इसका देहान्त नवी सदीके मध्यमें हुआ था, और इस प्रकार शंकराचार्यका समकालीन था। शंकरकी ही भाँति अल्लाफ़ भी एक जबर्दस्त वादचतुर विद्वान तथा पूर्णरूपेण अपने मतलबके लिए दर्शनको इस्तेमाल करनेकी कोशिश करता था। ईश्वर-अद्वैतको निर्गुण सिद्ध करनेमें उसकी भी कितनी ही युक्तियाँ अपने सम-सामयिक शंकरके निर्विशेष-चिन्मात्र—ब्रह्माद्वैत—साधक तर्ककी भाँति थीं। अल्लाह (ईश्वर या ब्रह्म)मे कोई गुण (=विशेषण) नही हो सकता; क्योंकि गुण दो ही तरहसे रह सकता है, या तो वह गुणीसे अलग हो, या गुणी-स्वरूप हो।

अलग माननेसे अद्वैत नहीं, और एक ही माननेसे निर्गुण ईश्वर तथा गुण-स्वरूप ईश्वरमें शब्दका ही अन्तर होगा। मनुष्यके कर्मको अल्लाफ़ दो तरहका मानता है—एक प्राकृतिक (नैसर्गिक) या शरीरके अंगोंका कर्म, दूसरा आचार (पुण्य-पाप)-सम्बन्धी अथवा हृदयका कर्म। आचार-सम्बन्धी (पुण्य-पाप कहा जानेवाला) कर्म वही है, जिसे हम बिना किसी बाधाके कर सके। आचार-सम्बन्धी कर्म (पुण्य, पाप) मनुष्यकी अपनी अर्जित निधि है उसके प्रयत्नका फल है। ज्ञान मनुष्यको भगवान्की ओरसे तो भगवद्वाणी (कुरान आदि) से और कुछ प्रकृतिके प्रकाशसे प्राप्त होता है। किसी भी भगद्वाणीके आनेसे पहिले भी प्रकृतिद्वारा मनुष्यको कर्तव्य-मार्गकी शिक्षा मिलती रही है, जिससे वह ईश्वर को जान सकता है, भलाई-बुराईमे विवेक कर सकता है, और सदाचार, सच्चाई और निश्छलताका जीवन बिता सकता है।

(ख) नज्ज़ाम——नज्जाम, सभवत अल्लाफका शागिर्द था। इसकी मृत्यु ८४५ ई० मे हुई थी। कितने ही लोग नज्जामको पागल समझते थे, और कितने ही नास्तिक। नज्जामके अनुसार ईश्वर बुराई करनेमे बिलकुल असमर्थ है। वह वही काम कर सकता है, जिसे कि वह अपने ज्ञानमे अपने सेवकके लिए बेहतर समझता है। उसकी सर्वशक्तिमत्ताकी बस उतनी ही सीमा है, जितना कि वह वस्तुत. करता है। इच्छा भगवान्का गुण नही हो सकती, क्योंकि इच्छा उसीको हो सकती है, जिसे किसी चीज-की जरूरत—कमी—हो। सृष्टिको भगवान् एक ही बार करता है, हर एक सृष्टि वस्तुमे वह शक्ति उसी वक्त निहित कर दी जाती है, जिससे कि वह आगे अपने निर्माणक्रमको जारी रख सके। नज्जाम परमाणुवादको नही मानता। पिंड परमाणुओसे नही घटनाओसे बने है—उसके इस विचारमें आधुनिकताकी झलक दिखलाई पड़ती है। रूप, रस, गन्ध जैसे गुणोंको भी नज्जाम पिंड (पदार्थ) ही मानता है, क्योंकि गुण, गुणी अलग वस्तुएँ नही है। मनुष्यके आत्मा या बुद्धिको भी वह एक प्रकारका पिंड मानता है। आत्मा मनुष्यका अतिश्रेष्ठ भाग है, वह सारे शरीरमे व्यापक

है। शरीर उसका साधन (करण) है। कल्पना और भावना आत्माकी गतिको कहते हैं। दीन और धर्ममें किसको प्रमाण माना जाय इसमे नज्ज़ामका उत्तर शीओं जैसा है—फ़िक़ाकी बारीकियोंसे इसका निर्णय नही कर सकते, यथार्थवक्ता (=आप्त) इमाम ही इसके लिए प्रमाण हो सकता है। मुसलमानोंके बहुमतको वह प्रमाण नही मानता। उसका कहना है—सारी जमात गलत धारणा रख सकती है, जैसा कि उनका यह कहना कि दूसरे पैगंबरोंकी अपेक्षा मुहम्मद-अरबीमें यह विशेषता थी कि वह सारी दुनियाके लिए पैगंबर बनाकर भेजे गये थे, जो कि गलत है, खुदा हर पैगंबर को सारी दुनियाके लिए भेजता है।

(ग) जहीज़ (८६९ ई०)—नज्ज़ामका शिष्य जहीज़ एक सिद्ध-हस्त लेखक तथा गंभीरचेता दार्शनिक था। वह धर्म और प्रकृति-नियमके समन्वयको सत्यके लिए सबसे ज़रूरी समझता था। हर चीजमे प्रकृतिका नियम काम कर रहा है, और ऐसे हर काममें कर्ता ईश्वरकी झलक है। मानवबुद्धि कर्त्ताका ज्ञान कर सकती है।

(घ) मुअम्मर—मुअम्मरका समय ९०० ई० के आसपास है। अपने पहिलेके मोतज़लियोंसे भी ज्यादा "निर्गुणवाद"पर उसका जोर है। ईश्वर सभी तरहके द्वैतसे सर्वथा मुक्त है, इसलिए किसी गुण-विशेषणकी उसमें संभावना नही हो सकती। ईश्वर न अपनेको जानता है और न अपनेसे भिन्न किसी वस्तु या गुणको जानता है, क्योंकि जानना स्वीकार करनेपर ज्ञाता ज्ञेय आदि अनगिनत द्वैत आ पहुँचेंगे, मुअम्मरके मतसे गतिस्थिति, समानता-असमानता आदि केवल काल्पनिक धारणायें हैं, इनकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है। मनुष्यकी इच्छा कोई बन्धन नहीं रखती। इच्छा ही एक मात्र मनुष्यकी क्रिया है, बाकी क्रियाएँ तो शरीरसे सम्बन्ध रखती हैं।

(ङ) अबू-हाशिम बस्री (९३३ ई०)—अबू-हाशिमका मत था, कि सत्ता और अ-सत्ताके बीचकी कितनी ही स्थितियाँ हैं, जिनमें ईश्वरके

गुण, घटनाएँ, जाति (=सामान्य) के ज्ञान शामिल है। सभी ज्ञानोंमें सन्देहका होना जरूरी है।

२ – करामी संप्रदाय

मोतजलियोकी कुरानकी व्याख्यामे निरकुशताको बहुतसे श्रद्धालु मुसलमान खतरेकी चीज समझते थे। नवी सदी ईसवीमे मोतजलियोंके विरुद्ध जिन लोगोंने आवाज उठाई थी, उनमे करामी सम्प्रदाय भी था। इसके प्रवर्त्तक मुहम्मद बिन्-कराम सीस्तान (ईरान) के रहनेवाले थे। मोतजलाने ईश्वरको साकार (स-शरीर) क्या सगुण माननेसे भी इन्कार कर दिया था, इब्न-करामने उसे बिलकुल एक मनुष्य—राजा—की तरहका घोषित किया। इब्न-तैमियाकी भाँति उसका तर्क था—जो वस्तु साकार नही, वह मौजूद ही नही हो सकती।

३ – अश्अरी संप्रदाय

जिस वक्त मोतजलियों और करामियोंके एक दूसरेके पूर्णतया विरोधी निर्गुणवाद और साकारवाद चल रहे थे, उसी वक्त एक मोतजली परिवारमें अबुल्-हसन अश्अरी (८७३-९३५ ई०) पैदा हुआ। उसने देखा कि मोतजला जिस तरहके प्रहारोंसे इस्लामको बचाना चाहते हैं, उनकी उपेक्षा नही की जा सकती, इसलिए कुछ हद तक हमें मोतजलोके बुद्धिमूलक विचारोंके साथ जाना चाहिए; किन्तु कोरा बुद्धिवाद इस्लामके लिए खतरेकी चीज है, इसका भी ध्यान रखना होगा। इसी तरह परपराकी अवहेलनासे इस्लाम पर जो अविश्वास आदिका खतरा हो सकता है, उसकी ओर भी देखना जरूरी है, किन्तु साथ ही बुद्धिवादके तक़ाज़ेको बिलकुल उपेक्षाकी दृष्टिसे देखना भी खतरनाक होगा, क्योंकि इसका अर्थ होगा इस्लामके प्रति शिक्षित प्रतिभाओंका तिरस्कार। इसीलिए अश्अरीने कहा कि ईश्वर राजा या मनुष्य-जैसा साकार व्यक्ति नही है। अश्अरी और उसके सम्प्रदायके मुख्य-मुख्य सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(१) **कार्य-कारण-नियम (=हेतुवाद) से इन्कार**—मोतजलाका मत था कि वस्तुके नैसर्गिक गुण नहीं बदलते, इसलिए मोजजा या अप्राकृतिक चमत्कार गलत हैं। दार्शनिकोका कहना था कि कार्य-कारणका नियम अटूट है, बिना कारण के कार्य नही हो सकता; इसलिए ईश्वरको कर्त्ता माननेपर भी उसे कारण (=उपादान-कारण) की जरूरत होगी, और जगत् के उपादान कारण—प्रकृति—को मान लेनेपर ईश्वर अद्वैत तथा जगत् का सादि होना—ये दोनो इस्लामी सिद्धान्त गलत हो जायेंगे। इन दोनों दिक्कतों से बचने के लिए अश्अरीने कार्य-कारणके नियमको ही माननेसे इन्कार कर दिया. कोई चीज किसी कारणसे नही पैदा होती, खुदाने कार्यको भी उसी तरह बिलकुल नया पैदा किया, जैसे कि उसने उससे पहिलेवाली चीज़को पैदा किया था जिसे कि हम गलतीसे कारण कहते हैं। हर वस्तु परमाणुमय है, और हर परमाणु क्षणभरका मेहमान है। पहिले तथा दूसरे क्षणके परमाणुओंका आपसमे कोई संबध नही, दोनोंको उनके पैदा होनेके समय भगवान् बिना किसी कारणके (=अभावसे) पैदा करते हैं। अश्अरी के मतानुसार न सूरजकी गर्मी जलको भाप बनाती है, न भापसे बादल बनता है, न हवा बादलको उडाती है, न पानी बादलसे बरसता है। बल्कि अल्लाह एक-एक बूंदको अभावसे भावके रूपमें टपकाता है, अल्लाह बिना उपादान-कारण (=भाप) के सीधे बादल बनाता है....। अश्अरी सर्वशक्तिमान् ईश्वरके हर क्षण कार्यकारण-संबधहीन बिलकुल नये निर्माणका उदाहरण एक लेखकके रूपमें उपस्थित करता है। ईश्वर आदमीको बनाता है, फिर इच्छाको बनाता है, फिर लेखन-शक्तिको; फिर हाथमे गति पैदा करता है, अन्तमें कलममें गति पैदा करता है। यहाँ हर क्रियाको ईश्वर अलग-अलग सीधे तौरसे बिना किसी कार्य-कारणके सम्बन्धसे करता है। कार्य-कारणके नियमके बिना ज्ञान भी संभव नही हो सकता, इसके उत्तरमें अश्अरी कहता है—अल्लाह हर चीजको जानता है, वह सिर्फ दुनियाकी चीजों तथा जैसी वह दिखाई पड़ती हैं, उन्हींको नही

पैदा करता, बल्कि उनके सम्बन्धके ज्ञानको भी आदमीकी आत्मामें पैदा करता है।

(२) **भगवद्वाणी क़ुरान (=शब्द) एकमात्र प्रमाण**—हिन्दू मीमांसकोंकी भाँति अश्अरी सम्प्रदायवाले भी मानते हैं, कि सच्चा (=निर्भ्रान्त) ज्ञान सिर्फ शब्द प्रमाण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है; हाँ, अन्तर इतना जरूर है कि अश्अरी मीमासकोंकी भाँति किसी अपौरुषेय शब्द-प्रमाण (=वेद)को न मानकर अल्लाहके कलाम (=भगवद्वाणी) कुरानको सर्वोपरि प्रमाण मानता है। कुरानका सहारा लिये बिना अलौकिक स्वर्ग, नर्क, फरिश्ता आदि वस्तुओंको नही जाना जा सकता। इन्द्रियाँ आमतौर से भ्रान्ति नही पैदा करतीं, किन्तु बुद्धि हमें गलत रास्तेपर ले जा सकती है।

(३) **ईश्वर सर्वनियम-मुक्त**—ईश्वर सर्वशक्तिमान् कर्त्ता है। वह किसी उपादान कारणके बिना हर चीजको हर क्षण बिलकुल नई पैदा करता है, इस प्रकार वह जगत् मे देखे जानेवाले सारे नियमों से मुक्त है, सारे नैतिक नियमोकी जिम्मेवारियोसे वह मुक्त है। शरह-मुवाफिक़मे इस सिद्धान्तकी व्याख्या करते हुए लिखा है—"अल्लाहके लिए यह ठीक है, कि वह मनुष्यको इतना कष्ट दे, जो कि उसकी शक्तिसे बाहर है। अल्लाहके लिए यह ठीक है कि वह अपनी प्रजा (=सृष्टि) को सुफल या दंड दे, चाहे उसने कोई अपराध किया हो या न किया हो। (अल्लाह-)ताला अपने सेवकोके साथ जो चाहे करे, अल्लाहको अपने बदोके भावोंके ख्याल करनेकी कोई जरूरत नही। अल्लाहको भगवद्वाणी (=कुरान) द्वारा ही पहिचाना जा सकता है, बुद्धिके द्वारा नही।"

इस सिद्धान्तके समर्थनमें अश्अरी कुरानके वाक्योंको प्रमाण के तौरपर पेश करता है। जैसा कि—

"हुव'ल्-काहिरो फौक-इबादिही" (वह अपने बदोंपर सर्वतंत्र स्वतत्र है)।

"कुल् कुल्लुन् मिन् इन्दे' ल्लाहे" (कह 'सब अल्लाह ओरसे है')

"व मा तशाऊन इल्ला अन्‌ य्यशाअ'ल्लाह्" (तुम किसी बातको न चाहोगे जब तक कि अल्लाह नही चाहे) ।

इस तरह ईश्वरकी सीमारहित सर्वशक्तिमत्ता अश्‌अरियोंके प्रधान सिद्धान्तों मे एक है।

(४) **देश, काल और गतिमें विच्छिन्न-विन्दुवाद**—हेतुवादके इन्कारके प्रकरणमें बतला चुके हैं, कि अश्‌अरी न जगत् मे कार्यकारण-नियमको मानता, और नही जगत्‌की वस्तुओंको देश, काल या गति मे किसी तरहके अ-विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर मानता है। अक—एक, दो, तीन . . . . . में हम किसी तरह का अविच्छिन्न क्रम नही मानते । एकको संख्या समाप्त होती दोकी संख्या अस्तित्वमें आती है—पूछा जाये एकसे दोमें संख्याज्ञान सर्पकी भाँति सरकता हुआ पहुँचता है, या मेंढककी तरह कूदता, उत्तर मिलेगा—कूदता। गति देश या दिशा मे वस्तुओंमें होती है। हम वाणको एक देशसे दूसरे देश पहुँचते देखते हैं। सवाल है यदि वाण हर वक्त किसी स्थानमे स्थित है, तो वह स्थिति—गति-शून्यता—रखता है, फिर उसे गति कहना गलत होगा। अब यदि आप दृष्टि गति को सिद्ध करना चाहते हैं, तो एक ही रास्ता है, वह यही है, कि यहाँ भी साँप की भाँति सरकनेकी जगह संख्याकी भाँति गतिको भिन्न-भिन्न कुदान मानें। अकारण परमाणु एक क्षण के लिए पैदा होकर नष्ट हो जाता है, दूसरा नया अकारण परमाणु अपने देश, अपने कालके लिए पैदा होता है और नष्ट होता है। पहिले परमाणु और दूसरे परमाणुके बीच शून्यता—गति-शून्यता, देश-शून्यता है। यही नही हर पहिले क्षण ("अब") और दूसरे क्षण ("अब")-के बीच किसी प्रकारका सबंध न होनेसे यहाँ कालिक-शून्यता है—काल जो है वह "अब" है, जो "अब" नहीं वह काल नहीं—और यहाँ दो "अब" के बीच हम कुछ नहीं पाते, जो ही कालिक-शून्यता है। अश्‌अरी "मेंढक-कुदान" (प्लुति)के सिद्धान्तसे ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता हेतुवाद-निषेध, तथा वस्तु-गति-देश-कालकी परमाणु-रूपता सभीको इस प्रकार सिद्ध करता है। यहाँ यह ध्यान रखनेकी बात है, कि अश्‌अरियोंने इस

"मेंढक-कुदान", "विच्छिन्न-प्रवाह", "विन्दु-घटना", "विच्छिन्न परमाणु-सन्तति" को वस्तु-स्थितिसे उत्पन्न होनेवाली किसी गुत्थीको सुलझानेके लिए नही स्वीकार किया, जैसे कि हम आजके "सापेक्षतावाद"[1] "क्वन्तम्-सिद्धान्त"[2] अथवा बौद्धोंके क्षणिक अनात्मवाद और मार्क्सीय भौतिकवादमें पाते हैं। अश्अरी इससे मोजज़ा (=दिव्य चमत्कार), ईश्वरकी निरकुशता आदिको सिद्ध करना चाहता है। ऐसे सिद्धान्तो से स्वेच्छाचारी मुसलमान शासकोको अल्लाहकी निरकुशताके पर्देमे अपनी निरकुशताको छिपानेका बहुत अच्छा मौका मिलता है, इसमे सन्देह नही।

(५) **पैगंबरका लक्षण**—पैगवर (=खुदाका भेजा) कौन है, इसके बारेमे मुवाफिक[3] ने कहा है—"(पैगवर वह है) जिससे अल्लाहने कहा—मैंने तुझे भेजा, या लोगोको मेरी ओरसे (सदेश) पहुँचा, या इस तरहके (दूसरे) शब्द। इस (पैगबर होने)में न कोई शर्त है और न योग्यता (का ख्याल) है, वल्कि अल्लाह अपने सेवकोमेंसे जिसको चाहता है, उसे अपनी कृपाका खास (पात्र) बनाता है।"

(६) **दिव्य चमत्कार** (=मोजज़ा)—ऐसा तो कोई भी दावा कर सकता है कि मुझे खुदाने यह कह कर भेजा है, इसीके लिए अश्अरी लोग ईश्वरी प्रमाणकी भाँति दिव्य चमत्कार या मोजज़ाको पैगबरोके नबूतके लिए जरूरी समझते है। मोजज़ाको सिद्ध करनेकी धुनमे इन्होंने किस तरह हेतुवादसे इन्कार किया और खुदाके हर क्षण नये परमाणुओके पैदा करनेकी कल्पना की, इसे हम बतला चुके है।

---

१. Relativity.

२. Quantum Theory.

३. "मन् क़ाला लहू अर्सल्तोका औ बल्लग़ुहुम् अन्नी, व नहूहा मिन'-ल्-अल्फ़ाज़े। व ला यश्तरेतो फ़ीहे शर्तुन्, व ला एस्तेअ्दादुन् बलि'ल्लाहो यख़्तस्सो बेरह्‌मतेही मन् य्यशाओ मिन् एबादेही।"

अध्याय ५

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (१)

(शारीरिक ब्रह्मवादी)

§ १. अज़ुज़ोद्दीन राज़ी (९२३ या ९३२ ई०)

शारीरक ब्रह्मवाद या पिथागोरी प्राकृतिक दर्शनके इस्लामिक समर्थकोंमे इमाम राज़ी और "पवित्र-सघ" मुख्य हैं। पवित्र-सघ कई कारणोंसे बदनाम हो गया, जिससे मुसलमानोंपर उसका प्रभाव उतना नही पड़ सका, किन्तु राज़ी इस बात मे ज्यादा सौभाग्यशाली था, जिसका कारण उसकी नरम दर्शनशैली थी, जिसके बारेमे हम आगे कहनेवाले हैं।

(१) **जीवनी**—अज़ोज़ुद्दीन राज़ीका जन्म पश्चिमी ईरानके रे शहरमे हुआ था। दूसरी धार्मिक शिक्षाओ के अतिरित गणित, वैद्यक और पिथागोरीय दर्शनका अध्ययन उसने विशेष तौरसे किया था। वैद्यकमें तो इतना ही कहना काफी है कि वह अपने समयका सिद्धहस्त हकीम था। वादविद्याके प्रति उसकी अश्रद्धा थी, और तर्कशास्त्रमें शायद उसने अरस्तूकी एक पुस्तकसे अधिक पढ़ा न था। सरकारी हकीमके तौरपर वह पहिले रे और पीछे बगदादके अस्पतालका प्रधान रहा। पीछे उसका मन उचट गया, और देशाटनकी धुन सवार हुई। इस यात्राकाल में वह कई सामन्तोंका कृपा-पात्र रहा, जिनमे ईरानी सामानी वंशी (९००-९९९ ई०) शासक मसूर इब्न-इस्हाक भी था, जिसको कि उसने अपना एक वैद्यक ग्रन्थ समर्पित किया है।

(साधारण विचार)—राज़ीके दिलमें वैद्यक विद्याके प्रति भारी श्रद्धा थी। वैद्यकशास्त्र हजारो वर्षोंके अनुभवसे तैयार हुआ, और राज़ीका कहना था, कि एक छोटेसे जीवन में किसी व्यक्तिके तजर्बेसे मेरे लिए हजारों वर्षोंके तजर्बे द्वारा संचित ज्ञान ज्यादा मूल्यवान है।

३—दार्शनिक विचार

(क) जीव और शरीर—शरीर और जीवमे राज़ी जीवको प्रधानता देता है। जीवन (=आत्मा)-संबंधी अस्वस्थ शरीरपर भी बुरा प्रभाव डालता है, इसीलिए राज़ी वैद्यके लिए आत्मा (=जीव) का चिकित्सक होना भी जरूरी समझता था। तो भी, वह चिकित्सा बहुतमे आत्मिक रोगोमे असफल रहती है, जिसके कारण राज़ीका झुकाव निराशावादी ओर ज्यादा था।—दुनियामें भलाईसे बुराईका पल्ला भारी है।

कीमिया (=रसायन) शास्त्रपर राज़ी की बहुत आस्था थी। भौतिक जगत्के मूलतत्वोंके एक होनेसे उसको विश्वास था, कि उनके भिन्न प्रकार-के मिश्रणसे धातु मे परिवर्तन हो सकता है। रसायनके विभिन्न योगोमे विचित्र गुणोंको उत्पन्न होते देख वह यह भी अनुमान करने लगा था कि शरीरमे स्वत गति करनेकी शक्ति है, यह विचार महत्वपूर्ण ज़रूर था, किन्तु उसे प्रयोग द्वारा उसने और विकसित नही कर पाया।

(ख) पाँच नित्य तत्त्व—राज़ी पाँच तत्वोंको नित्य मानता था—(१) कर्त्ता (=पुरुष या ईश्वर), (२) विश्व-जीव, (३) मूल भौतिक तत्त्व, (४) परमार्थ दिशा, और (५) परमार्थ काल। यह पाँचो तत्त्व राज़ीके मतसे नित्य सदा एक साथ रहनेवाले हैं। यह पाँचो तत्त्व विश्वके निर्माणके लिए आवश्यक सामग्री हैं, इनके बिना विश्व बन नही सकता।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हमे बतलाता है कि बाहरी पदार्थ—भौतिक-तत्त्व—मौजूद है, उनके बिना इन्द्रिय किस चीजका प्रत्यक्ष करती? भिन्न-भिन्न वस्तुओं (=विषयो)की स्थिति उनके स्थान या दिशाको बतलाती है।

वस्तुओंमें होते परिवर्तनका जो साक्षात्कार होता है—पहिले ऐसा था, अब ऐसा है—वह हमें कालके अस्तित्वको बतलाता है। प्राणियों के अस्तित्व तथा उनकी अप्राणियोंसे भिन्नतासे पता लगता है कि जीव भी एक पदार्थ है। जीवोंमें कितनों होमे बुद्धि—कला आदिको पूर्णताके शिखरपर पहुँचानेकी क्षमता—है, जिससे पता लगता है, कि इस बुद्धिका स्रोत कोई चतुर कर्त्ता है।

(ग) विश्वका विकास—यद्यपि राज़ी अपने पाँचों तत्त्वोंको नित्य, सदा एक साथ रहनेवाला कहता है, तो भी जब वह उनमेंसे एकको कर्त्ता मानता है, तो इसका मतलब है कि इस नित्यताको वह कुछ शर्तोंके साथ मानता है। सृष्टिकी कथा वह कुछ इस तरहसे वर्णित करता है—पहिले एक सादी शुद्ध आध्यात्मिक ज्योति बनाई गई, यही जीव (=रूह)का उपादान कारण था. जीव प्रकाश स्वभाववाले सीधे सादे आध्यात्मिक तत्त्व हैं। ज्योतिस्तत्त्व या ऊर्ध्वलोक—जिससे कि जीव नीचे आता है—को बुद्धि (=नफ़्स) या ईश्वरीय ज्योतिका प्रकाश कहा जाता है। दिनका अनुगमन जैसे रात करती है, उसी तरह प्रकाशका अनुगमन अंधकार (=तम) करता है, इसी तमसे पशुओंके जीव पैदा होते है, जिनका कि काम है बुद्धि-युक्त जीव (=मानव) के उपयोगमे आना।

जिस वक्त सीधी-सादी आध्यात्मिक ज्योति अस्तित्वमे आई, उसके साथ ही साथ एक मिश्रित वस्तु भी मौजूद रही, यही विराट् शरीर है। इसी विराट् शरीरकी छायामे चार "स्वभाव"—गर्मी, सर्दी, रुक्षता और नमी उत्पन्न होती है। इन्ही चार "स्वभावों" से अन्त में सभी आकाश और पृथ्वी के पिंड—शरीर—बने हैं! इस तरह उनकी सृष्टि होनेपर भी पाँच तत्त्वोंको नित्य क्यों कहा? इसका उत्तर राज़ी देता है—क्योंकि यह सृष्टि सदासे होती चली आई है, कोई समय ऐसा न था जब कि ईश्वर निष्क्रिय था। इस तरह राज़ी जगत्‌की नित्यताको स्वीकार कर इस्लामके सादि वादके सिद्धान्तके खिलाफ गया था, तो भी राज़ीके नामके साथ इमाम-नाम लगाना बतलाता है कि उसके लिए लोगों के दिलोंमें नरम स्थान था।

(घ) मध्यमार्गी दर्शन--राज़ीके समयसे पहिलेसे ऐसे नास्तिक भौतिकवादी दार्शनिक चले आते थे जो जगत्का कोई कर्त्ता नही मानते थे। उनके विचारसे जगत् स्वत.निर्मित होनेकी अपनेमे क्षमता रखता है। दूसरी ओर ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद) वादी मुल्ला थे, जो किसी अनादि जीव, भौतिक तत्त्व,—दिशा काल, जैसे तत्त्वके अस्तित्वको अल्लाहकी शानमे वट्टा लगनेकी बात समझते थे। राज़ी न भौतिकवादियोके मतको ठीक समझता था, न मुल्लोके मतको। इसीलिए उसने बीचका रास्ता स्वीकार किया--विचारको बुद्धिसगत बनानेके लिए ईश्वर के अतिरिक्त जीव, प्रकृति, दिशा कालकी भी जरूरत है, और बुद्धियुक्त मानव जैसे जीवको प्रकट करनेके लिए कर्त्ताकी।

§ २-पवित्र-संघ (=अख़वानुस्सफ़ा)

मोतज़ला, करामी, अश्अरी तीनो दर्शन-द्रोही थे। किन्तु इसी समय बस्नामे एक और सम्प्रदाय निकला जो कि दर्शन—विशेषकर पिथागोर-के दर्शन—के भक्त थे, और इस्लामको दर्शनके रगमे रँगना चाहते थे। इस सम्प्रदायका नाम था "अखवानुस्सफा" (पवित्र-सघ, पवित्र मित्र-मडली या पवित्र बिरादरी)। अख़वानुस्सफा केवल धार्मिक या दार्शनिक सम्प्रदाय ही नही था, बल्कि इसका अपना राजनीतिक प्रोग्राम था। ये लोग दर्शनको आत्मिक आनदकी ही चीज नही समझते थे, बल्कि उसके द्वारा एक नये समाजका निर्माण करना चाहते थे। इसके लिए कुरानमे खीचातानी करके अपने मतलबका अर्थ निकालते थे। वह दुनियामे एक उटोपियन[१] धर्मराज्य कायम करना चाहते थे।

(१) पूर्वगामी इब्न-मैमून (८५० ई०)--मोतज़ली सम्प्रदायके प्रवर्त्तक अल्लाफ़का देहान्त नवी सदीके मध्यमे हुआ था, इसी समयके आसपास अब्दुल्ला इब्न-मैमून पैदा हुआ था। इस्लामने ईरानियो (=अजमियो) को

१. Utopian.

मुसलमान बनाकर बडी गलती की। इस्लाममे जितने (=फिल्ने) पैदा हुए मतभेद्र उनमेसे अधिकाशके बानी (=प्रवर्त्तक) यही अजमी लोग थे। इब्न-मैमून भी इन्ही "फिला पर्वाजो" मेसे था। दमिश्कके म्वाविया-वश (=बनी-उमैय्या) ने पहिला समझौता करके बाहरी सभ्य आर्यीन जातियो-के निरन्तर विरोधको कम किया था। बगदाद के अब्बासी वशने इस दिशा मे और गति की, तथा अपने और अपने शासनको बहुत कुछ ईरानी रग मे रँग दिया—उन्होंने ईरानी विद्वानोंकी इज्जत ही नहीकी, बल्कि बरामका जैसे ईरानी राजनीतिज्ञोको महामत्री बनाकर शासनमे सहभागी तक बनाया। किन्तु, मालूम होता है, इससे वह सन्तुष्ट नही थे। करमती राजनीतिक दल, जिसका कि इब्न-मैमून नेता था, अब्बासी शासनको हटाकर एक नया शासन स्थापित करना चाहता था, कैसा शासन, यह हम आगे कहेंगे। उसके प्रतिद्वदी इब्न-मैमूनको भारी षड्यन्त्री सिद्धान्तहीन व्यक्ति समझते थे, किन्तु दूसरे लोग थे जो कि उसे महात्मा और ऊँचे दर्जेका दार्शनिक समझते थे। उसकी मडलीने सफेद रगको अपना साम्प्रदायिक रग चुना था, क्योकि वह अपने धर्मको परिशुद्ध उज्ज्वल समझते थे, और इसी उज्ज्वलताको प्राप्त करना आत्माका चरम लक्ष्य मानते थे।

(शिक्षा)—करमती लोगोंकी शिक्षा थी—कर्तव्यके सामने शरीर और धनकी कोई पर्वाह मत करो। अपने सघके भाइयोकी भलाईको सदा ध्यानमे रखो। सघके लिए आत्मसमर्पण, अपने नेताओके प्रति पूर्णश्रद्धा, तथा आज्ञापालनमे पूर्ण तत्परता—हर करमतीके लिए जरूरी फर्ज है। सघकी भलाई और नेताके आज्ञापालनमे मृत्यु की पर्वाह नही करनी चाहिए।

२—पवित्र-संघ

(१) पवित्र-संघकी स्थापना—बसरा और कूफा करमतियोके गढ थे। दसवी सदीके उत्तरार्द्धमे बसरामे एक छोटासा सघ (पवित्र-सघ) स्थापित हुआ। इस सघने अपने भीतर चार श्रेणियाँ रखी थी।

पहिली श्रेणीमे १५-३० वर्षके तरुण सम्मिलित थे। अपने आत्मिक विकास-के लिए अपने गुरुओं (शिक्षकों)का पूर्णतया आज्ञापालन इनके लिए जरूरी था। दूसरी श्रेणीमे ३०-४० वर्षके सदस्य शामिल थे, इन्हे आध्यात्मिक शिक्षासे बाहरकी विद्याओंको भी सीखना पडता था। तीसरी श्रेणीमे ४०-५० वर्षके भाई थे, यह दुनियाके दिव्य कानूनके जाननेकी योग्यता पैदा करते थे, इनका दर्जा पैगबरोंका था। चौथी और सर्वोच्च श्रेणीमे वह लोग थे, जिनकी उम्र ५० से अधिक थी। वह सत्यका साक्षात्कार करते थे, और उनकी गणना फरिश्तो—देवताओंके—दर्जेमे थी; उनका स्थान प्रकृति, सिद्धान्त, धर्म सबके ऊपर था। अपने इस श्रेणी-विभाजनमे पवित्र-सघ इब्न-मैमूनके करामती दल तथा अफलातूँ के "प्रजातंत्र"[1] से प्रभावित हुआ था, इसमे सन्देह नही, किन्तु इसमे सन्देह है, कि वह अपने इस श्रेणी-विभाजनको काफी अशमे भी कार्यरूपमे परिणत कर सका हो।

(२) **पवित्र-संघकी ग्रन्थावली और नेता**—पवित्र सघने अपने समग्रके ज्ञानको पुस्तकरूपमे लेखबद्ध किया था इसे "रसायल् अख्वानुस्सफा" (पवित्र सघ-ग्रन्थावली) कहते है। इस ग्रन्थावलीमे ५१ (शायद शुरूमे ५० थे) ग्रन्थ है। ग्रन्थोंकी वर्णन-शैलीसे पता लगता है, कि इनके लेखक अलग-अलग थे और उनमे सम्पादन द्वारा भी एकता लानेकी कोशिश नही की गई। ग्रन्थावलीमे राजनीतिक पुटके साथ प्राकृतिक विज्ञानके आधारपर ज्ञानवाद की विवेचना की गई है। सघके नेताओं और ग्रन्थावलीके लेखकोके बारेमे—पीछेकी पुस्तको मे जो कुछ मिलता है, उसमे उनके नाम यह है—

(१) मुकद्दसी या अबु-सुलैमान मुहम्मद इब्न-मुशीर अल्-बस्ती,
(२) जजानी या अबुल्-हसन् अली इब्न-हारून अल्-जजानी,
(३) नह्राजूरी या मुहम्मद इब्न-अहमद अल्-नह्राजूरी,

१ Republic.

(४) औफ़ी या अल्-औफ़ी; और

(५) रिफ़ाअ या ज़ैद इब्न-रिफ़ाअ।

पवित्र-संघ जिस वक्त (दसवीं सदीके उत्तरार्धमें) कार्यक्षेत्रमें उतरा उस वक्त तक बगदादके खलीफे अपनी प्रधानता खो बैठे थे; और जगह-जगह स्वतन्त्र शासक पैदा हो चुके थे। पोपकी भाँति बहुत कुछ धर्मगुरु समझकर मुस्लिम सुल्तान आज भी खलीफाकी इज्जत करते तथा उनके पास भेट भेजकर बड़ी-बड़ी पदवियाँ पानेकी इच्छा रखते थे। खुद बगदादके पड़ोस तथा ईरानके पश्चिमी भागमें बुवायही वंश[1] का शासन था; यह वंश खुल्लमखुल्ला शीआ-सम्प्रदायका अनुयायी था। पवित्र-संघ-ग्रंथावलीने मोतज़ला+शीआ+यूनानी दर्शनकी नींवपर अपने मन्तव्य तैयार किये थे, जिसके लिए यह समय कितना अनुकूल था, यह समझना आसान है।

(३) **पवित्र-संघके सिद्धान्त**—पवित्र-संघ अपने समयकी धार्मिक असहिष्णुतासे भली-भाँति परिचित था, और चाहता था कि लोग इब्राहिम मूसा, जर्दुश्त, मुहम्मद, अली सभीको भगवान्का दूत—पैगंबर—मानें; यही नही धर्मको बुद्धिसे समझौता करानेके लिए वह पिथागोर, सुक्रात, अफलातूंको भी ऋषियों और पैगबरोंकी श्रेणीमे रखता था। वह सुक्रात, ईसा तथा ईसाई शहीदोंको भी हसन-हुसैनकी भाँति ही पवित्र शहीद मानता था।

(क) **दर्शन प्रधान**—पवित्र संघका कहना था कि मजहबके विश्वास, आचार-नियम साधारण बुद्धिवाले आदमियोंके लिए ठीक हैं; किन्तु अधिक उन्नत मस्तिष्कवाले पुरुषोंके लिए गंभीर दार्शनिक अन्तर्दृष्टि ही उपयुक्त हो सकती है।

---

१. (१) अली बिन्-बुवायही, मृ० ९३२ ई०। (२) अहमद (मुई-जुद्दौला) ९३२-९६७ ई०। (३) अहमद (आज़ादुद्दौला) ९६७—... (४) बख्तुद्दौला...

(ख) जगत्‌की उत्पत्ति या नित्यता-सम्बन्धी प्रश्न गलत—बुद्धकी भाँति पवित्र-संघवाले विचारक जगत्‌की उत्पत्ति के सवालको बेकार समझते थे। हम क्या है, यह हमारे लिए आवश्यक और लाभ-दायक है। "मानव-बुद्धि जब इससे आगे बढना चाहती है, तो वह अपनी सीमाको पार करती है। अपनेको उन्नत करते हुए क्रमश सर्व महान् (तत्त्व, ब्रह्म) के शुद्ध ज्ञान तक पहुँचना आत्माका ध्येय है, जिसे कि वह ससार-त्याग और सदाचरणमे ही प्राप्त कर सकता है।"

(ग) आठ (नौ) पदार्थ—पवित्र-संघने यूनानी तथा भारतीय दार्शनिकोकी भाँति तत्त्वोका वर्गीकरण किया है। सबसे पहिला तत्त्व ईश्वर, परमात्मा या अद्वैत तत्त्व है, जिससे क्रमश निम्न आठ तत्त्वोका विकास हुआ है।

१. नफ्स[1]-फआल=कर्त्ता-विज्ञान
२. नफ्स-इन्फआल=अधिकरण-विज्ञान या सर्व-विज्ञान
३ हेवला=मूल प्रकृति या मूल भौतिक तत्त्व
४ नफ्स-आलम=जग-जीवन (मानव जीवोका समूह)
५ जिस्म-मुत्लक=परम शरीर, महत्तत्त्व
६ आलम-अफ्लाक=फरिश्ते या देवलोक
७ अनासर-अर्बअ=(पृथ्वी, जल, वायु, आग) ये चार भूत
८ मवालीद-सलासा=भूतोमे उत्पन्न (धातु, वनस्पति, प्राणी) ये तीन प्रकारके पदार्थ।

कर्त्ता-विज्ञान, अधिकरण-विज्ञान, मूल प्रकृति और जग-जीवन—यह अमिश्र पदार्थ है। परम शरीरको लेकर आगके चार पदार्थ मिश्रित है। यह मिश्रण द्रव्य और गुण (=घटना) के रूपमे होता है।

प्रथम द्रव्य है—मूल प्रकृति और आकृति। प्रथम गुण (=घटनाये)

---

१ **नफ्स—यह यूनानी शब्द नोवसका अरबी रूपान्तर है, जिसका अर्थ विज्ञान या बुद्धि है।**

हैं—दिशा (देश), काल, गति, जिसमे प्रकाश और मात्राको भी शामिल कर लिया जा सकता है।

मूल प्रकृति एक है, और साख्यकी भाँति, वह सदा एकसी रहती है, जो भिन्नता तथा बहुलता पाई जाती है, उसका कारण आकृति है—पिथागोर का भी यही मत है। प्रकृति और आकृति दोनो बिलकुल भिन्न चीजे हैं—कल्पनामे ही नही वस्तुस्थिति मे भी।

मूल प्रकृतिसे भी परे कर्त्ता-विज्ञान या नफ्स-फआल पवित्र सघके मतमें सभी चेतन-अचेतन तत्त्वका मूल उपादान-कारण है।

(घ) मानव-जीव—मानव-जीव (=मन) नफ्स-इन्फआल (अधि-करण-विज्ञान) से पैदा हुआ है। सभी मानव-जीवोंकी समष्टिको एक पृथक् द्रव्य माना गया है, जिसको "परम मानव" या "मानवता की आत्मा" कह सकते हैं। प्रत्येक मानव-जीव भूतोंसे विकसित होता है, किन्तु क्रमश विकास करते-करते वह आत्मा बन जाता है। बच्चेका जीव (=मन) सफेद कागजकी भाँति कोरा होता है। पाँचो ज्ञान इन्द्रियाँ बाहरी जगत्-मे जिस विषयको ग्रहण करती हैं, वह मस्तिष्कके अगले भागमे पहिले उपस्थित किया जाता है, फिर बिचले भागमे उसका निश्चय (विश्लेषण) किया जाता है, और अन्तमे मस्तिष्कके पिछले भागमे सस्कारके तौर-पर उसे सचित किया जाता है। बाहरी इद्रियोंकी सख्या मनुष्य और पशुमे समान है। मनुष्यकी विशेषतायें हैं—विचार (=निश्चय शक्ति), वाणी और क्रिया है।

(ङ) ईश्वर (=ब्रह्म)—कर्त्ता-विज्ञान (नफ्स-फआल) ईश्वर है। इसीसे सारे तत्त्व निकले है, यह बतला आये हैं। इन आठो तत्त्वोसे ऊपर ईश्वर या परम अद्वैत (तत्त्व) है। यह परम अद्वैत (ब्रह्म) सबमे है और सब कुछ है।

(च) कुरानका स्थान—कुरानको पवित्र-सघ किस दृष्टिसे देखता था, यह उनके इस वाक्यसे मालूम होता है—"हमारे पैगबर मुहम्मद एक एसी असभ्य रेगिस्तानी जातिके पास भेजे गये थे, जिनको न इस लोकके

सौन्दर्यका ज्ञान था और न परलोकके आध्यात्मिक स्वरूपका पता। ऐसे लोगोंके लिए दिए गये कुरानकी मोटी भाषाका अर्थ अधिक सभ्य लोगोंको आध्यात्मिक अर्थमें लेना चाहिए।" इस उद्धरणमें स्पष्ट है कि पवित्र-सघ जर्तुश्ती, ईसाई आदि धर्मोको ज्यादा श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता था। ईश्वरके क्रोध, नर्काग्निकी यातना, आदि बातें मूढ विश्वास है। उनके मतसे मूढ पापी जीव इसी जीवनमे नर्कमे गिरे हुए है। कयामत (=प्रलय) को वह नये अर्थोमे और दो तरहकी मानते है।—शरीरसे जीवका अलग होना छोटी कयामत है, दूसरी महाकयामत है, जिसमे कि सब आत्माये ब्रह्म (अद्वैत तत्त्व) मे लीन हो जाती है।

(छ) पवित्र-संघकी धर्मचर्या—त्याग, तपस्या, आत्म-सयमके ऊपर पवित्र-सघका सबसे ज्यादा जोर था। बिना किसी दबाव के स्वेच्छा-पूर्वक तथा बुद्धिसे ठीक समझकर जो कर्म किया जाता है, वही प्रशसनीय कर्म है। दिव्यविश्व-नियमका अनुसरण करना सबसे बडा धर्माचरण है। इन सबसे ऊपर प्रेमका स्थान है—प्रेम जीवका परमात्मासे मिलनेके लिए बेकरारी है। इसी प्रेमका एक भाग वह प्रेम है, जो कि इस जीवनमे प्राणिमात्रके प्रति क्षमा, सहानुभूति और स्नेह द्वारा प्रकाशित किया जाता है। प्रेम इस लोकमे मानसिक सान्त्वना, हृदयकी स्वतन्त्रता देता तथा प्राणिमात्रके साथ शान्ति स्थापित करता है, और परलोकमे उस नित्य ज्योतिका समागम कराता है।

यद्यपि-पवित्र-सघ आत्मिक जीवनपर ही ज्यादा जोर देता है, और शरीरकी ओर उतना ख्याल नही करता, तो भी वह कायाकी बिलकुल अवहेलना करनेकी सलाह नही देता।—"शरीरकी ठीकसे देखभाल करनी चाहिए, जिसमे जीवको अपनेको पूर्णतया विकसित करनेके लिए काफी समय मिले।"

आदर्श मनुष्यको होना चाहिए—"पूर्वी ईरानियो जैसा सुजात, अरबो जैसा श्रद्धालु, इराकियो (=मेसोपोतामियनो) जैसा शिक्षाप्राप्त, यहूदियो जैसा गंभीर, ईसाके शिष्यो जैसा सदाचारी, सुरियानी साधु जैसा पवित्र

भाववाला, यूनानियों जैसा अलग-अलग विज्ञानों (साइंसों) में निपुण, हिन्दुओं जैसा रहस्योंकी व्याख्या करनेवाला, और सूफी . जैसा सन्त।"

पवित्र-सघके बहुतसे सिद्धान्त वातिनी, इस्माइली, दरूश आदि इस्लामी सम्प्रदायोंमें भी मिलते हैं, जिससे मालूम होता है, वह एक दूसरेसे तथा सम्मिलित विचारधारासे प्रभावित हुए थे।

§ ३—सूफ़ी संप्रदाय

अरवसे निकला इस्लाम भक्ति-प्रधान धर्म था, ईसाई और यहूदी धर्म भी भक्ति-प्रधान थे। यूनानी दर्शन तर्क-प्रधान था, केवल भक्ति-प्रधान धर्म बुद्धिको सन्तुष्ट नही कर सकता, केवल तर्क-प्रधान दर्शन श्रद्धालु भक्तको सन्तुष्ट नही कर सकता। समाजको स्थिरता प्रदान करनेके लिए श्रद्धालुओंकी जरूरत है, श्रद्धालुओंकी श्रद्धाको डिगाकर बिना नकेलके ऊँटकी भाँति स्वच्छन्द भागने वाली बुद्धिको फँसाना जरूरी है—इन्ही ख्यालोंको लेकर यूनानियोंने पीछे भारतीय रहस्यवादसे मिश्रित नव-अफलातूनी दर्शनकी बुनियाद रखी थी। जब इस्लामके ऊपर भी वही सकट आया, तो उन्होंने भी उसी तैयार हथियारको इस्तेमाल किया। ईसाई साधक तथा हिन्दू-बौद्ध योगी उस वक्त भी मौजूद थे, इस्लामिक विचारक यह भी देख रहे थे कि योगी-साधक कितनी सफलताके साथ भक्तों और दार्शनिकों दोनोंके श्रद्धाभाजन हैं; इसीलिए इस्लामने भी सूफ़ीवाद (=तसव्वुफ़) के नामसे गृहस्थ या त्यागी फ़क़ीरोंकी एक जमात तैयार की ।

१. सूफ़ी शब्द—सोफी (=सोफिस्त) शब्द यूनानी भाषा का है। यूनानी दर्शनके प्रकरणमें इन परिव्राजक दार्शनिकोंके बारेमें हम कह चुके हैं। आठवी सदीमें जब यूनानी दर्शनका तर्जुमा अरबी भाषामें होने लगा, तो उसी समय सोफ़ या सोफ़ी शब्द भी दर्शनके अर्थमें अरबीमें आया, पीछे वर्णमालाके दोषसे सोफ़ी सूफ़ी हो गया।

सबसे पहिले सूफ़ीकी उपाधि-अबूहाशिम सूफ़ीको मिली, जिनका कि

देहान्त ७७० ई०के आसपास (१५० हिज्री)में हुआ था। पैंगबरके जीवनकालमें विशेष धर्मात्मा पुरुषोंको 'सहाबा' (साथी) कहा जाता था। पैंगबरके समसामयिक इन पुरुषोंको पीछे भी इसी नामसे याद किया जाता था। पीछे पैदा होनेवाले महात्माको पहिले ताबईन (=अनुचर) और फिर तबअ-ताबईन (=अनु-अनुचर) कहा जाने लगा। इसके बाद जाहिद (=शुद्धाचारी) और आबिद (=भक्त) और उससे भी पीछे सूफीका शब्द आया। मुसलमान लेखकोंने सूफी शब्दको निम्न अर्थोंमें प्रयुक्त किया है—

"सूफी वह लोग है, जिन्होंने सब कुछ छोड़ ईश्वरको अपनाया है"—(जुन्नन मिश्री)

"जिनका जीवन-मरण सिर्फ ईश्वरपर है"—(जनीद बगदादी)

"सम्पूर्ण शुभाचरणोंमें पूर्ण, सम्पूर्ण दुराचरणोंमें मुक्त"—(अबूबक्र हरीरी)

"जिस व्यक्तिको न दूसरा कोई पसन्द करे, न वह किसीको पसन्द करे"—(मसूर हुल्लाज)

"जो अपने आपको बिलकुल ईश्वरके हाथ, सौंप दे"—(रोयम्)

"पवित्र जीवन, त्याग और शुभगुण जहाँ इकट्ठा हों"—(शहाबुद्दीन सुहरावर्दी)

गजाली (१०५९-११११ ई०) ने सूफी शब्दकी व्याख्या करते हुए कहा है, कि सूफी पन्थ (=तसव्वुफ) ज्ञान और आचरण (=कर्म) के मिश्रणका नाम है। शरीअत (=कुरानोक्त) के भक्तिमार्ग और सूफी-मार्गमें यही अन्तर है, कि शरीअतमें ज्ञानके बाद आचरण (=कर्म) आता है, सूफी मार्गके अनुसार आचरणके बाद ज्ञान।

२ **सूफी पन्थके नेता**—इस्लामिक सूफीवाद नव-अफलातूनी रहस्य-वादी दर्शन तथा भारतीय योगका सम्मिश्रण है, यह हम बतला चुके हैं, इस तरहका पथ शाम, ईरान, मिस्र सभी देशोंमें मौजूद था, ऐसी हालतमें इस्लामके भीतर उसका चुपकेसे चला जाना मुश्किल नहीं। कितने

ही लोग पैगंबरके दामाद अलीको सूफ़ी ज्ञानका प्रथम प्रवर्त्तक बतलाते हैं, किन्तु म्वावियोंके झगड़ेके समय हम देख चुके हैं कि अली इस्लाममें अरबियतके कितने जबर्दस्त पक्षपाती थे, ऐसी हालतमें एक सामाजिक प्रतिक्रियावादी व्यक्तिका विचार-स्वातन्त्र्यके क्षेत्रमें इतना प्रगतिशील होना संभव नही मालूम होता। मालूम देता है, ईरानियोंने जिस तरह विजयी अरबोंको दबाकर अपनी जातीय स्वतन्त्र भावनाओंकी पूर्ति के वास्ते अरबोंके भीतरी झगड़ेसे फायदा उठानेके लिए अली-सन्तान तथा शीआ-सम्प्रदायके साथ सहानुभूति दिखलानी शुरू की, उसी तरह इस्लामकी अरबी शरीअतसे आज़ाद होनेके लिए सूफ़ी मार्गको आगे बढ़ाते हुए उसे हज़रत अलीके साथ जोड़ दिया।

सूफी मत पहिले मुल्लाओंके भयसे गुपचुप अव्यवस्थित रीतिसे चला आता था, किन्तु इमाम ग़ज़ाली (१०५९-११११ ई०) जैसे प्रभावशाली विद्वान मुल्लाने जब खुल्लमखुल्ला उसकी हिमायतमें कलम ही नही उठाई, बल्कि उसकी शिक्षाओको सुव्यवस्थित तौरसे लेखबद्ध कर दिया, तो वह धरातलपर आ गया।

३. सूफ़ी सिद्धान्त—पवित्र-संघ सूफियोंका प्रशंसक था, इसका जिक्र आ चुका है। सूफ़ी दर्शनमें जीव ब्रह्मका ही अंश है, और जीवका ब्रह्ममें लीन होना यही उसका सर्वोच्च ध्येय है। जीव ही नही जगत् भी ब्रह्मसे भिन्न नही है। शंकरके ब्रह्म-अद्वैतवाद और सूफ़ियोंके अद्वैतवादमें कोई अन्तर नही। यह कोई आश्चर्यकी बात नही है जो कि भारतमें मुसलमान सूफ़ियोंने इतनी सफलता प्राप्त की, और सफलताभी पूर्णतया शान्तिमय तरीकेसे। जीवको हक (=सत्, ब्रह्म)से मिलनेका एक ही रास्ता है वह है प्रेम (=इश्क) का। यद्यपि यह प्रेम शुद्ध आध्यात्मिक प्रेम था, किन्तु कितनी ही बार इसने लौकिक क्षेत्रमें भी पदार्पण किया है। काव्य-क्षेत्रमें—ईरानमें ही नहीं भारत में भी—तो इस प्रेमने बड़े-बड़े कवि पैदा किये। शम्स, तब्रेज़, उमर-खय्याम, मौलाना रूमी, जायसी, कबीर जैसे कवि इसीकी देन हैं।

४. **सूफ़ी योग**--भारतीय योगकी भाँति--और कुछ तो उसीसे ली हुई--सूफी योगकी बहुतसी सीढ़ियाँ हैं, जैसे--

(१) **विराग**--इष्ट-मित्र, कुटुम-कबीले, धन-दौलतसे अलग होना, सूफी योगकी पहिली सीढ़ी है।

(२) **एकान्त-चिन्तन**--जहाँ मनको खीचनेवाली चीजे न हो, ऐसे एकान्त स्थानमे निवास करते ईश्वरका ध्यान करना।

(३) **जप**--ध्यान करते वक्त जीभसे भगवान्‌का नाम "अल्लाह" "अल्लाह" इस तरहसे जपना, कि जीभ न हिले, साथही ध्यानमे मालूम हो कि नाम जीभसे निकल रहा है।

(४) **मनोजप**--ध्यानमे दिलसे जप होता मालूम हो।

(५) **ईश्वरमें तन्मयता**--मनोजप बढते हुए इतनी चित्त-एकाग्रता तक पहुँच जाये, कि वहाँ वर्ण और उच्चारणका कोई ख्याल न रहे, और भगवान् (=अल्लाह) का ध्यान दिलमे इस तरह समा जाये, कि वह किसी वक्त अपनेसे अलग न जान पड़े।

(६) **योगि-प्रत्यक्ष (=मुकाशफ़ा)**--जिस वक्त ऐसी तन्मयता हो जाती है, तब मुकाशफा (=योगिप्रत्यक्ष) होता है। मुकाशफा होनेपर वह सभी आध्यात्मिक सच्चाइयाँ साफसाफ दिखलाई देने लगती हैं, जिनको कि आदमी अभी केवल श्रद्धावश या गतानुगतिक तरीकेसे मानता आता रहा है।--पैगबरी, आकाशवाणी (=भगवद्वाणी), फरिश्ते, शैतान, स्वर्ग, नर्क, कब्रकी यातना, सिरातका पुल, पाप-पुण्यकी तौल और न्यायका दिन आदि सारी बातें जो श्रद्धावश मानी जाती थी, अब वह आँखोके सामने फिरतीसी दिखलाई पडती हैं।

इमाम गजालीने[1] मुकाशफ़ाकी अवस्थाको एक दृष्टान्त से बतलाया है--

"एक बार रूम और चीनके चित्रकारोमे होड लगी। दोनोंका दावा

---

१. "अह्याउल्-उलूम"।

था, 'हम बड़े', 'हम बड़े'। तत्कालीन बादशाह ने दोनों गिरोहके लिए आमने-सामने दो-दो दीवारें, हर एकको अपनी शिल्प-चातुरी दिखलानेके लिए, निश्चत कर बीचमें पर्दा डलवा दिया, जिसमें कि वह एक दूसरेकी नकल न कर सके। कुछ दिनों बाद रूमी चित्रकारोंने बादशाहसे निवेदन किया कि हमारा काम खतम हो गया। चीनियोंने कहा कि हमारा काम भी खतम हो गया। पर्दा उठाया गया, दोनों (दीवारोंके चित्रों) में बाल बराबर भी फर्क न था। मालूम हुआ कि रूमियोंने चित्र न बनाकर सिर्फ दीवारको पालिश कर दर्पण बना दिया था, और जैसे ही पर्दा उठा, सामनेकी दीवारके तमाम चित्र उसमें उतर आये।"

मुकाशफ़ा (=योगिदर्शन) की पूर्व सूचना पहिले जल्दीसे निकल जाने वाली बिजलीकी चमकसे होती है, यह चमक धीरे-धीरे ठहरती हुई स्थिर हो जाती है।[1]

---

१. मह्लाउल्-उलूम्; और तुलना करो—
"नीहारधूमार्कानिलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तकराणि योगे।"
—श्वेताश्वतर-उपनिषद् २।११

अध्याय ६

पूर्वी इस्लामी दार्शनिक (२)

क रहस्यवाद-वस्तुवाद

चीनके सम्राट मिंग[1] (५८-७५ ई०) ने बुद्धको स्वप्नमे देखा था, फिर उसने बुद्धके धर्म और बौद्ध पुस्तकोकी खोज तथा अनुवादका काम शुरू कराया। खलीफा मामून (८११-६३ ई०) के बारेमे भी कहा जाता है, कि उसने स्वप्नमे एक दिन अरस्तूको देखा, स्वप्न हीमे अरस्तूने अपने दर्शनके सम्बन्धमें कुछ बाते बतलाईं, जिससे मामून इतना प्रभावित हुआ कि दूसरे ही दिन उसने क्षुद्र-एसियामे कई आदमी इसलिए भेजे कि अरस्तू की पुस्तकोको ढूँढकर बगदाद लाया जाये और वहाँ उनका अरबीमे अनुवाद किया जाये। मामूनके दर्बारमे अरस्तूकी तारीफ अक्सर होती रही होगी, और उससे प्रभावित हो मामून जैसा विद्वान तथा विद्याप्रेमी पुरुष अरस्तूको स्वप्नमे देखे तो कोई आश्चर्यकी बात नही। यूनानी दर्शन ग्रन्थोका अरबी भाषामे किस तरह अनुवाद हुआ इसके बारेमे हम पहिले बतला चुके है। उस अनुवाद और दर्शन-चर्चामे कैसे इस्लाममे दार्शनिक पैदा हुए, और उन्होंने क्या विचार प्रकट किये, अब इसके बारेमे कहना है। बगदाद दर्शन-अनुवाद तथा दर्शन-चर्चा दोनोका केन्द्र था, इसलिए पहिले इस्लामी दार्शनिकोका पूर्वमे ही पैदा होना स्वाभाविक था। इन दार्शनिकोमे सबसे पहिला किन्दी था, इसलिए उसीसे हम अपने वर्णनको आरम्भ करते है।

१. Indian Literature in China and Far East by P K Mukherjee, Calcutta, 1931, p. 5.

§ १. अबू-याकूब किन्दी (८७० ई०)

१. **जीवनी**—अबू-यूसुफ-याकूब इब्न-इस्हाक अल्-किन्दी —(किन्दी वशज इस्हाक पुत्र अबुल्-याकूब), किन्दा नामक अरबी कबीलेसे सम्बन्ध रखता था। किन्दा कबीला दक्षिणी अरबमें था, किन्तु जिस परिवारमे दार्शनिक किन्दी पैदा हुआ था, वह कई पुश्तोसे इराक (मेसोपोतामिया) में आ बसा था। अबू-याकूब किन्दीके जन्मके समय उसका बाप इस्हाक किन्दी कूफाका गवर्नर था। किन्दीका जन्म-सन् निश्चित तौरसे मालूम नही है, सम्भवतः वह नवीं सदीका आरम्भ था। हाँ, उसकी ज्योतिषकी एक पुस्तकसे पता लगता है कि ८७० ई० में वह मौजूद था। उस समय फलित ज्योतिषके कुछ ऐसे योग घट रहे थे, जिससे फायदा उठाकर कर-मती दल अब्बासी-वशके शासनको खतम करना चाहता था। किन्दीकी शिक्षा पहिले बसा और फिर उस समयके विद्या तथा सस्कृतिके केन्द्र बग-दादमे हुई थी। प्रथम श्रेणीके इस्लामिक दार्शनिकोंमे किन्दी ही है, जिसे "अरब" वशज कह सकते हैं, किन्तु बापकी तरफसे ही निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है। बगदाद उस समय नामके लिए यद्यपि अरबी खलीफा-को राजधानी था, नहीं तो वस्तुतः वह ईरानी सभ्यता तथा यूनानी विचारोंका केन्द्र था। बगदादमें रहते वक्त किन्दीने समझा कि पुरानी अरबी सादगी तथा इस्लामिक धर्म विश्वास इन दोनो प्राचीन जातियोकी सभ्यता तथा विद्याके सामने कोई गिनती नही रखती। यूनानी मस्तिष्कसे वह इनना प्रभावित हुआ था कि उसने यहाँ तक कह डाला—दक्षिणी अरबके कबीलों (जिनमें किन्दी भी सम्मिलित था) का पूर्वज कहतान यूनान (यूना-नियोंके प्रथम पुरुष) का भाई था। बगदादमे अरब, सुरियानी, यहूदी, ईरानी, यूनानी खूनका इतना सम्मिश्रण हुआ था, कि वहाँ जातियोंके नामपर असहिष्णुता देखी नही जाती थी।

किन्दी अब्बासी दर्बारमें कितने समय तक रहा, इसका पता नहीं। यूनानी ग्रन्थोंके अनुवादकोंमें उसका नाम आता है। उसने स्वयं ही अनु-

वाद नहीं किये, बल्कि दूसरोके अनुवादोका सशोधन और सम्पादन भी किया था। वह ज्योतिषी और वैद्य भी था, इसलिए यह भी सभव है, कि वह दर्बारमे इस सबधसे भी रहा हो। कुछ भी हो, यह तो साफ मालूम है, कि पीछे वह अब्बासी दर्बारका कृपापात्र नही रहा। खलीफा मुतवक्किल (८४७-६१ ई०) ने अपने पूर्वके खलीफोकी धार्मिक उदारताको छोड "सनातनी" मुसलमानोका पक्ष समर्थन किया, जिससे विचार-स्वातन्त्र्यपर प्रहार होना शुरू हुआ। किन्दी भी उसका शिकार हुए बिना नही रह सका और बहुत समय तक उसका पुस्तकालय जब्त रहा।

किन्दीकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी, अपने समयकी सस्कृति तथा विद्याओका वह गभीर विद्यार्थी था—भूगोल, इतिहास, ज्योतिष, गणित, वैद्यक, दर्शन—सबपर उसका अधिकार था। उसके ग्रन्थ ज्यादातर गणित, फलित ज्योतिष, भूगोल, वैद्यक और दर्शनपर हैं। यह आश्चर्यकी बात है, कि एक ओर तो किन्दी कीमियाको गलत कहकर उसके विश्वासियोको निर्बुद्धि कहता, दूसरी ओर ग्रहोके हाथ मनुष्यके भाग्यको दे देना उसके लिए साइस था।

२. **धार्मिक विचार**—किन्दीके समक्ष फिर धर्मान्धताका जोर बढ चला था, और अपने विचारोको खुल्मखुल्ला प्रकट करना खतरे से खाली न था, इसलिए जिन धार्मिक विचारोका किन्दीने समर्थन किया है, उनमे वस्तुत उसके अपने कितने है, इसके बारेमे सावधानीसे राय कायम करने-की जरूरत है। वैसे जान पडता है वह मोतजला के कितने ही धार्मिक विचारोसे सहमत था। नेकी और ईश्वर-अद्वैतपर उसका खास जोर था। उस समय इस्लामिक विचारकोमे यह बात भारतीय सिद्धान्तके तौरपर प्रख्यात थी, कि बुद्धि (प्रत्यक्ष, अनुमान) ज्ञानके लिए काफी प्रमाण है, आप्त या शब्दप्रमाणकी उतनी आवश्यकता नहीं। किन्दीने मजहबियोका पक्ष लेकर कहा कि पैगबरी (=आप्त वाक्य) भी प्रमाण है, और फिर बुद्धिवाद तथा शब्दवादके समन्वयकी कोशिश की। भिन्न-भिन्न धर्मोंमेसे एक बात जो कि सबमे उसने पाई वह था नित्य, अद्वैत, "मूल कारण" का

विचार। इस मूल कारणको सिद्ध करनेमें हमारा बुद्धिजनित ज्ञान पूरी तरह समर्थ नहीं है। जिसमें मनुष्य "मूल कारण" अद्वैत ईश्वरको ठीक समझ सकें, इसीलिए पैगंबर भेजे जाते हैं।

३. **दार्शनिक विचार**—किन्दीके समय नव-पिथागोरीय प्राकृतिक दर्शन (प्रकृति ब्रह्मका शरीर है, इस तरह प्रकृतिकार्य ब्रह्मका ही कार्य है) के विचार मौजूद थे। अपने ग्रन्थोंमें उसने अरस्तूके बारे में बहुत लिखा है। इस प्रकार किन्दीके दार्शनिक विचारों के निर्माणमें उपरोक्त विचार-धाराओंका खास हाथ रहा है।

(१) **बुद्धिवाद**—किन्दी बुद्धिवादका समर्थन करता जरूर है, किन्तु आप्तवाद (=पैगंबरवाद) के लिए गुंजाइश रखते हुए।

(२) **तत्त्व-विचार**—(क) **ईश्वर**—जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, किन्दी जगत्‌को ईश्वरकी कृति मानता है। किन्दी कार्य-कारण नियम या हेतुवादका समर्थक है। कार्य-कारणका नियम सारे विश्वमें व्याप्त है, यह कहते हुए साथही वह लगे हाथों कह चलता है—इसीलिए हम तारोंकी भविष्य स्थिति तथा उससे होनेवाले (फलित-ज्योतिष प्रोक्त) भले बुरे फलोंकी भविष्यद्वाणी कर सकते हैं। ईश्वर मूलकारण है सही, किन्तु जगत्‌के आगेके कार्योंके साथ वह सीधा सम्बन्ध न रखकर मध्यवर्त्ती कारणों द्वारा काम करता है। ऊपरका कारण अपने नीचेवाले कार्यको करता है, यह कार्य कारण बन आगेके कार्यको करता है; किन्तु कार्य अपनेसे ऊपरवाले कारणपर कोई प्रभाव नहीं रखता; उदाहरणार्थ—मिट्टी अपने कार्य पिंड (लोंदा) को करती (बनाती) है, पिंड घड़ेको करता है, किन्तु घड़ा कुछ नहीं कर सकता पिंड मिट्टीका कुछ नहीं कर सकता।

(ख) **जगत्**—ईश्वरकी कृति जगत्‌के दो भेद हैं, प्रकृति जगत्, और शरीर जगत्। शरीर या कायासे ऊपरका सारा जगत् प्रकृति जगत् है

(ग) **जगत्-जीवन**—ईश्वर (मूलकारण) और जगत्‌के बीच जगत्-चेतन या जग-जीवन है। इसी जग-जीवन (=नफ्स-आलम) से पहिले फरिश्ते या देव, फिर मानवजीव उत्पन्न होते हैं।

(घ) मानव-जीव और उसका ध्येय——जग-जीवनसे निकला मानव-जीव अपनी आदत और कामके लिए शरीर (=काया) से बँधा हुआ है, किन्तु अपने निजी स्वरूपमे वह शरीरसे बिलकुल स्वतंत्र है; और इसीलिए जहाँ तक जीवके स्वरूपका सम्बन्ध है, उसपर ग्रहोंका प्रभाव नही पडता। जीव प्रकृत, अ-नश्वर पदार्थ है। वह विज्ञान (=आत्म)-लोकसे इन्द्रियलोकमे उतरा है, तो भी उसमे अपनी पूर्वस्थितिके संस्कार मौजूद रहते है। इस लोकमे उसे चैन नही मिलता, क्योकि उसकी बहुतसी आकाक्षाएँ अपूर्ण रहती है, जिसके लिए उसे मानसिक अशान्ति सहनी पडती है। इस चलाचलीकी दुनियामे कोई चीज स्थिर नही है, इसलिए नही मालूम किस वक्त हमे उनका वियोग सहना पडे, जिन्हे कि हम प्रिय समझते है। विज्ञानलोक (ईश्वर) ही ऐसा है, जिसमे स्थिरता है। इसलिए यदि हम अपनी आकाक्षाओंकी पूर्ति और प्रियोसे अ-विछोह चाहते हैं, तो हमे विज्ञानकी सनातन कृपा, ईश्वरके भय, प्रकृति-विज्ञान और सुकर्मकी ओर मन और शरीरको लाना होगा।

(३) नफ़्स (=विज्ञान)——नफ्स यूनानी शब्द है जिसका अर्थ विज्ञान या आत्मा (=नित्य-विज्ञान) है। वह यूनानी दर्शनमे एक विचारणीय विषय है। नफ्स (=अक्ल, विज्ञान) के सिद्धान्तपर किन्दीने जो पहिले-पहिल बहस छेडी, तो सारे इस्लामी दार्शनिक साहित्यमे उसकी चर्चाका रास्ता खुल गया। किन्दीने नफ्सके चार भेद किये है—

(क) प्रथम विज्ञान (=ईश्वर)——जगत्मे जो कुछ सनातन सत्य, आध्यात्मिक (=अ-भौतिक) है, उसका कारण और सार, परम-आत्मा ईश्वर है।

(ख) जीवकी अन्तर्हित (क्षमता)——दूसरी नफ्स (=बुद्धि) है, मानव-जीवकी समझनेकी योग्यता या जीवकी वह क्षमता जहाँ तक कि जीव विकसित हो सकता है।

(ग) जीवकी कार्य-क्षमता (=आदत)—मानव-जीवके वह गुण या आदत जिसे कि इच्छा होनेपर वह किसी वक्त इस्तेमाल कर सकता है,

जैसे कि एक लेखककी लिखनेकी क्षमता, चित्रकारकी चित्रण-क्षमता।

(घ) **जीवकी क्रिया**—जिस बातसे जीवके भीतर छिपी अपनी वास्तविकता बाहरी जगत्‌में प्रकट होती है,—निराकार क्षमता, जिसके द्वारा साकार रूप धारण करती, इसमे कायिक, वाचिक, मानसिक तीनो तरहकी क्रियाएँ शामिल हैं।

(४) **ज्ञानका उद्गम**—(क) **ईश्वर**—किन्दी चौथी नफ़्स (विज्ञान) को जीवका अपना काम मानता है, किन्तु दूसरी नफ़्स (=जीवकी अन्तर्हित क्षमता) को ही प्रथम नफ़्स (=ईश्वर) की देन नहीं मानता, बल्कि उस अन्तर्हित क्षमताको जीवकी कार्य-क्षमता (तीसरी नफ़्स) के रूपमें परिणत करना भी वह प्रथम नफ़्सका ही काम मानता है, इस तरह तीसरी नफ़्स कार्य-क्षमता—भी जीवकी अपनी नहीं बल्कि ऊपरसे भेजी हुई चीज़ है।—इसका अर्थ यह हुआ कि हमारे ज्ञानका उद्गम (=स्रोत) जीव नही बल्कि प्रथम विज्ञान (ईश्वर) है। इस्लामिक दर्शनमें "ईश्वर समस्त ज्ञानका स्रोत है" इस विचारकी "प्रतिध्वनि" सर्वत्र दिखाई पड़ती है। पुराना इस्लाम कर्ममें भी जीवको सर्वथा परतन्त्र मानता था, ज्ञानके बारेमें तो कहना ही क्या। किन्दीने जीवकी कर्म-परतन्त्रतासे उठनेवाली दार्शनिक कठिनाइयोंको समझ, उसे तो—ईश्वर सीधे अपने कार्योंके काममें दखल नहीं देता,—के सिद्धान्तसे दूर कर दिया; किन्तु साथ ही ज्ञानके—जो कि दार्शनिकोंके लिए कर्मसे भी ज्यादा महत्व रखता है—का स्रोत ईश्वरको बनाकर इस्लामके ईश्वर-परतन्त्र्य सिद्धान्तकी पूरी तौरसे पुष्टि की।

किन्दीका नफ़्स (विज्ञान) का सिद्धान्त अरस्तूके टीकाकार सिकन्दर अफ़ादीसियस्‌से लिया गया मालूम होता है; किन्तु सिकन्दरने अपनी पुस्तक "जीवके सम्बन्धमे" साफ कहा है, कि अरस्तूके मतमे नफ़्स (=विज्ञान) तीन प्रकारका होता है। किन्दी अपने चार "प्रकार" को अफलातून और अरस्तूके मतपर आधारित मानता है। वस्तुतः यह नव-पियागोरीय नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शनोंपर अवलम्बित किन्दीका अपना मत है।

(ख) **इन्द्रिय और मन**—नफ़्सके सिद्धान्त द्वारा ज्ञानके स्रोतको

यद्यपि किन्दी जीवसे बाहर मानता है, तो भी जब वह रहस्यवादसे नीचे उतरता है, तो वस्तु-स्थितिकी भी कद्र करना चाहता है, और कहता है— हमारा ज्ञान या तो इन्द्रियो द्वारा प्राप्त होता है, या चिन्तन (=मनकी क्रिया कल्पना) शक्ति द्वारा। वह स्वीकार करता है, कि इन्द्रियाँ केवल व्यक्ति या भौतिक स्वरूप (=स्वलक्षण) को ही ग्रहण करती हैं, सामान्य या अ-भौतिक आकृति उनका विषय नही है। यहीं है दिग्नाग-धर्मकीर्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान—"प्रत्यक्ष कल्पनापोढ" (इन्द्रियसे प्राप्त कल्पना-रहित)। दिग्नाग-धर्मकीर्तिने सामान्य आदिको कल्पनामूलक कहकर उन्हे वस्तु सत् माननेसे इन्कार कर दिया, यद्यपि उन्हे व्यवहारसत् मानने मे उज्र नही है, किन्तु ज्ञानको जीवके पास आई पराई थाती रखनेवाला किन्दी कल्पना (=चिन्तन)-शक्तिसे प्राप्त ज्ञानको वस्तु-सत् मानता है।

(ग) **विज्ञानवाद**—जो कुछ भी हो, अन्तमे दोनों ही ओरके भूले एक जगह मिल जाते हैं, और वह जगह वस्तु-जगत्से दूर है।—वह है विज्ञानवादकी भूल-भुलैयाँ। किन्दीने और मजबूरियोंके कारण या अनजाने योगाचारके विज्ञानवादको खुल्लमखुल्ला स्वीकार करना न चाहा हो, किन्तु है वह वस्तुत विज्ञानवादी। उसका विज्ञानवाद क्षणिक है या नित्य— इस बहसमे वह नही गया है, किन्तु प्रथम विज्ञान (=आलय विज्ञान)-के चार भेद जो उसने किये है, और एकका दूसरेमे परिवर्तन बतलाया है, उससे साफ है कि वह विज्ञानको नित्य कूटस्थ नही मानता। बौद्ध विज्ञानवादियो (योगाचार दर्शन) की भाँति किन्दीके नफ्सवादको भी आलय विज्ञान (=विज्ञान-स्रोत, विज्ञान-समुद्र) और प्रवृत्ति-विज्ञान (=क्रिया परायण) विज्ञानसे समझना होगा। हाँ, तो दोनो ही ओरके भूले "सब कुछ विज्ञान है विज्ञानके अतिरिक्त कोई सत्ता नही" इस विज्ञानवादमे मिलते है, और किन्दी धर्मकीर्तिसे हाथ मिलाता हुआ कहता है—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान और ज्ञेय (विषय) एक ही हैं, और इसी तरह मन (=कल्पना) द्वारा ज्ञात पदार्थ ("धर्म") भी प्रथम विज्ञान (आलय-विज्ञान) है। दोनोंमे इतना अन्तर जरूर है, कि जहाँ अपने सहधर्मियों (=मुसलमानों)के

डरके मारे दबी जाती किन्दीकी आत्माको एक सहृदय व्यक्तिके साथ एकान्त सम्मिलनमे उक्त भाव प्रकट करनेमे उल्लास हो रहा था, वहाँ सहधर्मियो (=बौद्धों)के डरके मारे दबकर अपने निज मत वस्तुवादके स्थानपर विज्ञानवादकी प्रधानताको दबी जबानसे स्वीकार करनेवाले धर्मकीर्तिके मन मे भारी ग्लानि हो रही थी।—और आश्चर्य नही, यदि किन्दीके "आलय विज्ञान" और प्रथम नफ्स" की एकताकी बात करनेपर धर्मकीर्तिने कह दिया हो—"मैंने तो बार! जान-बूझकर असगके 'आलय विज्ञान'का बायकाट किया है, क्योंकि वह खिडकीके रास्ते स्थिर-वाद (=अक्षणिकवाद) और ईश्वरवादको भीतर लानेवाला है।"

किन्दीका दर्शन नव-अफलातूनी पुटके साथ अरस्तूका दर्शन है।

§ २. फ़ाराबी (८७०?-९५० ई०)

१ – जीवनी

किन्दीके बाद इस्लाममे दर्शनके विकासकी दूसरी सीढी है अबू-नस्र इब्न-मुहम्मद इब्न-तर्खन इब्न-उज़लग, अल्-फाराबी (फाराबका रहनेवाला उज़लगके पुत्र तर्खनके पुत्र मुहम्मदका पुत्र अबू-नस्र)। अबू-नस्रका जन्म वक्षु (आमू) नदी तटवर्ती फराब जिलेके वसिज नामक स्थानमे हुआ था। वसिजमे एक छोटासा किला था, जिसका सेनापति अबू-नस्रका बाप मुहम्मद था। पूरे नामके देखनेसे पता लगता है, कि अबू-नस्रके बापका ही नाम मुसलमानी है, नही तो उसके दादा तर्खन और परदादा उज़लगके नाम गैर-मुसलमानी—शुद्ध तुर्की—हैं, जिसका अर्थ है वह मुसलमान नहीं थे, और अबू-नस्र सिर्फ दो पुश्तका मुसलमान तुर्क था। फ़ाराबीके पिताको ईरानी सेनापति कहा गया है, जिसका अर्थ यही हो सकता है, कि वह सफ्फारी (८७१-९०३ ई०) या किसी दूसरे ईरानी शासकवंशका नौकर था। फाराबीके वंशवृक्षसे यह भी पता लगता है, कि यद्यपि मध्य-एसियामे इस्लामी शासन स्थापित हुए डेढ़-सौ साल से ऊपर बीत चके थे,

किन्तु अभी वहाँके सारे लोग—कमसे कम तुर्क—मुसलमान नहीं हुए थे। फाराबीकी दार्शनिक प्रतिभा और बुद्धिस्वातन्त्र्यपर विचार करते हुए हमें ढाई सौ साल पहिले उधरसे गुजरे ह्वेन-चाङ् के वर्णनका भी ख्याल रखना होगा, जिसमे इस प्रदेशमे सैकड़ों बड़े-बड़े बौद्ध शिक्षणालयों (संघारामों) और हजारों शिक्षित भिक्षुओंका जिक्र आता है। दो पीढ़ीके नव-मुस्लिमके होनेका मतलब है, फाराबीकी जन्मभूमि मे अभी बौद्ध (दार्शनिक) परंपरा कुछ न कुछ बची हुई थी। वक्षु-तटवर्ती ये तुर्क विद्या और संस्कृति में समुन्नत थे, इसमें तो सन्देह ही नहीं।

फाराबीकी प्रारंभिक शिक्षा अपने पिताके घरपर ही हुई होगी, उसके बाद वह बुखारा या समरकन्द जैसे अपने देशके उस समय भी ख्यातनामा विद्याकेन्द्रोंमें पढ़ने गया था या नहीं, इसका पता नहीं लगता। यह भी नहीं मालूम, कि किस उम्रमें वह इस्लामकी नालन्दा—बगदाद—की ओर विद्याध्ययनके लिए रवाना हुआ। किन्दी तो जरूर उस समय तक मर चुका होगा, किन्तु राजी जिन्दा था। जन्मभूमिमें बुद्धि-स्वातन्त्र्यकी कुछ हल्की हवा तो उसे लगी ही होगी, बगदादमें आकर उसने योहन्ना इब्न-हैलान-की शिष्यता स्वीकार की। योहन्ना जैसे गैरमुस्लिम (ईसाई) विद्वान्को अध्यापक चुनना भी फाराबीके मानसिक झुकावको बतलाता है। बगदादमें कैसा विचार-स्वातन्त्र्यका वातावरण—कमसे कम मुसलमानोंकी सनातनी जमातके बाहर—था, इसका परिचय पहिले मिल चुका है। फाराबीने दर्शनके अतिरिक्त साहित्य, गणित, ज्योतिष, वैद्यककी शिक्षा पाई थी। उसने संगीतपर भी कलम चलाई है। फाराबी को सत्तर भाषाओंका पंडित कहा जाता है। तुर्की तो उसकी मातृभाषा ही थी, फारसी उसकी जन्म-भूमिकी हवामें फैली हुई थी, अरबी इस्लामकी जबान ही थी, इस प्रकार इन तीन भाषाओंपर फाराबीका अधिकार था, इसमें तो सन्देह ही नहीं हो सकता, सुरियानी, इब्रानी, यूनानी भाषाओंको भी वह जानता होगा।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद भी फाराबी बहुत समय तक बगदादमें रहा। नवीं सदीका अन्त होते-होते बगदादके खलीफोंकी राजनीतिक शक्तिका

भारी पतन हो चुका था। प्रान्तो, तथा देशोंमें होनेवाली राज्यक्रान्तियो-का असर कभी-कभी बगदादपर भी पड़ता था। शायद ऐसी ही किसी अशान्तिके समय फाराबीने बगदाद छोड हलब (अलेप्पो) में वास स्वीकार किया। हलबका सामन्त सैफुद्दौला बडा ही विद्यानुरागी—विशेषकर दर्शन-प्रेमी व्यक्ति था। फाराबीको ऐसे ही आश्रयदाताकी आवश्यकता थी।

फाराबी हालमे ही बौद्धसे मुसलमान हुए देश और परिवारमे पैदा ही नही हुआ था, बल्कि बौद्ध भिक्षुओकी ही भाँति वह शान्ति और एकान्त जीवनको बहुत पसन्द करता था। इस्लाममे सूफियोका ही गिरोह था, जो कि उसकी तबियतसे अनुकूलता रखता था, इसीलिए फाराबी सूफियोकी पोशाकमे रहा करता था। उसका जीवन भी दूसरे इस्लामिक दार्शनिकोकी अपेक्षा यूनानी सोफिस्तो या बौद्ध भिक्षुओके जीवन से ज्यादा मिलता था।

वह उस समय हलबसे दमिश्क गया हुआ था, जब कि दिसम्बर ९५० ई० मे वहीपर उसका देहान्त हुआ। हलब के सामन्तने सूफीकी पोशाकमे उसकी कब्रपर फातिहा पढा था। मृत्युके समय फाराबीकी उम्र अस्सी वर्ष की बतलाई जाती है। उसकी मृत्यु से १० साल पहिलही उसके सहकारी (अनुवादक) अबू-बिश्र मत्ताका देहान्त हो चुका था। उसके शिष्य अबू जकरिया यह्या इब्न-आदीने ९७१ ई० मे इक्कासी साल की उम्रमे शरीर छाडा।

२ — फाराबीकी कृतियाँ

फाराबीकी तरुणाईकी लिखी हुई वह छोटी-छोटी पुस्तकें हैं, जिनमे उसने वादविद्या और शारीरिक ब्रह्मवाद (नव-पियागोरीय) प्राकृतिक दर्शन-का जिक्र किया है। किन्तु अपने परिपक्व ज्ञानका परिचय उसने अरस्तूके ग्रन्थोके अध्ययन और व्याख्याओ मे दिया है, जिसके ही लिए उसे "द्वितीय अरस्तू" या 'हकीम सानी" (दूसरा आचार्य) कहा गया। अरस्तूके गभीर दर्शन और वस्तुवादी ज्ञान (साइस)का युरोपके पुनर्जागरण और

उसके द्वारा आधुनिक साइंस-युगके प्रवर्तनमें कितना हाथ है, इसे यहाँ कहने की जरूरत नही; और इसमे तो शक नही अरस्तूको पुनरुज्जीवित करने में फ़ाराबीकी सेवाएँ अमूल्य हैं। फाराबीने अरस्तूके ग्रन्थोंकी जो सख्या और क्रम निश्चित किया था, वह आज भी वैसा ही है। इसमे शक नही। इनमेंसे कुछ—"अरस्तूका धर्मशास्त्र"—अरस्तूके नामपर दूसरो की बनाई पुस्तके भी फाराबीने शामिल कर ली थी। फाराबीने अरस्तू के तर्क-शास्त्र के आठ,[1] साइसके आठ,[2] अधिभौतिक (अध्यात्म) शास्त्र,[3] आचार-शास्त्र,[4] राजनीति[5] आदि ग्रन्थोपर टीका और विवरण लिखे हैं।

फाराबीने वैद्यकका भी अध्ययन किया था, किन्तु उसका सारा ध्यान तर्कशास्त्र, अध्यात्मशास्त्र और साइस (भौतिकशास्त्र) पर केन्द्रित था।

३ – दार्शनिक विचार

ऊपर की पक्तियो के पढने से मालूम है, कि फाराबीको दर्शनकी तह-मे पहुँचनेका जितना अवसर मिला था, उतना उससे पहिले, तथा उसकी

---

१. Logic—मंतिक :	२. Physics—तबीआत :
1. The Categories	1. Auscultatis Physica
2. The Hermeneutics	2 De Coelo et mundo
3. The First Analytics	3. De Generatioe et Corruptione
4. The Second Analytics	4. The Meteorology
5. The Topics	5. The Psychology
6 The Sophistics	6. De Sensu et Sensato
7. The Rhetoric	7. The Book of Plant
8. The Poetics	8. The Book of Animals
३. Metaphysics	४. Ethics. ५ Politics.

सहायताको छोड़ देनेपर पीछे भी, किसी इस्लामिक दार्शनिक को नहीं मिला था। वक्षुतट, मेर्व, बगदाद, हलब, दमिश्क सभी दर्शनकी भूमियाँ थी, और फाराबीने उनसे पूरा फायदा उठाया था।

(१) **अफलातूँ-अरस्तू-समन्वय**—अफलातूँ का दर्शन अ-वस्तुवादी विज्ञानवाद है, और अरस्तू अपने सारे देवी-देवताओं तथा विज्ञान (नफ़्स) के होते भी सबसे ज्यादा वस्तुवादी है। फाराबी इस फर्कको समझ रहा था, और यदि निष्पक्ष साइंस भक्त होता, तो वह लीपापोती की कोशिश न करता, किन्तु फाराबीने अपने दिलको नव-अफलातूनी रहस्यवादी दर्शन-को दे रखा था, जब कि उसका सबल मस्तिष्क अरस्तूको छोड़नेके लिए तैयार न था; ऐसी हालतमें दोनोके समन्वय करनेके सिवा दूसरा कोई चारा न था। यही नही इस समन्वय द्वारा वह इस्लामके लिए भी गुंजाइश रख सका, जिससे वह काफिरोंकी गति भोगनेसे भी बच सका। फाराबी के अनुसार अफलातून और अरस्तूका मतभेद बाहरी वर्णनशैलीका है, दोनों का भाव एक है, दोनो उच्चतम दर्शन-ज्ञानके इमाम (ऋषि) हैं। इसके कहनेकी आवश्यकता नही कि फाराबीके हृदयमे जो सम्मान इन दो यूनानी दार्शनिकोंका था, वह किसी दूसरे के लिए नही हो सकता था।

(२) **तर्क**—फ़ाराबीके अनुसार तर्क सिर्फ प्रयोग (=दृष्टान्त)-सिद्ध विश्लेषण या ऊहा मात्र नही है। ज्ञानकी प्रामाणिकता तथा व्याकरण-की कितनी ही बातें भी तर्कके अन्तर्गत आती है। ज्ञात और सिद्ध वस्तुसे अज्ञात वस्तुका जानना—प्रमाण सिद्धान्त—तर्क है।

(३) **सामान्य (=जाति)**—यूनानी दर्शन और उससे ही लेकर पीछे भारतीय न्याय-वैशेषिक शास्त्रमे सामान्यको एक स्वतंत्र, वस्तुसत् पदार्थ सिद्ध करने की बहुत चेष्टाकी गई है। फाराबीने इसागोजी[1] पर लिखते वक्त एक जगह सामान्यके बारे में अपनी सम्मति दी है—सिर्फ वस्तु

---

१. Isagoge **पोर्फिरी (फोर्फोरियस) की पुस्तक, जो गलतीसे अरस्तूकी कृति मानी गयी।**

और इन्द्रिय प्रत्यक्षमे ही नहीं, बल्कि विचारमे भी हमे **विशेष** प्राप्त होता है। इसी तरह **सामान्य** भी वस्तु-व्यक्तियोमे केवल घटनावश ही नहीं रहता, बल्कि मनमे भी वह एक द्रव्यके तौरपर अवस्थित है। यह ठीक है कि मन वस्तुओसे लेकर सामान्य (गायपन) को कल्पित करता है, तो भी सामान्य उन वस्तु-व्यक्तियो (गाय-पिडो) के अस्तित्वमे आने से पहिले भी सत्ता रखता है, इसमे शक नही।

(४) **सत्ता**--सत्ता क्या है, इसका उत्तर फाराबी देता है--वस्तु-की सत्ता वस्तु अपने (स्वय) ही है।

(५) **ईश्वर अद्वैत-तत्त्व**--ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करने के लिए फाराबी सत्ताको इस्तेमाल करता है। सत्ता दो ही तरहकी हो सकती है--वह या तो आवश्यक है अथवा सभव (विद्यमान) है। जिस किसी वस्तु-की सत्ता सभव (विद्यमान) है, वह सभव नभी हो सकती है, यदि उसका कोई कारण हो। इस तरह हर एक सभव सत्ता कारणपूर्वक होती है। किन्तु कारणकी शृखलाको अनन्त तक नही बढ़ा सकते, क्योंकि आखिर शृखलाको बनानेवाली कड़ियाँ अनन्त नही सान्त हैं। और इस प्रकार हमारे लिए **आवश्यक** हो जाता है एक ऐसी **सत्ता** का मानना, जो स्वय कारण-रहित रहते सबका कारण है, जो कि अत्यन्त पूर्ण, अपरिवर्तनशील, आत्मतृप्त परमशिव, चेतन, परम-मन (विज्ञान) है। वह प्रकृतिके सभी शिव-सुन्दर रूपोको--जो कि उसके अपने ही रूप हैं--प्यार करता है। इस (ईश्वरकी) सत्ताके अस्तित्वको प्रमाण द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता, क्योंकि वह स्वय प्रमाण तथा सत्य--वास्तविकताको अपने भीतर रखते हुए स्वय भी वस्तुओका मूल कारण है। जैसे ऐसी सत्ताका होना आवश्यक है, वैसे ही उसका एक--अद्वैत--ही होना भी आवश्यक है। दो होनेपर उसमे समानताएँ, और असमानताएँ दोनो होंगी, जिसके कारण एक दूसरे की टक्करसे प्रत्येककी सरलता नष्ट हो जायेगी। परिपूर्ण सत्ताका एक होना आवश्यक है।

प्रथम सत्ता केवल एक तथा वस्तुसत् है, उसी को ईश्वर कहा जाता

है। सबके मूलकारण उस एक सत्तामें सभी वस्तुएँ एक हो जाती हैं, वहाँ किसी तरहका भेद नहीं रहता; इसीलिए ऐसी सत्ताका कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। तो भी मनुष्य उसके लिए सुन्दर भाव प्रकट करने वाले अच्छेसे अच्छे नामों का प्रयोग करते हैं; सुन्दरसे सुन्दर गुण या विशेषण उसके लिए प्रयुक्त करते हैं, किन्तु उन्हें काव्यकी उपमाके समान ही जानना चाहिए। परम तत्त्वके पूर्ण प्रकाशको हमारी निर्बल आँखें (=बुद्धि) देख नही सकती।—भूनोंकी अपूर्णता हमारी समझको अपूर्ण रखती है।

(६) **अद्वैत तत्त्वसे विश्वका विकास**—परम सत्ता, अद्वैत तत्त्व या ईश्वरसे विश्वके विकासको फाराबीने छै-छै सीढियों और श्रेणियोंमे विभक्त किया है, जिनमे पहिले निराकार षट्क है—

१ सर्वशक्तिमान कर्त्ता पुरुष ईश्वर जिसके बारेमे अभी कहा जा चुका है, और जिसमे ही (पियागोरीय) **आकृतियाँ** अनन्तकालमे वास करती है।

२ **कर्त्तापुरुषसे नौ फरिश्ते** या देवात्माये (आलम-अफलाक) प्रकट होती है; इनमेसे पहिली तो कर्त्तापुरुषके समान ही है, और वह (हिरण्य-गर्भ की भाँति) दूर तक ब्रह्माण्डका सचालन करती है। इस पहिली देवात्मा-से क्रमश एक के बाद दूसरे आठो फरिश्ते, देवात्माये या "अभिमानी" देवता प्रकट होते है।

यह दो श्रेणियाँ सदा एकरस बनी रहती है।

३. तीसरी श्रेणीमे क्रिया-परायण विज्ञान (नफ्स) है, जिसे पवित्र-आत्मा भी कहते है। यही क्रिया-परायण विज्ञान (=बुद्धि) स्वर्ग (= आकाश) और पृथ्वीको मिलाती है।

४ चौथी श्रेणी जीवकी है।

बुद्धि और जीव यह दो श्रेणियाँ एकरस अद्वैत स्वरूपमे न रहकर मनुष्यों-की सख्या के अनुसार बहुसंख्यक होती हैं।

५. **आकृति**—पियागोरकी आकृति जो भौतिक तत्त्वसे मिलकर भिन्न-भिन्न तरहकी वस्तुओंके बनानेमें सहायक होती है।

६. **भौतिक तत्त्व**—पृथ्वी, जल, आग, हवा निराकार रूपमें।

इनमें पहिले तीन—ईश्वर, देवात्मा, बुद्धि—सदा नफ़्स (=विज्ञान)-स्वरूप निराकार रहती हैं। पिछले तीन—जीव, आकृति, भौतिक तत्त्व —यद्यपि मूलतः निराकार—(अ-काय) है, तो भी शरीरको लेकर वह आपसमे सबध स्थापित करते है।

दूसरे साकार षट्क हैं —

१. देव-काय—शरीरधारी फरिश्ते।

२. मनुष्य-काय—शरीरधारी मानव।

३. पशु (तिर्यक)-काय—पशु, पक्षी आदि शरीरधारी।

४. वनस्पति-काय—वृक्ष, वनस्पति आदि साकार पदार्थ।

५. धातु-काय—सोना, चाँदी आदि साकार पदार्थ।

६. महाभूत-काय—पृथ्वी, जल, आग, हवा साकार रूपमे।

(७) **ज्ञानका उद्गम**—किन्दीकी भाँति फ़ाराबी भी ज्ञानको मानव-प्रयत्न-साध्य वस्तु न मानकर ऊपरसे—ईश्वर द्वारा—प्रदान की गई वस्तु मानता है। जीवकी परिभाषा करते हुए फ़ाराबी कहता है—वह जो शरीर (=काया) के अस्तित्वको पूर्णता प्रदान करता है; किन्तु जीवको जो चीज पूर्णता प्रदान करती है वह **विज्ञान** (अक्ल या नफ़्स) है, वही विज्ञान वास्तविक मानव है। यह **विज्ञान** (नफ़्स) शिशुके जीवमें मौजूद है, किन्तु उस वक्त वह सुप्त है, अर्थात् उसकी क्षमता अन्तर्हित होती है। इन्द्रियाँ और कल्पना शक्ति जब काम करने लगती है, तो बच्चेको साकार वस्तुओंका ज्ञान होने लगता है, और इस प्रकार सुप्त विज्ञान जागृत होने लगता है। किन्तु यह विज्ञान सुप्तावस्थासे जागृत अवस्थामे आना मनुष्य-के अपने प्रयत्नका फल नही है, बल्कि यह अन्तिम नवी देवात्मा—चन्द्र—से प्रकट होता है। देवात्मायें खुद स्वयभू नही है, बल्कि वह अपनी सत्ता के लिए मूल-विज्ञान (ईश्वर) पर अवलबित हैं।

(८) **जीवका ईश्वरसे समागम**—मूल-विज्ञान (=ईश्वर)मे समाना यही मानवका लक्ष्य है। फ़ाराबी इसे सभव कहता है—आखिर

मनुष्यका नफ़्स (=विज्ञान, अक्ल) अपने नजदीकके अन्तिम देवात्मा (चंद्र) से समानता रखता है, जिसमें समाना असंभव नही है, और देवात्मा में समाना मूल विज्ञान (=ईश्वर) में समानेकी ओर ले जानेवाला ही कदम है।

यह समाना किस तरहसे हो सकता है, इसके लिए फ़ाराबीका मत है—इस जीवनमें सबसे बढ़कर जो बात की जा सकती है, वह है बुद्धि-सम्मत ज्ञान। किन्तु जब आदमी मर जाता है, तो ऐसे ज्ञानी जीवको उसी तरहकी पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त होती है, जो कि नफ़्स (=विज्ञान) में ही संभव है। उस अवस्था—देवात्मामे समा जाने—के बाद वह पुरुष अपने व्यक्तित्व-को खो बैठता है, या वह मौजूद रहता है?—इसका उत्तर फ़ाराबी साफ तौर से देना नही चाहता।—मनुष्य मृत्यु के बाद लुप्त हो जाता है, एक पीढ़ी-के बाद दूसरी पीढी आती है। सदृशसे सदृश, प्रत्येक अपने जैसेसे मिलता है—ज्ञानी 'जीवों' के लिए देशकी सीमा नहीं है, इसलिए उनकी संख्या-वृद्धिके लिए कोई सीमाकी जरूरत नहीं, जैसे विचारके भीतर विचार शक्ति के भीतर शक्तिके मिलनेमें किसी सीमा या परिमितिकी जरूरत नहीं। प्रत्येक जीव अपने और अपने-जैसे दूसरोंपर ध्यान करता है। जितना ही अधिक वह ध्यान करता है, उतना ही अधिक वह आनन्द अनुभव करता है।

(९) **फलित ज्योतिष और कीमियामें अविश्वास**—फाराबीका काम स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तना उतना नहीं था, जितना कि अरस्तू जैसे महान् दार्शनिकोंके विचारोका विशदीकरण (समझाना); इसीलिए इस क्षेत्रमे उससे बहुत आशा नही रखनी चाहिए। फाराबी यद्यपि धर्म और रहस्य (सूफी) वादसे भयभीत था, तो भी उसपर तर्क और स्वतंत्र चिन्तन-ने असर किया था, जिसका ही यह फल था, कि वह फलित ज्योतिष और कीमिया (उस वक्तकी कीमिया जिसके द्वारा आसानीसे सस्ती धातुओं—ताँबे आदिको बहुमूल्य धातु—सोने—में बदलकर धनी बननेकी प्रवृत्ति लोगोंमे पाई जाती थी) को मिथ्या विश्वास समझता था।

४ – आचार-शास्त्र

फाराबी ज्ञानका उद्गम जीवसे बाहर मूल विज्ञान (=ईश्वर) मे मानता है, इसे बतला चुके है, ऐसी अवस्थामे ऐसी भी सभावना थी, कि फाराबी आचार—भलाई-बुराई, पुण्य-पाप—के विवेकको भी ऊपरसे हीं आया बतलाता; किन्तु यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि फाराबी मूल **विज्ञान**से विश्वकी उत्पत्तिको इस्लामके "कुन्" की भाँति अभावसे भावकी उत्पत्तिकी तरह नही मानता, बल्कि उसके मतसे विकास कार्य-कारण संबध-के साथ हुआ है, यद्यपि विज्ञानमे भौतिक तत्त्वकी ओरका विकास आरोह नही अवरोह क्रममे है, तो भी यह अपेक्षाकृत ज्यादा वस्तुवादी है, इसमे-सन्देह नही। कुछ भी हो, उसके "ज्ञानके उद्गम" के सिद्धान्तकी अपेक्षा आचारके उद्गमका सिद्धान्त ज्यादा बुद्धिपूर्वक है। ईश्वरवादी लोग ज्ञान-को किसी वक्त मानव बुद्धिकी उपज मानने के लिए तैयार भी हो सकते है, किन्तु आचार—पुण्य-पाप—के विचारका स्रोत वह हमेशा ईश्वरको ही मानते है। फाराबी इस बारेमे बिलकुल उलटा मत रखता है, वह ज्ञान-का स्रोत अ-मानुषिक मानता है, किन्तु आचार-विवेकको वह मानव-बुद्धि-का चमत्कार है—भले-बुरेकी तमीजकी ताकत बुद्धिमे है। ज्ञान को फाराबी कर्म (=आचार) से ऊपर मानता है, इसलिए भी वह उसका उद्गम मनुष्यसे ऊचा रखना चाहता है।

शुद्ध ज्ञानको फाराबी स्वास्थ्यकी भूमि बतलाता है, लेकिन यह शुद्ध ज्ञान ईश्वरपर निर्भर होनेसे उसीके अनुसार निश्चित है, जिसका अर्थ हुआ मानव स्वतत्रता भी ईश्वराधीन है—यह फाराबीका सीधा-सादा भाग्यवाद है— उसके हुकुमके बिना पत्ता तक हिलता नही।"

५ – राजनीतिक विचार

फाराबीने अफलातूँ के "प्रजातन्त्र" को पढा था, और उसका उसपर कुछ असर जरूर हुआ था, किन्तु वह अफलातूँ के जगत्—अथेन्स और उसके

प्रजातंत्र—को अपने सामने चित्रित नहीं कर सकता था। उसकी दृष्टिमें राजतंत्रके सिवा दूसरे प्रकारका शासन संभव ही नहीं—एक ईश्वरवादी धर्मके माननेवालोंके लिए एक शासन (राजतंत्र)-वादसे ऊपर उठना बहुत मुश्किल है। इसीलिए फ़ाराबी अफ़लातूंके बहुतसे दार्शनिकोंके प्रजातंत्रकी जगह एक आदर्श दार्शनिक राजाके शासनको समाजका सर्वोच्च ध्येय बताता है। मनुष्य जीवन-साधनों के लिए एक दूसरेपर अवलंबित है, और मनुष्योंमें कोई नैसर्गिक तौरसे बलशाली अधिक साधन-सम्पन्न होता है, कोई स्वभावतः निर्बल और अल्प-साधन; इसलिए, ऐसे बहुतसे लोगोंको एक बलशालीके अधीन रहना ही पड़ेगा। राज्यके भले-बुरे होनेकी कसौटी फ़ाराबी राजा के भले-बुरे होनेको बतलाता है। यदि राजा भलाइयोंके बारे में अनभिज्ञ, उलटा ज्ञान रखनेवाला है, या दुराचारी है, तो राज्य बुरा होगा। भला राज्य वही हो सकता है, जिसका राजा अफ़लातूं जैसा दार्शनिक है। आदर्श (दार्शनिक) राजा दूसरे अपने जैसे गुणवाले व्यक्तियोंको शासनके काममें अपना सहायक बनाता है।

फ़ाराबी एक ओर शासक राजाके निरंकुश—यदि अंकुश है तो दर्शन-का—शासनवाले अधिकारको कायम रखना चाहता है, किन्तु साथ ही एक आदर्शवादी दार्शनिक होने के कारण वह उसके कर्त्तव्य भी बतलाता है। सब कर्त्तव्यों—जिम्मेवारियों—का निचोड़ इसी विचारमें आ जाता है, कि राज्य का बुरा होना राजापर निर्भर है। मूर्ख राज्यमें प्रजा निर्बुद्धि हो, पशुकी अवस्थामें पहुँच जाती है। इसकी सारी जिम्मेवारी राजापर पड़ती है, जिसके लिए परलोकमें उसे यातना भोगनेके लिए तैयार रहना पड़ेगा। यह है कुछ विस्तृत अर्थ में—

"जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी।
सो नृप अवशि नरक-अधिकारी॥"—तुलसीदास

फ़ाराबीके राजनीतिक विचार व्यवहार-बुद्धिसे बिलकुल शून्य हैं, लेकिन इसके कारण भी थे। एक सफल वैद्य होनेसे वह व्यवहारके गुण-को बिलकुल जानता न हो यह बात नहीं हो सकती; यही कहा जा सकता

है, कि वह व्यवहारके जीवनसे दार्शनिक (व्यवहारशून्य मानसिक उड़ान-के) जीवनको ज्यादा पसन्द करता था। जब हम उसके जीवनकी ओर देखते है तो यह बात और साफ हो जाती है। उसका जीवन एक विचार-मग्न सूफी या बौद्ध भिक्षुका जीवन था। उसके पास सम्पत्ति नही थी, किन्तु मन उसका किसी राजासे कम न था। पुस्तकोंमे उसे अफलातूँ, अरस्तूका सत्सग, और तज्जन्य अपार आनन्द प्राप्त होता था। अपने बाग-के फूल और चिडियोके कलरव बाकी कमीको पूरा कर देते थे। यद्यपि सनातनी मुसलमान फाराबीको सदा काफिर कहते थे, किन्तु वह उनके ज्ञानके तलको बहुत नीचा समझता, उनकी रायकी कोई कदर नही करता था। उसके लिए यह काफी सन्तोषकी बात थी, कि पारखी व्यक्ति—चाहे वह कितने ही थोडे हो—उसकी कदर करते थे। वह उनके लिए महान् तत्त्वज्ञानी था। फाराबीका शुद्ध और सादा जीवन दूसरी तरहके मजहबी पक्षपातसे शून्य व्यक्तियोपर भी प्रभाव डाले बिना नही रह सकता था।

यह सब इसी बातको बतलाते है, कि दर्शनमे दूर हटे होनेपर भी फाराबीसे तत्कालीन समाज या शासनको कोई डर न था।

६ – फाराबीके उत्तराधिकारी

फाराबी जैसे एकान्तप्रिय प्रकृतिवाले विद्वानके पास शिष्योकी भारी भीड जमा नही हो सकती थी, इसीलिए उसके शिष्योकी सख्या बहुत कम थी। अरस्तूके कितने ही ग्रन्थोका अनुवादक अबू-जकरिया यह्या इब्न आदी—याकूबी पथका ईसाई—उसका शिष्य था। अनुवादक होनेके सिवा आदीमे स्वय कोई खास बात न थी, किन्तु उसका ईरानी शिष्य अबू-सुलैमान मुहम्मद (इब्न-ताहिर इब्न-बहराम अल्) सजिस्तानी एक ख्यात-नामा पडित था। दसवी सदीके उत्तरार्धमे सजिस्तानीकी शिष्य-मडली-मे बगदादके बडे-बडे विद्वान शामिल थे। सजिस्तानी-गुरु-शिष्य-मडली-के दार्शनिक पाठ और सवादके कितने ही भाग अब भी सुरक्षित है, जिसमे

पता लगता है कि उनकी दिलचस्पी दर्शनके गंभीर विषयोंमें कितनी थी। तो भी फ़ाराबीकी तर्कशास्त्रकी परंपरा आगे चलकर हमारे यहाँके नव्य-नैयायिकोंकी भाँति तत्त्व-चिन्तनकी जगह शाब्दिक बहसकी ओर ज्यादा बहक गई। सजिस्तानी-शिष्यमंडली वस्तुत. तर्कको दार्शनिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त करनेके लिए साधन न समझ, उसे दिमागी कसरत और बहसके लिए बहस करनेका तरीका समझती थी। उनमें जो तत्त्वबोधकी ओर रुचि रखते थे, उनके लिए सूफियोंका रहस्यवाद था ही, जिसकी मूलभुलैयाँके ताने-बाने तार्किकोंके तर्कसे भी ज्यादा सूक्ष्म थे। यह सूफी रहस्यवादकी ओरका झुकाव ही था, जिसके कारण कि (जैसा कि उसके शिष्य तौहीदी १००९ ई० ने लिखा है) अबू-सुलैमान सजिस्तानीके अध्ययन-अध्यापनमें एम्पेदोकल, सुक्रात, अफलातूँ—सभी रहस्यवादी समझे जानेवाले दार्शनिकों—की जितनी चर्चा होती थी, उतनी अरस्तूकी नहीं। सजिस्तानी-शिष्य-मंडलीमें देश-जाति-धर्मकी सकीर्णताका बिलकुल अभाव था, उनका विश्वास था कि यह विभिन्नताएँ बाहरी हैं, इन सबके भीतर रहनेवाला सत्य एक है।

§ ३—बू-अली मस्कविया (……-१०३० ई०)

फ़ाराबीके समयसे चलकर अब हम फिर्दौसी (९४०-१०२० ई०) (अबू रेहाँ अल्-) बैरूनी (९७३-१०४८) और महमूद गजनवी (मृ० १०३३ ई०)के समयमें आते हैं। अब विचारकी बागडोर ही नहीं शासनकी बागडोर भी नामनिहादी अरबोंके हाथसे अरब-भिन्न मुसलमान जातियोंके हाथमें चली गई है, और वह कबीलेशाही इस्लामकी समानता और भाईचारेके भावसे प्रभावित नीचेसे उठी लोकशक्तिको नये शासकों—जिनमें कितने ही गुलामीका मजा खुद चख चुके थे, या उनके बाप-दादोंकी गुलामी उनको भूली न थी—के नेतृत्वमें संगठित कर इस्लामकी अपूर्ण विजयको अलग-अलग पूरा करना चाहती है। यह समय है, जब कि इस्लामी तलवारका सीधा हिन्दू तलवारसे मुकाबिला होता है और हिन्दू-

रक्षक पर्वतमाला हिन्दूकुशका[1] नाम धारण करती है।—महमूद गजनवी काबुलके हिन्दूराज्यके विजयसे ही सन्तोष नही करता, बल्कि इस्लामके "झडे"को बुलन्द करनेके लिए भारतपर हमलेपर हमले करता है। ऊपरी दृष्टिसे देखनेपर यही शकल हमारे सामने आती है, जैसा कि हमारे विद्यालयोके इतिहासलेखक हमारे सामने उसे पेश करते हैं; किन्तु सतहसे भीतर जानेपर यह हिन्दू और इस्लामके झडोके झगडेका सवाल नही रह जाता—यद्यपि यह ठीक है, कि उस समय उसे भी ऐसा ही समझा गया था।

प्रारभिक इस्लामपर अरब कबीलाशाहीकी जबरदस्त छाप थी, इसका जिक्र पहले हो चुका है, साथ ही हम यह भी बतला चुके हैं कि दमिश्ककी खिलाफतने उस कबीलाशाहीको पहिली शिकस्त दी, और बगदादकी खिलाफतने उसे दफना दिया।—यह बात जहाँ तक ऊपर के शासकवर्गका सबध है, बिलकुल ठीक है। किन्तु कबीलाशाही कुरान अब भी मुसलमानो का मुख्य धर्मग्रन्थ था। उसकी पढाईका हर मस्जिद, हर मद्रसेमे उसी तरह का रिवाज था। अरबी कबीलोंके भीतर सरदार और साधारण व्यक्तियोकी जो समानता है, उसका न कुरानमे उतना स्पष्ट चित्रण था, और न उसका उदाहरण लोगोके सामने था—बल्कि खलीफो और धनी मुसलमानोका जो उदाहरण सामने था, वह बिलकुल उलटा रूप पेश करता था। हाँ, भाईचारे की बात कुरानमे साफ और बार-बार दुहराई गई थी, मस्जिदमे जुमाकी नमाजके वक्त सुल्तानोको भी इसे दिखलाना पडता था। जिन शक्तियोसे मुसलमानोका विरोध था, उनमे इस भाईचारेका ख्याल इतना खतम हो चुका था, उनका सामाजिक सगठन सदियोसे इस तरह विशृखलित हो चुका था, कि "हिन्दू झडे" या किसी दूसरे नामपर उसे लानेकी बात उस परिस्थिति मे कभी भी सभव न थी। इस्लामी झडा यद्यपि अब विश्वव्यापी (अन्तर्राष्ट्रीय) इस्लामी कबीलाका झडा नही था, तो भी वह

---

१. हिन्दूकुश (=हिन्दूकुश्त) जहाँ हिन्दुओंकी हत्या की गई थी।

ऐसे विचारोंको लेकर हमला कर रहा था, जिससे शत्रु देशके राजनीतिक ही नही सामाजिक ढाँचेको भी चोट पहुँच रही थी, और शोषणपर आश्रित सदियोकी वासीदा जात-पाँतकी इमारतकी नीव हिल रही थी।

मस्कवियाका जन्म एसे समय मे हुआ था।

१ – जीवनी

मस्कवियाके जीवनके बारेमे हमे बहुत मालूम नही है। वह सुल्तान अदूदद्दौला (व्वायही ?) का कोषाध्यक्ष था, और १०३० ई० मे, जब उसकी मृत्यु हुई, तो बहुत बूढा हो चुका था।

मस्कविया वैद्य था, दर्शनके अतिरिक्त इतिहास, भाषाशास्त्र उसके प्रिय विषय थे। किन्तु जिस कृतिमे उसे अमर किया है, वह है उसकी पुस्तक 'तहज़ीबुल-इख्लाक' (आचार-सभ्यता)। उसने इसके लिखनेमे अफलातूं अरस्तू, जालीनूस (गलेन)के ग्रन्थोको, इस्लामिक धर्मशास्त्रके साथ मिलाकर बडी सफलतासे इस्तेमाल किया। वह अपने विचारोमे अरस्तूका सबसे ज्यादा ऋणी है। मस्कवियाका यही तहज़ीबुल-इख्लाक है, जिसके आधारपर गजालीने अपने सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ "अह्या-उल्-उलूम"—को लिखा। मस्कवियाने आचार-सबधी रोगो (=दुराचार) को लोभ, कजूसी, लज्जा आदि आठ किस्मका बतलाया है। इन रोगोको दूर करनेके उसने दो रास्ते बतलाए हैं—(१)एक तो रोगसे उलटी ओषधि इस्तेमाल की जाये, कजूसी-के हटानेके लिए शाहखर्चीका हथियार इस्तेमाल किया जाये। (२) दूसरे, चूँकि सभी आचारिक रोगोके कारण क्रोध और मोह होते है, इसलिए इन्हे दूर करनेके उपाय इस्तेमाल किये जाय।

२ – दार्शनिक विचार

(मानव जीव)—मस्कविया मानव जीव और पशु जीवमे भेद करता है,

खासकर ईश्वरकी ओर मनुष्यकी बौद्धिक उडानको ऐसी खास बात समझता है, जिससे कि पशु-जीव को मानव-जीवकी श्रेणीमे नही रखा जा सकता।

मानव जीव एक ऐसा अमिश्रित निराकार द्रव्य है, जो कि अपनी सत्ता, ज्ञान और क्रियाका अनुभव करता है। वह अभौतिक, आत्मिक स्वभाव रखता है, यह तो इसीसे सिद्ध है कि जहाँ भौतिक शरीर एक दूसरेसे अत्यन्त विरोधी **आकारों**—काले, सफेद के ज्ञानो—मेसे सिर्फ एकको ग्रहण कर सकता है, वहाँ जीव (आत्मा) एक ही समय कई "आकारो"को ग्रहण करता है। यही नही वह इन्द्रिय-ग्राह्य तथा इन्द्रिय-अग्राह्य दोनों प्रकारके "आकारो"को अभौतिक स्वरूपमे ग्रहण करता है—इन्द्रियसे हम कलमकी लंबाई देखते हैं, किन्तु उसका "आकार"सा स्मृतिमे सुरक्षित होता है, वह वही भौतिक लबाई नहीं है। इसीसे सिद्ध है कि जीव भौतिक सीमासे बद्ध नही है। अतएव जीव के ज्ञान और प्रयत्न शरीरकी सीमासे बाहर तककी पहुँच रखते है, और बल्कि वह इन्द्रिय-गोचर जगत्की सीमासे भी पार पहुँचते हैं। सच और झूठका ज्ञान जीवमे सहज होता है, इन्द्रियाँ इस ज्ञानको नही प्रदान करतीं। इन्द्रियाँ अपने प्रत्यक्ष के द्वारा जिन विषयोंको उपस्थित करती हैं, उनकी विवेचना और निर्णय करते वक्त वह अपनी उसी सहज शक्तिसे काम लेती है। "मैं जानता हूँ" इसको जानना—"आत्म-चेतना"—इस बातका सबसे बडा प्रमाण है, कि जीव एक अभौतिक तत्त्व है।

३ – आचार-शास्त्र

(१) पाप-पुण्य—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अस्कबिया ज्यादा प्रसिद्ध है एक आचारशास्त्रीके तौरपर। आचार-शास्त्रमे पहिला प्रश्न आता है—शुभ (=भलाई, नेकी) क्या है? मस्कबियाका उत्तर है—जिसके द्वारा एक इच्छावान् व्यक्ति (=प्राणी) अपने उद्देश्य या स्वभावकी पूर्णताको प्राप्त करता है। नेक (=शुभ) होनेके लिए एक खास तरहकी योग्यता या रुझान होनी जरूरी है। लेकिन हम जानते हैं, हर मनुष्यमें

योग्यता एकसी नहीं है। स्वभावतः नेक मनुष्य बहुत कम होते हैं। जो स्वभावतः नेक हैं, वह बुरे नही हो सकते, क्योंकि स्वभाव उसीको कहते हैं जो बदलता नहीं। कितने ही स्वभावतः बुरे कभी अच्छे न होनेवाले मनुष्य भी हैं। बाकी मनुष्य पहिलेपहिल न नेक होते हैं न बद, वह सामाजिक वातावरण (संसर्ग) या शिक्षा-दीक्षाके कारण नेक या बद बन जाते है।

शुभ (= नेकी) दो तरहका होता है—साधारण शुभ, और विशेष शुभ। इसके अतिरिक्त एक परम शुभ है, जो कि सर्व महान् सत् (=ईश्वर) और सर्व महान् ज्ञानको कहते हैं। सभी शुभ मिलकर इसी परम शुभ तक पहुँचना चाहते हैं। हर व्यक्तिको किसी विशेष शुभके करनेसे उसके भीतर आनन्द या प्रसन्नता प्रकट होती है। यह आनन्द और कुछ नहीं अपने ही मुख्य स्वभावका पूर्ण और सजीव रूपमें प्राकट्य है, अपने ही अन्तस्तम अस्तित्वका पूर्ण अनुभव है।

(२) **समाजका महत्त्व**—मनुष्य उसी वक्त शुभ (नेक) और सुखी है, जब कि वह मनुष्यकी तरह आचरण करता है—शुभाचार मानव महनीयता है। मानव-समाजके सभी व्यक्ति एक समान नहीं हैं, इसीलिए शुभ, और आनन्द (=सुख) का तल सबके लिए एकसा नहीं है। यदि मनुष्य अकेला छोड़ दिया जाय, तो स्वभावतः जो मनुष्य न नेक है न बद, उसे नेक बननेका अवसर नहीं मिलेगा, इसीलिए बहुतसे मनुष्योंका इकट्ठा (=समाजमें) रहना जरूरी है; और इसके लिए पहिला कर्तव्य, तथा सभी शुभाचरणोंकी नीव है मानव-जातिके लिए साधारण प्रेम, जिसके बिना कोई समाज कायम नहीं रह सकता। दूसरे मनुष्योंके साथ और उनके बीच ही मनुष्य अपनी कमियोंको दूर कर पूर्णता प्राप्त कर सकता है, इसीलिए आचार वही हो सकता है, जो कि सामाजिक आचार है। इस तरह मित्रता आत्म-प्रेम (=अपने भीतर केन्द्रित प्रेम)का सीमा-विस्तार नहीं, बल्कि आत्म-प्रेमका संकोच है, वह अपनेपनकी सीमाके बाहर, अपने पड़ोसीका प्रेम है। इस तरहका प्रेम या मित्रता संसार-त्यागी एकान्तवासी साधुमें संभव नहीं है, यह संभव है, केवल समाज, या सामूहिक जीवनहीमें। जो

एकान्तवासी योगी समझता है, कि वह शुभ (=सदाचारी) जीवन विता रहा है, वह अपनेको धोखा देता है। वह धार्मिक हो सकता है किन्तु आचारवान् हर्गिज नही, क्योकि आचारवान् होनेके लिए समाज चाहिए।

(३) **धर्म (=मजहब)**—धर्म या मजहब, मस्कवियाके विचारसे लोगोको आचारकी शिक्षा देनेका तरीका है, उदाहरणार्थ, नमाज (=भगवान्की उपासना), और हज (=मक्काकी तीर्थयात्रा) पडोसी या लोकप्रेमको बडे पैमानेपर पैदा करनेका सुन्दर अवसर है।

साम्प्रदायिक सकीर्णताका अभाव और मानव-जीवनमे समाजका बहुत ऊँचा स्थान बतलाता है, कि मस्कवियाकी दृष्टि कितनी व्यापक और गभीर थी।

§४. बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०)

फाराबी अपने शान्त अतएव निष्क्रिय स्वभावके कारण चाहे दर्शन-क्षेत्रमे उतना काम न कर सका हो, जितना कि वह अपने गभीर अध्ययन और प्रतिभाके कारण कर सकता था, किन्तु वह एक महान् विद्वान् था, इसमे सन्देह नही। बू-अली सीनाके बारेमे तो हम कह सकते है, कि उसके रूपमे पूर्वी इस्लामिक दर्शन उन्नतिकी पराकाष्ठापर पहुँचा। बू-अली सीना मस्कविया (मृत्यु १०३० ई०), फिर्दोसी (९४०-१०२० ई०), अल्बैरूनी (९७३-१०४८) का समकालीन था, मस्कवियासे भेट और अल्बैरूनीसे उसका पत्र-व्यवहार भी हुआ था।

१ – जीवनी

अबू-अली अल्-हुसैन (इब्न-अब्दुल्ला इब्न-) सीनाका जन्म ९८० ई०मे बुखाराके पास अफ्शनमे हुआ था। सीनाके परिवारके लोग पीढियोसे सरकारी कर्मचारी रहते चले आए थे। उसने प्रारभिक शिक्षा घरपर पाई। यद्यपि मध्य-एशियाके इस भागमे इस्लामको प्रभुत्व जमाए प्राय. तीन सदियाँ हो गई थी, किन्तु मालूम होता है, यहाँकी सभ्य जातिके लिए

जितना अरबी तलवारके सामने सिर झुकाना आसान था, उतना अपने जातीय व्यक्तित्व (राष्ट्रीय सभ्यता)का भुलाना आसान न था। फ़ाराबीको हम देख चुके हैं, कैसे वह इस्लामकी निर्धारित सीमाको विचार-क्षेत्रमे पसन्द न करता था; फ़ाराबी भी सीनाका ही स्वदेश-भाई था। यही क्यो, फ़ाराबी और सीनाकी मातृभूमि—वर्त्तमान उज्बकस्तान सोवियत् प्रजातन्त्र—ने कितनी आसानीसे चंद वर्षोंके भीतर धर्म और मुल्लोंसे पिंड छुड़ा लिया, और आज उज्बक मध्य-एसियाकी जातियोंमें सबसे आगे बढ़े हुए माने जाते हैं; इससे यह भी पता लगता है, कि तेरह सदियोंमें इस्लामने वहाँके लोगोंकी जातीय भावनाको नष्ट करनेमे सफलता नहीं पाई। ऐसे सामाजिक वातावरणने सीनाके विचारोंके विकासमें कितना प्रभाव डाला होगा, यह आसानीसे समझा जा सकता है। सीनाने स्वय लिखा है, कि बचपनमें मेरे बाप और चचा नफ़सके सिद्धान्तपर बातनियोंके मतसे बहस किया करते थे, जिसे मैं बड़े ध्यानसे सुना करता।

प्रारम्भिक शिक्षाको समाप्तकर बू-अली मध्य-एसियाकी इस्लामिक नालन्दा बुखारा[1] मे पढ़नेके लिए गया। वहाँ उसने दर्शन और वैद्यकका विशेष तौरसे अध्ययन किया। "होनहार बिरवानके होत चीकने पात"—की कहावतके अनुसार अभी बू-अली जब १७ वर्षका तरुण था, उसी वक्त उसने स्थानीय राजा नूह इब्न-मंसूरको अपनी चिकित्सासे रोग-मुक्त किया। इस सफलतासे उसे सबसे ज्यादा फायदा जो हुआ वह यह था कि नूह-के पुस्तकालयका दर्वाजा उसके लिए खुल गया। तबसे सीना वैज्ञानिक अध्ययन या चिकित्सा-प्रयोगमें अपना गुरु आप बना, इसमे वह कितना सफल

१ बुखारा वस्तुतः बिहार शब्दका विकृत रूप है। नालन्दाके आर्य महाविहारकी भाँति वहाँ भी "नवविहार" नामक एक जबर्दस्त बौद्ध शिक्षणालय था; जिस तरह नालंदा जैसे बिहारोंने एक प्रान्तको बिहार नाम दिया, उसी तरह इस "नव विहार"ने नगरको विहार या बुखार नाम दिया।

हुआ, यह अगले पृष्ठ में बतलायेंगे। एक बात तो निश्चित है, कि अब तक चलते आए ढर्रेकी पढ़ाईसे इतनी कम आयुमे मुक्त हो जानेसे वह दर्शनमे टीकाकार और गतानुगतिक न बन, स्वतन्त्ररूपसे यूनानी दर्शनके तुलनात्मक अध्ययनसे अपनी निजी शैलीको विकसित कर सका।

किसी महत्त्वाकाक्षी विद्वान्‌के लिए अपने उद्देश्यकी सिद्धिके लिए उस वक्त ज़रूरी था कि वह किसी शासकका आश्रय ले। सीनाको भी वैसा ही करना पडा। सीना, हो सकता है, अपनी प्रतिभा और विद्वत्ताके कारण किसी बडे दरबारमे रसूख हासिल कर सकता, किन्तु उसमे आत्म-सम्मान और स्वतत्रताका भाव इतना अधिक था, कि वह बहुत बडे दरबारमे टिक न सकता था। छोटे दरबारोमे वह बहुत कुछ समानताके साथ निर्वाह कर सकता था, इसलिए उसने अपनी दौडको वही तक सीमित रक्खा। वहाँ भी, एक दरबारमे यदि कोई तबियतके विरुद्ध बात हुई तो दूसरा घर देखा। उसके काम भी भिन्न-भिन्न दरबारोंमे भिन्न-भिन्न थे, कही वह शासनका कोई अधिकारी बना, कही अध्यापक, और कही लेखक। अन्तमे चक्कर काटते-काटते हमदान (पश्चिमी ईरान) के शासक शमसुद्दौलाका वजीर बना। शम्सुद्दौलाके मरनेके बाद उसके पुत्रने कुछ महीनोके लिए सीनाको जेल मे डाल दिया—सीनाने खान्दान भर तो क्या उत्तराधिकारी तकको कोर्निश करनी नही सीखी थी। जेलसे छूटनेपर वह इस्पहाँके शासक अलाउद्दौलाके दरबारमे पहुँचा। अलाउद्दौलाने जब हमदानको जीत लिया, तो अबूसीना फिर वहाँ लौट गया। यही १०३७ ई०मे ५७ वर्षकी उम्रमे उसका देहान्त हुआ; हमदानमे आज भी उसकी समाधि मौजूद है।—हमदामन (इखबतन) ईरानके प्रथम राजवश (मद्रवश) के प्रथम राजा देवक (दयउक्कु, मृत्यु ६५५ ई० पू०) की राजधानी थी।

२ – कृतियाँ

सीनाने यूनानी दार्शनिकोकी कृतियोपर कोई टीका या विवरण नही लिखा। उसका मत था—टीकाये और विवरण ढेरकी ढेर मौजूद हैं,

जरूरत है उनपर विचार कर स्वतन्त्र निश्चयपर पहुँचनेकी। वह जिस निश्चयपर पहुँचा, उसे अपने ग्रन्थोंमें उल्लिखित किया। उसके दर्शनके ग्रन्थोंमें तीन मुख्य है—

(१) शफा, (चिकित्सा) (अबू-अबीद जोजजानीको पढ़ाते वक्त तैयार हुई)। (२) इशारात (=संकेत)। (३) नजात (=मुक्ति)।

इनमे "शफ़ा"के बारेमें उसने खुद कहा है, कि मैंने यहाँ अरस्तूके विचारोंको दर्ज किया है। तो भी इसका यह मतलब नही, कि उसमे उसने अपनी बातें नहीं मिलाई हैं। यहाँ "पैगंबरी" "इमामपन"की जो बहस छेडी है, निश्चय ही उसका अरस्तूके दर्शनसे कोई सम्बन्ध नही है। इसी तरह "इशारात"मे भी पैगंबरी, पाप (=बुराई) की उत्पत्ति, प्रार्थना-का प्रभाव, उपासना-कर्तव्य मोजजा (=चमत्कार) आदिपर जो लिखा है, उसका यूनानी दर्शनसे नही इस्लामसे सबध है। रोश्द (११२६-९८ ई०) सीनाका कड़ा समालोचक था, उसने जगह-जगह उदाहरण देकर बतलाया है कि सीना कितनी ही जगह अरस्तूके विरुद्ध गया, कितनी ही जगह उसने अरस्तूके भावोंको गलत पेश किया, और कितनी ही जगह अरस्तूके नामसे नई बातें दर्ज कर दीं। इन सबका अर्थ सिर्फ यही निकलता है कि सीनाकी तबियत में निरंकुशता थी।

सीना अपने जीवनके हर क्षणको बेकार नही जाने देता था। १७से ५७वर्षकी उम्र तकके ४० वर्षोंकी एक-एक घड़ियोंका उसने पूरा उपयोग किया। दिनमे वह सर्कारी अफसरका कर्तव्य पूरा करता या विद्यार्थियोको पढ़ाता, शामको मित्र-गोष्ठी या प्रेमाभिनयमें बिताता, किन्तु रातको वह हाथमें कलम, तथा नींद न आने देनेके लिए सामने मदिराका प्याला रखे बिता देता था। समय और साधनके अनुसार उसके ग्रन्थोंका विषय होता था। जब पर्याप्त समय तथा पासमे पुस्तकालय रहता, तो वैद्यक (=हिकमत) या दर्शनपर कोई बड़ा ग्रन्थ लिखनेमें लग जाता। जब यात्रामें रहता, तो छोटी-छोटी पुस्तकें लिखता। जेलमें उसने कवितायें तथा ध्यान (=रियाजत) पर लेखनी चलाई। उसकी कविताओं और

सूफी-निबधोंमें बहुत ही प्रसाद गुण पाया जाता है। पद्य-रचनापर उसका इतना अधिकार था, कि इच्छा होनेपर उसने साइस, वैद्यक और तर्ककी पुस्तकोंको भी पद्यमे लिखा। पारसी और अरबी दोनो भाषाओपर उसका पूर्ण अधिकार था।

३ – दार्शनिक विचार

सीना दार्शनिक और वैद्य (=हकीम) दोनों था। रोश्दने दर्शन-क्षेत्र-में उसकी कीर्तिछटाको मद कर दिया तो भी वैद्यकके आचार्यके तौर बहुत पीछे तक युरोप उसका सम्मान करता रहा।

(१) **मिथ्याविश्वास-विरोध**—सीना अपनेसे पहिलेके इस्लामिक दार्शनिकोसे कही ज्यादा फलित-ज्योतिष और कीमिया—उस वक्तके दो जबरदस्त मिथ्या विश्वासो—का सख्त विरोधी था। वह इन्हे निरी मूढ़ता समझता था, यद्यपि इसका अर्थ यह नही कि ओख मूँदनेके साथ ही लोग उसके नामसे इन विषयोपर ग्रन्थ लिखनेसे बाज आये हों।

हाँ, उसका बुद्धिवाद साइसवेत्ताओका बुद्धिवाद—प्रयोगसिद्ध सिद्धान्त ही सत्य—नही बल्कि दार्शनिकोका बुद्धिवाद था, जिसमे कि इन्द्रियोको गलत रास्तेपर ले जानेसे बचानेके लिए बुद्धिको तर्कके अस्त्रको चतुराईसे उपयोगपर जोर दिया गया है। तर्क बुद्धिके लिए अनिवार्यतया आवश्यक है, तर्ककी आवश्यकता सिर्फ उन्हीको नही है, जिनको दिव्यप्रेरणा मिली हो, जैसे अनपढ बद्दूको अरबी व्याकरणकी आवश्यकता नही।

(२) **जीव-प्रकृति-ईश्वरवाद**—फाराबीकी भाँति सीना प्रकृति (मूल भौतिक तत्त्व)को ईश्वरसे उत्पन्न हुआ नही मानता था, उसके विचारमे ईश्वर एक ऊँची हस्ती है, जिसे **प्रकृति**के रूपमे परिणत हुआ मानना उसे खीचकर नीचे लाना है, उसी तरह वह जीवको भी ईश्वरसे नीचे किन्तु प्रकृतिसे ऊपर तत्त्व मानता है। उसके मतसे ईश्वर जो सृष्टि करता है उसका अर्थ यही है, कि कर्त्ता (=भगवान) अनादि (अकृत) प्रकृतिको साकार रूप देता है। अरस्तू और सीनाके मतमे यहाँ थोडा अन्तर है।

अरस्तू प्रकृतिके अतिरिक्त आकृतिको भी अनादि (=अकृत) मानता है। और सृष्टि करनेका मतलब वह यही लेता है कि कर्त्ताने प्रकृति और आकृति-को मिलाकर साकार जगत् और उसकी वस्तुएँ बनाईं। सीना प्रकृतिको ही अनादि मानता है, और आकृतिको अकृत नहीं कृत (=बनाई हुई) मानता है। निश्चय ही यह सिद्धान्त सनातनी मुसलमानों के लिए कुफ़्रसे कम न था और यही समझकर ११५० ई०में बग़दादमें ख़लीफ़ा मुस्तन्जिद-ने सीनाके ग्रन्थोंको आगमें जलाया था।

(३) **ईश्वर**—अकृत (अनादि) प्रकृति निराकार है, उस अवस्थामें जगत् तथा उसकी साकार वस्तुओंका अस्तित्व नहीं हो सकता। इस नास्तित्वकी अवस्थासे जगत्‌को साकार अस्तित्वमें परिणत करनेके लिए एक सत्ताकी जरूरत है, और वही ईश्वर है। ईश्वरकी सिद्धिके लिए सीनाकी यह युक्ति अरस्तूसे भिन्न है, अरस्तूका कहना है कि प्रकृति और आकृति दोनों ही अनादि (अकृत) वस्तुएँ हैं, उसके ही मिलनेसे साकार जगत् पैदा होता है; इस मिलनेके लिए गतिकी जरूरत है, जो गति कि चिरकालसे जगत्‌में देखी जाती है, इस गतिका कोई चालक (=गतिकारक) होना चाहिए, जिसको ही ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर एक (अद्वितीय) है। उसमे बहुतसे विशेषण माने जा सकते हैं, किन्तु ऐसा मानते वक्त यह ख्याल रखना चाहिए, कि उनकी वजहसे ईश्वर-अद्वैतमे बाधा न पड़े।

(४) **जीव और शरीर**—यूनानी दार्शनिकों तथा उनके अनुयायी इस्लामी दार्शनिकोंकी भाँति सीनाने भी ईश्वरसे प्रथम विज्ञान (=नफ़्स), उससे द्वितीय विज्ञान आदिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है, जिसको बहुत कुछ रूखी पुनरावृत्ति समझकर हम यहाँ छोड़ देते हैं। सीनाने जीवका स्थान प्रकृतिसे ऊपर रक्खा है, जो कि भारतीय दर्शन (सेश्वर सांख्य) से समानता रखता है। उस समय, जब कि काबुलमें अभी ही अभी महमूदने हिन्दू-शासन हटाकर अपना शासन स्थापित किया था, किसी घूमते-फिरते योग (सेश्वर-सांख्य) के अनुयायीसे सीनाकी मुलाकात असंभव न थी, अथवा

अरबी अनुवादके रूपमें उसके पास कोई भारतीय दर्शनकी ऐसी पुस्तक भी मौजूद हो सकती है, जिससे कि उसने इन विचारोंको लिया हो। एक बात तो स्पष्ट है, कि सीनाके दर्शनमें सबसे ज्यादा जोर जीव (आत्मा) पर दिया गया है, किसी भी दार्शनिक विवेचनाके वक्त उसकी दृष्टि सदा मानव जीवपर रहती है। इसी जीवका ख्याल रखनेके कारण ही उसने अपने सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थका नाम "शफ़ा" (=चिकित्सा) रखा है, जिसका भाव है जीवकी चिकित्सा।

सीना शरीर और जीवको दो बिलकुल भिन्न पदार्थ मानता है। सभी पिंड भौतिक तत्त्वोंसे मिलकर बने है, मानव-शरीर भी उसी तरह भौतिक तत्त्वोंसे बना है, हाँ, वहाँ मात्राके सम्मिश्रणमें बहुत बारीकीसे काम लिया गया है। ऐसे मिश्रण द्वारा मानव जातिकी सृष्टि या विनाश यकायक किया जा सकता है। किन्तु जीव इस तरह भौतिक तत्त्वोंके मिश्रणसे नही बना है। जीव शरीरका अभिन्न अंश नही है, बल्कि उसका शरीरके साथ पीछेसे संयोग हुआ है। हरएक शरीरको अपना-अपना जीव ऊपरसे मिलता है। प्रारम्भसे ही प्रत्येक जीव एक अलग वस्तु है, शरीरमें रहते हुए सारे जीवनभर जीव अपने वैयक्तिक विकासको जारी रखता है।

मनन करना जीवकी सबसे बड़ी शक्ति है। पाँच बाहरी और पाँच भीतरी इन्द्रियाँ (=अन्त:करण[1]) जगत्का ज्ञान विज्ञानमय जीवके पास पहुँचाती है, जिसका अन्तिम ज्ञानात्मक निर्णय या बोध जीव करता है।

---

१. वेदान्तियोंके चार मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी भाँति सीनाने भी अन्तःकरणको पाँच भागोंमें बाँटा है, जो कि मस्तिष्कके आगे, बिचले और पिछले हिस्सेमें हैं, और वह हैं--(१) हिस्स-मुश्तरक (सम्मिलित अन्तः करण); (२) हिफ़्ज मज्मुई (ज्ञानमय) प्रतिबिंबोंकी सामूहिक स्मृति; (३) इद्राक् लाशऊरा (अंशोंका होशके बिना परिचय); (४) इद्राक् शऊरा (होशके साथ संपूर्णकर परिचय); (५) हिफ़्ज मआनी (उक्त परिचयोंकी स्मृति)।

बोध-शक्ति या बुद्धि जीवकी शक्तियोंकी चरमसीमा है। पहिले बुद्धिके भीतर चिन्तनकी छिपी क्षमता रहती है, किन्तु बाहरी भीतरी इन्द्रियों द्वाराप्रस्तुत ज्ञानसामग्री उसकी छिपी क्षमताको प्रकट—कार्यक्षमताके रूपमें परिणत कर देती है; लेकिन ऊपर आकृतिदाता (द्वितीय नफ़्स) की प्रेरणा भी शामिल रहती है; वही बुद्धिको विचार प्रदान करता है। मानव जीवकी स्मृति शुद्ध निराकार कभी नहीं होती, क्योंकि स्मृतिके होनेके लिए पहिले साकार आधार जरूरी है।

विज्ञानमय (मानव) जीव अपनेसे नीचे (भौतिक वस्तुओं)का स्वामी है, किन्तु ऊपरकी वस्तुओंका ज्ञान उसे जगदात्मा (=द्वितीय नफ़्स) द्वारा मिलता है। इस तरह ऊपर नीचेके ज्ञानोंको पाकर मनुष्य वास्तविक मनुष्य बनता है, तो भी साररूपेण वह (मानव जीव) एक अमिश्रित, अनश्वर, अमृत वस्तु है। जबतक मानव-जीव शरीर और जगत्मे रहता है, तबतक वह उनके द्वारा अधिक शिक्षित, अधिक विकसित होनेका अवसर पाता है, किन्तु जब शरीर मर जाता है, तो जीव जगदात्माका समीपी-सा ही बना रहता है। यही जगदात्माकी समीपता—समान नहीं—नेक ज्ञानी जीवोंकी धनधान्यता है। दूसरे जीवोंको यह अवस्था नही प्राप्त होती, उनका जीवन अनन्त दु खका जीवन है। जैसे शारीरिक विकार रोगको पैदा करता है, उसी तरह जीवकी विकृत अवस्थाके लिए दंड होना जरूरी है। स्वर्ग फल भी मानव-जीवको उसी परिमाणमें मिलता है, जिस परिमाणमे कि उसने अपने आत्मिक स्वास्थ्य—बोध—को इस शरीरमे प्राप्त किया है। हाँ, उच्चतम पदपर पहुँचनेवाले थोड़े ही होते हैं, क्योंकि सत्यके शिखरपर बहुतोके लिए स्थान नहीं है।

(५) **हईकी कथा**[1]—हमारे यहाँ जैसे "संकल्प सूर्योदय" जैसे नाटक या कथाएँ वेदान्त या दूसरे आध्यात्मिक विषयोंको समझानेके लिए लिखी गई हैं, सीनाने भी "हई इब्न-यकजान" या "प्रबुद्ध-पुत्र जीवक" की कथाको

---

१. एक हईकी कथा तुफ़ैल (देखो पृष्ठ २०४) ने भी लिखी है।

लिखकर उसी शैलीका अनुसरण किया है। जीवक अपनी बाहरी और भीतरी इन्द्रियोंकी सहायतासे पृथिवी और स्वर्गकी बातोंको जाननेकी कोशिश करता भटक रहा है। उसे उत्साहमे तरुणोंको मात करनेवाला एक वृद्ध मिलता है। यह वृद्ध और कोई नही, एक ज्ञानी गुरु—दार्शनिक—है; जो कि पथ-प्रदर्शककी भाँति भटकनेका रास्ता बतलाना चाहता है। वृद्धका नाम है हई, और वह जागृत (=प्रबुद्ध) का पुत्र है। भटकते मुसाफिरके सामने दो मार्ग हैं—(१) एक पश्चिमका रास्ता है जो कि सासारिक वस्तुओं और पापकी ओर ले जाता है, (२) दूसरा उगते सूर्यकी ओर ले जाता है, यह है सदा शुद्ध आकृतियो, और आत्माका मार्ग। हई मुसाफिरको उगते सूर्यकी ओर ले जानेवाले मार्गपर चलनेको कहता है। दोनो साथ-साथ आगे बढते हुए उस दिव्य ज्ञान-वापीपर पहुँचते है, जो चिरन्तारुण्य का चश्मा है, जहाँ सौंदर्यकी यवनिका सौंदर्य, ज्योतिका घूँघट ज्योति है, जहाँ कि वह **अनन्त रहस्य** वास करता है।

(६) **उपदेशमे अधिकारिभेद**—जीव और प्रकृतिको भी ईश्वरकी भाँति ही सनातन मानना, कुरानकी बातोकी मनमानी व्याख्या करना जैसी बहुतसी बाते सीनाकी ऐसी थी, कि वह कुफ्रके फतवेके साथ जिन्दा दफना दिया जा सकता था, इस खतरेको सीना समझता था। इसीलिए उसने इस बातपर बहुत जोर दिया है, कि सभी तरहका ज्ञान या उपदेश सबको नही देना चाहिए। ज्ञान प्रदान करते वक्त गुरुका काम है, कि वह अपने शिष्की योग्यताको देखे, और जो जिस ज्ञानका अधिकारी हो उसको वही ज्ञान दे। पैगबर मुहम्मद अरबके खानाबदोश बद्दुओंको सभ्य बनाना चाहते थे, उन्होने देखा कि बद्दुओ को आत्मिक आनन्द आदिकी बाते बतलाना "भैंस के सामने बीन बजाना" होगा, इसलिए उन्होंने उनसे कहा "कयामत (=अन्तिम निर्णय) के दिन मुर्दे जिन्दा हो उठेंगे।" बद्दूओने समझा, हमारा यह प्रिय शरीर सदाके लिए बिछुडनेवाला नही, बल्कि वह हमें फिर मिलनेवाला है और यह उनके लिए आशा और प्रसन्नता की बात थी। इसी तरह बहिश्त (=स्वर्ग) की दूध-शहदकी नहरे, अँगूरोके बाग, हूरे (=अप्सरायें)

वद्दुओंके चित्तको आकर्षित कर सकती थीं। मगर इन बातोंको यदि किसी ज्ञानी, योगी, दार्शनिकके सामने कहा जाय तो वह आकर्षण नहीं, घृणा पैदा करेंगी। ऐसे व्यक्ति भगवान्की उपासना किसी स्वर्ग या अप्सराकी कामनासे नहीं करते, बल्कि उसमें उनका लक्ष्य होता है भगवत्-प्रेमका आनन्द और ब्रह्म-निर्वाण (=नफ़सकी आजादी)की प्राप्ति।

(अल्-बेरूनी ९७३-१०४८ ई०)

महमूद गज़नवीके समकालीन पंडित अबू-रेहाँ अल्बेरूनीका नाम भारतमें प्रसिद्ध है। यद्यपि अपने ग्रन्थों—खासकर "अल्-हिन्द"—में उसने दर्शनका भी जिक्र किया है, किन्तु उसका मुख्य विषय दर्शन नहीं बल्कि गणित, ज्योतिष, भूगोल, मानवशास्त्र थे। उसका दार्शनिक दृष्टिबिन्दु यदि कोई था, तो यही जो कि उसने आर्यभट्ट (४७६ ई०)के अनुयायियोंके मतको उद्धृत करके कहा है—

"सूर्यकी किरणें जो कुछ प्रकाशित करती हैं, वही हमारे लिए पर्याप्त है। उनसे परे जो कुछ है, और वह अनन्त दूर तक फैला हो सकता है, लेकिन उनका हम प्रयोग नहीं कर सकते। जहाँ सूर्यकी किरणें नहीं पहुँचतीं, वहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं, और जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं उसे हम जान नहीं सकते।"

ख. धर्मवादी दार्शनिक

§५. ग़ज़ाली (१०५९-११११ ई०)

अब हम उस युगमें हैं जब कि बगदादके खलीफ़ोंका सम्मान शासकके तौरपर उतना नहीं था, जितना कि धर्माचार्यके तौरपर। विशाल इस्लामिक राज्य छिन्न-भिन्न होकर अलग-अलग सल्तनतोंके रूपमें परिणत हो गया था। इन सल्तनतोंमें सबसे बड़ी सल्तनत, जो कि एसियामें थी, वह

थी सल्जूकी तुर्कोंकी सल्तनत। इस सल्तनतके बानी तोग्रल बेग (१०३७-६२ ई०)ने ४२९ हिज्री (१०३६ ई०)मे सीस्तानकी राजधानी तूसपर अधिकार कर लिया, और धीरे-धीरे सारे ईरानको विजय करते ४४७ हिज्री (१०५४ ई०) मे इराक (बगदादवाले देश) का भी स्वामी बन गया। तोग्रलके बाद अल्प असंलन् (१०६२-७२ ई०), फिर बाद मलिकशाह प्रथम (१०७२-९२ ई०) शासक बना। मलिकशाहके शासनमे सलजूकी-सल्तनतका भाग्य-सूर्य मध्याह्नपर पहुँचा हुआ था। मलिकशाहके राज्यकी पूर्वी सीमा जहाँ काशगरके पास चीनसे मिलती, वहाँ पश्चिममे वह यरूशलम और कुस्तुन्तुनिया तक फैली हुई थी। यही तुर्कोंके शासनका प्रारम्भ है, जो कि अन्तमे तुर्कीके तुर्कोंके शासन और खिलाफतका अग्रदूत बना।

इस्लामके इन चिरशासित मुल्कोमे अब इस्लामकी प्रगतिशीलता खतम हो चुकी थी; अब वह दीन-दरिद्रोका बधु तथा पुराने सामन्तवंशो तथा धनी पुरोहितोका सहारक नही रह गया था। अब उसने खुद सामन्त और पुरोहित पैदा किये थे, जो पहिलेसे कम खर्चीले न थे, खासकर नये सामन्त तो शौक और विलासप्रियतामे कैसरो और शाहशाहोका कान काटते थे। (गजालीके समकालीन सुल्तान सजर सलजूकीने एक गुलाम लडकेके अप्राकृतिक प्रेममे पागल हो उसे लाखोकी जागीर तथा सात लाख अशर्फियाँ दे दी थी)। साधारण जाँगर चलानेवाली जनताके ऊपर इससे क्या बीत रही थी, यह गजालीके उस वाक्यसे पता लगता है, जिसे कि उसने सुल्तान सजर (१११८-५७ ई०) से कहा था—"अफसोस मुसलमानो (=मेहनत करनेवाली साधारण जनता) की गर्दनें मुसीबत और तकलीफसे टूटी जाती है और तेरे घोडोकी गर्दनें सोनेके हमेलोके बोझसे दबी जा रही है।" धर्म-पुरोहितो (=मौलवियो) के बारेमे गजाली भी कहता है—"ये (मुल्ला) लोग इन्सानी सूरतमे शैतान (शया-तीन्-उल्-उन्स) है, जो कि स्वय पथभ्रष्ट हैं, और दूसरोको पथभ्रष्ट करते है। आजकलके सारे धर्मोपदेशक ऐसे ही हैं, हाँ, शायद

किसी कोनेमें कोई इसका अपवाद हो, किन्तु मुझको कोई ऐसा आदमी मालूम नहीं।"[१]

"पंडित-पुरोहित (=उलमा) . . सुलतानो और अमीरोंके वेतनभोगी बन गए थे। जिसने उनकी ज़बाने बन्द कर दी थी। वह प्रजापर होते हर प्रकारके अन्याय, अत्याचारको, अपनी आँखो देखते और जीभ तक नही हिला सकते थे। सुल्तान और अमीर हदसे ज्यादा विलासी और कामुक होते जाते थे। . . . . किन्तु पडित-पुरोहित रोक-टोक नही कर सकते थे।"[२]

१—जीवनी

मुहम्मद (इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद इब्न-मुहम्मद) ग़ज़ालीका जन्म ४५० हिजरी (१०५९ ई०) मे तूस (सीस्तान) शहरके एक भाग ताहिरान-मे हुआ था। इनके घरवालोका खान्दानी पेशा सूत कातना (=कोरी या तँतवा) का था, जिसे अरबीमें ग़ज़ल कहते हैं, इसीलिए उन्होने अपने नामके साथ ग़ज़ाली लगाया। ग़ज़ाली छोटे ही थे, तभी उनके बापका देहान्त हो गया। ग़ज़ालीका बाप स्वयं अनपढ़ था, किन्तु उसे विद्यासे बहुत प्रेम था, और चाहता था कि उसका लडका विद्वान् बने, इसीलिए मरते वक्त उसने मुहम्मदको उसके छोटे भाई अहमदके साथ एक दोस्तके हाथमें सौंपते हुए उनकी शिक्षाके लिए ताकीद की थी। ग़ज़ालीका घर गरीब था। उनके बापका दोस्त भी धनी न था। इसलिए बापकी छोडी सम्पत्तिके खतम होते ही दोनों भाइयोंको खैरातकी रोटीपर गुजारा करके अपनी पढ़ाई जारी रखनी पडी। शहरकी पढाई खतम कर गज़ालीको आगे पढ़नेकी इच्छा हुई और उसने जर्जानमे जाकर एक बडे विद्वान् अबू-नस्र इस्माइलीकी शिष्यता स्वीकार की। उस समय पढ़ानेकी यह शैली थी, कि अध्यापक पाठ्य विषयपर जो बोलता जाता था, विद्यार्थी उसे लिखते

---

१. "अह्याउल्-उलूम्"।

२. 'अल्-ग़ज़ाली'—शिब्ली नेअमानी (१९२८ ई०), पृष्ठ १९४

जाते थे। सौभाग्यसे सातवीं सदीसे ही, जब कि अरबोंने समरकंदपर अधिकार किया, इस्लामिक देशोंमें कागजका रवाज हो गया था, यद्यपि अभी तक नालदाके विद्यार्थी तालपत्र और लकड़ीकी पट्टीसे आगे नहीं बढ़े थे। गज़ालीने इस्माइलीसे जो पढ़ा, उसे वह कागजपर लिखते गये थे। कुछ समय बाद जब वह अपने घर लौट रहे थे तो रास्तेमें डाका पड़ा और ग़ज़ालीके और सामानमे वह खर्रे भी लुट गए। ग़ज़ालीसे रहा न गया, और उसने डाकुओंके सरदारके पास उस कागजको दे देनेके लिए प्रार्थना की। डाकू सरदारने हँसकर कहा—"तुमने क्या खाक पढ़ा है? जब तुम्हारी यह हालत है कि एक कागज न रहा, तो तुम कोरे रह गए।" किन्तु कागज उसने लौटा दिए।

गज़ालीकी पढाई काफी आगे बढ चुकी थी, और अब छोटे-मोटे विद्वान् उसे सन्तुष्ट न कर सकते थे। उस वक्त नेशापोर (ईरान) और बगदाद (इराक) दो शहर विद्याके महान् केन्द्र समझे जाते थे; जिनमें नेशापोरमें इमाम अब्दुल्मलिक हरमैन और बगदादमे अबू-इस्हाक शीराजी विद्याके दो सूर्य माने जाते थे। नेशापोर ग़ज़ालीके ही प्रान्त (खुरासान) में था, इसलिए गज़ालीने नेशापोर जाकर हरमैनकी शागिर्दी स्वीकार की।

अरबोंने ईरानपर जब (६४२ ई०) अधिकार किया था, उस वक्त भी नेशापोर एक प्रसिद्ध नगर तथा शिक्षा-संस्कृतिका केन्द्र था; इसीलिए वहाँ बेहकियाके नामसे जो मदरसा खोला गया था, वह बहुत शीघ्रतासे उन्नति करके एक महान् विद्यापीठके रूपमें परिणत हो गया, और इस्लामके सबसे पुराने मदरसे निज़ामिया (बगदाद)का मुकाबिला कर रहा था। हरमैन बेहकिया तथा निज़ामिया (बगदाद)के विद्यार्थी रह चुके थे। अबुल्-मलिक, हरमैन (मक्का-मदीना) मे जाकर कुछ दिनों अध्यापन करते थे, इसीलिए हरमैन उनके नामके साथ लग गया था। सुल्तान अलप अर्सलन सलजूकी (१०६२-७२ ई०)का महामंत्री पीछे निज़ामुल-मुल्क बना। यह स्वयं विद्वान्—हसन बिन्-सब्बाह (क़िल्-उल्-मौतके संस्थापक) और (उमर-खय्यामका सहपाठी) तथा विद्वानोंकी इज्जत करता था।

हरमैनकी विद्वत्ताको वह जानता था, इसलिए उसने नेशापोरमे अपने नाम-पर एक खास विद्यालय—मद्रसा निज़ामिया—बनवाकर हरमैनको वहाँ प्रधान अध्यापक नियुक्त किया।

गज़ाली हरमैनके बहुत प्रतिभाशाली छात्रोंमे थे। हरमैनके जीवनमें ही उसके योग्य शिष्यकी कीर्ति चारो ओर फैलने लगी थी। ग़ज़ालीकी शिक्षा समाप्त हो गई थी, तो भी वह तब तक अपने अध्यापकके साथ रहे, जब तक कि ४७८ हिजरी (१०८५ या १०८७ ई०) में हरमैनका देहान्त न हो गया। ग़ज़ालीकी आयु उस वक्त अट्ठाईस सालकी थी।

ग़ज़ाली बड़े महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति थे, और महत्त्वाकाक्षीकी पूर्तिके लिए जरूरी था कि दरबारका वरदहस्त प्राप्त हो। इसलिए कितने ही सालोके बाद गज़ालीने दरबारमें जाना तै किया। निजामुलमुल्क उनके ही शहर तूसका रहनेवाला था, और विद्वानोंका सम्मान तथा परख करनी भी जानता था। निज़ामुल्-मल्कने दरबारमें आनेपर ग़ज़ालीका बड़ा सम्मान किया और बडे-बड़े विद्वानोंकी सभा करके गज़ालीकी विद्वत्ता देखनेके लिए शास्त्रार्थ कराया। ग़ज़ाली विजयी हुए और ३४ वर्षकी उम्रमें इस्लामी दुनियाके सबसे बडे विद्यापीठ बगदादके मद्रसा निज़ामिया-के प्रधानाध्यापक बनाए गए। उमादी-उल्-अव्वल ४८४ हिजरी (१०९१ या १०९३ ई०) को जब वह बगदादमें दाखिल हुए, तो सारे शहरने उनका शाहाना स्वागत किया। यद्यपि अब वास्तविक राजधानी नेशापोर थी, और बगदाद का खलीफा बहुत कुछ सलजूकियोंका पेशनख्वार-सा रह गया था, तो भी बगदाद अब भी विद्याकी नगरी थी।

४८५ हिजरी (१०९२ ई०) मे मलिक शाह सलजूकी मर गया, उस वक्त उसकी प्रभावशाली बेगम तुर्कान खातूनने अमीरों और दरबारियों-को इस बातपर राजी कर लिया कि गद्दीपर उसका चार सालका बेटा महमूद (१०९२-९४ ई०) बैठे, और साथ ही खलीफाके सामने यह भी माँग पेश की, कि खुत्बा (=शुक्रवारके नमाज़के बाद शासक खलीफाके नामका पाठ) भी उसीके नामसे पढ़ा जाय। पहिली बातको तो खलीफा मुक्तदरने

डर कर मान लिया, किन्तु दूसरी बातका मानना बहुत मुश्किल था, इसके लिए खलीफाने गजालीको तुर्फान खातूनके दरबारमे भेजा, और गजालीके व्यक्तित्व और समझाने-बुझानेका यह असर हुआ, कि तुर्फान खातूनने अपने आग्रहको छोड दिया।

१०९४ ई० मे मुक्तदरके बाद मुस्तजहर खलीफा बना। गजालीपर मुस्तजहरकी खास कृपा थी। उस वक्त बातनी (=इस्माइली) पथका जोर फिर बढने लगा था, बगदाद हीमे नही, और जगहोपर भी। ग्यारहवी सदीमे मिश्रपर फातमी खलीफोंका शासन था, वह सभी बातनी थे। काहिराका गणितज्ञ दार्शनिक अबू-अली मुहम्मद (इब्नुल्-हसन) इब्नुल्-रहीम (मृत्यु १०३८ ई०) बातनी था। ईरानमे इस्माइली बातनियो-का नेता हसन बिन-सब्बा (जो कि निजामुल्-मुल्कका सहपाठी था) ने एक स्वर्ग (किल-उल्-मौत) कायम किया था, और उसका प्रभाव बढता ही जा रहा था। गजालीने बातनियोके प्रभावको कम करनेके लिए एक पुस्तक लिखी, जिसका नाम खलीफाके नामपर "मुस्तजहरी" रखा।

बगदादकी परपरा उसकी स्थापनाके समय (७६२ ई०)मे ही ऐसी बन चुकी थी, कि वहॉ स्वतत्र विचारोंकी लहरको दबाया नही जा सकता था। तीन सदियोमे वहॉ ईसाई, यहूदी, पारसी, मोतजली, बातनी, सुन्नी सभी शान्तिपूर्वक साधारण ही नही बौधिक जीवन बिताते आ रहे थे; एकाएक खिलाफतके उस गाम-गुजर जमानेमे, सीना और हसीमकी पुस्तको-की होली भले ही कभी जला दी जाय, किन्तु अब उस विचार-स्वातन्त्र्य-की लहरको दबाना उतना आसान न था। सनातनी इस्लामके जबरदस्त समर्थक अशअरीके अनुयायी गजाली पहिले जोशमे आकर भले ही 'मुस्त-जहरी' लिख डाले, अथवा "मजालिसे गजालिया' मे विरोधियोपर बडे-बडे वाग्-बाण बरसा जाये, किन्तु यह अवस्था देर तक नही रह सकती थी। गजालीने खुद लिखा है—[1]

---

१ "मुनक्कज-मिनल्-जलाल"।

"मैं एक-एक बातनी, ज़ाहिरी, फिलसफी (=दर्शनानुयायी), मुत्-कल्लिम (=वादविद्यानुयायी), ज़िन्दीक (=नास्तिक) से मिलता था, और उनके विचारोंको जानना चाहता था। चूँकि मेरी प्रवृत्ति आरम्भ से ही सबके खोजकी ओर थी, इसलिए धीरे-धीरे यह असर हुआ, कि आँख मूँदकर पीछे चलनेकी बान छूट गई। जो (धार्मिक) विश्वास बचपनसे सुनते-सुनते मनमे जम गए थे, उनसे श्रद्धा उठ गई। मैंने सोचा—इस तरहके अन्धानु-सरण करनेवाले (धार्मिक) विश्वास तो यहूदी, ईसाई, सभीके पास हैं. . . और (अन्तमें) किसी बातपर विश्वास नहीं रहा। करीब दो महीने तक यही हालत रही। फिर खुदाकी मेहरबानीसे यह हालत तो जाती रही, किन्तु भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासोंके प्रति सन्देह अब भी बना रहा। उस वक्त .. चार सम्प्रदाय मौजूद थे—मुत्कल्लिम्, बातनी, फिल्सफा (=दर्शन) और सूफी। मैंने एक-एक सम्प्रदायके बारेमें जानकारी प्राप्त करनी शुरू की। .. अन्तमें मैंने सूफी मतकी ओर ध्यान दिया। जुनेद, शिब्ली, बायज़ीद, बस्तामी—सूफी आचार्योंने जो कुछ लिखा था, उसे पढ डाला।.. लेकिन चूकि यह विद्या वस्तुत. अभ्यासकरने की विद्या है, इसलिए सिर्फ पढनेसे कुछ फल नही प्राप्त हो सकता था। अभ्यासके लिए तप और सयमकी ज़रूरत है।.. (सब सोचकर) दिलमे ख्याल आया, कि बगदादसे निकल खड़ा होऊँ, और सभी सबधोंको छोड दूँ। (किन्तु) दिल किसी तरह मानता न था, कि ऐसे ऐश्वर्य और सम्मानको तिलाजलि दे दूँ। इस तरहकी चिन्तासे नौबत यहाँ तक पहुँची कि ज़बान रुक चली, पढ़ानेका काम बन्द हो गया, धीरे-धीरे पाचनशक्ति जाती रही, अन्तमे वैद्योंने दवा करना छोड़ दिया. ..।"

गज़ालीका अपना विश्वास पुराने इस्लामकी शरीअतपर दृढ था, जो कि बिलकुल श्रद्धापर निर्भर था। यह श्रद्धामय धर्मवाद पहिली अवस्था थी। इसपर बुद्धिवादने प्रहार करना शुरू किया, जिसका असर जो हुआ वह बतला चुके हैं। अब ग़ज़ालीके सामने दो रास्ते थे, एक तो बुद्धिको तिलाजलि देकर पहिलेके विश्वासपर कायम रहना, दूसरा

रास्ता था, बुद्धि जहाँ ले जाय वहाँ जाना। गज़ालीने बगदादके सुख-ऐश्वर्यके जीवनको छोड़कर अपनी शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता और त्यागका परिचय दिया, किन्तु बुद्धि अपने रास्तेपर ले जानेके लिए जो शर्त रख रही थी, वह इस त्याग और शारीरिक कष्टसे कही कठिन थी। उसमे नास्तिक बनकर "पडित", मूर्ख सबकी गालियाँ सहनी पडती, उसके नाम पर थू-थू होती। सत्य-शक्तिपर विश्वास न होनेसे वह यह भी ख्याल कर सकता था कि हमेशाके लिए दुनियाके सामने उसके मुँहपर कालिख पुत जायेगी, और निज़ामियाके प्रधानाध्यापककीका सुख-ऐश्वर्य ही नही छिनेगा बल्कि शरीरको सरेबाजार कोडे खानेके लिए भी तैयार होना पडेगा। यदि बुद्धिके रास्तेपर पूरे दिलसे जानेका सकल्प करते तो गजालीको इन सबके लिए तैयार रहना पड़ता। गज़ाली न पूर्ण मूढ़ विश्वासको अपना सकते थे, और न केवल बुद्धिपर ही चल सकते थे, इसलिए उन्होने सूफियोंके रास्तेको पकडा, जिसमे यदि दिखावेके लिए कुछ त्याग करना पडता है, तो उससे कई गुना मानसिक सन्तोष, सम्मान, प्रभावका ऐश्वर्य मिलता है। दिक्कत यही थी, कि बुद्धिके प्रखर तेजको रोका कैसे जाये, इसके लिए आत्म-सम्मोह[1] की जरूरत थी, जो एक बुद्धिप्रधान व्यक्तिके लिए कडवी गोली जरूर थी, किन्तु आ पडनेपर आदमी आत्महत्या भी कर डालता है।

आखिर चार वर्ष के बगदादके जीवनको आखिरी सलाम कह ४८८ हिजरी (१०९५ ई०) मे ३८ वर्षकी उम्रमे कमली कधेपर रख गज़ालीने दमिश्कका रास्ता लिया। दमिश्कमे दो साल रहनेके बाद वह यरूशिलम आदि घूमते-घामते हजके लिए मक्का मदीना गये। मक्कामे बहुत समय तक रहे। इसी यात्रामे उन्होंने सिकन्दरिया और काहिराको भी देखा। ४९९ हिजरी (११०६ ई०) मे जब वह पैगबर इब्राहीमके जन्मस्थान खलीलामे, थे तो उसी वक्त उन्होने तीन बातोकी प्रतिज्ञा ली थी—

(१) किसी बादशाहके दरबार में न जाऊँगा।

---

१. Self-hypnotisation.

(२) किसी बादशाहके धनको स्वीकार न करूँगा।

(३) किसीसे वाद-विवाद (=शास्त्रार्थ) न करूँगा।

यरूशिलममें ईसाकी जन्मकुटी (भेड़ोंका घर, जहाँ ईसा पैदा हुए थे) में एक बार इस्माइल हाकमी, इब्राहीम शब्बाकी, अबुल्-हसन बस्री आदि सूफ़ियोंके साथ सत्संग चल रहा था, उसी वक्त ग़ज़ालीके मुँहसे एक पद्य[1] निकला, जिसपर बस्रीको समाधि लग गई, जिससे सबपर भारी प्रभाव पड़ा और बहुतोंने अपने गरीबाँ (=कपड़ेके कोर) फाड़ डाले।

इसी जीवनमें ग़ज़ालीने अपनी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक "अह्याउल्-उलूम" लिखी।

"हज करनेके बाद घरबारके आकर्षणने (ग़ज़ालीको) जन्मभूमिमे पहुँचाया।"[2] और फिर मेरे एक दोस्तके अपने बारेमे हालके लिखे पत्रके अनुसार ग़ज़ालीको "फिर वही....चहारदीवारी, फिर वही खूँटा, वही पगहा, वही गाय और वही बैल! बहुत दिन उन्मुक्त रहनेके बाद .. स्वयंवृत्त बन्धन", लेकिन मेरे दोस्तकी भाँति ग़ज़ालीका "दम घुटने लगा" ऐसा पता नहीं लगता। आखिर सूफ़ीवादमें वेदान्तकी भाँति यह करामात है, कि जब चाहे किसी बातको बन्धन बना दे, और जब चाहे उसे मुक्त कर दे।

ग़ज़ाली अब घर-बारवाले थे। ४९९ हिजरी (११०६ ई०) के ग्यारहवें महीनेमे फिर उन्होंने नेशापोरके निज़ामिया विद्यालयमें अध्यापन शुरू किया, किन्तु वहाँ ज्यादा दिन तक न रह सके। निज़ामुल्-मुल्क्-

---

१. "फ़िह्ंतक लौ लल्-हुब्ब कुन्तो फ़िह्ंत-नी।
 व-लाकिन वेसेह् वल्-मुक़्लतीन सब्बैत-नी॥
 अतयक् लेमा जाक़ सब्री अनिल्-हवा।
 व लौ कुन्तो तब्‌री कंफ़ा शौक़ी अतैत-नी॥"
 —अह्याउल्-उलूमकी टीका।

२. "मुनक़ज़ मिनल्-ज़लाल"।

का बडा बेटा फखरुल-मुल्क सजर सलजूकीका महामत्री बना था। उस वक्त एक बातनियो (इस्माइलियों, आगाखाँके पूर्वज हसन बिन-सब्बाहके अनुयायियों) का जोर बढ रहा था, यह बतला चुके है। उनके खिलाफ कलम ही नही बल्कि हुकूमतकी तलवार भी इस्तेमाल हुई, जिसपर बातनियोने भी अपना जबरदस्त गुप्त सगठन (=असेसिन) बनाया, और ५०० हिजरी (११०७ ई०) मे फखरुल्-मुल्क उनकी तलवार का शिकार हुआ। सब्बाहका "किल-उल्-मौत" ही नही नेशापोर भी असेसिनोका गुप्त गढ बनता जा रहा था, इसलिए गजालीने उसे छोडना ही पसन्द किया।

गजाली अब एकान्त जीवन पसन्द करते थे, किन्तु उनसे ईर्ष्या रखनेवालोकी भी कमी न थी। उन्होने गजालीकी किताबोको उलट-पलटकर यह कहना शुरू किया कि गजाली जिन्दीको-मुल्हिदों (दो नास्तिक मतो)-की शिक्षा देता है। चाहे सुल्तान सजर खुद अप्राकृतिक अपराधका अपराधी हो, किन्तु वह अपना यह कर्त्तव्य समझता था, कि इस्लामकी रक्षाके लिए गजाली जैसोकी खबर ले। सजरने गजालीको दरबार मे हाजिर होनेके लिए हुक्म दिया। गजाली मशहद-रजा (=वर्तमान मशहद शहर) तक गया, और वहाँसे सुल्तानके पास पत्र लिखा[1]—

"बिस्त साल दर-अय्याम सुल्तान शहीद (=मलिकशाह) रोजगार गुजाश्त। व अज्-ओ व-इस्पहान व बगदाद अकबालहा दीद, व चद बार मियाने-सुल्तान व अमीरुल्मोमिनीन रसूल बूद् दर्-कारहाये-बुजुर्ग। व दर्-उलूमे-दीन नज्दीक हफ्ताद् किताब तस्नीफ कर्द। पस् दुनियारा चुनाँकि बवद् बदीद, व ब-जुम्लगी ब-यन्दाख्त। व मुद्दते दर-बैतुल्-मुकद्दस्, व मक्का कयाम कर्द। व बर्-सरे मशहदे-इब्राहीम खलीलुल्लाह अह्द कर्द, कि हर्गिज पेश्-हेच् सुल्तान न रवद् व माले-हेच्-मुल्तान न गीरद्, व मुनाजिरा व तअस्सुब न कुनद्। द्वाजदह साल बरी वफा कर्द। व

---

१. "मुकातिबात् गजाली"।

अमीरुल्-मोमिनीन् व यमा सुल्तानां दुआगोमरा मअजूर दाश्तन्द। इकनूं शुनीदम् कि अज्-मज्लिसे-आली इशारते रफ़्ता अस्त-ब-हाज़िर आम्दान। फर्मारा ब-मश्हद आम्दम्, व निगह् दाश्त अहदे-ख़लीलरा बलश्करगाह न याम्दम् ।"

जिसका भाव यह है कि आपके पिता मलिकशाहके शासनमे मैंने बीस साल गुजारे, अस्फ़हान (सल्जूकी राजधानी) और बगदादमे (शाही) अकबाल देखे। कितनी ही बार सुल्तान (सल्जूकी) और खलीफा (अमीरुल्मनीन्) के बीच बडे-बडे कामोंके लिए दूत बनकर काम किया। धर्मकी विद्याओकी सत्तरके नज्दीक पुस्तकें लिखीं .मुद्दतों यरूशिलम, और मक्कामें वास किया। इब्राहीम अल्लाहके दोस्तके शहीद-स्थानपर प्रतिज्ञा की. (१) कभी किसी सुल्तानके सामने न जाना, (२) किसी सुल्तानके धनको नही ग्रहण करना, (३) शास्त्रार्थ और हठधर्मी नही करनी। बारह साल तक इस (प्रतिज्ञा) को पूरा किया। खलीफा तथा सारे सुल्तानोंने (इस) दुआ करनेवाले (फ़कीर) को माफ़ किया। अब सुना है कि सरकार ने सामने आनेके लिए हुक्म निकाला है। हुक्म मानकर मश्हद-रजा तक आया हूँ। खलील (स्थान) पर ली हुई प्रतिज्ञाके ख्यालसे लश्करगाह नहीं आया।

किन्तु गज़ालीकी सारी प्रार्थना व्यर्थ गई, प्रतिज्ञाको तोड़कर उन्हे लश्करगाह ही नही सजरके दरबारमे जाना पड़ा गज़ालीके जनतापर प्रभाव, विद्वत्ता तथा पीछेके कामोंको देखकर सजरने उनका सम्मान किया। सजरके दरबारके दबदबेका कहते हैं, गज़ालीपर इतना रोब छाया, कि वह होश-हवास खोने लगे थे। खैर, यह पीछेके लेखकोकी कारस्तानी है, ग़ज़ालीके लिए ऐसे दरबारोंमे जाना कोई नई बात नहीं थी। सजरके बर्त्तावसे गज़ालीकी जानमे जान ही नही आई, बल्कि उनकी हिम्मत कुछ खरी-खरी सुनानेकी भी हुई, उसीमे सुनहरी हमेलोंके भारसे घोड़ोंकी गरदन दबनेकी बात भी थी। संजरका खान्दान हन्फ़ी मतको मानता था। ग़ज़ालीपर यह भी आरोप था, कि उसने इमाम हनीफाको बुरा-भला

कहा है। ग़ज़ालीने अपनी सफाई देते हुए कहा—"मैने (अपनी) किताब अह्याउल्-उलूममें लिखा है, कि मैं उन (हनीफ़ा) को फ़िक़ा (=धर्म-मीमासा-शास्त्र) मे दुनियामे चुना हुआ (अद्वितीय) मानता हूँ।" खैर! गजालीने जवानीके जोशमे किसीके खिलाफ चाहे कुछ भी लिखा हो, किन्तु अब वह वैसी तबियत नही रखते थे। जैसे-तैसे मामला शान्त हो गया।

बगदाद को जब गजालीने छोडा था, तबसे उनकी विद्वत्ताकी कीर्ति बहुत बढ़ गई थी, और खलीफा तथा बगदादके दूसरे विद्याप्रेमी हाकिम और अमीर इस बात की बहुत जरूरत महसूस करते थे कि गज़ाली फिर मद्रसा निज़ामियाकी प्रधानाध्यापकी स्वीकार करे। इसके लिए खलीफाका सारे दरबारियोके हस्ताक्षरसे गजालीके पास पत्र आया। सजरके महामंत्रीने बडे जोर शोरकी सिफारिश की, किन्तु गजाली तैयार न हुए, और निम्न कारण बतलाते हुए माफी माँगी—(१) मेरे डेढ सौ विद्यार्थियोको तूससे वहाँ जाना मुश्किल है, (२) मैं पहिलेकी भाँति अब बेबालबच्चेका नही हूँ, वहाँ जानेपर घरवालोको कष्ट होगा, (३) मैंने शास्त्रार्थ तथा वाद-विवाद न करनेकी प्रतिज्ञा की है, जिससे बगदादमे बचा नही जा सकता।

गजालीकी अन्तिम पुस्तक "मुस्तफ़्सी" है, जिसे उन्होने मरनेसे एक साल पहिले ५०४ हिजरी (१११ ई०) मे लिखा था। १४ जमादी द्वितीय वृहस्पतिवार ५०५ हिजरी (१९ दिसम्बर ११११ ई०) को तूसमे उनका देहान्त हुआ।

२ – कृतियाँ

५०० हिजरी (११०७ ई०) के आसपास जब कि गज़ालीने संजरको अपना प्रसिद्ध पत्र लिखा था, उस वक्त तक वह सत्तरके करीब पुस्तकें लिख चुके थे, यह उनके ही लेखसे मालूम होता है। उसके बादके चार सालोंमे उनका लिखना बन्द नही हुआ। एक तरह बीस वर्षकी आयुसे अपने ५४वें ५५वे वर्ष तक (जब कि वह मरे)—लगातार ३४, ३५ वर्ष—उनकी लेखनी चलती रही। अल्लामा शिब्ली नेअमानीने अपनी पुस्तक

"अल्-ग़ज़ाली" में उनकी ७८ पुस्तकोंकी सूची दी है जिनमें कुछ तो कई-कई जिल्दोंमें हैं। उनके ग्रन्थ मुख्यतः फ़िक़ा (=धर्म-मीमांसा), तर्कशास्त्र, दर्शन, वाद-शास्त्र (=कलाम), सूफीवाद (=अद्वैत ब्रह्मवाद) और आचार-शास्त्रसे संबंध रखते हैं।

ग़ज़ालीकी सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं—

१. अह्याउल्-उलूम् (सूफी, आचार)
२ जवाहरुल्-क़ुरान (सूफी, आचार)
३. मक़ासिदुल् फ़िलासफ़ा (=दर्शनाभिप्राय) (दर्शन)
४ मइयारुल् इल्म (तर्क)
५. तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (=दर्शन-खडन) (वाद)
६. मुस्तस्फ़ी (फिक़ा, धर्ममीमासा)

अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-सजीवनी) और तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (=दर्शन-खंडन) गज़ालीकी दो सर्वश्रेष्ठ किताबे हैं, जिनमें अह्याउल्उलूम्को दूसरा "क़ुरान" समझा जाता है।

(१) अह्याउल्-उलूम् (=विद्या-संजीवनी)— गज़ालीके अह्याउल्-उलूम्के कुछ प्रशंसापत्र सुन लीजिए—

(क) प्रशंसापत्र—ग़ज़ालीके समकालीन तथा हरमैनके पास साथ पढ़े अब्दुल्-गाफिर फ़ार्सीका कहना है—"अह्याउल्-उलूम् जैसी कोई किताब उससे पहिले नही लिखी गई।"

इमाम नूदी "मुस्लिम्" (हदीस) के टीकाकारका उद्गार है—"अह्याउल्-उलूम् क़ुरानके लगभग है।"

शेख अबू-मुहम्मद कारज़द्नीने कहा है—"यदि दुनियाकी सारी विद्याएँ (=उलूम) मिटा दी जायें तो अह्याउल्-उलूम्से सबको जिन्दा कर दूँगा।"

प्रसिद्ध सूफी शेख अब्दुल्ला ईदरदसको अह्याउल्-उलूम् कंठस्थ-सी थी।

शेख अली दूसरे सूफ़ीने पचीस बार अह्याउल्-उलूम्का अखंड पाठ

किया, और हर बार पाठकी समाप्तिपर फ़कीरो और विद्यार्थियों को भोज दिया।

कुतुव शाजली बहुत पहुँचे हुए सूफी समझे जाते थे, एक दिन अह्याउल्-उलूम्को हाथमे लिए "जानते हो, यह क्या किताब है ?" कह बदनपर कोडोकी मारका दाग दिखला कर बोले—"पहिले मैं इस किताबसे इन्कार करता था। आज रातको मुझे इमाम गज़ालीने आँ-हज़रत (=पैगंबर मुहम्मद) के दरबारमे पेश किया, और इस अपराधकी सजा मे मुझे कोडे लगाए गए।"

शेख मुहीउद्दीन अकबर जगद्विख्यात सूफी गुजरे है। वह अह्याउल्-उलूम्को काबा (मक्का) के सामने बैठकर पढा करते थे।

यह तो खैर, "घरवालो" के मुँहसे अतिरंजित प्रशंसा होनेके कारण उतनी क़ीमत नही रखेगा, किन्तु पिछली सदीके प्रसिद्ध "दर्शन इतिहास" के लेखक जार्ज हेनरी लेविस्का कहना है[1]—

"अगर द-कार्त (१५९६-१६५० ई०) के समयमे अह्याउल्-उलूम्का अनुवाद फ्रेंच भाषामे हो चुका होता, तो लोग यही कहते कि द-कार्तने अह्याउल्-उलूम्से चुराया है।"

(ख) आधार ग्रन्थ—अह्याउल्-उलूम् या विद्याओंको सजीवित करनेवाली विद्या-सजीवनी कहिए—मे यद्यपि दर्शन, आचार और सूफी ब्रह्मवाद सब मिले हुए है, किन्तु मुख्यत वह आचार-शास्त्रका ग्रंथ है। आचारशास्त्रमे गजालीके वक्त यूनानी ग्रथोके अनुवाद तथा स्वतत्र ग्रथ मौजूद थे, जिनमे दार्शनिक मस्कविया (मृ० १०३० ई०) की पुस्तक "तहजीबुल-इखलाक" (आचार-सभ्यता) का जिक्र भी हो चुका है। सबसे पहिले अरस्तूने इस विषयपर दो पुस्तके (आचार-शास्त्र) लिखी, जिसपर पोर्फोरि (फोर्फोरियस) ने टीका लिखी थी। हनैन इब्न-इस्हाकने अरस्तूको

---

1. History of Philosophy (G. E. Lewis, 4th edition), p. 50.

पुस्तकका अरबीमें अनुवाद किया था। मशहूर यूनानी वैद्य जालीनूस (=गलेन) ने भी इस विषयपर एक पुस्तक "मनुष्य अपने दोषोंको कैसे जान सकता है" के नामसे लिखी थी, जिसका अनुवाद भी शायद अरबीमें हो चुका था, मस्कविया (१०३० ई०) ने इसके उद्धरण अपने ग्रन्थमे जगह-जगह दिये है।

यूनानी पुस्तकोसे प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न ग्रंथकारोने इस विषयपर अरबीमे निम्न पुस्तके लिखी —

१. "आराउल्-मदीनतुल्-फाज़िला" फ़ाराबी (८७०-९५० ई०) राजनीति भी है।

२. "तहज़ीबुल्-इखलाक" मस्कविया (मृ० १०३० ई०)

३ "अकबर वल्-इस्म" बू-अली सीना (९८०-१०३७ ई०)।

यह तीनों पुस्तकें यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति बहुत कुछ मजहबसे स्वतत्र रहकर लिखी गई है।

४ "कूवतुल्-कुलूब", अबूतालिब मक्की (मजहबी ढगपर)।

५ "जरिया इला मकारिमु'श्-शरीअत्" रागिब इस्फहानी (मजहबी ढग पर)।

इन पाँच पुस्तकोंमेंसे "तहज़ीबुल्-इखलाक़" और "कूवतुल्-कुलूब" से तो बहुतसी बाते बिलकुल शब्दश ली गई हैं।[1] और ढग (मजहब आचारशास्त्र) तो मक्कीकी किताब जैसा है।

(ग) लिखनेका प्रयोजन—हम बतला चुके हैं कि अह्याउल्-उलूम्-को ग़ज़ालीने उस वक्त लिखा जबकि उनपर सूफ़ीवादका भूत बडे जोरसे सवार था, और वह कमली ओढे अरब—शाम—की खाक छान रहे थे। उन्होंने ब्रह्मानदको छोड़ इस पुस्तकको लिखनेके लिए कलम क्यो उठाई, इसका उत्तर ग़ज़ालीने स्वय ग्रन्थके प्राक्कथनमे लिखा है—

---

१. अल्लामा शिब्ली नेअमानीने अपनी पुस्तक "अल्-ग़ज़ाली" (उर्दू) में इसके कई उदाहरण दिये हैं।

"मैंने देखा कि रोग सारी दुनियापर छा गया है, और चरम (आत्मिक पारलौकिक) सदाचारके रास्ते बद हो गए है। जो विद्वान् मार्ग समझाने-वाले थे, उनसे दुनिया खाली होती जा रही है। जो रह गए है वह नामके विद्वान् हैं; निजी स्वार्थोमे फँसे हुए है; और उन्होने सारी दुनियाको यह विश्वास दिला रखा है, कि विद्या सिर्फ तीन चीजोका नाम है, शास्त्रार्थ, कथा-उपदेश और फतवा ("व्यवस्था")। रही आखिरत (=परलोक) की विद्या वह तो ससारसे उठ गई है, और लोग उसको भूल-भुला चुके हैं।

इसी रोगको दूर करने या "भूल-भुलाई" (मृत) विद्याओको सजीवन देनेके लिए गजालीने "विद्यासजीवनी" लिखनेके लिए लेखनी उठाई।

(घ) ग्रन्थकी विशेषता--गज्जालीने "विद्यासंजीवनी" की कई विशेषतायें विस्तारपूर्वक लिखी है, उनके बारेमे सक्षेपमे कहा जा सकता है--
(१) ग्रथकारने विद्वानो और साधारण पाठको दोनोंकी समझमे आनेके ख्यालसे बहुत सीधी-सादी भाषा (अरबी) का प्रयोग किया है, साथ ही उसके दार्शनिक महत्त्वको कम नही होने दिया है। मस्कवियाकी किताब "अन्-तहारत्" को पढनेके लिए पहिले भाषाकी दुरारोह दीवार-को फाँदना पडेगा, तब अर्थपर पहुँचनेके लिए मगज-पच्ची करनी होगी--यह नारियलके भीतर बद सूखी गरी है, किन्तु गजालीकी पुस्तक पतले छिलकोका लँगडा आम है। (२) इसमे अधिकारिभेद --गृहस्थ और गृहत्यागी (=अविवाहित रहनेवाली सूफी) आदि--का पूरा ख्याल रखकर उनके योग्य आचार-नियमोकी शिक्षा दी गई है। (३) उठने-बैठने, खाने-पीने जैसे साधारण आचारोपर भी व्यापक दृष्टिसे लिखा गया है। (४) क्रोध, आकाक्षा आदिको सर्वथा त्यागके उपदेशसे मनुष्यकी उपयोगी शक्तियोको कमजोर कर जो निराशावाद, अकर्मण्यता फैलाई जाती है, उसके खिलाफ काफी युक्तियुक्त बहस की गई है। यहाँ हम पिछली दो बातोंके कुछ नमूने पेश करते है--

१. **(साधारण सदाचार)**--मेजपर खाना खाना, छलनी (से आटा छानना), अश्नान (=साबुनका काम देनेवाली घास) और पेट भर

खाना—इन चार चीजोंके बारेमें पुराणपंथी मुसलमान विद्वान् यह कहकर नाक-भौं सिकोड़ते थे, कि यह पैगंबरके बाद पैदा हुए बुरे व्यवहार हैं। इसपर गजालीने लिखा—"दस्तरखान (=सामने बिछी चादर) पर खाना अच्छा है, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि सन्दली (=मेज़) पर खाना बुरा या हराम है, क्योंकि इस तरहका कोई हुकुम शरीअत (=धार्मिक पुस्तको) में नही आया है।.. मेजपर खानेमे (फायदेकी) यह बात है, कि खाना जमीनसे जरा ऊँचा हो जाता है, और खानेमे आसानी होती है ...। अश्नान (=घास) से हाथ धोना तो अच्छी बात है, क्योंकि इसमें सफाई और शुद्धता (रहती) है। खाना खानेके बाद हाथ धोनेका हुक्म (जो शरीअतने है, वह) सफाईके ख्यालसे ही है, और अश्नानसे धोनेमे और ज्यादा सफाई है। पुराने जमानेमें (पैगंबरके समय) यदि इसका उपयोग नही किया जाता था, तो इसकी यह वजह होगी कि उस जमाने मे उसका रिवाज न था, या वह मिलती न होगी। या (मिथ्याविश्वासके कारण) वह हाथ भी नही धोते थे, और तलवोंमे हाथ पोछ लिया करते थे; लेकिन इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि हाथ धोना ठीक नही।"

खानेके तरीकेमे कितनी ही बाते पश्चिमसे लेते हुए लिखा है—"खाना किसी ऊँची चीजपर रखकर खाना चाहिए। खाने बारी-बारीसे आने चाहिएँ। जूसवाला (सूप आदि) खाना पहिले आना चाहिए। यदि अधिक मेहमान आ चुके हैं, और सिर्फ एक-दो बाकी हों तो खाना शुरू कर देना चाहिए। खानेके बाद मेवे या मिठाई आनी चाहिए।" अनुकरणीय उदाहरणके तौरपर पेश करते हुए लिखते है—"बाज लोगोंके यहाँ यह तरीका था, कि सारे खानोके नाम पर्चेपर लिखकर मेहमानोके सामने पेश किये जाते थे।"

२. उद्योगपरायणता और कर्मण्यतापर जोर—बच्चोकी प्रारंभिक शिक्षामे सैर, शारीरिक व्यायाम, मर्दाना खेलोंको रखना ग़ज़ाली जरूरी समझते हैं। उन्होंने गानेको मनबहलावकी बात कह उसके औचित्यको यह कहकर साबित किया है कि पैगंबरने खुद हब्शियोंके खेलको

देखा था। इसके अतिरिक्त मैं कहता हूँ कि खेलकूद या मनोविनोद दिलको ताजगी देता है, उससे दिमागी थकावट दूर हो जाती है। मनका यह स्वभाव है कि जब वह किसी चीजसे घबरा जाता है, तो अंधा हो जाता है, इसलिए उसको आराम देना, इस बातके लिए तैयार करना है कि वह फिर कामके योग्य बन जाये। जो आदमी रात-दिन पढ़ा करता है उसको चाहिए कि किसी-किसी समय खाली बैठे, क्योंकि काम करनेके बाद खाली बैठना और खेल-कूद करना आदमीको गंभीर काम करनेके लिए फिर तैयार कर देता है।"

इस तरह गज़ाली शरीरको कर्मण्य रखनेके लिए गाना, कसरत, खेलकूदकी सिफारिश करते हुए फिर उसके वास्ते मानसिक शक्तियोंके इस्तेमालके लिए इस प्रकार जोर देते है—"क्रोधकी शक्तिको नष्ट करना आचारकी शिक्षा नही है। आचार-शिक्षाका अभिप्राय यह है, कि आदमी-मे आत्मसम्मान और सच्चा शौर्य पैदा हो, यानी न डरपोकपन आये न गुंडापन। क्रोधको बिलकुल नष्ट करना कैसे अभिप्रेत हो सकता है, जब कि खुद वन्दनीय पैगंबर लोग गुस्सेसे खाली न थे। आँ-हजरत (=पैगंबर मुहम्मद) ने स्वय फरमाया है—'मैं आदमी हूँ, और मुझको भी उसी तरह गुस्सा आता है जिस तरह और आदमियोको।' आँ-हजरतकी यह हालत थी कि जब आपके सामने कोई अनुचित बात की जाती तो आपके गाल लाल हो जाते थे, हाँ यह अन्तर जरूर था, कि गुस्साकी हालतमे भी आपके मुखारविन्दसे कोई बेजा बात नही निकलती थी।"

"सन्तोष परम सुख" पर लाठी प्रहार करते हुए गज़ाली कहते है—"जानना चाहिए कि ज्ञान एक अवस्था पैदा करता है, और उस अवस्थासे काम लिया जाता है। कोई-कोई समझते है कि सन्तोषके यह माने हैं, कि जीविका-उपार्जनके लिए न हाथ पैर हिलाये जायें न कोई उपाय सोचा जाय, बल्कि आदमी इस तरह बेकार पडा रहे, जिस तरह चीथड़ा जमीन पर पडा रहता है, या मास पटरेपर रखा रहता है। लेकिन यह मूर्खोंका

विचार है, क्योंकि ऐसा करना शरीअत (= धर्म-आज्ञा) मे हराम है। . . . .
यदि तुम इस बातका इन्तजार करो, कि खुदा तुमको रोटीके बिना तृप्त कर देगा, या रोटीको यह शक्ति दे देगा, कि वह स्वय तुम तक चली आये, या किसी फरिश्तेको मुकर्रर कर देगा कि वह रोटीको चबाकर तुम्हारे पेटमे डाल दे, तो तुम खुदाके स्वभावसे बिलकुल अनभिज्ञ हो।"

मठोंके सन्तोषी साधु-फकीरोंके बारेमे ग़ज़ाली कहते है—"मठोंमें बधानकी रोजीपर बसर करना सन्तोषसे बहुत दूर है । हाँ, यदि माँगा न जाय और भेंट-पूजापर सन्तोष किया जाय तो यह सन्तोषकी महिमा है, लेकिन जब (मठ) की प्रसिद्धि हो चुकी है, तो मठ बाजारकी भाँति हैं, और उनमें रहना बाजारमे रहना है। जो आदमी (इस तरहके) बाजारमें आता-जाता हो, वह सन्तोषी नही कहा जा सकता ।

इस तर ग़ज़ाली सूफी होते हुए भी, उस पथकी अकर्मण्यताके प्रशमक नही थे ।

(ङ) आचार-व्याख्या—अह्याउल्-उलूम् (विद्या-सजीवनी) मे ग़ज़ालीने आचारकी व्याख्या करते हुए लिखा है, कि मनुष्य दो चीजोका नाम है। शरीर और जीव। जिस तरह शरीरकी एक खास सूरत-शक्ल है, (वैसे ही) जीवकी भी है। फिर जिस तरह शरीरकी सूरत अच्छी या बुरी होती है, जीवकी भी होती है। जिस तरह बाहरी सूरतके ख्यालसे आदमीको सुरूप या कुरूप कहते है, जीवकी (आत्मिक) सूरतके ख्यालसे उसे सदाचारी या दुराचारी कहते हैं। ग़ज़ालीने आचारका सबध सिर्फ शारीरिक क्रियाओ तक ही सीमित नही रखा है, बल्कि उसके लिए यह भी शर्त लगाई है, कि उसके करनेके लिए आदमीमे क्षमता तथा स्थायी झुकाव हो। ग़ज़ालीने आचारके चार मुख्य स्तभ माने है। ज्ञान, क्रोध, काम-इच्छा और न्यायकी शक्तियोको संयमपूर्वक साम्य (=बीचकी) अवस्थामे रखना। यदि यह चारो शक्तियाँ साम्य-अवस्थामे हो, तो आदमी पूरा सदाचारी होगा, यदि सिर्फ दो या एक हों तो अपूर्ण।

गलेन (=जालीनूस) आदमियोंके सदाचारी या दुराचारी होनेके

बारेमें समझता है, कि कुछ आदमी स्वभावत: सदाचारी, कुछ स्वभावत: दुराचारी होते हैं, और कुछ ऐसे है जो न स्वभावतः सदाचारी होते न दुराचारी, इसी तीसरी श्रेणीके आदमियोंके सुधार होनेकी संभावना है। मस्कवियाने गलेनके इसी मतको स्वीकार किया, यह हम कह चुके है। अरस्तूका मत इससे उलटा है—सदाचारी या दुराचारी होना मनुष्यमें स्वभावत. नही है, इसमे कारण शिक्षा और वातावरण है, हाँ शिक्षा और वातवरणका प्रभाव सबपर समान नही पडता। गज़ाली-ने अरस्तूके मतको स्वीकार किया है। इसीलिए बच्चोकी शिक्षापर उन्होने खास जोर दिया है, जिसके कुछ नमूने लीजिए—

(१) **बच्चोंका निर्माण**—"बच्चेमें जैसे ही विवेचनाशक्ति प्रकट होने लगे, उसी वक्तसे उसकी देखभाल रखनी चाहिए। बच्चेको सबसे पहिले खानेकी इच्छा होती है, इसलिए शिक्षाका आरभ यहीसे करना चाहिए। उसको सिखलाना चाहिए कि खानेसे पहिले बिसमिल्लाह पढ लिया करे। दस्तरखानपर जो खाना सामने और समीप हो, उसीकी ओर हाथ बढाए, साथ खानेवालोसे आगे बढनेकी कोशिश न करे, खाने या खानेवालोकी तरफ नज़र न जमाए। जल्द-जल्द न खाए। कौरको अच्छी तरह चबाए। हाथ और कपडेको खानेमें लसरने न दे। उसको समझा दिया जाये कि ज्यादा खाना बुरा है। कम खाना, मामूली खानेपर सन्तोष करने, (अपना खाना) दूसरोको खिला देनेकी बडाईको उसके मनमे बिठला देना चाहिए।

"(बच्चोको) सफेद कपडा पहननेका शौक दिलाया जाय, और समझाया जाये कि रगीन, रेशमी, जर्दोज़ी कपड़े पहनना औरतो और हिजडोका काम है। जो लड़के इस तरहके कपड़ोंको पहिना करते है, उनके सगसे बचाया जाय। आरामतलबी और नाज-सुकुमारतासे घृणा दिलाई जाये।

"जब बच्चा कोई अच्छा काम करे, तो प्रशंसा करके उसके दिलको बढ़ाया जाये, और उसे भेंट-इनाम दिया जाये। यदि बुरी बात करते देखा

जाये तो चेतावनी देनी चाहिए, जिसमें बुरे कामोंके करनेमें दिलेर न हो जायें।. . .किन्तु बार-बार लजवाना नहीं चाहिए. . . .बार-बार कहनेसे बातका असर कम हो जाता है।

"(और उसे सिखलाना चाहिए कि) दिनको सोना नहीं चाहिए। बिछौना बहुत सजा तथा ज्यादा नरम नहीं होना चहिए। . . .हर रोज कुछ न कुछ पैदल चलना और कसरत करनी चाहिए, जिसमे कि दिलमे अकर्मण्यता और सुस्ती न आने पावे। हाथ-पाँव खुले न रखे, बहुत जल्द-जल्द न चले; धन-दौलत, कपडा, खाना, कलम-दावात, किसी चीज पर अभिमान न प्रकट करे. . .।

"सभामें थूकना, जम्हाई-अँगडाई लेना, लोगोकी तरफ पीठ करके बैठना, पाँवपर पाँव रखना, ठोडीके नीचे हथेली रखकर बैठना—इन बातोंसे मना करना चाहिए।

"कसम खानेसे—चाहे वह सच्ची भी हो—रोकना चाहिए। बात खुद न शुरू करनी चाहिए, कोई पूछे तो जवाब दे।. . .पाठशालासे पढकर निकले तो उसे मौका देना चाहिए कि कोई खेल खेले, क्योंकि हर वक्त पढ़ने-लिखनेमे लगे रहनेसे दिल बुझ जाता है, समझ मन्द हो जाती है, तबियत उचट जाती है।

यह शिक्षायें मस्कवियाने अपने तहजीबुल्-इखलाकमे यूनानी ग्रन्थोसे लेकर दी है।

(२) प्रसिद्धिके लिए दान-पुण्य ग़लत—नाम और प्रसिद्धिकी लालचमे अमीर लोग दान-धर्म करते हैं, उनके बारेमे गजाली कहता है—

"इन (बनियो, अमीरो, बादशाहो) में बहुतसे लोग, मस्जिद, मदरसे और मठ (=खानकाह), बनवाते हैं, और समझते हैं कि, यह बड़े पुण्यका काम है; यद्यपि जिस आमदनीसे उन्हें बनवाया जाता है, वह बिलकुल नाजायज तरीकेसे हुई है। यदि आमदनी जायज हो, तो भी उनका अभिप्राय वस्तुतः पुण्य नहीं बल्कि प्रसिद्धि और नाम पाना होता है। उसी शहरमें ऐसी दुर्गतिमें पड़े आदमी हैं, जिनकी सहायता करना मस्जिद बनानेसे

ज्यादा सवाबका काम है, लेकिन उसकी अपेक्षा इमारत बनवानेको बेहतर समझते हैं, जिसकी वजह सिर्फ यह होती है, कि इमारतसे जो चिरस्थायी प्रसिद्धि मिलती है, वह गरीबोको देनेसे नही हो सकती।"

३ – तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (दर्शन-खंडन)

(क) लिखनेका प्रयोजन—कितनेही मुसलमान इस पुस्तकके नाम और गज़ालीकी सर्वप्रियताको देखकर यह समझनेकी गलती करते है, कि गज़ालीने सचमुच दर्शनका विध्वंस (=खडन) कर दिया। गज़ालीके अपने ही विचार दर्शन छोड और है क्या ? उन्होने कभी बद्दुओके सीधे-सादे इस्लामकी ओर लौटनेका नारा नही लगाया, यद्यपि उनकी कुछ सामाजिक बातो—कबीलाशाही, भाई-चारा, समानता—को वह जरूर अनुकरणीय बनाना चाहते थे। शिक्षित सस्कृत-नागरिक श्रेणीमे उस वक्त यूनानी दर्शनका बहुत सम्मान था, खुद इस्लामके भीतर "पवित्र-सघ" (अखवानुस्सफा), बातनी आदि सम्प्रदाय पैदा हो गये थे, जो कि अफलातू-अरस्तूको सूक्ष्म ज्ञानमे रसूल-अरबीसे भी बडा समझते थे, इसलिए इस्लामके जबर्दस्त वकील गज़ालीको ऐसी पुस्तक लिखना जरूरी था, जैसा कि उन्होने स्वय पुस्तककी भूमिका मे लिखा है—

"हमारे जमानेमे ऐसे लोग पैदा हो गए है, जिनको यह अभिमान है, कि उनका दिल-व-दिमाग साधारण आदमियोंसे श्रेष्ठ है। यह लोग मजहबी आज्ञाओ और नियमोको घृणाकी निगाहसे देखते है। इनका ख्याल है कि अफलातूं, अरस्तू आदि पुराने हकीम (=मुनि या आचार्य) मजहबको झूठा समझते थे। चूंकि ये हकीम ज्ञान-विज्ञानके प्रवर्त्तक और प्रतिष्ठापक थे, और बुद्धि तथा प्रतिभामे उनके जैसा कोई नहीं हुआ, इसलिए उनका धर्मको न मानना इस बात का प्रमाण है, कि मज़हब (=धर्म) वस्तुत झूठ और फजूल है. उसके नियम तथा सिद्धान्त मनगढन्त और बनावटी हैं, जो सिर्फ देखने हीमें सुन्दर और चित्ताकर्षक मालूम होते है। इसी वजहसे मैंने निश्चय किया कि (यूनानी) आचार्योंने आध्यात्मिक विषयपर

जो कुछ लिखा है, उसकी गलतियाँ दिखलाऊँ, और साबित करूँ कि उनके सिद्धान्त और बहसे लड़कोके खेल हैं।"

(ख) दार्शनिक तत्त्व सभी त्याज्य नहीं—गजाली दर्शनकी सत्यताओंको जानते थे, इसलिए दर्शनकी सभी बातोंको गलत कहना उनके लिए असंभव था, उनका तो काम था, कुमारिल भट्टकी भाँति दर्शनको खंडन करते हुए भी उसीकी आड़ लेकर लचर विश्वासोंकी स्थापना करना। अस्तु अपनी स्थिति साफ करते हुए गजाली लिखते है—

"दर्शनमें तीन तरहके सिद्धान्त आते हैं—(१) वह सिद्धान्त जो केवल शब्द और परिभाषाको लेनेपर इस्लामके सिद्धान्तोसे भेद रखते है, जैसे खुदा (ईश्वर) को वह द्रव्य बतलाते हैं, लेकिन द्रव्यसे उनका अभिप्राय अनित्य (वस्तु) नही बल्कि ऐसी वस्तुसे है, जो स्वय बिना किसीके सहारे, अपना अस्तित्व रखती है। इस ख्यालसे खुदाको द्रव्य कहना बिलकुल ठीक है, यद्यपि शरीअत् (=इस्लामी धर्म-ग्रथ) में यह शब्द इस्तेमाल नही किया गया है।

"(२) वह सिद्धान्त जो इस्लामके सिद्धान्तोके विरुद्ध नही है। जैसे चन्द्रमामे इस वजहसे ग्रहण लगता है, कि उसके और सूर्यके बीचमें पृथ्वी आ बाधक हो जाती है। ऐसे सिद्धान्तोंका खडन करना मेरा काम नहीं है। जो लोग ऐसे सिद्धान्तोके इन्कार और झुठलानेको अग समझते है, वह वस्तुत इस्लामपर अन्याय करते है; क्योकि इन सिद्धान्तोकी बुनियाद गणित-शास्त्रकी युक्तियाँ है, जिनको जान लेनेपर उनकी सत्यतामे कोई सन्देह नही रह जाता। अब अगर कोई आदमी यह साबित करे, कि ये सिद्धान्त इस्लामके विरुद्ध है, तो विद्याके जानकार पुरुषके मनमे स्वय इस्लामके प्रति सन्देह पैदा हो जायगा।

"(३) तीसरे प्रकारके वे सिद्धान्त है, जो कि इस्लामके निश्चित सिद्धान्तोंके विरुद्ध हैं, जैसे जगत्की अनादिता, क़यामतसे इनकार आदि। यही सिद्धान्त हैं जिनसे यहाँ हमें काम है, और जिनको झूठा साबित करना हमारी (इस) पुस्तकका प्रयोजन है।

इसपर हमारे हम-वतन अल्लामा शिब्ली फ़र्माते हैं[1]—

"इस भूमिकाके बाद इमाम (ग़ज़ाली) साहबने दर्शनके २० सिद्धान्तोको लिया है, और उनका खंडन किया है। लेकिन अफ़सोस है कि इमाम साहबकी यह मेहनत बहुत लाभदायक नही हुई, क्योंकि जिन सिद्धान्तोको (उन्होने) इस्लामके खिलाफ समझा है, उनमेसे १७ के बारेमें उन्होने खुद पुस्तकके अन्तमे व्याख्या की है कि उनकी वजहसे किसीको काफिर नही बनाया जा सकता।"

(ग) बीस दर्शन-सिद्धान्त गलत—"दर्शन-खडन" मे ग़ज़ाली कितना सफल हुआ, इसपर अल्लामा शिब्लीकी राय आप पढ चुके, 'यहाँ हम यूनानी दर्शनके उन बीस सिद्धान्तोको देते है (इनमेसे बहुतसे हिन्दूदर्शन भी पाये जाते हैं, इसके कहनेकी जरूरत नही)—

यूनानी दर्शन	ग़ज़ाली
१. जगत् अनादि	गलत
२. जगत् अनंत (=नित्य)	गलत
३. ईश्वरका जगत्-कर्त्ता होना भ्रम मात्र	गलत
४. ईश्वरका अस्तित्व	सिद्ध नही कर सकते
५. ईश्वर एक	सिद्ध नही कर सकते
६. ईश्वरमे गुण नही	गलत
७. ईश्वरमें सामान्य और विशेष नही	गलत
८. ईश्वर लक्षण-रहित (=अलख) सर्व-व्यापक मात्र है	सिद्ध नही कर सकते
९ ईश्वर शरीर-रहित	सिद्ध नही कर सकते
१० दार्शनिक	को नास्तिक होना पड़ता है
११ ईश्वर अपने सिवा औरको जानता है	साबित नही कर सकते
१२ ईश्वर अपनेको जानता है	साबित नही कर सकते

---

१. "अल्ग़ज़ाली", पृष्ठ १०१

१३. ईश्वर व्यक्तियोंको नहीं जानता — गलत
१४. आसमान (=फरिश्ते) और प्राणी इच्छानुसार गति करते हैं — गलत
१५. आसमानकी गति के लिए दिये गए कारण — गलत
१६. आसमान सारे (जगत्-) अवयवों के जानकार हैं — गलत
१७. अप्राकृतिक घटना नही होती — गलत
१८. जीव एक द्रव्य है जो न गुण है न शरीर—साबित नहीं कर सकते
१९. जीव नित्य है — साबित नहीं कर सकते
२०. क़यामत (=प्रलय) और मुर्दोंका जी उठना नहीं होता — गलत

४—दार्शनिक विचार

ग़ज़ाली सभी दार्शनिक सिद्धान्तोंके विरोधी न थे, यह तो ऊपरके लेखसे साफ हो गया; अब हम यहाँ उनके कुछ सिद्धान्तोंको देते हैं—

(१) जगत् अनादि नहीं—यूनानी दार्शनिकोंका जगत्-नित्यतावाद इस्लामके लिए खतरेकी चीज थी, यह इस्लामके ईश्वर-अद्वैत (=तौहीद) पर ही सख्त हमला न था, बल्कि अनीश्वरवादकी ओर खींचनेवाला जबरदस्त हथियार था; जैसा कि ग़ज़ालीने "दार्शनिकको नास्तिक होना पड़ता है" अपने प्रतिपाद्य विषयके बारेमे लिखते हुए प्रकट किया है। दार्शनिक कहते थे कि जगत् एक सान्त, गोल, किन्तु काल मे अनन्त—सदा रहनेवाला—है, सदासे वह ईश्वरसे निकलता आ रहा है, वैसे ही जैसे कि कार्य (घड़ा) अपने कारण (मिट्टी) से।

ग़ज़ालीका कहना है कि जो कालमें सान्तता मानता है, उसे देशमें भी सान्तता माननी पड़ेगी। यह कहना कि हम वैसा इसलिए मानते है क्योंकि देश बाहरी इन्द्रियोंका विषय है, किन्तु काल आन्तरिक इन्द्रिय (=अन्तःकरण) का, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, आखिर इन्द्रिय-ग्राह्य (विषय)-को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। फिर जैसे देशका पिंड (=विषय)-के साथ एक संबंध है, उसी तरह कालका संबंध पिंड (=विषय) की

गति से बराबर बना रहता है। काल और देश दोनों ही वस्तुओंके आपसी सबंधमात्र हैं—देश वस्तुओंकी उस स्थिति को प्रकट करता है, जो उनके साथ-साथ रहनेपर होती है, काल वस्तुओंकी उस स्थितिको बतलाता है, जो उनके एक साथ न रहनेपर (आगे-पीछे होनेमे) होती है। ये दोनो ही जगत्‌की वस्तुओ (=पिडो, इन्द्रिय-विषयो) के भीतर और उनके साथ बने हैं, अथवा कहना चाहिये कि देश-काल हमारे मानस-प्रतिबिबो (मनके भीतर जिन रूपोंमे वस्तुएँ ज्ञात या याद होती है) के पारस्परिक सबध है, जिन्हे कि ईश्वरने बनाया है। इस प्रकार देश और कालमे एककी सान्तताको स्वीकार करना दूसरेकी सान्तताका नही करना, गलत है। दोनो ही वस्तुत कृत और सादि है। और फिर सादि (देश-कालमे अवस्थित) जगत् भी सादि होगा। अतएव ईश्वरके सृजन (=जगत्-उत्पादन) मे किसी जगत्-अनादिता आदिकी बात नही, वह जगत् बनानेमे सर्वत्र-स्वतन्त्र है।

(२) **कार्यकारणवाद और ईश्वर**—गज़ालीके जगत्‌के आदि-अनादि होनेके बारेमे क्या ख्याल है, यह बतला चुके; किन्तु सवाल यही खतम नही हो जाता। यदि ईश्वरको सर्वतत्र-स्वतत्र—बिना कारण (मिट्टी) के कार्य (घडा) बनानेवाला—मानते है, तब तो कार्य-कारण का सवाल ही नही उठता, ईश्वर खुद हर वक्त वैसे ही बना रहा है, फिर तो इमाम अशअरीका कार्य-कारण-रहित परमाणुवाद ठीक है। गज़ालीके सामने दो मुसीबतें थी। कार्यकारणवाद माननेपर यूनानी दार्शनिकोकी भाति जगत्‌को (प्रवाह या स्वरूपसे) अनादि मानना होगा, यदि कार्य-कारणवादको न माने तो अशअरीके "परमाणुवाद"मे फँसना पडेगा। आइये "तोहाफ़तुल्-फिलासफा" से उनके शब्दोमे इस बहसको ले—

"(यूनानी) दार्शनिकोका ख्याल है, कि कार्य और कारणका जो सबध दिखाई पडता है, वह एक नित्य (=समवाय) सबंध है, जिसकी वजहसे यह संभव नही कि कारण (मिट्टी) के बिना कार्य (घड़ा) पाया जाये। सारे साइस (=प्रयोग सिद्ध ज्ञान) का आधार इसी (कार्य-कारण) वादपर है।

लेकिन मैं (ग़ज़ाली) जो इस (वाद) के विरुद्ध हूँ, उसकी वजह यह है कि इसके माननेसे पैग़ंबरकी करामात (=दिव्य चमत्कार) गलत हो जाती है, क्योंकि यदि यह स्वीकार कर लिया जाये, कि दुनियाकी हर चीजमें 'नित्य-संबंध' पाया जाता है, तो ऐसी अवस्थामें अ-प्राकृतिक घटनाएँ (=करामात) असंभव हो जायेंगी, और धर्मका आधार अप्राकृतिक घटनाओं (करामाति, या कारण विना ईश्वरके सृष्टि करनेके सिद्धान्त)-पर है।"[1] ...... "(इसीलिए हम मानते हैं कि) आग और आँखमें, सूर्योदय और प्रकाशमें कोई नित्य संबंध नहीं पाया जाता बल्कि ये सारे कार्य-कारण ईश्वरकी इच्छा से (हर क्षण नये) पैदा होते हैं।"[2]

दार्शनिक वैसा क्यों मानते है ? इसलिए कि "जलानेवाली चीज अर्थात् आग इच्छा करके नहीं जलाती, बल्कि वह अपने स्वभावसे मजबूर है कि कपड़ेको जलावे अतएव यह कैसे सभव है कि आग कपड़ेको जलावे, किन्तु (किसी सिद्ध पुरुषकी आज्ञा मान अपनी इच्छाको रोक) मस्जिदको न जलावे। . . . "[3]

अब सवाल होगा कि आगके स्वभाव और उसकी मजबूरीका ज्ञान कैसे हुआ—

"साफ है कि इस प्रश्नका उत्तर सिवाय इसके और कुछ नहीं हो सकता कि आग जब कपडेमें लगाई जाती है तो हम सदा देखते है कि वह जला देती है, लेकिन हमे बार-बारके देखने से यदि कुछ मालूम होता है, तो वह यह है कि आगने कपडेको जलाया। (इससे) यह कैसे मालूम हुआ कि आग ही जलानेका कारण है। उदाहरणोंको देखो—सब जानते है कि विवाह-क्रियासे मानव-वंशकी वृद्धि होती है, किन्तु यह तो कोई नही कहता कि यह क्रिया बच्चेकी उत्पत्तिका (—नित्य सबध होनेसे अवश्य ही—) कारण है ?"[4]

---

१. तोहाफ़तुल्-फिलासफ़ा, पृष्ठ ६४   २. वही, पृष्ठ ६५
३. वही, पृष्ठ ६६
४. वही, पृष्ठ ६६

इस सारी बहससे ग़ज़ाली कार्य-कारणवादके किलेकी दीवारमें एक छोटासा सूराख करना चाहते हैं; जिससे सृष्टिको सादि, ईश्वरको सर्व-तंत्र-स्वतंत्र तथा पैगंबरकी करामातको सच्ची साबित कर सकें।

ग़ज़ाली यहाँ अश्अरीके "परमाणुवाद" के बहुत पास पहुँच गए हैं। किन्तु अब फिर उनको होश आता है, और कहते हैं[1]—

"कारणोंके कारण (ईश्वर) ने अपना कौशल दिखलाने के लिए यह ढग स्वीकार किया है, उसने कार्योंको कारणोसे बाध दिया है,[2] कार्य अवश्य कारणके बाद अस्तित्वमें आयेगा, यदि कारणकी सारी शर्तें पाई जायं। यह इस तरहके कारण हैं, जिनसे कार्योंका अस्तित्व बंधा हुआ है—वह कभी उनसे अलग नही होता, और यह भी ईश्वरकी प्रभुता और इच्छा है। जो कुछ आसमान और जमीनमे है, वह आवश्यक क्रम और अनिवार्य नियम (=हक) के अनुसार पैदा हुआ है। जिस तरह वह पैदा हुआ, और जिस क्रमसे पैदा हुआ, इसके विरुद्ध और कुछ हो ही नही सकता। जो चीज किसी चीजके बाद पैदा हुई, वह इसी वजहसे हुई कि उसका पैदा होना इसी शर्तपर निर्भर था। . जो कुछ दुनियामें है, उससे बेहतर या उससे पूर्णतर सभव ही नही था। यदि सभव था और तब भी ईश्वरने उसको रख छोडा, और उसको पैदा करके अपने अनुग्रहको प्रकट नही किया, तो यह कृपासे उलटी कृपणता (=कंजूसी) है, उलटा जुल्म है। यदि वैसा सभव होनेपर भी ईश्वर वैसा करने मे समर्थ नही है, तो इससे ईश्वरकी बेचारगी साबित होती है, जो कि ईश्वरताके विरुद्ध है।"[3]

(३) **ईश्वरवाद**—ग़ज़ालीका दार्शनिकोंसे जिन बीस बातोंमें मतभेद है, उनमें तीन मुख्य हैं, एक "जगत्‌की अनादिता" जिसके बारे में कहा जा चुका। दूसरा मतभेद स्वय ईश्वरके अस्तित्वके सबंधमे है।

---

१. **"मुसब्बबुल्-अस्बाब् इज्रा सनतन् बे-रब्तिल्-मुसब्बबाते बिल्-असबाबे इज्हारन् लिल्-हिक्मते।"** २ **"अह्याउल्-उलूम्"।**

दार्शनिक ईश्वरको सर्वश्रेष्ठ तत्त्व मानने के लिए तैयार हैं, किन्तु साथ ही वह कहते हैं कि वह ज्ञानमय (=ज्ञानसार) है। जो (उसके) ज्ञानमें है, वही उससे निकलकर अस्तित्वमें आता है; किन्तु वह इच्छा नहीं करता, इच्छा तभी होती है, जब कि किसी बातकी कमी हो। इच्छा भौतिक पदार्थोंके भीतरकी गति है—पूर्णसत्य आत्मा (=ब्रह्म) किसी बातकी इच्छा नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर अपनी सृष्टिको ध्यानमें पाता है, उसमे इच्छाके लिए गुंजाइश नही।

किन्तु ग़ज़ाली ईश्वरको इच्छारहित माननेको तैयार नहीं। उनके मतसे (ईश्वरकी इच्छा) सदा उसके साथ रहती है, और उसी इच्छासे वह सृष्टिको बिना किसी मजबूरी (प्रकृति-जीव तत्त्वोंके पहिलेसे मौजूद होने) के बनाता है। दार्शनिकोंके लिए ईश्वरका ज्ञान सृष्टिका कारण है, गज़ालीके लिए ईश्वरकी इच्छा; चूँकि वह इच्छापूर्वक हर चीजको बनाता है, इसलिए उसे सिर्फ वस्तु सामान्यका ही ज्ञान नहीं बल्कि वस्तु-व्यक्ति (=एक-एक वस्तु)का भी ज्ञान है, और इस तरह ग़ज़ाली भाग्यवाद-के फंदेमे फँसते हैं, और सिर्फ कर्म-स्वातंत्र्य न होनेसे मनुष्यके उद्योगपरायण होने आदिकी शिक्षा बेकार हो जाती है।

(४) **कर्मफल**—ईश्वरको सर्वतंत्र-स्वतंत्र (प्रकृति-जीव तत्त्वों-पर निर्भर न होना) सिद्ध करनेके लिए इस्लामके वकील ग़ज़ालीको जगत्-का सादि होना, तथा ईश्वरको इच्छावान् मानना पड़ा; "ईश्वरेच्छा बलीयसी" माननेपर भाग्यवादसे बचना असंभव हुआ। जीवका पहिले-पहिल एक ही बारके लिए जगत्में उत्पन्न होना यह सिद्धान्त ऊपरकी बातों-को लेते हुए ग़ज़ालीको और मुश्किलमे डाल देता है। आखिर खुदाने मनुष्योंकी मानसिक शारीरिक योग्यतामें भेद क्यों किया?—खैर इसका उत्तर तो वह दे नही सकते थे, क्योंकि उसकी न्यायताके लिए उन्हें पिथागोर या हिन्दुओंकी भाँति पुनर्जन्म मानना पड़ता, और फिर जगत्-जीव-अनादिताका सवाल उठ खड़ा होता। किन्तु इस्लामने कर्म के अनु-सार सजा-इनाम (नर्क-स्वर्ग) पानेकी जो बात कही है, उससे भी ईश्वरपर

आक्षेप आता है। सजा (=दड) सिर्फ दो ही मतलबसे दी जा सकती है या तो बदला लेनेके लिए, जो कि ईश्वरके लिए शोभा नही देता, अथवा सुधारनेके लिए किन्तु वह भी ठीक नही क्योंकि सुधारके बाद मनुष्यको फिर कार्यक्षेत्रमे उतरने (जगत्‌में पुन जन्मने) का मौका कहाँ मिलता है? ईश्वरको ऐसा करनेसे अपने लिए कोई लाभकी इच्छा हो, यह बात मानना तो ईश्वरकी ईश्वरतापर भारी धब्बा होगा। इस शकाका उत्तर ग़ज़ालीने अपनी पुस्तक "मज़्मून बे अला-ग़ैर-अह्ले-ही"मे दिया है।—जिसका भाव यह है—स्थूल जगत्‌मे कार्यकारणका जो क्रम देखा जाता है, उससे किसीको इन्कार नही हो सकता। सखिया घातक है, गुलाब जुकाम पैदा करता है। यह चीजे जब इस्तेमाल की जायेंगी तो उनके असर जरूर प्रकट होगे। अब यदि कोई आदमी सखिया खाये और मर जाये, तो यह आक्षेप नही किया जा सकता, कि ईश्वरने क्यो उसको मार डाला, या ईश्वरको उसके मार डालनेसे क्या मतलब था। मरना सखिया खानेका एक अनिवार्य परिणाम है। उसने सखिया अपनी खुशीसे खाई और जब खाई, तो उसके परिणामका प्रकट होना अवश्य भावी था। यही बात आत्मिक जगत् मे भी है। भले बुरे जितने कर्म है, उसका अच्छा बुरा प्रभाव जीवपर लगातार होता है। अच्छे कामो से जीवमे दृढता आती है, बुरे कामोमे गन्दगी। यह परिणाम किसी तरह रुक नही सकते। जो आदमी किसी बुरे कामको करता है, उसी समय उसके जीवपर एक खास प्रभाव पड जाता है, इसीका नाम सजा (दड) है। मान लो एक आदमी चोरी करता है, इस कामके करनेके साथ ही उसपर भय सवार हो जाता है। वह चाहे पकडा जाये या नही, दडित हो या नही, उसके दिलपर दाग लग चुका, और यह दाग मिटाए नही मिट सकता। जिस तरह ईश्वरपर यह आक्षेप नही हो सकता कि सखिया खानेपर ईश्वरने अमुक आदमीको क्यो मार डाला, उसी तरह यह आक्षेप भी नही हो सकता कि बुरा काम करनेके लिए, ईश्वरने दंड क्यो दिया? क्योकि उस बुरे कामका यह अवश्यभावी परिणाम था, इसलिए वह हुए बिना नही रह सकता था। गज़ालीके अपने शब्द है—

"भगवान्‌के ग्रन्थके विधि-निषेधोंके अनुसार न चलनेपर जो फल (=अज़ाब) होगा, वह क्रोध या बदला लेना नहीं है। उदाहरणार्थ जो आदमी बीबीसे प्रसंग नही करेगा, ईश्वर उसे सन्तान नही देगा, जो आदमी खाना-पीना छोड़ देगा, ईश्वर उसे भूख-प्यासकी तकलीफ देगा। पापी-पुण्यात्माका कयामत (=ईश्वरीय न्यायके दिन) की यातनाओं और सुखोंके साथ यही सबंध है। पापीको क्यों यातना दी जायगी—यह उसी तरह कहना है कि प्राणी विषसे क्यों मर जाता है, और विष क्यों मृत्युका कारण है?"

ईश्वरने अपने धार्मिक विधि-निषेधोंकी ज़हमतमे आदमियोको क्यों डाला, इसके उत्तरमें ग़ज़ाली कहते है—

"जिस तरह शारीरिक रोगोके लिए चिकित्सा-शास्त्र (वैद्यक) है, उसी तरह जीवके लिए भी एक चिकित्सा-शास्त्र है, और वदनीय पैगम्बर लोग उसके वैद्य है। कहनेका ढंग है कि बीमार इसलिए अच्छा नही हुआ कि वह वैद्य (की आज्ञा) के विरुद्ध गया, इस वजहसे अच्छा हुआ कि वैद्यकी आज्ञाका पालन किया। यद्यपि रोगका बढना इसलिए नही हुआ कि रोगी वैद्य (की आज्ञा) के विरुद्ध गया, बल्कि (असली) वजह यह थी, कि उसने स्वास्थ्यके उन नियमोका अनुसरण नही किया, जो कि वैद्य ने उसे बताए थे।"[1]

(५) **जीव** (=रूह)—पैगंबर मुहम्मदको भी लोगोने जीवके बारेमे सवाल करके तंग किया था, जिसपर अल्लाहने अपने पैगंबरको यह जवाब देने के लिए कहा—"कह जीव मेरे रबके हुक्मसे है"[2]। जब कुरान और पैगंबर तकको इससे ज्यादा कहनेकी हिम्मत नही है, तो ग़ज़ालीका आगे बढ़ना खतरेसे खाली नही होता, इसलिए बेचारेने "अह्याउल्-उलूम्" मे यह कहकर जान छुड़ानी चाही, कि यह उन रहस्योमे है, जिनको

---

१. "मज़नून बे अला-ग़ैरे-अह्ले-ही", पृष्ठ १०

२. "क़ुल् अर्-रूहो मिन्-अम्रे रब्बी"—क़ुरान

प्रकट करना ठीक नही; लेकिन "मजनून-सग़ीर" में उन्होंने इस चुप्पीको तोड़ना जरूरी समझा—आखिर "रबके हुक्मसे" जीवका होना बद्दुओं-को सन्तोष भले ही दे सकता था, किन्तु फाराबी और सीनाके शागिर्दोंको उससे चुप नही किया जा सकता था; इसलिए ग़ज़ाली दर्शनकी भाषामें कहते हैं—"वह (जीव) द्रव्य है, शरीर नही। उसका संबंध बदनसे है, किन्तु इस तरह कि न शरीरसे मिला न अलग, न भीतर न बाहर, न आधार न आधेय।"

द्रव्य है—क्योंकि जीव वस्तुओंको पहिचानता है, पहिचानना या पहिचान एक गुण है। गुण बिना द्रव्यके नही हो सकता, अतएव जीवको ज़रूर द्रव्य होना चाहिए, अन्यथा उसमे गुण नही रह सकता।

शरीर नही है, क्योंकि शरीर होनेपर उसमे लम्बाई चौड़ाई होगी, फिर उसके अश हो सकेंगे, अश हो सकनेपर यह हो सकता है, कि एक अशमे एक बात पाई जाये और दूसरे अशमे उससे विरुद्ध बात जैसे लकड़ी-के भट्ठेमे आधेका रग सफेद, आधेका रग काला। और फिर यह भी सभव है, कि जीवके एक भागमे राम (जिसका कि वह जीव है) का ज्ञान हो, और दूसरे भागमे उसी रामकी बेवकूफीका। ऐसी अवस्थामें जीव एक ही समयमें एक वस्तुका जानकार भी हो सकता है, और गैरजानकार भी। और यह असभव है।

न मिला न अलग, न भीतर न बाहर है, क्योंकि यह गुण शरीर (=पिंड) के हैं, जब जीव शरीर ही नही है तो वह मिला-अलग-भीतर-बाहर कैसे हो सकता है।

कुरान और आप्त पुरुषोंने जीव क्या है, इसे बतानेसे इन्कार क्यों किया, इसका उत्तर ग़ज़ाली देते हैं—दुनियामें साधारण और असाधारण दो तरहके लोग है। साधारण लोगोंकी तो बुद्धिमे ही जीव जैसी चीज नही आयेगी, इसीलिए तो हबलिया और कर्रामिया सम्प्रदायवाले ईश्वर-को साकार मानते हैं, क्योंकि उनके ख्यालसे जो चीज साकार नहीं उसका अस्तित्व नही हो सकता। जो व्यक्ति साधारण लोगो की अपेक्षा कुछ

विस्तृत विचार रखते हैं, वह शरीरका निषेध करते हैं, तो भी ईश्वरका दिशावान होना मानते हैं। अश्-अरिया और मोतज़ला सम्प्रदायवाले इस तरहके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं जिसमें न शरीर हो, न दिशा। लेकिन वह इस प्रकार के अस्तित्वको सिर्फ़ ईश्वरके व्यक्तित्व तथा ईश्वरके गुण के साथ ही मानते हैं। यदि जीवका अस्तित्व भी इस तरहका हो, तो उनके विचारसे ईश्वर और जीवमे कोई अन्तर नहीं रह जायेगा। जैसे भी देखें, चूंकि जीवकी वास्तविकता क्या है यह साधारण और असाधारण दोनों प्रकारके लोगोकी समझसे बाहरकी बात थी, इसलिए उसके बतानेसे टालमटोल की गई।

ग़ज़ालीने जीवका जो लक्षण बतलाया है, वह यूनानी और भारतीय दर्शन जाननेवालोंके लिए नई बात नही है।

"न हन्यते हन्यमाने शरीरे" की आवाजमे आवाज मिलाते हुए ग़ज़ाली कहते हैं—

"व लैस'ल्-बद्नो मिन् क़वामे ज़ातेका
फ इन्हदाम'ल्-बद्ने ला यअ्दमो-का।"

("शरीर तेरे अपने लक्षणों (स्वरूपो) मे नही है, इसलिए शरीरका नष्ट होना तेरा नष्ट होना नही है।")

(६) क़यामतमें पुनरुज्जीवन—जो मनुष्य दुनियामे मरते हैं, वह कयामत (=अन्तिम न्याय) के दिन फरिश्ते इस्राफीलके नर्रासगे (=सूर)-के बजते ही उठ खड़े होंगे। इस तरहके पुनरुज्जीवनको इस्लाम भी दूसरे सामीय (यहूदी, ईसाई) धर्मोंकी भाँति मानता है। बद्दुओंमे भी कुछ वस्तुवादी थे, जो इसे खामखाकी कबाहत समझते थे, जैसा कि बद्दू कवि अल्-ह्याद अपनी स्त्रीको सुनाकर कहता है—

"अमोतो सुम्म बअ्स सुम्म नश्रा। हदीसे खुराफात या' उम्-अमरू"

(मरना फिर जीना फिर चलना-फिरना। अमरूकी माँ! यह तो खुराफातकी बातें हैं।) ग़ज़ाली इस बात को अपने और दार्शनिकोंके बीचके तीन बड़े मतभेदोंमें मानता है। दार्शनिक सिर्फ़ जीवको अमर मानते हैं,

शरीरको वह नश्वर समझते है। इस्लाममें क़यामतमें मुर्दोंके जिन्दा उठ खड़े होनेको लेकर दो तरहके मत थे—(१) एक तो अब्दुल्ला बिन्-अब्बास जैसे लोगोंका जो कि क़यामतके बाद मिलनेवाली सारी चीजोंको आजकी दुनियाकी चीजोंसे सिर्फ नाममात्रकी समानता मानते थे—शराब होगी किन्तु उसमे नशा न होगी, आहार होगा किन्तु पेशाब-पाखाना नहीं होगा।' इसी तरह शरीर मिलेगा किन्तु यही शरीर नहीं। (२) दूसरा-गिरोह अश्-अरियोका था, जो कि क़यामतवाले जिस्म क्या सभी चीजोंको इसी दुनियाकी तथा बिलकुल ऐसी ही मानते थे। इनके अलावा तीसरा गिरोह बाहरी विचारो और दर्शनसे प्रभावित सूफी लोगोका था जो कहते थे—

"हूर-ो ख़ुल्द-ो कौसर् ए वाअज अगर खुश्कर्द ईं।
बज़्मे मा-हम शाहिद-ो नक्ल-ो शराबे बेश् नेस्त ॥"

(धर्मवक्ता! अप्सरा, बाग और नहर यदि स्वर्गमे हमे खुश करनेके लिए है, तो वह हमारी शाम्पेइसदलो और शराबसे बेहतर तो नहीं है।)

गजाली तीसरे पथके पथिक होते हुए भी पहिले दो गिरोहोंको अपने साथ रखना चाहते थे—

"बहारे-आलमे-हुस्नश् दिल-ो जा ताज मी-दारद्।
ब-रग अस्हाब-सूरत-रा ब-बू अर्बाबे-मानी-रा।"

(उस प्रियतमके सौन्दर्यरूप दुनियाकी बहार अपने रगसे सूरतके प्रेमियोंके और सुगन्धसे भावके प्रेमियोके दिलो-जानको ताजा रखती है।)

खैर! यह तो बहिश्तमे मिलनेवाली दूसरी चीजोंकी बात कही। सवाल फिर भी वही मौजूद है—कयामतमे जिन्दा हो उठेको वही पुराना छोड़ा शरीर मिलेगा या दूसरा? अश्-अरियोका कहना था—बिल्कुल वही शरीर और वैसी ही आकृति (सूरत)। इसपर प्रश्न होता था—जो चीज नष्ट हो गई उसका फिर लौटकर अस्तित्वमे आना असभव है। और फिर मान लो एक आदमी दूसरे आदमी को मारकर खा गया, और एकके शरीर-परमाणु दूसरेके परमाणु-शरीर बन गए तो हत्यारेका शरीर कयामतमे यदि ठीक वही हो जो कि दुनियामे था, तो मारे गए

व्यक्तिका शरीर बिलकुल वैसा ही नही हो सकता।

ग़ज़ालीका मत है, कि कयामतमें मुर्दे जिन्दा हो उठेंगे यह ठीक है, शरीर बिलकुल वही पुराना होगा यह जरूरी नही।

(७) सूफ़ीवाद—ग़ज़ालीका लड़खड़ाता पैर सूफ़ीवादके सहारे सँभल गया, इसके बारेमें पहिले भी कहा जा चुका है, और उसके समकालीन किसी महा विद्वानकी गवाही चाहते हों तो अबुल्-वलीद तर्तूशीके शब्द सुनिए—

मैंने गज़ालीको देखा। निश्चय, वह अत्यन्त प्रतिभाशाली, पंडित, शास्त्रज्ञ है। बहुत समय तक वह अध्ययन-अध्यापनमे लगा रहा; किन्तु अन्तमे सब छोड़-छाड़कर सूफियोंमे जा मिला, और दार्शनिकोंके विचारों तथा मन्सूर-हल्लाज (सूफी) के रहस्य (वचनों) को मजहबमें मिला दिया। फ़कीहों (=इस्लामिक मीमामको) तथा वाद-शास्त्रियो (=मुत्कल्लमीन्) को उसने बुरा कहना शुरू किया, और मजहबकी सीमासे निकलनेवाला ही था। उसने "अह्याउल्-उलूम्" लिखा, तो चूंकि.....पूरी जानकारी नही थी इसलिए मुंहके बल गिरा, और सारी किताब में निर्बल प्रमाणवाली (मौजूअ) पैगंबर-वचनों (-परपरा) को उद्धृत किया।"

तर्तूशी बेचारे रटन्तू पीर थे, इसलिए वह गज़ालीकी दूरदर्शिता, और विचार-गाम्भीर्यको क्यो समझने लगे, उन्होंने तो इतना ही देखा, कि वह उनके जैसे फकीहो और मुत्कल्लमीनो (=मुलटों) के हलवे-माडेपर भारी हमला कर रहा है।

सूफीवादपर गज़ालीकी कितनी आस्था थी, इसका पता उनके इन शब्दोंमे मालूम होता है—

"जिसने तसव्वुफ (=सूफीवाद) का मजा नहीं चखा है, वह पैगबरी क्या है, इसे नही जान सकता, पैगबरीका नाम भले ही जान ले।.... सूफियोके तरीकेके अभ्याससे मुझको पैगबरीकी असलियत और विशेषता प्रत्यक्षकी तरह मालूम हो गई।"[1]

---

१. "मुनक़िज़ मिन'ल्-ज़लाल"।

ग़ज़ालीके पहिले हीसे इस्लाममे भीतर-भीतर सूफी-मत फैल चुका था, यह हम बतला चुके हैं किन्तु ग़ज़ालीने ही उसको एक सुव्यवस्थित शास्त्रका रूप दिया। ग़ज़ालीके पहिले सूफीवादपर दो पुस्तकें लिखी जा चुकी थी—

(१) "कूवतु'ल्-कुलूब" अबूतालिब मक्की।

(२) "रिसाला केसरिया" इमाम क़ेसरी।

पहिले कुछ लोग कर्म-योग (शौच-सतोष आदि) पर जोर देते थे, और कितने ही समाधि-योग (=मुकाशफा) पर। गजाल पहिले शख्स थे जिन्होने दोनो को बडी खूबीके साथ मिलाया, जैसे कि इतिहासका दार्शनिक इब्न-खल्दून कहता है[1]—

"गजालीने अह्याउल्-उलूममे दोनो तरीकोको इकट्ठा कर दिया . . . . जिसका परिणाम यह हुआ कि सूफीवाद (=तसव्वुफ) भी एक बाकायदा शास्त्र बन गया, जो कि पहिले उपासनाका ढग मात्र था।"

सूफियोका "अह ब्रह्मवाद" (अन'ल्-हक़) शकरके ब्रह्मवाद जैसा है। सूफी बहस नही करना चाहते, वह जानते हैं, बुद्धिको वह दर्शनसे कुंठित नही कर सकते, इसीलिए रहस्यवादकी शरण लेते हैं।

"जौके-ईं बादा न दानी ब-खुदा तान चशी।"

(खुदाकी कसम! जब तक नही पीता, तब तक वह इस प्यालेका स्वाद नही जान सकता।)

ग़ज़ालीका सूफीवाद क्या था, इसे हम पहिले सूफीवादके प्रकरणमे दे आए हैं, इसलिए यहाँ दुहरानेकी जरूरत नही।

(८) पैगंबरवाद—दार्शनिकोका इस्लाम और सभी सामीय धर्मोंपर एक यह भी आक्षेप था, कि वह इस तरहकी भोली-भाली बातोंपर विश्वास करते हैं—खुदा अपनी ओरसे खास तरहके आदमियों (=पैगंबरो) को तथा उनके पास अपनी शिक्षा-पुस्तक भेजता है। ग़ज़ाली पैगंबरीको ठीक साबित करते हुए कहते है[2]—

---

१. "मुक़द्दमये-तारीख़"। २. "मुनक़िज़ मिन'ल्-ज़लाल"।

"आदमी जन्मते बिलकुल अज्ञ पैदा होता है। पैदा होते वक्त वह ....किसी चीजसे परिचित नहीं होता। सबसे पहिले उसे स्पर्शका ज्ञान होता है, जिसके द्वारा वह उन चीजोंसे परिचय प्राप्त करता है, जो कि छूनेसे संबंध रखती हैं, फिर गर्मी-सर्दी, खुश्की-नमी, नर्मी-सख्तीको। ....फिर देखनेकी शक्ति...फिर सुनने....चखनेकी शक्ति....। इस तरह इन्द्रियाँ (तैयार हो जाती हैं)....। फिर नया युग शुरू होता है। अब उसे विवेककी शक्ति प्राप्त होती है, और वह उन चीजोंकी जानकारी प्राप्त करता है, जो इन्द्रियोंकी पहुँचसे बाहर हैं। यह युग सातवें वर्षसे शुरू होता है। इससे बढ़नेपर बुद्धि (=अक्ल) का युग आता है, जिससे संभव-असंभव, उचित-अनुचितका ज्ञान होता है। इससे बढ़कर एक और दर्जा है, जो बुद्धिकी सीमासे भी आगे है; जिस तरह विवेक और बुद्धिके ज्ञेयों (=विषयों) की जानकारीके लिए इन्द्रियाँ बिलकुल बेकार हैं, उसी तरह इस दर्जेके ज्ञेयों (=विषयों) के लिए बुद्धि बिलकुल बेकार है। इसी दर्जेका नाम पैगंबरी (=नबूवत्) है।"

पैगंबर और उसके पास खुदाकी ओरसे भेजे संदेश (=वही) के बारेमें गजालीका कहना है[1]—

"मनुष्योंमें कोई इतना जड़बुद्धि होता है कि समझानेपर भी बहुत मुश्किल से समझता है। कोई इतना तीक्ष्णबुद्धि होता है कि जरासे इशारे-से समझ जाता है। कोई इतना पूर्ण (प्रतिभा रखनेवाला) है, कि बिना सिखाए सारी बातें उसके मनसे पैदा होती हैं।....बदनीय पैगंबरोंकी यही उपमा है, क्योंकि बिना किसीसे सीखे-सुने उनके मनमें सूक्ष्म बातें स्वयं खुल जाती हैं। इसीका नाम अल्हाम (=ईश्वर-संदेशका पाना) है, और आँ-हजरत (मुहम्मद) ने जो यह फर्माया कि पवित्रात्माने मेरे दिलमे यह फूका, उसका यही अभिप्राय है।"

पैगंबरीके लिए करामात (=चमत्कार) का प्रमाण माना जाता है,

---

१. "मह्याउल्-उलूम्"।

और करामातको ठीक सिद्ध करनेके लिए गज़ालीकी क्या दलील है, यह कार्य-कारणवादके प्रकरणमे बतलाया जा चुका है।

(९) क़ुरानकी लाक्षणिक व्याख्या—मोतजला और पवित्र-संघ (=अखवानुस्सफा) के वर्णनमे बतलाया जा चुका है, कि वह कुरानके कितने ही वाक्योका शब्दार्थ छोड लाक्षणिक अर्थ ले अपने मतकी पुष्टि करते थे इमाम अहमद बिन्-हवल लाक्षणिक अर्थका सबसे जबरदस्त दुश्मन था। वह समझता था, कि यदि इस तरह लाक्षणिक अर्थ करनेकी आजादी दी जायेगी, तो अरबी इस्लामको सिर्फ कुरानके लफ्ज़ोंको लेकर चाटना पडेगा लेकिन निम्नोक्त पैगबर-वाक्यो (=हदीसो) मे उसे भी मुख्यार्थकी जगह लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करना पडा—

"(काबाका) कृष्ण-पाषाण (=सग-असवद्) खुदाका हाथ है।" "मुसलमानोंका दिल खुदाकी अँगुलियोमे है।" "मुझको यमनसे खुदाकी खुश्बू आती है।"

सूफियोका तो लाक्षणिक अर्थके बिना काम ही नही चल सकता, और गज़ाली किस तरह बहिश्तके बागों-हूरों शराबोंका लाक्षणिक अर्थ करते है, इसका वर्णन किया जा चुका है।

(१०) धर्ममें अधिकारिभेद—हर एक सूफीके लिए मुल्लोंकी चोट-मे बचनेके लिए बाहरसे शरीअतकी पाबदीकी भी जरूरत है, साथ ही तसव्वुफ (=सूफीवाद) के प्रति सच्चा-ईमान रखने से उसे बहुतसी शरीअत की पाबदियो और विचारोका भीतरसे विरोध करना पडता है। इस "भीतर कुछ बाहर कुछ" की चालसे लोगोके मन मे सन्देह हो सकता है, इसलिए अधिकारि-भेदके सिद्धान्तकी कल्पना की गई। इसका कुछ जिक्र साधारण और असाधारण लोग के तौरपर "कयामतमे पुनरुज्जीवन" के प्रकरणमे आ चुका है। इस आधिकारिभेदवाले सिद्धान्तकी पुष्टिमे पैगबरके दामाद तथा चौथे खलीफा (शीओके सर्वस्व) अलीका वचन उद्धृत किया जाता है[1]—

---

१. "सहीह-बुखारी"।

"जो बात लोगोंकी अक़लमें आए वह उनसे बयान करो, और जो न आए उसे छोड़ दो।"

ग़ज़ालीने वैसे तो बातनी शीओंके विरुद्ध कई पुस्तकें लिखी थीं, मगर जहाँ तक अलीके इस वचनका संबंध है, वह उनसे बिलकुल सहमत थे। यहाँ अपने विरोधियोंको फटकारते हुए वह कहते हैं—

"विद्याओंके गुप्त और प्रकट दो भेद होनेसे कोई समझदार आदमी इन्कार नही कर सकता। इससे सिर्फ वही लोग इन्कार करते हैं जिन्होंने बचपनमे कुछ बातें सीखी और फिर उसीपर जम गए।"[1]

अपने मतलबको और स्पष्ट करते हुए ग़ज़ाली दूसरी जगह लिखते हैं[2]—

"ख़ुदाने (क़ुरान में) कहा है—'बुला, अपने भगवान्के पथकी ओर हिकमत (=युक्ति) और सुन्दर उपदेशके द्वारा और ठीक तरह बहस कर।'[3] जानना चाहिए कि हिकमत (=युक्ति) के द्वारा जो लोग बुलाए जाते है वह और है, और जो नसीहत और बहसके जरिएसे बुलाए जाते हैं वह और। यदि हिकमत (=दर्शन) उन लोगोंके लिए इस्तेमाल की जाय जो कि नसीहतके अधिकारी हैं, तो उनको नुकसान होगा—जिस तरह दुधमुँहे बच्चेको चिड़ियाका गोश्त खाना नुकसान करता है। और नसीहतको यदि उन लोगोंके लिए इस्तेमाल किया जाये जो कि हिकमत (=दर्शन) के अधिकारी हैं, तो उनको घृणा होगी—जैसे कि बलिष्ठ आदमीको औरतका दूध पिलाया जाय। और नसीहत यदि पसद लगनेवाले ढग से न की जाय, तो उसकी मिसाल होगी सिर्फ खजूर खानेकी आदतवाले बद्दूको गेहूँका आटा खिलाना।. ."

(११) बुद्धि (=दर्शन) और धर्मका समन्वय—हम ग़ज़ालीकी जीवनीमे भी देख चुके है, किस तरह बगदाद पहुँचनेपर उनके हृदयमें

---

१. "अह्याउल्-उलूम्"। २. "क़स्तास् मुस्तक़ीम्"।

३. "अद्‌ऊ इला-सबीले रब्बि-क बि'ल्-हिक्मते, व'ल्-मोअ़ज़ति' ल्-हस्नते व आदल्-हुम् बि'ल्-लती हिया अह्‌सनो"।

धर्म (=मजहब) और बुद्धिका झगड़ा खडा हुआ, और तर्तूशीके शब्दोंमें वह "मजहबसे निकलनेवाला ही था।" किन्तु उन्होने अपने भीतर बुद्धि और धर्ममे समन्वय (=समझौता) करनेमे सफलता पाई, उनके सूफीवाद, अधिकारिभेदवाद, लाक्षणिकव्याख्यावाद, इसी तरफ किये हुए प्रयत्न है। गज़ालीका यह प्रयत्न खतरेसे खाली न था, इसका उदाहरण तो सजरके सामने उसकी तलबीके बयानमे देख चुके है। गजालीके जीवनहीमे उनकी कीर्ति इस्लामिक जगत्मे दूर दूरतक फैल गई थी। किस तरह उनके शिष्य मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) तोमरतने स्पेन-मराकोके मुसलमानोमे "गज़ाली सम्प्रदाय" फैलाने तथा एक नये मोहिदीन राजवंशकी स्थापनामे सफलता पाई, इसे हम आगे बतलानेवाले है, किन्तु तोमरतकी सफलताके पहिले गजालीके जीवनहीमे ५०० हिजरी (११०७ई०) मे ऐसा मौका आया, जब कि स्पेनमे खलीफा अली (इब्न-यूसुफ) बिन्-वाशकीनकीके हुक्मसे मरियामे गजालीकी पुस्तको—खासकर "अह्य.उल्-उलूम्"—को बडे मजमेके सामने जलाया गया।

विरोधको देखते हुएभी गजालीने तै कर लिया था, कि बुद्धि और धर्मके झगडेमे उनकी क्या स्थिति होनी चाहिए—

"कुछ लोगोका ख्याल है, कि बौद्धिक विद्याओ तथा धार्मिक विद्याओ मे (अटल) विरोध है, और दोनोका मेल कराना असभव है, किन्तु यह विचार कमसमझीके कारण पैदा होता है।"[1]

"जो आदमी बुद्धिको तिलाजलि दे सिर्फ (अध-) अनुगमनकी ओर लोगोको बुलाता है, वह मूर्ख (=जाहिल) है, और जो आदमी केवल बुद्धि-पर भरोसा करके कुरान और हदीस (=पैगंबर-वचन) की पर्वा नही करता वह घमडी है। खबरदार! तुम इनमे एक पक्षके न बनना। तुमको दोनोका समन्वय (=जामेअ) होना चाहिए, क्योकि बौद्धिक विद्याए आहारकी तरह है, और धार्मिक विद्याए दवाकी तरह।"[2]

१. "अह्याउल्-उलूम्"। २. वही।

बौद्धिक विद्याओंके प्रति यही उनके विचार थे, जिन्होंने ग़ज़ालीको यह लिखने के लिए मजबूर किया कि दर्शनके अंधशत्रु इस्लामके नादान दोस्त हैं—

"बहुत से लोग इस्लामकी हिमायतका अर्थ यह समझते हैं कि दर्शन-के सभी सिद्धान्तोंको धर्मके विरुद्ध साबित किया जाये। लेकिन चूँकि दर्शनके बहुतसे सिद्धान्त ऐसे हैं, जो पक्के प्रमाणोंसे सिद्ध हैं, इसलिए जो आदमी उन प्रमाणोंसे अभिज्ञ है, वह उन सिद्धान्तोंको पक्का समझता है। इसके साथ जब उसे यह विश्वास दिलाया जाता है, कि ये सिद्धान्त इस्लामके विरुद्ध हैं, तो उन सिद्धान्तोंमे सन्देह होनेकी जगह, उसे खुद इस्लाममे सन्देह पैदा हो जाता है। इसके कारण इन नादान दोस्तोंसे इस्लामको सख्त नुकसान पहुँचता है।"

ग़ज़ालीके ये विचार सनातनी विचारोंके मुसलमानों तथा उनको हर वक्त भड़कानेके लिये तैयार मुल्लोंको अपना विरोधी बनानेवाले थे, इसे फिरसे कहने की ज़रूरत नही। तो भी ग़ज़ालीका प्रयत्न सफल हुआ, इसे उनके विरोधी इब्न-तैमियाके ये शब्द बतला रहे हैं[1]—

"मुसलमान और आँखवाले (मुल्ले ?) लोग तर्क (=शास्त्रियों) के ढगको समझते आते थे। इस (तर्क) के प्रयोगका रवाज अबू-हामिद (गजाली) के समयसे हुआ, उसने यूनानी तर्क शास्त्रके मन्तव्योंको अपनी पुस्तक—मुस्तस्फी—में मिला लिया।"

५—सामाजिक विचार

हो नही सकता था, कि गज़ालीके जैसा उर्वर मस्तिष्क अपने विचारोंको दर्शन और धर्म तक ही सीमित रखता। यहाँ उसके समाज-संबंधी विचारो-पर भी कुछ प्रकाश डालना चाहते हैं।

(१) राजतंत्र-संबंधी—ग़ज़ालीने इस्लामी साहित्यमें कबीलोके भीतरकी सादगी, भाईचारा आदिके बहुतसे उदाहरण पढ़े थे, जब वह उनसे

१. "अर्-रद्द अल'ल्-मन्तिक"।

अपने समकालीन राजाओंके आचरणसे मिलाते थे तो उनके दिलमें असन्तोषकी आग भड़के बिना नहीं रह सकती थी। इसीलिए गज़ालीने अपने समयके राजतंत्रपर कितनी ही बार चोटें की हैं। जैसे —

"हमारे समयमे सुल्तानोकी जितनी आमदनी है, कुल या बहुत अधिक हराम है, और क्यो हराम न हो? हलाल आमदनी तो ज़कात (=ऐच्छिक कर) और लडाई-लूट (=गनीमतके माल) का पाँचवाँ हिस्सा (यही दो) है। सो इन चीजोका इस समयमे कोई अस्तित्व नही। सिर्फ जज़िया (अनिवार्य कर) रह गया है, जिसे ऐसे जालिमाना ढगसे वसूल किया जाता है, कि वह उचित और हलाल नही रहता।"[1]

गज़ालीने सुल्तानके पास न जानेकी शपथ ली थी, जिसे यद्यपि संजरकी जबर्दस्तीके सामने झुककर एक बार तोड़नेकी नौबत आई, तो भी गज़ाली इन सुल्तानोसे सहयोग न रखनेको अपने ही तक सीमित न कर दूसरो को भी वैसा ही करनेकी शिक्षा देते थे[2]—

"आदमीको सुल्तानोंके दरबारमे पग-पगपर गुनाह (=पाप) करना पडता है। पहिली ही बात यह है, कि शाही मकान बिलकुल जबर्दस्तीके जरिए बने होते है, और ऐसी भूमिपर पैर रखना पाप है। दरबारमें पहुँचकर सिर झुकाना, हाथको बोसा (=चुम्बन) देना, और ज़ालिमका सम्मान करना पाप है। दरबारमे जरदोज़ीके पर्दे, रेशमी लिबास, सोनेके बर्तन आदि जितनी चीजे आती है सभी हराम है और इनको देख कर चुप रहना पाप है। आखिरमे बादशाहके तन-धनकी कुशलक्षेमके लिए दुआ माँगनी पड़ती है, और यह पाप है।"

इसलिए गज़ालीकी सलाह है —

"आदमी इन सुल्तानो (=राजाओ) से इस तरह अलग-अलग रहे कि कभी उनका सामना न होने पाये। यही करना उचित है, क्योंकि इसीमे मंगल है। आदमीको यह विश्वास रखना फर्ज है, कि इन (=सुल्तानों) के

---

१. "अह्याउल्-उलूम"। २. वही

अत्याचारके प्रति द्वेष रक्खे। आदमीको चाहिए कि न वह उनकी कृपा का इच्छुक हो, और न उनकी प्रशंसा करे, न उनका हाल-चाल पूछे और न उनके संबंधियोंसे मेल-जोल रखे।"[1]

एक जगह गजालीके निष्क्रिय असहयोगने चन्द शर्तोंके साथ कुछ सक्रियताका रूप भी लेना चाहा है:—

"सुल्तानों (=राजाओं) का विरोध करनेसे यदि देशमे फसाद (=खून-खराबी) होनेका डर हो, तो (वैसा करना) अनुचित है। किन्तु अगर सिर्फ अपनी जान-मालका खतरा हो, तो उचित ही नही बल्कि वह बहुत ही श्लाघनीय है। पुराने बुजुर्ग हमेशा अपनी जानको खतरे में डालकर स्वतंत्रताका परिचय देते थे, और सुल्तानो तथा अमीरोंको हर समय टोकते रहते थे। इस कामके लिए यदि कोई आदमी जानसे मारा जाता था, उसे सौभाग्यशाली माना जाता था, क्योंकि वह शहीदका दर्जा पाता था।"[2]

यही तक नही उनके दिलमें यह भी ख्याल काम कर रहा था, कि ऐसे राज्योंको हटाकर एक आदर्श राज्य कायम किया जाये, जिसके शासक-मे जहाँ एक ओर बद्दू कबीलेके सरदारकी सादगी तथा न्याय हो, वहाँ दूसरी ओर उसमे अफलातूनी प्रजातंत्रके नेता दार्शनिकों अथवा खुद गजाली जैसे सूफीके गुण हों। इस विचारको कार्यरूपमें परिणत करनेमें गजाली स्वयं तो असमर्थ रहे, किन्तु उनकी सलाहसे उनके शिष्य तोमरतने उसे कार्यरूपमें परिणत किया, यह हम अभी बतलानेवाले हैं।

(२) **कबीलाशाही आदर्श**—गजाली न व्यवहार-कुशल विचारक थे, न उनकी प्रकृतिमे साहस और जोखिम उठानेकी प्रवृत्ति थी। सुल्तानों-अमीरोंके दर्बारसे वह तंग थे, एक ओर सलजूकी सुल्तान या बगदादके खलीफाके यहाँ जानेपर झुककर दोहरे शरीरसे सलाम फिर हाथपर चुंबन देना, दूसरी ओर अरबोंका पैगंबर मुहम्मदके आनेपर भी सम्मानार्थ

---

१. "अह्याउल्-उलूम्"। २. "अह्याउल् उलूम"।

खडा न होना, ग़ज़ालीके दिमागको सोचने पर मजबूर करता था। शायद ग़ज़ाली स्वयं अमीरज़ादा या शाहज़ादा होते तो दूसरी तरहकी व्याख्या कर लिए होते; किंतु उन्हें अपने बचपनके दिन याद थे, जब कि भर्तृहरि[1] के शब्दोंमें —

"भ्रान्तं देशमनेकदुर्गविषम प्राप्तं न किंचित् फलं,
त्यक्त्वा जातिकुलाभिमानमुचित सेवा कृता निष्फला।
भुक्तं मानविवर्जित परगृहे साशकया काकवत्।"[2]

अनाथ ग़ज़ालीने कितने ही दिन भूखो और कितनी ही जाडेकी रातें ठिठुरते हुए बिताई होगी। दूसरोंके दिए टुकडोको खाते वक्त उन्होंने अच्छी तरह अनुभव किया होगा, कि उनमे कितना तिरस्कार भरा हुआ है। यद्यपि ३४ वर्षकी उम्र मे पहुँचनेपर उन्हें वह सभी साधन सुलभ थे, जिनसे कि वह भी एक अच्छे अमीरकी जिन्दगी बिता सकते थे, किन्तु यहाँ वह उसी तरह मानसिक समझौता करनेमे सफल नही हुए जैसे धर्मवाद और बुद्धिवादके झगडेमे। उन्होंने पैगबर और उनके साथियो (सहाबा) के जीवनको पढा था, उनकी सादगी, समानता उन्हें बहुत पसद आई, और वह उसीको आदर्श मानते थे। उन्हे क्या पता था, प्रकृतिने लाखो सालके विकासके बाद मानवको कबीलेके रूप मे परिणत होने का अवसर दिया था। अपनी बढती आवश्यकता, सख्या, बुद्धि और जीवन-साधनोने जमा होकर उसे अगली सीढी सामन्तवादपर जानेके लिए मजबूर किया था। कबीलाशाही प्रभुत्वको हटाकर सामन्तशाही प्रभुत्व स्थापित करनेमे हजारो वर्षों तक जो नर-सहार होता रहा, म्वाविया और अली अथवा

---

१. "वैराग्यशतक"।

२. अनेक कठिन-कठोर देश विदेशों में घूमा फिरा——धक्के खाए, जाति और कुलका अभिमान त्यागकर दूसरोंकी निष्फल सेवा की। मानाभिमान त्यागकर——कौओंकी तरहसे दूसरोंके यहाँ सशंक होकर खाया——अर्थात् दर दर ठोकरें खाता फिरा, किन्तु तो भी कुछ फल न मिला।

कर्बलाका झगड़ा भी उसीका एक अंश था, किन्तु बहुत छोटा नगण्यसा अंश। इतने संघर्षके बाद आगे बढ़े इतिहासके पहिएको पीछे हटाना प्रकृतिके लिए कितना असंभव काम था, यह ग़ज़ालीकी समझमें नहीं आ सकते थे, इसीलिए वह असंभवके संभव होनेकी (करनेकी नही) लालसा रखता था।

उनके ग्रंथोंमें जगह-जगह उद्धृत बद्दू समाजकी निम्न घटनाएँ ग़ज़ाली-के राजनीतिक आदर्शका परिचय देती हैं—

१. "एक बार अमीर म्वाविया (६६१-८० ई०) ने लोगोंकी वृत्तियाँ बन्द कर दी थीं। इस पर अबू-मुस्लिम खौलानीने भरे दरबारमें उठकर कहा—'ऐ म्वाविया! यह आमदनी तेरी या तेरे बापकी कमाई नही है'।"

२. "अबू-मूसाकी रीति थी, कि खुत्बा (=उपदेश) के वक्त खलीफा उमर (६४२-४४ ई०) का नाम लेकर उनके लिए दुआ करते थे।.... जब्बाने ठीक खुत्बा देते वक्त ही खड़े होकर कहा—'तुम अबू-बकरका नाम क्यों नही लेते, क्या उमर अबू-बकरसे बडा है?'.. (उमरने इस बातको सुनकर) जब्बाको मदीना बुलवाया। जब्बाने उमरसे पूछा—'तुमको क्या हक था, कि मुझे यहाँ बुलवाते?'... फिर उसने (अबू-मूसाकी खुशामद वाली) सब बात ठीक-ठीक बतलाई। उमर रोने लगे, और बोले—'तुम सचपर हो, मुझसे कसूर हुआ, माफ करना'।"

३. "हारून और सफियान सोरीमे बचपनकी दोस्ती थी। जब हारून बगदादमे खलीफा (७८६-८०९ ई०) बना तो सब लोग उसको बधाई देने आए, किन्तु सफ़ियान नही आया। हारूनने स्वयं सफियानसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की, लेकिन उसने पर्वा न की, अन्तमें हारूनने सफियानको पत्र लिखा—

"मेरे भाई सफियान, .. .तुमको मालूम है कि भगवान्ने सभी मुसलमानोमे भाईका संबंध कायम किया है। अब भी मेरे और तुम्हारे बीच पहिलेके सबंध वैसे ही हैं, मेरे सारे दोस्त मेरी खिलाफतके लिए बधाई देने मेरे पास आए और मैंने उन्हें बहुमूल्य इनाम दिये। अफसोस है कि, आप अब तक नही आए। मैं खुद आता, लेकिन यह खलीफाकी शानके खिलाफ है। कुछ भी हो अब अवश्य तशरीफ लाइये।"

सफियानने पत्रको न पढ़कर फेंक दिया और कहा कि मैं इसे हाथ नही लगाना चाहता, जिसे कि जालिम (=राजा)ने छुआ है। फिर उसी पत्रकी पीठपर यह जवाब दूसरेसे लिखवाया—

"बदा निर्बल सफियानकी ओरसे धनपर लट्टू हारूनके नाम। मैंने पहिले ही तुझे सूचित कर दिया था, कि मेरा तुझसे कोई संबंध नही। तूने अपने पत्रमे स्वय स्वीकार किया है, कि तूने मुसलमानोंके कोषागार (=बैतु'ल्-माल)के रुपयेको जरूरतके बिना अनुचित तौरसे खर्च किया। इसपर भी तुझको सन्तोष नही हुआ, और चाहता है, कि मैं कयामतमे (=अन्तिम न्यायके दिन) तेरी फज़ूलखर्चीकी गवाही दूं। हारून[1] तुझको कल खुदाके सामने जवाब देनेके लिए तैयार रहना चाहिए। तू तख्तपर (बैठकर) इजलास करता है, रेशमी लिबास पहिनता है। तेरे दर्वाजे-पर चौकी-पहरा रहता है। तेरे अफसर स्वय शराब पीते है, और दूसरोको शराब पीनेकी सजा देते है, खुद व्यभिचार करते है, और व्यभिचारियों-पर रोब जारी करते है। खुद चोरी करते है, और चोरोंका हाथ काटते है। पहिले इन अपराधोके लिए तुझको और तेरे अफसरोको सजा मिलनी चाहिए, फिर औरोको। . अब फिर कभी मुझको पत्र न लिखना।"

"यह पत्र जब हारूनके पास पहुँचा, तो वह (आत्मग्लानिके मारे) चीख उठा, और देर तक रोता रहा।"

गजाली एक ओर दार्शनिक उडानकी आजादी चाहता था, दूसरी ओर कबीलाशाहीकी सादगी और समानता—कहाँ कबीलाशाही और कहाँ ख्यालकी आजादी!

(३) इस्लामिक पंथोंका समन्वय—इस्लामके भीतरी सम्प्रदायो के झगडोको दूर करना गज़ालीके अपने उद्देश्योमे था। दर्शनमे उनके जबर्दस्त विरोधी रोश्दका कहना है[1]—

"गज़ालीने अपनी किताबोमे सम्प्रदायोमेसे किसी खास सम्प्रदायको

---

१. "फस्लु'ल्-मुक़ाला"।

नहीं हुआ है। बल्कि (यह कहना चाहिए कि) वह अश्अरियोंके साथ अशअरी, सूफ़ियोंके साथ सूफी और दार्शनिकोंके साथ दार्शनिक है।"

ग़ज़ालीके वक्त इस्लाम सिन्ध और काशगरसे लेकर मराको और स्पेन तक फैला हुआ था, इस विस्तृत भूखंडपर इस्लामसे भिन्न धर्म खतम हो गए थे, या उनमें इस्लामसे आँख मिलानेकी शक्ति नहीं रह गई थी। किन्तु खुद इस्लामके भीतर बीसियों सम्प्रदाय पैदा हो गए थे। इनमे सबसे ज्यादा जोर तीन फिर्कोंका था—अश्अरी, हंबली और बातनी (=शीआ)। इन सम्प्रदायोंका प्रभाव सिर्फ धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित न था, बल्कि उन्होने शासनपर अपना अधिकार जमाया था। स्पेनमें हंबली सम्प्रदायके हाथमे धार्मिक राजनीतिकशक्ति थी। बातनी (=शीआ) मिश्रपर अधिकार जमाए हुए थे। खुरासान (पूर्वी ईरान) से इराक तक अश्अरियोका बोलबाला था। बातनी चूँकि शीआ थे, इसलिए उनके विरुद्ध अली-म्वावियाके समयसे सुलगाई आग अब भी यदि धाँय-धाँय कर रही थी, तो कोई आश्चर्य नही; किन्तु ताज्जुब तो यह था, कि अश्अरी और हंबली दोनो सुन्नी होनेपर भी एक दूसरेके खूनके प्यासे रहते थे। शरीफ़ अबुल्-क़ासिम (४७५ हिजरी या १०८२ ई०) बहुत बड़ा उपदेशक था। महामंत्री निजामुल्मुल्कने उसे बड़े सम्मानके साथ निज़ामिया (बग-दाद) का धर्मोपदेष्टा बनाया था। वह मस्जिदके मेंबर (=धर्मासन)-से खुले आम कहता था कि हंबली काफिर हैं। इतनेहीसे उसे सन्तोष नही हुआ, बल्कि उसने महाजनके घरपर जाकर ऐसी ही बाते की, जिसपर भारी मारकाट मच गई। अल्प अर्सलन् सल्जूकी (१०६२-७२ ई०)के शासनकालमे शीओं और अश्अरियोंपर मुद्दतों मस्जिदके धर्मासनसे लानत (धिक्कार) पढ़ी जाती थी। निज़ामुल्-मुल्क जब महामंत्री हुआ तो उसने अश्अरियोंपर पढ़ी जानेवाली लानतको तो बंद कर दिया, किन्तु शीआ बेचारोंकी वही हालत रही। अबू-इस्हाक शीराज़ी बगदादकी विद्वन्मंडलीके सरताज थे, और वह भी हंबलियोंको बुरा-भला कहना अपना फर्ज समझते थे, इसकी ही वजहसे एक बार बगदादमें भारी मारकाट मच गई थी।

जहाँ जिस सम्प्रदायका जोर था, वहाँ दूसरेको "दशननमें जीभ बेचारी।" बनकर रहना पड़ता था। इब्न-असीर मोतजला-सम्प्रदायका प्रधान नेता और भारी विद्वान् था, उसकी मृत्यु ४७८ हिजरी (१०८५ ई०)में हुई। अपने सम्प्रदाय-विरोधियोंके डरके मारे पूरे पचास साल तक वह घरसे बाहर नही निकल सका था। इन झगडो, खून-खराबियोंकी जड़को बुरा कहते हुए गज़ाली लिखते हैं—

"(धार्मिक) विद्वान् बहुत सख्त हठधर्मी दिखलाते हैं, और अपने विरोधियोंको घृणा और बेइज्जतीकी नजरसे देखते हैं। यदि यह लोग विरोधियोके सामने नर्मी, मुलायमियत और प्रेमके साथ काम लेते, और हितैषीके तौरपर एकान्तमे उन्हे समझाते, तो (ज़्यादा) सफल होते। लेकिन चूँकि अपनी शान-शौकत (जमाने)के लिए जमातकी ज़रूरत है, जमात बाँधनेके लिए मजहबी जोश दिखलाना तथा अपने सम्प्रदाय-विरोधियोको गाली देना ज़रूरी है, इसलिए विद्वानोने हठधर्मीको अपना हथियार बनाया है, और इसका ही नाम धर्म-प्रेम तथा इस्लाम-विरोध-परिहार रखा है, हालाँकि यह वस्तुत लोगोको तबाह करना है।"

पैगबर मुहम्मदके मुँहसे कभी निकला था—"मेरे मजहबमे ७२ फिर्के (=सम्प्रदाय) हो जायेंगे, जिनमेंसे एक स्वर्गगामी होगा, बाकी सभी नरक-गामी।" इस हदीस (=पैगबर-वाक्य)को लेकर भी हर सम्प्रदाय अपनेको स्वर्गगामी और दूसरोंको नरक-गामी कहकर कटुता पैदा करता था। गज़ालीने इस्लामके इस भयकर गृहकलहको हटानेके लिए एक ग्रथ "तफ़का बैन्'ल-इस्लाम व'ज्-ज़्न्दका" इस्लाम और जिन्दीकी (नास्तिकों)का भेद लिखा है, जिसमें वह इस हदीसपर अपनी राय इस तरह देते है—

"हदीस सही है, लेकिन इसका यह अर्थ नही कि वह (बाकी ७२ फिर्के वाले) लोग काफिर है, और सदा नरकमें रहेंगे। बल्कि इसका असली अर्थ यह है, कि वह नरकमें . . अपने पापकी मात्राके अनुसार . रहेंगे।"

---

१. "अह्याउल-उलूम्"।

ग़ज़ालीने अपनी इस पुस्तकमें काफिर (नास्तिक) होनेके सभी लक्षणोंसे इन्कार करके कहा, कि काफिर वही है, जो मुसलमान नहीं हैं, और "वह सारे (आदमी) मुसलमान हैं जो कल्मा ('अल्लाहके सिवाय दूसरा ईश्वर नहीं, मुहम्मद अल्लाहका भेजा हुआ है')[1] पढ़नेवाला है, और मुसलमान होनेके नाते सभी भाई-भाई हैं। इन सम्प्रदायोंका मतभेद है, उसका मूल इस्लामसे कोई सम्बन्ध नही, वह गौण और बाहरी बातें हैं।"

ग़ज़ालीने अपनी इस उदारशयताको मुसलमानों तकही सीमित नहीं रखा बल्कि उन्होंने लिखा है—

"बल्कि मैं कहता हूँ कि हमारे समयके बहुतसे तुर्क तथा ईसाई रोमन लोग भी भगवान्के कृपापात्र होंगे।"

इस प्रयत्नका फल ग़ज़ालीको अपने जीवनमें ही देखनेको मिला। अशूअरियों और हबलियोंके झगड़े बहुत कुछ बंद हो गए। बगदादके शीओं और सुन्नियोंमें ५०२ हिजरी (११०९ ई०) मे सुलह हो गई, और वह आपसी मार-काट बन्द हो गई, जिससे राजधानीके मुहल्लेके मुहल्ले बर्बाद हो गए थे।

६ – ग़ज़ाली के उत्तराधिकारी

अपनी पुस्तकोंकी भाँति ग़ज़ालीके शिष्योंकी भी भारी संख्या थी, जिनमे कितने ही इस्लामके धार्मिक इतिहासमे खास स्थान रखते हैं, पाठकों के लिए अनावश्यक समझकर हम उनके नामोकी सूची देना नही चाहते। ग़ज़ालीकी शिक्षाका महत्त्व इसीसे समझिए कि मुसलमानोंकी भारी संख्या आज भी उन्हे ही अपना नेता मानती है। हाँ, उनके एक शिष्य तोमरतके बारेमे हम आगे लिखनेवाले है, क्योंकि उसने अपने गुरुके धर्म-मिश्रित राजनीतिक स्वप्नको साकार करनेमें कुछ हद तक सफलता पाई।

---

१. "ला इलाह इल्ल'ल्लाह मुहम्मदुर्‌-रसूलल्लाह"।
२. "तफ़क़ा बैनु'ल्-इस्लाम व'ज्-जिन्दक़ा"।

अध्याय ७

स्पेनके इस्लामी दार्शनिक

§१. स्पेन की धार्मिक और सामाजिक अवस्था

१ – उमैय्या शासक

जिस वक्त इस्लामिक अरबोंने पूर्वमे अपनी विजय-यात्रा शुरू की थी, उसी समय पश्चिमकी ओर—खासकर पडोसी मिश्रपर—भी उनकी नजर जानी जरूर थी। मिश्रके बाद पश्चिमकी ओर आगे बढते हुए वह तूनिस् और मराको (=मराकश) तक पहुँच गए। पैगबरके देहान्त हुए एक सौ वर्ष भी नही हुए थे, जब कि ९२ हिजरी (७०६ ई०) मे तारिक (इब्न-जियाद) लेसीने १२ हजार बर्बरी (=मराको-निवासी) सेनाके साथ स्पेनपर हमला किया। स्पेनपर उस वक्त एक गॉथिक वशका राज्य था, जो दो हजार वर्षसे शासन करता आ रहा था—जिसका अर्थ है, वह समयके अनुसार नया होनेकी क्षमता नही रखता था। किसानोकी अवस्था दयनीय थी, जमीदारोंके जुल्मोका ठिकाना न था। दासता-प्रथाके कारण लोगोंकी दशा और असह्य हो रही थी—किसानो और दासोके बच्चे पैदा होते ही जमींदारों और फौजी अफ़सरोमें बाँट दिये जाते थे। जनता इस जुल्मसे त्राहि-त्राहि कर रही थी, जब कि तारिककी सेना अफ्रीकाके तटसे चलकर समुद्रके दूसरे तटपर उस पहाडीके पास उतरी जिसका नाम पीछे जब्ल-तारिक (=तारिककी पहाडी) पडा, और जो बिगडकर आज जिब्राल्टर बन गया है। राजा रोद्रिकने तारिकका सामना करना चाहा,

किन्तु पहिली ही मुठभेड़में उसकी ऐसी हार हुई, कि निराश हो रोद्रिक नदीमें डूब मरा। दूसरे साल अफ्रीकाके मुसलमान गवर्नर मूसा-बिन्-नसीर-ने स्वयं एक बड़ी फौज लेकर स्पेनपर चढाई की, स्पेनमें किसीकी मजाल नही थी, कि इस नई ताकतको रोकता। तो भी मुल्कमे थोड़ी बहुत अशान्ति धर्म और जातिके नाम पर कुछ दिनों तक और जारी रही। किन्तु तीन चार सालके बाद प्राय: सारा स्पेन मुसलमानोके हाथमे आ गया—"जायदादें मालिकोंको वापस की गईं, मजहबी स्वतन्त्रताकी घोषणा की गई। दूसरी जातियोको अपने धार्मिक कानूनके अनुसार जातीय मुकदमोंके फैसलेकी इजाजत दी गई।" मूसाका बेटा अब्दुल्-अज़ीज़ स्पेनका पहिला गवर्नर बनाया गया।

इसके कुछ ही समय बाद बनी-उमैय्याके शासनपर प्रहार हुआ। उसकी जगह अब्दुल्-अब्बासने अपनी सल्तनत कायम की, और उमैय्या खान्दानके राजकुमारोको चुन-चुनकर मौतके घाट उतारा। उसी समय (७५० ई० ?) एक उमैय्या राजकुमार अब्दुर्रहमान दाखिल भागकर स्पेन आया और उसने स्पेनको उमैय्यावंशके हाथसे जानेसे रोक दिया। अब्दुर्रहमान दमिश्क-के सास्कृतिक वायुमडलमे पला था, इसलिए उसके शासनमे स्पेनने शिक्षा और संस्कृतिमे काफी उन्नति की, और पश्चिमके इस्लामिक विद्वानोंने पूर्वसे संबध जोड़ना शुरू किया।

जब तक इस्लाम मराको तक रहा, तब तक अरबोका सबध वहाँके बर्बर लोगोंसे था, जो कि स्वय बद्दुओंसे बेहतर अवस्थामे न थे। किन्तु स्पेनमें पहुँचनेपर वही स्थिति पैदा हुई, जो कि बगदाद जाकर हुई थी। दोनो ही जगह उसे एक पुरानी संस्कृत जातिके सपर्कमे आनेका मौका मिला। बगदादमें अरबोंने ईरानी बीबियोंके साथ ईरानी सभ्यतासे विवाह किया, और स्पेनमें उन्होंने स्पेनिश स्त्रियोंके साथ रोमन-सभ्यताके साथ। इसका परिणाम भी वही होना था, जो कि पूर्वमे हुआ। अभी उस परिणामपर लिखनेसे पहिले ऐतिहासिक भित्तिको जरा और विशद कर देनेकी जरूरत है।

स्पेनपर उमैय्योंका राज्य ढाई सौ सालसे ज्यादा (७५६-१०३१ ई०) रहा। स्पेनिश उमैय्योंका वैभव सूर्य तृतीय अब्दुर्रहमान (९१२-६१ ई०)के शासनकालमे मध्याह्नपर पहुँचा था। इसीने पहिले पहिल खलीफाकी पदवी धारण की थी। उसके बाद उसका पुत्र हकम द्वितीय (९६१-७६ ई०)ने भी पिताके वैभवको कायम रखा। धन और विद्या दोनोंमें अब्दुर्रहमान और हकमका शासनकाल (९१२-७६ ई०) पश्चिमके लिए उसी तरह वैभवशाली था, जिस तरह हारून मामूनका शासनकाल (७८६-८३३ ई०) पूर्वके लिए। हाँ, यह जरूर था कि स्पेनके मुसलमानी समाजमें अपने पूर्वज या अब्बासियो द्वारा शासित समाजकी अपेक्षा विद्यानुरागके पीछे सारा समय बितानेवालोकी अपेक्षा कमाऊ लोग ज्यादा थे। अब्दुर्रहमानकी प्रजामे ईसाइयोके अतिरिक्त यहूदियोकी संख्या भी शहरोमें पर्याप्त थी। कैसर हर्दियनने विजन्तीनसे देशनिकाला देकर पाँच लाख यहूदियोंको स्पेनमे बसाया था। ईसाई शासनमें उन्हे दबाकर रखनेकी कोशिश की जाती थी, किन्तु इस्लामिक राज्य कायम होनेपर उनके साथ बेहतर बर्ताव होने लगा, और इन्होने भी देशकी बौद्धिक और सांस्कृतिक प्रगतिमे भाग लेना शुरू किया। स्पेनके यहूदियोका भी धार्मिक केन्द्र बगदादमे था, जहाँ सर्कार-दर्बारमें भी यहूदी हकीमो और विद्वानोका कितना मान था, इसका जिक्र पहिले हो चुका है। स्पेनमें पहिलेसे भी रोमन-कैथलिक जैसे धार्मिक संकीर्णताके लिए कुख्यात सम्प्रदायका जोर था। मुसलमान आए, तो अरब और अर्ध-अरब इतनी अधिक संख्यामें आकर बस गए कि स्पेनके शहरो और गाँवोमे अरबी भाषा आम बोल चाल हो गई। ये अरब पूर्वके साम्प्रदायिक मतभेदोको देखकर नहीं चाहते थे कि वहाँ दूसरे सम्प्रदाय सर उठायें। उन्होने हंबली सम्प्रदायको स्वीकार किया था, जिसमे कुरानका वही अर्थ उन्हें मंजूर था, जो कि एक साधारण बद्दू समझता है। ईसाइयो और अरबोकी इस पक्की किलाबंदीमें यदि कोई दरार थी, तो यही यहूदी थे, जिनका संबंध बगदाद जैसे "वायु बहै चौआई" वाले विचार-स्वातंत्र्य केन्द्रसे था। ये लोग चुपकेचुपके दर्शनकी पुस्तकोंको

पढ़ते और प्रचार करते थे। इनके अतिरिक्त कितने ही प्रतिभाशाली मुसलमान भी "निषिद्ध फल" के खानेके लिए पूर्वकी सैर करने लगे। अब्दु-र्रहमान बिन्-इस्माइल ऐसे ही लोगोंमें था, जिसने पूर्वकी यात्रा की, और ईरानके साबी विद्वानोंके पास रहकर दर्शनकी शिक्षा ग्रहण की। इसीने लौटकर पहिले-पहिल पवित्र-संघ (अख़्वानुस्सफ़ा)-ग्रन्थावलीका स्पेनमें प्रचार किया। यह ४५८ हिजरी (१०६५ ई०)में मरा था।

२ – दर्शन का प्रथम प्रवेश

हकम द्वितीय स्पेनका हारून था। उसे विद्यासे बहुत प्रेम था, और दार्शनिकोंकी वह खास तौरसे बहुत इज्जत करता था। उसे पुस्तकोंके संग्रहका बहुत शौक था। दमिश्क, बगदाद, काहिरा, मर्व, बुखारा तक उसके आदमी पुस्तकोंकी खोजमे छुटे हुए थे। उसके पुस्तकालयमें चार लाख पुस्तकें थीं। इस पुस्तकालयका प्रधान पुस्तकाध्यक्ष अल्-हज्जी बयान करता है कि पुस्तकालयकी ग्रंथ सूची ४४ जिल्दों—प्रत्येक जिल्दमे बीस पृष्ठ—मे लिखी गई थी। हकमको पुस्तकोंके जमा करनेका ही नही पढ़नेका भी शौक था, पुस्तकालयकी शायद ही कोई पुस्तक हो जिसे उसने एक बार न पढ़ा हो, या जिसपर हकमने अपने हाथसे ग्रंथकारका नाम, मृत्युकाल आदि न लिखा हो; उसका दर्शनकी पुस्तकोंका संग्रह बहुत जबर्दस्त था।

हकमके मरने (९७६ ई०) के बाद उसका बारह सालका नाबालिग़ बेटा हश्शाम द्वितीय गद्दीपर बैठा, और काजी मंसूर इब्न-अबीआमर उसका वली मुकर्रर हुआ। आमरने हश्शामकी माँको अपने काबूमें करके दो सालोंमें पुराने अफ़सरों और दरबारियोंको हटाकर उनकी जगह अपने आदमियोंको भर दिया। और फिर हश्शामको नाममात्रका बादशाह बनाते हुए उसने अपने नामके सिक्के जारी किए, खुत्बे (मस्जिदमें शुक्रके उपदेश) अपने नामसे पढ़वाने शुरू किए; देशके लोग और बाहरवाले भी आमरको खलीफ़ा समझने लगे थे। आमरने तलवारसे यह शक्ति

नही प्राप्त की, बल्कि यह उसकी चालबाजियोंका पारितोषिक था। इन्हीं चालबाजियोमे एक यह भी थी कि वह अपनेको मजहबका सबसे जबर्दस्त भक्त जाहिर करता था। "उसने (इसके लिए) आलिमो और फकीहों (=मीमासको)का एक जलसा बुलाया। एक छोटेसे भाषणमे उनसे प्रश्न किया कि तुम्हारे ख्यालमे दर्शन और तर्कशास्त्रकी कौन-कौनसी पुस्तके देशमें फैलकर भोले-भाले मुसलमानोंके ईमानको खराब कर रही हैं। स्पेनके मुसलमान अपनी मजहबी हठधर्मीके लिए मशहूर ही थे, दर्शनसे उन्हें हमेशा टकराना पडता था। इन लोगोने तुरन्त प्रचारके लिए निषिद्ध पुस्तकोकी एक लबी सूची तैयार करके इब्न-अबी-आमरके सामने रखी। आमरने उन्हें विदा कर दर्शनकी पुस्तकोको जलानेका हुक्म दिया।"[१]

हकमका बहुमूल्य पुस्तकालय बातकी बातमें जलकर राख हो गया; जो पुस्तकें उस वक्त जलनेसे बच गईं वह पीछे (१०१३ ई०) बर्बरोंके गृह-युद्धमे जल गईं। हकमके शासनमे दार्शनिकोको बहुत बडे-बडे दर्जे मिले थे, यह कहनेकी जरूरत नही कि आमरने उन्हे पहिले ही दूधकी मक्खीकी तरह निकाल फेंका। खैरियत यही थी कि आमर यहूदियोंका कत्ल-आम नही कर सकता था, जिससे और जबतक वह स्पेन (यूरोप)की भूमिपर थे, तबतक दर्शनका उच्छेद नहीं किया जा सकता था।

३–स्पेनिश् यहूदी और दर्शन

दसवी सदीमे स्पेनकी राजधानी कार्दोवा (=कर्तबा)की आबादी दस लाखसे ज्यादा थी, और पश्चिममे उसका स्थान वही था, जो कि पूर्वमे बग-दादका। वहाँ स्पेन और मराकोके ही नही यूरोपके नाना देशोके गैर-मुस्लिम विद्यार्थी भी विद्या पढने आया करते थे—यह कहनेकी जरूरत

१. "इब्न-रोश्द" (मुहम्मद यूनस् अन्सारी फिरंगीमहली), पृष्ठ २७ से उद्धृत।

नही कि इस वक्तकी सभ्य दुनियाके पश्चिमार्द्ध (पश्चिमी एसिया और युरोप)की सास्कृतिक भाषा अरबी थी, उसी तरह जैसे कि प्राय सारे पूर्वार्द्ध (भारत, जावा, चम्पा, आदि)की सस्कृत। अरबी और इब्रानी (यहूदियोकी भाषा) बहुत नजदीककी भाषाए हैं, इसलिए यहूदियोको और भी सुभीता था। दर्शनके क्षेत्रमे यहूदियोका पहिलेसे भी हाथ था, किन्तु जब हकम द्वितीयने अपने समयके प्रसिद्ध दार्शनिक हकीम हस्दा बिन-इस्हाकको अपना कृपा-पात्र बनाया, तबसे उन्होने दर्शनके झंडेको और आगे बढानेकी जद्दोजहद शुरू की। इब्न-इस्हाकने जब पहिले-पहिल अरस्तूके दर्शनका प्रचार करना शुरू किया, तो यहूदी धर्माचार्योंने फतवा निकालकर मुखालफत करनी चाही, किन्तु वह बेकार गई, और ग्यारहवी सदी पहुँचते पहुँचते अरस्तू स्पेनके यहूदियोका अपना दार्शनिक-सा बन गया।

(१) **इब्न-जिब्रोल** (१०२१-७० ई०)—जिब्रोल माल्ताके एक यहूदी परिवारमे पैदा हुआ था। यह स्पेनका सबसे बडा और मशहूर दार्शनिक था। जिब्रोलका प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक "यम्बूउ'ल्-हयात" है। इसके दार्शनिक विचार थे—दुनियामे दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ हैं भूत (मूल प्रकृति या हेवला) और आत्मा (=विज्ञान) या "आकार"। लेकिन यह दो वस्तुए वस्तुत एक परमसामान्य (परमतत्त्व) के भीतर है, जिसे जिब्रोल सामान्यभूत (या सामान्यप्रकृति) कहता है। जिब्रोलके इस विचारको रोश्दने और विकसित किया है।

(२) **दूसरे यहूदी दार्शनिक**—जिब्रोलके बाद दूसरा बडा यहूदी दार्शनिक मूसा बिन मामून हुआ जिसका जन्म ११३५ ई०मे कार्दोवामे हुआ था। यह एक प्रतिभाशाली विद्वान् था। तोमरतके उत्तराधिकारी अब्दुल्मोमिनने जब स्पेनपर अधिकार करके दर्शनके उत्पादन-क्षेत्र यहूदियोपर गजब ढाना, तथा देशनिकाला देना शुरू किया, तो मूसा मिश्र चला गया, जहाँ मिश्रके सुल्तान सलाहुद्दीनने उसे अपना (राज-) वैद्य बना लिया और वहीं ६०५ हिजरी (१२१२ ई०) मे उसकी मृत्यु हुई।

कोई-कोई विद्वान् मूसाको रोश्दका शिष्य कहते हैं।

मूसाके बाद उसका शिष्य तथा दामाद यूसुफ-बिन्-यह्या एक अच्छा दार्शनिक हुआ।

स्पेनिश् यहूदी दर्शनप्रेमियोकी सख्या घटनेकी जगह बढती ही गई, किन्तु अब रोश्द-सूर्यके उग आनेपर वह टिमटिमाते तारे ही रह सकते थे।

४—मोहिदीन शासक

ग्यारहवी सदीमें उमैय्या शासक इस अवस्थामे पहुँच गए थे, कि देश-की शक्तिको कायम रखना उनके लिए मुश्किल हो गया। फलतः सल्तनत-में छोटे-छोटे सामन्त स्वतत्र होने लगे। वह समय नजदीक था, कि पड़ोसी ईसाई शासक स्पेनकी सल्तनतको खतम कर देते, इसी वक्त समुद्रके दूसरे (अफ्रीकी) तटके बर्बरोने १०१३ ई० मे हमला किया और कार्दोवाको जलाया, बर्बाद किया। इसके बाद उन्होंने मराकोमे एक सल्तनत कायम की जिसे ताशकीन (मुल्समीन) कहते है। अली (बिन्-यूसुफ) ताशकीन (–११४७ ई०) वशका अन्तिम बादशाह था, जब कि एक दूसरे राजवश—मोहिदीन—ने उसकी जगह ली।

(१) मुहम्मद बिन्-तोमरत (मृ० ११४७ ई०)—मोहिदीन शासन-का सस्थापक मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्लाह) बिन्-तोमरत मराकोके बर्बरी कबीले मस्मूदीमे पैदा हुआ था। उसका दावा था कि हमारा वश अलीकी सन्तानमेसे है। देशमे उपलभ्य शिक्षाको समाप्त कर वह पूर्वकी ओर आया और वहाँ जिन विद्वानोंसे उसने शिक्षा ग्रहण की, उनमे ग़ज़ालीका प्रभाव उसपर सबसे ज्यादा पडा। गज़ालीके पास वह कई साल रहा, और इस समय इस्लाम और खासकर स्पेनकी इस्लामी सल्तनतकी दुरवस्थापर गुरु-चेलोमे अकसर चर्चा हुआ करती थी। ग़ज़ाली भी एक धर्म-राजनीतिक सल्तनतका स्वप्न देख रहे थे, और इधर तोमरत भी उसी मर्जका मरीज़ था। इतिहास-दार्शनिक इब्न-खल्दून इस बारेमें लिखता है—

"जैसाकि लोगोंका ख्याल है, वह (तोमरत) ग़ज़ालीसे मिला, और

उससे अपनी योजनाके बारेमें राय ली। ग़ज़ालीने उसका समर्थन किया, क्योंकि वह ऐसा समय था, जबकि इस्लाम सारी दुनियामें निर्बल हो रहा था, और कोई ऐसा सुल्तान न था, जो कि सारे पंथ (मुसलमानों)को सगठित कर उसे कायम रख सके। किन्तु ग़ज़ालीने (अपनी सहमति तब प्रकट की, जब कि उसने, पूछकर जान लिया कि उसके पास उतना साधन और जमात है, जिसकी सहायतासे अपनी शक्ति और रक्षाका प्रबन्ध कर सकता है[1]।"

ग़ज़ालीके आशीर्वादसे उत्साहित हो तोमरत देशको लौटते हुए मिश्रमें पहुँचा। काहिरामे उसके उत्तेजनापूर्ण व्याख्यानोंसे ऐसी अशान्ति फैली, कि हुकूमतने उसे शहरसे निकाल दिया। सिकन्दरियामें चन्द दिनों रहनेके बाद वह तूनिस होता मराको पहुँचा। तोमरत पक्का धर्मान्ध था, उसके सामने जरासी भी कोई बात शरीअतके विरुद्ध होती दिखाई पड़ती, कि वह आपेसे बाहर हो जाता। मराकोके बर्बर कबीलोंमें काफी बद्दूइयत मौजूद थी, इसलिए उनके वास्ते यह आदर्श मुल्ला था, इसमें सन्देह नहीं। थोड़े ही समयमें ग़ज़ालीके शागिर्द, बगदादसे पढ़कर लौटे इस महान् मौल्वीकी चारों ओर ख्याति फैल गई। वह बादशाह, अमीर, मुल्ला सबके पीछे लट्ठ लिए पड़ा था; और इसके लिए वहाँ बहुत मसाला मौजूद था। मुल्स-मीन (ताशफीन) खान्दानमें एक अजब रवाज था, उनकी औरतें खुले मुँह फिरती थीं, किन्तु मर्द मुँहपर पर्दा डालकर चलते थे। व्यभिचार आम था, भले घरोंकी बहू-बेटियोंकी इज्जत फौजके लोगोंके मारे नही बचती थी—शहरोंमें यह सब कुछ खुल्लमखुल्ला चल रहा था। शराब खुले आम बिकती थी। मामला बढते देख मुल्समीन सुल्तान् अली बिन-ताशफीन ने तोमरत-के साथ शास्त्रार्थ करनेके लिए विद्वानोंकी एक सभा बुलाई। शास्त्रार्थ-मे तोमरतकी जीत हुई, बादशाहने उसके विचारोंको स्वीकार किया[2]।

---

१. इब्न-खल्दून, जिल्द ५, पृष्ठ २२६ २. स्मरण रहे यही अली बिन्-ताशफीन् था, जिसने ग़ज़ालीकी पुस्तकोंको जलवाया था।

इसपर दर्बारवाले दुश्मन बन गए, और तोमरतको भागकर अम्साम्दा नामक बर्बरी कबीलेके पास शरण लेनी पड़ी। यहाँसे उसने अपने मतका प्रचार और अनुयायियोंको सैनिक ढगपर सगठित करना शुरू (११२१ ई०) किया। इसी समय अब्दुल्मोमिन उसका शागिर्द बना। तोमरत अपने जीवनमे अपने विचारोंके प्रचार तथा लोगोके सगठनमे ही लगा रहा, उसे चद कबीलोंके सगठनसे ज्यादा सफलता नही हुई, किन्तु उसके मरनेके बाद उसका शागिर्द अब्दुल्-मोमिन उसका उत्तराधिकारी हुआ, जिसने ५४२ हिजरी (११४७ ई०) मे मराकोपर अधिकार कर मुल्समीनकी सल्तनतको खतम कर दिया।

(२) **अब्दुल्-मोमिन** (११४७-६३ ई०)—तोमरत अपनेको मोहिद (अद्वैतवादी) कहता था, इसलिए, उसका सस्थापित शासन मोहिदों (मोहिदीन)का शासन कहा जाने लगा, और अब्दुल्-मोमिन मोहिदीनका पहिला सुल्तान था। अब्दुल्मोमिन कुम्हारका लडका था, और सिर्फ अपनी योग्यता और हिम्मतसे तोमरतके मिशनको सफल करनेमे समर्थ हुआ था। मराकोमे इस तरह उसने अपना राज्य स्थापित कर तोमरतकी शिक्षाके अनुसार हुकूमत चलानी शुरू की। इसकी खबर उस पार स्पेनमे पहुँची। स्पेनकी सल्तनत टुकडे-टुकड़ेमे बँटी हुई थी। इन छोटे-छोटे सुल्तानोकी विलासिता और जुल्मसे लोग तग थे, उन्होंने स्वयं एक प्रतिनिधि मडल अब्दुल्मोमिनके पास भेजा। अब्दुल्मोमिनने उसका बहुत स्वागत किया, और आश्वासन देकर लौटाया। थोडे ही समय बाद अब्दुल्मोमिनने स्पेनपर हमला किया, और स्पेनको भी मराकोकी सल्तनतमे मिला लिया।

तोमरतने अपनेको अश्अरी घोषित किया था, इसलिए अब्दुल्मोमिनने भी उसे सरकारी पथ घोषित किया, लकिन यह अश्अरी पथ ग़ज़ालीकी शिक्षासे प्रभावित था, इसलिए दर्शनका अन्धा दुश्मन नही बल्कि बुद्धिकी कदर करता था। यद्यपि उसके शासनके आरम्भिक दिनोमे सख्तीके कारण कितने ही यहूदियो और उनके दार्शनिकोंको देश छोड़कर भागना पडा था, किन्तु आगे अवस्था बदली। हकम द्वितीयके बाद यह पहिला

समय था जब कि दर्शनके साथ हुकूमतने सहानुभूति दिखानी शुरू की। अबूमर्दां बिन-जुह्र और इब्न-तुफैल उस वक्त स्पेनमें दो प्रसिद्ध दार्शनिक थे, अब्दुल्मोमिनने दोनोंको ऊँचे दर्जे दिये। अब्दुल्मोमिन शिक्षाका बड़ा प्रेमी था। अब तक विद्यार्थी मस्जिदोंमें ही पढ़ा करते थे, मोमिनने मद्रसोंके लिए अलग खास तरहकी इमारतें बनवाईं। उसका ख्याल था, कि जो बुराइयाँ इस्लाममें आयेदिन घुस आया करती हैं, उनके दूर करनेका उपाय शिक्षा ही है।

मोमिनके बाद (११६३ ई०) उसका पुत्र मुहम्मद ४८ दिन तक राज कर सका, और नालायक समझ गद्दीसे उतार दिया गया; उसके बाद उसका भाई याकूब मन्सूर (११६३-८४) गद्दीपर बैठा, इसमें मोमिनके बहुतसे गुण थे, कितनी ही कमजोरियाँ भी थीं, जिन्हें हम रोश्दके वर्णनमें बतलायेंगे।

§२. स्पेन के दार्शनिक

१–इब्न-बाजा[१] (मृ० ११३८ ई०)

(१) **जीवनी**—अबू-बक्र मुहम्मद (इब्न-यहिया इब्न-अल्-साग) इब्न-बाजाका जन्म स्पेनके सरगोसा नगरमें ग्यारहवीं सदीके अन्तमें उस वक्त हुआ था, जब कि स्पेनिश सल्तनत खतम होकर स्वतंत्र सामन्तोंमें बँटनेवाली थी। स्पेनके उत्तरमें अर्धसभ्य लड़ाकू ईसाई सर्दारोंकी अमलदारियाँ थीं, जिनसे हर वक्त खतरा बना रहता था। देशकी साधारण जनता उसी दयनीय अवस्थामें पहुँच गई थी जो कि तारिकके आते वक्त थी। मुल्समीन दर्शनके कितने प्रेमी थे, यह तो गजालीके ग्रंथोंकी होलीसे हम जान चुके हैं, ऐसी अवस्थामें बाजा जैसे दार्शनिकको एक अजनबी दुनियामें आये जैसा मालूम हो तो कोई ताज्जुब नहीं। बाजाकी कीमतको सरगोसाके गवर्नर अबू-बक्र इब्न-इब्राहीमने समझा, जो स्वयं दर्शन, तर्कशास्त्र,

---

१. Avempace.

गणित, ज्योतिषका पंडित था। उसने बाजाको अपना मित्र और मंत्री बनाया, जिसका फल यह हुआ कि मुल्ला (=फकीह) और सैनिक उसके खिलाफ हो गए और वह ज्यादा दिन तक गवर्नर नहीं रह सका।

बाजाके जीवनके बारेमें सिर्फ इतना ही मालूम है कि सरगोसाकी पराजयके बाद १११८ ई०में वह शेविलीमे रहा, जहाँ उसने अपनी कई पुस्तकें लिखी। एक बार उसे अपने विचारोंके लिए जेलकी हवा खानी पड़ी, और रोश्दके बापने उसे छुड़ाया था। वहाँसे वह फेज राजदर्बारमें पहुँचा और वहीं ११३८ ई०मे उसका देहान्त हुआ। कहा जाता है कि बाजाके प्रतिद्वंदी किसी हकीमने उसे जहर देकर मरवा दिया। अपने छोटेसे जीवनसे बाजा स्वयं ऊबा हुआ था, और अन्तिम शान्तिमें पहुँचने के लिए वह अकसर मृत्युकी कामना करता था। आर्थिक कठिनाइयाँ तो होंगी ही, सबसे ज्यादा अखरनेवाली बात उसके लिए थी, सहृदय विचार-वाले मित्रोका अभाव और दार्शनिक जीवनके रास्तेमे पग-पगपर उपस्थित होनेवाली कठिनाइयाँ। उस वातावरणमे बाजाको अपना दम घुटता-सा मालूम होता था, और वह फाराबीकी भाँति एकान्त पसन्द करता था।

(२) **कृतियाँ**—बाजाने बहुत कम पुस्तकें लिखी हैं और जो लिखी भी हैं, उन्हे सुव्यवस्थित तौरसे लिखनेकी कोशिश नहीं की। उसने छोटी-छोटी पुस्तकें अरस्तू तथा दूसरे दार्शनिकोके ग्रन्थोंपर सक्षिप्त व्याख्याके तौर-पर लिखी हैं। बाजाकी पुस्तकोमे "तद्बीरु-ल्-मुत्वह्द्" और "हयातु'ल्-मोतज़िल" ज्यादा दिलचस्प इस अर्थमें है, कि उनमें बाजाने एक राज-नीतिक दृष्टिकोण पेश किया है। रोश्दने इस दृष्टिकोणके बारेमें लिखा है—'इब्न' स्-सायग (बाजा)ने हयातु' ल्-मोतजिलमे एक ऐसा राजनीतिक दृष्टिकोण पेश किया है, जिसका संबंध उन मानव-समुदायोंसे है, जो अत्यन्त शान्तिके साथ जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।'[1]

---

१. **"अल्-इर्सिसाल"**।

बाजाका विचार है, कि राज्य (हकूमत) की बुनियाद आचारपर होनी चाहिए। उसके ख्यालमे एक स्वतंत्र प्रजातंत्रमें वैद्यों और जजों (न्याया-धीशों)की श्रेणीका होना बेकार है। जब आदमी सदाचारपूर्ण जीवन बितानेके लिए अभ्यस्त हो जायेंगे, और खाने-पीने तथा आमोद-प्रमोदमें संयम और मितव्ययिताकी बात डाल लेंगे, तो जरूर ही वैद्योंकी जरूरत नही रह जायगी। इसी तरह जजोंकी श्रेणी इसलिए बेकार है कि ऐसे समाजमें व्यभिचार तथा आचारिक पतनका पता नहीं होगा; फिर मुकदमा कहाँसे आयेगा? और जज लोग फैसला क्या करेंगे?

(३) **दार्शनिक विचार**—बाजासे एक सदी पहिले जिब्रोल हो चुका था। गज़ाली बाजासे सत्ताईस साल पहिले मरे थे। पूर्वके दूसरे दार्शनिकोंको खासकर फ़ाराबीका उसपर बहुत ज्यादा असर था। बाजाकी रायमे दिव्य प्रकाश द्वारा सत्य-साक्षात्कारके पूर्ण लाभ मात्रसे सुखी होनेकी बातसे आनदित हो ग़ज़ाली वास्तविक तत्त्व तक नही पहुँच सका। दार्श-निकको ऐसे आनदको भी छोड़ना होगा, क्योंकि धार्मिक रहस्यवाद द्वारा जो प्रतिबिब मानसतलपर प्रकट होते हैं वह सत्यको खोलते नही ढाँकते हैं। किसी भी तरहकी आकांक्षासे अकंपित शुद्ध चिन्तन ही महान् ब्रह्मके दर्शनका अधिकारी बनाता है।

(क) **प्रकृति-जीव-ईश्वर**—बाजाके अनुसार जगत्मे दो प्रकारके तत्त्व हैं—(१) एक वह जो कि गतियुक्त होता है; (२) दूसरा जो कि गति-रहित है। जो गतियुक्त है, वह पिंड (=जड़) और परिच्छिन्न (=सीमित) होता है; परिच्छिन्न शरीर होनेके कारण वह स्वयं अपने भीतर सदा होती रहती गतिका कारण नहीं हो सकता। उसकी अनन्त गतिके लिए एक ऐसा कारण चाहिए, जो कि अनन्त शक्ति या नित्य-सार हो, यही ब्रह्म (=नफ़्स) है। पिंड (=शरीर) या प्राकृतिक (जड़) तत्त्व परतः गतियुक्त होता है, ब्रह्म (=नफ़्स) स्वयं अचल रहते, पिंड (जड़ तत्त्व) को गति प्रदान करता है; (३) जीव तत्त्व इन दोनों (जड़ ब्रह्म) तत्त्वोंके बीचकी स्थिति रखता है—उसकी गति स्वतः है। पिंड और

जीवका संबंध एक दूसरेसे कैसे होता है, इस प्रश्नको बाजा महत्त्व नहीं देता, उसके लिए सबसे बड़ी समस्या है—"मानवके अन्दर जीव और ब्रह्म आपसमें कैसा संबंध रखते हैं?"

(a) **"आकृति"**—अफलातूंकी भाँति बाजा मान लेता है कि जड़ (भूत) तत्त्व बिना "आकृति" के नही रह सकता, किन्तु "आकृति" बिना जड तत्त्वके भी रह सकती है, क्योंकि ऐसा न माननेपर विश्वके परिवर्तनकी कोई व्याख्या नही हो सकती—यह परिवर्तन वास्तविक आकृतियोंके आने और जानेसे ही संभव है। बाजाकी इस बातको समझनेके लिए एक उदाहरण लीजिए—घडा आकृति (मुटाई, गोलाई आदि) और भूत तत्त्व (मिट्टी) दोनोंके मिलनेसे बना है। जब मिट्टीसे आकृति नही जुडी थी, तब वहाँ घडा नही था। चिरकालसे मिट्टी पडी थी, किन्तु घड़ा वहाँ नदारद था, क्योंकि आकृति उससे आकर नही मिली थी। अब आकृति आकर मिट्टीसे मिलती है, मिट्टी घडेका रूप धारण करती है। जब यह आकृति मिट्टीको छोडकर चली जाती है, तो घडा नष्ट हो जाता है। पिथागोर, अफलातूँ अरस्तू सभी इस "आकृति" पदार्थपर सबसे ज्यादा जोर देते हैं, और कहते हैं कि वह पिंडसे बिलकुल स्वतंत्र पदार्थ है, और वही जगत्‌के परिवर्तनका कारण है।

(b) **मानवका आत्मिक विकास**—इन आकृतियोंके कई दर्जे हैं, सबसे निचले दर्जेमें हेवला (सक्रिय-प्रकृति) मे पाई जानेवाली आकृतियाँ हैं, और सबसे ऊपर शुद्ध आत्मिक (ब्रह्म) आकृति। मानवका काम है सभी आत्मिक आकृतियोंका एक दूसरे के साथ साक्षात्कार (बोध) करना—पहिले सभी पिंडमय पदार्थोंकी सभी बुद्धिगम्य आकृतियोंका बोध, फिर वाह्यान्त करणो द्वारा उपस्थापित सामग्रीसे जीवका जो स्वरूप प्रतीत होता है, उसका बोध; फिर खुद मानव-विज्ञान[1] और उसके ऊपरके कर्त्ता-विज्ञान

---

१. यूनानी दर्शनका अनुसरण करते इस्लामिक दार्शनिक जीव (=रूह) से विज्ञान (=नफ़्स) को अलग मानते हैं।

आत्माका बोध और अन्तमे ब्रह्माण्ड[1] के शुद्ध विज्ञानोका बोध। इस तरह जीवके लिए वाञ्छनीय बोधका विकास क्रम हुआ—

(१) प्राकृतिक-"आकृति"
(२) जीव-"आकृति"
(३) मानव-विज्ञान-"आकृति"
(४) क्रिया-विज्ञान-"आकृति"
(५) ब्रह्माण्ड-विज्ञान (ब्रह्म)-"आकृति"

*वैयक्तिक तथा इन्द्रिय-ज्ञेय भौतिक तत्त्व—जो कि विज्ञान (=नफ़्स)-की क्रियाका अधिकरण है—से क्रमश ऊपर उठते हुए मानव अमानुष दिव्य तत्त्व (ब्रह्म) तक पहुँचता है (मुक्ति प्राप्त करता है)।

(ख) ज्ञान बुद्धि-गम्य—ग़ज़ालीने ज्ञानसे परे योगि-प्रत्यक्ष (=मुका-शफा) को मुक्तिका साधन बतलाया, बाजा "ऋते ज्ञानात् न मुक्ति" (ज्ञानके बिना मुक्ति नही)के शब्दार्थका अनुयायी है, इसीलिए दिव्यतत्त्व तक पहुँचने (=मुक्ति) के लिए (रहस्यमय) सूफीवादको नही, दर्शनको पथप्रदर्शक मानता है। दर्शन सामान्यका ज्ञान है। सामान्य-ज्ञान प्राप्त होता है, विशेष या व्यक्तिके ज्ञानसे चिन्तना—कल्पना—के द्वारा, किन्तु इसमे ऊपरके बोधदायक विज्ञानकी सहायताकी भी जरूरत है। इस सामान्य या अनन्त—जिसमे कि सत्ता ("है") तथा प्रत्यक्ष विषय ("होना") एक हैं—के ज्ञानसे तुलना करनेपर, बाह्य वस्तुओकी सभी मानस प्रतीतियाँ और चिन्तन भ्रमात्मक हैं। वास्तविक ज्ञान सामान्य ज्ञान है, जो सिर्फ बुद्धि-गम्य है। इससे पता लगा कि इन्द्रिय-गम्य ज्ञानसे सदा लिप्त मजहबी और यौगिक स्वप्न (ध्यान) देखनेसे मानव-विज्ञान पूर्णता (मुक्ति)को नहीं प्राप्त हो-सकता, उसे पूर्णता तक पहुँचनेका रास्ता एक ही है और वह है, बुद्धिगम्य-ज्ञान। चिन्तन सर्वश्रेष्ठ आनन्द है, और उसीके लिए जो कुछ बुद्धिगम्य है, उसे जानना होता है। बुद्धिगम्य ज्ञान केवल सामान्यका ज्ञान

---

१. आलम्-अफ़लाक्=आसमानोंकी दुनिया, फरिश्ते।

है, और वही सामान्य वस्तुसत् है, इन्द्रिय-गम्य व्यक्ति वस्तु-सत् नहीं हैं, इसलिए, इस जीवनके बाद व्यक्तिके तौरपर मानव-विज्ञानका रहना संभव नहीं। मानव-विज्ञान तो नही, किंतु हो सकता है, मानव-जीव (जो कि व्यक्तिका ज्ञान करता है, और उसके अस्तित्वको अपनी इच्छा और क्रियासे प्रकट करता है) मृत्युके बाद ऐसे वैयक्तिक अस्तित्वको जारी रखने तथा कर्मफल पानेकी क्षमता रखता हो। लेकिन विज्ञान (=नफ्स या जीवका बौद्धिक (इन्द्रियक नही) अंश सबमे एक है। यह सारी मानवताका **विज्ञान**—अर्थात् वह एक **बुद्धि** मानवताके भीतरका मन या विज्ञान ही एक मात्र नित्य सनातन तत्त्व है, और वह विज्ञान भी अपने ऊपरके **कर्ता-विज्ञानके** साथ एक होकर।

बाजाके सिद्धान्तको हम फाराबीमे भी अस्पष्टरूपमें पाते हैं, और बाजाके योग्य शिष्य रोश्दने तो इसे इतना साफ किया कि मध्यकालीन यूरोपकी दार्शनिक विचारधारा मे इसे रोश्दका सिद्धान्त कहा जाता था।

(ग) मुक्ति—विज्ञान (=नफ्स)के उस चरम विकास—सामान्य-विज्ञानके समागम—को बहुत कम मनुष्य प्राप्त होते है। अधिकांश मानव अँधेरेमे ही टटोलते रहते हैं। यह ठीक है, कितनेही आदमी **ज्योति** और वस्तुओंकी रगीन दुनियाको देखते हैं, किंतु उनकी सख्या बहुत ही कम है, जो कि देखे हुए सारका बोध करते हैं। वही, जिन्हे कि सारका बोध होता है, अनन्त जीवनको पाते तथा स्वयज्योति बन जाते हैं।

ज्योति बनना या मुक्त होना कैसे होता है, इसके लिये बाजाका मत है—बुद्धि-पूर्वक क्रिया और अपनी बौद्धिक शक्तिका स्वतंत्र विकास ही उसका उपाय है। बुद्धि-क्रिया स्वतत्र (=विना मजबूरीकी) क्रिया है; वह ऐसी क्रिया है जिसके पीछे उद्देश्यप्राप्ति या प्रयोजनका ख्याल काम कर रहा है। उदाहरणार्थ, यदि कोई आदमी ठोकर लगनेके कारण उस पत्थरको तोड़ने लगता है, तो वह छोटे बच्चे या पशुकी भाँति उद्देश्य-रहित काम कर रहा है, यदि वह इसी कामको इस ख्यालसे कर रहा है, कि

दूसरे उससे ठोकर न खायें, तो उसके कामको मानवोचित तथा बुद्धि-पूर्वक कहा जायेगा।

(घ) "एकान्तता-उपाय"—बाजाकी एक पुस्तकका नाम "तद्-बीरुल्-मुत्-वह्हद्" या एकान्तताका उपाय है। आत्माकी चरम उन्नतिके लिए वह एकान्तता या एकान्तचिन्तनके जीवनपर सबसे ज्यादा ज़ोर देता है, फ़ाराबीने इस विचारको अपनी मातृभूमि (मध्य-एसिया)के बौद्ध-विचारोंके ध्वसावशेषसे लिया था, और बाजाने इसे फ़ाराबीसे लिया—और इस सारे लेन-देनमें बौद्ध दुःख (निराशा)-वाद चला आये तो आश्चर्य ही क्या? एकान्तताके जीवनके पीछे समाजपर व्यक्तिकी प्रधानताकी छाप स्पष्ट है और इसीलिए बाजा एक ऐसे अ-सामाजिक समाजकी कल्पना करता है, जिससे वैद्यों और जजों (न्यायाधीशों)की ज़रूरत नहीं, जिसमें एक दूसरेकी स्वच्छदतापर प्रहार किए बिना मानव कमसे कम पारस्परिक सपर्क रखते आत्माराम हो विहरें।—"वह पौधोंकी भाँति खुली हवामें उगते हैं, उन्हे मालीके चतुर हाथोंकी आवश्यकता नही, वह (अज्ञानी) लोगोंके निकृष्ट भोगों और भावुकताओंसे दूर रहते हैं। वह ससारी समाजके चाल-व्यवहारसे कोई सरोकार नही रखते। और चूँकि वह एक दूसरेके मित्र है, इसलिए उनका जीवन पूर्णतया प्रेमपर आश्रित है। फिर सत्यस्वरूप ईश्वरके मित्र के तौरपर वह अमानुष (दिव्य) ज्ञान-विज्ञानकी एकतामें विश्राम पाते हैं।[1]

२ – इब्न-तुफ़ैल[2] (मृत्यु ११८५ ई०)

अब्दुल्मोमिन् (११४७-६३)के शासनका ज़िक्र हम कर चुके है। उसके पुत्र यूसुफ (११६३-८४ ई०) और याकूब (११८४-९८ ई०)का शासन-काल मोहिदीन वशके चरम-उत्कर्षका समय है। इन्हींके समय

1. "The History of Philosophy in Islam" (by Dr. T. J. De Boer), pp. 180-81. 2. Abubacer.

स्पेनमें फिर दर्शनका मान बढ़ा। इस वक्त दर्शनके मान बढ़नेका मतलब था समाजमें शारीरिक श्रमसे मुक्त मनुष्योंकी अधिकता, और जिसका मतलब था गुलामी और गरीबीके सीकड़ोंका कमकर जनतापर भारी भार और उसके बर्दाश्त करनेके लिए मजहब और परलोकवादके अफीमकी कड़ी पुड़ियोंका उत्साहके साथ वितरण। यहीं समय भारतमें जयचन्द और "खडनखडखाद्य" (शून्यवादी वेदान्त) के कर्त्ता श्रीहर्ष कविका है।

(१) **जीवनी**--अबू-वक्र मुहम्मद (इब्न-अब्दुल्मलिक) इब्न-तुफ़ैल (अल्-कैमी)का जन्म गर्नाताके गादिस[1] स्थानमें हुआ। उसका जन्म-संवत् अज्ञात है। उसने अपनी जन्मभूमि हीं में दर्शन और वैद्यकका अध्ययन किया। वाजा (मृत्यु ११३८ ई०) शायद उस वक्त तक मर गया था, किन्तु इसमें शक नहीं वाजाकी पुस्तकोंने उसके लिए गुरुका काम किया था। शिक्षा-समाप्तिके बाद तुफ़ैल गर्नाता[2] के अमीरका लेखक हो गया। किन्तु तुफ़ैलकी योग्यता देर तक गर्नाताकी सीमाके भीतर छिपी नहीं रह सकती थी और कुछ समय ही बाद (११६३ ई०) सुल्तान यूसुफने उसे मराको बुलाकर अपना वजीर और राजवैद्य नियुक्त किया। तुफ़ैल सर्कारी काम-से जो समय बँचा पाता, उसे पुस्तकावलोकनमें लगाता था। उसका अध्ययन बहुत विस्तृत जरूर था, किन्तु वह उन विद्वानोंमें था, जिनके अध्ययनके फलको अपने ही तक मीमित रखनेमें आनन्द आता है; इसीलिए लिखनेमें उसका उत्साह नहीं था।

यूसुफके बाद याकूब (११८४-९८ ई०) सुल्तान बना, उसने भी तुफ़ैलका सम्मान बापकी तरह ही किया। इसीके शासनमें ११८५ ई० में तुफ़ैलकी मराकोमें मृत्यु हुई।

(२) **कृतियाँ**--तुफ़ैलकी कृतियोंमें कुछ कवितायें तथा "हई इब्न-यकजान" (प्रबुद्ध-पुत्र जीवक)की कथा है। "हईकी कथा" डेढ सौ साल पहिलेकी बू-अली सीना[3] (९८०-१०३७ ई०) रचित "हई इब्न-यकजान"-

1. Gaudix. 2. Granada. 3. Avicenna

की नकल नाममें जरूर है, किन्तु विचार उसमें तुफ़ैलके अपने है।

(३) दार्शनिक विचार--(क) बुद्धि और आत्मानुभूति--बुद्धि-पूर्वक ज्ञानकी प्रधानताको माननेमें तुफ़ैल भी बाजासे सहमत है, यद्यपि वह उतनी दूर तक नही जाता, बल्कि कही-कही तो गज़ालीकी भाँति उसकी टाँग लड़खड़ाने लगती है—

"आत्मानुभूति" ("योगि प्रत्यक्ष")[1] मे जो कुछ दिखाई देता है, उसे शब्दों द्वारा प्रकट नही किया जा सकता, क्योंकि वह (आत्मानुभूति द्वारा देखा तत्त्व) गौरवपूर्ण ऊँचे अर्थोंवाले शब्दोके पहिनावेमे पड़कर दुनियाके चलते-फिरते पदार्थों जैसे लगने लगते है, जो कि सत्य(स्वरूप) आत्माके विचारसे देखनेपर उनसे कोई संबंध नही रखते। यही वजह है, कि कितने ही (विद्वान्) लोग अपने भावोंको प्रकट करनेमें असमर्थ रहे, और बहुतोंने इस राहमें ठोकरें खाईं।"[2]

(ख) हईकी कथा--दो द्वीप हैं, जिनमेसे एकमें हमारे जैसा मानव-समाज अपनी सारी रूढ़ियोंके साथ है; और दूसरेमें एक अकेला आदमी प्रकृतिकी गोदमें आत्मविकास कर रहा है। समाजवाले द्वीपमे मनुष्यकी निम्न प्रवृत्तियोंका राज है, जिसपर यदि कोई अंकुश है तो मोटे ज्ञानवाले धर्मका बाहरी नियंत्रण। किन्तु इसी द्वीपमे इसी परिस्थितिमें पलते दो आदमी--सलामाँ और असल बुद्धिपूर्वक (बौद्धिक) ज्ञान तथा अपनी इच्छाओंपर विजय प्राप्त करनेमे समर्थ होते हैं। सलामाँ व्यवहारकुशल मनुष्य है, वह सार्वजनिक धर्मके अनुसार बने हुए लोगोपर शासन करता है। **असल** मननशील तथा एकान्तप्रवृत्तिका आदमी है, वह पर्यटन करते दूसरे द्वीपमे पहुँच जाता है। पहिले वह उसे एक निर्जन द्वीप समझता है, और वहाँ स्वाध्याय तथा योगाभ्यासमे लग जाता है।

लेकिन, इस द्वीपमे हई यक्जान—(प्रबुद्ध)का पुत्र हई (जीवक)—एक पूर्ण दार्शनिक विद्यमान है। हई इस द्वीपमे बचपनमे ही फेंक दिया

---

१. Intuition.　　२. रिसाला "हई बिन्-यक़्ज़ान", पृष्ठ १३६

गया था, अथवा अयोनिज प्राणीकी तरह वहीं उत्पन्न हुआ था। बचपनमें हरिनियोंने उसे दूध पिलाया, सयाना होनेपर उसे सिर्फ अपनी बुद्धिका सहारा रह गया था। उसने अपनी बुद्धिको पूरा इस्तेमाल किया, और उसके द्वारा उसने शारीरिक आवश्यकताओंकी ही पूर्ति नही की, बल्कि निरीक्षण और मनन द्वारा उसने प्रकृति, आसमानो (=फरिश्ते), ईश्वर और स्वयं अपनी आन्तरिक सत्ताका ज्ञान प्राप्त करते हुए ७×७ (४९) वर्ष तक उस उच्चतम अवस्थाको प्राप्त हो गया है, जिसे ईश्वरका सूफीवाला साक्षात्कार या समाधि-अवस्था कहते हैं। जब असल वहाँ पहुँचा, तो हुई इसी अवस्थामे था। हईको भाषा नही मालूम थी, इसलिए पहिले पहिल दोनोंको एक दूसरेके विचारोंके जाननेमे दिक्कत हुई, किन्तु जब वह दिक्कत दूर हो गई, तो उन्होने एक-दूसरेको अपने तजर्बे बतलाये, जिससे पता लगा कि हईका दर्शन और असलका धर्म एक ही सत्यके दो रूप हैं, फर्क दोनोमे इतना ही है कि पहिला दूसरेकी अपेक्षा कम ढँका है।

जब हई (जीवक)को मालूम हुआ, कि सामनेके द्वीपमें ऐसे लोग बसते है, जो अधकार और अज्ञानमे अपना जीवन बिता रहे हैं; तो उसने निश्चित किया कि वहाँ जाकर उन्हे भी सत्यका दर्शन कराये। जब उसे उन लोगोंसे वास्ता पडा, तो पता लगा कि वह सत्यके शुद्ध दर्शन करनेमें असमर्थ है; तब उसने समझा कि पैगबर मुहम्मदने ठीक किया जो कि उन्होंने लोगोको पूर्ण ज्योति न प्रदान कर, उसके मोटे रूपको प्रदान किया। इस तरह हार स्वीकार कर हई अपने मित्र असलको लिये फिर अपने द्वीपमें चला गया, और वहाँ अपनी शुद्ध दार्शनिक भावनाके साथ जीवनके अन्तिम क्षण तक भगवान्‌की उपासना करता रहा।

सीना और तुफ़ैलके हईमे फर्क है, दोनो ही हई प्रबुद्ध-पुत्र या दार्शनिक हैं, किन्तु जहाँ सीनाका हई अपने दार्शनिक ज्ञानसे दूसरेको मार्ग बतलानेमे सफल होता है, वहाँ तुफ़ैलका हई हार मानकर मुहम्मदी मार्गकी प्रशसा करता हुआ लौट आता है। तो भी दोनोंमें एक बात जरूर एकसी है—दोनो ही ज्ञान-मार्गको श्रेष्ठ मानते हैं।

(घ) ज्ञानीकी चर्या—हईकी चर्याके रूपमें तुफ़ैलने ज्ञानी या दार्श-निककी दिनचर्या बतलाई है। हई कर्मको छोड़ता नहीं, वह उसे करता है, किन्तु इस उद्देश्यसे कि सबमें एक (अद्वैत तत्त्व)को ढूंढ़े और उस स्वयं-विद्यमान परम (-तत्त्व)से अपनेको मिला दे। हई सारी प्रकृतिको उस सर्वश्रेष्ठ सत्ता तक पहुँचनेके लिए प्रयत्नशील देखता है। हई (कुरानकी) इस बातको नहीं मानता, कि पृथिवीकी सारी वस्तुएँ मनुष्यके लिए हैं। मनुष्यकी भाँति ही पशु और वनस्पति भी अपने लिए और भगवान्के लिए जीते हैं, इसलिए हई उचित नही समझता कि उनके साथ मनमाना बर्ताव करे। वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओंको कम करके उतना ही रहने देता है, जितना कि जीनेके लिए अत्यन्त जरूरी है। वह पके फलोंको खाता है, और उनके बीजोंको बडी सावधानीसे धरतीमें गाड़ देता है, जिसमें किसी वनस्पति-जातिका उच्छेद न हो। कोई दूसरा उपाय न रहनेपर ही हई मास ग्रहण करता है, और वहाँ भी वह इस बातका पूरा ख्याल रखता है, कि किसी जातिका उच्छेद न हो। "जीनेके लिए पर्याप्त, सोनेके लिए पर्याप्त नही" हईके आहारका नियम है।

पृथ्वीके साथ उसके शरीरका संबंध कैसा होना चाहिए, उसका निदर्शन है, हईकी यह शरीर-चर्या। लेकिन उसका जीवन-तत्त्व आसमानों (=फरिश्ते)से संबद्ध कराता है; आसमानों (=फरिश्तों)की भाँति ही उसे अपने पास-पड़ोसके लिए उपयोगी बनना तथा अपने जीवनको शुद्ध रखना चाहिए। इसी भावको सामने रखते हुए, अपने द्वीपको स्वर्गके रूपमें परिणत करनेके लिए हई अपने पास-पड़ोसके पौधोंको सींचता, खोदता तथा पशुओंकी रक्षा करता है; अपने शरीर और कपड़ोंको शुद्ध रखनेका बहुत अधिक ध्यान रखता है; और कोशिश करता है कि, आसमानी पिण्डों (ग्रहों, आदि)की भाँति ही अपनी हर एक गतिको सबकी अनुकूलताके साथ रखे।

इस तरह हई अपनी आत्माको पृथिवी और आस्मानसे ऊपर उठाते हुए शुद्ध-आत्मा तक पहुँचानेमें समर्थ होता है। यही वह समाधि (=आत्म-

विस्मृति)की अवस्था है, जिसे किसी भी कल्पना, शब्द, मानसप्रतिबिंब द्वारा न जाना जा सकता है, न प्रकट किया जा सकता है।

३ – इब्न[1]-रोश्द (११२६-९८ ई०)

बू-अली सीनाके रूपमे जैसे पूर्वमे दर्शन अपने उच्चतम शिखरपर पहुँचा, उसी तरह रोश्द पश्चिमी इस्लामिक दर्शनका चरम विकास है। यही नही, रोश्दका महत्त्व मध्यकालीन युरोपीय दर्शन-चक्रको गति देकर आधुनिक दर्शनके लिए क्षेत्र तैयार करनेमे साधन होनेके कारण और बढ जाता है।

(१) जीवनी—अबू-वलीद मुहम्मद (इब्न-अहमद इब्न-मुहम्मद इब्न-अहमद इब्न-अहमद) इब्न-रोश्दका जन्म सन् ११२६ ई० (५२० हिजरी)मे स्पेनके प्रसिद्ध शहर कार्दोवा (कर्तबा)मे एक शिक्षित परिवारमे हुआ था। कार्दोवा उस समय विद्याका महान् केन्द्र तथा १० लाखकी आबादीकी महानगरी थी। रोश्दके खान्दानके लोग ऊँचे-ऊँचे सरकारी पदोपर रहते चले आए थे। रोश्दका दादा मुहम्मद (१०५८-११२६ ई०) फ़िका (=इस्लामिक मीमासा)का भारी पडित कार्दोवाका महाजज (काजी-उल्-कुज्जात्) तथा जामा-मस्जिदका इमाम था। रोश्दका बाप अहमद (१०९४-११६८ ई०) भी अपने बापकी तरह कार्दोवाका काजी (जज) और जामा-मस्जिदका इमाम हुआ था। रोश्दका घर स्वय एक बडा विद्यालय था, जहाँ उसके बाप-दादाके पास दूर-दूरके विद्यार्थी काफी सख्यामे आकर पढते थे, फिर बालक रोश्दकी पढाईका माँ-बापने कितना अच्छा प्रबंध किया होगा इसे कहनेकी जरूरत नही। रोश्दने पहिले-पहिल अपने बापसे कुरान और मोता[2] पढकर कठस्थ किया, उसके बाद अरबी साहित्य और व्याकरण। बचपनमे रोश्दको कविता करनेका शौक हुआ था, और उसने कुछ पद्य-रचना भी की थी, किन्तु सयाना होने पर उसे वह नही जँची, और कार्ल माक्र्सकी भाँति उसने अपनी कविताओको आगके सिपुर्द कर दिया।

---

१. Averroes २. इमाम मालिककी लिखी फ़िक़ाकी एक पुस्तक।

दर्शनका शौक रोश्दको बचपनसे ही था। उस वक्त बाजा (११३८ ई०) जिन्दा था। रोश्दने इस तरुण दार्शनिकसे दर्शन और वैद्यक पढना शुरू किया, लेकिन बाजाके मरनेके बाद उसे दूसरे गुरुओंकी शरण लेनी पड़ी, जिनमें अबू-बक्र बिन्-जज़ियोल और अबू-जाफर बिन्-हारून रजाको ऊँचे दर्जेके दार्शनिक थे।

बाजाका शागिर्द तथा स्वयं भी दर्शनका पण्डित होनेके कारण तुफ़ैल-की नज़र रोश्दपर पड़नी जरूरी थी। अभी रोश्दकी विद्वत्ताका सिक्का नहीं जम पाया था, उसी वक्त तुफ़ैलने लिखा था—[1]

"बाजाके बाद जो दार्शनिक हमारे समकालीन है, वह अभी निर्माणकी अवस्थामें हैं, और पूर्णताको नही पहुँच पाये है, इसलिए उनकी वास्तविक योग्यता और विद्वत्ताका अंदाजा अभी नही लगाया जा सकता।"

रोश्दने साहित्य, फ़िका (=इस्लामिक मीमासा), हदीस (=पैगंबर-वचन) आदिका भी गंभीर अध्ययन किया था, किन्तु वैद्यक और दर्शनमे उसका लोहा लोग जल्दी ही मानने लगे। शिक्षा समाप्तिके बाद रोश्द कार्दोवामे वैद्यकका व्यवसाय और अध्यापनका काम करता रहा।

तुफ़ैल रोश्दका दोस्त था, उसने समय पाकर सुल्तान यूसुफ़से उसकी तारीफ की। रोश्दकी यूसुफसे इस पहिली मुलाकातका वर्णन, रोश्दने एक शागिर्दसे सुनकर अब्दुलवाहिद मराकशीने इस प्रकार किया है—

"जब मैं दरबारमें दाखिल हुआ, तो वहाँ तुफ़ैल भी हाजिर था। उसने अमीरु'ल्-मोमिनीन (खलीफा) यूसुफके सामने मुझको पेश किया और वह मेरे खान्दानकी प्रतिष्ठा, मेरी अपनी योग्यता और विद्याको इतना बढ़ा चढ़ाकर बयान करने लगा, जिसके कि मैं योग्य न था, और जिससे मेरे साथ उसका स्नेह और कृपा प्रकट होती थी। यूसुफने मेरी ओर देखते हुए मेरे नाम आदिको पूछा। फिर एक बारही मुझसे सवाल कर बैठा, कि दार्शनिक (अरस्तू आदि) आसमानों (=देवताओं)के बारेमें क्या राय

---

१. "हई बिन्-यक़्ज़ान"।

रखते है, अर्थात् वह दुनियाको नित्य या नाशवान् मानते है। यह सवाल सुनकर मैं डर गया, और चाहा कि किसी बहानेसे उसे टाल दूँ। यह सोचकर मैने कहा कि मैं दर्शनसे परिचित नही हूँ। यूसुफ (सुल्तान) मेरी घबराहटको समझ गया, और मेरी ओरसे फिरकर तुफैलकी ओर मुँहकर उसने इस सिद्धान्तपर बहस शुरू कर दी, और अरस्तू, अफलातूँ, तथा दूसरे (दर्शनके) आचार्योंने जो कुछ इस सिद्धान्तके बारेमे लिखा है, उसे सविस्तार कहा। फिर इस्लामके वाद-शास्त्रियों (=मुत्कल्लमीन्)-न (दर्शन-) आचार्योंपर जो आक्षेप किये है, उन्हे एक-एक कर बयान किया। यह देखकर मेरा भय जाता रहा। अपना कथन समाप्तकर (यूसुफने) फिर मेरी ओर नजर की। अब मैंने आजादीके साथ इस सिद्धान्तके सबधमे अपने विचार और ..निको प्रकट किया। जब मै दरबारसे चलने लगा, तो (सुल्तानने) मुझे नकद अशर्फी, खिलअत (=पोशाक), सवारीका घोडा और बहुमूल्य घडी प्रदान की।"[1]

यूसुफ पहिली ही मुलाकातमे रोश्दकी विद्वत्तामे बहुत प्रभावित हुआ। ११६९ ई० (५६५ हिजरी)मे यूसुफने रोश्दको शेविल्ली (अश्बीलिया)[2]-का जज (काजी) नियुक्त किया। इसी सन् (५६५ हिजरी सफर मास)मे शेविल्लीहीमे रोश्दने अरस्तूके "प्राणिशास्त्र"की व्याख्या समाप्त की। रोश्द अपनी पुस्तकोमे अकसर शिकायत करता है—"अपने सरकारी काममे बहुत लाचार हूँ, मुझको इतना समय नही मिलता कि लिखनेके कामको शान्त चित्तसे कर सकूँ मेरी अवस्था बिलकुल उस आदमीकी है, जिसके मकानमे चारो तरफसे आग लग गई हो और वह परेशानी और घबराहटकी हालतमे सिर्फ मकानकी जरूरी और कीमती चीजोको बाहर निकाल निकालकर फेक रहा हो। अपनी ड्यूटीको पूरा करनेके लिए मुझ राज्यके नजदीक और दूरके स्थानोका दौरा करना पडता है। आज राजधानी मराकश (मराको)मे हूँ, तो कल कर्तबा (कार्दोवा)मे और

१. "इब्न-रोश्द" (रेनाँकी फ्रेंच पुस्तक) पृष्ठ १०-११
२. Seville.

परसों फिर अफ़्रीका (मराको)में। इसी तरह बार-बार सल्तनतके जिलोंके दौरेमें वक्त गुजर जाता है, और साथ ही साथ लिखनेका काम भी जारी रहता है, जो कि बहुधा इस मानसिक अस्थिरताके कारण दोषपूर्ण और अधूरा रह जाता है।"[1]

राजकीय अधिकारी बननेके बाद रोश्दकी यह हालत रही, किन्तु रोश्दने दर्शनप्रेममे सीनाकी तरहका दृढ़ संकल्प और कामकी लगन पाई थी, जिसका फल हम देखते हैं इतना बहुधंधी होनेपर भी उसका उतनी पुस्तकोंका लिखना।

११८४ ई० (५८० हिजरी)मे यूसुफ मर गया, उसके बाद उसका बेटा याकूब मसूर गद्दीपर बैठा। तोमरत और उसके बाद अब्दुल्मोमिनने मोहिदीनोमे विद्याके लिए इतनी लगन पैदा कर दी थी, कि शाहजादोंको पढनेके लिए बहुत समय और श्रम करना पडता था। याकूब अपने बाप और दादासे भी बढ-चढकर विद्वान् और विद्वत्प्रेमी था। साथ ही वह एक अच्छा जेनरल था, और उठती हुई पडोसी ईसाई शक्तियोको कई बार पराजित करनेमे सफल हुआ।

याकूब अपने बापसे भी ज्यादा रोश्दका सम्मान करता था, और अकसर दर्शन-चर्चाके लिए उसे अपने पास रखता था। याकूबके साथ रोश्दकी बेतकल्लुफी इतनी बढ गई थी, कि वार्तालापमे अकसर वह उसे कहता—"अस्मओ या अखी !" (सुना मेरे मित्र !).

आखिरी उम्र रोश्द बादशाहसे छुट्टी ले कार्दोवामें रह लेखन-अध्ययन-मे बिताने लगा।

११९५ ई० (५९१ हि०)मे याकूब मंसूर अपने प्रतिद्वंद्वी अल्फासोके हमलेका बदला लेनेके लिए कार्दोवा आया और वहाँ तीन दिन ठहरा, इस वक्त रोश्दके सम्मानको उसने चरम सीमा तक पहुँचा दिया। रोश्दके समकालीन एक क़ाज़ीने इस मुलाकातका वर्णन इस प्रकार किया है—

---

१. "इब्न-रोश्द"—रेनाँ, पृष्ठ १२

"मसूर जब ५९१ हिजरी (११९५ ई०)मे दशम अल्फासोके ऊपर चढ़ाई करनेकी तैयारी कर रहा था, उस समय उसने रोश्दको मुलाकातके लिए बुलाया। दरबारमे मुहम्मद अब्दुलवाहिदका बहुत प्रभाव था, वह मसूरका दामाद और नदीम-खास था। इसके बेटेको मसूरने अफ्रीकाकी गवर्नरी दी थी। दर्बारमे अबू-मुहम्मद अब्दुलवाहिदकी कुर्सी तीसरे नंबर पर होती थी, लेकिन उस दिन मसूरने इब्न-रोश्दको अब्दुल्-वाहिदसे भी आगे बढ़ा अपनी बगलमे जगह दी, और देर तक बेतकल्लुफीसे बाते करता रहा। बाहर रोश्दके दुश्मनोने खबर उड़ा दी, कि मसूरने उसके कत्लका हुक्म दे दिया है। विद्यार्थियोकी भारी जमात बाहर प्रतीक्षा कर रही थी, यह खबर सुनकर सब परेशान हो गये। जब थोड़ी देर बाद इब्न-रश्द बाहर आया (और असली हालत मालूम हुई तो) 'उसके दोस्तोंने इस प्रतिष्ठा और सम्मानके लिए उसे बधाई दी। लेकिन आखिरमे हकीम (रोश्द)ने खुशी प्रकट करनेकी जगह अफसोस जाहिर किया, और कहा—'यह खुशीका नही बल्कि रंजका मौका है, क्योंकि यकबयक इस तरहकी समीपता बुरे परिणाम लायेगी'।"[१]

रोश्दकी बात सच निकली और उसके जीवनके अन्तिम चार साल बड़े दुःख और शोकसे पूर्ण बन गये।

(क) सत्यके लिए यंत्रणा—११९५ से ११९७ ई० तक याकूब मसूर लड़ाइयोमे लगा रहा, और अन्तमे दुश्मनोको जबर्दस्त शिकस्त देनेके बाद उसने शेविलीमे देर तक रहनेका निश्चय किया। रोश्दके इतने बड़े सम्मानसे कितने ही बड़े-बड़े लोग उससे डाह करने लगे थे, उधर रोश्द अपने विचारोको प्रकट करनेमे सावधानी नही रखता था, जिससे उनको अच्छा मौका मिला। उन्होने रोश्दके कुछ विद्यार्थियोंको उसके विचारों-को जमा करनेमे लगाया। उनका मतलब यह था, कि इस प्रकारसे रोश्द जी खोलकर सब कुछ कह डालेगा और फिर खुद उसीके वचनसे

---

१. "तबक़ातुल्-अतिब्बा", पृष्ठ ७६

उसकी बेदीनीके सबूतका एकत्रित करना मुश्किल न होगा। और हुआ भी ऐसा ही। रोश्दने अपने शागिर्दोंसे वह बातें कह डाली जो कि मुल्लोंके उस धर्मान्ध-युगमें नहीं कहनी चाहिए थी। दुश्मनोंको और क्या चाहिए था। उन्होंने रोश्दके पूरे व्याख्यानको खूब नमक-मिर्च लगाकर मुल्तानके पास पहुँचा दिया। सबूतके लिए सौ गवाह पेश कर दिये गए। यूसुफ चाहे कितना ही दर्शनानुरागी हो, उसे अपने समकालीन जयचन्दकी प्रजा न मिली थी, जिसके सामने खुले बाँग श्रीहर्ष न्यायके ऋषि गौतमको गोतम[1] (=महाबैल) कहकर निर्द्वन्द घूमते-फिरते, और दरबारमें "तांबूल-द्वय" और "आसन" (कुर्सी ?) प्राप्त करते। मंसूर यदि अब रोश्दका पक्ष करता तो उसे प्रजा और सेनाको दुश्मन बनाना पड़ता।

गवाहोंने गवाही दी, रोश्दके हाथके लेख पेश किये गये, जिनमेंसे एक-में रोश्दने बादशाहको अमीरुल'मोमिनीन या सुल्तान न कह "बर्बरों"के सर्दार (मलिकु'ल्-बर्बर)के मामूली नामसे याद किया था। दूसरे लेखमें रोश्दने शुक्र (=जोहरा) ताराको यूनानियोंकी भाँति सम्मान प्रकट करते हुए देवी कहा था। पहिली बातके लिए अब्दुल्ला उसूलीने रोश्दकी ओर-से बहस की, जिसका नतीजा यह हुआ कि वह भी धर लिया गया। सभी गवाहियों, सबूतोंसे यह साबित किया गया कि रोश्द बेदीन नास्तिक है। यूसुफ मजबूर था, उसने रोश्दको अपने शिष्यों और अनुयायियोंके साथ सार्वजनिक सभामें आनेका हुक्म दिया, जिसके लिए कार्दोवाकी जामा मस्जिदको चुना गया। बादशाह अपने दर्बारियोंके साथ वहाँ पहुँचा। इस भारी जल्सेकी कार्रवाईका वर्णन अन्सारीने इस प्रकार किया है—

"मन्सूरकी मजलिसमें इब्न-रोश्दका दर्शन टीका और व्याख्याके साथ पेश किया गया। कुछ डाह करनेवालोंने उसमें नमक-मिर्च भी मिला दी थी। चूँकि सारा दर्शन बेदीनी (=नास्तिकता)से भरा था, इसलिए आवश्यक था कि इस्लामकी रक्षा की जाये। खलीफा (यूसुफ)ने सारी जनताको

---

१. "नैषधीयचरित"।

एक दर्बारमें जमा किया, जिसका स्थान पहिलेहीसे जामामस्जिद निश्चित था।....(इस जल्सेमे) यह बतलाना था, कि इब्न-रोश्द पथभ्रष्ट और धिक्कारका पात्र हो गया है। इब्न-रोश्दके साथ काजी अबू-अब्दुल्ला उसूली भी इसी अपराधमे धरे गये थे—उनके वार्तालापमे भी बाज वक्त बेदीनी जाहिर हुई थी। कार्रवाकी जामा मस्जिदमे दोनों अपराधी उपस्थित किये गए . अबू-अली हज्जाजने खडे होकर घोषित किया कि इब्न-रोश्द नास्तिक (=मुलहिद्) और बेदीन हो गया है।"[1]

हज्जाजके व्याख्यानके बाद सुल्तानने खुद इब्न-रोश्दको इस अभिप्रायसे बुलाया कि वह जवाबदेही करे, और पूछा कि क्या ये लेख तुम्हारे है ? यह अजब नाटक था। क्या याकूब मन्सूर जानता नही था, कि रोश्दके दार्शनिक विचार क्या है। क्या वर्षों उसके साथ बेतकल्लुफाना दर्शन-चर्चामे रोश्दके विचार उससे छिपे हुए थे ? वह जानते हुए भी लोगोको अपनी धर्मप्राणता दिखलाने तथा अपनी राजनीतिक स्थितिको सर्वप्रियता द्वारा दृढ करनेके ख्यालसे यह अभिनय कर रहा था। अच्छा होता यदि इस वक्त रोश्द भी सुक्रातके रास्तेको स्वीकार किये होता, किन्तु रोश्दका नागरिक समाज अथेन्सके नागरिक समाजसे बहुत निम्न श्रेणीका था, वह उसके साथ अधिक कमीनेपनसे पेश आता ? साथ ही रोश्द सब कुछ खोकर भी जितने दिन और जीता उतना ही दर्शन और विचार-स्वातन्त्र्यके लिए अच्छा था। इसके अतिरिक्त रोश्दको अपने शिष्यो—अनुयायियो—मित्रोका भी ख्याल करना जरूरी था। यह सब सोच रोश्दने भी उसी तरह अपने लेखोंसे इन्कार कर दिया, जिस तरह मसूरने उनके पूर्वपरिचयसे इन्कारका नाटक किया था। जवाब सुनकर मसूरने उन लेखोके लिखनेवालेको धिक्कार (लानत) कहा, और उपस्थित जनमडलीने "आमीन" (एवमस्तु) कहा। इब्न-रोश्दका अपराध सारी जनताके सामने साबित हो गया, उसमे शक-शुबहाकी गुजाइश न थी। यदि सुल्तान बीचमे न होता,

---

१ "इब्न-रोश्द व फिलसफ़ा"—अर्नेस्ट्-रेनान्।

तो शायद सारी जनमडलीने गुस्सामे आकर रोश्दकी बोटियाँ नोच डाली होती। लेकिन बादशाह की रायसे सिर्फ सजापर सन्तोष किया गया, कि वह किसी अलग स्थानपर भेज दिया जाये।

रोश्दके विरुद्ध गवाही देनेवालोमे कुछने यह भी कहा था, कि स्पेनमें जो अरबी कबीले आकर आबाद हुए है, इब्न-रोश्दका उनमे से किसीके साथ खान्दानी सबध नही है, और यदि उसका सबंध है तो बनी-इस्राईल (यहूदी) के खान्दानसे। इसपर यह भी फैसला हुआ कि उसे लोसांनिया[1] (=अलेसान्ता) मे भेज दिया जाये, क्योंकि यह बनी-इस्राईल (यहूदियो)-की बस्ती है, और उनके अतिरिक्त दूसरी जातिके लोग वहाँ नही रहते।

रोश्दके दुश्मनों और मुल्लाओंने एक अर्सेसे उसके खिलाफ जो जबर्दस्त प्रचार करके लोगोकी धर्मान्धताको उत्तेजित कर रखा था, उसे इस फैसलेके बाद भडक उठनेका बहुत डर था। रोश्द यदि यहूदी बस्तीमे भेज दिया गया, तो यह उसके लिए अच्छा ही हुआ। लोग मुल्लोकी बातमे आकर कुछ और कह बैठते। इसका ध्यान उन्हे शान्त करने तथा अपनेको संदेह-भाजन न बनानेके लिए मसूरने एक खास सरकारी विभाग कायम किया, जिसका काम था दर्शन और तर्कशास्त्रियों की पुस्तकोको एकत्रित कर उन्हे जलाना; तथा इन विद्याओके पढनेवालोको कडी-कड़ी सजाएँ दिलवाना। इसी समय मन्सूरने लोगोको शान्त करनेके लिए एक फरमान (=घोषणा) लिखकर सारे मुल्कमें प्रकाशित कराया। इस सारे फर्मानको अन्सारीने अपने ग्रन्थ[2] मे उद्धृत किया है, और उसके सक्षेपको इस प्रकार दिया है[3]—"पुराने जमाने मे कुछ लोग ऐसे थे, जो मिथ्याविश्वासका अनुगमन करते और हर बातमे उल्टे सीधे सवाल उठाया करते थे, तो भी आम लोग उनकी बुद्धिकी प्रखरता पर लट्टू हो गए थे। इन लोगोंने अपने विचारोंके अनुसार ऐसी पुस्तके लिखी जो कि शरीअत (इस्लामी धर्मग्रथो) से

---

१. कार्डोवाके पास एक गाँव। २. "इब्न-रोश्द", पृष्ठ ३-७७६
३. वहीं, टिप्पणी, पृष्ठ ७६

उतनी ही दूर थी जितना पूर्वसे पश्चिम दूर है। हमारे समयमें भी कुछ लोगोंने इन्ही नास्तिकों (=मुल्हिदो) की पैरवी की और उन्हींके मतके अनुसार किताबें लिखी। यह पुस्तकें देखनेमें कुरानकी आयतो (=वाक्यावलियों) से अधिक अलंकृत है, लेकिन भीतरसे कुफ्र (=नास्तिकता) और जिन्दका (=धर्मविरोधी एक मत) है। जब हम (सुल्तान मसूर) को उनके धोका-फरेबका हाल मालूम हुआ, तो हमने उनको [illegible]से निकाल दिया, और उनकी किताबें जलवा दी, क्योंकि हम शरीअत और मुसलमानोंको इन नास्तिकोंके फरेबसे दूर रखना चाहते है।... या खुदा! इन नास्तिकों और उनके दोस्तोंको तबाह और बर्बाद कर। . (फिर लोगोंको हुक्म दिया है कि) इन नास्तिकों की संगतसे वैसे ही परहेज करो जैसे विषसे करते हो, यदि कहो उनकी कोई पुस्तक पाओ तो उसे आगमें झोंक दो, क्योंकि कुफ्रकी सजा आग है . ."

तर्क और दर्शनके प्रति शिक्षित मल्लाओंका उस वक्त क्या रुख था, वह विद्वान् इब्न-जुह्ल—जिसे कि मसूरने पुस्तकोंके जलानेका इचार्ज बनाया था—की इस हरकतसे पता लगेगा। दो विद्यार्थी जुह्लसे वैद्यक पढ़ रहे थे। एक दिन उनके पास कोई किताब देख जुह्लने उसे लेकर गौर किया तो मालूम हुआ, मंतिक (=तर्क) की किताब है। जुह्ल गुस्सेमें पाग[illegible] [illegible]गे पैर उनके पीछे मारनेके लिए दौड़ा। उन विद्यार्थियोंने फिर जुह्ल[illegible] पास जाना छोड़ दिया। कुछ दिनों बाद उन्होंने आकर उन्मादसे कसूरकी माफी माँगी और कहा कि वस्तुत: वह पुस्तक हमारी न थी, एक दोस्तसे हमने जबर्दस्ती छीनी, और गलतीसे हमारे पास रह गई थी। जुह्लने कसूर माफ कर दिया, और नसीहत दी, कि कुरान कंठस्थ करो, फिका (=मीमांसा) और हदीस (=पैगंबर वचन) पढ़ो। जब उन्होंने उसे समाप्त कर लिया, तो उसने स्वयं अपने पुस्तका[illegible] [illegible] (फोर्फीरियस) की पुस्तक ईसागोजीको लाकर कहा कि [illegible] [illegible] अब इसको पढ़नेका समय है, तर्क और दर्शनमें पांडित्य प्राप्त [illegible] किन्तु उससे पहिले दर्शनका पढ़ना तुम्हारे लिए हर्गिज उचित न था। इब्न-जुह्ल वर्षों बाजारमें तर्क-दर्शनकी पुस्तकोंको

"जलवाता फिरता" था, किन्तु भीतर स्वयं दर्शनके अध्ययनमें लगा रहता था। जुह्रके एक दुश्मनने रोश्दके उ. दूरणसे लाभ उठाकर उसे तबाह करना चाहा। उसने मसूरके पास बहुतसे लोगोंके हस्ताक्षरके साथ एक आवेदनपत्र भेजा कि जुह्र स्वय दर्शनका हामी है, उसके घरमे दर्शनकी हजारों पुस्तकें है। मंसूरने आवेदनपत्रक पढकर हुक्म दिया कि लेखकको तुरत जेल भेज दिया जाये। वह जेल भेज दिया गया और हस्ताक्षर करनेवाले डरके मारे छिपते फिरने लगे। मुल्लोने जनताकी आँखोमे धूल झोंककर उनमे धर्मान्धताकी भारी आग भडका दी थी। मसूर जानता था, कि यह आग देर तक इसी अवस्थामे नहीं रह सकती, किन्तु इसका दवना भी तभी सभव है, जब कि इसे एक बड़ी बलि दी जाये। वह रोश्दकी बलि चढा चुका था, और वह आग ठडी पड गई थी। वह जानता था, कि मुल्लोंकी ताकतसे यह बाहरकी बात है, कि तुरत ही फिर जनता को उसी तरह उत्तेजित कर सकें। इसीलिए बड़े इतमीनानके साथ उसने इन कठमुल्लोको दवा देने का निश्चय किया।

जिस वक्त रोश्दको निर्वासित किया गया था, उसी वक्त कितने ही दूसरे दार्शनिकों—जहबी, उसूली, बजाया, कफीफ़, कराबी आदि—को भी निर्वासित किया गया था। इस वक्त मुल्लोंने खुशीमें आकर सैकडों कवितायें बनाई थी, जिनमेसे कितनी ही अब भी सुरक्षित है।

यहूदी स्पेनमे पहिलेसे ही दर्शनके अलम्बरदार थे, इसलिए लूसीनियाके यहूदियोने जब इस नास्तिक, पण्डित, दार्शनिकको उस दीन-अवस्थामें देखा, तो उसे वह सर-आँखोंपर बैठानेके लिए तैयार थे। आखिर स्पेनमें एक छोटा गाँव था, जहाँके गँवार उस वक्त भी रोश्दको सत्यका शहीद समझते थे। उनके इस सम्मानकी कीमत और बढ़ जाती है, जब हम जानते हैं कि उन्हें यह मालूम न था कि लूसीनियाका यह रोश्द भविष्यमें सारी विद्या और प्रकाशकी दुनियाका पथ-प्रदर्शक बनने जा रहा है, और उस दुनियाके निर्माणकी बुनियादमें स्वतंत्र विचार और अपमानकी ईंटें भी पड़ेंगी।

रोश्दके ऊपर होनेवाले अत्याचारो के बारेमे कितनीही बातें मशहूर

हैं। एक बार वह लूसीनियासे फ़ास भाग गया, मुल्लोंने पकड़वाकर उसे मस्जिदके दर्वाजेपर खड़ा करवाया, और यह सजा दी कि जो मस्जिदके भीतर दाखिल हो या बाहर निकले उसपर थूकता जाये। एक अपमानका वर्णन स्वय रोश्दने लिखा है—"सबसे अधिक दुख मुझे उस वक्त हुआ था, जब कि एक बार मै और मेरा बेटा अब्दुल्ला कार्दोवाकी जामा मस्जिदमे नमाज़ पढनेके लिए गये, लेकिन न पढ सके। चद गुडोने हल्ला मचाया, और हम दोनोको मस्जिदसे निकाल दिया गया।"[1]

रोश्दको लूसीनियामे निर्वासित कर एक तरहसे सख्त नजरबदीमे रखा गया था; कोई दूसरी जगहका आदमी उससे मिलने नही पाता था।

(ख) मुक्ति और मृत्यु—दो साल (११९७-९८ ई०) तक रोश्द उम्र बढापेमे अपनी दार्शनिक प्रतिभाके लिए उस शारीरिक और मानसिक यातनाको सहता रहा। मसूर समझ रहा था, कि उसने अपने समयके लोगोके सामने ही नही इतिहासके सामने कितना भारी पाप किया है, किन्तु रोश्दके बदले स्वय बलिवेदीपर चढनेकी उसको हिम्मत न थी। अब मसूर अपने पडोसी ईसाई राजाओको अन्तिम पराजय करके जहाँ उधरसे निश्चिन्त था, वहाँ उसका प्रभाव अपनी प्रजापर एक भारी विजेताके तौर-पर हो गया था, उधर मुल्लोका जादू भी जनताके सिर से कम हो गया था। मसूरके इशारेसे या खुद ही सेविली (अश्वीलिया) के कुछ सभ्रान्त लोगोने गवाही दी कि रोश्दपर झूठा, बेबुनियाद इल्जाम लगाया गया था। इसपर मसूरने इस शर्तपर छोडनेका हुक्म दिया कि रोश्द जामा-मस्जिदके दर्वाजेपर खडा होकर लोगोके सामने तोबा करे। रोश्द जामा-मस्जिदके दर्वाजेपर तब तक नगे सिर खडा रखा गया, जब तक लोग नमाज़ पढते रहे, (और खुदा शान्तचित्तसे उस नमाजको सुनता भी रहा!)। इसके बाद वह कार्दोवामे बडी गरीबीका जिन्दगी बिताने लगा।

---

१. **"इब्न-रोश्द" (रेनां द्वारा एक पुराने लेखक अबू-मुहम्मद अब्दुल् कबीर अंसारी से उद्धृत), पृष्ठ १६**

मंसूरकी आत्मा अभी भी उसे कोस रही थी, इसलिए वह रोश्दके साथ कुछ और उपकार करनेका रास्ता ढूँढ रहा था। इसी बीच मराकोके काजी (जज) को उसके जुल्मके लिए बर्खास्त करना पड़ा। मंसूरने तुरत उसकी जगह रोश्दको मुकर्रर किया। दर्शनकी पुस्तकोंके ध्वंसका हुक्म भी वापिस लिया गया, और जो दूसरे दार्शनिक निर्वासित किये गए थे, उनको बुलाकर कितनोंको बड़े-बड़े दर्जे दिये गए।

रोश्द एक साल और जीवित रहा, और अन्तमें १० दिसम्बर ११९८ ई० को मराकोमें उसका देहान्त हुआ; उसके शवको कार्दोवामे लाकर खान्दानी कब्रस्तान मकबरा-अब्बासमे दफन किया गया।

तेईस दिन बाद (२ जनवरी, ११९९ ई०) को मसूर भी मर गया, और साथही अपने नामपर हमेशाके लिए एक काला धब्बा छोड गया। वह समय जल्द आया जब स्पेनकी भूमिसे मसूरके खान्दानका शासन ही नही बल्कि इस्लाम भी खतम हो गया, किन्तु रोश्दकी आवाज सारे युरोपमे गूंजने लगी।

(ग) रोश्दका स्वभाव—रोश्दके स्वभावके बारेमे इतिहास-लेखक बाजीका कहना है —

"इब्न-रोश्दकी राय बहुत मजबूत होती थी। वह जैसा ही जबर्दस्त प्रतिभाका धनी था, वैसाही दिलका मजबूत था। उसके सकल्प बहुत पक्के होते थे, और वह कष्टोसे कभी भय नही खाता था।"[1]

"रोश्द गभीरताकी मूर्ति था। ज्यादा बोलना उसके स्वभावमे न था। अभिमान उसे छू नही गया था। किसीको बुरा-भला कहना उसे पसद न था। धन और पदका न उसे अभिमान था और न लोभ। वह अपने शरीरपर खर्च न करता था। दूसरोकी सहायता करनेमे उसे बहुत आनन्द आता था। चापलूसीसे उसे सख्त घृणा थी। उसकी विशालहृदयता मित्रो ही तक नही शत्रुओ तकके लिए खुली हुई थी। वह कहा करता

---

१. "तबक़ातु'ल्-अतिब्बा", पृष्ठ ७६

था—'यदि हमने दोस्तोको दिया, तो वह काम किया, जो कि हमारी अपनी रुचिके अनुकूल है। उपकार और दया उसे कहते है, जिसमे उन शत्रुओ तकको शामिल किया जाये, जिनको हमारी तबियत पसद नही करती।'"[1]

"दया उसमे इतनी थी कि यद्यपि वर्षो वह काजी (जज) रहा, किन्तु कभी किसीको मृत्यु-दड नही दिया। यदि कोई ऐसा मौका आता, तो स्वय न्यायासनको छोड दूसरेको अपना स्थानापन्न बना देता। अपने शहर कार्दोवासे उसका वैसा ही प्रेम था, जैसा कि यूनानी दार्शनिकोका अथेन्ससे। एक बार मसूरके दर्बारमे जुह्र और रोश्दमे अपने-अपने शहरो सेविली और कार्दोवाके सबधमे बहस छिड गई। रोश्दने कहा—सेविलीमे जब कोई विद्वान् मर जाता है, तो उसके ग्रथ-सग्रहका बेचनेके लिए कार्दोवा लाना पडता है, क्योकि सेविलीमे इन चीजोकी पूछ करनेवाले नही है, हॉ, जब कार्दोवाका कोई गायनाचार्य मर जाता है, तो उसके वाद्ययत्र सेविलीमे बिकनेके लिए जाते है, क्योकि कार्दोवामे इन चीजोकी मॉग नही है।"[2]

पुस्तक पढनेका रोश्दको बहुत शौक था। इब्नु'ल्-अबारका कहना है कि रातके वक्त भी उसके हाथसे किताब नही छूटती थी। सारी-सारी रात वह किताब पढा करता था। अपनी उम्रमे सिर्फ दो रातें उसने किताब पढे बिना बिताईं, एक शादीकी रात, दूसरी वह रात जब कि उसके बापकी मृत्यु हुई।"[3]

(२) कृतियाँ—भिन्न-भिन्न विषयोपर रोश्दको लिखी हुई पुस्तकोकी संख्या साठसे ऊपर है। इब्नु'ल्-अबारके कथनानुसार वह दस हजार पृष्ठके करीब है। मौलवी मुहम्मद यूनस् अन्सारी (फिरगीमहली) ने अपनी पुस्तक "इब्न-रोश्द" मे (जो कि मेरे इस प्रकरणका मुख्य आधार है) भिन्न-भिन्न विषयापर रोश्दकी पुस्तकोकी विस्तृत सूची दी है, मै वहाँसे[4] सिर्फ

---

१. "आसारु'ल्-अब्हार", पृष्ठ २२२ २. "नफ़्हु'ल्-तैब", पृष्ठ २१६
३. "अल्-बीबाजु'ल्-मज़्हब", पृष्ठ २८४ ४. "इब्न-रोश्द", पृष्ठ ११९-३०

पुस्तकोकी संख्या देता हूँ।

(१) दर्शन	२८
(२) वद्यक	२०
(३) फ़िका	८
(४) कलाम (वाद)-शास्त्र	६
(५) ज्योतिष-गणित	४
(६) व्याकरण (अरबी)	२
	६८

रोश्दने अपनी सभी पुस्तकें अरबीमें लिखी थीं, किन्तु उनमेसे कितनोंके अरबी मूल नष्ट हो चुके है, और उनके इब्रानी या लातीनी अनुवादही मौजूद हैं।

इब्न-रोश्दने स्वयं लिखा है कि किस तरह् तुफ़ैलने उसे दर्शनकी पुस्तकों-के लिखनेकी ओर प्रेरणा दी—"एक दिन इब्न-तुफ़ैलने मुझे बुलाया। जब मैं गया तो उसने कहा कि आज अमीरु'ल मोमिनीन (यूसुफ) अफसोस करते थे कि अरस्तूका दर्शन बहुत गभीर है, और (अरबी-) अनुवादकोंने अच्छे अनुवाद नही किये हैं। यदि कोई आदमी तैयार होता और उनका सक्षेप करके सुबोध बना देता। मैं तो यह् काम नही कर सकता, मेरी उम्र अब नही है, और अमीरु'ल्मोमिनीनकी सेवासे भी छुट्टी नही। तुम तैयार हो जाओ, तो कुछ मुश्किल नही, तुम इस कामको अच्छी तरह कर भी सकते हो। मैंने इब्न-तुफ़ैलको वचन दे दिया, और उसी दिनसे अरस्तूकी किताबोंकी व्याख्या-टीकाये लिखनी शुरू कीं।"[१]

रोश्दकी दर्शन-सबधी पुस्तकोंको तीन प्रकारसे बाँटा जा सकता है—

(१) अरस्तू तथा कुछ और यूनानी दार्शनिकोंकी पुस्तकोंकी टीकायें या विवरण।

---

१. "इब्न-रोश्द" (रेनाँ), पृष्ठ ११ ,

(२) अरस्तूका पक्ष ले सीना और फाराबीका खंडन।

(३) दर्शनका पक्ष ले गजाली आदि वाद-शास्त्रियोका खडन।

रोश्दने अरस्तूके ग्रथोंकी तीन प्रकारकी टीकायें की है—

(१) विस्तृत व्याख्या टीका—इनमे हर मूल शब्दको उद्धृत कर व्याख्या की गई है।

(२) मध्यम व्याख्या—इनमे वाक्यके प्रथम शब्दको उद्धृतकर व्याख्या की गई है।

(३) सक्षेप ग्रथ—इनमे वाक्यको बिलकुल दिये बिना ही वह भाव को समझाता है।

अरस्तू के कुछ ग्रथोकी निम्न व्याख्याएँ रोश्दने निम्न सालो और स्थानोमे समाप्त की—

सन्	नाम पुस्तक	स्थान
११७१ ई०	अस्समाअ-वल्-आलम[1] (व्याख्या)	सेविली
११७४ ई०	खताबत-वल्-शेअर[2] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
	मावाद'त्-तबीआत[3] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११७६ ई०	अखलाक[4] (मध्यम व्याख्या)	कार्दोवा
११८६ ई०	तबीआत[5] (विस्तृत व्याख्या)	सेविली

इनके अतिरिक्त उसकी निम्न पुस्तकोकी समाप्तिके समय और स्थान मालूम हैं—

११७८ ई०	जवाहरु'ल्-कौन	मराको
११७९ ई०	कश्फ-मनाहजु'ल्-अवला	सेविली

---

१. De Coelo et mundo (देवात्मा और जगत्)

२. Rhetoric (भाषण-शास्त्र) Poetics (काव्य-शास्त्र)

३. Metaphysics (अध्यात्म या अतिभौतिक-शास्त्र)

४. Ethics (आचार-शास्त्र)

५. Physics (साइंस या भौतिक-शास्त्र)

११९३ ई० अल्-इस्तेकात[1] (व्याख्या) सेविली
११९५ ई० बाज'ल्-असअला व'ल्-अजबा फि'ल्-मन्तिक् निर्वासन

अरस्तूकी निम्न पुस्तकोंपर रोश्दकी तीनों तरहकी व्याख्यायें[2] अरबी, इब्रानी, लातीनीमेंसे किसी न किसी भाषामे मौजूद हैं—

१. तबइयात (भौतिक शास्त्र)
२. सआम (देवता या फरिश्ता)
३. नफ्स (विज्ञान या आत्म-शास्त्र)
४. माबाद्-तबइयात् (अतिभौतिक या अध्यात्म शास्त्र)

अरस्तूके प्राणिशास्त्र (किताबु'ल्-हैवान) के पहिले दस अध्यायोंपर रोश्दकी व्याख्या नहीं मिलती। आचार-शास्त्रकी व्याख्यामें उसने लिखा है कि मुझे अरस्तूके राजनीति-शास्त्रका अरबी अनुवाद स्पेनमे नहा मिला, इसलिए मैंने अफलातूंके "प्रजातंत्र" (जमहूरियत्) की व्याख्या लिखी।[3]

---

१. जालीनूस (गलेन) की पुस्तक

२. रोश्दकी पुस्तकोंके हस्तलेख अधिकतर युरोपके निम्न पुस्तकालयोंमें मिलते हैं—-

१—स्क्योरियल पुस्तकालय, (मद्रिदसे ४० मीलपर स्पेन); २—विब्लियोथिक नाश्नल (पेरिस); ३—बोड्लियन लाइब्रेरी (आक्सफ़ोर्ड, इंग्लैंड); ४—लारन्तीन पुस्तकालय (फ्लोरेन्स, इताली); ५—लाइडेन पुस्तकालय (हालैंड)। इनमें सबसे ज्यादा ग्रंथ स्क्योरियलमें हैं। स्पेन और इतालीके पुस्तकालयोंहीमें अरबी लिपिके कुछ हस्तलेख हैं, नहीं तो इब्रानी और लातीनीके अनुवाद या इब्रानी-लिपिमें अरबी भाषाके ग्रंथ ही ज्यादा मिलते हैं। हिन्दुस्तानमें हमारे प्रान्तके आरा शहरकी एक मस्जिद-के पुस्तकालयमें रोश्दके दो संक्षेप ग्रंथ बारेम्नियास और प्रथम अनालो-तिकापर हैं।

३ सब मिलाकर अरस्तूकी निम्न पुस्तकोंपर रोश्द कृत टीकायें हैं—-
टीकायें—१—बुर्हान् (मन्तिक़), २—समाअ-व-आलम, ३—तबइयात,

रोश्दके दार्शनिक विचारोंको जाननेके लिए उसके दर्शन-सबंधी "संक्षेप" (तल्खीस) फाराबी, तथा सीनापर आक्षेप और वाद-शास्त्रके खंडन देखने लायक हैं, जो बदकिस्मतीसे किसी जीवित भाषामें बहुत ही कम छपे हुए हैं।

रोश्दकी किसी पुस्तककी विशेष तौर से विवेचना यहाँ सभव नही है,

४—नफ़स, ५—माबाद-तबइयात्।

संक्षेप—६—ख़तावत्, ७—शेअ्र, ८—तौलीद-व-इन्हलाल, ९—आसार-अल्इया, १०—अख़लाक़, ११—हिस्स्-व-महसूस, १२—हैवान, १३—तब-ल्लुव-हैवान।

इनमें १,६,७, मन्तिक़ (=तर्कशास्त्र) की आठ पुस्तकोंमें से हैं। २,३, ४,८,९,११,१३—तब्-इयात (=भौतिकशास्त्र) की आठ पुस्तकोंमेंसे; ५वीं पुस्तक अतिभौतिकशास्त्र है, और १०वीं आचार-शास्त्र।

१ संक्षेपोंमें—

१—तल्ख़ीस्-मंतक़ियात् (तर्कशास्त्र-संक्षेप)

२—तल्ख़ीस्-तबइयात् (भौतिकशास्त्र-संक्षेप)

३—तल्ख़ीस्-माबाद-तबइयात् (अतिभौतिकशास्त्र-संक्षेप)

४—तल्ख़ीस्-अख़्लाक़ (आचारशास्त्र-संक्षेप)

५—शरह-जम्हूरियत् (प्रजातंत्र की व्याख्या)

वादशास्त्रियोंके खंडन—

१—तोहाफ़तुल्-तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा (दर्शन-खंडन-खंडन) यह प्रधान-तया ग़ज़ालीके तोहाफ़तुल्-तोहाफ़त (दर्शन-खंडन) का खंडन है।

२—फस्लुल्-मुक़ाल।

३—कश्फ़ुल्-अद्ला।

अरस्तूके तर्कको ग़लत समझनेके लिए फ़ाराबीके विरुद्ध रोश्दने तीन पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें "तल्ख़ीस्-मोक़ालात्-फ़ाराबी फ़िल्मन्तिक़" मुख्य है। सीनाकी पुस्तक "शफ़ा" की ब्रह्म-विद्या (इल्मु'ल्-इलाही) पर आक्षेप किया है।

इसलिए इसके लिए पाठक आगे आनेवाले उद्धरणोंसे ही संतोष करें।

(३) **दार्शनिक विचार**—रोश्दके लिए अरस्तू मनुष्यकी बुद्धिका उच्चतम विकास था, वह अपना काम बस यही समझता था, अरस्तूके दर्शनको ऐसे रूपमें प्रकट करे, जिसमें उसके तत्त्वज्ञानके समझनेमें गलती न हो; इसीलिए वह कितनी ही बार फाराबी और सीनाकी गलतियोंको दिखलाता है। फ़ाराबी "द्वितीय अरस्तू" के नामसे मशहूर हुआ, किन्तु रोश्द अरस्तूको जिस ऊँचाईपर पहुँचा समझता था, वहाँ पहुँचना किसीकी शक्तिसे बाहर समझता था, और शायद वह यदि यह सुनता तो बहुत खुश होता कि पीछेकी दुनियाने उसे (अरस्तू) "भाष्यकार" की उपाधि दी है।

सबसे पहिले हम उन बातोंके बारेमें कहना चाहते हैं जिनके बारेमें रोश्द और ग़ज़ाली तथा दूसरे "वादशास्त्रियों" का झगड़ा था—

(क) **ग़ज़ालीका खंडन**—रोश्दका समय ठीक वही है, जो कि श्रीहर्षका। श्रीहर्षका दार्शनिक ग्रंथ "खंडन-खंड-खाद्य" (खंडरूपी खाँडका आहार या खंडन रूपी मिठाई) है, और रोश्दके ग्रंथका नाम भी उससे मिलता-जुलता "तोहाफ़तु'ल्-तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा" (दर्शन-खंडन-खंडन) संक्षेपमें तोहाफतु'ल्-तोहाफ़त् (खंडन-खंडन) है, "खंडन-खाद्य" और, "खंडन-खंडन"-मे नाम सादृश्य बहुत ज्यादा ज़रूर है, किन्तु, इससे दोनोंके प्रतिपाद्य विषयोंको एक समझनेकी गलती नहीं करनी चाहिए; दोनोंमें यदि और कोई समानता है, तो यही कि दोनों ऐसे युगमें पैदा हुए, जिसमे खंडनपर खंडन बड़े जोरसे चल रहे थे। श्रीहर्ष अपने "खंडन" को "धर्मकीर्ति"[1] और उन जैसे तर्कशास्त्रियों तथा वस्तुवादी दार्शनिकोंके खिलाफ इस्तेमालकर "शून्य-ब्रह्मवाद" स्थापित करना चाहता है। उसका समकालीन रोश्द ग़ज़ालीके द्विविघातमक "ब्रह्मवाद"[1] का खंडनकर वस्तुवादी "विज्ञानवाद"—जो कि

---

१. "दुरावाघ इव धर्मकीर्त्तेः पन्थाः, तदत्रावहितेन भाव्यम्"—खंडन खंड-खाद्ये।

धर्मकीर्ति के वादके बहुत नजदीक है---की स्थापना करना चाहता था। अर्थात् पूर्व और पश्चिमके दोनों महान् दार्शनिकोमे एक (श्रीहर्ष) वस्तुवादको हटाकर अ-वस्तुवाद (विज्ञानवाद, शून्यवाद) कायम करना चाहता था, दूसरा (रोश्द) अवस्तुवाद (सूफी ब्रह्मवाद) को हटाकर वस्तुवादकी स्थापना कर रहा था और दोनोके प्रयत्नोका आगे हम परिणाम क्या देखते है? श्रीहर्षकी परपरा ब्रह्मवादके मायाजालमे उलझकर भारतके मृतोत्पन्न समाजको पैदा करती है, और रोश्दकी परम्परा पुनर्जागरणके सघर्षमे भाग लेकर नवीन युरोपके उत्पादनमे सफल होती है। भारतमे यदि गजाली और श्रीहर्ष परपरा सर्वमान्य रही, तो उसके कार्य-कारण सबध भी दिखाई पडते है।

(a) दर्शनालोचना गज़ालीकी अनधिकार-चेष्टा---एक बार अपनी स्मृतिको ताजा करनेके लिए इस्लामिक वाद-शास्त्र (=कलाम) पर नजर दौड़ानी चाहिए। मोतज़लाने "वाद" को अपनाया, फिर अबुल्-हसन्-अश्अरीने वश्चामे इसी हथियारको लेकर मोतजलापर प्रहार करना शुरू किया। अश्अरीके अनुयायी अबूबक्र बाकल्लानीने बादमे थोडी दर्शनकी पुट देनी चाही, जिसमे गज़ालीके गुरु इमाम हर्मैनने अपनी प्रतिभाका ही सहारा नही दिया, बल्कि गज़ाली जैसे शागिर्दको तैयार करके दे दिया। गजालीने सूफीवाद, दर्शनवाद, कुरानवाद, बुद्धिवाद, अ-बुद्धिवाद, कबीलाशाही जनतत्रवाद .क्या क्या नही मिलाकर एक चूँचूँका मुरब्बा "वाद" (कलाम) के नामपर तैयार किया, जिसका नमूना हम देख चुके है। गज़ालीके "दर्शन-खडन" के खडनमे उस जैसेही नामपर रोश्दका "दर्शन-खडन-खडन लिखना बतलाया है, कि रोश्दको गज़ालीका चूँचूँका मुरब्बा पसंद नही आया। रोश्द अपनी पुस्तक "कश्फुल्-अदला"[१] मे गज़ालीके इस चूँचूँके मुरब्बेके बारेमे लिखता है ---

"इस्लाम मे सबसे पहिले **बाहरी** (मतवालो) ने फ़साद (झगड़ा, मतभेद)

---

१. पृष्ठ ७२

पैदा किया, फिर मोतज़लाने, फिर अश्अरियोंने, फिर सूफियोंने और सबसे अन्तमे गज़ालीने। पहिले उस (ग़ज़ाली) ने "मकासिदुल्-फिलासफा" (दर्शनाभिप्राय) एक पुस्तक लिखी। जिसमे (यूनानी-) आचार्योंके मतोंको खोलकर बिना घटाये-बढाये नकल कर दिया। उसके बाद "तोहाफतु'ल् फिलासफा" (दर्शन-खंडन) लिखा, जिसमे तीन सिद्धान्तोंके बारेमे दार्शनिकोको काफिर बनाया। उसके बाद "जवाहरु'ल्-कुरान" मे गजालीने खुद बतलाया, कि "तोहाफतु'ल्-फिलासफा" (दर्शन-खडन) केवल लडाई-भिडाई (=जदल) की किताब है, और मेरे वास्तविक विचार "मज्नून-बे-अला-गैरे-अह्लेही" मे है। इसके बाद गज़ालीने "मिश्कातु'ल्-अन्वार" एक किताब लिखी, जिसमे ज्ञानियोके मतोंकी व्याख्या करके यह साबित किया कि सभी ज्ञानी असली सत्यसे अपरिचित हैं; इसमे अपवाद सिर्फ वह है, जो कि महान् सिर्जनहारके संबंधके दार्शनिक सिद्धान्तोको ठीक मानते हैं। यह कहनेके बाद भी कितनी ही जगह गज़ालीने यह बतलाया है कि ब्रह्मज्ञान (=इल्म-इलाही) केवल चिन्तन और मननका नाम है; और इसी लिए "मुनक्कज़-मिन'ल्-ज़लाल" मे (अरस्तू आदि) आचार्योपर ताना कसा है, और फिर स्वय ही यह साबित किया है, कि ज्ञान एकान्तवास तथा चिन्तनसे प्राप्त होता है। साराश यह कि गज़ालीके विचार इतने विभिन्न और अस्थिर है, कि उसके असली विचारोंका जानना मुश्किल है।"

ग़ज़ालीने "तोहाफ़तुल्-फ़िलासफ़ा" की भूमिकामे[1] अपने ज़मानेके दार्शनिकोंको जो फटकारा है और उनके २० सिद्धान्तोंका खडन किया है, उसके उत्तरमे रोश्द "खडन-खंडन"[2] मे मिलता है—

"(दार्शनिकोके) इन सिद्धान्तोकी जाँच सिर्फ वही आदमी कर सकता है, जिसने दर्शनकी किताबोंको ध्यानपूर्वक पढ़ा है (ग़ज़ाली सीनाके अतिरिक्त कुछ नहीं जानता था), ग़ज़ाली जो यह आक्षेप करता है, इसके दो कारण हो सकते हैं,—या तो वह सब बातोंको जानता है, और फिर आक्षेप करता

१. देखो पृष्ठ १६१ २. 'तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त्', पृष्ठ ३४

है, और यह दुष्टता का काम है, या वह अनभिज्ञ है, तो भी आक्षेप करता है, और यह मूर्खोंको ही शोभा देता है। लेकिन गजालीमें दोनों बातें नहीं मालूम होती। मालूम यह होता है, कि बुद्धिके अभिमानने उसे इस पुस्तकको लिखनेके लिए मजबूर किया। आश्चर्य नहीं यदि उसकी मंशा इस तरह लोगोमे प्रिय होनेकी रही हो।"

(b) **कार्य-कारण-नियम अटल**—गजालीने प्रकृतिमें कार्य-कारण नियमको माननेमे यह कहकर इन्कार कर दिया कि वैसा मान लेनेपर "करामात (=अकलके खिलाफ अप्राकृतिक घटनाएँ) गलत हो जावेंगी, और धर्मकी बुनियाद करामातपर ही है।"[1]

इसके उत्तरमे रोश्द कहता है—

"जो आदमी कार्य-कारण-नियमसे इन्कार करता है, उसको यह माननेकी भी जरूरत नही कि हर एक कार्य किसी न किसी कर्त्तासे होता है। बाकी यह बात दूसरी है, कि सरसरी तौरमे जिन कारणोको हम देखते हैं, वह काफी ख्याल न किए जाये, किन्तु इससे कार्य-कारण नियम (=इल्लियत) पर असर नही पडता। असल सवाल यह है कि चूँकि कुछ ऐसी चीजें भी है जिनके कारण या सबबका पता नही लगता, इसलिए क्या एकदम कार्य-कारण-नियमसे ही इन्कार कर दिया जाये। लेकिन यह बिलकुल गलत बात है। हमारा काम यह है, कि अनुभूत (वस्तु) मे अन्-अनुभूत (अज्ञात) की खोज करे, न कि यह कि (एक वस्तुके) अन्-अनुभूत होनेकी वजहसे जो अनुभूत (ज्ञात है) उससे भी इन्कार कर दें।....

"आखिर ज्ञानका प्रयोजन क्या है? सिर्फ यही की अस्तित्व रखनेवाले (पदार्थो) के कारणोका पता लगावें। लेकिन जब कारणोहीसे बिलकुल इन्कार कर दिया गया, तो अब बाकी क्या रहा? तर्कशास्त्रमें यह बात प्रमाण-कोटि तक पहुँच गई है, कि हर कार्यका एक कारण होता है; फिर यदि कारण और हेतुसे ही इन्कार कर दिया गया, तो इसका नतीजा या

---

१. तोहाफ़तुल्-फ़िलासफा, पृष्ठ ६४

तो यह होगा, कि कोई वस्तु मालूम (=ज्ञात) न रहेगी, या यह कि किसीको पक्का मालूम (=ज्ञात) न (मानना) होगा, और सभी ज्ञात (वस्तुओं) को काल्पनिक कहना पड़ेगा। इस तरह 'पक्का (सच्चा) ज्ञान' दुनियामें रह न जायेगा।"[1]

"कश्फ़ुल्-अदला"[2] मे इसी विषयपर बहस करते हुए रोश्द कहता है—

"यदि कार्य-कारण (नियम) से बिलकुल इन्कार कर दिया जाये अर्थात् यह मान लिया जाये कि जगत्का वर्तमान (कार्य-कारण-) स्थितिसे किसी दूसरी स्थितिके रूपमें बदलना सभव है, और जगत्मे कोई अटल सबध नही है; तो शिल्पी (=हकीम) के शिल्प (=हिकमत) के लिए क्या बाकी रह जायेगा ? शिल्प तो नाम ही इसका है, फिर सारा जगत् क्रम और नियमका अनुसरण करे। लेकिन जब मनुष्यके सारे काम सयोगवश हर अगसे किये जा सकते है—अर्थात् आँखके ज्ञानका आँखसे, कानके विषयका कानसे, रसनाके विषयका रसनासे कोई अटल सबंध नहीं है, तो मनुष्यके ढाँचेमे ईश्वरकी कारीगरी या शिल्पका कौनसा नमूना बाकी रहेगा।...अगर वर्तमान नियम पलट जाये—यानी जो चीज पश्चिमकी ओर गति कर रही है, वह पूर्वकी ओर, और जो पूर्वकी ओर गति कर रही है वह पश्चिमकी ओर गति करने लगे, आग ऊपर उठनेकी जगह नीचे उतरने लगे, मिट्टी नीचे उतरनेकी जगह ऊपर चढ़ने लगे, तो फिर क्या (ईश्वरकी) कारीगरी और शिल्प झूठा न हो जायेगा।"

(c) **धर्म-दर्शन-समन्वयका ढंग ग़लत**—ग़ज़ाली भी बुद्धि और धर्म अथवा दर्शन और धर्ममें समन्वय (समझौता) करानेके पक्षपाती है, और रोश्द भी, किन्तु दोनोंमे भारी अन्तर यह है :"इब्न रोश्द मजहबको विद्या (=दर्शन) के मातहत समझता है, और ग़ज़ाली विद्याको मजहबके मातहत। रोश्द लिखता है[3]—जब कोई बात प्रमाण (=बुर्हान) से

---

१. "तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त्", पृष्ठ १२२ २. पृष्ठ ४१
३. "फ़स्लु'ल्-मुक़ाल", पृष्ठ ८

सिद्ध हो गई, तो मजहब (की बात) मे जरूर नई व्याख्या (=तावील) करनी होगी।"

(ख) जगत् आदि-अन्त-रहित—अरस्तू तथा दूसरे यूनानी दार्शनिक जगत्को अभावसे उत्पन्न नही बल्कि अनादिकालसे चला आता, तथा अनन्तकाल तक चला जानेवाला मानते थे, गजाली और इस्लामका इसपर एतराज था। रोश्दने इस विषयको साफ करते हुए अपने ग्रंथ "अतिभौतिक शास्त्र-संक्षेप"[1] मे लिखा है—

"जगत् की उत्पत्तिके सिद्धान्तपर दार्शनिकोके दो परस्पर विरोधी मत है (१) एक पक्ष उत्पत्तिमे इन्कार करता है, और विकास-नियमका माननेवाला है, और (२) दूसरा पक्ष विकाससे इन्कार करता है और उत्पत्ति होनेको मानता है। विकासवादियोंका मत है, कि उत्पत्ति इसके सिवा और कुछ नही है कि बिखरे हुए परमाणु इकट्ठे हो मिश्रित रूप स्वीकार कर लेते है। ऐसी अवस्थामे निमित्तकारण (ईश्वर) का कार्य सिर्फ इतना ही होगा कि भौतिक परमाणुओको शकल देकर उनके भीतर पारस्परिक भेद पैदा करे। इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसी अवस्थामे कर्त्ता उत्पादक (=स्रष्टा) नही रहा, बल्कि उसका दर्जा गिर गया, और वह केवल चालक के दर्जेपर रह गया।'

"इसके विरुद्ध उत्पत्ति या सृष्टिके पक्षपाती मानते है, कि उत्पादकने भूत (=प्रकृति) को अस्तित्व रखे बिना जगत्को उत्पन्न किया। हमारे (इस्लामिक) वाद-शास्त्री (मुतकल्लमीन, गजाली आदि) और ईसाई दार्शनिक इसी मतको मानते है।

"इन दोनो मतोके अतिरिक्त भी कुछ मत है, जिनमे कम या अधिक इन दो विचारोमे से किसी एक विचारकी झलक पाई जाती है। उदाहरणार्थ (१) इब्न-सीना यद्यपि विकासवादियोमे इस बातमे सहमत है, कि (जगत्-उत्पत्ति) केवल भूत (=प्रकृति) के शकल-सूरत पकड़नेका नाम है;

---

१. "तल्खीस्-माबाद'-तबइआत", अध्याय १, ४

लेकिन 'सूरत' (='आकृति') की उत्पत्ति के प्रश्नपर वह अरस्तूसे मत-भेद रखता है। अरस्तू कहता है कि प्रकृति (=भूत) और आकृति दोनों अनुत्पन्न (=नित्य) हैं, लेकिन इब्न-सीना प्रकृतिको अनुत्पन्न तथा आकृतिको उत्पन्न (=अनित्य) मानता है; इसीलिए उसने जगत्-उत्पादकका नाम **आकृति-कारक शक्ति** रखा है। इस प्रकार इस (सीना) के मतके अनुसार प्रकृति, केवल (कार्य-) अधिकरण[1] का नाम है—उत्पत्ति या कार्यकी सामर्थ्य[2] (स्वत.) उसमे बिलकुल नही है। (२) इसके विरुद्ध देमासियुस्[3] और फाराबीका मत है कि बाज अवस्थाओंमें स्वयं **प्रकृति** भी (जगत्-)उत्पत्तिका काम कर सकती है। (३) तीसरा मत अरस्तूका है। उसके मतका सक्षेप यह है—स्रष्टा (=उत्पादक) नही प्रकृतिका स्रष्टा है और नहीं आकृतिका, बल्कि इन (प्रकृति, आकृति) दोनोंसे मिलकर जो चीजें बनती हैं, उनका स्रष्टा है।—अर्थात् प्रकृति[4] में गति पैदाकर उसकी आकृति—शकल—को यहाँ तक बदल देता है, कि जो अन्तर्हित शक्तिकी अवस्थामें होती है, वह कार्य-पन (=कार्य-अवस्था) में आ जाती है। स्रष्टाका कार्य बस इतना ही है। इस तरह उत्पत्तिकी क्रिया का यह अर्थ हुआ, कि प्रकृतिको गति देकर अन्तर्हित (अ-प्रकट) शक्ति (की अवस्था) से कार्य (के रूप) मे ले आना।—अर्थात् सृष्टि वस्तुकी गति-क्रिया है। किन्तु, गति गर्मीके बिना नहीं पैदा हो सकती। यही कारण है कि जल—और पृथिवी—मंडलमें जो गर्मी छिपी (=निहित) है, उसीसे रग-रंगके वनस्पतियों और प्राणियोंकी उत्पत्ति होती रहती है। नेचरके ये सारे कार्य नियम—क्रम—के साथ होते हैं; जिसको देखकर यह ख्याल होता है कि कोई **पूर्णबुद्धि** इसका पथ-प्रदर्शन कर रही है, यद्यपि दिमागको इसके बारेमें किसी इन्द्रिय या मानसिक-ज्ञानका पता नही। इस बातका अर्थ यह हुआ, कि अरस्तूके मतमे जगत्-स्रष्टा

---

१. इन्फ़आल। २. सलाहियत्। ३. सामस्तियुस् (नौशेरवांकालीन)।
४. प्रकृति यहाँ सांख्यकी प्रकृतिके अर्थमें नहीं बल्कि मूल भौतिकतत्त्व-के अर्थमें प्रयुक्त है।

आकृति—शकल—का उत्पादक नही है, और हम उसको उनका उत्पादक मानें, तो यह भी मानना पड़ेगा, कि वस्तुका होना अ-वस्तुसे (अभावसे भावका) होना हो गया।

"इब्न-सीनाकी गलती यह है, कि वह आकृतियोको उत्पन्न मानता है, और हमारे (इस्लामिक) वादशास्त्रियोकी गलती यह है, कि वह वस्तु को अ-वस्तु (=अ-भाव) मे हुई मानते है। इसी गलत सिद्धान्त—वस्तुका अ-वस्तुसे होना—को स्वीकार कर हमारे वादशास्त्रियोने जगत्-स्रष्टाको एक ऐसा पूर्ण (सर्वतत्र-) स्वतत्र कर्त्ता मान लिया है, जो कि एक ही समयमे परस्पर-विरोधी वस्तुओको पैदा किया करता है। इस मतके अनुसार न आग जलाती है, और न पानीमे तरलता और आर्द्रता (=स्नेह) की सामर्थ्य है। (जगत्मे) जितनी वस्तुएँ है, वह अपनी-अपनी क्रियाके लिए जगत्-स्रष्टाके हस्तक्षेप पर आश्रित है। यही नही, इन लोगोका ख्याल है, कि मनुष्य जब एक ढेला ऊपर फेकता है, तो इस क्रियाको उसके अग—अवयव—स्वय नही करते, बल्कि जगत्-स्रष्टा उसका प्रवर्त्तक और गतिकारक होता है। इस प्रकार इन लोगोने मनुष्यकी क्रिया-शक्तिकी जडही काट डाली।"

इसी तत्त्वको अन्यत्र समझाते हुए रोश्द लिखता है—[१]

(a) **प्रकृति**—"(जगत्-) उत्पत्ति केवल गतिका नाम है; किन्तु गतिके लिए एक गतिवालेका होना जरूरी है। यह गतिवाला जब केवल (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामे है, तो इसीका नाम मूल भूत (प्रकृति) है, जिसपर हर तरहकी आकृतियाँ पिन्हाई जा सकती हैं, यद्यपि वह अपने निजी रूप (=स्वभाव) मे हर प्रकारकी आकृतियो—शकलों—से सर्वथा रहित रहता है। उसका कोई तर्कसम्मत लक्षण नहीं किया जा सकता, वह केवल क्षमता—योग्यता—का नाम है। यही वजह है, जगत् पुरातन—अनादि—है, क्योकि जगत्की सारी वस्तुए अस्तित्वमें आनेसे पहिले क्षमता—योग्यता—की अवस्थामें थी, अ-वस्तु (=अ-भाव)

---

१. "तल्खीस्-तबध्यात" (भौतिक-शास्त्र संक्षेप)।

से वस्तु (=भाव) का होना असंभव है।"

"प्रकृति सर्वथा अनुत्पन्न (=अनादि) और अ-नश्वर (=न नाश होने लायक) है; दुनियामें पैदाइशका न-अन्त होनेवाला क्रम जारी है। जो वस्तु (अन्तर्हित) क्षमता या योग्यताकी अवस्थामें होती है, वह क्रिया-अवस्थामें जरूर आती है, अन्यथा दुनियामें बाज चीजोंको कर्त्ताके बिना ही रह जाना पड़ेगा। गतिके पहिले स्थिति या स्थितिके पहिले गति नहीं होती, बल्कि गति स्वयं आदि-अन्त-रहित है। उसका कर्त्ता स्थिति (=गति-शून्यता) नहीं है, बल्कि गतिके कारण स्वय एक दूसरेके कारण होते हैं।

(b) **गति सब कुछ**—जगत्का अस्तित्व भी गतिहीसे कायम है। हमारे शरीरके अन्दर जो तरह-तरहके परिवर्त्तन होते हैं, उन्हींसे हम इस दुनियाका अन्दाजा लगाते हैं, यही परिवर्तन गति के भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। यदि जगत् एक निर्जीव यंत्रकी भाँति स्थिर (=गति-शून्य) हो जाये, तो हमारे दिमागसे दुनियाका ख्याल भी निकल जायेगा। स्वप्नावस्थामे हम दुनिया का अन्दाजा अपने दिमाग और ख्यालकी गतियोंसे करते हैं। और जब हम मधुर स्वप्नमें बेखबर (=सुषुप्त) रहते हैं, उस समय दुनियाका ख्याल भी हमारे दिलसे निकल जाता है। सारांश यह है कि यह गतिहीका चमत्कार है, जो कि आरम्भ और अन्तके विचार हमारे दिमागमें पैदा होते हैं। यदि गतिका अस्तित्व न होता, तो जगत्में उत्पत्तिका जो यह लगातार प्रवाह जारी है, उसका अस्तित्व भी न होता, अर्थात् दुनियामें कोई चीज मौजूद नहीं हो सकती।"[1]

(ग) **जीव**—नफ़्स[2] या विज्ञानका सिद्धान्त अरस्तूके लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, रोश्दके लिए वह उससे भी ज्यादा है, क्योंकि उसने इसीके ऊपर अपने एक-विज्ञानता[3] के सिद्धान्तको स्थापित किया है। लेकिन जिस तरह जगत्के समझनेके लिए प्रकृति (=मूल तत्त्व) और गति एवं

---

१. "तल्खीस्-तब्-इयात" (भौतिक-शास्त्र-संक्षेप)।
२. यूनानी नवूस (Nous) =अक़्ल। ३. "वहदत्-अक़्ल।"

गतिका स्रोत ईश्वर जानना जरूरी है उसी तरह ईश्वर कर्त्ता-नफ्स या कर्त्ता-विज्ञान[1] जो कि नफ्सो (=विज्ञानो) का नफ्स (विज्ञान) और सभी नफ्सोके उद्गम तक पहुँचनेके पहिले प्रकृति और ईश्वर (=नफ्स) के बीचके तत्त्व जीव (रूह) के बारेमे जानना जरूरी है।

(a) **पुराने दार्शनिकोंका मत**--पुराने यूनानी दार्शनिक जीवके बारेमे दो तरहके विचार रखते थे, एक वह जो कि जीवको भूत (=प्रकृति)-से अलग नही समझते थे जैसे एम्पेदोकल (४८३-३० ई० पू०) एपीकुरु (३४१-२७० ई० पू०)। और दूसरे दोनोको अलग-अलग मानते थे, इनमे मुख्य है अनखागोर (५००-४२८ ई० पू०) अफलातून (४२७-३७० ई० पू०)। पुराने यूनानी दार्शनिक इस बातपर एकमत थे, कि जीवमें ज्ञान और स्वत गति यह दो बाते अवश्य पाई जाती है। अखीमनके मतमे जीव सदा गतिशील तथा आदि-अन्तहीन (=नित्य) पदार्थ है। क्षणिकवादी हैराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०)के मतमे जीव भारे (भौतिक) तत्त्वोंमे श्रेष्ठ और सूक्ष्म है, इसीलिए वह हर तरहको परिवर्तनशील चीजोंको जान सकता है। देवजेन (४२१-३२२ ई० पू०) जीवके मूल तत्त्वको वायुका सा मानता है, जीव स्वय उसकी दृष्टिमे सूक्ष्म तथा ज्ञानको शक्ति रखता है। परमाणुवादी देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०) के मतमे जीव कभी न स्थिर होनेवाली सतत गतिशील, तथा दुनियाकी दूसरी चीजोंको गति देनेवाला तत्त्व है, भौतिकवादी एम्पेदोकल (४८३-४३० ई० पू०) के मतमे जीव दूसरी मिश्रित वस्तुओंकी भाति चार महाभूतोंसे बना है। आपसमे मत-भेद जरूर है, किन्तु सिर्फ पिथागोर[2] (५७०-५०० ई० पू०) और जेनो[3] (४९०-४३० ई० पू०) को छोड सुकात (४६९-३९९ ई०

---

१. नफ्स-फआल Active Reason

२. संख्या-ब्रह्मके सिद्धान्तमें जीवको भी शामिलकर उसे अ-भौतिक संख्या-तत्त्व मानता था।

३. वह जीवको संख्या जैसी एक अ-भौतिक वस्तु मानता था।

पू०) से पहिलेवाले सारे यूनानी दार्शनिक जीव और भूत (=प्रकृति) को अलग-अलग तत्त्व नहीं समझते।

(b) **अफलातूँका मत**—अफलातूँने इस बातपर ज्यादा जोर दिया कि जीव और भूत अलग-अलग तत्त्व हैं। मानव शरीरके भीतरके जीव उसके मतमें तीन प्रकारके हैं—(१) **विज्ञानीय जीव**[1] जो कि मनुष्यके मस्तिष्कके भीतर सदा गतिशील रहता है, (२) दूसरा **पाशविक जीव** हृदयमें रहता है, और नश्वर है। इससे आदमीको क्रोध और वीरताकी प्राप्ति होती है। (३) पाशविक जीवसे भी नीचे **प्राकृतिक** (=वानस्पतिक) जीव है; क्षुधा, पिपासा, मानुषिक कामना आदिका उद्गम यही है। वानस्पतिक (=प्राकृतिक) और पाशविक जीव आमतौरसे आत्मिक जीवके आधीन काम करते हैं, किन्तु कभी-कभी वह मनमानी करने लगते हैं, तब अक्ल (=विज्ञान) बेचारी असमर्थ हो जाती है, और आदमी के काम अबुद्धिपूर्वक कहे जाते हैं।

(c) **अरस्तूका मत**—अरस्तू जीवके बारेमें अपने गुरु अफलातूँके इस मत (भूतसे जीवका एक भिन्न द्रव्य होना) से सहमत नहीं है। अरस्तूका पुराने दार्शनिकोंपर यह आक्षेप है कि वह जीवका ऐसा लक्षण नहीं बतलाते जो कि वानस्पतिक (प्राकृतिक), पाशविक, और आत्मिक तीनों प्रकारके जीवोंपर एकसा लागू हो।[2] अरस्तू अपना लक्षण करते हुए कहता है कि भूत (=प्रकृति) क्रियाका आधार[3] (=क्रिया-अधिकरण) मात्र है, और जीव केवल क्रिया या **आकृति**[4] है। भूत और जीव अथवा प्रकृति और आकृति परस्पर-संबद्ध तथा एक दूसरेके पूरे अंश हैं, इन दोनोंके योगको ही प्राकृतिक (=भौतिक) पिंड[5] कहा जाता है। अभाव या अन्धकारमें पड़ी प्रकृति (=भूत) को जीव (=आकृति) प्रकाशमें लाता है, दूसरी ओर

---

१. **रूहे-अक़्ली।** २. "**प्राणिशास्त्र**", **अध्याय** २
३. **इन्फ़आल,** Receptive. ४. Form, **सूरत।**
५. Physical body, **जिस्म-तबई।**

जीव भी प्रकृतिका मुखापेक्षी है, क्योंकि वह प्रकृतिमें उन्ही बातोका प्रकाश ला सकता है, जिसकी योग्यता उसमे पहिलेसे मौजूद है।

अरस्तू भी अफलातूंकी ही भाँति जीवके तीन भेद बतलाता है—(१) **वानस्पतिक जीव** जिसका काम प्रसव और वृद्धि है, और जो वनस्पतियोंमे पाया जाता है। (२) **पाशविक जीव** जिसमे प्रसव और वृद्धिके अतिरिक्त पहिचान[1] की भी शक्ति है, यह सभी पशुओंमें पाई जाती है। (३) **मानुषिक जीव** बाकी दोनो जीवोंसे श्रेष्ठ है, इसमें प्रसव वृद्धि, पहिचानके अतिरिक्त बुद्धि, चिन्तन या विचारकी शक्ति भी है, यह सिर्फ मनुष्यमें है। प्राणिशास्त्रका पिता अरस्तू चाहे डार्विनी विकासवाद तक न पहुँचा हो, किन्तु वह एक तरहके विकासको वनस्पति—पशु—मनुष्यमे क्रमश: होते जरूर मानता है; जैसा कि उसके जीव संबधी पूर्व-पूर्वके गुणोको लेते हुए उत्तर-उत्तरमे नये गुणोंके विकाससे मालूम हो रहा है। अरस्तू जीव (=आकृति) को प्रकृतिसे अलग अस्तित्व रखनेवाली वस्तु नही मानता, यह बतला आए है। वह यह भी मानता है कि जीव-व्यक्तियोंके रूपमे प्रकट होते है, और व्यक्तिके खातमेके साथ उनका भी खातमा हो जाता है। अरस्तू जीवकी सीमाको यहाँ समाप्त कर नफ्स या आत्माकी सीमामें दाखिल होता है, यह जरा ठहरकर बतलायेगे। गोया अरस्तूका वर्गीकरण हुआ प्रकृति—आकृति (=जीव)—विज्ञान (=नफ्स), जिनमे प्रकृति और आकृति अभिन्न-सहचारिणी सखियाँ है, उपनिषद्का त्रैतवाद प्रकृति, आकृति (=जीव) के सखित्वको न मानकर आकृतिको आत्मा बना आत्मा-(परम-) आत्माको सखा बनाता है।[2] किन्तु जिस तरह हमने यहाँ साफ-साफ करके इस वर्गीकरणको दिखलाया, अरस्तू अपने लेखोमे उतना साफ नही है। कही वह मानुषिक जीवको जीव कोटिमे रख, उसे प्रकृति-सहचर तथा व्यक्तिके साथ उत्पत्तिमान और नाशवान मानता है, और कहीं

---

१. अवराक। २. "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया:"—श्वेताश्वतर (४।६) और मुंडक उपनिषद् (३।१।१)

वानस्पतिक और पाशविक जीवकी बिरादरीसे निकालकर उसे नातिक-विज्ञान[1] लोकमें लाना चाहता है। वह जीवन ही नातिक-विज्ञान[1] है।

नातिक-विज्ञान—विज्ञानीय जीव या नातिक-विज्ञान नीचेके तत्वों (प्रकृति, आकृति) से श्रेष्ठ है, और वही सभी चीजोंका ज्ञाता[2] है—मानो नातिक-विज्ञान ऊपरसे नीचेकी दुनियामें खास उद्देश्यसे भेजा जाता है। उसका इस दुनियाकी (प्राकृतिक या आकृतिक) व्यक्तियोंसे कोई अपनापन नहीं; वह अवयवको नहीं अवयवी, सामान्य तथा आकृतिका ज्ञान रखता है। इसीके द्वारा मनुष्य इन्द्रियोंकी दुनियाके परे ज्ञान-गम्य दुनियाको जाननेमें समर्थ होता है। किन्तु ज्ञान-गम्य दुनियाका ठीक-ठीक पता अतिमानुष विज्ञानों (=ऊपरकी नफ़्सों) को ही होता है, अत नातिक-विज्ञान एक दर्पण है, जिसके द्वारा मनुष्य ऊपरकी विज्ञानीय दुनियाके प्रतिबिंबको देख सकता है।

इन्द्रिय-विज्ञान—नातिक-विज्ञान अवयवका ज्ञान नहीं करता, वह अति मानुष विज्ञानों[3] की भाँति केवल अवयवी, आकृति या सामान्यका ज्ञान करता है; यह कह आए हैं। इसलिए अवयव या व्यक्तिके ज्ञानके लिए अरस्तूने एक और विज्ञानकी कल्पना की है, जिसका नाम इन्द्रिय-विज्ञान है। आगको छूकर गर्मीका ज्ञान इन्द्रिय-विज्ञानका काम है। इन्द्रिय-विज्ञानोंका कार्यक्षेत्र निश्चित है, शरीरमें उनका सीमित स्थान है; नातिक-विज्ञान न तो अवयव या शरीरके किसी भागमें समाया हुआ है, न शरीरके भीतर एक जगह सीमित होकर बैठा है; न उसके लिए वाह्य विषयोंकी पाबंदी है, और न उसकी क्रियाके लिए देश-काल या कमी-बेशीकी। वह भौतिक वस्तुओंपर बिलकुल आश्रय नहीं करता।

नातिक-विज्ञान—जीव और शरीरके पारस्परिक संबंध तथा शरीरके उत्पत्ति विनाशके साथ जीवके उत्पत्ति-विनाशकी बात कह आए हैं; किंतु नातिक-विज्ञान, जैसा कि अभी बतलाया गया, शरीरसे बिलकुल अलग है

---

१. नफ़स-नातिक़ा, या रूहे-आक़ली नत्क़ =Noetic (यूनानी) =ज्ञान।
२. मुद्रिक्।　　३. अजरामे-अलूइया।

जिस तरह अपनी क्रियाके आरंभ करनेमें वह शरीरपर अवलंबित नही, उसी तरह शरीरके नष्ट हो जानेपर भी उसमे परिवर्तन नही होता; वह नित्य सनातन है।

नातिक विज्ञानके अरस्तूने दो भेद बतलाए है—क्रिया-विज्ञान[1], और अधिकरण-विज्ञान[2] क्रिया विज्ञान वस्तुओको ज्ञात—मालूम—होने योग्य बनाना है, यह अतिमानुष विज्ञानोंका नात्विक-विज्ञान है, जिसके भागीदारमें मानव जाति भी है। अधिकरण-विज्ञान ज्ञात (वस्तुओ) से प्रभावित हो उनके प्रतिबिबको अपने भीतर ग्रहण करता है, यह मानव-व्यक्तियोका विज्ञान है, पहिलेका गुण क्रिया और प्रभाव है, दूसरेका गुण है प्रभावित होना। ये दोनो ही तत्त्व मौजूद रहते हैं, किंतु अधिकरण-विज्ञानका प्रकाश—प्राकट्य क्रिया-विज्ञानके बाद होता है। क्रिया-विज्ञान अधिकरण विज्ञानसे श्रेष्ठ है, क्योकि क्रिया-विज्ञान शुद्ध विज्ञानीय शक्ति[3] है, किन्तु अधिकरण-विज्ञान चूकि उससे प्रभावित होता है, इसलिए उसमे पिंड (=शरीर) का भी मेल है।[4] अरस्तूके नफ्स (=विज्ञान)-सबधी विचारोका सक्षेप है—

(१) क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान एक नही भिन्न-भिन्न हैं।

(२) क्रिया-विज्ञान नित्य और अधिकरण विज्ञान नश्वर है।

(३) क्रिया-विज्ञान मानव व्यक्तियोसे भिन्न है।

(४) क्रिया-विज्ञान आदमीके भीतर भी है।

अरस्तू-टीकाकार सिकन्दर अफदिसियुस् और देमासियुस् (५४९ई०) दोनो अरस्तूसे भिन्न विचार रखते हैं। वह क्रिया-विज्ञानको मानवसे बिलकुल अलग मानते है, क्रिया-विज्ञानको देमासियुस् भेदक-विज्ञान कहता है, और उसीको सिकदर कारण-कारण कहता है।

---

१. नफ़्स-फ़ेअली Active reason. २. नफ़्स-इन्फ़आली, Material or Receptive Nous (Reason)
३. अक़्ली क़ूवत्। ४. The Anime प्राणि-शास्त्र (किताबु'ल् हयात्)।

(घ) रोश्दका विज्ञान (=नफ़्स) वाद—ऊपरके विवरणसे अरस्तूके निम्न-विचार हमें मालूम हैं। तत्व मुख्यत तीन हैं—प्रकृति, जीव (=आकृति) और विज्ञान (=नफ़्स)। जीवके वह तीन भेद मानता है, जिनमे मानुष (=विज्ञानीय) जीवको विज्ञानकी तरफ खींचना चाहता है। विज्ञान (=नफ़्स) के वह सिर्फ दो भेद मानता है—क्रिया-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञान।

लेकिन रोश्दके वर्णनसे नफ़्स (=विज्ञान) के पांच भेद मिलते है—(१) प्राकृतिक विज्ञान[1] या भूतानुगत विज्ञान; (२) अभ्यस्त-विज्ञान;[2] (३) ज्ञाता-विज्ञान[3]; (४) अधिकरण-विज्ञान और (५) क्रिया-विज्ञान।

सिकन्दर और अरब दार्शनिक प्राकृतिक-विज्ञान और अधिकरण-विज्ञानको एक समझते हैं, किन्तु रोश्द कभी-कभी प्राकृतिक-विज्ञानको क्रिया-विज्ञान आत्माके अर्थमे लेता है, और उसे अनादि अनुत्पन्न मानता है, और कही इससे भिन्न मानता है। देमासियुस् अभ्यस्त-विज्ञान और ज्ञाता-विज्ञानको एक मानता है, क्योंकि अक्ल (=विज्ञान) को अक्ल ही पैदा कर सकती है, माद्दा (=प्रकृति) अक्ल (=विज्ञान) को नहीं पैदा कर सकता, अतएव सारी ज्ञान रखनेवाली वस्तुए सिर्फ क्रिया-विज्ञानसे ही उत्पन्न हैं। इस बातकी और पुष्टि करते हुए वह कहता है—यद्यपि सभी अक्ल (=नफ़्स या विज्ञान) अक्ल-फ़आल (कर्ता-विज्ञान) से उत्पन्न हैं, लेकिन ज्ञानकी शक्ति हर व्यक्तिमे उसकी अभ्याससे प्राप्त ज्ञान-योग्यताके अनुसार होती है, इसलिए ज्ञाता-विज्ञान और अभ्यस्त-विज्ञानमें अन्तर नही रहा; अर्थात् ज्ञाता-विज्ञान भी वही है जो अभ्यास-प्राप्त होता है। देमासियुस्के इस मतके विरुद्ध रोश्द अभ्यस्त-विज्ञानमें दोनों बातें मानता है—एक ओर उसे वह ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान[4]) का कार्य बतलाता है, और इस प्रकार उसे अनादि और अ-नश्वर मानता है, और दूसरी ओर उसे आदमीके अभ्यास-का परिणाम कहता है, जिससे वह उत्पन्न तथा नश्वर है।

---

१. अक़्ल-हेवलानी। २ अक़्ल-मुस्तफ़ाद। ३ अक़्ल मुद्रिक। ४ अक़्लेफ़आल।

नाम अलग-अलग रखते हुए भी अरस्तू तथा उसके दूसरे टीकाकारोंकी भाँति रोश्द वस्तुतः नफ़्सों (=अक़्लों, विज्ञानों) के भेदको न मानकर नफ़्सकी एकताको स्वीकार करता है। वह कहता है—यह ठीक है कि चूँकि विज्ञान (=नफ़्स) अनेक भिन्न-भिन्न आकार-प्रकारोंको स्वीकार करनेको शक्ति रखता है, इसलिए जहाँ तक उसके अपने स्वरूपका सबंध है, उसे आकार-प्रकारसे रहित होना चाहिए—अर्थात् अपने असली स्वरूपमें विज्ञान (=नफ़्स) ज्ञान-योग्यताका नाम है। लेकिन यह कहनेका कोई अर्थ नही कि सिर्फ योग्यताके अस्तित्वको स्वीकार कर मनुष्यमे क्रिया-विज्ञान-के होनेसे इन्कार कर दिया जाये। और जब हम मनुष्यमे क्रिया-विज्ञानको मानते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा, कि विज्ञान[1] अपने स्वरूपमे किसी विशेष आकार-प्रकारके साथ मूर्तिमान् हो गया—"**क्रिया** सिर्फ (अ-प्रकट, अन्तर्हित) योग्यताके प्रकाशका नाम है", वह किसी विशेष आकार-प्रकारके साथ मूर्तिमान् होनेका नाम नही है। अतएव यह कहनेके लिए कोई कारण नही मालूम होता, कि आध्यात्मिक या (आन्तरिक) सभवनीयता या योग्यताको तो स्वीकार किया जाये, किन्तु वाह्य क्रियावत्ता या प्रकाशको स्वीकार न किया जाये। ऐसी अवस्थामे, ज्ञान या प्रतीतिका अर्थ सिर्फ ज्ञान योग्यता नही, बल्कि ज्ञान-घटना है। जबतक आध्यात्मिक या अधिकरण-सबधी, और वाह्य या क्रिया-सबधी विज्ञानोंके पारस्परिक प्रभाव—अर्थात् शक्तिमत्ता और क्रियावत्ता—एकत्रित न होंगे, तबतक ज्ञान अस्तित्वमे आ नही सकता। यह ठीक है, कि अधिकरण-विज्ञान[2] मे अनेकता या बहुसख्यकता है, और वह मानव-शरीरकी भाँति नश्वर है, तथा क्रिया-विज्ञान अपने उद्गमके ख्यालसे मनुष्यसे अलग और अनश्वर है।

दोनो (क्रिया और अधिकरण-) विज्ञानोंमे उपरोक्त भेद रहते भी दोनोंका एकत्रित होनेका न तो यह अर्थ है कि क्रिया-विज्ञान व्यक्तियोंकी अनेकताके कारण अनेक हो जाये, और न इसका यह अर्थ है कि व्यक्तियोंकी

---

१. Nous (नफ़्स) अक़्ल। २. अक़्ल-इन्फ़आली।

अनेकता खतम हो जाये, और वह क्रिया-विज्ञानकी एकतामें विलीन हो जायें। इसका अर्थ सिर्फ यही है, कि क्रिया-विज्ञानके (अनादि सनातन) अंशोंमें मानवता बाँट दी गई है—अर्थात् क्रिया और अधिकरण-विज्ञानोंके एकत्रित होनेका सिर्फ यह अर्थ है, कि मनुष्यके मस्तिष्ककी बनावट जिस तरह एक-सी योग्यताओंकी प्रदर्शिका है, उससे मानवजातिको **क्रिया-विज्ञान**के अंशों का मिश्रण होता रहता है। ये अंश अपने स्वरूपमें अ-नश्वर और चिरस्थायी हैं। इनका अस्तित्व मानव व्यक्तियोंके साथ बंधा नहीं है बल्कि, यदि कभी मानव-व्यक्तित्वका अस्तित्व न रह जाये उस अवस्थामें भी इनका काम इसी तरह जारी रहता है, जिस तरह मानव व्यक्तियोंके भीतर। इस असंभव कल्पनाकी भी आवश्यकता नहीं। सारा विश्व **परम-विज्ञान**[1]के प्रकाशमान कणोंसे प्रकाशित है। प्राणी, वनस्पति, धातु और भूमिके भीतर-बाहरके भाव—सभी जगह इसी परम-विज्ञानका शासन चल रहा है। परम विज्ञान जैसे इन सब जगहोंमें प्रकाशमान है, वैसे ही मनुष्यमें भी, क्योंकि मनुष्य भी उसी **प्रकाशमान विश्वका** एक अंश है। जिस तरह मानवता सारे मनुष्योंमें एक ही है, उसी तरह सारे मनुष्योंमें एक विज्ञान भी पाया जाता है। **इसका अर्थ यह हुआ, कि व्यक्ति-संख्या-**भेदसे शून्य तथा विश्व-शासक परम-विज्ञान जब क्रियापनका वस्त्र पहनता है, तो भिन्न-भिन्न किस्मोंमें प्रकाशित होता है—कहीं वह प्राणीमें प्रकाशित होता है, कहीं देवताओंमें[2], और कहीं मनुष्यमें; इसीलिए व्यक्ति स्वरूप नश्वर है, किन्तु मानवता-विज्ञान[3] चिरन्तन तथा अनश्वर है, क्योंकि वह उस विज्ञानका एक अंश है।

उपरोक्त कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि क्रिया-विज्ञान और मानवता-विज्ञान दोनोंके अनादि होने पर मानवता कभी नष्ट न होगी—मानवमें ज्ञान (=दर्शन, साइंस आदि) का प्रकाश सदा होता रहेगा।

(ङ) सभी विज्ञानोंका परमविज्ञानमें समागम—रोश्दके कहे

---

१. अक्ल-मुस्तफ़ाद्। २. अफ़लाक। ३. नफ़्से-इन्सानियत्

पाँच विज्ञानोका[1] नाम हम बतला चुके हैं रोश्द उनको समझाते हुए कहता है कि (१) प्राकृतिक विज्ञानका[2] अस्तित्व मनुष्यके पैदा होनेके साथ होता है, उस वक्त वह सिर्फ ज्ञानकी योग्यता या सभावना के रूपमे रहता है। आयुके बढनेके साथ (अन्तर्हित) योग्यता क्रियाका रूप लेती है, और इस विकासका अन्त; (२) **अभ्यस्त-विज्ञानकी**[3] प्राप्तिपर होता है, जो कि मानव-जीवनकी चरम सीमा है। लेकिन अभ्यस्त-विज्ञान विज्ञानका चरम-स्थान नही है। हाँ, प्रकृतिसे लिप्त रहते उसका जो विकास हो सकता है, उसका चरम विकास कह सकते है। उसके आगे प्राकृतिक जगत्से ऊपर उठता वह शुद्ध **विज्ञानजगत्की** ओर बढता है, जितना वह विज्ञान-जगत् के करीब पहुँचता जाता है, उतना ही उसका विज्ञान-जगत्से समागम होता जाता है। इस अवस्थामे पहुँचकर विज्ञान हर प्रकारकी वस्तुओंका ज्ञान स्वय प्राप्त कर लेता है। अर्थात् ज्ञाता-विज्ञानकी[4] अवस्थामे पहुँच जाता है। यही यह अवस्था है, जहाँ 'मैं-तुम' के भेद उठ जाते हैं, और मनुष्य कर्त्ता-विज्ञान[5] (=ईश्वर) का पद प्राप्त कर लेता है। चूंकि कर्त्ता विज्ञानके अन्दर सब तरहकी वस्तुएँ मौजूद है, इसलिए मनुष्य भी मूर्ति-मान् "सर्वं खल्विद **ब्रह्म**"[6] बन जाता है।

[कर्त्ता (परम) विज्ञान ही सब कुछ]—अरस्तू कहता है—"ज्ञान ही विज्ञानका स्वरूप है, और ज्ञान भी मामूली इन्द्रिय-विषयोंका नही बल्कि सनातन गुण रखनेवाली चीजो—विज्ञानमय (=विज्ञान-जगत्)—का। तब स्पष्ट है कि नफ्सोका नफ्स (=विज्ञानोका विज्ञान) अर्थात् कर्त्ता-विज्ञान (ईश्वर) का स्वरूप ज्ञानके सिवा और कुछ हो ही नही सकता। ईश्वरमे जीवन है, और उसका जीवन केवल ज्ञान क्रिया होनेका नाम है। कर्त्ता-विज्ञान सनातन शिव और केवल मगल (-मय) है, और ज्ञानसे बढकर कोई शिवता (=अच्छाई) नही हो सकती। ("नहि ज्ञानेन

---

१. अक्ल। २. अक्ल-हेवलानी। ३. अक्ल-मुस्तफ़ाद। ४. अक्ले-मुद्रिक्। ५. अक्ल-फ़आल। ६. "हमा-ओ-स्त" (सब वह है)।

सर्वशं पवित्रमिह विद्यते") अतः ईश्वर इस शिवताका स्रोत है। किन्तु उसके ज्ञानमें विज्ञाता और विज्ञेयका भेद नहीं, क्योंकि वहाँ उसके स्वरूपके सिवा और कोई चीज मौजूद भी नहीं है, और है भी तो उसके अन्दर। अतएव वह (=कर्त्ता-विज्ञान, ईश्वर) यदि अपनेसे भिन्न चीजका ज्ञान भी करे, तो भी अपने स्वरूपके ज्ञानके सिवा और हो नहीं सकता। इस तरह वह स्वयं ही ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है, बल्कि यों कहना चाहिए कि उसका ज्ञान, ज्ञानके ज्ञानका नाम है, क्योंकि उस अवस्थामें ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातामें कोई भी भेद नहीं है—जो ज्ञान है वही ज्ञाता है, जो ज्ञाता है वही ज्ञेय है, और उसके अतिरिक्त सारी चीजें 'नास्ति' हैं।[1]

रोश्द आचार-शास्त्रमें संक्षेपमें फिर अपने विज्ञान-अद्वैतवादपर लिखता है[2]—

"ज्ञान—प्रतीति—के अतिरिक्त और जितनी शिवतायें (=अच्छाइयाँ) हैं, उनमेंसे कोई भी स्वतः वांछनीय नहीं होती, और न किसीसे आयुमे वृद्धि होती है। वह सबकी सब नश्वर हैं, किंतु यह शिवता (-ज्ञान) अनश्वर है, सबकी सब दूसरोंकी वांछा पूरी करती हैं, किंतु यह (ज्ञान) स्वयं अपनी वाछा है, उसको छोड़ किसी वांछाका अस्तित्व नहीं। लेकिन मुश्किल यह है, कि ज्ञानोंका उच्चतम पद मनुष्यकी पहुँचसे बाहर है—मनुष्य सिर से पैर तक भौतिकतासे घिरा हुआ है, वह मानवताकी चहारदीवारीके भीतर रहते उन पदों तक किसी तरह पहुँच नही सकता। हाँ, उसके भीतर ईश्वर (=कर्त्ता-विज्ञान)की ज्योति जग रही है, यदि वह उसकी ओर बढ़नेकी कोशिश करे—मानवताकी पोशाक (=आवरण)-को उतारकर—अपने अपनत्व (=मैंपन)को नष्ट कर दे, तो निस्सन्देह केवल शिवकी प्राप्ति उसे हो सकती है।....लोग कहते हैं कि मनुष्यको मनुष्यकी तरह जीवन-यापन करना चाहिए, चूँकि वह स्वयं भौतिक है,

---

१. "माबाद-तबइयात्", पृष्ठ २५५
२. "तल्खीस किताबे-अख्लाक़", पृष्ठ २९६

इसलिए भौतिकतासे ही उसे नाता रखना चाहिए। लेकिन यह ठीक नही है। हर जातिकी शिवता (=अच्छाई) सिर्फ उसी चीजमें होती है, जिससे उसके आनदमे वृद्धि होती हो, और जो उसके अनुकूल हो। अतएव मनुष्यकी शिवता यह नही है, कि वह कीड़ो-मकोडोकी तरह (प्रवाह-मे) बह जाये। उसके भीतर तो ईश्वरकी ज्योति जगमगा रही है, वह उसकी ओर क्यो न ख्याल करे, और ईश्वरसे वास्तविक समागम क्यों न प्राप्त करे—यही तो वास्तविक शिवता[1] और उसका अमर जीवन है। "उस पदकी क्या प्रशसा की जाये ? यह आश्चर्यमय पद है, जहाँपर पहुँच-कर बुद्धि आत्मविभोर हो जाती है, लेखनी आनदातिरेकमें रुक जाती है, जिह्वा स्खलित होने लगती है, और शब्द अर्थोंके पर्दोंमे छिप जाते है। जबान उसके स्वरूपको किस तरह कहे, और लेखनी चलना चाहे तो भी किस तरह चले ?"

(च) परमविज्ञानकी प्राप्तिका उपाय—यद्यपि ऊपरके उद्धरण-की भाषा और कुछ-कुछ आशयसे भी—आदमीको भ्रम हो सकता है, कि रोश्द सूफीवादके योग-ध्यानको कर्त्ता-विज्ञान (=ईश्वर)के समागमके लिए जरूरी समझता होगा, किन्तु, ध्यानसे देखने से मालूम होगा, कि उसका परम-विज्ञान-समागम ज्ञानकी प्राप्तिपर है। इस्लामिक दार्शनिकोमे रोश्द सबसे ज्यादा सूफीवादका विरोधी है। वह योग, ध्यान, ब्रह्मलीनता[2] को बिलकुल झूठी बात कहता है। मनुष्यकी शिवता उसी योग्यताको विकसित करने मे है, जिसे लेकर वह पैदा हुआ, और वह है ज्ञानकी योग्यता। आदमी-को उसी वक्त शिवता प्राप्त होती है, जब वह इस योग्यताको उन्नत कर पदार्थोंकी वास्तविकताके तह तक पहुँच जाता है। सूफियोंका आचार-उपदेश बिल्कुल असत्य और बेकार है। मनुष्यके पैदा होनेका प्रयोजन यह है, कि इन्द्रिय-जगत्पर विज्ञान-जगत्का रग चढ़ाये। बस इसी एक उद्देश्य-के प्राप्त हो जानेपर मनुष्यको स्वर्ग मिल जाता है, चाहे उसका कोई भी

१. सआदत्। २. फ़ना-फ़िल्लाही।

मजहब क्यों न हो। "दार्शनिकोंका असली मजहब है विश्वके अस्तित्वका अध्ययन, क्योंकि ईश्वरकी सर्वश्रेष्ठ उपासना केवल यही हो सकती है, कि उसकी सृष्टि—कारीगरी—का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जाये; यह ईश्वरके परिचय करने जैसा है। यही एक कर्म है, जिससे ईश्वर खुश होता है। सबसे बुरा कर्म वे करते हैं, जो कि ईश्वरकी बहुत ही श्रेष्ठ उपासना करनेवालेको काफिर कहते, तथा परेशान करते हैं।"[1]

(छ) **मनुष्य परिस्थितिका दास**—मनुष्य काम करनेमें स्वतंत्र है या परतंत्र; दूसरे कितने ही दार्शनिकोंकी भाँति रोश्दने भी इस प्रश्नपर कलम उठाई है। इसपर कुछ कहनेसे पहिले संकल्पको समझना जरूरी है, क्योंकि कर्म करनेसे पहिले संकल्प होता है अथवा संकल्प स्वय ही एक कर्म—मानस-कर्म—है।

(a) **संकल्प**—संकल्पके बारेमें रोश्दका मत है—संकल्प मनुष्यकी एक आत्मिक (=मानसिक) अवस्था है, जिसका उद्देश्य यह है, कि मनुष्य कोई कर्म करे। लेकिन, मनुष्यके संकल्पकी उत्पत्ति उसके भीतरसे नहीं होती, बल्कि उसकी उत्पत्ति कितने ही बाहरी कारणोंपर निर्भर है। यही नहीं कि इन बाहरी कारणोंसे हमारे संकल्पमें दृढ़ता पैदा होती है, बल्कि हमारे संकल्पकी कायमी और सीमा भी इन्हीं कारणोंपर निर्भर है। संकल्प राग या द्वेष इन दो मानसिक अवस्थाओंका है, जो कि बाहर किसी लाभदायक या हानिकारक वस्तुके अस्तित्व या ख्यालसे हमारे भीतर पैदा होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि एक हद तक संकल्पका अस्तित्व बाहरी कारणों ही पर निर्भर है—जब कोई सुन्दर वस्तु हमारी आँखके सामने आती है, अवश्य ही हमारा आकर्षण उसकी ओर होता है; जब कोई असुन्दर या भयानक वस्तुपर हमारी निगाह पड़ती है, तो उससे विराग होता है। मनकी इसी राग-द्वेष या आकर्षण-विराग वाली अवस्थाका नाम संकल्प है। जब तक हमारे मनको उकसानेवाली कोई बात

१. History of Philosophy (G. E. Lewis) Vol. i.

सामने नहीं आती, उस वक्त तक संकल्प भी अस्तित्वमें नहीं आता, यह स्पष्ट है।

(b) **संकल्पोत्पादक बाहरी कारण**—(१) बाहरी कारण संकल्पके उत्पादक होते हैं, यह तो बतलाया; किन्तु यह भी ख्याल रखना है, कि इन बाहरी कारणोका अस्तित्व भी क्रम-रहित—*व्यवस्था-शून्य*—नहीं होता; बल्कि ये स्वय बाहरवाले अपने कारणोंके आधीन होते हैं। इस प्रकार हमारे भीतर सकल्प का आना क्रम-शून्य तथा बे-समय नहीं होता; बल्कि (२) कारणोके क्रम (=परम्परा)की भाँति सकल्पोंकी भी एक क्रमबद्ध शृंखला होती है। जिसकी प्रत्येक कडी कारणोंकी शृंखलाकी भाँति बाहरी कडीसे मिली होर्ती है। इसके अतिरिक्त (३) स्वयं हमारी शारीरिक व्यवस्था—जिसपर कि बहुत हद तक हमारे संकल्प निर्भर करते हैं—भी एक खास व्यवस्थाके आधीन हैं। ये तीनों कार्य-कारण शृंखलामे एक दूसरेसे जकडी हुई हैं। इन तीनो शृंखलाओंके सभी अंश या कडियाँ मनुष्यकी अक्लकी पहुँचसे बाहर हैं। हमारे शरीरकी व्यवस्थामे जो परिवर्तन होते हैं, वे सभी हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर हैं। इसी तरह बाहरी जगत्‌की जो क्रियाए या प्रभाव हमारे मानसिक जीवनपर काम करते है, वह असख्य होनेके अतिरिक्त हमारे ज्ञान या अधिकारसे बाहर रहते हैं, हमपर काम करते हैं। इस तरह इन बाहरी क्रियाओ या प्रभावोंमेंसे अधिकाशको सचित करना क्या उनका ज्ञान प्राप्त करना भी मनुष्यकी शक्तिसे बाहरकी बात है। यही वजह है, कि मनुष्य परिस्थितिके सामने लाचार और बेबस है। वह चाहता कुछ है, और होता कुछ है।

(४) **सामाजिक विकार**—हम देख चुके हैं, कि रोशद जहाँ विज्ञान (=नफ्स)को लेता है, तो ज्ञानकी हलकीसी चिनगारीको भी परम विज्ञानसे आई बतलाकर सबको विज्ञानमय बतलाता है। साथ ही प्रकृति (=भूत)से न वह इन्कार करता है, और न उसे विज्ञानका विकार या माया बतलाता है; बल्कि परिस्थितिवादमें तो विज्ञान-ज्योतिसे युक्त मानवको

वह जिस प्रकार प्रकृतिसे लाचार बतलाता है, उससे तो अपने क्षेत्रमें प्रकृति उसके लिए विज्ञानसे कम स्वतंत्र नहीं है। इन्ही दो तरहके विचारोंको लेकर उसके समर्थकोंका विज्ञानवादी और भौतिकवादी दो दलोंमें बँट जाना बिलकुल स्वाभाविक था। यदि रोश्दका विज्ञानवाद भी पसंद था तो इसमें तो शक नहीं कि वह ग़ज़ाली आदिके सूफीवाद या शंकर आदिके अद्वैत-ब्रह्मवादकी तरहका नहीं था, जिसमें जगत् ब्रह्ममें कल्पित सिर्फ माया या अध्यास मात्र हो। लेकिन रोश्दके सामाजिक विचारोंकी जो बानगी हम देने जारहे हैं, उससे जान पड़ता है, कि भौतिकवाद और व्यवहारवादपर ही उसका जोर ज्यादा था।

(क) समाजका पक्षपाती—समाजके सामने व्यक्तिको रोश्द कितना कम महत्त्व देता था, यह उसके इस विचारसे साफ हो जाता है—मानवजातिकी अवस्था वनस्पतिकी भाँति है। जिस तरह किसान हर साल बेकार तथा निष्फल वृक्षों और पौधोंको जड़से उखाड़ फेंकते हैं, और सिर्फ उन्ही वृक्षोंको रहने देते हैं, जिनसे फल लेनेकी आशा होती है; उसी तरह यह बहुत आवश्यक है कि बड़े-बड़े नगरोंकी जन-गणना कराई जाये, और उन व्यक्तियोंको क़तल कर दिया जाये, जो बेकार जीवन बिताते हैं, और कोई ऐसा पेशा या काम नही करते जिनसे जीवन-यापन हो सके। सफाई और स्वास्थ्य-रक्षाके नियमानुसार नगरोका बसाना सरकारका कर्त्तव्य है, और यह तबतक संभव नहीं है, जबतक कि काम करनेमे असमर्थ, लूले, लँगड़े और बेकार आदमियोंसे शहरोंको पाक न कर दिया जाये।[1]

रोश्दने अरस्तूके "राजनीति-शास्त्र" के अभावमें अफलातूंके "प्रजातंत्र" पर विवरण लिखा था, और इस बारेमें अफलातूंके सिद्धान्तोंसे बहुत हद तक सहमत था। नगरको फजूलके आदमियोंसे पाक करना, अफलातूंके दुर्बल बच्चोंको मरनेके लिए छोड़ देनेका अनुकरण है। स्वास्थ्य-रक्षा,

---

१. "इब्न-रोश्द" (रेनाँ, २४७) अन्सारी द्वारा अनूदित, पृष्ठ २६२

आनुवंशिकता और सन्तान-नियंत्रण द्वारा, बिना क़तल किये भी, अगली पीढियोंको कितना बेहतर बनाया जा सकता है, इसे रोश्दने नही समझा। तो भी उस वक्तके ज्ञानकी अवस्थामे यह क्षम्य हो सकता है; किन्तु उनके लिए क्या कहा जाय, जो कि आज कत्ल-आमके द्वारा "हीन" जातियोंका संहार कर "उच्च" जातिका विस्तार करना चाहते हैं।

रोश्द मूर्ख शासको और धर्मान्ध मुल्लोंके सख्त खिलाफ था। मुल्लों-को वह विचार-स्वातन्त्र्यका दुश्मन होनेसे मानवताका दुश्मन मानता था। अपने समयके शासको और मुल्लाओंका उसे बडा तल्ख तजर्बा था, और हकामकी (हस्तलिखित) चार लाख पुस्तकोकी लाइब्रेरीकी होली उसे भूलनेवाली न थी। इस तरह दुनियामे अधेर देखते हुए भी वह फाराबी या बाजाकी भांति वैयक्तिक जीवन या एकान्तताका पक्षपाती न था। समाजमे उसका विश्वास था। वह कहता था कि वैयक्तिक जीवन न किसी कला का निर्माण कर सकता है न विज्ञानका। वह ज्यादासे ज्यादा यही कर सकता है, कि समाजकी पहिलेकी अर्जित निधिसे गुजारा करे, और जहाँ-तहाँ नाममात्रका सुधार भी कर सके। समाजमे रहना, तथा अपनी शक्तिके अनुसार सारे समाजकी भलाईके लिए कुछ करना हर एक आदमीका फ़र्ज होना चाहिए। इसीलिए वह स्त्रियोंकी स्वतंत्रता चाहता है। मजहबवालों-की भाँति सदाचार नियमको वह "आसमानसे टपका" नही मानता था, बल्कि उसे बुद्धि की उपज समझता था; न कि वैयक्तिक स्वार्थके लिए वैय-क्तिक बुद्धिकी उपज। राष्ट्र या समाजकी भलाई उसके लिए सदाचारकी कसौटी थी। धर्मके महत्त्वको भी वह सामाजिक उपयोगिताके ख्यालसे स्वीकार करता था। आमतौरसे दर्शनसे भिन्न और उलटी राय रखनेके कारण धर्मकी असत्यतापर रोश्दका विश्वास था, किन्तु अफलातूँके "भिन्न-भिन्न धातुओसे बने आदमियोकी श्रेणियाँ होने"[1] को प्रोपेगडा द्वारा हृदयां-कित करनेकी भाँति मजहबको भी वह प्रोपेगडाकी मशीन समझता था,

---

१. देखो "मानव-समाज" पृष्ठ १२०-१

और उस मशीनको इस्तेमाल करनेसे उसे इन्कार नहीं था, यदि वह अपने आचार-नियमों द्वारा समाजकी बेहतरी कर सके।

(ख) **स्त्री-स्वतन्त्रतावादी**—मुल्समीन शासकोंके यहाँ स्त्रियाँ मुँह खोले सरे-आम घूमती थीं, और मर्द मुँहपर पर्दा रखते थे, ऐसा करके इस्लाम-ने दिखला दिया कि वह इस पार उस पार दोनों चरम-पंथोंमें आ सकता है। किंतु, इसका यह अर्थ नहीं कि मुल्समीन रानियाँ और राजकुमारियाँ आर्थिक स्वातंत्र्य—जो कि वास्तविक स्वातन्त्र्य है—की अधिकारिणी थीं; और फिर यह रवाज सिर्फ़ राजवंश तक सीमित था। रोश्द वस्तुतः स्त्रियों-की स्वतंत्रता चाहता था, क्योंकि वह इसीमें समाजका कल्याण समझता था। यह भी स्मरण रहना चाहिए, कि इस बातमे अफलातूँ भी इतना उदार नहीं था।

रोश्दकी रायमें स्त्री और पुरुषकी मानसिक तथा शारीरिक शक्तियोंमें कोई मौलिक भेद नहीं है, भेद यदि कहीं मिलेगा तो वह कुछ कमी-बेशी हो का। कला, विद्या, युद्ध-चातुरीमें जिस तरह पुरुष दक्षता प्राप्त करते हैं, उसी तरह स्त्रियाँ भी प्राप्त कर सकती हैं; पुरुषोंके कंधेसे कंधा मिलाकर वह समाजकी हर तरहमे सेवा कर सकती हैं। यही नहीं, कितनी ही विद्याएँ—कलाएँ—तो स्त्रियोंके ही लिए प्रकृतिकी ओरसे सुरक्षित हैं; —उदाहरणार्थ सगीतकी व्यवस्था और चरम विकास तभी हो सकता है, जब कि स्त्रियाँ उसमें हस्तावलंब दें। युद्धमें स्त्रियोकी दक्षता कोई काल्पनिक बात नहीं है। अफ्रीकाकी कितनी ही बद्दू-रियासतोंमें स्त्रियोंकी रणचातुरीके बहुत अधिक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें स्त्रियोंने युद्ध-क्षेत्रमें सिपाही और अफ़सरोंके कर्त्तव्यको बड़ी सफलतासे पूरा किया। इसी तरह इसके भी कितने ही उदाहरण हैं, जब कि शासन-यंत्र स्त्रीके हाथमें रहा, और राज्य-प्रबंध ठीकसे चलता रहा। स्त्रियोंके लिए स्थापित की गई आजकलकी व्यवस्था बहुत बुरी है, इसके कारण स्त्रियोंको अवसर नहीं मिलता, कि वह अपनी योग्यताको दिखला सकें। आजकी व्यवस्थाने तै कर दिया है कि स्त्रियोंका कर्त्तव्य सिर्फ यही है, कि सन्तान बढ़ावें, और बच्चोंका पालन-पोषण करें।

लेकिन इसीका परिणाम है, जो कि एक हद तक उनकी छिपी हुई स्वाभाविक शक्ति लुप्त होती चली जा रही है। यही वजह है, कि हमारे देश (=स्पेन) मे ऐसी स्त्रियाँ बहुत कम दिखलाई पडती हैं, जो किसी बातमे भी समाजमें विशेष स्थान रखती हो। उनका जीवन वनस्पतियोंका जीवन है, खेतीकी भाँति वह अपने पतियोकी सम्पत्ति है। हमारे देश (=स्पेन) में जो दरिद्रता दिन-पर-दिन बढ रही है, उसका भी कारण स्त्रियोकी यही दुरवस्था है। चूँकि हमारे देशमे स्त्रियोकी सख्या पुरुषोंसे अधिक है, और स्त्रियाँ अपने दिनोको अधिकतर बेकार गुजारती हैं, इसलिए वह अपने श्रमसे परिवारकी सम्पत्तिको बढानेकी जगह मर्दोंपर भार होकर जिन्दगी बसर करती हैं।

रोश्दके ये विचार बतलाते हैं, कि क्यो वह युरोपीय समाजमें तूफान लाने तथा उसे एक नई दिशाको ओर धक्का देनेमे सफल हुआ।

४. यहूदी दार्शनिक

क – इब्न-मैमून (११३५-१२०८ ई०)

यद्यपि इब्न्-मैमून मुसलमान घरमें नही, बल्कि इब्न्-जिब्रोलकी भाँति यहूदी घरमे पैदा हुआ था, तो भी इस्लामिक दर्शन या दार्शनिकसे हमारा अभिप्राय यहाँ कुरानी दर्शनसे नही है, बल्कि ऐसी विचारधारासे है, जो अरबसे निकले उस क्षीण स्रोतमें दूसरी नई-पुरानी विचार-धाराओंके मिलनेसे बनी। इसीलिए हमने जिब्रोल—जो कि स्पेनिश इस्लामिक दर्शनधाराका आरम्भक था—के बारेमे पहिले लिखा, अब और इब्न-मैमूनके बारेमें लिखते हैं, जिसके साथ यह धारा प्राय. बिलकुल खतम हो जाती है।

(१) जीवनी—मूसा इब्न-मैमूनका जन्म रोश्दके शहर कार्दोबामें ११३५ ई०में हुआ था। बचपनसे ही वह बहुत तेज बुद्धि रखता था, और जब वह अभी बिलकुल तरुण था, तभी उसने बाबुल और यरूशिलमकी

तालमूदों[1] पर विवरण लिखे, जिसकी वजहसे यहूदियोंमें उसका बहुत सम्मान होने लगा। मैमूनने दर्शन किससे पढ़ा, इसमें मतभेद है। कुछ लेखक उसे रोश्दका शिष्य कहते हैं, और वह अपने दार्शनिक विचारोंमें रोश्दका अनुगामी था, इसमें सन्देह नहीं है; लेकिन वह स्वयं अपनी पुस्तक "दलाला"में सिर्फ इतना ही लिखता है कि उसने इब्न-बाजाके एक शिष्य-से दर्शन पढ़ा। मोहिदीनके प्रथम शासक अबुल्मोमिन (११४७-६३ ई०) के शासनारंभमें यहूदियोंकी जो बुरी अवस्था हुई थी, उसी समय मैमून मिस्र भाग गया। पीछे वह मिस्रके नये शासक तथा शीयोंके ध्वंसक सलाहुद्दीन अयूबीका राजवैद्य बना। मिस्रमें आनेपर उसे रोश्दके ग्रंथोंको पढ़ने का शौक हुआ। ११९१ ई०में वह अपने योग्य शिष्य यूसुफ इब्न-यह्याको लिखता है—"मैं अरस्तूपर लिखी इब्न-रोश्दकी सारी व्याख्याओंको एकत्रित कर चुका हूँ, सिर्फ "हिस्स व महसूस" (=इन्द्रियके ज्ञान और ज्ञेय) की पुस्तक अभी नहीं मिली। वस्तुतः इब्न-रोश्दके विचार बहुत ही न्याय-सम्मत होते हैं, इसलिए मुझे उसके विचार बहुत पसंद हैं; किन्तु अफसोस है, कि समयाभावसे मैं उसकी पुस्तकोंका अध्ययन नहीं कर सका हूँ।"

मैमूनने ही सबसे पहिले रोश्दके महत्त्वको समझा, और उसकी वजहसे यहूदी विद्वानोंने उसके दर्शनके अध्ययन-अध्यापनका काम ही अपने हाथमें नहीं लिया, बल्कि उन्हींके इब्रानी और लातीनी अनुवादोंने युरोपकी अगली विचार-धाराके बनानेका भारी काम किया।

मैमूनका देहान्त ६०५ हिजरी (=सन् १२०८ ई०) में हुआ।

(२) दार्शनिक विचार—रोश्दने जिस तरह दर्शनके बुद्धि-प्रधान हथियारसे इस्लामके मजहबी वाद-शास्त्रियोंकी खबर ली, मैमूनने वही काम यहूदी वाद-शास्त्रियोंके साथ किया। रोश्दकी "तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़त्"

---

१. यहूदियोंके धर्म-ग्रंथ जो बाइबिलसे भिन्न हैं और जिन्हें उनके धर्माचार्योंने बाबुल के प्रवासमें बनाया।

(=खंडन-खंडन) की भाँति ही उसकी पुस्तक "दलाला" ने यहूदीधर्म-वादियोपर प्रहारका काम किया। यहूदियोंके कितने ही सिद्धान्त इस्लामकी तरहके थे, और उनके खंडनमें मैमूनने रोश्दकी तरह ही सरगर्मी दिखलाई; बल्कि ईश्वरके बारेमे तो वह रोश्दसे भी आगे गया, और उसने कहा कि ईश्वरके बारेमे हम सिर्फ इतना ही कह सकते है कि वह "यह नही" है "ऐसा नही है"। यह बतलाना तो हमारी सामर्थ्यके बाहर है, कि उसमे अमुक-अमुक गुण है, क्योंकि यदि हम ईश्वरके गुणोंको साफ तौरसे बतला सके, तो वह समारकी चीज जैसा हो जायेगा। वह यहाँ तक कहता है, कि ईश्वरको "असंग-अद्वैत" (=वहदहू-लाशरीक) भी नही कह सकते, क्योंकि अद्वैत भी एक गुण है। यद्यपि मैमून "जगत्की अनादिता"को स्वयं नही मानता था, किन्तु ऐसा माननेवालेको वह नास्तिक कहनेके लिए तैयार न था।

विज्ञान (=नफ्स)के सिद्धान्तमे मैमूनका रोश्दसे मतभेद था। वह मानता था, कि प्राकृतिक-विज्ञान,[1] अभ्यस्त-विज्ञान[2] से ज्ञान प्राप्त करता है, और अभ्यस्त-विज्ञान-कर्त्ता-विज्ञान[3] (=ईश्वर)से। विद्या (=दर्शन)-को वह भी रोश्दकी भाँति ही बहुत महत्त्व देता था—मनुष्यकी चरमोन्नति उसकी विद्यासंबंधी उन्नतिपर निर्भर है, और यही ईश्वरकी सच्ची उपासना है।[4] विद्याके द्वारा ही आदमी अपने जीवनको उन्नत कर सकता है, किन्तु, साधनका उपयोग सबके लिए आसान नही, इसलिए मूर्खों और अ-विद्वानोकी शिक्षाके लिए ईश्वर पैगंबरोको भेजता है।

ख – यूसुफ़ इब्न-यह्या (११९१ ई०)

जीवनी—यूसुफ इब्न-यह्या मराकोका रहनेवाला यहूदी था। यहूदियोंके निर्वासनके जमानेमे वह भी मिस्र चला आया, और मूसा इब्न-

१. अक्ल-माद्दी। २. अक्ल-मुस्तफ़ाद। ३. अक्ल-फ़आल।
४. मैमूनसे दो सदी पहिले ब्राह्मण नैयायिक उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने भी "उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता" (कुसुमांजलि) कहा था।

मैमूनसे उसने दर्शनका अध्ययन किया। युसूफ़ भी अपने गुरुकी भाँति ही रोश्दके दर्शनका बड़ा भक्त था। रोश्दके प्रति अपनी भक्तिको उसने एक पत्रमें प्रकट किया है, जिसे उसने अपने गुरु मैमूनको लिखा था—

"मैंने आपकी प्रिय पुत्री सुरैयाको ब्याह-संदेश दिया। उसने तीन शर्तोंके साथ मुझ गरीबकी प्रार्थना स्वीकार की—(१) स्त्रीधन (=मेहर) देनेकी जगह मैं अपने दिलको उसके हाथ बेच डालूँ; (२) शपथपूर्वक सदा प्रेम करनेकी प्रतिज्ञा करूँ; (३) वह षोड़शी कुमारियोंकी तरह मुझे आलिंगन करना पसंद करे। मैंने विवाहके बाद तीनों शर्तें पूरी करने की उससे प्रार्थना की। विना किसी उज्रके वह राजी हो गई। अब हम दोनों पारस्परिक प्रेमके आनंद लूट रहे है। ब्याह तो गवाहोंकी उपस्थितिमें हुआ था, एक स्वय आप—मूसा इब्न-मैमून—थे, और दूसरे थे इब्न-रोश्द।"

सारे पत्रको यूसुफने आलंकारिक भाषामें लिखा है। सुरैया वस्तुतः मैमूनकी कोई औरस पुत्री नही थी, बल्कि मैमून द्वारा प्रदत्त दर्शन-विद्याको ही वह उसकी प्रिय पुत्री कह रहा है, और इस "पाणिग्रहण"के करानेमें रोश्दका भी हाथ वह स्वीकार करता है।

यूसुफ जब हलब (=अलेप्पो, सीरिया) में रहता था, तो उसकी जमालउद्दीन क़ुफ़्तीसे बहुत दोस्ती थी। जमालुद्दीन लिखता है—"एक दिन मैंने यूसुफसे कहा—यदि यह सच है कि मरनेके बाद जीवको इस दुनियाकी खबर मिलती रहती है, तो आओ हम दोनो प्रतिज्ञा करें कि हममेंसे जो कोई पहिले मरे, वह स्वप्नमे आकर दूसरेसे मृत्युके बादकी हालतकी सूचना दे।. . . .इसके थोड़े ही समय बाद यूसुफ मर गया। अब मुझको फिक्र पड़ी कि यूसुफ़ स्वप्नमे आये और मुझे परलोककी बात बतलाये। प्रतीक्षा करते-करते दो वर्ष बीत गए। अंत में एक रात उसके दर्शन का सौभाग्य हुआ। मैंने देखा कि वह एक मस्जिदके आँगनमें बैठा हुआ है, उसकी पोशाक उजली है। उसे देखते ही मैंने पुरानी प्रतिज्ञाकी याद दिलाई। पहिले वह मुस्कराया, और मेरी ओरसे उसने मुँहको दूसरी ओर फेर लिया।

लेकिन मैंने आग्रहपूर्वक कहा कि प्रतिज्ञा पूरी करनी होगी। लाचार हो कहने लगा—अवयवी (=पूर्ण ब्रह्म) अवयवमे समा गया, और अवयव (=शरीर-परमाणु) अवयव ही में रह गया।"[1]

यूसुफ इब्न-यह्याकी प्रसिद्धि एक लेखकके तौरपर नही है। उसने अपने गुरुके काम—रोश्दके दर्शनका पठन-पाठन द्वारा यहूदियोंमें प्रचार—को खूब किया। यहूदियोंमें इस प्रचारका यह नतीजा हुआ, कि उनमें धर्मकी ओरसे उदासीनता होने लगी। यह अवस्था देख यहूदी धर्माचार्य मैमूनियोके विरोधी हो गए, और १३०५ ई०मे बारसलोना (स्पेन)के बड़े यहूदी धर्माचार्य सुलेमान इब्न-इद्रीसने फतवा जारी किया कि जो आदमी २५ वर्षकी आयुसे पहिले दर्शनकी पढाई करेगा वह बिरादरीसे निकाल दिया जावेगा।

युरोपमे दर्शनके प्रचार—विशेषकर रोश्दके ग्रथोके अनुवाद-द्वारा—यहूदी विद्वानोने किस तरह किया इसे हम अगले अध्यायमे कहेंगे।

५. इब्न-खल्दून (१३३२-१४०६ ई०)

[सामाजिक-अवस्था]—तेरहवी सदीमे जब कि इस्लामने भारतपर अधिकार कर पूर्वमे अपने राज्यका विस्तार किया, उसी समय पश्चिममे उठती हुई युरोपीय जातियोंके प्रहारके कारण उसे स्पेन छोडकर हटना पड़ा। लेकिन यह छोडना सिर्फ शासनके क्षेत्रमे ही नही था, बल्कि इस्लाम-धर्मको भी उसीके साथ जिब्राल्तरके जलतटको छोड अफ्रीका लौटना पडा, जहाँ अब भी मराकोपर इस्लामको ध्वजा फहरा रही है, और जिसकी राजधानी फ़ेज़की बनी काले फुँदनेवाली लाल टोपियाँ अब भी तुर्की टोपीके नामसे भारतके कितने ही मुसल्मानोंके सिरोपर देखी जाती है। कबीला-शाही युगके यहूदी धर्मने राजनीतिक विजयमे जिस तरह धर्मको भी शामिल किया था, उसे सामन्तशाही युगका ईसाई-धर्म स्वीकार करनेमे असमर्थ

---

१. "अलबाह'ल्-हुक्मा-कुफ्ती", पृष्ठ २५८

था, और उसने कबीलाशाही मनोवृत्तिको छोड़ भिन्न-भिन्न राष्ट्रोंमें केवल धार्मिक भावको लेकर अपना प्रसार किया। धार्मिक प्रचारके साथ राजनीतिक प्रभाव विस्तार भी पीछे हुआ, बल्कि यूरोपके कितने ही जर्मन, स्लाव आदि सामन्तोंने तो ईसाइयत को स्वीकार कर उसका प्रचार अपनी प्रजामें इसलिए जोरसे किया कि उससे कबीलाशाही स्वतंत्रताका खात्मा होता है, और निरंकुश ईश्वरके प्रतिनिधि सामन्तके शासनकी पुष्टि होती, तो भी ईसाइयतमें दूसरेके देशपर आक्रमण कर उसे जीतनेके लिए जहाद (धर्म-युद्ध) छेड़नेकी गुंजाइश नही थी। शुद्ध कबीलाशाही समाजमें धर्म, राजनीति, और बहुत हद तक अर्थनीति भी सामाजिक जीवनके अभिन्न अंगसे होते हैं, इसलिए कबीला जो कुछ भी करता है उसके पीछे सिर्फ एक लक्ष्यको रख करता है यह नही कहा जाता। इस्लाम कबीलाशाही अरबमे पैदा हुआ था, किन्तु वह सामन्तशाही प्रभावसे वंचित नही बल्कि बहुत हद तक प्रभावित था, जहाँ तक उसके धर्मका संबंध था, हाँ, प्रारंभमे आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि उसकी बहुत कुछ कबीलाशाही थी। हर कबीलेका ईश्वर, धर्म तथा जातीयताके साथ इतना संबंध होता है, कि उसे दूसरे कबीलेको दिया नही जा सकता है; इस्लाम इस बारेमे एक गैर-कबीलाशाही धर्म था, उसका ईश्वर और धर्म सिर्फ कुरैशके कबीलेके ही नहीं, सिर्फ अरब भाषा-भाषी कबीलोंके ही लिए नही बल्कि दुनियाके सभी लोगोके लिए था। इस तरह धर्ममे गैर-कबीलाशाही होते भी, युद्धनीति और राजनीतिमे उसने कबीलाशाहीका अनुकरण करना चाहा। राज (=शासन)-नीतिमे किस तरह स्वाधिपाने कबीलाशाही—जिसे कितने ही लोग जनतंत्रता समझनेकी भारी गलती करते हैं—को तिलांजलि दी, इसका हम जिक्र कर चुके हैं। लेकिन युद्धनीतिमें कबीलाशाही मनोभावको इस्लामने नहीं छोड़ा—जहाद और मालगनीमत (=लूटका धन) का औचित्य उसीके निदर्शन हैं। अरब कबीले कबीलाशाही सार्वदेशिक नियमके अनुसार जहाद और गनीमतको ठीक समझते थे, किन्तु इस्लाम जिस सामन्तशाही धर्मका प्रचार कर रहा था, उसमें ज्यादा विशाल दृष्टिकी जरूरत थी, जिसे कि

ईसाई या बौद्ध जैसे दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय धर्मोंने स्वीकार किया था। इस्लाम-को वैसा बननेके लिए इतिहासने भी मजबूर किया था पैगंबर मुहम्मदने अपनी पैगंबरीके आरंभिक (मक्कावाले) वर्षोंमे इस्लामके लिए जो नीति स्वीकार की थी, वह बहुत कुछ ईसाइयो जैसी युक्ति और प्रेमके साथ धर्मको समझानेकी थी; किन्तु जब कुरैशके जुल्मसे 'बचनेके लिए' वह भागकर मदीना आये और वहाँ भी वही खतरा ज्यादा जोरके साथ दिखलाई देने लगा, तो उन्हे तलवार उठानी पड़ी। हर तलवारके पीछे कोई नारा जरूर होना चाहिए, वहाँके लोग कबीलाशाही नारेको ही समझते थे—जो कि जहाद और माल-गनीमतका नारा हो सकता था—पैगंबरको भी वही नारा स्वीकार करना पडा। और जब एक बार इस नारेपर अल्लाहकी मुहर लग गई, तो हर-देश और कालमें उसे स्वीकार करनेसे कौन रोक सकता है? इस्लाम अरबसे बाहर गया, साथ ही इस "जहाद" (रक्षात्मक ही नही धन जमा करनेके लिए भी आक्रमणात्मक युद्ध)के नारेको भी लेता गया। इस्लाम-का नेतृत्व अरबी कबीलों तथा अरबी सामन्तोके हाथसे निकलकर गैर-अरब लोगोके हाथमे चला गया, तो भी उन्होने इस नारेको अपने मतलबके लिए इस्तेमाल किया।

यह भी पीछे कहा जा चुका है कि इस्लामने एक छोटेसे कबीलेसे बढते-बढते अनेक जाति-व्यापी "विश्व कबीला" बनाने का आदर्श अपने सामने रखा था। कबीला होनेके लिए एक धर्म, एक भाषा, एक जाति, एक संस्कृति, एक देश, (भौगोलिक स्थिति) होनेकी जरूरत है। इस्लामने इस स्थिति के पैदा करनेकी भी कोशिश की। आज मराको, त्रिपोली, मिस्र, सीरिया, मेसोपोतामियामे (पहिले स्पेन और सिसलीमे भी) जो अरबी भाषा बोली जाती है, वह बहुत कुछ उसी एक भाषा बनानेका नतीजा है। अरबी भाषामें ही नमाज पढनेकी सख्ती भी उसी मनोभावको बतलाती है। ईरान, शाम, तुर्किस्तान (मध्य-एसिया) आदि देशोंकी जातीय संस्कृतियो तथा साहि-त्यिकोको एक ओरसे नेस्त-नाबूद करनेका प्रयत्न भी एक कबीला-स्थापना-का फल था। प्रारंभिक अरब मुस्लिम विजेता बडी ईमानदारीके साथ

इस्लामके इस आदर्शको पूरा करना चाहते थे। उनको क्या मालूम था, कि जिस कामको वह करना चाहते है, उसमें उनका मुकाबिला वर्तमान पीढ़ीकी कुछ जातियाँ ही नहीं कर रही हैं, बल्कि उनकी पीठपर प्रकृति भी है, जो सामन्तवादी जगत्को कबीलाशाही जगत्में बदल देनेके लिए इजाजत नहीं दे सकती। आखिर भयंकर नरसहार और कुर्बानियोंके बाद भी एक कबीला (=जन) नहीं बन सका।

हाँ, सामन्तशाही युगके निवासियोंके लिए "जहाद" का नारा अजब-सा लगा। वे लोग लड़ाइयाँ न लड़ते हों यह बात नहीं थी; किन्तु वह लड़ाइयाँ राजाओंके नेतृत्वमें राजनीतिक लाभके लिए होती थी। उनमें ईश्वरकी सहायता या वरदान भी माँगा जाता था, लेकिन लड़नेवाले दोनों फ़रीक़ दिलमें समझते थे, कि ईश्वर इसमें तटस्थ है। जो धार्मिक थे वह यह भी मानते थे कि जिधर न्याय है, ईश्वर उधर ही पलड़ा भारी करना चाहेगा। यह समझनाउनके लिए मुश्किल था, कि वह जो लड़ाई लड़ रहे हैं, वह ईश्वरकी लड़ाई है। इस्लामके जहादियोंने किस तरह अपने झंडोंको दूर-दूर तक गाड़नेमें सफलता पाई, इसको यहाँ कहनेकी जरूरत नहीं। यहाँ हमें सिर्फ इतना बतलाना है कि इस्लामी जहादके मुकाबिलेमें युरोपकी जातियोंको भी उसीकी नकलपर ईसाई जहाद (=सलीबी जंग[1]) लड़ने पड़े। ये ईसाई जहादसे भी कितने अधिक भयकर थे, यह इसीसे पता लगता है, कि जहाँ मुस्लिम स्पेनमें कितने ही स्पेनिश ईसाई परिवार बँच गये थे, वहाँ ईसाई स्पेनमे कोई भी पहिलेका मुसलमान नही रह गया।

इस्लामके इस युगके एक दार्शनिकका हम यहाँ जिक्र करते हैं।

(१) **जीवनी**—इब्न-खल्दूनका जन्म १३३२ ई० में उत्तरी अफ़्रीकाके तूनिस् नगरमें हुआ था। उसका परिवार पहिले सेविली (स्पेन) का रहनेवाला था। इस प्रकार हम उसे प्रवासी स्पेनिश मुसलमान कह

१. Crusade.

सकते हैं। तूनिस्में ही उसने शिक्षा पाई। उसका दर्शनाध्यापक एक ऐसा व्यक्ति था, जिसने पूर्वमे भी शिक्षा पाई थी, और इस प्रकार उसके शिष्यको सेविली, तूनिस् और पूर्वकी शिक्षाओंसे लाभ उठानेका मौका मिला।

शिक्षा समाप्त करनेके बाद खल्दून कभी किसी दरबारमे नौकरी करता और कभी देशोकी सैर करता रहा। वह कितनी ही बार भिन्न-भिन्न सुल्तानोकी ओरसे अफ्रीका और स्पेनमे राजदूत भी रहा। राजदूत बनकर कुछ समय वह 'क्रूर' पीतरके दरबारमे सेविलीमे भी रहा। उस वक्त पूर्वजोकी जन्मनगरी इस्लामिक स्पेनके गौरव—सेविली—को उस तरह ईसाइयोके हाथमे देखकर उसके दिलपर कैसा असर हुआ होगा; उसकी वजहसे उसके दिमागको जो सोचना पडा था, उसी सोचनेका फल हम उसके इतिहास-दर्शनमे पाते हैं। कैस्तिलके राजा पेट्रोके दर्बारमे तथा और कई दर्बारोंमें वह राजदूत बनकर रहा। तैमूरका शासन उस वक्त मध्य-एसियासे भूमध्य-सागरके पूर्वी तट तक था, और दमिश्क भी उसकी एक राजधानी थी। खल्दून दमिश्कमे तैमूर (मगोल, थि-मुर= लोहा)के दर्बारमें सम्मानित अतिथि[1] बनकर भी कितने ही समय तक रहा था। १४०६ ई० में काहिरा (मिस्र)मे खल्दूनका देहान्त हुआ।

(२) दार्शनिक विचार : (क) प्रयोगवाद—इस्लामिक दर्शनके इतिहासके बारेमे हमने अबतक देखा है, कि अश्अरीकी तरह कुछ लोग तो दर्शन या तर्कको इस्तेमाल करके सिर्फ यही साबित करना चाहते थे कि दर्शन गलत है, बुद्धि, ज्ञान प्राप्तिके लिए टूटी नैया है। गज़ालीकी भाँति कुछका कहना था कि दर्शनकी नैया कुछ ही दूर तक हमारा साथ दे सकती है, उसके आगे योग-ध्यान ही हमे पहुँचा सकता है। सीना और रोश्द जैसे इन दोनो तरीकोंको झूठ और बेकार कह कर बुद्धिको अपना सारथी

१. A Literary History of the Arabs by R. A. Nicholson, Cambridge, 1941, p. 437.

बना दर्शनको ही एकमात्र पथ मानते थे। खल्दून, सीना और रोश्दके करीब जरूर था, किन्तु उसने जगत् और उसकी वस्तुओंको बहुत बारीकीसे देखा था, और उस बारीक दृष्टिने उसे वस्तु-जगत्के बारेमें विश्वास दिला दिया था, कि सत्य तक पहुँचनेके लिए यहाँ तुम्हें बेहतर साधन मिलेगा। उसका कहना था—दार्शनिक समझते हैं कि वह सब कुछ जानते हैं, किंतु विश्व इतना महान् है, कि उस सारेको समझना दार्शनिककी शक्तिसे बाहर है। विश्वमें इतनी हस्तियाँ और वस्तुएँ हैं, वह इतनी अनगिनित हैं, जिनका जानना मनुष्यके लिए कभी संभव न होगा। तर्कसे जिस निष्कर्ष-पर हम पहुँचते हैं, वह कितनी ही बार व्यवहार या प्रयोग—वस्तुस्थिति—से मेल नहीं खाता। इससे साफ है, कि केवल तर्कके उपयोगसे सच तक पहुँचनेकी आशा दुराशा मात्र है। इसलिए साइंसवेत्ताका काम है प्रयोगसे प्राप्त अनुभवके सहारे सत्य तक पहुँचनेकी कोशिश करे। और यहाँ भी उसे सिर्फ अपने प्रयोग, अनुभव, और निष्कर्षपर सन्तोष नहीं करना चाहिए, बल्कि पीढ़ियोंसे मानव जातिने जो ऐसे निष्कर्ष छोड़े हैं, उनसे भी मदद लेनी चाहिए। वादकी सत्यता प्रयोगके अनुसरण करनेपर है—साइंसके इस सिद्धान्तकी कितनी साफ तौरसे खल्दूनने पुष्टि की है, इसे कहनेकी जरूरत नहीं।

(ख) ज्ञान-प्राप्तिका उपाय तर्क नहीं—खल्दून जीवको स्वभावसे ज्ञान-हीन मानता है, किन्तु साथ ही यह भी कि उसमें यह शक्ति स्वाभा-विक है, वह अपने तजर्बेपर मनन और व्याख्या कर सकता है। जिस वक्त वह इस तरहके मननमें लगा रहता है, उसी वक्त अक्सर एक विचार यका-यक बिजलीकी तरह दिमागमें चमक उठता है, और हम अन्तर्दृष्टि—वास्तविकता—सत्य—तक पहुँच जाते हैं। इस प्रयोग, मनन, अन्तर्दृष्टि-को पीछे तर्ककी भाषा (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण आदि) में क्रमबद्ध किया जा सकता है। इससे यह तो साफ है कि तर्क ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता; वह सिर्फ उस पथको अंकित करता है, जिसे हमें मनन करते वक्त पकड़ना चाहिए था; वह बतलाता है कि कैसे हम ज्ञान तक पहुँचते हैं। तर्कका एक

फायदा यह भी है, कि वह हमे हमारी भूल बतलाता है, बुद्धिको तीखी करता, और उसे ठीक तौरसे सोचनेमे सहायक होता है।

खल्दून ज्ञानके युद्धमे प्रयोगको प्रधान और तर्कको सहायक मानता है, फिर उससे इस बातकी आशा ही थी, कि वह कीमिया और फलित ज्योतिषके मिथ्या-विश्वाससे मुक्त होगा।

(ग) इतिहास-साइंस—खल्दूनका सबसे महत्त्वपूर्ण विचार है, इतिहासकी सतहसे भीतर घुसकर उसके मौलिक नियमो—इतिहास-दर्शन या इतिहास-साइस—को पकडना। खल्दूनके मतसे इतिहासको साइंस या दर्शनका एक भाग कहना चाहिए। इतिहासकारका काम है घटनाओंका सग्रह करना और उनमे कार्य-कारण सबधको ढूँढना। इस कामको गभीर आलोचनात्मक दृष्टिके साथ बिल्कुल निष्पक्षपात होकर करना चाहिए। हर समय हमे इस सिद्धान्तको सामने रखना चाहिए कि कारण जैसा कार्य होता है—अर्थात्, एक-जैसी घटनाएँ बतलाती है कि उनसे पूर्वकी स्थितियाँ एक जैसी थी, अथवा सभ्यताकी एक-जैसी परिस्थितियोमे एक-जैसी घटनाएँ घटित होती है। यह बहुत सभव है, कि समयके बीतनेके साथ मनुष्यों और मानव-समाजके स्वभावमे परिवर्तन नही हुआ है, या बहुत ज्यादा नहीं हुआ है, ऐसा होने पर वर्तमानका एक सजीव ज्ञान हमे अतीत सबधी गवेषणाके लिए जबर्दस्त साधन हो सकता है। जिसे हम पूरी तौरसे जानते है तथा जो अब भी हमारे आँखोके सामने है, उसकी सहायतासे हम एक गुजरे जमानेकी अल्पज्ञात घटनाके बारेमे एक निष्कर्षपर पहुँच सकते है। हर एक परम्पराको लेते वक्त उसे वर्तमानकी कसौटीपर कसना चाहिए, और यदि वह ऐसी बात बतलाये जो कि वर्त्तमानमे असभव है, तो उसकी सत्यतापर सदेह होना चाहिए। वर्त्तमान और अतीत दो बूँदोकी भाँति एक दूसरे जैसे हैं। किन्तु यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि यह नियम सामान्य तौरसे ही ठीक है, विस्तारमे जानेपर उसमे कई दिक्कतें हैं, और वहाँ इसके ठीक होनेके लिए घटनाओंकी आवश्यकता होगी।

सामाजिक जीवन—या समाजकी सामूहिक, भौतिक और बौद्धिक

संस्कृति—खल्दूनके मतसे इतिहासका प्रतिपाद्य विषय है। इतिहासको दिखलाना है, कि कैसे मनुष्य श्रम करता, तथा अपने लिए आहार प्राप्त करता है? क्यों वह एक दूसरेपर निर्भर रहते तथा एक अकेले नेताके अधीन हो एक बड़े समुदायका अंग बनना चाहते हैं? कैसे एक स्थायी जीवनमें उन्हें उच्चतर कला और साइंसके विकासके लिए अवकाश और अनुकूलता प्राप्त होती है? कैसे एक मोटे-मोटे तथा छोटे आरंभसे सुन्दर संस्कृति फूट निकलती, और फिर काल-कवलित हो जाती है? जातियाँ अपने इस उत्थान और पतनमें समाजके निम्न स्वरूपोंसे गुजरती हैं—(१) खानाबदोशी समाज, (२) सैनिक राजवंशके अधीनस्थ समाज; (३) नागरिक ढंगका समाज।

सबसे पहिला प्रश्न आदमीके लिए आहारका है। अपने आर्थिक स्वरूपोंके कारण मनुष्य और जातियाँ तीन अवस्थाओंमें बँटी हैं—खाना-बदोश (अ-स्थायी-वास, घुमन्तू), स्थायी-वास पशुपालक, और कृषि-जीवी। आहारकी माँग, युद्ध, लूट और संघर्ष पैदा करती है, और मनुष्य ऐसे एक राजाकी अधीनताको स्वीकार करते हैं, जो कि वहाँ उनका नेतृत्व करे। वह सैनिक नेता अपना राजवंश स्थापित करता है, जिसके लिए नगर—राजधानी—की जरूरत पड़ती है। नगरमें श्रम-विभाग और पारस्परिक सहयोग स्थापित होता है, जिससे वह अधिक सम्पत्तिवान् तथा समृद्ध होता है। किन्तु यही समृद्धि नागरिकोंको विलासिता और निठल्लेपनमें गिराती है। श्रमने सभ्यताकी प्रथमावस्थामें सम्पत्ति और समृद्धि पैदा की; किन्तु सभ्यताकी उच्चतम अवस्थामें मनुष्य दूसरे आद-मियोंसे अपने लिए श्रम करवा सकता है, और अक्सर बदलेमें बिना कुछ दिये। आगे समाज और खासकर समृद्धिशाली वर्गकी आवश्यकतायें बढ़ती जाती हैं, जिसके कारण करका बोझ और बढ़ता तथा असह्य होता जाता है। समृद्धिशाली धनी वर्गका एक ओर विलासिताके कारण फजूल-खर्च होता है, और दूसरी ओर उसपर करका बोझ बढ़ता है; इस प्रकार वह अधिक और अधिक दरिद्र होता जाता है; साथ ही अस्वाभाविक

जीवन बितानेके कारण उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य गिरता जाता है। खल्दून स्वयं सेविली-निर्वासित इसी गिरे हुए वर्गमें पैदा हुआ था, इसलिए वह सिर्फ इसी सस्कृत प्रभुवर्गकी दुरवस्थापर आँसू बहाता है, उसे अपने आसपासके दासों और कम्मियोंके पशुसे बदतर जीवनके ऊपर नजर डालनेकी फुरसत न थी। नागरिक जीवन उसके पुराने सैनिक रीति-रवाज अधिक सम्भ्रान्त रूप धारण कर अपनी उपयोगिता खो बैठते हैं, और लोग शत्रुके आक्रमणसे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। एक समाज या एक धर्मसे सबद्ध होनेके कारण जो सामूहिक शक्ति और इरादा पहिले मौजूद था, वह जाता रहता है, और लोग ज्यादा स्वार्थी तथा अधार्मिक हो जाते हैं। भीतर ही भीतर सारा समाज खोखला बन जाता है, उसी वक्त रेगिस्तानसे कोई प्रबल खानाबदोश, या सभ्यतामे अधिक प्रगति न रखनेवाली किन्तु सामूहिक जीवनमे दृढ जगली-प्राय जाति उठकर स्त्रैण नागरिकोपर टूट पडती है। एक नया शासन कायम होता है, और शनैः-शनैः विजयी जाति पुरानी सभ्यताकी भौतिक तथा बौद्धिक सम्पत्ति-को अपनाती है, और फिर वही इतिहास दुहराया जाता है। यह उतार-चढाव जैसे परिवारमे देखा जाता है, वैसे ही राजवश या बड़े समाजमें भी पाया जाता है; और तीनसे छँ पीढीमे उनका इतिहास समाप्त हो जाता है—पहिली पीढी अधिकार स्थापित करती है, दूसरी पीढी उसे कायम रखती है, और शायद तीसरी या कुछ और पीढियाँ भी उसे सँभाले रहती है, और फिर अन्त आ पहुँचता है। यही सभी सभ्यताओका जीवन-चक्र है।

जर्मन-विद्वान् अगस्ट मूलरका[१] कहना है, खल्दूनका यह नियम ग्यार-हवीसे पन्द्रहवीं सदी तकके स्पेन, मराको, दक्षिणी अफ़्रीका और सिसलीके इतिहासोपर लागू होता है, और उन्हीके अध्ययनसे खल्दून इस निष्कर्षपर पहुँचा मालूम होता है।

---

१. August Muller—Der Islam in Morgen-und Abendland, 2 Vols. (Berlin, 1885-87).

खल्दून पहिला ऐतिहासिक है, जिसने इतिहासकी व्याख्या ईश्वर या प्राकृतिक उपद्रवोंके आधारपर न करके उसकी आन्तरिक भौतिक सामग्रीसे करनेका प्रयत्न किया, और उनके भीतर पाये जानेवाले नियमों—इतिहास-दर्शन—तक पहुँचनेकी कोशिश की। खल्दून अपने ऐतिहासिक लेखोंमें इतिहासकी कारण-श्रृंखला तक पहुँचनेके लिए जाति, जलवायु, आहार-उत्पादन आदि सभीकी स्थितिपर बारीकीसे विचार करता है; और फिर सभ्यताके जीवन-प्रवाहमे वह अपने सिद्धान्तकी पुष्टि होते देखता है। हर जगह अ-प्राकृतिक नहीं प्राकृतिक, दैवी—लोकोत्तर—नहीं, लौकिक कारणोंको ढूंढनेमें वह चरम सीमा तक जाता है। कारण-श्रृंखलाका जहाँसे आगे पता नही लगता, वहाँ हमे चरम कारण या ईश्वरको स्वीकार करना पड़ता है। गोया खल्दून इस तरह इतिहासकी कारण-श्रृंखलामें ईश्वरके लानेका मतलब अज्ञता स्वीकार करना समझता है। अपने अज्ञानसे आगाह होना भी एक प्रकारका ज्ञान है, किन्तु जहाँ तक हो सकता है, हमें ज्ञानके पानेकी कोशिश करनी चाहिए। खल्दून अपने कामके बारेमे समझता है कि उसने सिर्फ मुख्य-मुख्य समस्याओंका संकेत किया है, और इतिहास-साइंसकी प्रक्रिया तथा विषयके बारेमें सुझाव भर पेश किये है। लेकिन वह आशा करता है कि उसके बाद आनेवाले लोग इसे और आगे बढ़ायेंगे।

इब्न-ख़ल्दूनकी आशा पूर्ण हुई, किन्तु इस्लामके भीतर नही : वहाँ जैसे उसका (अपने विचारोंका) कोई पूर्वगामी नही था, वैसे ही उसका कोई उत्तराधिकारी भी नही मिला।[1]

---

१. The History of Philosophy in Islam (by G. T. J. De Boer, Translated by E. R. Jones, London, 1903), pp. 200-208.

अध्याय ८

युरोपपर इस्लामी दार्शनिकोंका ऋण

रोश्दके बाद कैसे उसके दर्शनका मैमूनियोने अध्ययनाध्यापन जारी रखा, इसका जिक्र पहिले हो चुका है, और हम यह भी बतला चुके हैं, कि स्पेनकी इस्लामिक सल्तनत तथा स्वय इस्लाम भी वहाँसे ईसाई जहादोमें खतम हो गया। इस्लामकी प्रभुता जब स्पेनमे स्थापित थी और कार्दोवा दस लाखका एक बडा शहर ही नही वल्कि विद्याका महान् केन्द्र था, उस वक्त भी पास-पडोसके देशोके ईसाई-विद्यार्थी वहाँ विद्या पढने आते थे (अध्ययनका माध्यम अरवी थी), और रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोके विचारोको अपने साथ ले जाते थे। लेकिन जब मोहिदीन शासकों और स्पेनिश ईसाइयोकी अन्तिम जहादी लडाइयाँ होने लगी, तो देशके हर भाग और श्रेणीके लोगोमे खून-खराबी मच गई; दोनो पक्षोमेसे किसी भी ओर रहनेवाले यहूदी स्पेन छोडकर भागने लगे। यह भागे हुए यहूदी या तो उत्तरी (ईसाई) स्पेनके शहरो—प्राविस, बारसलोना, सारागोसा आदिमे बस गए, या दक्षिणी फ्रासके मार्सेई आदि शहरोमें चले गए। ये प्रवासी यहूदी अपने साथ अपनी विद्या और विद्याप्रेमको भी लेते गये, और कुछ ही समय बाद उनके नये निवास-स्थान भी विद्या-केन्द्र बनने लगे।

§ १. अनुवादक और लेखक

१ – यहूदी (इब्रानी)

यूनानी पुस्तकोके सुरियानी, इब्रानी फ़ारसी और अरबी भाषाओंमें अनुवाद होनेकी बात कही जा चुकी है। अब सात सदियो बाद फिर नये

अनुवादोंका दौर शुरू होता है। यूनानी दर्शनके आधारपर अरबोंने जो दर्शन-प्रासाद खड़ा किया था, अब उसको युरोपके दर्शन अनुरागियोंके सामने रखना था, और इसमे भाग लेनेवाले थे यही प्रवासी यहूदी। यहूदी जबतक इस्लामिक स्पेनमें रहे तबतक अरबी उनकी मातृभाषा बनी हुई थी; इसलिए अनुवादकी जरूरत न थी; किन्तु जब वह दूसरे देशोंमें बस गए और वहाँ अरबीकी जगह दूसरी भाषाको उन्हें द्वितीय भाषाके तौर-पर अपनाना पड़ा; तो अरबी भाषा (अरबी भाषा क्या अरबी लिपि) को भी द्वितीय भाषाके तौरपर जारी रखना उनके लिए मुश्किल था। स्थानीय भाषाएँ उतनी उन्नत न थीं, इसलिए उन्होंने जहाँ अरबीकी पुस्तकों-को इब्रानी लिपिमें उतार डाला; वहाँ उन्हे इब्रानीमें अनुवादित करना भी शुरू किया। इन अनुवादित ग्रंथोमे रोश्दकी कृतियाँ बहुत ज्यादा थी।

(१) **प्रथम इब्रानी अनुवाद-युग**—इब्रानी-अनुवादके कामको शुरू करनेवालोंमे इब्न-तैबूनके खान्दानका खास हाथ है। ये लोग इस्लामिक स्पेनसे आकर ल्योनल (उत्तरी स्पेन)में बस गये थे। इस खान्दानका पूर्व-पुरुष इब्न-तैबून दर्शन, प्राणिशास्त्र और कीमियाका एक बडा पडित था। इस खान्दानका सबसे पहिला अनुवादक समुयेल इब्न-तैबून था, जिसने "दार्शनिकोंके सिद्धान्त"[1] के नामसे एक पुस्तक लिखी जो कि इब्न-रोश्दके ग्रंथोंसे शब्दश. ली गई थी। इसी समय तलेतला[2] (स्पेन)के एक यहूदी धर्माचार्य यह्या बिन्-सलामाने "तिब्बुल्-हिकमत्" (१२७४ ई०) लिखी; यह्या जर्मन राजा फ़्रेडरिक द्वितीय (१२४० ई०)के दरबारमें अरबी ग्रंथोंके अनुवादका काम करता था।

समुयेलके बाद मूसा-बिन्-तैबूनने "भौतिक-शास्त्र"[3] की अधिकतर पुस्तकोंका इब्रानीमें अनुवाद किया। समुयेलके समकालीन इब्न-यूसुफ बिन्-फ़ाखीरा (जन्म १२२६ ई०) तथा जर्सन बिन्-सुलेमानने भी अनुवाद किये। जर्सन समुयेलका संबधी भी था, इसने इब्रानीमे बहुत ज्यादा अनुवाद किये।

---

१. "आराउ'ल्-हुकमा"। २. Toledo. ३. "तब्-इयात्"।

फ्रेडरिकके दरवारमे एक मशहूर यहूदी अनुवादक याकूब बिन्-मरियम् अबी-शम्शून था, इसने फ्रेडरिककी आज्ञा (१२३२ ई०)से रोश्दकी बहुतसी पुस्तकोका अनुवाद किया, जिनमे निम्न मुख्य हैं—

तर्कशास्त्र (मन्तकियात)-व्याख्या	(१२३२ ई० नेपल्समें)
तर्क-सक्षेप (तल्खीम-मन्तिक)	
तल्खीस-मुहस्सती	(१२३१ ई० नेपल्समें)

इनके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोके कुछ अनुवाद इस प्रकार हैं—

सुलेमान बिन्-यूसुफ	मकाला फि'स्-समाअ्-व-आलम्	(१२५९ ई०)
जकरिया बिन्-इस्हाक	भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	अति भौतिक शास्त्र-टीका	(१२८४ ई०)
	देवात्मा-जगत्-[1]टीका	(१२८४ ई०)
याकूब बिन्-मशीर	तर्क-संक्षेप	(१२९८ ई०)
	प्राणिशास्त्र[2]	(१३०० ई०)

(२) **द्वितीय इब्रानी अनुवाद-युग**—चौदहवी सदीसे इब्रानी अनुवादोका दूसरा युग आरम्भ होता है। पहिले अनुवादकी भाषा उतनी मँजी हुई नही थी, और न उसमें ग्रंथकारके भावोका उतना ख्याल रखा गया था। ये अनुवाद गोया फाराबीसे पहिलेके अरबी अनुवादो जैसे थे, लेकिन नये अनुवाद भाषा-भाव दोनोकी दृष्टिसे बेहतर थे। इन अनुवादकोंमें सबसे पहिला है कालोर्नीम् बिन्-कालोनीम् बिन्-मीर[3] (जन्म १२८७ ई०) है। उसने निम्न पुस्तकों[4] के अनुवाद किये—

---

१. समाअ-व-आलम्। २ हैवानात्।

३. यह लातीनी भी जानता था, इसने रोश्दके "खंडन-खंडन" का लातीनी भाषामें अनुवाद (१३२८ ई०) किया था।

४. Topics, Sophistics, the Second Analytics, Physics, Metaphysics, De Coelo et Mundo, De Generatione et Corruptione, Meteorology.

तॉपिक् (तर्क)	अरस्तू	१३१४ ई०
सोफिस्ता (तर्क)	”	”
अनालौतिक द्वितीय (तर्क)	”	”
भौतिक शास्त्र	”	१३१७ ई०
अतिभौतिक शास्त्र	”	”
देवात्मा और जगत् (भौतिक शास्त्र)	”	”
कोन-व-फ़साद (भौतिक शास्त्र)	”	”
मुकाला फ़िल्-माहयात् (भौतिक शास्त्र)	”	”

इसके अतिरिक्त निम्न अनुवादकोंने भी इस युगमें इब्रानी अनुवाद[1] किये—

अनुवादक	ग्रंथ	ग्रंथकर्त्ता	अनुवाद-काल
कालोनीम् बिन्-दाऊद	खंडन-खंडन[2]	रोश्द	
अबी समुयेल बिन्-यह्या	आचार-शास्त्र	अरस्तू	१३२१
	"प्रजातंत्र"-व्याख्या	रोश्द	”
थ्योदोर	तॉपिक	अरस्तू	१३३७
	खिताबत्[3]	अरस्तू	”
	आचार-शास्त्र	अरस्तू	”

इसी सदीमे निम्न अनुवादक और हुए जिन्होंने करीब सारे ही रोश्द-दर्शनको इब्रानीमे कर डाला—

इब्न-इस्हाक, यह्या बिन्-याकूब,
यह्या बिन्-मैमून, सुलेमान बिन्-मूसा अल्-गोरी,
मूसा बिन्-ताबूरा,
मूसा बिन्-सुलेमान,

---

१. पुस्तक-नामोंके लिए देखो पृष्ठ ११५, २२१-२३ भी।
२. "तोहाफ़तु-तोहाफ़त्"। ३. Rhetoric (=भाषण-शास्त्र)

(क) ल्योन् अफ्रीकी—इसी चौदहवी सदी ही मे लावी बिन्-जर्सन—जिसे ल्योन् अफ्रीकी भी कहते हैं—ने रोश्दके दर्शनके अध्ययनाध्यापनके सुभीतेके लिए वही काम किया है, जो कि रोश्दने अरस्तूके लिए किया था। ल्योन्ने रोश्दके ग्रथोकी व्याख्याएँ और सक्षेप लिखे। उनका एक समय इतना प्रचार हुआ था, कि लोग रोश्दके ग्रथोको भी भूल गए। ल्योन भूत(=प्रकृति) को अनुत्पन्न नित्य पदार्थ मानता था। वह पैगम्बरी-को मानवी शक्तियोका ही एक भेद समझता था।

ल्योन् अफ्रीकीके ग्रथोने यहूदी विद्वानोमे रोश्दका इतना प्रचार बढ़ाया कि अरस्तूकी पुस्तकोको कोई पढना न चाहता था। इसी कालमे मूसा नारबोनीने भी रोश्दकी बहुतसी व्याख्याएँ और सक्षेप लिखी।

(ख) अहरन् बिन्-इलियास्—अब तक यहूदियोमे मजहबी लोग दर्शनसे दूर-दूर रहा करते थे और वह सिर्फ स्वतत्र विचार रखनेवाले धर्मो-पेक्षकोकी चीज समझा जाता था, किन्तु चौदहवी सदीके अन्तमे एक प्रसिद्ध यहूदी दार्शनिक अहरन् बिन्-इलियास् पैदा हुआ। इसने "जीवन-वृक्ष"[१] के नामसे एक पुस्तक लिखी, जिसमे रोश्दके दर्शनका जबर्दस्त समर्थन किया, जिससे उसका प्रचार बहुत ज्यादा बढा।

यहूदी विद्वान् इलियास् मदीजू पदुआ[२] (इताली) विश्वविद्यालयमे अन्तिम प्रोफेसर था। इसने भी रोश्दपर कई पुस्तके लिखी।

सोलहवी सदी पहुँचते-पहुँचते रोश्दके दर्शनके प्रभावसे विचार-स्वातन्त्र्यका इतना प्रचार हो गया, कि यहूदी धर्माचार्योको धर्मके खतम होनेका डर होने लगा। उन्होने दर्शनका जबर्दस्त विरोध शुरू किया, और दर्शनके खिलाफ मुसलमान धर्माचार्योके इस्तेमाल किये हुए हथियारो-को इस्तेमाल करना चाहा। इसी अभिप्रायसे अबी-मूसा अल्-मशीनोने १५३८ ई०मे गजालीकी पुस्तक "तोहाफतुल्-फिलासफा" (=दर्शन-खडन)-का इब्रानी अनुवाद प्रकाशित किया। अफलातूनके दर्शनको धर्मके ज्यादा

१ "शज्रुल्-हयात्"। २ Padua

अनुकूल देखकर उन्होंने अरस्तूकी जगह उसका प्रचार शुरू किया। अब हम बेकन् (१५६१-१६२६), हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०) और द-कार्त (१५९६-१६५० ई०) के जमानेके साथ दर्शनके आधुनिक युगमें पहुँच जाते हैं; जिसमे अन्तिम यहूदी दार्शनिक स्पिनोजा (१६३२-७७ ई०) हुआ जिसने यहूदियों के पुराने दर्शन और द-कार्तके सिद्धान्तोंको मिलाकर आधुनिक युरोपके दर्शनकी बुनियाद रखी, और तबसे दर्शन धर्मसे स्वतंत्र हो गया।

स्पिनोजापर इस्राईली (८५०-९५० ई० के बीच), सादिया (८९२-९४२ ई०), बाकिया (१०००-१०५० ई०) इब्न-जब्रोल (१०२०-७० ई०) मैमून (११३५-१२०४ ई०), गेरसूनी (१२८८-१३४४ ई०) और क्रस्का (१३४०-१४१० ई०) के ग्रंथोंका बहुत असर पड़ा था।

२ – ईसाई (लातीनी)

ईसाई जहादों (=सलीबी युद्धों) का जिक्र पहिले हो चुका है। तेरहवीं सदीमें ये युद्ध स्पेन हीमे नही हो रहे थे, बल्कि उस वक्त सारे यूरोपके ईसाई सामन्त मिलकर यरोशिलम और दूसरे फिलस्तीनी ईसाई तीर्थ-स्थानोंके लौटानेके बहानेसे लड़ाइयाँ लड़ रहे थे। इन लड़ाइयोंमें भाग लेनेके लिए साधारण लोगोंसे ज्यादा उत्साह यूरोपीय सामन्त दिखाते थे। कितनी ही बार तो एक सामन्त दूसरे सामन्त या राजासे अपने प्रभाव और प्रभुत्वको बढ़ाने के लिए युद्धमें सबसे आगे रहना चाहता था।

(१) फ्रेडरिक द्वितीय[1] **(१२४० ई०)**—जर्मन राजा फ्रेडरिक द्वितीय सलीबी युद्धोंके बड़े बहादुरोंमेंसे था। जब युरोपीय ईसाइयोंने यरोशिलमपर छठा हमला किया, तो फ्रेडरिक उसमें शामिल था। धर्मके बारेमे उसकी सम्मति बहुत अच्छी न थी, तो भी अपने ही कथनानुसार वह उसमें इस-लिए शामिल हुआ कि अपने मूर्ख सिपाहियों और जनतापर प्रभुत्व बढ़ाये।

---

१. Frederick II of Hohenstaufen (1194-1250 A. D.)

—इस बातमें वह हिटलरका मार्ग-दर्शक था। फ़ेडरिककी प्रारम्भिक जिन्दगीका काफी भाग सिसलीमें बीता था। सिसली द्वीप सदियोंतक अरबोंके हाथोंमें रहनेसे अरबी संस्कृतिका केन्द्र बन गया था। फ़ेडरिकका अरब विद्वानोंसे बहुत मेल-जोल था और वह अरबी भाषाको बहुत अच्छी तरहसे बोल सकता था। अरबी सभ्यताका वह इतना प्रेमी हो गया था कि उसने भी हरम (=रनिवास) और ख्वाजा-सरा (=हिजडे दरोगा) कायम किये थे। ईसाइयतके बारेमें उसकी राय थी—"चर्चकी नीव दरिद्रावस्थामें रखी गई थी, इसीलिए आरम्भिक युगमें सन्तोंसे ईसाई दुनिया खाली न रहती थी। लेकिन अब धन जमा करनेकी इच्छाने चर्च और धर्माचार्योंके दिलको गदगीसे भर दिया है।" वह खुल्लम्खुल्ला ईसाई-धर्मका उपहास करता था, जिससे नाराज़ होकर पादरियोंने उसे शैतानका नाम दे रखा था। पोप इन्नोसेंत चतुर्थकी प्रेरणासे ल्योन्समें एक धर्म-परिषद् (कौंसिल) बैठी, जिसने फ़ेडरिकको ईसाई बिरादरीसे छाँट दिया।

जिस वक्त सलीबी युद्ध चल रहा था, उस वक्त भी फ़ेडरिकका दार्शनिक कथा-सवाद जारी रहता था। मुसलमान विद्वान् बराबर उसके दरबारमे रहते थे। मिस्रके सुल्तान सलाह्-उद्दीनसे उसकी वैयक्तिक मित्रता थी, जो उन युद्धके दिनोंमें भी वैसी ही बनी हुई थी, और दोनों ओरसे भेंट-उपायन आते-जाते रहते थे।

युद्धसे लौटनेके बाद उसने खुल्लम्खुल्ला, दर्शन तथा दूसरी विद्याओंका प्रचार शुरू किया, सिसलीमे पुस्तकालय स्थापित किये; अरस्तू, तालमी, और रोश्दके ग्रथोंको अनुवाद करनेके लिए यहूदी विद्वानोंको नियुक्त किया। पिपल्समें एक युनिवर्सिटीकी नींव रखी और सलर्नोके विद्यापीठका संरक्षक बना। उसने विद्या-प्रचारके लिए दूर-दूरसे अरबीदाँ विद्वानोंको एकत्रित किया। तैबून खान्दानवाले अनुवादक इसीके दरबार से संबंध रखते थे। फ़ेडरिक स्वय विद्वान् था और विद्या तथा सस्कृतिमे सिरमौर उस समयकी अरबी दुनियाको उसने नज़दीकसे देखा था, इसलिए वह चाहता था कि अपने लोगोको भी वैसा ही बनाये। आक्सफोर्डके एक पुस्तकालयमें 'मसायल्-

सक्लिया' नामक एक अरबी हस्तलिखित पुस्तक है जिसके बारेमें कहा जाता है कि फ्रेडरिकने स्वयं उसे लिखा था; लेकिन वस्तुत: वह पुस्तक दक्षिणी स्पेनके एक सूफी दार्शनिक इब्न-सबईन की कृति है, जिसे उसने १२४० ई० में फ्रेडरिकके चंद दार्शनिक प्रश्नों—जिन्हें कि उसने इस्लामिक दुनियाके दूसरे प्रसिद्ध विद्वानोंके पास भी भेजे थे—के उत्तरमें लिखा था। इस वक्त दक्षिणी स्पेनपर सुल्तान रशीदीकी हुकूमत थी। इस हुकूमतमें उस वक्त विचार-स्वातंत्र्यकी क्या हालत थी यह सबईनके इस वाक्यसे पता लगता है—" हमारे देशमें इन विषयोंपर कलम उठाना बहुत खतरेका काम है। यदि मुल्लोंको खबर हो जाये कि मैंने इस विषयपर कलम उठाई है, तो वह मेरे दुश्मन बन जायेंगे और उस वक्त मैं दुश्मनीके हमलों से बच न सकूँगा।"[1]

चालीस साल तक फ्रेडरिकने चर्चके विरोधके होते हुए भी युरोपको विद्याके प्रकाशसे प्रकाशित करनेकी कोशिश जारी रखी। जब वह मरा तो पोप इन्नोसेंतने सिसलीके पादरियोंके सामने प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा—"आसमान और जमीनके लिए यह खुशीकी घड़ी है, क्योंकि जिस तूफानमें मानव जगत् फँस गया था उससे ईसाई जगत्को अन्तिम बार मुक्ति मिली।" लेकिन फ्रेडरिकके बाद जो परिवर्तन यूरोपमें दिखाई पड़ा, उसने पोपकी रायको गलत साबित किया।

(२) अनुवादक—बिन्-मीरके "खंडन-खंडन" के लातीनी अनुवाद (१३२८ ई०) के बारेमें हम कह चुके हैं; किन्तु इसके पहिले हीसे अरबी ग्रंथोंके लातीनी अनुवाद शुरू हो गए थे। फ्रेडरिकका दरबारी भी काल स्कात तलेतला (स्पेन) का निवासी था, इसने अपने शहरमें एक यहूदी विद्वान्की मददसे कई पुस्तकोंका लातीनी भाषामें अनुवाद किया, जिनमें कुछ हैं—

---

१. "आसारुल्-अबूहार", पृष्ठ २४१

समाअ्-व-आलम्-शरह् (टीका)	रोश्द १२३० ई०
मुक़ाला फिल्-रूह् (टीका)	रोश्द १२३० ई०
मुक़ाला कोन-व-फसाद	रोश्द
जौहरुल्-कौन	

राजर बैकन (१२१४-९२ ई०) के अनुसार स्कात अरबी भाषा बहुत कम जानता था और उसने दूसरोंकी सहायतासे ही अनुवाद किये थे। कुछ भी हो, स्कात पहिला आदमी है जिसने ईसाई दुनियाके सामने पहिले-पहिल रोश्दके दर्शनको, उस वक्तकी चर्चकी भाषा लातीनीमे पेश किया। राजर बैकन खुद अरबी जानता था, उसने रोश्दके दर्शनको अपने देश इंगलैण्डमें फैलानेके लिए क्या किया, यह हम आगे कहेंगे।

फ्रेडरिकके दर्बारके दूसरे विद्वान् हरमनने निम्न दर्शन ग्रंथोका लातीनी मे अनुवाद किया—

भाषण-[1]टीका	फ़ाराबी	१२५६ (तलेतला[2])
अलंकार[3]-सक्षेप	रोश्द	१२५६ (तलेतला)
आचार-[4]सक्षेप	रोश्द	१२४० ई० (तलेतला)

तेरहवी सदीके अन्त होते-होते तक रोश्दके सभी दार्शनिक ग्रंथोंका लातीनी भाषामे अनुवाद हो गया था।

---

१. Rhetoric. २. Toledo. ३. Rhetoric. ४. Ethics.

अध्याय ९

यूरोपमें दर्शन-संघर्ष

संत अगस्तिन् (३५३-४३० ई०) के दर्शन प्रेमके बारेमें हम पहिले कह चुके हैं; किन्तु अगस्तिन्का प्रेम अगस्तिन् तक ही रह गया। उसके बाद यद्यपि ईसाई-धर्म यूरोपमें बड़े जोरसे फैला; किन्तु ईसाई साधु या तो लोगोंको अपनी तीतारटनपर विश्वास करते, मठोंको दान-पुण्य करनेका उपदेश देते, और छोटे-बड़े महन्त बन मौज लूट रहे थे; अथवा कोई-कोई सब छोड़ एकान्तवासी बन ध्यान-भक्तिमें लगे हुए थे—विद्याका दीपक एक तरहसे बुझ चुका था।

§ १. स्कोलास्तिक

आठवीं सदीमें जब शार्लमान[1] (=चार्ल्स) यूरोपका महान् राजा हुआ तो उसने यह हालत देखी। साथ ही उसने यह खतरा भी देखा कि बाहरसे देख-सुनकर आये लोगोंके द्वारा धर्मपर संदेहकी दृष्टि डालनेकी ओर प्रवृत्ति भी चुपके-चुपके बढ़ रही है। शार्लमानने इसके प्रतिकारके लिए मूर्ख-उजड्ड साधुओंसे भरे ईसाई-मठोंमें पढ़े-लिखे साधुओंको बैठा बच्चोंकी शिक्षाका प्रबंध किया, और नये-नये मठ भी कायम किये। इन पाठशालाओंमें सिर्फ धर्म हीकी शिक्षा नहीं दी जाती थी, बल्कि, ज्यामिति, अंकगणित, ज्योतिष, संगीत, साहित्य, व्याकरण, तर्क—इन "सात उदार कलाओं" की भी पढ़ाई होती थी। बढ़ते हुए बुद्धिवादको कुंठित कर धर्मका अनुसरण करनेके ही लिए वहाँ तर्ककी पढ़ाई होती थी। शार्लमानका यह प्रयत्न

---

१. Charlemagne

उसी वक्त हो रहा था जब कि भारतके नालंदाकी कीर्ति सारी दुनियामे फैली हुई थी, और उसमें भी शार्लमानकी भाँति ही राजाओं और सामन्तोंने दिल खोलकर गाँव और धन दिया था। नालदाके अतिरिक्त और भी विद्यापीठ तथा "गुरुकुल" थे जिनमे विद्या, विशेषकर दर्शनकी चर्चा होती थी। हमारे यहाँ हीकी तरह शार्लमान द्वारा स्थापित विद्यापीठोंमे भी ग्रथोको कठस्थ तथा शास्त्रार्थ करना—विद्याध्ययनका मुख्य अग था। यहाँ यह कहनेकी जरूरत नही कि भारतके इतने बड़े शिक्षा प्रयत्न क्यो निष्फल हुए, और वह क्यों फिर अन्धकारकी कालरात्रिमे चला गया—वस्तुत भारतमे उस वक्त भी शिक्षाको सार्वजनिक करनेका प्रयत्न नही हुआ और न बाद ही, विद्या-प्रचार थोड़ेसे लोगो—शासको और धर्माचार्यो—मे ही सीमित रहा।

शार्लमानके मरनेके बाद यद्यपि उसके स्थापित मठो, विद्यापीठोमे शिथिलता आ गई, तो भी ईसाई यूरोपकी छातीपर—स्पेनमें—इस्लाम काला साँप बनकर लोट रहा था, वह सिर्फ तलवार के बलपर ही अपने प्रभुत्वका विस्तार नही कर रहा था, बल्कि पुराने यूनान और पूरबके पुराने ज्ञान-भडारको अपनी देनके साथ यूरोपके ज्ञान-पिपासुओमे वितरित कर रहा था। ऐसी अवस्थामे ईसाई-धर्म अच्छी तरह समझता था कि उसकी रक्षा तभी हो सकती है जब वह भी अपनी मददके लिए विद्याके हथियारको अपनावे।

शार्लमानके इन मठीय विद्यालयोको स्कोल (=स्कूल, पीठ) कहा जाता था, और इनमे धर्म और दर्शन पढानेवाले अध्यापकोको **स्कोलास्तिक आचार्य**,[१] कहा जाता था। पीछे धर्मकी रक्षाके समर्थकके तौरपर जिस मिश्रित दर्शन (वाद-शास्त्र) को उन्होने विकसित किया, उसका नाम भी स्कोलास्तिक दर्शन पड गया। इस वाद-दर्शनका विकास ईसाई धर्माचार्यों-के उस प्रयत्नके असफल होनेका पक्का प्रमाण था जो कि बुद्धिवाद और

---

१. Doctors Scholastic.

दर्शनकी ओर बढ़ती हुई रुचिको दबाने लिए वह पशुबलसे गला घोटकर कर रहे थे। इस नये प्रयत्नोंसे उन्हे इतनी आशातीत सफलता हुई कि जिस समय (बारहवी सदीके अन्तमें) नालदा, उडन्तपुरी, विक्रमशिला, जगत्तला आदिके महान् विद्यापीठ भारतमें आगकी नजर किये जा रहे थे, उसी समय यूरोपमें आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, पेरिस, सोरबोन्, बोलोना, सलेर्नो आदिमे नये मठीय विश्वविद्यालय कायम किये जा रहे थे।

स्कोलास्तिक विद्वानोंमे जान स्काट्स एरिगेना (८१०-७७ ई०) सन्त अन्से (ल्) म् (१०६३-११०९ ई०), रोसेलिन्[1] (१०५१-११२१ ई०) अबेलार्द (१०७९-११४२ ई०) ज्यादा प्रसिद्ध हैं।

१ — जान स्काट्स एरिगेना[2] (८१०-७७ ई०)

एरिगेना इंगलैण्ड में पैदा हुआ था और स्कोलोंके प्रयत्नोंके पहिले फलोंमें था। उसे अरस्तूका वस्तुवादी दर्शन पसन्द था। उस वक्त यूनानी दार्शनिकोंके ग्रंथ सिर्फ एसियाई भाषाओंमें ही मिलते थे, लेकिन एरिगेना अरबी भाषासे बिलकुल अनभिज्ञ था। संभव है सुरियानी भाषा पढ़ने या सुरियानी ईसाई विद्वानोंकी संगतिका उसे अवसर मिला हो।

एरिगेनाके मुख्य सिद्धान्त थे, अद्वैत विज्ञानवाद और जगत्की अनादिता। यह दोनों ही सिद्धान्त ईसाई-धर्मके विरुद्ध थे, इसे यहाँ बतलानेकी आवश्यकता नहीं। एरिगेना अपनी पुस्तक "जगत्की वास्तविकता" में अपने सिद्धान्तोंके बारेमें लिखता है—"जगत्के अस्तित्व में आनेसे पहिले सभी चीजें पूर्ण-विज्ञानके भीतर मौजूद थीं, जहाँसे निकल-निकलकर उन्होंने अलग-अलग रूप धारण किये लेकिन जब ये रूप नष्ट हो जायेंगे तो वे फिर उसी पूर्ण-विज्ञानमें जाकर मिल जायेंगी, जहाँसे कि वह निकली थीं। इसमें संदेह नहीं यह वसुबंधु (४०० ई०) की "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" (त्रिंशतिका) की इस कारिकाका भावार्थ है—

---

१. Roscellinus. २. जान अर्गेनीना।

"(आलय विज्ञान रूपी समुद्रसे) वीची तरंगकी तरह उन (जगत् की चीजो) की उत्पत्ति कही गई है।"[1]

एरिगेनाका **पूर्ण-विज्ञान** योगाचार (विज्ञानवाद) का **आलय-विज्ञान** है, जिसमे क्षणिकताके अटल नियमके अनुसार नाश-उत्पाद वीची-तरंगकी तरह होता रहता है। एरिगेनासे पहिले यह सिद्धान्त यूरोपके लिए अज्ञात था। हमने देखा है, पीछे रोश्दने भी इसी विज्ञानवादको अपनी व्याख्याके साथ लिया। धर्मान्धता-युगके दूसरे दार्शनिकोंकी भाँति एरिगेना भी धर्म और दर्शनका समन्वय करना चाहता था।

२–अमोरी और दाविद

एरिगेनाके विचार-बीज पश्चिमी यूरोपके मस्तिष्कमे पड़ जरूर गये, किन्तु उनका असर जल्दी दिखाई नही दिया। दसवी सदीमे अमोरी और उसका शागिर्द दाविद-दे-देनितो प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। अमोरीके सिद्धान्त जिब्रोल (१०२१-७० ई०) से मिलते हैं जो कि अभी तक पैदा न हुआ था। दाविद जगत् की उत्पत्ति मूल हेवला[2] (=प्रकृति) से मानता है। हेवला स्वय शकल-सूरतसे रहित है, यह एरगेनाके पूर्ण विज्ञानका ही शब्दान्तरसे व्याख्यान है, यद्यपि मूल प्रकृतिके रूपमे वह वाह्यार्थवाद—प्राकृतिक (=वास्तविक) दुनियाके बहुत करीब आ जाता है।

३–रोसेलिन् (१०५१-११२१ ई०)

दाविद और अमोरीके दर्शनने वाह्यार्थवाद (=प्राकृतिक जगत् की वास्तविकता) की ओर कदम बढाया था। स्कोलास्तिक डाक्टर रोसेलिन् ने उसके विरुद्ध **नाम** (=अ-रूप) **वाद**[3] पर जोर दिया और कहा कि एक

---

१. "वीची-तरंग-न्यायेन तदुत्पत्तिस्तु कीर्तिता।"—त्रिंशिका (वसुबंधु)
२. Hyla. ३. Nominalism.

प्रकारकी सभी व्यक्तियों से जो समानताएँ (=सामान्य) पाई जाती हैं उनका अस्तित्व उन व्यक्तियोंसे बाहर नहीं है।

§२. इस्लामिक दर्शन और ईसाई चर्च

रोश्दके ग्रंथोंका पठन-पाठन तथा पीछे उनके अनुवादकों की प्रगतिके बारेमें हम बतला चुके हैं। यह हो नहीं सकता था कि एरिगेना, अमोरी आदिके प्रयत्नके कारण पहिलेमे कान खड़े किये ईसाई धर्मके क्षेत्रपर उसका असर न पड़ता।

१ – फ्रांसिस्कन सम्प्रदाय

रोश्दके दर्शनका सबसे ज्यादा प्रभाव ईसाइयोंके फ्रांसिस्कन संप्रदायपर पड़ा। इस सम्प्रदायके संस्थापक—उस वक्त काफिर और पीछे सन्त—फ्रासिस् (११८२-१२२६ ई०) ने तेरहवीं सदीमें विलासितामे सरतक डूबे पोप और उसके महन्तोंके विरुद्ध बग़ावतका झंडा खड़ा किया था। फ्रांसिस्-का जन्म असिसी (इताली) में ११८२ ई० मे हुआ था। उसने विद्या पढ़नेके लिए तीव्र प्रतिभा ही नही पाई थी, बल्कि आसपासके दीन-हीनोंकी व्यथा समझने लायक हृदय भी पाया था। "सादा आचार और उच्च विचार"—उसका आदर्श था। महन्तोंकी शान-शौकत और दुराचारसे वह समझ रहा था कि ईसाई-धर्म रसातलको जानेवाला है, इसलिए उसने गरीबीकी जिन्दगी बितानेवाले शिक्षित साधुओंका एक गिरोह बनाया जिसे ही पीछे फ्रांसिस्कन संप्रदाय कहा जाने लगा। फ्रांसिस् जैसे विद्वानको ऐसी गरीबीकी जिन्दगी बिताते देख लोगोंका उधर आकर्षित होना स्वाभाविक ही था—खासकर उस वक्त के विचार-संघर्षके समयमें—और थोड़े ही समयमें फ्रांसिस्के साथियोंकी संख्या पाँच हजार तक पहुँच गई।

(१) अलेक्जेंडर हेस—अलेक्जेंडर हेस (तेरहवीं सदी) फ्रांसिस्कन संप्रदायका साधु था। इसने पेरिसमें शिक्षा पाई थी। हेसने अरस्तूके अति-

भौतिक-शास्त्र[1] पर विवरण लिखा था। अपने विवरणमें उसने सीना और ग़ज़ालीके मतोंको बड़े सम्मानके साथ उद्धृत किया है; किन्तु उसी संबंधके रोश्दके विचारोंके उद्धृत नही करनेसे पता लगता है कि वह उससे परिचित न था।

(२) **राजर बेकन**[2] (१२१४-९४ ई०)—(क) **जीवनी**—आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय फ्रासिस्कन संप्रदायका गढ था, और वहाँ रोश्दके दर्शनका बहुत सम्मान था। राजर बेकन नालदा-विक्रमशिलाके ध्वस (१२०० ई०) के चद ही सालोके बाद इंगलैण्डमे पैदा हुआ था। उसने पहिले आक्सफोर्डमें शिक्षा पाई थी, पीछे पेरिसमे जाकर डाक्टर की उपाधि प्राप्त की। वह लातीनी तो जानता ही था, साथ ही अरबी और यूनानीसे भी परिचित था। इन भाषाओका जानना—खासकर अरबीका जानना—उस वक्तके विद्याभ्यासीके लिए बहुत जरूरी था। पेरिससे लौटनेपर वह साधु (फ्रासिस्कन)[3] बना। यद्यपि उसके विचार मध्यकालीनतासे मुक्त न थे, तो भी उसने वेध, प्रयोग, तथा परीक्षणके तरीकोपर ज्यादा जोर दिया, पुस्तकों तथा शब्दप्रमाणपर निर्भर रहनेको ज्ञानके लिए बाधक बतलाया। वह स्वय यत्र और रसायन शास्त्रकी खोजमे समय लगाता था, जिसके लिए स्वार्थी पादरियोने लोगोमे मशहूर कर दिया कि वह जादूगर है। जादूगरीके अपराधमे उस वक्त यूरोपमे लाखों स्त्री-पुरुष जलाये जाते थे। खैर, राजर उससे तो बच गया, किन्तु उसके स्वतत्र विचारोको देखकर पादरी जल बहुत रहे थे, और जब इसकी खबर रोममे पोपको पहुँची, तो उसने भी इसके बारेमे कुछ करनेकी कोशिश की, किन्तु वह जब तक सफल नही हुआ जबतक कि १२७८ ई० मे फ्रासिस्कन सप्रदायका एक महथ जेरोम डी-एसल् राजरका दुश्मन नहीं बन गया। राजर बेकन नास्तिकता और जादूगरीके अपराधमे जेलमे डाल दिया गया। उसके दोस्तोंकी कोशिशसे वह जेलसे मुक्त हुआ और १२९४ ई० में आक्सफोर्डमें मरा। पादरियोंने

---

१. Metaphysics. २. Roger Bacon. ३. Franciscan.

उसकी पुस्तकोंको आगमें जला दिया, इसलिए रॉजर बैकनकी कृतियोंसे लोगोंको ज्यादा फ़ायदा नहीं हो सका।

(ख) दार्शनिक विचार—सीना और रोश्दके दार्शनिक विचारोंसे रॉजर बहुत प्रभावित था। एक जगह वह लिखता है—

"इब्न-सीना पहला आदमी था, जिसने अरस्तूके दर्शनको दुनियामें प्रकाशित किया; लेकिन सबसे बड़ा दार्शनिक इब्न-रोश्द है, जो इब्न-सीनासे अकसर मतभेद प्रकट करता है। इब्न-रोश्दका दर्शन एक समय तक उपेक्षित रहा; किन्तु अब (तेरहवी सदीमें) दुनियाके करीब-करीब सारे दार्शनिक उसका लोहा मानते है। कारण यही है, कि अरस्तूके दर्शनकी उसने ठीक व्याख्या की है। यद्यपि कहीं-कहीं वह उसके विचारोंपर कटाक्ष भी करता है; किन्तु सिद्धान्ततः उसके विचारोंकी सत्यता उसे स्वीकृत है।"

राजर दूसरे फ़ासिस्कनोंकी भाँति रोश्दका समर्थक था; और वह कर्ता-विज्ञान[1] को जीवसे अलग एक स्वतंत्र सत्ता मानता, तथा उसीका नाम ईश्वर बतलाता था[2]—

"कर्त्ता-विज्ञान एक रूपमें ईश्वर है, और एक रूपमें फरिश्तों (=देवात्माओं) के तौरपर। (दोमिनिकन सम्प्रदायवाले कहते हैं, कि) कर्त्ता-विज्ञान नातिक-विज्ञान[3] (=जीव) की एक अवस्थाका नाम है; लेकिन यह ख्याल ठीक नही जान पड़ता। मनुष्यका नातिक-विज्ञान स्वय ज्ञान प्राप्त करनेमें असमर्थ है, जबतक कि दैवी साधन उसके सहायक न हों। और वह सहायक किस तरह होते हैं। कर्त्ता-विज्ञानके द्वारा, जो कि मनुष्य तथा ईश्वरके बीच सबंध पैदा करानेवाला, और मनुष्यसे अलग स्वतःसत्तावान् एक अ-भौतिक द्रव्य है।

---

१. अक़्ल-फ़आल (Creative Reason)

२. Ibn Roshd (Renan), pp. 154, 155.

३. Nautic nouse.

(३) **दन् स्कातस्**—राजर बेकनके बाद अरबी दर्शनका समर्थक दन् स्कातस् था। पहिले स्कातस् अक्विनाका अनुयायी था, किन्तु पीछे अक्विना के इस बातसे असहमत हो गया, कि ईश्वरका मनुष्यके कर्मोंपर कोई अधिकार नही। अक्विना और स्कातस् के इस विवादकी प्रतिध्वनि सारे स्कोलास्तिक दर्शनमे मिलती है। तामस्के विरुद्ध स्कातस्की यह भी राय थी, कि मूलभूत (=प्रकृति) अनादि है, आकृति के उत्पन्न होनेसे प्रकृतिका उत्पन्न होना जरूरी नही है, क्योकि प्रकृति आकृतिके बिना भी पाई जाती है। ईश्वरका सृष्टि करनेका यही मतलब है, कि प्रकृतिको आकृतिकी पोशाक पहना दे। स्कातस् रोश्दके अद्वैत-विज्ञानको माननेसे ही इन्कार नही करता था, बल्कि इस सिद्धान्तके प्रारभको मनुष्यताकी सीमाके भीतर रखना नही चाहता था। स्कातसने ही पहिले-पहिल रोश्दको उसके अद्वैतवादके कारण घोर नास्तिक घोषित किया, जिसको लेकर पीछे यूरोपमे रोश्दकी पैगबरीके अन्दर नास्तिकोका गिरोह कायम हो गया।

२ – दोमिनिकन्-सम्प्रदाय

जिस तरह ईसाइयोका फ़ासिस्कन सम्प्रदाय रोश्द और इस्लामिक दर्शनका जबर्दस्त समर्थक था, उसी तरह दोमिनिकन् सम्प्रदाय उसका जबर्दस्त विरोधी था। इस सम्प्रदायका सस्थापक सन्त दोमिनिक[1] स्पेनके कैस्तिल नगरमे ११७० मे पैदा हुआ था, और १२२१ ई० मे मरा—गोया वह भारत के अन्तिम बौद्ध सघराज तथा विक्रमशिलाके प्रधानाचार्य शाक्य-श्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०) का समकालीन था। फ़ासिस्कन सम्प्रदाय रोश्दके दर्शनका जबर्दस्त विरोधी था, यह बतला चुके हैं।

(१) **अल्बर्तस् मग्नस्**[2] **(११९३-१२८० ई०)**—अल्बर्तस् मग्नस् उसी समय पैदा हुआ था, जब कि दिल्लीपर अभी हाल में तुर्की झंडा फहराने लगा था। वह उसी साल (१२२१ ई०) दोमिनिकन संप्रदायमें

---

१ St. Dominic. २ Albertus Magnus.

साधु बना, जिस साल कि सन्त दोमिनिक मरा था; और फिर बोलोन् (फ़ांस) विश्वविद्यालयमें प्रोफ़ेसर हुआ। अरबी दार्शनिकोंके खंडनमें इसने कितनी ही पुस्तकें लिखी थीं, तो भी वह इब्न-सीनाका प्रशंसक, और रोश्दका दूषक था। रोश्दका विरोधी तथा अरस्तूका ज़बर्दस्त समर्थक तामस् अक्विना इसीका शिष्य था। अल्बर्तस्ने स्वयं भी रॉजर बेकन और दन स्कातस्के रोश्द-समर्थक विचारोंका खंडन किया, तो भी वह ज्यादा एकान्तप्रिय था; और उसके कामको उसके शिष्य अक्विनाने पूरा किया।

(२) **तामस् अक्विना**[1] (१२२५-७४ ई०) (क) **जीवनी**—तामस् अक्विना इतलीके एक पुराने सामन्त वंशमें १२२५ ई० में (जिस साल कि नेपाल, तिब्बत, आदिकी खाक छानकर अपनी जन्मभूमि कश्मीर में शाक्य श्रीभद्रने शरीर छोड़ा) पैदा हुआ था। इसकी शिक्षा केसिनो और नेपल्स-मे हुई, मगर अन्तमें वह अल्बर्तस् मग्नस्की विद्याकी प्रसिद्धि सुन, बोलोन् विश्वविद्यालयमे अल्बर्तस्के शिष्योंमें सम्मिलित हो गया। विद्या समाप्त करनेके बाद पेरिस विश्वविद्यालयमे धर्म, दर्शन और तर्कशास्त्रका प्रोफ़ेसर नियुक्त हुआ। १२७२ ई० में जब पोप ग्रेगरी दशमने रोमन[2] और यूनानी[3] चर्चमे मेल करानेके लिए एक परिषद बुलाई थी, तो तामस् अक्विनाने एक पुस्तक लिखकर परिषद्के सामने रखी थी, जिसमें यूनानी चर्चके दोष बतलाये थे। मेल तो नहीं हो सका, किन्तु इस पुस्तकके कारण अक्विनाका नाम बहुत मशहूर होगया। परिषद्के दो वर्ष बाद (१२७४ ई०) अक्विनाका देहान्त हो गया।

(ख) **दार्शनिक विचार**—अक्विना अपने समयमें रोश्द-विरोधी

---

१. Saint Thomas Aquinas.

२. रोमन कैथलिक (रोमवाले उदारवादी)

३. ग्रीक अर्थोडक्स (यूनानवाले सनातनी), जिसके अनुयायी पूर्वी यूरोपके स्लाव (रूस आदि) देशोंमें ज्यादा रहे हैं।

दोमिनिकन विचारकोंका अगुआ था। धर्ममे वह कितना कट्टर था, यह तो इसीसे मालूम है, कि गज़ाली की भाँति विशालहृदयता दिखलाते हुए सारे ईसाई सम्प्रदायोंको मिलानेके काममें पोप ग्रेगरीके प्रयत्नके असफल होनेसे जिसे सबसे खुशी हुई, वह अक्विना था। फ्रांसिस्कन यद्यपि रोश्दके दर्शनके समर्थक थे, किन्तु इसलिए नही कि वह प्रगतिशील विचारोका वाहक है, बल्कि इसलिए कि वह वस्तुवादसे ज्यादा अद्वैत-विज्ञानवाद[1] का समर्थक है। इसके विरुद्ध रोश्दका विरोधी अक्विना अपने गुरू अल्बर्तस्की भाँति वस्तुवादका समर्थक था। अक्विनाका गुरु अल्बर्तस् मग्नस् पहिला आदमी था, जिसने अरस्तू के वस्तुवादी दर्शनकी ओर अपना ध्यान आकर्षित किया। मध्यकालकी गाढ़ निद्रासे यूरोपको जगानेमे चगेज़के हमलेने मदद पहुँचाई। चगेज़की तलवारके साथ बारूद, कागज, कुतुबनुमा आदि व्यवहारकी बडी सहायक चीजोंने पहुँचकर भी इस प्रत्यक्ष दुनियाका मूल्य बढा दिया था, इस प्रकार अक्विनाका इस ओर झुकाव सिर्फ आकस्मिक घटना न थी।

जान लेविस् (२) अक्विनाके बारेमे लिखता है[2]—"उसने बिखरे हुए भिन्न-भिन्न विचारोको एकत्रित कर एक सम्बद्ध पूर्ण शरीरके रूपमे सगठित किया, और फिरसे आविष्कृत और प्रतिष्ठापित हुए अरस्तूके बौद्धिक दर्शनसे जोड दिया। (इस प्रकार) उसने जो सामाजिक, राजनीतिक, दार्शनिक रचना की, वह चार सौ वर्षो तक यूरोपीय सभ्यता का आधार रही, और तीन सौ साल तक यूरोपके अधिक भाग तथा लातीनी अमेरिकामें एक जबर्दस्त—यद्यपि पतनोन्मुख—शक्ति बनी रही।

"(अक्विना द्वारा किया गया) ईसाई दर्शनका नया सस्करण अधिक सजीव, अधिक आशावादी, अधिक दुनियावी, अधिक रचनात्मक था। . . . यह अरस्तूका पुनरुज्जीवन था।

---

१ बहदत्-अक्ल। २. Introduction to Philosophy by John Lewis, pp. 34-35, 39

अक्विना और मग्नस्की नई विचारधाराके प्रवाहित करनेमें कम कठिनाई नहीं हुई। पुराने ढर्रेके ईसाई विद्वान् अरस्तूके वस्तुवादी दर्शनका इस प्रकार स्वागत धर्म के लिए खतरेकी चीज समझते थे। लेकिन भौतिक परिस्थिति नये विचारोके अनुकूल थी, इसलिए अक्विनाकी जीत हुई। अक्विनाका प्रधान ग्रथ **सुम्मा थेवलोगीका**[1] एक विश्वकोष है। अक्विना-का दर्शन अब भी रोमन कैथलिक सम्प्रदायका सर्वमान्य दर्शन है।

(१) **मन**—अक्विना सारे ज्ञानकी बुनियाद तजर्बे (=अनुभव)'को बतलाता था—"सभी चीजें जो बुद्धि मे हैं, वह (कभी) इन्द्रियोंमे थी।" मन इन्द्रियोंके पाँच रौशनदानोंसे रोशन है। कोई चीज़ स्वयं बुरी नहीं है, बल्कि, चीजोंके आधार बुरे होते हैं। इस प्रकार अक्विना इंद्रियों, शरीरकी वेदनाओ, और साधारण मनुष्यके अनुभवोंको तुच्छ या हेय नही, बल्कि बड़े महत्त्वकी चीज समझता था।

(२) **शरीर**—मनुष्यको तभी हम जान सकते हैं जब कि हम सारे मनुष्यत्वको लेकर विचार करें। बिना शरीरके मनुष्य, मनुष्य नहीं है, उसी तरह जैसे कि मनके बिना वह मनुष्य नही। मनुष्य मनुष्य तभी है, जब मन और शरीरका योग हो।

भौतिक तत्व अ-मूर्त्त, कच्चे पदार्थ हैं जिनसे कि सारी चीजें बनी हैं। वही भौतिक तत्व भिन्न-भिन्न **वास्तविकताओं**के रूपमें संगठित किये जा सकते हैं, जीवन-चिन्तनवाला मानव इन्ही वास्तविकताओंमेसे एक है। भौतिक तत्वोकी विशेषता यह है कि वह नये परिवर्तन, नये सगठन, नये गुणोको अस्तित्वमे ला सकते है। अक्विना यहाँ अनजाने मार्क्सीय भौतिकवादकी ओर बहक गया है। यदि गुणात्मक परिवर्तन हो सकता है, तो भौतिक तत्व चेतनाको भी पैदा कर सकते हैं।

मनुष्यको अपना या अपनी चेतनाका ज्ञान पीछे होता है। वह क्या है, इसे भी पीछे जानता है। सबसे पहिले मनुष्य (अपनी इन्द्रियोंसे) वस्तुको

---

१. Summa Theologica=ब्रह्मविद्या-संक्षेप।

देखता है, और वह जानता है कि मैं "देख रहा हूँ", जिसका अर्थ है कि वह कोई चीज देख रहा है। यहाँ "है" मौजूद है, और मन बाहरी वस्तुके सिर्फ संस्कारोको नही बल्कि उसकी सत्ताको पूरी तौरपर जानता है। अपने या अपनी चेतनाके बारेमें मनुष्यका ज्ञान इसके बाद और इसके आधार पर होता है, इसलिए बाहरी वस्तुओसे इन्कार करना ज्ञानके आधारसे इन्कार करना है।

(२) **द्वैतवाद**--अक्विनाकी दुनिया दो भागोमें विभक्त है—(१) रोज-बरोज हम जिस जगत्को इन्द्रियोसे देख रहे है, (२) और उसके भीतर बसनेवाला **मूलरूप** (विज्ञान)। शुद्धतम और सर्वश्रेष्ठ **विज्ञान** ईश्वर है—यही अरस्तूका दर्शन है। ईश्वरके अतिरिक्त कितने ही विशेष विज्ञान हैं, जिन्हे जीव कहा जाता है, और जो देव (=फरिश्ते), मनुष्य, आदिकी आत्माओके रूपमे छोटे-बडे दर्जोमे बंटे हैं। इन विज्ञानोमे देवों, मनुष्योंके अतिरिक्त वह आत्मायें भी शामिल है, जो नक्षत्रोका सचालन करती हैं।

अक्विनाकी सबसे बड़ी कोशिश थी, धर्म और दर्शनके समन्वय करनेकी। उसका कहना था, दर्शन और धर्म दोनोके लिए अपना-अपना अलग कार्यक्षेत्र है, उन्हे एक दूसरेके काममे बाधा नही डालनी चाहिए। अगस्तिन् (रोश्द भी) सारे ज्ञानको भगवानके प्रकाशकी देन मानता था, किन्तु अक्विना इन्द्रिय-प्रत्यक्षके महत्त्वको स्वीकार करता था।

अक्विना नवीन अरस्तू-दर्शनके हिमायती दोमिनिकन साधु-सम्प्रदायसे सबध रखता था। फ्रांसिस्कन साधु उसका विरोध करते थे। उनके विद्वान् दन स्कातस् (१२६५-१३०८) और ओकम्वासी विलियम[१] (१३२४-१४०४ ई०) इस बातके विरोधी थे कि धर्म और दर्शनमें समन्वय किया जाये। दर्शन और पदार्थ ज्ञानके लिए एक बात सच्ची हो सकती है, किन्तु वही बात धर्मके अनुसार असत्य हो सकती है। सत्यका साक्षात्कार इन्द्रियो और अनुभवसे नही, बल्कि आत्मासे होता है। शिव (=अच्छा)

---

१. William of Wykeham.

सत्यसे ऊपर है, और शिव वही है, जिसके लिए भगवान्‌का वैसा आदेश है। मनुष्यका कर्त्तव्य है, भगवान्‌की आज्ञाका पालन करना। बुरे समझे जानेवाले कर्म भी अच्छे हो जाते हैं, यदि वह भगवान्‌की सेवाके लिए हों। चर्च या धर्म-सम्प्रदायके द्वारा ही हमें भगवान्‌का आदेश मिलता है, इसलिए धर्मके हिमायतियोंका कहना था, कि चर्च और उसका अध्यक्ष पोप पृथ्वीपर वही अधिकार रखते हैं, जो भगवान् ईसामसीह विश्व-पर।

(३) रेमोंद मार्तिनी—अक्विना के बाद रेमोंद मार्तिनी दोमिनिकनोंकी ओरसे विशवाद और रोश्दके विरोधका आरंभ हुआ। इसने अपने काममें ग़ज़ालीकी पुस्तकोंसे मदद ली; यद्यपि ग़ज़ाली स्वयं सूफ़ी अद्वैतवादी था, किन्तु उसके चूँचूँके मुरब्बेमें क्या नही था? मार्तिनी इस अन्दाजमें सबके बहुत करीब था, कि रोश्दने अपने अद्वैत विज्ञान (वहदत्-अक्ल) वादको अरस्तूसे नहीं अफलातूँसे लिया।

(४) रेमोंद लिली—(१२२४-१३१५ ई०)—इस्लामी जहादोंके जवाबमें प्रारंभ हुई ईसाई जहादोंकी बात हम कह चुके हैं। बारहवीं-तेरहवीं सदियोंमे जहाँ बाहरी दुनियामें ये जह्राद चल रहे थे, वहाँ भीतरी दुनियामें भी विचारात्मक जहाद चल रहे थे, जिसे कि लाखों स्त्री-पुरुषोंकी नास्तिक और जादूगर होने के एल्जाममें जलाये जानेके रूपमें देखते हैं। [हमे इसके लिए यूरोपवालोंको ताना देनेका हक नही है, क्योकि वाण (६०० ई०) की तीव्र आलोचनासे लेकर बेंटिक (१८२९ ई०) के सती कानून तकमें धर्मके नामपर पागल करके जिन्दा जलाई जानेवाली स्त्रियोंकी तादाद गिनी जाये तो वह उससे कई गुना ज्यादा होती है]—कही रॉजर बैकनकी पुस्तकोंके जलाये जाने के रूपमे और कही दोमिनिकन और फ्रांसिस्कनके वाद-विवादके रूपमे। रेमोंद लिली ऐसे ही समयमें इतालीके एक समृद्ध परिवारमें पैदा हुआ था। पहिले तो उसका जीवन बहुत विलासिता-पूर्ण रहा, किन्तु यकायक उसने अपनेको सुधारा, और उसे धुन सवार हो गई, कि इस्लामको दुनियासे नेस्तनाबूद करना चाहिए। वह यूरोपके

सारे ईसाइयोंको सलीबी लड़ाइयोंमें शामिल देखना चाहता था। इसके लिए उसने १२८७ ई० में पोप होनोरियस्[1]के दरबार में पहुँचकर अपने विचार रखे—इस्लामको खतम करनेके लिए एक भारी सेना तैयार की जाये, इस्लामी देशोंमे काम करने लायक विद्वानोंको तैयार करने के लिए विश्व-विद्यालय कायम किये जायें, और रोश्दकी पुस्तकोंको धर्म-विरोधी घोषित कर दिया जाये। वहाँ सफल न होनेपर उसने फ्रांस, इताली, स्विटजरलैंड आदिमे इसके लिए दौरा किया। १३११ ई० मे ईसाइयोंकी एक बड़ी सभा विएना[2] (आस्ट्रिया) में हुई, वहाँ भी वह पहुँचा, किन्तु वहाँ भी असफल रहा। इसी निराशामें वह १३१५ ई० मे मर भी गया। रेमोंद विद्वान् था, उसने रोश्द और दूसरे दार्शनिकोंकी पुस्तकोंको पढ़ा था, और कुछ लिखा भी था, इसलिए उसके इस्लाम-विरोधी विचार-बीज धरतीमे पड़े हुए समयकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

§३. इस्लामी दर्शन और विश्वविद्यालय

१—पेरिस और सोरबोन्

फ्रांसिस्कन सम्प्रदायका कार्यक्षेत्र अपने गढ़ आक्सफोर्डसे इगलैंड भर हीमे सीमित था। पश्चिमी यूरोपमें इस्लामिक दर्शनका प्रचारकेन्द्र पेरिस था। पेरिसमे एक बडा सुभीता यह भी था, कि यहाँ स्पेनसे प्रवासित उन यहूदियोंकी एक काफी संख्या रहती थी, जिन्होंने रोश्द तथा दूसरे दार्शनिकोंके ग्रंथोको अरबीसे अनुवाद करनेमें बहुत काम किया था। रोश्द-दर्शनके समर्थकों और विरोधियोंके यहाँ भी दो गिरोह थे। सोरबोन् विश्वविद्यालय रोश्द-विरोधियोका गढ़ था, और पास ही पेरिस-विश्व-विद्यालय समर्थकोंका। पेरिसके कला (आर्ट)-विभागका प्रधानाध्यापक

---

१. Honerius IV (Giacomo Savelli).

२. Vienna.

सीवर ब्राबंत (मृ० १२८४ ई०) रोश्दका जबर्दस्त हामी था। अपने इन विचारोंके लिए धर्म-विरोधी होनेके अपराधमें उसे जेल भेज दिया गया, और ओर्वीतोके[1] जेलमें उसकी मृत्यु हुई। अब भी पेरिसमें उसकी दी हुई अरबीकी दार्शनिक पुस्तकोंकी काफी संख्या है।

पेरिस विश्वविद्यालयके विरुद्ध सोरबोन् धर्मवादियोंका गढ़ था—और शायद इसीलिए आज भी वह भाग (जो कि अब पेरिस नगरके भीतर आगया है) लातीनी मुहल्ला कहा जाता है। सोरबोन्‌पर पोपकी विशेष कृपा होनी ही चाहिए, और उसी परिमाणमें पेरिसपर कोप। सोरबोन्-वालोंकी कोशिशसे पोपने पेरिस विश्वविद्यालयके नाम १२१७ ई० में फर्मान निकाला कि ऐसे शास्त्रार्थ न किये जायें, जिनमें फसादका डर हो। वस्तुतः यह फर्मान अरबी दर्शन संबंधी वाद-विवादको रोकनेका एक बहाना मात्र था। पीछेके पोपोंने भी इस तरहके फर्मान जारी करके अरबी दर्शन अध्ययनाध्यापनको ही धर्म-विरुद्ध ठहरा दिया। १२६९ ई० में सोरबोन्‌वालोंकी कोशिशसे एक धर्म-परिषद् बुलाई गई, जिसमें निम्न सिद्धान्तोंके माननेवालोंपर नास्तिकताका फतवा दे दिया—

(१) सभी आदमियोंमे एक ही विज्ञान है;
(२) जगत् अनादि है;
(३) मनुष्यका वंश किसी बाबा आदम तक खतम नहीं हो जाता,
(४) जीव शरीरके साथ नष्ट हो जाता है;
(५) ईश्वर व्यक्तियोंका ज्ञान नहीं रखता;
(६) बंदों (=आदमियों) के कर्मपर ईश्वरका कोई अधिकार नहीं;
(७) ईश्वर नश्वर वस्तुको नित्य नहीं बना सकता।

यह सब कुछ होनेपर भी पेरिस-विश्वविद्यालयमें इस्लामिक दर्शनका अध्ययन बंद नहीं हुआ।

---

१. Orbieto.

२—पदुआ विश्वविद्यालय

यूरोपमे सिसली द्वीप और स्पेन इस्लामिक शासन-केन्द्र थे, इसलिए इनके ही रास्ते इस्लामिक विचारो (दर्शन) का भी यूरोपमें पहुँचना स्वाभाविक था। सिसली द्वीप इतालीके दक्षिणमे है, यहाँ से ही से वे विचार इतालीमे पहुँचे, उनके स्पेनसे फ्रास जानेकी बात हो चुकी है। इतालीमें भी पदुआके विद्यापीठने इस्लामिक दर्शनके अध्ययन द्वारा अपनी कीर्तिको सारे यूरोपमे फैला दिया।—खासकर रोश्द के दर्शनके अध्ययनके लिए तो यह विश्वविद्यालय सदियो तक प्रसिद्ध रहा। यहाँ रोश्दपर कितने ही विवरण और टीकायें लिखी गईं। तेरहवीं सदीसे रोश्दके दर्शनके अन्तिम आचार्य दे-क्रिमोनी (मृत्यु १६३१ ई०) तक यहाँ इस्लामिक दर्शन पढाया जाता रहा। यहाँके इस्लामिक दर्शनके प्रोफेसरोंमे निम्न नाम बहुत प्रसिद्ध है—

पीतर-द-बानो
जीन दे-जाँदन
फ़ा अरबानो
पाल दी-वेनिस्—(मृत्यु १४२९ ई०)
गाइतनो—(मृत्यु १४६५ ई०)
इलियास् मदीजू—(१४७७ ई)
बेरोना
ज़ाबीला—(१५६४-८९ ई०)
पदेसियो
सीजर क्रिमोनी (मृ० १६३१ई०)

सोलहवी सदीमे इब्न-रोश्दकी पुस्तकोके नये लातीनी अनुवाद हुए, इस काममे पदुआका खास हाथ रहा। इन अनुवादकोमे पदुआका प्रोफेसर वेरोना भी था, जिसने कुछ पुस्तकोका अनुवाद सीधे यूनानीसे किया था।

पंदेसियोंके व्याख्यानोंके कितने ही पुराने नोट अब भी पेदुआके पुस्तकालयमें मौजूद हैं।

[क्रिमोनी]—आबीलाका शागिर्द सीज़र क्रिमोनी इस्लामिक दर्शनका अन्तिम ही नहीं, बल्कि वह बहुत योग्य प्रोफ़ेसर भी था। इसके लेक्चरोंके भी कितने ही नोट उत्तरी इतालीके अनेक पुस्तकालयोंमें मिलते हैं। आबीलाकी भाँति इसका भी मत था, कि ग्रह नक्षत्रोंकी गतिके सिवा ईश्वरके अस्तित्वका कोई सबूत नहीं। रोश्दकी भाँति यह भी मानता था, कि ईश्वरको सिर्फ़ अपना ज्ञान है, उसे व्यक्तियोंका ज्ञान नहीं है। मनुष्यमें सोचनेकी शक्ति कर्त्ता-विज्ञानसे आती है। यह ऐसे विचार थे, जिन्हें ईसाई-धर्म नास्तिकता कहता था। क्रिमोनी उनसे बचनेकी कोशिश कैसे करता था, इसका उदाहरण लीजिए[1]—"इस पुस्तकमें मैं यह कहना नहीं चाहता, कि जीवके बारेमें हमारा क्या विश्वास होना चाहिए। यहाँ मैं सिर्फ़ यह बतलाना चाहता हूँ, कि जीवके बारेमें अरस्तूके क्या विचार थे। यह स्मरण रहे कि दर्शनकी आलोचना मेरा काम नहीं है, इस कामको सन्त तामस् आदिने अच्छी तरह पूरा किया है।" लेकिन इसपर भी ३ जुलाई १६१९ ई० को उसके नाम पदुआके सरकारी अफसरका हुक्मनामा आया—"लैतरन कौंसिल सारे प्रोफ़ेसरोंको सजग करती है, कि दर्शनके जो सिद्धान्त धर्मके खिलाफ़ हैं, (पढ़ाते वक़्त) उनका खंडन भी वह करते जायें; और जब किसी विषयका उद्धरण देने लगें तो इस बातका ख्याल रखें, कि विद्यार्थियोंपर उसका बुरा असर न पड़े। चूँकि आप इस आज्ञाका ख्याल नहीं रखते, इसलिए मेरा फ़र्ज़ है, कि मैं बार-बार आपका ध्यान इधर आकर्षित करता रहूँ।" क्रिमोनीने इसके उत्तरमें एक लंबा पत्र लिखा—"मुझे विश्वविद्यालयकी ओरसे सिर्फ़ इसलिए वेतन मिलता है, कि मैं अरस्तूके दर्शनकी शिक्षा दूँ। यदि विश्वविद्यालय इस कामकी जगह कोई दूसरा काम लेना चाहता है, तो मैं त्यागपत्र देनेके लिए तैयार

---

१. रोश्दके "किताबुन्" नफ़्स की व्याख्याकी भूमिका।

हूँ, वह स्वतंत्र है किसी दूसरेको उस कामपर लगाले। मैं तो जबतक प्रोफ़ेसरके पदपर रहूँगा, अपने पद-कर्त्तव्यके विरुद्ध कोई काम नहीं कर सकता।"

क्रिमोनीकी मृत्यु (१६३१ ई०) के साथ इस्लामिक दर्शनका ही पठन-पाठन खतम नही होता, बल्कि पुरानी दुनिया ही बदल जाती है। क्रिमोनीके बाद लसीतो (मृत्यु १६५६ ई०) प्रोफेसर हुआ, जिसपर नवीन दर्शनका प्रभाव दिखाई देने लगता है। उसके बाद बेगार्द प्राचीन यूनानी दर्शनकी पढ़ाई करता है। १७०० ई० मे फार्देलाके साथ पदुआमे पुराना सिल-सिला टूट जाता है, और वहाँ प्राचीन दर्शनकी जगह दे-कार्तका दर्शन पाठ्य-पुस्तकोंमे दाखिल होता है।

§ ४. इस्लामी दर्शन का यूरोप में अन्त

दन स्कातस्ने किस तरह रोश्दकी शिक्षाको मनुष्यतासे गिरी हुई बतलाया, यह हम कह चुके हैं। इसकी वजहसे रोश्द जहाँ धार्मिक क्षेत्रमें बदनाम हुआ, वहाँ हर तरहकी स्वतंत्रताके चाहनेवाले लोग—खासकर बुद्धिस्वातंत्र्यवादी—रोश्दके झंडेके नीचे खड़े होने लगे, और रोश्दके नामपर जगह-जगह दल बनने लगे। इन्हीं दलोंमेंसे एक उन लोगोका था, जिन्होंने अपना नाम "स्वतंत्रताके पुत्र" रखा था। ये लोग विश्वको ही ईश्वर मानते थे, और विश्वकी चीज़ोंको उसका अंश। ईसाई चर्चके न्यायालयोसे इनको आगमे जलानेकी सजा होती थी और ये लोग खुशी-खुशी आगमे गिरकर जान दे देते थे। "स्वतंत्रताके पुत्रों" मे बहुत-सी स्त्रियाँ भी शामिल थीं, उन्होने भी अग्निपरीक्षा पास की।

पादरी लोग इस अधार्मिकताके ज़िम्मेवार फ्रेडरिक और इब्नरोश्दको ठहराते थे। तो भी इस विरोधसे रोश्दके दर्शन—अथवा पुराने दर्शन—का कुछ नही बिगड़ा।

चौदहवी सदीमे तुर्कोंने बिजन्तीनके ईसाई राज्यपर आक्रमण कर अधिकार जमाना शुरू किया। हर ऐसे युद्ध—राजनीतिक अशांति—में

लोगोंका तितर-बितर होना जरूरी है। कुस्तुन्तुनिया (आजका इस्ताबूल) का नाम उस वक्त बिजन्तीन था, और प्राचीन रोमन सल्तनतके उत्तराधिकारी होनेसे उसका जहाँ सम्मान ज्यादा था, वहाँ वह विद्या और संस्कृतिका एक बड़ा केन्द्र भी था। ईसाई धर्मके दो सम्प्रदायों—उदार (=कैथलिक) और सनातनी (=आर्थोडाक्स)—में सनातनी चर्चका पेत्रियार्क (=महापितर या धर्मराज) यहीं रहता था। जिस तरह कैथलिक चर्चकी धर्मभाषा लातीनी थी, उसी तरह पूर्वी सनातनी चर्चकी धर्मभाषा यूनानी थी। तुर्कोंके इस आक्रमणके समय वहाँसे भागनेवालोंमें कितने ही यूनानी साहित्यके पंडित भी थे। वे बहुमूल्य प्राचीन यूनानी पुस्तकोंके साथ पूर्व से भागकर इतालीमें आ बसे। इन पुस्तकोंको देखकर वहाँ पंडितोंकी आँखें खुल गईं; यदि जैसे मानो तिब्बती चीनी अनुवादों-दर-अनुवादोंके सहारे पढ़ते रहनेवाले भारतीय विद्वानोंके हाथमें असंगकी "योगचर्या भूमि"[1] वसुबंधुकी "वादविधि" दिग्नागका "प्रमाणसमुच्चय", धर्मकीर्तिका "प्रमाणवार्तिक"[2] और "प्रमाणविनिश्चय" मूल संस्कृतमें मिल जावें। अब लोगोंको क्या जरूरत थी, कि वे मूल यूनानी पुस्तकको छोड़ यूनानी न जाननेवाले लेखकोंकी टीकाओं और संक्षेपोंकी मददसे उन्हें पढ़नेकी कोशिश करें।

पिदारक (१३०४-७४ ई०)—रेमोंद लिली (१२२४-१३१५) ने इस्लाम को उखाड़ फेंकनेकी बहुत कोशिश की थी, किन्तु वह उसमें सफल नहीं हुआ, तो भी उसकी वसीयतके एक हिस्से—यूरोपसे इस्लामिक दर्शनके अध्ययनाध्यापनको खतम करने—की पूर्तिकेलिए तस्केनीमें पिदारकका जन्म हुआ। बापने उसे वकील बनाना चाहा था, किन्तु उसका उसमें दिल नहीं लगा, और अन्तमें वह वेदुआमें आगया। पिदारक लातीनी और यूनानी भाषाओंका पंडित था, दर्शन और आचार-शास्त्रपर उसकी पुस्तकें

---

१. मूल संस्कृत पुस्तक मुझे तिब्बतमें मिली है।

२. तिब्बत और नेपालमें मिली, और इसे मैंने सम्पादित भी कर दिया है।

आज भी मौजूद हैं। "जहादवाद" ने यूरोपके दिमागपर कितना जहरीला असर किया था, यह पिदारकके इस विचारसे मालूम होगा : अरबोंने कला और विद्याकी कोई सेवा न की, उन्होंने यूनानी संस्कृति और कलाकी कुछ बातोंको कायम ज़रूर रखा। पिदारक कहता था कि जब यूनानी संस्कृति और विद्याकी मूल वस्तुएँ हमे प्राप्त हो गई हैं, तो हमें अरबोंकी जूठी पत्तल चाटनेसे क्या मतलब। अरबोंसे उसे कितनी चिढ़ थी, यह उसके एक पत्रसे पता लगेगा, जिसे उसने अपने एक मित्रको लिखा था—"मैं तुमसे इस कृपा-की आशा रखता हूँ, कि तुम अरबोंको इस तरह भुला दोगे, जैसे ससारमें उनका अस्तित्व कभी था ही नही। मुझे इस जातिकी जातिसे घृणा है। यह भलीभाँति याद रखे, कि यूनानने दार्शनिक, वैद्य, कवि और वक्ता पैदा किये। दुनियाकी वह कौनसी विद्या है, जिसपर यूनानी विद्वानोंकी पुस्तकें न मौजूद हो। लेकिन अरबोंके पास क्या है?—सिर्फ दूसरोकी बची-खुंची पूंजी। मै उनके यहाँके वैद्यो, दार्शनिको, कवियोसे भली प्रकार परिचित हूँ, और यह मेरा विश्वास है, कि अरब कौमसे कभी भलाईकी उम्मीद नही की जा सकती। . . . तुम हो बताओ, यूनानी भाषाके वक्ता देमस्थनीजके बाद सिसरो, यूनानी कवि होमरके बाद वर्जिल, यूनानी ऐतिहासिक हेरोदोतस्के बाद तीतस् लेवीका जन्म दुनियामे कहा हुआ? . . हमारी जाति के काम बाज बातोमे दुनियाकी सभी जातियोके कारनामोसे बढ-चढकर है। यह क्या बेवकूफ़ी है, कि अपनेको अरबोसे भी हीन समझते हो। यह क्या पागलपन है, कि अपने कारनामोको भुलाकर अरबोकी स्तुति—प्रशंसा—के नशेमें डूब गये हो। इतालीकी बुद्धि और प्रतिभा! क्या तू कभी गाढ निद्रासे नहीं जागेगी?"

पिदारकके बाद "इतालीकी प्रतिभा" जगी, और यूनानी दर्शनके विद्वानोने—जो कि पूरबसे भाग-भागकर आये थे—जगह-जगह ऐसे विद्यालय स्थापित किये, जिनमे यूनानी साहित्य और दर्शनकी शिक्षा सीधे यूनानी पुस्तकोसे दी जाती थी। आरम्भके यूनानी अध्यापकोंमें गाजा

(मृ० १४७८ ई०) जार्ज द्रे-बेपरविद (मृत्यु १४८४ ई०) जार्ज स्कोला-रियस् ज्यादा प्रसिद्ध हैं।

४ नवम्बर सन् १४९७ ई० की तारीख पदुआ और इतालीके इतिहासमें अपना "खास" महत्त्व रखती है। इसी दिन प्रोफ़ेसर ल्युनियस्ने पदुआके विश्वविद्यालय-भवनमें अरस्तूके दर्शनको उस भाषा द्वारा पढ़ाया, जिसमें अठारह सौ साल पहिले खुद अरस्तू अथेन्समें पढ़ाया करता था। प्राचीनता-पंथियोंको गर्व हुआ कि उन्होंने कालकी सुईको पीछे लौटा दिया, किन्तु वह उनके बसकी बात नहीं थी, इसे इतिहासने आगे साबित किया।

४ नवम्बर १४९७ ई० के बाद भी रोश्दका पठन-पाठन पदुआमें भी जारी रहा यह बतला चुके हैं। सत्रहवीं सदीमे जेसुइत-पंथियोंने रोश्दपर भी हमला शुरू किया, किन्तु सबसे जबर्दस्त हमला जो चुपचाप हो रहा था; वह था साइंसकी ओरसे, गेलेलियोकी दूरबीन, न्यूटनके गुरुत्वाकर्षण और भापके इंजनके रूपमें।

३

यूरोपीय दर्शन

अध्याय १०

३. यूरोपीय दर्शन

सत्रहवीं सदीके दार्शनिक

(विचार-स्वातंत्र्यका प्रवाह)

[ल्योनार्दो दा-विन्ची[1] (१४५२-१५१९)]—नवीन यूरोपके स्वतंत्र-विचारक और कलाकारका एक नमूना था दा-विन्ची; जिसकी कला (चित्र) मे ही नही, लेखोंमें भी नवयुगकी ध्वनि थी, किन्तु वह अपने ग्रंथोंको उस वक़्त प्रकाशित कर पोप और धर्माचार्योंके कोपका भाजन नहीं बनना चाहता था, इसलिए उसके वैज्ञानिक ग्रन्थ उस वक्त प्रकाशमे नहीं आये।

१४५५ ई० में छापेका आविष्कार ज्ञानके प्रचारमें बड़ा सहायक साबित हुआ, निश्चय ही छापेके बिना पुस्तकों द्वारा ज्ञानका प्रचार उतनी शीघ्रतासे न होता, जितना कि वह हुआ। पोप-पुरोहित परिश्रमसे देरमे लिखी दो-चार कापियोंको जलवा सकते, किन्तु छापेने सैकड़ो हजारों कापियोंको तैयार कर उनके प्रयत्नको बहुत हद तक असफल कर दिया।

पन्द्रहवी-सोलहवी सदियाँ हमारे यहाँ सन्तों और सूफियोंको पैदा कर दुनियाकी तुच्छता—अतएव दुनियाकी समस्याओंको भुलाने—का प्रचार कर रही थीं; लेकिन इसी समय यूरोपमें बुद्धिको धर्म और रूढ़ियोंसे स्वतंत्र

---

१. Leonardo da Vinci.

करनेका प्रयत्न बहुत जोखिम उठाकर हो रहा था। लारेंजोवाला (१४०८-५७ ई०) ने खुलकर शब्दोके धनी धर्म-रूढ़िके हिमायती दार्शनिकोंपर प्रहार किया। उसका कहना था, शब्दोके दिमाग़ी तर्कको छोड़ो और सत्यकी खोजके लिए वस्तुओके पास जाओ। कोलम्बस (१४४७-१५०६), वास्को-दा-गामा (१४६९-१५२४) ने अमेरिका और भारतके रास्ते खोले। परासेल्सस् (१४९३-१५४१) और फ़ान् हेल्मोन्ट (१५७७-१६४४) ने पुस्तक पत्रेकी गुलामीको छोड प्रकृतिके अध्ययनपर जोर दिया। उस वक्तके विश्वविद्यालय धर्मकी मुट्ठीमे थे, और साइस-सबंधी गवेषणाके-लिए वहाँ कोई स्थान न था, इसीलिए साइसकी खोजोंके लिए स्वतंत्र सस्थाएँ स्थापित करनी पडी। लेलेसिओ (१५७७-१६४४) ने ऐसी गवेषणाओके लिए नेपल्समे पहिली रसायनशाला खोली। १५४३ में वेसालियस् (१५१५-६४ ई०) ने शरीरशास्त्रपर साइंस सम्मत ढंगसे पहिली पुस्तक लिखी, इसमे उसने कल्पनाकी जगह हर बातको शरीर देखकर लिखनेकी कोशिश की। धर्म बहुत परेशानीमे पड़ा हुआ था, वह मृत्युके डरसे साइसकी प्रगतिको रोकना चाहता था। १५३३ ई० में सर्वेतस् और १६०० ई० मे ग्योर्दिनो ब्रूनो आगमे जलाकर साइंसके शहीद बनाये गये। यह वह समय था, जब कि भारतमें अकबर उदारतापूर्वक साइसवेत्ताओके खूनके प्यासे इन ईसाई पुरोहितो और दूसरे धर्मियोंके साथ समानताका बर्ताव करते हुए सबकी धार्मिक शिक्षाओको सुनता तथा एक नये धर्म द्वारा उनके समन्वय करनेके प्रयत्नमें लगा हुआ था। सोलहवी सदीके पोथी-विरोधी प्रयोग-हिमायती विद्वानोंमे "मोंताञ्"[१] (१५५३-१५९२), तायचो ब्राहे (१५४६-१६०१) के, सांशेज[२] (१५६२-१६३२) के नाम खास तौरसे उल्लेखनीय हैं।

पन्द्रहवी सदीके विचार-स्वातत्र्य और सोलहवी सदीके भौगोलिक, खगोलिक आविष्कारोने कूप-मडूकताके दूर करनेमे बहुत मदद की, और

---

१. Montaigne. २. Sanchez.

इस प्रकार सत्रहवीं सदीके यूरोपमें कुछ खुली हवा सी आने लगी थी। इस वक्तके दार्शनिकोंकी विचारधारा दो प्रकारकी देखी जाती है। (१) कुछका कहना था, कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और तजर्बा (प्रयोग) ही ज्ञानका एक-मात्र आधार है, इन्हें **प्रयोगवादी** कहते हैं। बेकन, हाब्स, लॉक्, बर्कले, ह्यूम, प्रयोगवादी दार्शनिक थे; (२) दूसरे दार्शनिक ज्ञानको इन्द्रिय या प्रयोगगम्य नहीं बुद्धिगम्य मानते थे। इन्हें **बुद्धिवादी** कहा जाता है; द-कार्त, स्पिनोज़ा, लाइप्निट्ज़, इस प्रकारके दार्शनिक थे।

§ १. प्रयोगवाद[1]

प्रयोगवाद प्रयोग या तजर्बेको ज्ञानका साधन बतलाता है, किन्तु प्रयोगके जरिए जिस सच्चाईको वह सिद्ध करता है, वह केवल भौतिक तत्त्व, केवल विज्ञानतत्त्व—अर्थात् अद्वैत भी हो सकता है—अथवा भौतिक और विज्ञान दोनों तत्त्वोंको माननेवाला द्वैतवाद भी। हॉब्स-टोलैण्ड, अद्वैती-भौतिकवादी थे, स्पिनोज़ा अद्वैती-विज्ञानवादी; और बेकन, द-कार्त,[2] लीब्नितज़[3] द्वैतवादी थे।

१ – अद्वैत-भौतिकवाद

(१) हॉब्स (१५८८-१६७९ ई०) टामस हॉब्सने अध्ययन आक्सफोर्डमें किया। पेरिसमें उसका परिचय देकार्तसे हुआ। जो देश उद्योगधंधे और पूंजीवादका बानी बनने जा रहा था, यह जरूरी था, कि उसका नंबर स्वतंत्र-विचारकोंमें भी पहिला हो; इसलिए सत्रहवीं सदीके आरंभमें फ़ांसिस बेकन (१५६१-१६२६) का विचार-स्वातंत्र्यका प्रचार और मध्ययुगीनताका विरोध करना; तथा हॉब्स, लॉक[4] जैसे दार्शनिकोंका

---

१. Empiricism. २. Descartes.
३. Leibnitz. ४. Locke.

उसे आगे बढ़ाना, कोई आकस्मिक घटना न थी। बैकन दार्शनिक विचारोंमें प्रगतिशील था, किन्तु यह जरूरी नहीं है, कि दार्शनिक प्रगतिशीलता राजनीतिमें भी वही स्थान रखे। जब इंगलैंडमें सामन्तवादके खिलाफ क्रामवेलके नेतृत्वमें जनताने क्रान्तिका झंडा उठाया, तो हॉब्स क्रान्ति-विरोधियोंके दलमें था। ३० जनवरी १६४९ को शाहबहाँके समकालीन राजा चार्लसका शिरच्छेदकर जनताने सामन्तवादियोंपर विजय पाई। हॉब्स जैसे कितने ही व्यक्ति उससे सन्तुष्ट नहीं हुए। नवम्बर १६५१ में हॉब्स फ्रांस भाग गया, लेकिन उसे यह समझनेमें देर न लगी, कि गुजरा जमाना नहीं लौट सकता, और उसी साल लौटकर उसने अधिनायक ओलिवर क्रामवेल (१५९९-१६५८) से समझौता कर लिया।

हॉब्स लोकोत्तरवादका विरोधी था। उसके अनुसार दर्शन कारणोंसे कार्य और कार्योंसे कारणके ज्ञानको बतलाता है। हम इन्द्रियोंके साक्षात्कार द्वारा वस्तुका ज्ञान (-सिद्धान्त) प्राप्त कर सकते हैं; या इस प्रकारके सिद्धान्तसे वस्तुके ज्ञानको भी पा सकते हैं।

दर्शन गति और क्रियाका विज्ञान है, ये गति-ज्ञान प्राकृतिक पिंडोंके भी हो सकते हैं, राजनीतिक पिंडोंके भी। मनुष्यका स्वभाव, मानसिक जगत्, राज्य, प्राकृतिक घटनाएँ उन्हीं गतियोंके परिणाम हैं।

ज्ञानका उद्गम इन्द्रियोंकी वेदना (=प्रत्यक्ष) है, और वेदना मस्तिष्क या किसी इसी तरहके आभ्यन्तरिक तत्त्वमें गतिके सिवा और कुछ नहीं है। जिसे हम मन कहते हैं, वह मस्तिष्क या सिरके भीतर मौजूद इसी तरहके किसी प्रकारके भौतिक पदार्थकी गतिमात्र है। विचार या प्रतिबिंब, मस्तिष्क और हृदयकी गतियाँ—अर्थात् भौतिक पदार्थोंकी गतियाँ—है। भौतिक तत्त्व और गति ये मूलतत्त्व हैं, वे जगत्‌की हर एक वस्तु—जड, चेतन सभी—की व्याख्या करनेके लिए पर्याप्त हैं।

हॉब्सने ईश्वरके अस्तित्वका साफ तौरसे इन्कार नहीं किया, उसका कहना था कि मनष्य "ईश्वरके बारेमे कुछ नहीं जान सकता।"

अच्छा, बुरा—पाप, पुण्य—हॉब्सके लिए सापेक्ष बातें हैं, कोई परमार्थतः न अच्छा है न परमार्थतः बुरा।

हॉब्स अरस्तूकी भाँति मनुष्यको सामाजिक प्राणी नहीं, बल्कि "मानव भेड़िया" कहता था। मनुष्य हमेशा धन, मान, प्रभुता, या शक्तिकी प्रतियोगितामें रहता है; उसका झुकाव अधिकके लोभ तथा द्वेष और युद्धकी ओर होता है। जब उसके रास्ते में दूसरा प्रतियोगी आता है, तो फिर उसे मार डालने, अधीन बना लेने, या भगा देनेकी कोशिश करता है।

(२) **टोलैंड (१६७०-१७२१ ई०)**—हॉब्सकी भाँति उसका देशभाई टोलैंड भी भौतिकवादका हामी, तथा बर्कलेके विज्ञानवादका विरोधी था। भौतिक तत्त्व गतिशून्य नहीं बल्कि सक्रिय द्रव्य या शक्ति हैं। भौतिक तत्त्व शक्ति है, और गति, जीवन, मन, सब इसी शक्तिकी क्रियाएँ हैं। चिन्तन उसी तरह मस्तिष्ककी क्रिया है, जिस तरह स्वाद जिह्वाका।

२ — अद्वैत-विज्ञानवाद

स्पिनोजा (१६३२-७७ ई०)—बारुच दे-स्पिनोजा हालैंडमें एक धनी यहूदी परिवारमें पैदा हुआ था। उसने पहिले इब्रानी साहित्यका अध्ययन किया, पीछे फ्रेंच दार्शनिक द-कार्तके ग्रंथोंको पढ़कर उसकी प्रवृत्ति स्वतंत्र दार्शनिक चिन्तनकी ओर हुई। उसके धर्मविरोधी विचारोंसे उसके सधर्मी नाराज हो गये और उन्होंने १६५६ ई० में उसे अपने धर्म-मन्दिरसे निकाल बाहर किया, जिससे स्पिनोजाको अम्स्टडम् छोड़नेपर बाध्य होना पड़ा। जहाँ-तहाँ धक्के खाते अन्तमें १६६९ में (औरंगजेबके शासनारंभ कालमें) वह हागमें जाकर बस गया, जहाँ उसकी जीविकाका जरिया चश्मेके पत्थरोंको घिसना था। शताब्दियों तक स्पिनोजाको नास्तिक समझा जाता था, और ईसाई, यहूदी दोनों उससे घृणा करनेमें होड़ लगाये हुए थे।

स्पिनोजा पहिला दार्शनिक था, जिसने मध्यकालीन लोकोत्तरवाद तथा धर्म-रूढ़िवादको साफ़ शब्दोंमें खंडन करते हुए बुद्धिवाद और प्रकृतिवादका जबर्दस्त समर्थन किया: हर तरहके शास्त्र या धर्म-ग्रंथके प्रमाणसे बुद्धि

ज्यादा विश्वसनीय प्रमाण है। धर्मग्रथोको भी सच्चा साबित होनेके लिए उसी तरह बुद्धिकी कसौटीपर ठीक उतरना होगा, जिस तरह कि दूसरे ऐतिहासिक लेखो या ग्रथोको करना पडता है। बुद्धिका काम है यह जानना कि, भिन्न-भिन्न वस्तुओंमे आपसका क्या सबध है। प्राकृतिक घटनाएँ परस्पर संबद्ध हैं। यदि उनकी व्याख्याके लिए प्रकृतिसे परे की किसी लोकोत्तर चीजको लाते हैं, तो वस्तुओका वह आन्तरिक सबध विच्छिन्न हो जाता है, और सत्य तक पहुँचनेके लिए जो एक जरिया हमारे पास था, उसे ही हम खो देते है। इस तरह बुद्धिवाद और प्रकृतिवाद (=भौतिकवादी प्रयोगवाद) दोनोका हम स्पिनोजाके दर्शनमे समिश्रण पाते हैं। लेकिन स्पिनोजाके प्रकृति (=भौतिक)-वाद और हॉब्सके भौतिकवादमें अन्तर है। हॉब्स शुद्ध भौतिकवादी था। वह सबकी व्याख्या भौतिक तत्वों और उसकी शक्ति या गतिसे करता था; किन्तु इसके विरुद्ध स्पिनोजा स्तोइको या ब्रह्म-जगत्-अद्वैतवादी वेदान्तियोंकी भाँति "यह सब ईश्वर (=ब्रह्म) है, और ईश्वर (=ब्रह्म) यह है।" इस तरह उसका जोर भौतिकतत्त्वपर नही बल्कि आत्मतत्त्वपर था।

(परमतत्त्व)—एक सान्त वस्तु अपनी सत्ताके लिए दूसरे अनगिनित तत्त्वोपर निर्भर है, और इन आधारभूत तत्त्वोंमेंसे भी प्रत्येक दूसरे अनगिनित तत्त्वोपर निर्भर हैं। इस तरह एकका आधार दूसरा, दूसरेका आधार तीसरा .. मानते जानेपर हम किसी निश्चयपर नहीं पहुँच सकते। कोई ऐसा तत्त्व होना चाहिए, जो स्वयसिद्ध, स्वय अपना आधार हो, जो सभी आधेयो, घटनाओंको अवलम्ब दे। लेकिन, ऐसे स्वत: सिद्ध तत्त्वके ढूँढनेके लिए हमे प्रकृतिसे परे किसी स्रष्टाकी जरूरत नहीं। प्रकृति या सृष्टि स्वय इस काम तथा ईश्वरकी आवश्यकताको पूरी करती है। इस तरह प्रकृति या ईश्वर स्वय सर्वमय, अनन्त और पूर्ण है, इससे परे कुछ नहीं है, न कोई लोकोत्तर तत्त्व है। प्रकृति भी गतिशून्य नहीं बल्कि सक्रिय परिवर्तनशील है—सभी तरहकी शक्तियाँ वही है। हर एक अंतिम शक्ति, ईश्वरका गुण है। मनुष्य इन गुणो से सिर्फ़ दो गुणोंको जानता है—विस्तार

(=परिमाण) और चिन्तन; और यही दोनों हैं भौतिक और मानसिक शक्तियाँ। सभी भौतिक पिंड और भौतिक घटनाएं विस्तार-गुणकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं, और सभी मन तथा मानसिक अनुभव चिन्तन गुणकी। चूँकि, विस्तार और चिन्तन दोनों एक परमतत्त्वके गुण हैं—इस लिए भौतिक मानसिक पदार्थोंके संबंधमें कोई कठिनाई नहीं है। जितनी सान्त स्थितियाँ हमें दृष्टिगोचर होती हैं, वह भ्रम या माया नहीं बल्कि वास्तविक हैं—उस वक्त जब कि वह घटित हो रही हैं, और उस वक्त भी जब कि वह लुप्त होती हैं, तब भी उनका अत्यंताभाव नहीं होता, क्योंकि वह एक परमतत्त्व मौजूद रहता है, जिसमें कि अनेक बदलते और फिर बदलते रहते हैं।

३ – द्वैतवाद

लॉक (१६३२-१७०४ ई०)—जॉन लॉकने आक्सफोर्डमें दर्शन, प्राकृतिक विज्ञान और चिकित्साका अध्ययन किया था। बहुत सालों तक (१६६६-८३ ई०) इंगलैंड के एक रईस (अर्ल शाफ्टसबरी) का सेक्रेटरी रहा।

प्रयोग या अनुभवसे परे कोई स्वतः सिद्ध वस्तु है, लॉक इससे इन्कारी था। हमारा ज्ञान हमारे विचारोंसे परे नहीं पहुँच सकता। ज्ञान तभी सच हो सकता है, जब कि हमारे विचारोंको वस्तुओंकी सत्यता स्वीकार करती हो—अर्थात् विचार प्रयोगके विरुद्ध न जाते हों।

(१) तत्त्व—मानसिक और भौतिक तत्त्व—प्रत्यक्ष-सिद्ध और अप्रत्यक्ष-सिद्ध—दो पदार्थ तो हैं ही, इनके अतिरिक्त एक तीसरा आत्मतत्त्व ईश्वर है। अपनी प्राकृतिक योग्यताका ठीक तौरसे उपयोग करके हमें ईश्वर-का ज्ञान हो सकता है।

अपने कार्मोंके बुरे होनेके बारेमें हमारी जो राय है—जो कि हमारे सीखे आचारज्ञानसे तैयार होती है—इसीको आत्माकी पुकार कहा जाता है; वह इससे अधिक कुछ नहीं है। आचार-नियम स्वयंभू[१] (=स्वतः उत्पन्न

---

१. Innate.

नही कहे जा सकते, क्योंकि उन्हें न स्वयंभू देखा जाता है, और न सर्वत्र एक समान पाया जाता है। ईश्वर-संबंधी विचार भी स्वयंभू नहीं है। यदि ऐसा होता तो कितनी हो जातियोको ईश्वरके-ज्ञानसे वंचित अथवा उसके जाननेके लिए उत्सुक न देखा जाता। इसी प्रकार आग, सूर्य, गर्मीके ज्ञान भी सीखनेसे आते है, स्वयंभू नही है।

(२) **मन**—मन पहिले-पहिल साफ सलेट जैसा होता है, उसमें न कोई विचार होते हैं, न कोई छाप या प्रतिबिंब (=वासना)। ज्ञानकी सामग्री हमे अनुभव (=प्रयोग) द्वारा प्राप्त होती है, अनुभवके ऊपर हमारे ज्ञानकी इमारत खडी है।

लॉक कहता है **कारण** वह चीज है, जो किसी दूसरी चीजको बनाता है, और कार्य वह है जिसका आरम्भ किसी दूसरी चीज मे है।

इन्द्रियोसे प्राप्त वेदना या उसपर होनेवाला विचार ही हमे देश-काल-विस्तार, भेद-अभेद, आचार तथा दूसरी बातोंके संबंधका ज्ञान देते है; यही हमारे ज्ञानकी सामग्रीको प्रस्तुत करते है।

लॉक चाहता था, कि दर्शनको कोरी दिमागी उडानसे बचाकर प्रकृतिके अध्ययनमे लगाया जाये। जिज्ञासा करने, प्रश्नोंके हल ढूँढने से पहिले हमे अपनी योग्यताका निरीक्षण करना चाहिए, और देखना चाहिए किस और कितने विषयको हमारी बुद्धि समझ सकती है। "अपनी योग्यतासे परेकी जिज्ञासाएँ, अनेक नये प्रश्न, कितने ही विवाद खड़े कर देती है, जिससे हमारे सन्देह ही बढते है।"

§ २—बुद्धिवाद (द्वैतवाद)

वैसे तो स्पिनोजाके अद्वैती विज्ञानवादको भी बुद्धिवादमे गिना जा सकता है, क्योंकि विज्ञानवाद भौतिक जगत्की सत्ताको महत्त्व नही देता, किन्तु स्पिनोजाके दर्शनमे विज्ञानवाद और भौतिकवादका कुछ इतना सम्मिश्रण है, तथा प्रकृतिकी वास्तविकतापर उसका इतना जोर है, कि उसे केवल विज्ञानवादमे नही गिना जा सकता। बाकी सत्रहवी सदीके

प्रमुख बुद्धिवादी दार्शनिक द-कार्त और लाइब्निट्ज हैं, जो दोनो ही द्वैतवादी भी हैं।

१ – द-कार्त (१५९६-१६५० ई०)

रेने द-कार्तका जन्म फ्रांसके एक रईस परिवारमे हुआ था। दार्शनिकके अतिरिक्त वह कितनी ही पुरानी भाषाओंका पंडित तथा प्रथम श्रेणीका गणितज्ञ था, उसकी ज्यामिति आज भी कार्तेसीय ज्यामितिके नामसे मशहूर है।

यूरोपके पुनर्जागरण कालके कितने ही और विद्वानोंकी भाँति द-कार्त भी अपने समयके ज्ञानकी अवस्थासे असन्तुष्ट था। सिर्फ गणित एक विद्या थी, जिसकी अवस्थाको वह सन्तोषजनक समझता था, और उसका कारण उसका श्रेय वह नपी-तुली नियमबद्ध प्रक्रियाको देता था। उसने गणितके ढग को दर्शनमे भी इस्तेमाल करना चाहा। सन्त अगस्तिनकी भाँति उसने भी "बाकायदा सन्देह" से सोचना आरभ किया—मैं दुनियाकी हर चीजको सन्दिग्ध समझ सकता हूँ, लेकिन अपने 'होने' के बारेमे सन्देह नहीं कर सकता, "मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।" इसे सच इसलिए मानना पडता है, क्योंकि यह "स्पष्ट और असदिग्ध" है। इस तरह हम इस सिद्धान्तपर पहुँचते हैं, "जिसे हम अत्यन्त स्पष्ट और असदिग्ध पाते हैं, वह सच है।' इस तरहके स्पष्ट और असदिग्ध अतएव सच विचार हैं—ईश्वर, रेखागणितके स्वयसिद्ध, और "नहीसे कुछ नहीं पैदा हो सकता" की तरहके अनादि सत्य। यद्यपि द-कार्तने स्पष्ट और असदिग्ध विचार होनेसे ईश्वरको स्वयसिद्ध मान लिया था, किन्तु हवाका रुख इतना प्रतिकूल था, कि ईश्वरकी सिद्धिके लिए अलग भी उसे प्रयत्न करना पड़ा। दृश्य जगत्के भी "स्पष्ट और असदिग्ध" असको उसने सत्य कहा। जगत् ईश्वरने बनाया है, और अपनी स्थितिको जारी रखनेके लिए वह बिलकुल ईश्वरपर निर्भर है। ईश्वरनिर्मित जगत्के दो भाग हैं—काया या विस्तारयुक्त पदार्थ और मन या सोचनेवाला पदार्थ। आत्मा और शरीरको वह अविच्छि-

की भाँति अभिन्न नही; बल्कि अगस्तिन्की भाँति सर्वथा भिन्न—एक दूसरेसे बिलकुल अलग-अलग—कहता था। यह भगवान्की दिव्य सहायता है, जिससे कि आत्मा शरीरकी गतिको उत्पन्न नहीं, बल्कि संचालित कर सकता है। द-कार्त इस प्रकार लोकोत्तरवादी तथा अगस्तिन्की भाँति ईसाई धर्मका एक जबर्दस्त सहायक था। शरीर और आत्मामे आपसका कोई संबंध नहीं, इस धारणाने द-कार्तको यह माननेके लिए भी मजबूर किया, कि जब दोनोंमेंसे किसी एकमें कोई परिवर्तन होता है, तो भगवान् बीचमे दखल देकर दूसरेमे भी वही परिवर्तन पैदा कर देता है।

अंग्रेज दार्शनिक हॉब्स द-कार्तका समकालीन तथा परिचित था, किन्तु दोनोंके विचारोमे हम जमीन-आसमानका अंतर देखते हैं। द-कार्त पूरा लोकोत्तरवादी, ईश्वरके इशारेपर जड-चेतनको नाचनेवाला मानता था; किन्तु हॉब्स लोकोतरवादके बिलकुल खिलाफ़, हर समस्याके हलको प्रकृतिमे ढूंढनेका पक्षपाती था। स्पिनोज़ाने द-कार्तके ग्रंथोंसे बहुत फ़ायदा उठाया, 'विस्तार' और 'चिन्तन' काया और आत्माके स्वरूपोंको भी उसने द-कार्तसे लिया, किन्तु द-कार्त दर्शनके 'ईश्वरीय यंत्रवाद' की कमजोरियोंको वह समझता था, इसीलिए द-कार्तके द्वैतवादको छोड़ उसने प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत या विज्ञानवादको हॉब्सके नजदीकतर लानेकी कोशिश की।

द-कार्तके अनुसार दर्शन कहते हैं मनुष्य जितना जान सकता है, वह ज्ञान तथा अपने जीवनके आचरण, अपने स्वास्थ्यकी रक्षा, और सभी कलाओं (=विद्याओं) के आविष्कारके पूर्ण ज्ञानको। इस तरह द-कार्तकी परिभाषामें दर्शनमें लौकिक लोकोत्तर सारे ही "स्पष्ट और असंदिग्ध (=अविसंवादि) ज्ञान" शामिल हैं।

ईश्वरके कामके बारेमे द-कार्तका कहना है—भगवान्ने शुरूमें गति और विश्रामके साथ भौतिक तत्त्वों (=प्रकृति) को पैदा किया। प्रकृतिमें जो गति उसने उस वक्त पैदा की उसे उसी मात्रामें जारी रखने के लिए उसकी सहायताकी अब भी जरूरत है, इस प्रकार ईश्वरको सदा सक्रिय रहना पड़ता है।

आत्मा या सोचनेवाली वस्तु, उसे कहते हैं, जो सन्देह करने, समझने, ग्रहण - समर्थन - अस्वीकार-इच्छा - प्रतिषेध करनेकी क्षमता रखती है।

गंभीर विचारक होते हुए भी द-कार्त मध्ययुगीन मानसिक बंधनोंसे अपनेको आजाद नहीं कर सका था, और अपने दर्शनको सर्वप्रिय रखनेके लिए भी वह धर्मवादियोंका कोपभाजन नहीं बनना चाहता था। स्वयं द-कार्तके अपने वर्गका भी स्वार्थ इसीमें था कि धर्म और उसके साथ प्राचीन समाजकी व्यवस्थाको न छेड़ा जाये।

२ – लाइब्निट्ज (१६४६-१७१६ ई०)

गोट्फीड् विल्हेल्म लाइब्निट्ज लिपजिग् (जर्मनी) में एक मध्यवित्तक परिवारमें पैदा हुआ था। विश्वविद्यालयमें वह कानून, दर्शन, और गणित का विद्यार्थी रहा।

दर्शन—लाइब्निट्ज आत्म-कणवाद[1] का प्रवर्त्तक था। उसके दर्शनमें भौतिक पदार्थ—और अवकाश भी—वस्तु सत्य[2] नहीं हैं, मन जिन्हें अनुभव करता है, उसके ये सिर्फ़ दिखावे मात्र हैं। आत्मकण (=मन, विज्ञान) ही एकमात्र वस्तु सत्य हैं। सभी आत्मकण विकासमें एकसे नहीं हैं। कुछका विकास अत्यन्त अल्प है, वह सुप्तसे हैं। कुछका विकास इनसे कुछ ऊँचा है, वह स्वप्न अवस्थाकी चेतना जैसे हैं। कुछका विकास बहुत ऊँचा है, वह पूरी जागृत चेतना जैसे है। और इन सबसे ऊँचा चरम विकास ईश्वरका है। उसकी चेतना अत्यन्त गंभीर, अत्यन्त पूर्ण, और अत्यन्त सक्रिय है। आत्मकणोंकी संख्या अनन्त और उनके विकासके दर्जे भी अनन्त हैं—उनमें इतनी भिन्नता है, कि कोई दो आत्मकण एकसे नहीं हैं। इस प्रकार लाइब्निट्ज द्वैती विज्ञानवादको मानता है।

प्रत्येक आत्मकण अपनी सत्ता और गुणके लिए दूसरे आत्मकणका मुह-

---

१. Monadism. २. Objective reality.

ताज नही है, एक आत्मकण दूसरेको प्रभावित नही कर सकता। लेकिन सर्वोच्च आत्मकण ईश्वर इस नियमका अपवाद है—उसने एक तरह अपनेमेसे इन आत्मकणोंको पैदा किया। आत्मकण अपनी क्रियाओंके संबंधमें जो आपसमे सहयोग करते दीख पड़ते है, वह 'पहिलेसे स्थापित समन्वय'[1] के कारण हैं—भगवान्ने उन्हे इस तरह बनाया है, जिसमे वह एक दूसरेसे सहयोग करे।

द-कार्तका यह विचार कि ईश्वरने भौतिक तत्त्वोंमे गति एक निश्चित मात्रामे—घड़ी की कुजीकी भाँति—भर रखी है, लाइब्निट्जको पसंद न था, यद्यपि धर्म, ईश्वर, द्वैतवाद आदिका जहाँ तक संबंध था, वह उससे सहमत था। लाइब्निट्जका कहना था—पिड चलते है, पिड विश्राम करते है—जिसका अर्थ है गति आती है, और नष्ट भी होती है। यह (ससार-) प्रवाहका सिद्धान्त—अर्थात् प्रकृतिमे मेढक-कुदान नही सम-प्रवाह है—के खिलाफ जाता है। ससारमे कोई ऐसा पदार्थ नही है, जो क्रिया नही करता। जो क्रिया नही करता वह है ही नही, लाइब्निट्जने इस कथन द्वारा अपनेसे हजार वर्ष पहिलेके बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिकी बात को दुहराया। "अर्थक्रियामें जो समर्थ है वही ठीक सच है।"[2]

लाइब्निट्ज विस्तारको नहीं, बल्कि शक्तिको शरीरका वास्तविक गुण कहता है, बिना शक्तिके विस्तार नही हो सकता, अतएव शक्ति मुख्य गुण है।

अवकाश या देश[3] सापेक्ष पदार्थ है, उसकी परमार्थ सत्ता नहीं है। वस्तुएँ जिसमे स्थित हैं, वह देश है, और वह वस्तुओंके नाशके साथ नाश हो जाता है। शक्तियाँ देशपर निर्भर नहीं हैं, किन्तु देश अपनी सत्ताके लिए शक्तियोंपर अवश्य निर्भर है। इसलिए वस्तुओं (=आत्मकणों) के बीचमें तथा उनसे परे देश नहीं हो सकता; जहाँ शक्तियाँ खतम होती हैं, वहाँ

---

१. Harmony. २. "अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्रपरमार्थसत्"—प्रमाणवार्तिक। ३ Space.

देश भी खतम होता है। देशकी यह कल्पना आइन्स्टाइनके सापेक्षतावाद[1] के बहुत समीप है।

(१) **ईश्वर**—लाइब्निट्जके अनुसार दर्शन भगवान् तक पहुँचाता है; क्योंकि दर्शन भौतिक और यांत्रिक सिद्धान्तोंकी व्याख्या करना चाहता है, उसकी उस व्याख्याके बिना चरम कारण भगवान्को हम मान ही नहीं सकते। भगवान् स्वनिर्मित गौण या उपादान-कारणों द्वारा सभी चीजोंको बनाता है। भगवान्ने दुनिया कोई अच्छी तो नहीं बनाई है—इसका जवाब लाइब्निट्ज देता है—भई! दुनियाको भगवान्ने उतना अच्छा बनाया है, जितनी अच्छी कि वह बनाई जा सकती थी—इसमें जितना संभव हो सकता है, उतने वैचित्र्य और पारस्परिक समन्वय हैं। यह ठीक है कि यह पूर्ण नहीं है, इसमें दोष हैं। किन्तु, भगवान् सीमित रूपमें कैसे अपने स्वभावको व्यक्त कर सकता था? दोष (=बुराइयाँ) भी अनावश्यक नहीं हैं। चित्रमें जैसे काली जमीनकी आवश्यकता होती है, उसी तरह अच्छाइयों (=शिव) को व्यक्त करनेके लिए बुराइयोंकी भी जरूरत है। यहाँ समाजके अत्याचार उत्पीड़नके समर्थनके लिए लाइब्निट्ज कैसी कायरतापूर्ण युक्ति दे रहा है!! यदि अपनी अच्छाइयोंको दिखलानेके लिए ईश्वरने चंद व्यक्तियोंको अपना कृपापात्र और ९० सैकडाको पीड़ित, दुखी, नारकीय बना रखा है, तो ऐसे भगवान्से "त्राहि माम्।"

(२) **जीवात्मा**—जीव अगणित आत्मकणोंमें एक है—यह बतला चुके हैं। आत्माको लाइब्निट्ज अचल एकरस मानता है।—"आत्मा मोम नहीं है, जो कि उसपर ठप्पा (=वासना) मारा जा सके। जो आत्मा-को ऐसा मानते हैं, वह आत्माको भौतिक पदार्थ बना देते हैं।" आत्माके भीतर भाव (सत्ता), द्रव्य, एकता, समानता, कारण, प्रत्यक्ष, कार्यकारण, ज्ञान, परिमाण—यह सारे ज्ञान मौजूद हैं। इनके लिए आत्मा इन्द्रियोंका मुहताज नहीं है।

---

१. देखो "विश्वकी रूपरेखा" में सापेक्षतावाद

(३) ज्ञान—बुद्धिसंगत ज्ञान तभी संभव है, जब हम कुछ सिद्धान्तों-को स्वयंभू सिद्ध मानलें, जिसमे कि उनके आधारपर अपनी युक्तियोंको इस्तेमाल किया जा सके। समानता (=सादृश्य) और विरोध इन्हीं स्वयं-भू सिद्धान्तोंमें है। शुद्ध चिन्तनके क्षेत्रमे सच्चाईकी कसौटी यही समानता और विरोध हैं। प्रयोग (=तजर्बे) के क्षेत्रमे सच्चाई की कसौटी पर्याप्त युक्ति ही स्वयंभू सिद्धान्त है। दर्शनका मुख्य काम ज्ञानके मौलिक सिद्धान्तों—जो कि साथ ही सत्यताके भी मौलिक सिद्धान्त या पूर्वनिश्चय हैं—का आविष्कार करना है।

हॉब्स और द-कार्त दोनो बिलकुल एक दूसरे के विरोधीवादों—प्रकृति-वाद और लोकोत्तरवाद-को मानते थे। स्पिनोज़ाका दिल-द-कार्तके साथ था, दिमाग हॉब्सके साथ, जिससे वह द-कार्तको मदद नही कर सका, और उसका दर्शन नास्तिकता और भौतिकवादके लिए रास्ता साफ़ करनेका काम देने लगा। लाइब्निट्ज़ चाहता था, कि दर्शनको बुद्धिसगत बनानेके लिए मध्य-युगीनता से कुछ आगे जरूर बढ़ना चाहिए, किन्तु इतना नहीं कि स्पिनोज़ाकी भाँति लोग उसे भौतिकवादी कहने लगें। साथ ही ईश्वर, आत्मा, सृष्टि आदि के धार्मिक विचारोंको भी वह अपने दर्शनमे जगह देना चाहता था जिसमे कि सभ्य समाज उमे एक प्रतिष्ठित दार्शनिक समझे। इन्हीं विचारोंमे प्रेरित हो स्पिनोज़ाके समन्वय—प्रकृति-ईश्वर-अद्वैत तत्त्व—को न मान, उसने आत्मकण सिद्धान्त निकाला, जिसमे स्पिनोज़ाका विज्ञानवाद भी था और द-कार्तका द्वैतवादी, ईश्वरवाद भी।

अध्याय ११

अठारहवीं सदीके दार्शनिक

न्यूटन (१६४२-१७२७ ई०) के सत्रहवीं सदीके आविष्कार गुरुत्वाकर्षण (१६६६ ई०) और विश्वकी यांत्रिक व्याख्याने सत्रहवीं सदी और आगेकी दार्शनिक विचार-धारापर प्रभाव डाला। अठारहवीं सदीमें हर्शल[1] (१७३८-१८२२ ई०) ने न्यूटनके यान्त्रिक सिद्धान्तके अनुसार शनिकी कक्षासे और परे वरुण[2] (१७८१ ई०) ग्रह तथा शनिके दो उपग्रहोंका (१७८९ ई०) आविष्कार किया। इसके अतिरिक्त उसने एक दूसरेके गिर्द घूमनेवाले ८०० युग्म (=जुड़वें) तारे खोज निकाले, जिससे यह भी सिद्ध हो गया कि न्यूटनका यान्त्रिक सिद्धान्त सौरमंडलके आगे भी लागू है। शताब्दीके अन्त (१७९९ ई०) में लाप्लासने अपनी पुस्तक खगोलीय यंत्र[3] लिखकर उक्त सिद्धान्तकी और पुष्टि की। इधर भौतिक माइस[4] ने भी ताप, ध्वनि, चुम्बक, बिजलीकी खोजोमे नई बातोका का आविष्कार किया। रम्फोर्डने सिद्ध किया कि ताप भी गतिका एक भेद है। हॉक्सबीनें १७०५ ई० मे प्रयोग करके पहिले-पहिल बतलाया, कि ध्वनि हवापर निर्भर है, हवा न होनेपर ध्वनि नही पैदा हो सकती।

रसायन-शास्त्रमे प्रीस्टली (१७३३-१८०४ ई०) और शीले[5] (१७४२-८६ ई०) ने एक दूसरेसे स्वतंत्र रूपेण आक्सीजनका आविष्कार किया। कवेन्डिश (१७३१-१८१०) ने आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलाकर साबित किया कि पानी दो गैसोंसे मिलकर बना है।

---

१. Herschel २. Uranus. ३. Celestia Mechanics. ४. Physics. ५. Scheele

इसी शताब्दीमें हटन (१७२६-९७ ई०) ने अपने निबन्ध **पृथिवी-सिद्धान्त**[1] (१७८८) लिखकर भूगर्भ साइसकी नींव डाली; और जेनेर (१७४९-१८२३ ई०) ने चेचकके टीकेका आविष्कारकर (१७९८ ई०) बीमारियोंको पहिलेसे रोकथामका नया तरीका चिकित्साशास्त्रमें प्रारम्भ किया।

अठारहवी सदीमें साइसकी जो प्रगति अभी हम देख चुके है, हो नही सकता था, कि उसका प्रभाव दर्शनपर न पड़ता। इसीलिए हम अठारहवी सदीके दार्शनिकोंको सिर्फ हवामें उड़ने नही देखते, बल्कि सन्देहवादी ह्यूम् ही नहीं विज्ञानवादी बर्कले और कान्टको भी प्रयोगकी पूरी सहायता लेते हुए अपने काल्पनिकवादका समर्थन करना चाहते है।

§ १. विज्ञानवाद

अठारहवी सदीके प्रमुख विज्ञानवादी दार्शनिक बर्कले और कान्ट है।

१ – बर्कले (१६८५-१७५३ ई०)

जार्ज बर्कलेका जन्म आयरलैंड मे हुआ था, और शिक्षा डब्लिनके ट्रिनिटी कालेजमें। १७३४ ई० मे वह क्लोइनका लाट-पादरी बना।

बर्कलेके दर्शनका मुख्य प्रयोजन किसी नये तत्त्वका अन्वेषण नही था। उसकी मुख्य मंशा थी, भौतिकवाद और अनीश्वरवादसे ईसाई-धर्मकी रक्षा करना। इस प्रकार वह अठारहवी सदीका अगस्तिन् और सीमित अर्थमें ईसाइयोंका अक्विना था। हाब्सका भौतिकवादी दर्शन तथा विचार-स्वातन्त्र्य सबंधी दूसरी विचारधाराये धीरे-धीरे शिक्षित बुद्धिवादी दिमागोंपर असर कर ईसाइयतकेलिए खतरा पैदा कर रही थी। सत्रहवी और अठारहवी सदीमें भी जिस तरहकी प्रगति साइसमें देखी जा रही थी, उसमें धर्मका पक्ष और निर्बल होता जा रहा था, तथा यह साबित हो रहा था कि प्रकृति और उसके अपने नियम हर बौद्धिक समस्या के हलके

---

१. Theory of the Earth.

लिए पर्याप्त हैं। यद्यपि इस लहरको रोकनेके लिए दकार्त, स्पिनोजा और लाइबनिट्जके दर्शन भी सहायक हो सकते थे, किन्तु भौतिक तत्त्वोंके अस्तित्वको वे किसी न किसी रूपमें स्वीकार करते थे। बिशप् (=लाट-पादरी) बर्कलेने भौतिक तत्त्वोंके अस्तित्वको ही अपने दर्शन-द्वारा मिटा देना चाहा—न भौतिकतत्त्व रहेंगे, न भौतिकवादी सर उठायेंगे।

बर्कलेका कहना था: मुख्य या गौण गुणोंके संबंधमें जो हमारे विचार या वेदनाएँ है, वह किन्हीं वास्तविक बाह्य तत्त्वोंकी प्रतिकृति या प्रतिबिंब नहीं हैं, वह सिर्फ मानसिक वेदनाएं हैं; और इनसे अधिक कुछ नहीं है। विचार विचारोंसे ही सादृश्य रख सकते हैं, भौतिक पदार्थों और उनके गुणों—गोल, पीला, कड़वा आदि—से इन अभौतिक विचारों या मानस प्रति-बिबोंका कोई सादृश्य नहीं हो सकता। इसलिए भौतिक पिंडोंके अस्तित्वको माननेके लिए कोई प्रमाण नहीं। ज्ञानका विषय हमारे विचार हैं, उनसे परे या बाहर कोई भौतिकतत्त्व ज्ञानका वास्तविक विषय नहीं है। "मनसे बाहर चाहे वह स्वर्गकी सगीत मण्डली हो, अथवा पृथ्वीके सामान हो, मन (=विज्ञान) को छोड़ वहाँ कोई दूसरा द्रव्य नहीं, (मानसिक) ग्रहण ही उनकी सत्ताको बतलाता है। जब उन्हें कोई मनुष्य नहीं जान रहा है, तो या तो वे हैं ही नहीं, अथवा वे किसी **अविनाशी आत्माके** मनमें हैं।" भौतिक पिंड अपने गुणानुसार नियमित प्रभाव (आग, ठंडक) पैदा करते हैं, यदि भौतिक तत्त्व नहीं हैं, तो सिर्फ विचारमें यह कैसे होता है?—बर्कलेका उत्तर था कि यह "प्रकृतिके विधाताके द्वारा स्वेच्छासे बनाए उस संबंध" का परिणाम है, जिसे उसने भिन्न-भिन्न विचारोंके बीच कायम किया है। बर्कलेके अनुसार सत्यके तत्त्व हैं: भगवान्, उसके बनाए आत्मा, और भिन्न-भिन्न विचार जो उसकी आज्ञानुसार विशेष अवस्थामें पैदा होते हैं।

२ – कान्ट (१७२४-१८०४ ई०)

इम्मानुयेल कान्ट कोइनिग्सबर्ग (जर्मनी) में एक साधारण कारीगरके घर पैदा हुआ था। उसका बाल्य धार्मिक वातावरणमें बीता था।

प्राय सारा जीवन उसने अपने जन्मनगर और उसके पड़ोस हीमें बिताया और इस प्रकार देशभ्रमणके सबधमे वह एक पूरा कूपमडूक था।

हॉब्स, स्पिनोजा, दकार्त, लाइब्निट्ज, बर्कलेके दर्शनोमे या तो भौतिक तत्त्वोको ही मूल तत्त्व होनेपर जोर दिया गया था, अथवा प्रकृतिकी उपेक्षा करके विज्ञान (=चेतना) को ही एकमात्र परमतत्त्व कहा गया। कान्टके समय तक विज्ञानका विकास और उसके प्रति शिक्षितोंका सम्मान इतना बढ़ गया था, कि वह उसकी अवहेलना करके सिर्फ विज्ञानवादपर सारा जोर नही खर्च कर सकता था—यद्यपि घूमफिरकर उसे भी वही पहुँचना था—और भौतिकवादका तो वह पूर्ण विरोधी था ही। ह्यूमकी भाँति इन दोनो वादोपर सन्देह करनेको ही वह अपना वाद बनाना पसन्द नही करता था। उसके दर्शनका मुख्य लक्ष्य था—ह्यूमके सन्देहवाद, और पुरानी दार्शनिक रूढिको सीमित करना, तथा सबसे बढकर वह भौतिकवाद, अनीश्वरवादको नष्ट करना चाहता था। अपनेको बुद्धिवादी साबित करनेके लिए वह भाग्यवाद, भावुकतावाद, मिथ्या-विश्वासका भी विरोधी था। कान्टके वक्त यूरोपका विचारशील समाज मध्ययुगीन मानस-बंधनोसे ही मुक्त नहीं हो गया था, वल्कि उसने मध्ययुगके आर्थिक ढाँचे—सामन्तवाद—को भी दो प्रमुख देशो, इगलैड (१६४९-१७७६) और फ्रास (१७८९) से विदा कर पूजीवादकी ओर जोरसे कदम उठाया था। इगलैडमे अग्रेजी सामन्तवाद की निरकुशता चार्ल्स प्रथमके साथ ही १६४९ मे खतम कर दी गई थी। वहाँ सवाल सिर्फ एक मुकुटके धूलमे लोटनेका नही था, बल्कि मुकुटके साथ ही सनातन मर्यादाओके प्रति लोगोंकी आस्था उठने लगी थी। अठाहरवी सदीमें अब फ्रासकी वारी थी। सामन्तवाद और उसके पिट्टू धर्मसे दबते-दबते लोग ऊब गए थे। उनके इस भावको व्यक्त करनेके लिए फ्रासने वोल्तेर (१६९४-१७७८), और रूसो (१७१२-७८ ई०) जैसे ज़बर्दस्त लेखक पैदा किये। वोल्तेर धर्मको अज्ञान और धोखेकी उपज कहता था। उसके मतसे मजहब होशियार पुरहितोका जाल है, जिन्होंने कि मनुष्यकी मूर्खता और पक्षपातको इस्तेमालकर इस तरह उनपर शासनका एक नया तरीका निकाला

है। रूसो, वोल्तेरसे भी आगे गया, और उसने कला और विज्ञानको भी शौकीनी और कामचोरपनकी उपज बतलाया, और कहा कि आचारिक पतनके यही कारण हैं। "स्वभावसे सभी मनुष्य समान हैं। यह हमारा समाज है, जिसने वैयक्तिक सम्पत्तिकी प्रथा चला उन्हें अ-समान बना दिया—और आज हम उसमें स्वामी-दास शिक्षित-अशिक्षित धनी-निर्धन, पा रहे हैं।" एक बड़ा रईस बैरन् दो' ल्बाश (१७२३-१७८९ ई०) कह रहा था—"आत्मा कोई चीज नही है, चिन्तन मस्तिष्ककी क्रिया है, भौतिकतत्त्व ही एकमात्र अमर वस्तु है।"

ऐसी परिस्थितिमे कान्ट समझता था, कि यूरोपके मुक्त होते विचारोंको ईसाइयतकी तग चहारदीवारीके अन्दर बद नही किया जा सकता, इसलिए चहारदीवारीको कुछ बढाना चाहिए, और ईश्वर, कर्मस्वातंत्र्य तथा आत्माके अमरत्व—धर्मके उन मौलिक सिद्धान्तोंकी रक्षा करनेकी कोशिश करनी चाहिए। इन्हीको लकर कान्टने अपने प्रखर तर्कके ताने-बाने बुनकर एक जबर्दस्त जाल तैयार किया। उसने कहा . तजर्बेपर निर्भर मानव-बुद्धि बहुत दूर तक जा सकती है, इसमें शक नहीं; किन्तु उसकी गति अनन्त तक नही हो सकती। उसकी दौड़की भी सीमा है। ईश्वर, परलोक या परजीवन मानवके तजर्बेकी सीमासे बाहरकी—सीमापारीय—चीजें है, इसलिए उनके बारेमे कोई तर्क-वितर्क नही किया जा सकता, तर्कसे न उनका खंडन ही किया जा सकता है, न उन्हे सिद्ध ही किया जा सकता है। उन्हें श्रद्धावश माना जा सकता है—सैद्धान्तिक तौरसे यह श्रद्धा भले ही कमजोर मालूम होती है, मगर व्यवहारमूलक होनेसे वह काफी प्रबल है।—अर्थात् ईश्वर, तथा परजन्मके विश्वास समाज और व्यक्तिमे शान्ति और सयमका प्रचार करते हैं, जो कि इनके माननेके लिए काफी कारण हैं।

(१) **ज्ञान**—वास्तविक ज्ञान वह है, जो कि सार्वदेशिक, तथा आवश्यक हो। इन्द्रियाँ हमारे ज्ञानके लिए मसाला जमा करती है, और मन अपने स्वभावके अनुकूल तरीकोंसे उन्हें क्रमबद्ध करता है। इसीलिए जो ज्ञान हमें मिलता है वह वस्तुएँ—अपने—भीतर जैसी है, वैसा नही होता

बल्कि विचारोके क्रम-संबंधी सार्वदेशिक और आवश्यक ज्ञानके तौरपर होता है। गोया वस्तुएं-अपने-भीतर क्या है, इसे हम नही जान सकते—यह है कान्टका **सन्देहवाद**। साथ ही, हमारे ज्ञानमे जो कुछ आता है वह तजर्बे या प्रयोगसे आता है—यहाँ वह **प्रयोगवादी** सा मालूम होता है। लेकिन, मन बाहरी बातोकी कोई पर्वाह न करके, **अपने** तजर्बोपर चिन्तन करता है, और उन्हे अपने स्वभावके अनुसार **ग्रहण** करता है—यह **बाह्यार्थ**-से असबद्ध मनका अपना निर्णय बुद्धिवाद है। प्रयोगवाद, सन्देहवाद, और बुद्धिवाद तीनोको सिर्फ अपने मतलबके लिए कान्टने इस्तेमाल किया है, और इसका मतलब विचारको बडी सीमाबदीके परे जानेसे रोकना है।

(२) **निश्चय**—ज्ञान सदा निश्चय के रूपमे प्रकट होता है—हम ज्ञानमे चाहे किसी बातकी स्वीकृति (=विधि) करते है, या निषेध करते है। तो भी प्रत्येक निश्चय **ज्ञान** नही है। जो निश्चय "सार्वदेशिक और आवश्यक" नही है, वह साइस-सम्मत नही हो सकता। यदि उस निश्चयका कोई अपवाद भी है, तो वह सार्वदेशिक नही रहेगा, यदि कोई विरोधी भी आ सकता है तो वह आवश्यक नही।

(३) **प्रत्यक्ष**—किसी वस्तुके प्रत्यक्ष करने के लिए जरूरी है कि वहाँ भौतिकतत्त्व या उसके भीतर जो कुछ भरा (वेदना) और आकार (=रग, शब्द, भार) हो। इन्हे बुद्धि एक ढाँचे—या देश-कालके चौकठे-में क्रम-बद्ध करती है, तब हमे किसी वस्तुका प्रत्यक्ष होता है। आत्मा (=मन) सिर्फ वेदनाओको प्राप्त करता है, वह सीधे पदार्थों (=विषयो) तक नही पहुँच सकता और न विषय सीधे मन (=आत्मा) तक पहुँच सकते। फिर अपनी एक विशेष शक्ति—आत्मानुभूति[१]—द्वारा उन्हे वह प्रत्यक्ष करता है। तब वह अपनेसे बाहर देश और कालमे रंगको देखता है, शब्दको सुनता है।

---

१. Intuition.

देश, काल—मनकी बनावट ही ऐसी है, कि वहाँ कोई वैसी वस्तु न होने पर भी देश और कालका प्रत्यक्ष करता है—वह वस्तुओंको ही देश और कालमें (अर्थात् देश-कालके साथ) प्रत्यक्ष नहीं करता, बल्कि खुद देश-कालको स्वतंत्र वस्तुके तौरपर प्रत्यक्ष करता है। हमारी आन्तरिक मानस-क्रिया कालकी सीमाके भीतर अर्थात् एकके बाद दूसरा करक होती है; और बाहरी इन्द्रिय-ज्ञान देशकी सीमाके भीतर होता है, अर्थात् हम उन्हीं चीजोंका प्रत्यक्ष कर सकते हैं, जिनका कि हमारी इन्द्रियोंसे संबंध है। देश और काल वस्तु-सत्य अर्थात् बिना दूसरेकी सहायताके खुद अपनी सत्ताके धनी नहीं हैं, और नहीं वस्तुओंके गुण या संबंध ही हैं। वे तरीके या प्रकार जिनसे कि हमारी इन्द्रियाँ विषयोंको ग्रहण करती हैं, इन्द्रियोंके स्वरूप या क्रियाएँ हैं। देश और काल आत्मानुभूतिसे ही जाने जाते है, वे बाहरी इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं—इसका मतलब है, कि यदि आत्मानुभूति या देश-कालके प्रत्यक्षीकरणकी शक्ति रखनेवाले सत्त्व जगत्में न होते तो निश्चय ही जगत् हमारे लिए देशकालवाला न रह जाता। बिना देशके हम वस्तुका ख्याल भी नहीं कर सकते, और न बिना वस्तुके हम देशका ख्याल कर सकते, इसलिए वस्तुओं या बाहरी दुनिया-संबंधी विचारके लिए देशका होना जरूरी है। कालके बारेमें भी यही बात है।

(४) **सीमापारी**—इस प्रकार देश-काल इन्द्रियोंसे संबंध नहीं रखते, वह अनुभव (=तजर्बे) की चीजें नहीं हैं, बल्कि उनकी सीमासे परे—**सीमा-पारी**[1]—चीजें है। सीमापारी होते इन्द्रिय-अगोचर होते भी वस्तुओं-के ज्ञानसे वह चीजें कितना नित्य संबंध रखती हैं, यह बतला आए हैं।

(५) **वस्तु-अपने-भीतर**[2]—बाहरी जगतका संबंध—सन्निकर्ष—इन्द्रियोंसे होता है, इन्द्रियाँ उनकी सूचना मनको देती हैं, मन उनकी व्याख्या स्वेच्छापूर्वक खुद करता है। इन्द्रियोंका सन्निकर्ष वस्तुओंके बाहरी दिखावेसे होता है। फिर मन वस्तुके बारे में जो व्याख्या करता है

१. Transcendental. २. Thing-in-itself, (Ding-an-sich).

वह इसी दिखावेकी सूचना के बलपर होता है। इसलिए **वस्तु-अपने-भीतर** क्या है, यह ज्ञान इन्द्रिय या तजर्बेका विषय नहीं है वह इन्द्रिय-की सीमासे परेकी—इन्द्रिय-सीमा-पारी—है। प्रत्यक्षसे या तो वस्तुओंकी आभा हमे मिलती है, या उनके सबधका ज्ञान होता है, लेकिन वस्तु-अपने-भीतर क्या है, इसे न वह आभा बतला सकती है; न सम्बन्ध। वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तु-सार) अज्ञेय है, उसे इन्द्रियाँ नही जान सकतीं। हाँ, उसके होनेका पता दूसरी तरहसे लग सकता है, वह है आन्तरिक आत्मा-नुभूति, जो इन्द्रियोसे यह कहती है—'तुम्हारे आनेकी सीमा यहीं तक है, इससे आगे जानेका तुम्हे अधिकार नही।'

(आत्मा)—*हम आत्माका ज्ञान—साक्षात्कार नही कर सकते, किन्तु उसके अस्तित्व पर मनन किया जा सकता है। हम इसपर चिन्तन कर सकते है—ज्ञान सम्भव ही नही है, जबतक एक स्वयचेतन, विचारो-को स्मृतिके रूपमे जोडनेवाला तत्त्व आत्मा न हो। किन्तु इस आत्माको सीधे इन्द्रियोकी सहायतासे हम नहीं जान सकते, क्योकि वह* **सीमापारी,** *इन्द्रिय-अगोचर है।*

इस तरह सीमापारी वस्तुओका होना भी सभव है। **वस्तु-अपने-**भीतर या **वस्तुसार**[१] भी इसी तरह अज्ञेय है, किन्तु वह है **जरूर, अन्यथा** इन्द्रिय तथा विषयके सबधसे जो वेदना होती है, वह निराधार होगी—आखिर बाहरी जगत् या वस्तुकी जिस आभाका ज्ञान हमे होता है, उसके पीछे कोई वस्तुसार जरूर है, जो कि मनसे परेकी चीज है, जो हमारी इन्द्रियोको प्रभावित करता है, और हमारे ज्ञानके लिए **विषय प्रस्तुत** करता है। इस आधार वस्तु-अपने-भीतर (वस्तुसार) के बिना वह झाँकी ही नही मिलती, जिसकी बुनियादपर कि हमारा सारा ज्ञान खड़ा है।

कान्ट बुद्धि और समझके बीच फरक करता है।—**समझ वह है** जो कि इन्द्रिय द्वारा लाई सामग्री—वेदना—पर आधारित है। **लेकिन**

---

१. Nomena.

बुद्धि समझसे परे जाती है, और इन्द्रिय-अगोचर ज्ञान—जिस ज्ञानका कि कोई प्रत्यक्ष विषय नहीं है जो शुद्ध बोध रूप है—को उपलब्ध करना चाहती है। मन या बुद्धिकी साधारण क्रियाको समझ कहते हैं। वह हमारे तजर्बे—विषय-साक्षात्कारों—को समान रूपसे तथा नियमों और सिद्धान्तोके अनुसार एक दूसरेके साथ संबद्ध कराती है, और इस प्रकार हमें निश्चय प्रदान करती है।

निश्चय—समझ जिन निश्चयोंको हमारे सामने प्रस्तुत करती है, कान्टने उनके बारह भेद गिनाये हैं—

(१) **सामान्य निश्चय**—जैसे सारी धातुएं तत्त्व हैं।

(२) **विशेष निश्चय**—जैसे कुछ वृक्ष आम हैं।

(३) **एकत्व निश्चय**—जैसे अकबर भारतका सम्राट था। इन तीन निश्चयोंमे चीजें गुण-विभाग-योग, बहुत्व, एकत्व—के रूपमे देखी जाती हैं।

(४) **स्वीकारात्मक निश्चय**—जैसे गर्मी एक प्रकारकी गति है।

(५) **नकारात्मक निश्चय**—जैसे मनमें विस्तार परिमाण नहीं है।

(६) **असीम निश्चय**—जैसे मन अ-विस्तृत है। इन तीनों निश्चयोंमें वास्तविकता (भाव) अभाव, और सीमाके रूपमे गुण-विभाग दिखाई देते हैं।

(७) **स्पष्ट निश्चय**—जैसे देह भारी है।

(८) **अशंसात्मक निश्चय**—जैसे यदि हवा गर्म रही तो तापमान बढ़ेगा।

(९) **विकल्पात्मक०**—जैसे द्रव्य या तो ठोस होते है या तरल, या गैसीय। ये तीनों निश्चय संबंधों—नित्य (समवाय या अयुतसिद्ध)-संबंध, आधार (और सयोग)-संबंध, कार्यकारण-संबंध, समुदाय (सक्रिय निष्क्रियके आपसी)-संबंध—को बतलाते हैं।

(१०) **सन्देहात्मक निश्चय**—जैसे 'हो सकता है यह जहर हो।'

(११) **आग्रहात्मक निश्चय**—'यह जहर है।'

(१२) **सुपरीक्षित निश्चय**—'हर एक कार्यका कोई कारण होता है।'

ये तीनो निश्चय सभव-असंभव, सत्ता-असत्ता, आवश्यकता-संयोग—इन स्थितियोको बतलाते है।

ये गुण-सबंध, स्थिति, इन्द्रिय-गोचर विषयोमे ही हैं, इन्द्रिय-अगोचर (सीमापारी) मे नही।

वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर), अमर आत्मा, कर्मस्वातंत्र्य, ईश्वर यदि हमारी समझके विषय नही है, तो उससे उनका न होना साबित नहीं होता। उनके अस्तित्वको हमे बुद्धि नही बतलाती है, क्योंकि वह सीमापारी पदार्थ हैं। तो भी आचारिक कानून भी हमे बाध्य करते हैं, कि हम ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करे, नही तो अहिसा, सत्यभाषण, चोरी-न-करना आदि आचारोके पालन करनेमे नियंत्रण नही रह जायेगा।

इस प्रकार कान्टने भी वही काम करना चाहा जो कि विशप बर्कलेने किया था। हाँ, जहाँ बर्कलेने "समझ" का आश्रय ले भौतिकतत्वोंके अस्तित्वका खडन तथा विज्ञानका समर्थन किया, वहाँ कान्टने भौतिकतत्वोंके ज्ञानकी सच्चाईपर सन्देह पैदाकर उनके अस्तित्वको खतरे मे डाल दिया और ईश्वर-आत्मा मनके चूचूके मुरब्बे—वस्तु-अपने-भीतर या वस्तुसार—को इन्द्रियोसे परे—सीमा-पारी—बना, ईश्वर-आत्मा-धर्म-आचार (और समाजके वर्तमान ढाचे) को शुद्ध बुद्धिमे "सिद्ध" करनेकी कोशिश की।

किन्तु क्या बुद्धि और भौतिक प्रयोगके अस्त्रको कुठित कर कान्ट अपने अभिप्रायमे सफल हुआ ? मुमकिन है बुद्धि और भौतिक तजर्बेसे जिन्हे सरोकार नही, वह ऐसा समझनेकी गलती करे, किन्तु कान्टके तीक्ष्ण तर्कका क्या परिणाम हुआ, इसे मार्क्सके समकालीन जर्मन कवि और विचारक ह्राइनरिख हाइनेके शब्दोमे सुनिए—

"तब (कान्टके बाद) से सोचनेवाली बुद्धिके क्षेत्रसे ईश्वर निर्वासित हो गया। शायद कुछ शताब्दियाँ लगे जब कि उसकी मृत्यु-सूचना सर्व-साधारण तक पहुँचे; लेकिन हम तो यहाँ देरसे इस सबधमे शोक कर रहे हैं। आप शायद सोच रहे है, कि अब (शोक करनेकेलिए कुछ नहीं है), सिवाय इसके कि (अपने-अपने) घर जायें ?

"अभी नहीं अपनी कसम ! अभी एक पीछे आनेवाली चीजका अभिनय करना है। दुःखान्त नाटकके बाद प्रहसन आ रहा है।

"अब तक इम्मानुयेल कान्ट एक गंभीर निष्ठुर दार्शनिकके तौरपर सामने आया था। उसने स्वर्ग (-दुर्ग) को तोड़कर सारी सेनाको तलवारके घाट उतार दिया। विश्वका शासक (ईश्वर) बेहोश अपने खूनमे ही तैर रहा है। वहाँ दयाका नाम नहीं रहा। वही हालत पितृतुल्य शिवता, और आजके कष्टोंके लिए भविष्यमें मिलनेवाले सुफलकी है। आत्माकी अमरता अपनी आखिरी सांस गिन रही है ! उसके कंठमें मृत्युकी यंत्रणा ध्वनित हो रही है ! और बूढ़ा भगवानदास पास खड़ा है, उसका छत्ता उसकी बाँहमें हैं। वह एक शोकपूर्ण दर्शक है—व्यथाजनित पसीनेसे उसकी भौएँ भीगी हैं, उसके गालोंपर अश्रुबिन्दु टपक रहे हैं।

"तब इम्मानुयेल कान्टका दिल पसीजता है; और अपनेको दार्शनिकोंमें महान् दार्शनिक ही नहीं बल्कि मनुष्योंमें भलामानुष प्रकट करने के लिए वह आधी भलमनसाहतसे और आधा व्यंग के तौरपर सोचता है—

"बूढ़े भगवानदासके लिए एक देवताकी जरूरत है, नहीं तो बेचारा सुखी नहीं रह सकेगा; और वस्तुतः लोगोंको इस दुनियामे सुखी रहना चाहिए। व्यावहारिक साधारण बुद्धिका यह तकाजा है।

"अच्छी बात, ऐसा ही हो क्या पर्वाह ! व्यावहारिक बुद्धिको किसी ईश्वर या और किसीके अस्तित्वकी स्वीकृति देने दो।"

"परिणामस्वरूप कान्ट सैद्धान्तिक और व्यावहारिक बुद्धिके भेदपर तर्क-वितर्क करता है, और व्यावहारिक बुद्धिकी सहायतासे उसी देवता (=ईश्वर) को फिर जिला देता है, जिसे कि सैद्धान्तिक बुद्धिने लाशके रूपमें परिणत कर दिया था।"[१]

"शुद्ध बुद्धि" के लिखनेके बाद "व्यावहारिक बुद्धि" लिखकर कान्टने जो लीपापोती करनी चाही, हाइनने यहाँ उसका सुन्दर खाका खींचा है।

---

१. (Germany, Heine; Works, Vol. V.)

§ २. सन्देहवाद

ह्यूम् (१७११-७६ ई०)—डेविड ह्यूम् एडिनबरा[१] (स्काटलैंड) में, कान्टसे १३ साल पहिले पैदा हुआ था। इसने कानूनका अध्ययन किया था। पहिले जेनरल सेन्टक्लेर फिर लार्ड हर्टफोर्डका सेक्रेटरी रहा, और अन्तमें १७६७-९ मे इंगलैण्डका अण्डर-सेक्रेटरी (=उपमंत्री) रहा। इस प्रकार ह्यूम शासक वर्गका सदस्य ही नही, खुद एक शासक तथा सम्पत्तिवाली श्रेणीसे सबंध रखता था। मध्यम तथा उच्चवर्गीय शिक्षित लेखक सदा यह दिखलाना चाहते हैं, कि वह वर्ग और वर्गस्वार्थसे बहुत ऊपर उठे हुए हैं; लेकिन कोई भी आँख रखनेवाला इस धोखेमे नहीं आ सकता। अक्सर जान-बूझकर—कभी-कभी अनजाने भी—लेखक अपनी चेष्टाओंसे उस स्वार्थकी पुष्टि करते हैं, जिससे उनकी "दाल-रोटी" चलती है। हम बिशप् बर्कलेकी पुष्टि करते हैं, कि किस तरह बुद्धिकी आँखमे धूल झोक, प्रत्यक्ष—अनुमानगम्य—बुद्धिगम्य—भौतिक तत्त्वोसे इन्कार कर उसने लंबे-चौडे आकर्षक विज्ञानतत्वका समर्थन किया। और जब लोग वस्तु-सत्यको छोड़ इस ख्याली विज्ञानको एकमात्र तत्त्व मानकर आँख मूँद झूमने लगे, तो फिर ईश्वर, धर्म, आत्मा, फरिश्तोको चुपके से सामने ला बैठाया। कान्टको बर्कलेकी यह चेष्टा कुछ बोदी तथा गँवारूपन लिये हुए मालूम हुई। उसने उसे और ऊपरी तलपर उठाया। भौतिक तत्व साधारण बुद्धि-(=समझ) गम्य है, उनकी सत्ता भी आंशिक सत्य हो सकती है, किन्तु असली तत्त्व वस्तु-अपने-भीतर (=वस्तुसार) है, जिसकी सत्ता शुद्ध-बुद्धिसे सिद्ध होती है। समझ द्वारा ज्ञेय वस्तुओंसे कहीं अधिक सत्य है, शुद्ध-बुद्धिगम्य वस्तुसार। तर्क, तजर्बे, समझ, साधारण बुद्धिके क्षेत्रकी सीमा निर्धारित कर उनकी गतिको रोक कान्टने समझसे परे एक सुरक्षित क्षेत्र तैयार किया, और इस प्रशान्त, झगड़े-झंझट-रहित स्थानमे ले जाकर

---

१. Edinburgh.

ईश्वर, आत्मा, धर्म, आचार (वैयक्तिक सम्पत्ति, सड़ी सामाजिक व्यवस्था) को बैठा दिया। यह था कान्टकी अप्रतिम प्रतिभाका चमत्कार।

आइये अब हम इंगलैंडके टोरी[1] शासक (अन्डर-सेक्रेटरी) ह्यूमको भी देखें। कान्टसे पहिलेके साइंसजन्य विचार-स्वातंत्र्य के प्रवाहसे पुरानी नींवकी रक्षा करनेके लिए पहिलेके दार्शनिकोंके प्रयत्नोंको उसने देखा था, और यह भी देखा था, कि वस्तु-जगत् और उनसे प्राप्त सच्चाइयाँ इतनी प्रबल हैं, कि उनका सामना उन हथियारोंसे नहीं किया जा सकता, जिनसे दकार्त, लाइब्-निट्ज, बर्कलेने किया था। भौतिक तत्वोंको गलत साबित करनेसे ह्यूम सहमत था, किन्तु इसे वह फ़जूलकी जवाबदेही समझता था, कि सामने देखी जानेवाली वस्तुको तो इन्कार कर दिया जाये, और इन्द्रिय अनुभवसे परे किसी चीज—विज्ञान—को सिद्ध करनेकी जिम्मेवारी ली जाये। ह्यूम पूंजीवादी युगके राजनीतिज्ञोंका एक अच्छा पथप्रदर्शक था। उसने कहा—भौतिकतत्त्वोंको सिद्ध मत होने दो, विज्ञानको सिद्ध करके जिस ईश्वर या धर्मको लाना चाहते हो, वह समाजके ढाँचेको क्रान्तिकी लपट से बचानेके लिए जरूरी है, किन्तु उनका नाम लेते ही लोग हमारी नेकनीयतीपर शक करने लगेंगे, इसलिए अपनेको और सच्चा साबित करनेके लिए उनपर भी दो चोट लगा देनी चाहिए और इस प्रकार अपनेको दोनोंसे ऊपर रखकर मध्यस्थ बना देना चाहिए। यदि एक बार हम भौतिकतत्वोंके अस्तित्व में सन्देह पैदा कर देंगे और बाहरी प्रकाशको रोक देंगे, तो फिर अँधेरेमें पड़ा जनसमुद्र किस्मतपर बैठ रहेगा। और फिर इस सन्देहवादसे हमारी हानि ही क्या है—उससे न हमारे क्लाइव झूठे हो सकते हैं और न मक्खन-रोटी या शम्पेन ही।

अब जरा इस मध्यस्थ, दूधका दूध पानीका पानी करनेवाले राजमंत्री-की दार्शनिक उड़ानको देखिए।

(१) **दर्शन**—हम जो कुछ जान सकते हैं, वह है हमारी अपनी मानसिक छाप—संस्कार। हमें यह अधिकार नहीं है कि भौतिक या

---

१. Tory.

अभौतिक तत्वोकी वास्तविकता सिद्ध करें। हम उतनेही को जान सकते हैं, जितनोके कि इन्द्रियाँ और मन ग्रहण करते हैं, और इस क्षेत्रमें भी सम्भावनामात्रके बारे मे हम कह सकते हैं। इस अनुभव (=प्रत्यक्ष, अनुमान) से बढकर ज्ञान प्राप्त करनेका हमारे पास कोई साधन नहीं है।

(२) **स्पर्श**—हमारे ज्ञानकी सारी सामग्री बाहरी (वस्तु द्वारा प्राप्त) और भीतरी वस्तुओंके स्पर्शों[१]—छापो—मे प्राप्त होती है। जब हम देखने, अनुभव, प्यार, शत्रुता, इच्छा या संकल्प करते हैं, यानी हमारी सभी वेदनाए, आसक्तियां और मनोभाव जब जब आत्मामें पहिले-पहिल प्रकट होते है, तो हमारे सबसे सजीव साक्षात्कार स्पर्श ही है। बाहरी स्पर्श या वेदनाए आत्माके भीतर अज्ञात कारणोसे उत्पन्न होती हैं। भीतरी स्पर्श अधिकतर हमारे विचारोंसे आते है,अर्थात् एक स्पर्श हमारी इन्द्रियों-पर चोट करता है, और हम सर्दी-गर्मी, सुख-दुख अनुभव करते हैं।

(३) **विचार**—स्पर्शोके बाद ज्ञानसे संबध रखनेवाली दूसरी महत्वपूर्ण चीज विचार[२] है। हमारे विचार बिलकुल ही भिन्न-भिन्न असंबद्ध सयोगवश मिले पदार्थ नहीं हैं। एक दूसरेसे मिलते वक्त उनमें एक खास दर्जे तक नियम और व्यवस्थाकी पाबन्दी देखी जाती है। वह एक तरह की एकताके सूत्रमें बद्ध दीख पड़ते हैं, जिन्हे कि हम **विचार-संबंध** करते हैं।

(४) **कार्य-कारण**—कार्य-कारणमे एक बिलकुल ही अलग चीज है, कारणको हम कार्यमें हर्गिज नहीं पा सकते। कार्य-कारणके संबंधका ज्ञान हमे निरीक्षण और अनुभवसे होता है। कार्य-कारणका संबंध यही है, कि एकके बाद दूसरा आता है—कार्य-नियत-पूर्व-वृत्ति कारण, कारण-नियत-पश्चाद्-वृत्ति कार्य—हम यहाँ एक घटना के बाद दूसरीको होते देखते हैं।

(५) **ज्ञान** —हम सिर्फ प्रत्यक्ष (साक्षात्) मात्र कहते हैं, हम इससे अधिक किसी चीजका पूर्ण ज्ञान रखते हैं, यह गलत है। जो प्रत्यक्ष है, वही वह वस्तु नहीं है, जिसकी कि एक तेज झांकी उस रूपमें मिलती

---

१. Impressions. २ Ideas.

है। वस्तुकी सिर्फ बाहरी सतह और उससे भी एक भाग मात्रका प्रत्यक्ष होता है। दार्शनिक विचार या आत्मानुभूतिसे और अधिक ज्ञान सकेंगे, इसकी कोई आशा नहीं, क्योंकि दार्शनिक निर्णय और कुछ नहीं, सिर्फ नियमित तथा शोधित साधारण जीवनका प्रतिबिंब मात्र है। इस तरह हमारा ज्ञान सतही—ऊपर-ऊपरका है, और उससे किसी चीजकी वास्तविकता स्थापित नहीं की जा सकती।

(६) **आत्मा**—"जब मैं खूब नजदीकसे उस चीजपर विचार करता हूँ, जिसे कि मैं **अपनी आत्मा** कहता हूँ, तो वहाँ सदा एक या दूसरी तरहका प्रत्यक्ष (=अनुभव) सामने आता है। वहाँ कभी मैं **अपनी आत्माको** नहीं पकड़ पाता।" आत्मापर भीतरसे चिन्तन करनेपर वहाँ मिलता है—गर्मी-सर्दी, प्रकाश-अन्धकार, राग-द्वेष, सुख-पीड़ाका अनुभव। इन्हें छोड़ वहाँ शुद्ध अनुभव कभी नहीं मिलता। इस प्रकार आत्माको साबित नहीं किया जा सकता।

(७) **ईश्वर**—जब ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं देखा जा सकता, तो उसके होनेका प्रमाण क्या है? उसके गुण आदि। किन्तु ईश्वरके स्वभाव, गुण, आज्ञा और भविष्य योजनाके संबंधमें कुछ भी कहनेके लिए हमारे पास कोई भी साधन नहीं है। घड़ेसे कुम्हार—अर्थात् कार्यसे कारण—के अनुमानसे हम ईश्वरको सिद्ध नहीं कर सकते। जब हम एक घरको देखते हैं, तो पक्की तौरसे इस निश्चयपर पहुँचते हैं, कि इसका कोई बनानेवाला मिस्त्री या कारीगर था। क्योंकि हमने सदा मकान-जातिके कार्योंको कारीगर-जाति के कारणों द्वारा बनाये जाते देखा है। किन्तु विश्व-जातिके कार्योंको ईश्वर-जातिके कारणों द्वारा बनते हमने कभी नहीं देखा, इसलिए यहाँ घर और कारीगरके दृष्टान्तसे ईश्वरको नहीं सिद्ध कर सकते। आखिर अनुमानमें, जिस जातीय कार्यको जिस जातीय कारणसे उत्पन्न होता देखा गया, उसी जातिके भीतर ही रहना पड़ता है। ईश्वर पूर्ण, अचल, अनन्त है, ये ऐसे गुण हैं, जिन्हें निरन्तर परिवर्तनशील—क्षण-क्षण पैदा होने तथा मरनेवाला—मन नहीं जान सकता; जब एक मन दूसरे क्षण रहता ही

नहीं, तो नया आनेवाला मन कैसे जान सकता है, कि ईश्वरका अमुक गुण पहिले भी मौजूद था। मनुष्य अपने परिमित ज्ञानसे ईश्वरका अनुमान कर ही नहीं सकता, यदि उसके अज्ञानसे, अनुमान करनेका आग्रह किया जाये, तो फिर यह दर्शन नही हुआ।

विश्वके स्वभावसे ईश्वरके स्वभावका अनुमान बहुत घाटेका सौदा रहेगा। कार्यके गुणके अनुसार ही हम कारणके गुणका अनुमान कर सकते हैं। कार्य-जगत् अनन्त नहीं सान्त, अनादि नहीं सादि है, इसलिए ईश्वरको भी सान्त और सादि मानना पड़ेगा, जगत् पूर्ण नहीं अपूर्ण, क्रूरता, संघर्ष विषमतासे भरा हुआ है; और यह भी तब जब कि ईश्वरको अनन्तकालसे अभ्यास करते हुए बेहतर जगत्‌के बनानेका मौक़ा मिला था। ऐसे जगत्‌का कारण ईश्वर तो और अपूर्ण, क्रूर, संघर्ष विषमता-प्रेमी होगा।

मनुष्यकी शारीरिक और मानसिक सीमित अवस्थाओंके कारण सदाचार, दुराचारका भी उसपर दोष उतना नहीं आ सकता; आखिर वह ईश्वर होकी देन है।

(८) **धर्म**—अटकलबाज़ी, कुतूहल, या सत्यताका शुद्ध प्रेम भी धर्म और ईश्वर-विश्वासको पैदा करता है, किन्तु इनके मुख्य आधार हैं—सुखके लिए भारी चिन्ता, भविष्यकी तकलीफोंका भय, बदला लेनेकी ज़बर्दस्त इच्छा, पान-भोजन और दूसरी आवश्यक चीज़ोंकी भूख।

ह्यूमने यद्यपि बर्कले, कान्ट जैसोंके तर्कोंपर भी काफी प्रहार किया है, और दर्शनको धर्मका चाकर बननेसे रोकना चाहा; किन्तु दूसरी तरफ ज्ञानको असंभव मानकर उसने कोई भावात्मक दर्शन नही पेश किया। दर्शनका प्रयोजन सन्देहमात्र पैदा करना नहीं होना चाहिए, क्योंकि जीवनके होनेमे सन्देहकी गुंजाइश नहीं है।[1]

---

१. साधु शान्तिनाथ भी अपने "Critical Examination of the Philosophy of Religion" (2 Vols.) में ह्यूमका ही अनुसरण करते हैं।

§ ३. भौतिकवाद

अठारहवीं सदीमें भौतिकवादी विचारों, तथा सामाजिक परिवर्तन संबंधी ख्याल जोर पकड़ रहे थे, इसे हम कह चुके हैं। इस शताब्दीमें भौतिकवादी दार्शनिक भी काफी थे, जिनमें प्रमुख थे—हर्टली (१७०४-५७ ई०), ला मेत्री[१] (१७०९-५१), हल्वेशियस[२] (१७१५-७१), दा-अले-म्व्य[३] (१७१७-८३), 'द्' होल्बाख[४] (१७२३-८९), दीदेरों[५] (१७३१-८४), प्रीस्टली[६] (१७३३-१८०४), कबानी[७] (१७५७-१८०८)

भौतिकवादका समर्थन सिर्फ दार्शनिकोंके प्रयत्नपर ही निर्भर नहीं था, बल्कि सारा साइंस—साइंसदानोंके वैयक्तिक विचार चाहे कुछ भी हों—भौतिकवादी प्रवृत्ति रखता था, इसलिए यह अकेला अस्त्र दार्शनिकोंके हजारों दिमागी तर्कोंको काटनेके लिए पर्याप्त था। इसीलिए अठारहवीं सदीकी भौतिकवादी प्रगति इसपर निर्भर नहीं है कि उसके दार्शनिकोंकी संख्या कितनी है, या वह कितने शिक्षितोंको प्रिय हुआ।

हर्टली मनोविज्ञानको शरीरका एक अंश मानता था। दकार्त यद्यपि द्वैतवादी ईश्वर-विश्वासी कट्टर कैथलिक ईसाई था, लेकिन उसके दर्शनने अनजाने फ्रांसमे भौतिकवादी विचारोंके फैलानेमें सहायता की। दकार्तका मत था कि निम्न श्रेणीके प्राणी चलते-फिरते यंत्र भर रहे हैं, यदि प्राणीके सभी अंग ठीक जगह पर लगे हों, तो बिना आत्मा के सिर्फ इन्द्रियों द्वारा उत्पादित उत्तेजनासे भी शरीर चलने फिरने लगेगा। इसीको लेकर ला-मेत्री और दूसरे फ्रेंच भौतिकवादियोंने आत्माको अनावश्यक साबित किया, और कहा कि सभी सजीव वस्तुएं भौतिकतत्त्वोंसे बने चलते-फिरते

---

१. La Mettrie. २. Helvetius.
३. D'Alembert. ४. D'Holbach.
५. Diderot. ६. Priestley
७. Cabanis.

स्वय वह यत्र है। ला-मेत्रीने कहा,—"जब दूसरे प्राणी, दार्शनिक दकार्तके मतसे, बिना आत्माके भी चल-फिर, सोच-समझ सकते हैं, तो मनुष्यमें ही आत्माकी क्यो जरूरत है? सभी प्राणी एक ही विकासके नियमोंका अनुमरण करते-हैं, अन्तर है तो उनके विकासके दर्जेमें।" कवानीके ग्रंथ फ्रासमे भौतिकवादके प्रचारमे सहायक हुए थे। उसकी कितनीही कहावते बहुत मशहूर है। "शरीर और आत्मा एक ही चीज है।" "मनुष्य ज्ञानतन्तुओका गट्ठा है।" "पित्ता जिस तरह रस-प्रस्राव करता है, वैसे ही दिमाग विचारोका प्रस्राव करता है।" "भौतिकतत्त्वोंके नियम मानसिक आचारिक घटनाओपर भी लागू है।"

भौतिकवादपर एक आक्षेप किया जाता था, कि उसके अनुसार ईश्वर, परलोकका न डर होनेसे दुनियामे दुराचार फैलने लगेगा, लोग स्वार्थान्ध हो दूसरेकी धन-सम्पत्तिको लूटनेमे नही हिचकिचायेंगे। किन्तु, अठारहवी सदीने इसका जवाब भौतिकवादियोके आचार-विचारसे दे दिया। ये भौतिकवादी सबसे ज्यादा वैयक्तिक सम्पत्ति और सामाजिक असमानताके विरोधी थे, व्यक्ति नही सारे समाजके कल्याणपर जोर देते थे। हेल्वेशियो ने कहा था—"प्रबोधपूर्ण आत्म-स्वार्थ, आचारकी सबसे अधिक दृढ़ बुनियाद बन सकता है।"

अध्याय १२

उन्नीसवीं सदीके दार्शनिक

अठारहवीं सदी साइंसका प्रारंभिक काल था, लेकिन उन्नीसवीं सदी उसके विकासके विस्तार और गति दोनोंमें ही पहिलेसे तुलना न रखती थी। अब साइंस पर्वतका आरंभिक चश्मा नहीं बल्कि एक महानदी बन गया था। अब उसे दर्शनकी पर्वाह नहीं थी, बल्कि अपनी प्रतिष्ठा कायम रखनेके लिए दर्शनको साइंसकी सहायता आवश्यक थी, और इस सहायताको बिना उसकी मर्जीके लेनेमें दर्शनने परहेज नहीं किया।

उन्नीसवीं सदीमें ज्योतिष-शास्त्रने ग्रहों-उपग्रहोंकी छान-बीन ही नहीं पूरी की, बल्कि सूर्यकी दूरी ज्यादा शुद्धता से मालूम की। स्पेक्ट्रस्कोप (वर्ण-रश्मि-दर्शक-यंत्र) की मददसे सूर्य, तारोंके भीतर मौजूद भौतिकतत्त्वों, उनके ताप घनता आदि तथा दूरी मालूम हुई और तारोंके बारेमें चले आते कितने ही भ्रम और मिथ्याविश्वास दूर हो गये।

गणितके क्षेत्रमें लोबाचेस्की, रीमान आदिने ओकलेदिससे अलग तथा अधिक शुद्ध ज्यामितिका आविष्कार किया।

भौतिक साइंसमें यूल, हेल्महोल्ट्ज, केल्विन्, एडिंग्टनने नये आविष्कार किये। वैज्ञानिकोंने सिर्फ परमाणुओंकी ही छानबीन नहीं की बल्कि टाम्सन परमाणुओंको भी तोड़कर एलेक्ट्रनपर पहुँच गया।[1] बिजलीसे परिचय ही नहीं बल्कि शताब्दीके अन्त तक सड़को और घरोंको बिजली प्रकाशित करने लगी।

---

१. देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

रसायन-शास्त्र मे परमाणुओंकी नाप-तोल होने लगी, और हाइड्रोजन-को वटखरा बना परमाणु-तत्त्वोंके भार आदिका पता लगाया गया। १८२८ ई० मे वोलरने[1] सिर्फ प्राणियोंमे मिलनेवाले तत्त्व ऊरिया[2] को रसायनशालामे कृत्रिम रूपसे बनाकर सिद्ध कर दिया, कि भौतिक नियम प्राणि-अप्राणि दोनों जगत्‌मे एकसे लागू हैं। शताब्दीके आरंभमें ३० के करीब मूल रसायन तत्त्व ज्ञात थे, किन्तु अन्तमें उनकी संख्या ८० तक पहुँच गई।

प्राणिशास्त्रमे अनुवीक्षणसे देखे जानेवाले बेक्टीरिया[3] और दूसरे कीटाणुओकी खोज उनके गुण आदि ने विज्ञानके ज्ञान-क्षेत्रको ही नही बढ़ाया, बल्कि पास्तोरकी इन खोजोने घाव आदिकी चिकित्सा तथा, टीनबंद खाद्यपदार्थोंकी तैयारीमे बडी सहायता पहुँचाई। डेबीने बेहोशीकी दवा निकालकर चिकित्सकोके लिए आपरेशन आसान बना दिया। शताब्दीके मध्यमे डार्विनके जीवन-विकासके सिद्धान्तने विचारोंमे भारी क्रान्ति पैदा की, और जड-चेतनकी सीमाओको बहुत नजदीक कर दिया।

इस तरह उन्नीसवी सदीने विश्व-सबधी मनुष्यके ज्ञानमे भारी परिवर्तन किया, जिससे भौतिकवादको जहाँ एक ओर भारी सहायता मिली, वहाँ "दार्शनिको" की दिक्कतें बहुत बढ गईं। इसी तरह फिख्टे, हेगेल्, शोपनहार जैसे विज्ञानवादियोने भौतिकतत्त्वोंसे भी परे विज्ञानतत्त्वपर पहुँचनेकी कोशिश की। शेलिङ्, नोट्शेने द्वैतवादी बुद्धिवादका आश्रय ले भौतिकवाद-की बाढको रोकना चाहा। स्पेन्सरने ह्यूम्के मिशनको सँभाला और अपने अज्ञेयतावाद द्वारा समाजके आर्थिक-सास्कृतिक ढाँचेको बरकरार रखनेकी कोशिश की। लेकिन इसी शताब्दीको मार्कस् जैसे प्रखर दार्शनिकको पैदा करनेका सौभाग्य है, जिसने साइंससे अपने दर्शनको सुव्यवस्थित किया; और उसके द्वारा दर्शनको समाजके बदलनेका साधन बनाया।

---

१. Friedrich Wohler. २. Urea.
३. Bacteria.

§ १. विज्ञानवाद

१ फ़िख़्टे[1] (१७६५-१८१४ ई०)

योहन गॉटलीप् फ़िख़्टे सैक्सनी (जर्मनी) में एक गरीब जुलाहेके घर पैदा हुआ था।

परमतत्त्व—कान्टने बहुत प्रयत्नसे **वस्तुसार** (वस्तु-अपने-भीतर) को समझकी सीमाके पार **बुद्धि**-अगम्य वस्तु साबित किया था। फ़िख़्टेने कहा, कि वस्तुसार भी मनसे परेकी चीज नहीं, बल्कि मन हीकी उपज है। सारे तजर्बे तथा मनके सिर्फ आकार ही नहीं "परम-आत्मा[2] से उत्पन्न हुए हैं, बल्कि उत्पत्तिमें वैयक्तिक मनोंने भी भाग लिया है।" "परम-आत्माने अपनेको ज्ञाता (=आत्मा) और ज्ञेय (=विषय) के रूपमें विभक्त किया; क्योंकि आत्माके आचारिक विकासके लिए ऐसे बाधा डालनेवाले पदार्थोंकी जरूरत है जिनको कि आत्मा अपने आचारिक प्रयत्नों से पार करे। इन्हीं कारणोंसे परम-आत्माको अनेक आत्माओंमें भी विभक्त होना पड़ता है; यदि ऐसा न हो तो उन्हें अपने-अपने कर्त्तव्योंको पूरा करनेका अवसर नहीं मिलेगा। आत्माओंके अनेक होनेपर भी वह उस एक **आचारिक विधानके** प्रकाश हैं, जिसे कि परम-आत्मा या ईश्वर कहते हैं। फ़िख़्टेका परमतत्त्व स्थिर नहीं, बल्कि सजीव, प्रवाह है।

ईश्वर को ठोंक पीटकर, हर एक दार्शनिक, अपने मनका बनाना चाहता है; लेकिन सबका प्रयत्न है, इस बेचारेको खतरेसे बचाना।

(१) **श्रद्धातत्त्व**—कान्टने **आचारिक विधि**—यह आचार तुम्हें जरूर करना होगा—के बारेमें कहा, कि उसपर विश्वास करनेसे हम सन्देहवाद, भौतिकवाद और नियतिवाद[3]से बचते हैं। चूँकि हम आचारिक विधानपर विश्वास रखते हैं इसलिए हम उसे जानते हैं। यह

---

[1] Fichte. [2] Absolute Self. [3] Determinism.

आचारिक सच्चाई है, जो हमको आजाद बनाती है, और हमारे स्वातन्त्र्यको सिद्ध करती है। कान्ट और फिख्टेके इस दर्शनके अनुसार हम ज्ञानकी पर्वाह न कर विश्वासपर दृढ़ हो अपनी स्वतंत्रता पाते हैं— विश्वास करने न करनेमे जो हमें आजादी है ! यदि हम दो तीन हजार वर्ष पहिले चद आदमियों द्वारा अपने स्वार्थ और स्वार्थरक्षाके लिए बनाये गये आचारक नियमोको नही मानते, तो अपनी आजादी खो डालते हैं ! ! और हमारी आजादीके सबसे बडे दुश्मन सन्देहवाद, भौतिकवाद हैं, जो कि आजादीके एकमात्र नुस्खे विश्वास (=श्रद्धा) पर कुठाराघात करते हुए बुद्धि और तजर्बेके बतलाये रास्तेपर चलनेके लिए जोर देते हैं ! ! ! अकलको घबरानेकी जरूरत नही, "दर्शन" का मतलब उसे सहारा देना नहीं बल्कि उसे भूल-भुलैयामे टाल थकाकर बैठा देना है । और जहाँ अकलने ठोस पृथिवी और उसके तजर्बेको छोडा कि दार्शनिक अपने मतलबमें कामयाब हुए।

(२) **बुद्धिवाद**—पाठन-युगमे फिख्टे साइस, और प्रयोग (=तजर्बे) को इन्कारकर अपने दर्शनको सिर्फ उपहासकी चीज बना सकता था; इसीलिए दर्शन फिख्टेकी परिभाषामे, सार्वदेशिक साइस, साइसोंका साइंस, (=विजेन्शाफ्ट लेरे) है । प्रयोग और बुद्धिवादको पहिले मारकर फिख्टे कहने चला है—यदि दर्शन तजर्बेसे सामंजस्य नही रखता, तो वह अवश्य झूठा है, क्योंकि दर्शनका काम है अनुभवके पर्ण (रूप) को निकाल कर रखना, और बुद्धिकी आवश्यक क्रिया द्वारा उसकी व्याख्या करना । जो परम-आत्माको एकमात्र परमार्थ तत्त्व माने और "आचारिक" विश्वास (=श्रद्धा) को आजादीको एकमात्र पन्थ समझे, उसके मुहसे तजर्बे और अकलकी यह हिमायत दिखावेसे बढ़कर नही है ।

(३) **आत्मा**—आत्मा परम-आत्मासे निकला है, यह बतला आये है। आत्मा परम-आत्माकी क्रियाका प्राकट्य है । आत्माकी सीमाएं हैं । विचारमे वह इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, और मननसे परे नही जा सकता, और व्यवहारमे वह (परम-आत्माके) विश्व-प्रयोजनसे परे नहीं जा सकता ।

(४) **ईश्वर**—ईश्वर, एकमात्र परम-तत्त्व या परम-आत्मा है, यह बतला आये हैं। आचारिक विधानपर कान्टकी भाँति फिख्टेका कितना जोर था यह भी कहा जा चुका है। आचारिक विधानके ढाँचेको कायम रखनेकेलिए एक विश्व-प्रयोजन या ईश्वरकी जरूरत है। सचमुच ही आचारिक विधान—जो कि सत्ताधारी वर्गके स्वार्थके यंत्र है—का समर्थन बुद्धि और प्रयोगसे नहीं हो सकता, उसके लिए ईश्वरका अवलंब चाहिए। फिख्टे और स्पष्ट करते हुए यह भी कहता है कि आचारिक विधानके लिए धार्मिक विश्वासकी भी जरूरत है। संसार भरमें विद्यमान आचारिक विधान (=धर्म-नियम) और उसके विधानके विपाकपर विश्वास-के बिना आचारिक विधान ठहर नहीं सकते। अन्तरात्माकी आवाज सभी विश्वासों और सच्चाइयोंकी कसौटी है। यह अभ्रान्त है। अन्तरात्माकी आवाज हमारे भीतर भगवान्‌की आवाज है। आध्यात्मिक जगत् और हमारे बीच ईश्वर बिचवई है, और वह अन्तरात्माकी आवाजके रूपमें अपना सन्देश भेजता है।

२ – हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)

जार्ज विल्हेल्म फ्रीड्रिख् हेगेल् स्टट्गार्ट (जर्मनी) में पैदा हुआ था। तुबिंगन् विश्वविद्यालयमें उसने धर्मशास्त्र और दर्शनका अध्ययन किया। पहिले जेनामें दर्शनका प्रोफेसर हुआ, फिर १८०६-८ ई० तक बम्बेर्गमें एक समाचारपत्रका सम्पादक रहा। उसके बाद फिर अध्यापनका काम शुरू किया, और पहिले हाइडेल्बर्ग फिर बर्लिनमें प्रोफेसर रहा। ६१ वर्षकी उम्रमें हैजेसे उसकी मृत्यु हुई।

[विकास]—आधुनिक युगमें जो अभौतिकवादी दर्शनका नया प्रवाह आरम्भ हुआ, हेगेल्‌के दर्शनके रूपमें वह चरमसीमाको पहुँचा। उसके दर्शनके विकासमें अफलातूँ, अरस्तू, स्पिनोजा, कान्टका खास हाथ है। कान्टसे उसने लिया कि मन (=विज्ञान) सारे विश्वका निर्माता है। हमारे वैयक्तिक मन (=विज्ञान) विश्व-मनके अंश हैं। वही विश्व-मन हमारे द्वारा विश्वको

अस्तित्वमें लानेके लिए मनन (=अभिध्यान) करता है। स्पिनोजासे उसने यह लिया कि आत्मिक और भौतिक तत्त्व उसी एक अनादि तत्त्वके दो रूप हैं। अफलातूंके दर्शनसे लिया—(१) विज्ञान, सामान्य विज्ञान, (आचारिक) मूल्य और यह कि पूर्णताका जगत् ही एकमात्र वास्तविक जगत् है। इन्द्रियोंका जगत् उसी सीमा-धारी आत्मिक जगत्की उपज है; (२) भौतिक जगत् आत्मिक जगत् (=परमतत्त्व) के स्वेच्छापूर्वक सीमित करनेका परिणाम है, अर्थात् वह आत्मिक तत्त्वके उच्च स्थानसे नीचे पतन है। लेकिन इस विज्ञान-वादी पतनके साथ-साथ हेगेल्ने अरस्तूके आत्मिक विकासको भी लेना चाहा, यानी विश्वका हर एक कदम और ऊँचे विकासकी ओर उसे ले जा रहा है। हेगेल्की अपनी सबसे बड़ी देन है, यही द्वंद्वात्मक[1] विकास।

(१) **दर्शन और उसका प्रयोजन**—हेगेल्के अनुसार दर्शनका काम है, प्रकृति और तजर्बेके द्वारा सारे जगत्को जैसा वह है, वैसा जानना; उसके भीतरके हेतुका अध्ययन करना और समझना—सिर्फ बाहरी चलायमान तथा संयोग से उत्पन्न रूपोंका ही नहीं, बल्कि प्रकृतिके भीतर जो अनादि सार, समन्वयी व्यवस्था है, उसका भी। जगत्की वस्तुओंका कुछ अर्थ है, संसारकी घटनाएं बुद्धिपूर्वक हैं; ग्रह-उपग्रह-सौरमंडल बुद्धिसंगत नियमके अन्दर हैं, प्राणिशरीर सप्रयोजन, अर्थपूर्ण और बुद्धिसंगत है। चूँकि वास्त-विकता अपने गर्भके भीतर बुद्धिसंगत है, इसीलिए अपने चिन्तन या ज्ञानकी प्रक्रियाको भी हम बुद्धिसगत घटनाके रूपमें पाते हैं। चूँकि दर्शनका संबंध प्रकृतिका गभीरतासे अध्ययन करना है, इसीलिए प्रकृतिके साथ दर्शनका विकास उच्च-से-उच्चतर होता जा रहा है।

(२) **परमतत्त्व**—हेगेल्ने कान्टके अज्ञात वस्तुसार (वस्तु-अपने-भीतर) या परमात्मतत्त्वको माननेसे इन्कार कर दिया, और उसकी जगह बतलाया, कि मन (=विज्ञान) और भौतिक प्रकृति ही परमतत्त्व है, प्रकृति किसी अज्ञात परम (-आत्म) तत्त्वका बाहरी आभास या दिखलावा

---

१. Dialectical evolution.

नहीं, बल्कि वह स्वयं परमतत्त्व है। मन और भौतिक तत्त्व दो अलग-अलग चीजें नहीं, बल्कि परमतत्त्वके आत्मप्रकाशके एक ही प्रवाहके दो अभिन्न अंग हैं। मनके लिए एक भौतिक जगत् की जरूरत है, जिसपर कि वह अपना प्रभाव डाल सके, किन्तु भौतिक जगत् भी मनोमय है। "वास्तविक मनोमय[1] है, और मनोमय वास्तविक है।"

(३) **द्वन्द्वात्मक परमतत्त्व**—परमतत्त्व भौतिक और मानस जगत्से अभिन्न है, इसे हेगेल् बहुत व्यापक अर्थमें इस्तेमाल करता है। परमतत्त्व स्थिर नहीं गतिशील, चल है।—जगत् क्षण-क्षण बदल रहा है; विचार, बुद्धि, समझ या सच्चा ज्ञान सक्रिय, प्रवाहित घटना, विकासकी धारा है। विकास नीचेसे ऊपरकी ओर हो रहा है; कोई चीज—सजीव या निर्जीव, निम्न दर्जे या ऊँचे दर्जेके जन्तु—अभी अविकसित, विशेषताशून्य, सम-स्वरूप रहती है; वह उस अवस्थासे विकसित, विशेषतायुक्त, हो विभक्त होती है और कितने ही भिन्न-भिन्न आकारोको ग्रहण करती है। गर्भ, अणुगुच्छक आदिके विकासमें इसे हम देख चुके हैं[2]। ये भिन्न-भिन्न आकार जहाँ पहिली अविकसित अवस्थामें अभिन्न=विशेषता-रहित थे, अब वह एक दूसरेसे स्वरूप और स्थितिमें ही भेद नही रखते, बल्कि वह एक दूसरेके विरोधी हैं। इन विरोधियोका अपने विरोधी गुणो और क्रियाओंके कारण आपसमें द्वन्द्व चल रहा है, तो भी उस पूर्णमे वह एक है, जिसके कि वह अवयव हैं।—अर्थात् वास्तविकता अपने भीतर द्वन्द्व या विरोधी अवयवोंका स्वागत करती है। ऊपरकी ओर विकास करना वस्तुओंकी अपनी आन्तरिक "रुचि" का परिणाम है। इस तरह विकास निम्न स्थितिका प्रयोजन, अर्थ और सत्य है। निम्नमे जो छिपा, अस्पष्ट होता है, उच्च अवस्थामें वह प्रकट स्पष्ट हो जाता है। विकासकी धारा अपनी हर एक अवस्थामें पहिलेकी अपनी सारी अवस्थाओंको लिये रहती है, तथा सभी आनेवाली अवस्थाओंकी झाँकी देता है। जगत् अपनी प्रत्येक स्थितिमें पहिलेकी उपज तथा भविष्य-

१. Rational. २. देखो मेरी "विश्वकी रूपरेखा"।

द्राणी भी है। उच्च अवस्थामे पहुँचनेपर निचली अवस्था अभावप्राप्त[1] (=प्रतिषिद्ध) बन जाती है—अर्थात् इस वक्त वह वही नहीं रहती, जो कि पहिले थी, तो भी पिछली अवस्था उच्च अवस्थाके रूपमे सुरक्षित है, वह ऊपर पहुँचाई गई है। यह पहुँचना—निम्नसे ऊपरकी ओर बढ़ना, एक दूसरी विरोधी अवस्थामे पहुँचा देता है। दो रास्ते एक जगहसे फूटते हैं, किन्तु आगे चलकर उनकी दिशा एक दूसरेसे विरोधी बन जाती है। पानीकी गति उसे बर्फ बना गतिसे उलटे (कठोर, स्थिर, ज्यादा विस्तृत) रूपमे बदल देती है। पहिली अवस्थासे उसकी बिलकुल विरोधी अवस्था मे बदल जाना इसे हेगेल् द्वन्द्वात्मक घटना कहता है।

[**द्वन्द्वात्मकता**]—द्वन्द्व, विरोध सभी तरहके जीवन और गतिकी जड़ है। हर एक वस्तु द्वन्द्व है। द्वन्द्व या विरोधका सिद्धान्त ससारपर शासन कर रहा है। हरएक वस्तु बदलती और बदलकर पहिलेसे विरुद्ध अवस्थामें परिणत होना चाहती है। बीजोंके भीतर कुछ और बनने, अपनेपनसे लड़ने तथा बदलनेकी 'चाह' भरी है। द्वन्द्व (=विरोध) यदि न होता, तो जगत्मे न जीवन होता, न गति, न वृद्धि, और सभी चीजें मुर्दा और स्थिर होती। लेकिन, प्रकृतिका काम विरोध (=द्वन्द्व) तक ही खतम नही हो जाता, प्रकृति उसपर काबू पाना चाहती है, वस्तु अपने विरोधी रूपमें परिणत ज़रूर हो जाती है, लेकिन गति वही रुक नही जाती; वह आगे जारी रहती है, और आगे भी विरोधोंको दबाया और उनका समन्वय किया जाता है; इस प्रकार विरोधी एक पूर्ण शरीरके अवयव बन जाते हैं। विरोधी, एक दूसरेसे जहाँ तक सबध है, आपसमे विरोधी हैं; किन्तु जहाँ तक उस अपने एक पूर्ण शरीरसे संबध है, वे परस्पर-विरोधी नही। वहाँ तो यही परस्परविरोधी मिलकर एक पूर्ण शरीरको बनाते हैं।

विश्व निरन्तर होते विकासोंका प्रवाह है, यही उसके लक्ष्य या प्रयोजन

---

१. Negated.

हैं, वही विश्व-बुद्धिके प्रयोजन हैं। परमात्मतत्त्व वस्तुतः विश्वके विकास-का परिणाम है। लेकिन यह परिणाम जितना है, उतना सम्पूर्ण नहीं है। सच्चा सम्पूर्ण है, परिणाम (परमात्मतत्त्व) और उसके साथ विकासका सारा प्रवाह—वस्तुएँ अपने प्रयोजनके साथ खतम नहीं होतीं, बल्कि वह जो बन जाती हैं, उसीमें समाप्त होती हैं। इसीलिए दर्शनका लक्ष्य परिणाम नहीं, बल्कि उसका लक्ष्य यह दिखलाना है कि कैसे एक परिणाम दूसरे परिणामसे पैदा होता है, कैसे उसका दूसरेसे प्रगट होना अवश्यंभावी है।

वास्तविकता (परमतत्त्व[1]) मनसे कल्पित एक निराकार ख्याल नहीं, बल्कि चलता बहता प्रवाह, एक द्वन्द्वात्मक सन्तान है। उसे हमारे निराकार ख्याल पूरी तौरसे नहीं व्यक्त कर सकते। निराकार ख्याल एक अंश और उत्पन्न छोटे अंशके ही बारेमें बतलाते हैं। वास्तविकता इस क्षण यह है, दूसरे क्षण वह है; इस अर्थमें वह अभावों, विरोधों, द्वन्द्वोंसे भरी हुई है; पौधा अंकुरित होता है, फूलता है, सूखता और फिर मर जाता है; मनुष्य बच्चा होता फिर तरुण, जीर्ण, वृद्ध हो मर जाता है।

(४) **द्वन्द्ववाद**—वस्तु आगे बढ़ते-बढ़ते अपनेसे उलटे विरोधी रूपमें बदल जाती है। **सम्पूर्ण** (=अवयवी) परस्पर विरोधी अवयवोंका योग है, यह हम कह चुके। दो विरोधियोंका समागम कैसे होता है, इसे हेगेल्ने इस प्रकार समझाया है।—हमारे सामने एक चीज आती है, फिर उसकी विरोधी दूसरी चीज आ मौजूद होती है। इन दोनोंका द्वन्द्व चलता है, फिर दोनोंका समन्वय हम एक तीसरी चीज़से करते हैं। इनमें पहिली बात **वाद** है, दूसरी **प्रतिवाद** और तीसरी **संवाद**; उदाहरणार्थ—पर्मेनिदने कहा: मूल तत्त्व स्थिर, नित्य है, यह हुआ वाद। हेराक्लितुने कहा कि वह निरन्तर परिवर्तन-शील है यह हुआ प्रतिवाद। परमाणुवादियोंने कहा, यह न तो स्थिर ही है न परिवर्तनशील ही, बल्कि दोनों है; यह हुआ संवाद।

---

१. Absolute.

(५) **ईश्वर**—हेगेल्का दर्शन स्पिनोजासे अधिक क्रान्तिकारी है, किन्तु ईश्वरका मोह उसे स्पिनोजासे ज्यादा है। ईश्वर सिद्ध करनेके लिए बडी भूमिका बाँधते हुए वह कहता है—विश्व एक पागल प्रवाह, बिल्कुल ही अर्थहीन बे-लगामसी घटना नही है, बल्कि इसमे नियमबद्ध विकास और प्रगति देखी जाती है। हम वास्तविकताको आभास और सार, बाह्य और अन्तर, द्रव्य और गुण, शक्ति और उसके प्राकट्य, सान्त और अनन्त, मन (=विज्ञान) और भौतिक तत्व, लोक और ईश्वरमे विभक्त करना चाहते है, किन्तु इससे हमे झूठे भेद और मनमानी दिमागी कल्पनाके सिवाय कुछ हाथ नही आता[1] "सार ही आभास है, अन्तर ही बाह्य है, मन ही शरीर है, ईश्वर ही विश्व है।"

हेगेल् ईश्वरको विज्ञान (=विचार) कहकर पुकारता है। विश्व जो कुछ हो सकता है, वह है, अनन्तकालमे विकासकी जितनी संभावनाए है, यह उनका योग है। मन वह विज्ञान है, जो कि अब तक तैयार हो चुका है।

जगत् सदा बनाया जा रहा है। विकास सामयिक नही निरन्तर प्रवाहित है। ऐसा कोई समय नही था, जब कि विकासका प्रवाह जारी न रहा हो। परमात्मतत्त्व वह सनातन है, जिसकी ओर सारा विकास जा रहा है। विकास असत्‌मे सत्‌की ओर कभी नही हुआ। भिन्न-भिन्न वस्तुओंका विकास क्रमश जरूर हुआ है, उनमे कुछ दूसरोंके कारण या पूर्ववर्त्ती रही।

(६) **आत्मा**—विश्व-बुद्धि या विश्व-विज्ञान[2] प्राणिशरीरमे आत्मा बन जाता है। वह अपनेको शरीरमे बन्द करता है, अपने लिए एक शरीर बनाता, एक विशेष व्यक्ति बन जाता है। यह उत्पादन अनजाने होता है। किन्तु आत्मा, जिसने अपने लिए एक प्राणिशरीर बनाया, उससे वह हो जाता है, और अपनेको शरीर से भिन्न समझने लगता है।

---

१. "Natur hat weder kern noch schale". २. Idea.

चेतना उसी तत्त्वका विकास है, जिसका कि शरीर भी एक प्राकट्य है। वस्तुतः हम (=आत्मा) सिर्फ उसे ही जानते हैं, जिसे कि हम बनाते या पैदा करते हैं। हमारे ज्ञानका विषय हमारी अपनी ही उपज है, इसलिए वह ज्ञानमय है।

(७) **सत्य और भ्रम**—सत्य और भ्रमके संबंध में हेगेल्के विचार बड़े विचित्र-से हैं। उसके अनुसार भ्रम परमसत्यके प्रकट करने लिए आवश्यक है। यदि ऐसा न होता, तो जिसे हम गलतीसे उस समय सत्य कहते हैं, उससे आगे नहीं बढ़ सकते। सपूर्ण सत्य हर तरहके संभव भ्रम-पूर्ण दृष्टिविन्दुओंसे मिलकर बना है। भ्रमकी यह क्रमागत अवस्थाएं जरूरी हैं, आगे पाये जानेवाले सत्यका यह सार है, कि पीछे पार किये सारे भ्रमोंका सत्य—वह लक्ष्य जिसकी कि खोजमें वह भ्रममे फिर रहा था—होवे। इसीलिए **परतत्त्व**—निम्न और सापेक्ष सत्यके रूपमे ही मौजूद है। अनन्त सिर्फ सान्तके सत्यके तौरपर ही पाया जाता है। सत्य पूर्ण तभी हो सकता है, जब कि अपूर्ण द्वारा की जानेवाली खोजका पूरा करता हो।

(८) **हेगेल्के दर्शनकी कमजोरियाँ**—(१) हेगेल्का दर्शन विश्वको परमविज्ञान[1] के रूपमे मानता है। इस तरह बर्कलेका विज्ञानवाद और हेगेल्के दर्शनका भाव एक ही है। दोनों मन, शुद्ध-चेतनाको भौतिक तत्त्वोसे **पहिले** मानते है।

(२) हेगेल् यद्यपि विश्वमे परिवर्त्तन, प्रवाहकी बात करता है; किन्तु वास्तविक परिवर्त्तनको वह एक तरहसे इन्कार करता है। जो भविष्यमे होने-वाला है, वह पहिले हीसे मौजूद है, यह इसी बात को प्रकट करता है, और विश्वको भाग्यचक्रमे बँधा एक निरीह वस्तु बना देता है। परमतत्त्वकी एकतामे विश्वकी विचित्रताओको वह खपा देना चाहता है, और इस तरह भिन्न-भिन्न वस्तुओंवाले जगत् के व्यक्तित्वको एक मूलतत्त्वसे बढ़कर "कुछ

१. Idea.

नहीं" कह, परिवर्तन तथा विकासके सारे महत्त्वको खतम कर देता है।

(३) हेगेल् कहता है, कि सभी सत्ताओंकी एकताएं, सभी बुराई-सी जान पड़ती बातें वस्तुतः अच्छी (=शिव) हैं। ऊंचे दृष्टिकोण से वह बुराइयोंको उचित ठहराना चाहता है, और बुराइयोंको भ्रम कहकर उनसे ऊपर उठना चाहता है। दर्शनमें उसका यह औचित्य व्यवहारमें बहुत खतरनाक है, इसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक अत्याचार, वैषम्य सभीको उचित ठहराया जा सकता है।

३ – शोपन्हार (१७८८-१८६० ई०)

अर्थर शोपन्हार डेन्ज़िग्मे एक धनी बैंकरके घरमें पैदा हुआ था। उसकी माँ एक प्रसिद्ध उपन्यास-लेखिका थी। गोटिंगेन (१८०९-११ ई०) और बर्लिन (१८११-१३ ई०) के विश्वविद्यालयमें उसने दर्शन, विज्ञान, और संस्कृत-साहित्यका अध्ययन किया। कितने ही सालों तक जहाँ-तहाँ ठोकरें खानेके बाद बर्लिन विश्वविद्यालयमे उसे अध्यापकी मिली, जहाँसे १८३१ मे उसने अवकाश ग्रहण किया, और फिर माइन-तटवर्ती फ्रांक-फोर्त शहरमे बस गया।

[**तृष्णावाद**[१]]——कान्टका दर्शन वस्तु-अपने-भीतर (वस्तु-सार)के गिर्द घूमता है, शोपन्हारका दर्शन तृष्णा——सबके-भीतर (सर्वव्यापी तृष्णा)-के गिर्द घूमता है। वस्तुएं या इच्छाए कोई वैयक्तिक नहीं हैं, व्यक्ति केवल भ्रम है। तृष्णासे परे कोई वस्तु-अपने-भीतर नहीं है। तृष्णा ही कालातीत, देशातीत, मूलतत्त्व और कारण-विहीन क्रिया है। वही मेरे भीतर उत्तेजना, पशुबुद्धि, उद्यम, इच्छा, मूलके रूपमे प्रकट होती है। प्रकृतिके एक अंशके तौरपर, उसके आभासके तौरपर मैं अपनेपनसे आगाह हो जाता हूँ, मैं अपनेको विस्तारयुक्त प्राणिशरीर समझने लगता हूँ। वस्तुतः यही तृष्णा मेरी आत्मा है, शरीर भी उसी तृष्णाका आभास है।

---

१. Will. देखो पृष्ठ ५०३-४

जब मैं अपने भीतरकी ओर देखता हूँ, तो मुझे वहाँ तृष्णा (मानकी तृष्णा, खानेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा, न जीनेकी तृष्णा) दिखाई पड़ती है। जब मैं बाहरकी ओर देखता हूँ तो उसी अपनी तृष्णाको शरीरके तौरपर देखता हूँ। दूसरे शरीर भी मेरे शरीरकी ही भाँति तृष्णाके प्राकट्य हैं। पत्थरमें तृष्णा अंधी शक्तिके तौरपर प्रकट होती है, मनुष्यमें वह चेतनायुक्त बन जाती है। चुम्बककी सुई सदा उत्तरकी ओर घूमती है; पिंड गिरनेपर सीधे नीचेकी ओर लंबाकार गिरता है। एक तत्त्वको जब दूसरेसे प्रभावित किया जाता है, तो स्फटिक बनते हैं। यह सब बतलाते हैं, कि प्रकृतिमें सर्वत्र तृष्णाकी जातिकी ही शक्तियाँ काम कर रही हैं। वनस्पति-जगत्में भी अनजाने इसी तरहकी उत्तेजना या प्रयत्न दीखते हैं—वृक्ष प्रकाशकी तृष्णा रखता है, और ऊपरकी ओर जानेका प्रयत्न करता है। वह नमीकी भी तृष्णा रखता है, जिसके लिए अपनी जड़ोंको धरतीकी ओर फैलाता है। तृष्णा या आन्तरिक उत्तेजना प्राणियोंकी वृद्धि और सभी क्रियाओंको संचालित करती है। हिंस्र पशु अपने शिकार-को निगलनेकी चाह (=तृष्णा) रखता है, जिससे तदुपयोगी दांत, नख और नस-पेशियाँ उसके शरीरमें निकल आती हैं। तृष्णा अपनी जरूरतको पूरा करने लायक शरीरको बनाती है; प्रहार करनेकी चाह सींग जमाती है। जीवनकी तृष्णा ही जीवनका मूल आधार है।

जड़-चेतन, धातु-मनुष्यमें प्रकट होनेवाली यह आधारभूत तृष्णा न मनुष्य है और न कोई ज्ञानी ईश्वर। वह एक अंधी चेतनारहित शक्ति है, जो कि अस्तित्वकी चाह (=तृष्णा) रखती है। वह न देशसे सीमित है, न कालसे, किन्तु व्यक्तियोंमें देश-कालसे परिसीमित हो प्रकट होती है।

होनेकी तृष्णा, जीनेकी तृष्णा दुनियाके सारे संघर्षों दुःख और बुराइयोंकी जड़ है। तृष्णा स्वभावसे ही बुरी है, उसको कभी तृप्त नहीं किया जा सकता। निरन्तर युद्ध और संघर्षकी यह दुनिया है, जिसमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बने रहनेकी अन्धी तृष्णाएं एक दूसरेके साथ लड़ रही हैं; यह दुनिया जिसमें छोटी मछलियाँ बड़ी मछलियों द्वारा खाई

जा रही है। यह अच्छी नही, बुरी दुनिया बल्कि जितना सभव हो सकता है, उतनी बुरी दुनिया है। जीवन अंधी चाहसे अधिक और कुछ नही है। जबतक उसकी तृप्ति नहीं होती, तबतक पीडा होती है, और जब उसको तृप्ति कर दी जाती है, तो दूसरी पीडाकारक तृष्णा पैदा हो जाती है। तृष्णाओको कभी सदाके लिए सन्तुष्ट नही किया जा सकता। हर एक फूलमे काटे है। इस दुःख से बचनेका एक ही रास्ता है, वह है तृष्णाका पूर्णतया त्याग (प्रहाण), और इसके लिए त्याग और तपस्याका जीवन चाहिए।

शोपनहारके दर्शनपर बौद्ध दर्शन का बहुत प्रभाव पडा है। उसके दर्शनमे तृष्णाकी व्याख्या, और प्राधान्य उसी तरहसे पाया जाता है, जैसा कि बुद्धके दर्शनमे। बुद्धने भी तृष्णा-निरोधपर ही सबसे ज्यादा जोर दिया है।[1]

§ २. द्वैतवाद

नित्शे (१८४४-१९०० ई०)—फ्रीडरिख् नित्शे जर्मन दार्शनिक था। नित्शेने कान्टसे ज्ञानकी असम्भवनीयता ली, शोपनहारसे तृष्णा ली, किन्तु नित्शेकी तृष्णा जीने के लिए नही प्रभुताके लिए है। शोपनहार तृष्णाको त्याज्य बतलाता है, किन्तु नित्शे उसे ग्राह्य, अपने उद्देश्य—शक्तिके पानेकी साधना मानता है। डार्विनसे "योग्यतम ही बँच रहते है" इस सिद्धान्तको लेकर उसने महान् पुरुषो होको मानवताका उद्देश्य बतलाया।

(१) दर्शन—सोचना वस्तुत अ-स्पष्ट साक्षात्कार है। सोचनेमे हम सिर्फ समानतापर नजर डालते है, और असमानताओपर ख्याल नही करते, इसका परिणाम होता है, वास्तविकताका एक गलत चित्रण। कोई भी वस्तु नित्य स्थिर नहीं है—नही काल, नही सामान्य, नही कारण-सबध। न प्रकृतिमे कोई प्रयोजन है। न कोई निश्चित लक्ष्य है।

---

[1] देखो आगे "बुद्ध-दर्शन" पृष्ठ ५१५, ५१७

विश्व हमारे सुखकी कोई पर्वाह नहीं करता, नहीं हमारे आचारकी। प्रकृतिसे परे कोई दैवी शक्ति नहीं है, जो हमारी सहायता करेगी। ज्ञान, शक्ति, प्रभुता पानेका हथियार है। ज्ञानके साधनोंका विकास इस अभिप्रायसे हुआ है कि उसे अपनी रक्षाके लिए हम इस्तेमाल कर सकें। दार्शनिकोंने जगत्को वास्तविक और दिखलावे के दो जगतोंमें बाँटा। जिस जगत्. मानवको जीना है, जिसके भीतर कि मानवने अपनी बुद्धिका आविष्कार किया (परिवर्त्तन, है नहीका होना, द्वैत, द्वन्द्व, विरोध युद्धकी दुनिया) उसी दुनियासे वह इन्कारी होगया। वास्तविक जगत्को दिखलावेकी दुनिया, मायाका ससार झूठा लोक कहा गया। और दार्शनिकोंने अपने दिमागसे जिस कल्पित दुनियाका आविष्कार किया, वही हो गई, नित्य, अपरिवर्त्तनशील, इन्द्रिय-सीमा-पारी। सच्ची वास्तविक दुनियाको हटाकर झूठी दुनियाको गद्दीपर बिठाया गया। सच्चाईको खोजकर प्राप्त किया जाता है, उसे गढ़ा-बनाया नहीं जाता। किन्तु, दार्शनिकोंने अपना कर्त्तव्य—सत्यको ढूँढना-छोड़, उसे गढ़ना शुरू किया।

(२) **महान् पुरुषोंकी[1] जाति**—निट्शे, कान्ट, हेगेल आदिके दर्शनको कितना गलत बतलाता था, यह मालूम हो चुका। वह वास्तविकतावादी था, किन्तु इस दर्शनका बहुत ही खतरनाक उपयोग करता था। प्रभुता पानेके लिए ज्ञान एक हथियार है, जिसे प्रभुता पानेकी तृष्णा इस्तेमाल करती है। तृष्णा या सकल्प विश्वासपर आश्रित होता है। विश्वास झूठा है या सच्चा, इसे हमें नहीं देखना चाहिए; हमें देखना है कि वह सार्थक है या निरर्थक, उपयोगी है या अनुपयोगी। प्रभुताका प्रेम निट्शेके लिए सर्वोच्च उद्देश्य है, और महान् पुरुष पैदा करना सर्वोच्च आदर्श है—एक महान् पुरुष नहीं महान् पुरुषोंकी जाति, एक ऊँचे दर्जेकी जाति, वीरोंकी जाति। निट्शेके इसी दर्शनके अनुसार कल तक हिटलर जर्मनोंको "महान् पुरुषोंकी जाति" बना रहा था; ऐसी जाति बना रहा था, जो दुनियाको विजय करे,

---

१. Supermen.

दुनियापर शासन करे, और विश्वास रखे, कि वह शासन तथा विजय करने के लिए पैदा हुई है। इसके लिए जो भी किया जाये, निट्ज़्शे उसे उचित ठहराता है। युद्ध, पीडा, आफत, निर्बलोपर प्रहार करना अनुचित नही है। इसीलिए शान्तिसे युद्ध बेहतर है—बल्कि शान्तिको तो मृत्युका पूर्वलक्षण समझना चाहिए। हम इस दुनिया मे अपने सुख और हर्षके लिए नही हैं। हमारे जीवन का और कोई अर्थ नही, सिवाय इसके कि हम एक अगुल भी पीछे न हटें; या तो अपनेको ऊपर उठायें या खतम हो जायें। दया बहुत बुरी चीज है, यह उस आदमीके लिए भी बुरी है जो इसे करके अपने लक्ष्यसे विचलित होता है, और उसके लिए भी, जो कि दूसरेकी दया लेकर अपने को दूसरोकी नजरो में गिराता है। दया निर्बल और बलवान् दोनोंको कमजोर करती है; यह जातिके जीवन-रसको चूस लेती है।

जन्मजात रईस व्यक्तियोको अधिक सुभीता होना चाहिए, क्योंकि साधारण निम्न श्रेणीके आदमियोंसे उनके कर्तव्य ज्यादा और भारी हैं। सर्वश्रेष्ठ आदमियोंको ही शासनका अधिकार होना चाहिए और सर्व-श्रेष्ठ आदमी वही हैं, जो दया-मयासे परे हैं, खुद खतरेमें पडने तथा दूसरों-पर उसे डालनेके लिए हर वक्त तैयार रहे। हिटलर्, गोयरिंग, आदि इसी तरहके सर्वश्रेठ आदमी थे।

निट्ज़्शे जनतन्त्रता, समाजवाद, साम्यवाद, अराजकवाद सबको फजूल और असम्भव बतलाता है। वह कहताहै, कि यह जीवन जिस सिद्धान्त—योग्यतमका बॅच रहना—पर कायम है। जो उसके बरखिलाफ हैं, वे आदर्शके विरोधी हैं। वे सबल व्यक्तियोंके विकासमें बाधा डालते हैं। "आज हमारे लिए सबसे बडा खतरा है यही समानताकी हवा—शान्ति, सुख, दया, आत्मत्याग, जगत्से घृणा, जनानापन, अ-विरोध, समाजवाद, साम्यवाद, समानता, धर्म, दर्शन और साइंस सभी जीवन-सिद्धान्तके विरोधी हैं, इसलिए उनसे कोई सबध नही रखना चाहिए।"

निट्ज़्शे कहता है, महान् पुरुष उसी तरह दूसरोंको परास्त कर आगे बढ़ जायेंगे, जैसे कि मानुषने बनमानुषको।

§ ३. अज्ञेयतावाद

स्पेन्सर (१८२०-१९०३ ई०)—हर्बर्ट स्पेन्सर डर्बी (इंगलैंड) में एक मध्यमश्रेणीके परिवारमें पैदा हुआ था।

दर्शन—स्पेन्सर मानवज्ञानको इन्द्रियोंकी दुनिया तक ही सीमित रखना चाहता है, किन्तु इस दुनियाके पीछे एक अज्ञेय दुनिया है, इसे वह स्वीकार करता है। उसका कहना है—हम शान्त और सीमित वस्तुको ही जान सकते हैं; **परमतत्त्व, आदिकारण,** अनन्त का जानना हमारी शक्तिसे बाहर है। ज्ञान सापेक्ष होता है, और **परमतत्त्वको** किसीसे तुलना या भेद करके बतलाया नहीं जा सकता। चूँकि हम **परमतत्त्वके** बारेमें कोई ज्ञान नहीं पैदा कर सकते, इसलिए उसकी सत्तासे इन्कार करना भी ठीक नहीं है। विज्ञान और धर्म दोनों इस बातपर एकमत हो सकते हैं, कि सभी दृश्य जगत्के पीछे एक सत्ता, परमतत्त्व है। शक्तियाँ दो प्रकारकी होती हैं—वह शक्ति जिससे प्रकृति हमें अपनी सत्ताका परिचय देती है; वह शक्ति जिससे वह काम करता हुआ दिखाई पड़ता है—अर्थात् सत्ता और क्रिया की परिचायक शक्तियाँ।

(१) **परमतत्त्व या अज्ञेय** अपनेको दो परस्पर विरोधी बड़े समुदायोंमें प्रकाशित करता है, वह है, अन्तर और बाह्य, आत्मा और अनात्मा, मन और भौतिक तत्त्व।

(२) **विकासवाद**—हमारा ज्ञान, परमतत्त्वके भीतरी (मन) और बाहरी (जड़) प्रदर्शनतक ही सीमित है। दार्शनिकोंका काम है, कि उनमें जो साधारण प्रवृत्ति है, सभी चीजोंका जो सार्वदेशिक नियम है, उसे ढूंढ़ निकालें। यही नियम है विकासका नियम। विकासके प्रवाहमें हम भिन्न-भिन्न रूप देखते है—(१) **एकीकरण**[१] जैसे कि बादलों, बालुओंके टीले, शरीर या समाजके निर्माणमें देखते हैं; (२) **विभाजन**[२] या पिंडका

---

१. Concentration. २. Differentiation.

उसकी परिस्थितिसे अलग कर, एक अलग भाग बनाना, तथा उसे एक सगठित पिडका इस तरह बनाना, जिसमे अवयव अलग होते भी एक दूसरेसे सबद्ध हो। विकास और विनाशमे अन्तर है। विनाशमे विभाजन होता है, किन्तु सबद्धता नही। विकास भौतिक तत्त्वोका एकीकरण और गतिका वितरण है, इसके विरुद्ध विनाश गतिको हजम करता और भौतिक तत्त्वोको तितर-बितर करता है।

जीवन है, बाहरी सबधके साथ भीतरी सबधका बराबर समन्वय स्थापित करते रहना। अत्यन्त पूर्ण जीवन वह है, जिसमे बाहरी सबधोके साथ भीतरी सबधोका पूर्ण समन्वय हो।

(३) **सामाजिक विचार**—स्पेन्सरके अनुसार बड़े ही निम्न श्रेणी-की सामाजिक अवस्थामे ही सर्वशक्तिमान् समाजवादी राज्य स्वीकार किया जा सकता है। जब समाजका अधिक ऊँचा विकास हो जाता है, तो इस तरह के राज्यकी जरूरत नही रहती, बल्कि वह प्रगतिमे बाधा डालता है। राजका काम है भीतर शान्ति रखना, और बाहरके आक्रमणसे बचाना। जब समाजवादी राज्य इससे आगे बढ़ता, तथा मनुष्यके आर्थिक सामाजिक बातोमे दखल देता है, तो वह न्यायका खून करता है, और विकासमे आगे बढ़े व्यक्तियोकी स्वतत्रतापर प्रहार करता है। स्पेन्सर समाजवादके सख्त खिलाफ था, वह कहता था—वह आ रहा है, किन्तु जातिके लिए यह भारी दुर्भाग्यकी बात होगी, और वह बहुत दिन टिकेगा भी नही।

§ ४. भौतिकवाद

उन्नीसवी सदीके दर्शनमे विज्ञानवादियोका बड़ा जोर रहा, किन्तु मयू, मूल, हेल्महोल्ट्ज, ड्वान आदि वैज्ञानिकोकी खोजोने भौतिकवादको अप्रत्यक्ष रूपसे बहुत प्रोत्साहित किया।

१—बुखनेर् (१८२४-९९ ई०)

बुखनेर् का ग्रथ "शक्ति और भौतिक तत्त्व" भौतिकवादका एक महत्त्वपूर्ण ग्रथ है। उसने लिखा है कि सभी शक्तियाँ

गति हैं, और सभी चीजें गति और भौतिक तत्वोंके योगसे बनती हैं। गति और भौतिकतत्वोंको हम अलग समझ सकते है, किन्तु अलग कर नहीं सकते। आत्मा या मन कोई चीज नहीं। जीवन विशेष परिस्थितिमें भौतिकतत्वोंमे ही पैदा हो जाता है। मनकी क्रिया "बाहरसे आई उत्तेजनामे मस्तिष्ककी पीली मज्जाके सेलोंकी गति है।"

मोल्शोट् (१८२२-९३ ई०) फोगट् (१८१७-९५ ई०) कूजोल्बे (१८१९-७३ ई०), इस सदीके भौतिकवादी दार्शनिक थे। विरोधी भी इस बातको कबूल करते है, कि इस सदीके सभी भौतिकवादी दार्शनिक और साइसवेत्ता मानवता और मानव प्रगतिके जबर्दस्त हामी थे।

२ – लुड्विग् फ़्वेरबाख़ (१८०४-७२ ई०)

कान्टने अपनी "शुद्ध बुद्धि" या सैद्धान्तिक तर्कसे किस प्रकार धर्म, रूढ़ि, ईश्वरके चीथडे-चीथडे उडा दिये, किन्तु अन्तमे "भलेमानुष" बननेके ख्यालने—अथवा भले दार्शनिकोंकी पंक्तिमे बहिष्कृत न होनेके डरने, उसे थूकेको चाटनेके लिए मजबूर किया, यह हम बतला आये है। हेगेल्ने शुद्ध बुद्धि, भौतिक तजर्बे (प्रयोग)के सहारे अपने दर्शन—द्वन्द्वात्मक विज्ञानवाद—का विकास किया, यद्यपि भौतिक तत्त्वोंको विज्ञानका विकार बतला वह उल्टे स्थानपर उल्टे परिणामपर पहुँचा। हेगेल्के बाद उसके दार्शनिक अनुयायी दो भागोंमे बँट गये, एक तो हर्ग्ग जैसे लोग जो भौतिकवाद के सख्त दुश्मन थे और हेगेल्के विज्ञानवादको—आगे विकसित करनेकी बात ही क्या उसे रोककर—प्रतिगमिताकी ओर ले जा रहे थे, और दूसरा भाग था प्रगतिगामियोंका, जो कि हेगेल्के दर्शनको रहस्यवाद और विज्ञानवादसे छुडा उसके वास्तविक लक्ष्य द्वन्द्वात्मक (क्षणिक) भौतिकवादपर ले जा रहे थे। फ़्वेरबाख़ इस प्रगतिगामी हेगलीय दलका अगुआ था। इसी दलमें आगे मार्क्स् और एन्गेल्स शामिल हुए।

सत्ताधारी—धनिक और धर्मानुयायी—भौतिकवादको अपना परम शत्रु समझते हैं क्योंकि वह समझते हैं कि परलोककी आशा और ईश्वरके

न्यायपरसे विश्वास यदि टूट गया, तो मेहनत करते-करते भूखों मरनेवाली जनता उन्हें खा जायेगी, और भौतिकवादी विचारकोंके मतानुसार भूतल-पर स्वर्ग और मानव-न्याय स्थापित करने लगेगी। इसलिए पुरोहितोंने कहना शुरू किया, कि भौतिकवादी गंदे, इन्द्रिय-लोलुप, "अधर्म"-परायण, झूठे, अविश्वासी, "ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्"-वादी हैं; उनके विरुद्ध विज्ञान-वादी संयमी, धर्मात्मा, स्वार्थत्यागी, विरागी, आदर्शवादी होते हैं।

फ्वेरबाखका मुख्य ग्रंथ है "ईसाइयतसार"।[1] इसमें लेखकने ईसाई धर्मकी शवपरीक्षा द्वारा सारे धर्मोंकी वास्तविकता दिखलाई है। "ईसाइयत-सार" के दो भाग हैं, पहिले भागका प्रतिपाद्य विषय है "धर्मका सच्चा या मानव शास्त्रीय सार।" दूसरे भागमें "धर्मका झूठा या मजहबी सार" बतलाया गया है। भूमिकामें मनुष्य और धर्मके मुख्य स्वभावोंकी विवेचना की गई है। मनुष्यका मुख्य स्वभाव उसकी अपनी जातिकी चेतना **मानव-स्वभाव** है। यह चेतना कितनी है, इसका पता उसके भावुक भावों और संवेदनासे लगता है।

"तो जिसके बारेमें वह महसूस करता है, वह मानव स्वभाव क्या है, अथवा मनुष्यकी खास मानवता, उसकी विशेषता क्या है? बुद्धि, इच्छा, स्नेह। . . .

"मनुष्यके अस्तित्वके आधार उसके मनुष्य होनेके तौरपर उसकी सर्वोच्च शक्तियाँ हैं—समझना (बुद्धिकी क्रिया), इच्छा करना और प्रेम। मनुष्य है समझने, प्रेम करने और इच्छा करनेके लिए। . . . . . .

"सिर्फ वही सच्चा पूर्ण और दिव्य है, जो अपने लिए अस्तित्व रखता है। किन्तु ऐसा ही तो प्रेम है, ऐसी ही तो बुद्धि है, ऐसी ही तो इच्छा है। वैयक्तिक मानवमें मनुष्यके भीतर यह दिव्यत्रयी—बुद्धि, प्रेम, इच्छा—का समागम है। बुद्धि, प्रेम, इच्छा ऐसी शक्तियाँ नहीं हैं जिनपर मनुष्यका अधिकार है। उनके बिना मनुष्य कुछ नहीं है। वह जो

---

१. The Essence of Christianity.

कुछ है वह उनकी ही बजहसे है। यही उसके स्वभावकी बुनियादी ईंटें हैं। वह न उन्हें (स्वामीके तौरपर) रखता है, न उन्हें ऐसी सजीव, निर्धायक, नियामक शक्तियाँ—दिव्य परम शक्तियाँ—बनाता है, जिनके कि प्रतिरोधके वह खिलाफ जा सके।'[1]

फ़्वेरबाखने बतलाया—"मनुष्यके लिए परमतत्त्व (श्रेष्ठतम वस्तु) उसका अपना स्वभाव है"। "मनोभावसे जिस दिव्य स्वभावका पता लगता है, वह वस्तुतः और कुछ नहीं। वह है खुद अपने प्रति आनन्दविभोर हो प्रसन्नताकी भावना, अपने ही भीतरकी आनन्दमयता।" उसने धर्मके सारके बारेमें कहा—जहाँ "इन्द्रियोंके प्रत्यक्षमें विषय (=वस्तु)-संबंधी चेतनाको अपनी ('आत्मा' की) चेतनासे फ़र्क किया जा सकता है; धर्म में विषय-चेतना और आत्मचेतना एक बना दी जाती है।" वस्तुतः मनुष्यकी आत्मचेतनाको एक स्वतंत्र अस्तित्वके तौरपर आसमानपर चढ़ाना, धर्म है। इसी तरह उसे पूजाकी वस्तु बनाया जाता है। फ़्वेरबाखने इसे साफ करते हुए कहा—

"किसी मनुष्यके जैसे विचार, जैसी प्रवृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही उसका ईश्वर होता है; जितने मूल्यका मनुष्य होता है, उतना ही उसका ईश्वर होता है, उससे अधिक नहीं। ईश्वर-संबंधी चेतना (=चिन्तन) आत्म (अपनी)-चेतना है, ईश्वर-संबंधी ज्ञान (उसका) आत्म (=अपना) ज्ञान है। उसके ईश्वरसे तू उस मनुष्यको जानता है, और उस मनुष्यसे उसके ईश्वरको; दोनों (मनुष्य और उसका ईश्वर) एक हैं।"[2]

दिव्यतत्त्व मानवीय है, इसकी आलोचना करनेके बाद वह फिर कहता है—

'धर्म (=मजहब)-संबंधी विकास...विशेषकर इस तरह पाया जाता है, कि मनुष्य ईश्वरको अधिकाधिक कल्पित करता है, और अधिकाधिक

---

१. The Essence of Christianity, p. 32.

२. Ibid, p. 12.

अपनेपर लगाता है। ईश्वरीय वाणीके सबधमे यह बात खास तौरसे स्पष्ट है। पीछेके युग या सस्कृत जनोके लिए जो बात प्रकृति या बुद्धिसे मिली होती है, वही बात पहिलेके युग या अ-सस्कृत जनो को ईश्वर-प्रदत्त (मालूम होती) थी।

"इस्राइलियो (=यहूदी धर्मानुयायियो) के अनुसार ईसाई स्वतत्र विचारवाला (=धर्मकी पाबदी से मुक्त) है। बातोमे इस तरह परिवर्तन होता है। जो कल तक धर्म (=मजहब) था, आज वह वैसा नही रह गया है, जो आज नास्तिकवाद[1] है, कल वही धर्म होगा।"[2]

धर्मका वास्तविक सार क्या है, इसके बारेमे उसका कहना है—

"धर्म मनुष्यको अपने आपसे अलग कराता है, (इसके कारण) वह (मनुष्य) अपने सामने अपने प्रतिवादीके तौरपर ईश्वरको ला रखता है। ईश्वर वह है, जो कि मनुष्य नही है—मनुष्य वह है, जो कि ईश्वर नही है।

"ईश्वर और मनुष्य दो विरोधी छोर है; ईश्वर पूर्णतया भावरूप, वास्तविकताओका योग है, मनुष्य पूर्णतया अभावरूप, सभी अभावोका योग है।

"परन्तु धर्ममे मनुष्य अपने निजी अन्तर्हित स्वभावपर ध्यान करता है। इसलिए यह दिखलाना होगा, कि यह प्रतिवाद, यह ईश्वर और मनुष्यका विभाजन—जिसे लेकर कि धर्म (अपना काम) शुरू करता है—मनुष्यका उसके अपने स्वभावसे विभाजन करना है।"[3]

अपने ग्रथके दूसरे भागमे फ्वेरबाखने धर्म झूठे (अर्थात् मजहबी) सारपर विवेचन करते हुए कहा है—

"धर्मकेलिए सपूर्ण वास्तविक मनुष्य, प्रकृतिका वह भाग है, जोकि व्यावहारिक है, जोकि निश्चय करता है, जोकि समझ-बूझकर (स्वीकार किये) लक्ष्योके अनुसार काम करता है.. जो कि जगत्को उसके अपने

---

१. Atheism. २. वही, pp. 31-32. ३. वही, p. 33.

भीतर नही सोचता, बल्कि सोचता है उन्ही लक्ष्यों या आकाक्षाओंके सबधमे। इसका परिणाम यह होता है कि जो कुछ व्यावहारिक चेतनाके पीछे छिपा रखा गया है, तो भी जो सिद्धान्तका आवश्यक विषय है, उसे मनुष्य और प्रकृतिके बाहर एक खास वैयक्तिक सत्ताके भीतर ले जाता है।—यहाँ सिद्धान्त बहुत मौलिक और व्यापक अर्थमे लिया गया है, जिसमें वास्तविक (जगत्-सबधी) चिन्तन और अनुभव (=प्रयोग) के सिद्धान्त, तथा बुद्धि (=तर्क) और साइसके (सिद्धान्त) शामिल है।"[1]

इसी कारणसे फ्वेरबाख जोर देता है, कि हम ईसाइयत (=धर्म) से ऊपर उठे। धर्म झूठे तौरसे मनुष्य और उसकी आवश्यक सत्ताके बीचके सबधको उलट देता है, और मनुष्यको खुद मानवीय स्वभावके सारको पूजने उसपर विश्वास करनेके लिए परामर्श देता है। ऐसी प्रवृत्तिका विरोध करते हुए फ्वेरबाख बतलाता है कि "मनुष्यकी उच्चतम सत्ता, उसका ईश्वर वह स्वय है।" "धर्मका आदि, मध्य और अन्त मानव है।" यहाँ फ्वेरबाख धर्मको एक खास अर्थमे प्रयुक्त करता है—मानवता-धर्म। वह फिर कहता है—

"धर्म आत्मा-चेतनाका प्रथम स्वरूप है। धर्म पवित्र चीज है, क्योकि वह प्राथमिक चेतनाकी कथाए है। किन्तु जो चीज धर्ममे प्रथम स्थान रखता है—अर्थात् ईश्वर— वह खुद और सत्यके अनुसार दूसरे (दर्जेका) है क्योंकि वह वस्तुरूपेण सोचा गया मनुष्यका स्वभाव मात्र है, और जो चीज धर्मके लिए दूसरे दर्जेकी है—अर्थात् मानव—उसे प्रथम **बनाना** और **घोषित** करना होगा। **मानव**केलिए प्रेम शाखा-स्थानीय प्रेम नही होना चाहिए, उसे मूलस्थानीय होना चाहिए, यदि मानवीय स्वभाव **मानव**केलिए श्रेष्ठतम स्वभाव है, तो, व्यवहारत., **मनुष्यके प्रति मनुष्यके प्रेम**को भी उच्चतम और प्रथम नियम बनाना चाहिए। **मनुष्य**

---

१. **वही**, p. 187.

मनुष्यके लिए ईश्वर है, यह महान् व्यावहारिक सिद्धान्त है; यह धुरी है, जिसपर कि जगत्का इतिहास चक्कर काटता है।"[1]

इस उद्धरणसे मालूम होता है, कि फ़्वेरबाख यद्यपि धर्मकी कड़ी दार्शनिक आलोचना करता है, किन्तु साथ ही आजके नास्तिकवादको कलका धर्म भी देखना चाहता है। वह भौतिकवादको धर्मके सिंहासन पर बैठाना चाहता था।—"मानव और पशुके बीचका वास्तविक भेद धर्मका आधार है। पशुओंमें धर्म नहीं है।"[2]—यह भी इसी बातको बतलाता है।

फ़्वेरबाख यद्यपि धर्म शब्दको खारिज नहीं करना चाहता था, किन्तु उसके विचार धर्म-विरोधी तथा भौतिकवादके समर्थक थे—खासकर धर्मके दुर्गके भीतर पहुँचकर वह वैसा ही काम करना चाहते थे। भला यह धर्म तथा सत्ताधारियोंके पिट्ठुओंको कब पसन्द आ सकता था? प्रोफेसर डूरिंगने फ़्वेरबाखके खिलाफ कलम चलाई थी, जिसका कि उत्तर १८८८ ई० में एन्गेल्सने अपने ग्रंथ "लुड्विग फ़्वेरबाख" मे दिया।

३ – मार्क्स (१८१८-८३ ई०)

कार्ल मार्क्सका जन्म राइनलैंड के ट्रेवेज नगरमे हुआ था। उसने बोन बर्लिन और जेनाके विश्वविद्यालयोंमे शिक्षा पाई। जेनामे उसने "देमोक्रितु और एपीकुरुके प्राकृतिक दर्शन" पर निबंध लिखा था, जिसपर उसे पी-एच० डी० (दर्शनाचार्य) की उपाधि मिली। मार्क्स भौतिकवादी बननेसे पहिले हेगेल्के दर्शनका अनुयायी था। राजनीतिक, सामाजिक विचार उसके शुरू हीसे उग्र थे इसलिए जर्मनीका कोई विश्वविद्यालय उसे अध्यापक क्यों रखने लगा। मार्क्सने पत्रकारकलाको अपनाया और २४ सालकी उम्रमें "राइनिश् त्साइटुङ' पत्रका संपादक बना। किन्तु, प्रुशियन सरकार उसे बहुत खतरनाक समझती थी, जिसके कारण देश छोड़कर मार्क्सको विदेशोंमें मारा-मारा फिरना पड़ा। पहिले वह पेरिसमें रहा, फिर ब्रुसेल्स (बेल्जि—

---

१. वही, p. 270-71 २. वही, p. 1

जियम) में। वहाँकी सरकारोंने भी प्रुशियाके नाराज होनेके डरसे मार्क्सको चले जानेको कहा और अन्तमें मार्क्स १८४९ में लंदन चला गया। उसने बाकी जीवन वहीं बिताया।[1]

मार्क्स दर्शनका विद्यार्थी विश्वविद्यालय हीसे था, और खुद भी एक प्रथम श्रेणीका दार्शनिक था; किन्तु उसके सामाजिक और राजनीतिक विचार इतने उग्र, अद्वितीय और दृढ़ थे, कि उसका नाम जितना एक समाजशास्त्र, अर्थनीति और राजनीतिके महान् विचारकके तौरपर मशहूर है, उतना दार्शनिकके तौरपर नहीं। इसमें एक कारण और भी है। कलाकी भाँति दर्शन भी बैठे-ठाले सम्पत्ति-शालियोंके मनोरंजनका विषय है। वह जिस तरहका दर्शन चाहते हैं, मार्क्सका दर्शन वैसा नहीं है; फिर मार्क्सको वह क्यों दार्शनिकोंमें गिनने लगे?

मार्क्सके दर्शनके बारेमें हमने खास तौरसे "वैज्ञानिक भौतिकवाद" लिखा है, इसलिए यहाँ दुहरानेकी जरूरत नहीं है।

(१) मार्क्सीय दर्शनका विकास—आधुनिक युगके अभौतिकवादी यूरोपीय दर्शनोंका चरम विकास हेगेल्के दर्शनके रूपमें हुआ, और सारे मानव इतिहासके भौतिकवादी, वस्तुवादी दर्शनोंका चरम विकास मार्क्स् के दर्शनमे।

प्राचीन यूनानके युनिक दार्शनिक भौतिकतत्त्वको सभी वस्तुओंका मूल, और चेतनाके लिए भी पर्याप्त समझते थे, इसीलिए उन्हे भूतात्मवादी[2] कहा जाता था। स्तोइक भी भौतिकतत्त्वसे इन्कार नहीं करते थे, किन्तु भौतिकवादका ज्यादा विकास देमोक्रितु और एपीकुरुने किया, जिनपर कि मार्क्सने विश्वविद्यालयके लिए अपना निबंध लिखा था। रोमके लुक्रेशियसने अपने समयमें भौतिकवादका झंडा नीचे गिरने नहीं दिया। मध्ययुगमें विचार-स्वातंत्र्य के लिए जैसे गुंजाइश नहीं थी, उसी तरह भौतिकवादके लिए भी अवकाश नहीं था। मध्ययुगसे बाहर निकलते ही हम यूरोपमे

---

१. विशेषके लिए देखो मेरा "मानव समाज", ४१०-३८

२. Hylozoist हुलो=हेवला, भूत; जोए=जीवन, आत्मा।

बारुच स्पिनोजाको देखते हैं, जो है तो विज्ञानवादी, किन्तु उसके विचार ज्यादातर यूनानी भूतात्मवादियोंकी तरहके हैं। इंगलण्डमें टामस् हॉब्स (१५८८-१६७९) ने भौतिकवादको जगाया। अठारहवीं सदीमें फ्रेंच क्रान्ति (१७९२ ई०) के पहिले जो विचार-स्वातंत्र्यकी बाढ़ आई थी, उसने दीदेरो, हेल्वेशियो, दोलबाश्,[1] लामेत्री, जैसे भौतिकवादी दार्शनिक पैदा किये। उन्नीसवीं सदीमें लुड्विग् फ्वेरबाख्ने भौतिकवादपर कलम उठाई थी। फ्वेरबाख्का प्रभाव मार्क्स पर भी पड़ा था। मार्क्सने हेगेल्की द्वन्द्वात्मक प्रक्रियासे मिलाकर भौतिकवादी दर्शनका पूर्णरूप हमारे सामने पेश किया, और साथ ही दर्शनको कल्पनाक्षेत्रमें बौद्धिक व्यायाम करनेवाला न बना उसका प्रयोग समाजशास्त्रमें किया।

विज्ञानवादी धारा समाजशास्त्र में धुंध और रहस्यवाद छोड़ और कुछ नहीं पैदा करती। वह समाजकी व्यवस्थामें किसी तरहका दखल देने की जगह ईश्वर, परमतत्त्व, अज्ञेयपर विश्वास, श्रद्धा रखनेकी शिक्षामात्र दे सकती है। लेकिन मार्क्सीय दर्शनके विचार इससे बिलकुल उलटे है। मानव-जातिकी भाँति ही मानव समाज—उसकी आर्थिक, धार्मिक व्यवस्था—प्रकृतिकी उपज है। वह प्रकृतिके अधीन है, और तभी तक अपना अस्तित्व कायम रख सकता है, जबतक प्रकृति उसकी आवश्यकताओंको पूरा करती है। भौतिक उपज—खाना, कपड़ा आदि—तथा उस उपजके साधनोंपर ही मानव-समाज कायम है।"

"महान् मानसिक संस्कृति," "भव्य विचार", "दिव्य चिन्तन"—चाहे कैसे ही बड़े-बड़े शब्दोंको इस्तेमाल कीजिए; हैं वह सभी भौतिक उपजकी करतूतें।

"ना कुछ देखा भाव-भजनमें ना कुछ देखा पोथीमे।
कहैं कबीर सुनो भाई सन्तो, जो देखा सो रोटी में।।"

---

१. इसका मुख्य ग्रंथ Systems de la Nature १७७० में प्रकाशित हुआ।

अथवा—

"भूखे भजन न होय गोपाला। लेले अपनी कंठी माला।।"

दर्शनके लिए अवसर कब आया? जब कि प्रकृतिपर मनुष्यकी शक्ति ज्यादा बढ़ी, मनुष्यके श्रमकी उपजमें वृद्धि हुई; उसका सारा समय खाने-पहननेकी चीजोंके संपादनमें ही नहीं लगकर कुछ बचने लगा, तथा बैठे-ठाले व्यक्तिके लिए दूसरे भी काम करनेको तैयार हुए। जब इस तरह आदमी कामसे मुक्त रहता है, उसी समय वह सोचने, तर्क-वितर्क करने, योजना बनाने, "भव्य संस्कृति," "ब्रह्म-ज्ञान" पैदा करनेमें समर्थ हो सकता है। और जगहोंकी भाँति समाजमें भी भौतिकतत्त्व या प्रकृति ही मनकी माँ है, मन प्रकृतिका जनक नहीं।

भौतिकवाद "मानस-जीवन" की विशेषताओंकी व्याख्या जितना अच्छी तरह कर सकता है, विज्ञानवाद वैसा नहीं कर सकता; क्योंकि विज्ञानवाद समझता है, कि विचार या विज्ञानका पृथिवी और उसकी वस्तुओंसे कोई संबंध नहीं है, वह अपने भीतरसे उत्पन्न होता है। हेगेल् अपने "दर्शन-इतिहास" मे कैसी ऊल-जलूल व्याख्या करता है—"यह अच्छा (=शव), यह बोध . . . ईश्वर है। ईश्वर जगत्पर शासन करता है। उसके संस्कारका स्वरूप, उसकी योजनाकी पूर्ति विश्व इतिहास है।" बूढ़े ईश्वरने एक ही साथ बाबा आदम, बीबी हौवा, अथवा ऋषि-मुनि, वेश्याएँ, हत्यारे, कोढ़ी, पैदा किये; साथ ही भूख और दरिद्रता, आतशक और ताड़ीको पापियों-के दंडके लिए पैदा किया। उन्हें खुद उस तरहका पैदा किया गया हो, कि वह उन पापोंको करें, और फिर न्यायका नाट्य किया जाये और उन्हे दंड दिया जाये, क्या मजाक!! और वह भी एक दिनका नहीं, अनादिसे अनन्त कालतक यह प्रहसन-लीला चलती रहेगी। यह है ईश्वर, जिसे कि विज्ञानवादी दार्शनिक फाटकसे नहीं खिड़कीके रास्ते द्रविड-प्राणायाम द्वारा हमारे सामने रखना चाहते हैं।

यूनानी दार्शनिक पर्मेनिद—इलियातिकों के नेता—की शिक्षा थी, कि हर एक चीज अचल-अनादि, अनन्त, एकरस, अपरिवर्तनशील, अविभाज्य,

अविनाशी है। ज़ेनो (३३६-२४६ ई० पू०) ने वाणके दृष्टान्तको देकर सिद्ध करना चाहा, कि वाण हर क्षण किसी न किसी स्थानपर स्थित है, इसलिए उसकी गति भ्रम के सिवा कुछ नहीं है। इस प्रकार जिसके चलनेको लोग आँखोसे साफ देखते है, उसने उससे भी इन्कार कर स्थिरवादको दृढ़ करना चाहा। इसके विरुद्ध हेराक्लितुको हम यह कहते देख चुके हैं, कि संसारमें कोई ऐसा पदार्थ नही जो गतिशील न हो। 'हर एक चीज बह रही है, कोई चीज खड़ी नही है ("पान्त रेह")। उसी नदीमे हम दो बार नहीं उतर सकते, क्योकि दूसरी बार उतरते वक्त वह दूसरी ही नदी होगी। उसके साथी क्रातिलोने कहा, "उसी नदीमे दो बार उतरना असंभव है, क्योंकि नदी लगातार बदल रही है।" परमाणुवादी देमोक्रितुने गति—खासकर परमाणुओकी गति—को सभी वस्तुओंका आधार बतलाया। हेगेल्ने गति तथा भवति (=अ-वर्तमानका वर्त्तमान होना) का समर्थन किया।

(२) **दर्शन**—गति, परिवर्तनवाद हेगेल्के दर्शनका आधार है हेगेल्के इस गतिवादका और संस्कार करके मार्क्सने अपने दर्शनकी स्थापना की। विश्व और उसके सजीव—निर्जीव वस्तुओं और समाजको भी दो दृष्टियोंसे देखा जाता है, एक तो पर्मेनिद या ज़ेनोकी भाँति उन्हें स्थिर अचल मानना—स्थिरवाद; दूसरे हेराक्लितु और हेगेल्का गतिवाद (क्षणिक वाद (=क्षण-क्षण परिवर्तनवाद)। प्रकृति स्थिरवादके विरुद्ध है, इसे जैसे राहका सीधा सादा बटोही कह सकता है, वैसे ही आइन्स्टाइन भी बतलाता है। जिन तारोको किसी समय अचल और स्थिर समझा जाता था, आज उनके बारेमे हम जानते हैं, कि वह कई हजार मील प्रति घंटेकी चालसे दौड रहे हैं। पिंडोके अत्यन्त सूक्ष्म अंश परमाणु दौड़ रहे हैं, और उनके भी सबसे छोटे अवयव एलेक्ट्रन परमाणुके भीतर चक्कर काटते तथा कक्षासे दूसरी कक्षाकी ओर भागते देखे जाते हैं।[1] वृक्ष पशु आज वही नही हैं, जैसा कि उन्हे "ईश्वरने" कभी बनाया था। आजके प्राणी

---

१. देखो "विश्वकी रूपरेखा"।

वनस्पति बिलकुल दूसरे हैं, इसे आप भूगर्भशास्त्रसे जानते हैं। आज कहाँ पता है, उन महान् सरीसृपोंका जो तिमहले मकानके बराबर ऊँचे तथा एक पूरी मालगाड़ी-ट्रेनके बराबर लम्बे होते थे।' करोड़ों वर्ष पहिले यह पृथ्वी जिनकी थी, आज उनका कोई नामलेवा भी नही रह गया। उस समय न आम का पता था, न देवदारका, न उस वक्तके जंगलोंमें हिरन, भेड़, बकरी,गाय, या नीलगायका पता था। बानर, नर-बानर और नर तो बहुत पीछे आये। सर्वशक्तिमान् खुदा बेचारा सृष्टि बनाते वक्त इन्हें बनानेमें असमर्थ था। आज मनुष्य प्रयोग करके इस लायक हो गया, कि वह यार्कशायरके सूअरों, अनरस-स्ट्राबरी, काले गुलाबको पैदा कर उनकी नसलको जारी रख सकता है।

इस प्रकार इसमे कोई शक नही है, कि विश्वमे कोई स्थिर वस्तु नही है। मैं जिस चीडके बक्सको चौकी बनाकर इस वक्त लिख रहा हूँ, वह भी क्षण-क्षण बदल रही है, किन्तु बदलना जिन परमाणुओं, एलेकट्रनोके रूपमे हो रहा है, उन्हें हम आँखोसे देख नही सकते। यदि हमारी आँखोकी ताकत करोड़गुना होती है, तो हम अपनी इस छोटीसी "चौकी" को उड़ते हुए सूक्ष्म कणोंका समूह मात्र देखते। ये कण बहुत धीरे-धीरे, और अलग-अलग समय "चौकी" की सीमा पार करते है, इसीलिए चौकीको जीर्ण-शीर्ण होकर टूटनेमे अभी देर लगेगी, शायद तबतक यहाँ देवलीमें रहकर लिखनेकी मुझे जरूरत नहीं रहेगी।

निरन्तर गतिशील भौतिकतत्त्व इस विश्वके मूल उपादान हैं। किसी बाह्य दृश्यको देखते वक्त हमको बाहरी दिखलावटी स्थिरताको नही लेना चाहिए, हमे उसे उसके भीतरकी अवस्थामे देखना चाहिए। फिर हमें पता लग जायेगा, कि गतिवाद विश्वका अपना दर्शन है। गतिवादको ही द्वन्द्ववाद भी कहते हैं।

(क) द्वन्द्ववाद[2]—हेराक्लितु और हेगेल्—और बुद्धको भी ले लीजिये—गतिवाद, अनित्यतावाद, क्षणिकवाद के आचार्य थे, दर्शनकी व्याख्या करते वक्त वे द्वन्द्ववादपर पहुँचे। हेराक्लितुने कहा—"विरोधिता (= द्वन्द्व)

१. देखो "विश्वकी रूपरेखा"। २. Dialectic.

सभी सुखोंकी माँ है।" हेगेल्ने कहा "विरोधी वह शक्ति है, जो कि चीजोंको चालित करती है।" विरोध क्या है? पहिलीकी स्थितिमें गड़बड़ी पैदा करना। इसे द्वन्द्ववाद इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इस वादमें परिवर्तनका कारण वस्तुओं, सामाजिक संस्थाओंमें पारस्परिक विरोध या द्वन्द्वको मानते हैं। हेगेल्ने द्वन्द्ववादको सिर्फ विचारोंके क्षेत्र तक ही सीमित रखा, किन्तु मार्क्सने इसे समाज और, उसकी सस्थाओं तथा दूसरी जगहोंमें भी एकसा लाभ बतलाया। वाद, प्रतिवाद, सवादका दृष्टान्त हम दे चुके हैं।[1] द्वन्द्ववादके इन अवयवोंका उपयोग प्राणिविकासमें देखिये: लकाशायरमें सफेद रगके तेलचट्टे जैसे फतिंगे थे। वहाँ मिले खड़ी हो जाती हैं, जिनके धुएँ से धरती, वृक्ष, मकान सभी काले रगके हो जाते हैं। जितने तेलचट्टे अब भी सफेद हैं, उन्हे उस काली जमीनमे दूरसे ही देखकर पक्षी तथा दूसरे कृमि-भक्षी प्राणी खा रहे हैं, डर है, कि कुछ ही समयमे "तेलचट्टे" नामशेष रह जायेंगे। उसी समय उसी धुएँका एक ऐसा रासायनिक प्रभाव पड़ता है कि उनमें जाति-परिवर्तन होकर स्थायी पुश्तोंके लिए काले तेलचट्टे पैदा हो जाते हैं। धीरे-धीरे उनकी औलाद बढ़ चलती है। इस बीचमें सफेद तेलचट्टे बड़ी तेजीके साथ भक्षक प्राणियोंके पेटमें चले जाते हैं। दस वर्ष बाद लोग प्रश्न करते हैं—"पहिले यहाँ सफेद तेलचट्टे बहुत थे, कहाँ गये वह? और ये काले फतिंगे कहाँसे चले आये?" यहाँ भी द्वन्द्ववाद हमारे काम आता है। —(१) सफेद "तेलचट्टा" था, (२) फिर प्रतिकूल परिस्थिति—सभी चीजोंका काला होना—उपस्थित हुई और परिस्थिति-का उनसे द्वन्द्व चला, (३) अन्तमें जाति-परिवर्तन से काले तेलचट्टे पैदा हुए, जिनका रग काली परिस्थिति में छिप जाता है, और भक्षकोंको उनके ढूँढ़नेमें काफी श्रम और समय लगाना पड़ता है। इसलिए वह बचकर बढ़ने लगते हैं। पहिली अवस्था वाद, दूसरी विरोधी अवस्था प्रतिवाद है, दोनोंके द्वन्द्वसे तीसरी नई चीज जो पैदा हुई, वह संवाद है। सवादकी

---

१. देखो "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ १४

अवस्थामें जो काला फतिंगा हमारे सामने आया है, वह वही सफेद फतिंगा नहीं है—उसकी अगली पीढ़ियाँ सभी काले फतिंगोंकी हैं। वह एक नई चीज, नई जाति है। यह ऊपरी चमड़ेका परिवर्तन नही बल्कि अन्तस्तमका परिवर्त्तन, आनुवंशिकताका परिवर्त्तन (=जाति-परिवर्त्तन) है। इस परिवर्त्तनको "द्वन्द्वात्मक परिवर्तन"[1] कहते हैं।

हमने देखा कि गति या क्षणिकवादको मानते ही हम द्वन्द्व या विरोधपर पहुँच जाते हैं। ऊपरके फतिंगेवाले दृष्टान्तमें हमने फतिंगे और परिस्थिति-को एक समय देखा, उस वक्त इन दो विरोधियोंका समागम पर द्वन्द्वके रूप-में हुआ। गोया द्वन्द्ववाद इस प्रकार हमें विरोधियोंके समागम[2] पर पहुँचाता है। वाद, प्रतिवादका भगड़ा मिटा संवादमें, जिसे कि द्वन्द्वात्मक परिवर्त्तन हमने बतलाया। यह परिवर्त्तन मौलिक परिवर्त्तन है। यहाँ वस्तु ऊपरसे ही नही बल्कि अपने गुणोंमें परिवर्तित हो जाती है—जैसे कि अगली सन्तानो तक के लिए भी बदल गये लकाशायरके तेलचट्टोंने दिखलाया। इसे **गुणात्मक-परिवर्त्तन** कहते है। वादको मिटाना चाहता है प्रतिवाद, प्रतिवाद का प्रतिकार फिर सवाद करना है। इस प्रकार वादका अभाव प्रतिवादसे होता है, और प्रतिवादका अभाव सवादसे अर्थात् सवाद अभावका अभाव या **प्रतिषेधका प्रतिषेध**[3] है । बिच्छूका बच्चा माँको खाकर बाहर निकलता है, यह कहावत गलत है, किन्तु "प्रतिषेधका प्रतिषेध" को समझने-केलिए यह एक अच्छा उदाहरण है। पहिले दादी बिच्छू थी, उसको खतम (=प्रतिषेध) कर माँ बिच्छू पैदा हुई, फिर उसे भी खतमकर बेटी बिच्छू पैदा हुई। पहिली पीढ़ीका प्रतिषेध दूसरी पीढ़ी है, और दूसरीका तीसरी पीढ़ी प्रतिषेधका प्रतिषेध है। चाहे विचारोंका विकास हो चाहे प्राणीका विकास, सभी जगह यह प्रतिषेधका प्रतिषेध देखा जाता है।

विरोधि-समागम, गुणात्मक-परिवर्त्तन, तथा प्रतिषेधका प्रतिषेधके

---

१. Dialectical change.	२. Union of opposites.
३. Negation of negation.

बारेमें हमने अपनी दूसरी पुस्तक[1] में लिखा है, इसलिए यहाँ इसे इतने पर ही समाप्त करते हैं।

(ख) विज्ञानवादकी आलोचना—विज्ञानवादियोमे चाहे कान्टको लीजिए या बर्कलेको, सबका जोर इसपर है, कि साइसवेत्ता जिस दुनिया-पर प्रयोग करते है, वह गलत है। साइसवेत्ताकी वास्तविक दुनिया क्या है, इसे जानते ही नही, वास्तविक दुनिया (=विज्ञान जगत्)का जो आभास मन उत्पन्न करता है, वह तो सिर्फ उसीको जान सकते है। वह कार्य-कारणको साबित नही कर सकते। लोहासे आपको दागा जा रहा है। आप यहाँ क्या जानते है? लोहेका लाल रग, और बदनमे आच। रंग और आंचके अतिरिक्त आप कुछ नही जानते और यह दोनों मनकी कल्पना है। इस प्रकार साइसके नियम या सभावनाए मनकी आदत मात्र हैं।

मार्क्सवादका कहना है आप किसी चीजको जानते हैं, तो उसमे विचार जरूर शामिल रहता है, लेकिन इसका मतलब यह नही कि आप लाल और आच मात्र ही जानते है। ज्ञानका होना ही असभव हो जायगा, यदि वस्तुकी सत्तासे आप इन्कार करते हैं। जिस वक्त आप ज्ञानके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, उसी वक्त ज्ञाता और ज्ञेयको भी स्वीकार कर लेते है; बिना जानने-वाले और जानी जानेवाली चीजको जानना कैसा? बिना उसके संबंधके हम ख्यालमात्रसे विश्वके अस्तित्वके जानकार नही होते, फिर यह अर्थ कैसे होता है, कि आप सिर्फ अपने विचारोंके ही जानकार है। इन्द्रिय और विषयका जब सन्निकर्ष (=योग) होता है, तो पहिले-पहिल हमे वस्तुका अस्तित्वमात्र ज्ञात होता है—प्रत्यक्षको दिग्नाग और धर्मकीर्तिने भी कल्पना-अपोढ़ (=कल्पनासे रहित) माना है। लाल रंग, और आंच तो पीछेकी कल्पना है, जिसे वस्तुत. प्रत्यक्षमे गिनना ही नहीं चाहिए, प्रत्यक्ष—सारे ज्ञानोंका जनक—हमें पहिले-पहिल वस्तुके अस्तित्वका ज्ञान कराता है। यह ठीक है कि हम विषयको पूर्णतया नही जानते, उसके बारेमें सब

---

१. "वैज्ञानिक भौतिकवाद" पृष्ठ ७३

कुछ नहीं जानते; लेकिन उसके अस्तित्वको अच्छी तरह जानते हैं, इसमें तो शककी गुंजाइश नहीं। इन्द्रिय-साक्षात्कार हमें थोड़ासा वस्तुके बारेमें बतलाता है, और जो बतलाता है वह सापेक्ष होता है। विज्ञानवादमें यदि कोई सच्चाई हो सकती है, तो यही सापेक्षता है, जो कि सभी ज्ञानोंपर लागू है।

प्रकृति बाह्य पदार्थके तौर पर मौजूद है, यह निश्चित है। लेकिन वह पूर्णरूपेण क्या है, यह उसका रहस्य है, जिसका खोलना उसके स्वभावमें नहीं है। हमे वह परिस्थितियोंको बतलाती है, उन परिस्थितियोंके रूपमें हम प्रकृतिको देखते हैं। सभी प्रत्यक्ष विशेष या वैयक्तिक प्रत्यक्ष है, जो कि खास परिस्थितियोंमें होता है। शुद्ध प्रत्यक्ष—विशेष विषय और परिस्थिति से रहित—कभी नही होता। हम सदा वस्तुओंके विशेष रूपको ही प्रत्यक्ष करते हैं। हम सीधी छडीको पानीमें खडा करनेपर वक्र (टेढ़ी मेढ़ी), छोटी या लाल प्रकाशसे प्रकाशित देखते हैं। यह वक्रता, छोटापन और लाली सिर्फ छडीका रूप नही है, बल्कि उस परिस्थिति मे देखी गई छडीके रूप हैं।

अतएव ज्ञान वास्तविकताका आभास है, किन्तु आभासमात्र नही है। वह दृष्टिकोण और ज्ञात के प्रयोजन—इसीलिए ऐतिहासिक विकासकी खास अवस्था—से बिलकुल सापेक्ष है; देश-कालकी परिस्थितिको हटा कर वस्तुका ज्ञान नही हो सकता। "प्रकृतिका ज्ञान होता ही नही" और "वह सदा सापेक्ष ही होता है" इसमे उतना ही अन्तर है, जितना "हाँ" और "नही" में। मार्क्सवाद सापेक्ष ज्ञानको बिलकुल संभव मानता है, जिससे साइंसकी गवेषणाओंका समर्थन होता है; विज्ञानवाद वस्तुकी सत्तासे ही इन्कार करके ज्ञानको असंभव बना देता है, जिससे साइंसको भी वह त्याज्य ठहराता है।

(ख) भौतिकवाद और मन—जब हम विज्ञानवादके गंधर्व-नगरसे नीचे उतरकर जरा वास्तविक जगत्में आते हैं, तो फिर क्या देखते हैं—भौतिक तत्त्व, प्राकृतिक जगत् मनकी उपज नहीं है, बल्कि भौतिकतत्त्वकी उपज मन है। पृथ्वी प्रायः दो अरब वर्ष पुरानी है। जीव कुछ करोड़ वर्ष पुराने, लेकिन उन जीवोंके पास "जगत् बनानेवाला" मन नहीं था। मनुष्यकी उत्पत्ति

ज्यादासे ज्यादा १० लाख वर्ष तक ले जाई जा सकती है, किन्तु जावा, चीन या नेअन्डर्थल मानवके पास भी ऐसा मन नही था, जो "विश्व" को बनाता। विश्व "बनानेवाला" मन सिर्फ पिछले ढाई हजार वर्षके दार्शनिकोकी पिनक-मे पैदा हुआ। गोया दो अरब वर्षसे कुछ लाख वर्ष पहिले तक किसी तरहके मनका पता नही था, और इस सारे समय मे भौतिकतत्त्व मौजूद थे। फिर इस हालके बच्चे मनको भौतिकतत्त्वोका जनक कहना क्या बेटेको बापका बाप बनना नही है? मूल भौतिकतत्त्वोमे परमाणु, अणु, अणु-गुच्छक, फिर आरभिक निर्जीव क्षुद्र पिंड, तथा जीव-अजीवके बीचके **विरस**[1] और बेक्टीरिया जैसे एक सेलवाले अत्यन्त सूक्ष्म सत्त्व बने। एक सेलवाले प्राणियोसे क्रमश. विकास होते-होते अस्थि-रहित, अस्थिधारी, स्तनधारी जीव, यहाँ तक कि कुछ लाख वर्ष पहिले मनुष्य आ मौजूद हुआ। यह सारा सिलसिला यह नही बतलाता, कि आरम्भमे मन था, उसने सोचा कि जगत् हो जाये, और उसकी कल्पना जगत् रूपमे देखी जाने लगी। सारा साइस तथा भूगर्भशास्त्र एवं विकास सिद्धान्त हमे यही बतलाते है, कि भौतिक-तत्त्व प्राणीसे पहिले मौजूद थे, प्राणी बादकी परिस्थितिकी उपज है। मन प्राणीकी भी पिछली अवस्थामे उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार साफ है कि मन भौतिक तत्त्वोकी उपज है।

उपज होनेका यह अर्थ नही समझना चाहिए, कि मन भौतिक-तत्त्व है। भौतिकतत्त्व सदा बदल रहे हैं, जिससे परस्थितिमे गड़बड़ी, विरोध (=द्वन्द्व) शुरू होता है, जिससे द्वन्द्वात्मक परिवर्तन—गुणात्मक-परिवर्त्तन—होता है। गुणात्मक-परिवर्त्तन हो जानेके बाद हम उसे "वही चीज" नहीं कह सकते, क्योकि गुणात्मक-परिवर्त्तन एक बिलकुल नई वस्तु हमारे सामने उपस्थित करता है। मन इसी तरहका भौतिक-तत्त्वोसे गुणात्मक-परिवर्त्तन है। वह भौतिकतत्त्वोसे पैदा हुआ है, किन्तु भौतिकतत्त्व नही है।

---

१. Virus.

अध्याय १३

बीसवीं सदीके दार्शनिक

बीसवी सदीमें साइसकी प्रगति और भी तेज हुई। मनुष्य हवामे उसी तरह बेधड़क उड़ने लगा है, जिस तरह अबतक वह समुद्रमे "तैर" रहा था। उसके कानकी शक्ति इतनी बढ़ गई है, कि वह हजारो मीलों दूरके शब्दो—खबरों, गानो—को सुनता है। उसकी आंखकी ज्योति इतनी बढ़ रही है, कि हजारों मील दूरके दृश्य भी उसके सामने आने लगे हैं, यद्यपि इसमे अभी और विकासकी जरूरत है। पिछली शताब्दीने जिन शकलो और स्वरोको अचल पत्थरकी मूर्ति तथा गुफाकी प्रतिध्वनिकी भाँति हमारे पास पहुँचाया था, अब हम उन्हें अपने सामने सजीव-सा चलते-फिरते, बोलते-गाते देखते है। अभी हम इसे प्रतिचित्र और प्रतिध्वनिके रूपमे देख रहे हैं, लेकिन उस समयका भी आरभ हो गया है, जिसमे आमतौरसे रक्त-मासके रूपको सीधे अपने सामने सजीवता प्रदर्शन करते देखेंगे। यह भी बातें कुछ शताब्दियाँ पहिले दैवी चमत्कार, अमानुषिक सिद्धियाँ समझी जाती थी।

मनुष्यका एक ज्ञान-क्षेत्र है, और एक अज्ञान-क्षेत्र। उसका अज्ञान-क्षेत्र जब बहुत ज्यादा था, तब ईश्वर, धर्मकी बहुत गुंजाइश थी। अज्ञान-क्षेत्रके खडोंको जब ज्ञानने छीनकर अपना क्षेत्र बनाना चाहा, तो अज्ञान-क्षेत्रके वासियो—धर्म और ईश्वरकी स्थिति खतरेमें पड़ गई। उस वक्त अज्ञान-राज्यकी हिमायतके लिए "दर्शन" का खास तौरसे जन्म हुआ। उसका मुख्य काम था, खुली आंखोंमे धूल झोकना—नामसे बिलकुल उल्टा जो बात दर्शन-ने ईसा-पूर्व सातवीं-छठी सदीमे अपने जन्मके समय की थी, वही उसने अब

भी उठा रखा है। इसमे शक नही, दर्शनने कभी-कभी धर्म और ईश्वरका विरोध किया है, किन्तु वह विरोध नामका था, वह बदली हुई परिस्थिति-के अनुसार "अर्ध तजहि बुध सर्बस जाता" की नीतिका अनुसरण करनेकेलिए था।

बीसवी सदीने सापेक्षता, क्वन्तम्के सिद्धान्त, एलेक्ट्रन, न्यूट्रन, आदि कितने ही साइसके क्रान्तिकारी सिद्धान्त प्रदान किये हैं, इसका वर्णन हम "विश्वकी रूपरेखा" मे कर चुके हैं। इन सबने ईश्वर, धर्म, परमात्म-तत्त्व, वस्तु-अपने-भीतर, विज्ञानवाद सभीके लिए खतरा उपस्थित कर दिया है, किन्तु ऐसे सकटके समय दार्शनिक चुप नही हैं। उसके जिस रूपका पर्दा खुल गया है, उससे तो लोगोको भरमाया नही जा सकता; इसलिए धर्म, ईश्वर, पुनरस्थापित आचारका पोषण, उनके जरिये नही हो सकता। कान्टको हम देख चुके हैं, कैसे बुद्धि-सीमा-पारी वस्तु-अपने-भीतरको मनवा-कर उसने धर्म-ईश्वर, आचार सबको हमारे मत्थे थोपना चाहा। यही बात फिख्टे, हेगेल्, स्पेन्सरमे भी हम देख चुके है।

बीसवी सदीके दार्शनिकोमे कही राधाकृष्णन्के "लौटो उपनिषदोकी ओर" की भाँति, "लौटो कान्टकी ओर" कहते हुए जर्मनीमे कोहेन, विन्डेल्, वान्ट, हुस्सेर्लको देख रहे है, कही यूकेन और बर्गसाँको अध्यात्म-जीवन-वाद और सृजनात्मक जीवनवादका प्रचार करते देखते हैं। कही विलियम् जेम्स्को "प्रभाव (मनुष्यमाप)वाद"[१] बर्टरेड रसलको भूत और विज्ञान दोनोसे भिन्न अनुभयवादको पुष्ट करते पा रहे हैं। ये सभी दार्शनिक अतीतके मोहमे पडे हैं।—"ते हि नो दिवसा गताः"[२] बडी बुरी बीमारी है। किन्तु यह सभी बातें दिमागी बुनियादपर नही हो रही हैं। मानव समाजके प्रभुओके वर्गस्वार्थका यह तकाजा है, कि वह अतीत न होने पाये, नही तो वर्तमानकी मौज उनके हाथसे जाती रहेगी।

---

१. Pragmatism.

२. "हाय ! वे हमारे दिन चले गये"।

यहाँ हम बीसवीं सदीके शरीरवाद,[1] विज्ञानवाद, द्वैतवाद, अनुभयवाद-का कुछ परिचय देना चाहते हैं।

§ १. ईश्वरवाद

१—ह्वाइटहेड् (जन्म १८६१ ई०)

अलफ्रेड नार्थ ह्वाइटहेड् इंगलैंडके मध्यम श्रेणीके एक धर्म-विश्वासी गणितज्ञ हैं।

दर्शन—ह्वाइटहेडको इस बातका बहुत क्षोभ है, कि प्रत्यक्ष करनेमें इतनी समृद्धि प्रकृति "शब्दहीन, गंधहीन, वर्णहीन, व्यर्थ ही निरन्तर दौडते रहनेवाला भौतिकतत्त्व" बना दी गई। ह्वाइटहेड् अपने दर्शन—शरीरवाद—द्वारा प्रकृतिको इस अव.पतनसे बचाना चाहता है। उसका दर्शन कार्य-गुणों—शब्द, गंध, वर्ण आदि—को ही नही, बल्कि मनुष्यके कला, आचार, धर्म संबंधी जीवनसे संबंध रखनेवाली बातोंका समर्थन करना चाहता है, साथ ही अपनेको विज्ञानका समर्थक भी जतलाना चाहता है। हमारे तजर्बे (=अनुभव) सदा साकार घटनाओंके होते हैं। यह घटनाएं अलग-अलग नहीं, बल्कि एक शरीरके अनेक अवयवोंकी भाँति हैं। शरीर अपने स्वभावसे सारे अवयव, तत्त्व या घटनाओंको प्रभावित करता है। ह्वाइटहेड् यहाँ शरीरको जिस अर्थमें प्रयुक्त करता है, वह सारे वस्तु-सत्य—वास्तविकता—का बोधक है, और वह सिर्फ चेतन प्राणी शरीर तक ही सीमित नहीं है। सारी प्रकृतिका यही मूल स्वरूप है। ह्वाइटहेड्के अनुसार भौतिकशास्त्र अतिसूक्ष्म "शरीर" (एलेक्ट्रन, परमाणु आदि) का अध्ययन करता है, और प्राणिशास्त्र बडे "शरीर" का। ह्वाइटहेड् प्राणी-अप्राणीके ही नहीं मन और कायाके भेदको भी नहीं मानता। मन शरीरका ही एक खास घटना-प्रबंध है, और उसका प्रयोजन है उच्च क्रियाओंका संपादन

---

१. Organism.

करना। भौतिकशास्त्रकी आधुनिक प्रगतिको लेते हुए ह्वाइटहेड् मन या कायाको वस्तु नही घटनाओ—बदलती हुई वास्तविकता—को विश्वका सूक्ष्मतम अवयव या इकाई मानता है। इकाइयो और उनके पारस्परिक सबंधका योग विश्व है। बड़ी घटनाएं छोटी घटनाओंकी अवयवी (= अवयववाले) हैं, और अन्तमे सबके नीचे मूल आधार या इकाई परमाणुवाली घटनाएं है। इस प्रकार ह्वाइटहेड् वास्तविकताको प्रवाह या दीप-कलिकाकी भाँति निरन्तर परिवर्तनशील मानता है, किन्तु साथ ही आकृति[1] को स्थायी मानकर एक नित्य पदार्थ या अफलातूंके सामान्यको साबित करना चाहता है, "न बचनेवाले प्रवाहमे एक चीज है, जो बनी रहती है, नित्यताको नष्ट करनेमे एक तत्व है जो कि प्रवाहके रूपमें बँच रहता है।"

जिसे एक वस्तु या व्यक्ति कहा जाता है, वह वस्तुतः घटनाओंका समाज या व्यवस्थित प्रवाह है, और उसमे कार्यकारण-धारा जारी रहती है। सूक्ष्मतम इकाई, परमाणु आदिकी घटना, विश्वमें सारी दूसरी प्राथमिक—परमाणुवीय—घटनाओंसे अलग-थलग नही, बल्कि परस्पर-संबद्ध घटनाओका सगठित परिवार है। और इस पारस्परिक संबंध और संगठनके कारण यह भी कहा जा सकता है, कि "हर एक चीज हर समय हर जगह है।"[2] प्रत्येक प्राथमिक (=परमाणुवीय) घटना, अपनेसे पहिलेकी प्राथमिक घटनाकी उपज है, और उसी तरह आनेवाली घटनाकी पूर्वगामिनी है। इस प्रकार प्रत्येक प्राथमिक घटना, प्रवाहरूप होनेपर भी "पदार्थरूपेण अविनाशी" है।

ईश्वर—विश्वका "साथ होना", सबद्ध होना ही ईश्वर है। अलग-अलग वस्तुमे ईश्वर नही है, बल्कि वह उनका आधार "शरीर" है। "विश्व-पूर्ण एकताके लानेमें तत्पर सान्तोंका बहुत्व है।" ईश्वर "भौतिक बहुत्व-

---

१. Form.

२. मिलाओ जैन-दर्शन, पृष्ठ ४९६-७

की खोजमें तत्पर दृष्टिकी एकता है, वह वेदना (=एहसास) के लिए बसी या अकुशी, तथा इच्छाकी अनन्त भूख है।"

अपने सारे "साइस-सम्मत" दर्शनका अन्त, ह्वाइटहेड्, ईश्वर धर्म और आचारके समर्थनमें करता है। यह क्यों?

२ – युकेन् (१८४६-१९२६)

यह जर्मन दार्शनिक था।

युकेनके अनुसार सर्वोच्च वास्तविकता आत्मिक जीवन[1], या सजीव आत्मा है। यह आत्मिक जीवन प्रकृति (=विश्व) से ऊपर है, किन्तु वह उसमे इस तरह व्याप्त है, कि उसके लिए सीढ़ी का काम दे सकता है। यह आत्मिक जीवन कूटस्थ एक रस नहीं, बल्कि अधिक ऊंची अधिक गंभीर आत्मिकताकी ओर बढ़ रहा है। ऐसी चमत्कारिक (योग जैसी) प्रक्रियाएँ हैं, जिनकी सहायतासे मनुष्य आत्मिक जीवनका ज्ञान प्राप्तकर सकता है; मनुष्य स्वयं इस आत्मिक जीवनकी प्रगतिमे सहायक हो सकता है। साइस, कला, धर्म, दर्शन आदिको अन्त प्रेरणा इसी आत्मिक जीवनकी तरफसे मिलती है, और वह उसकी प्रगतिमे भाग लेता है। सत्य मनुष्यकी कृति नहीं है, वह आत्मिक लोकमे मौजूद है, जिसका मनुष्यको पता भर लगाना है। ऐसे स्वयसिद्ध, स्वयभू सत्यकी जरूरत है, क्योंकि उसके बिना श्रद्धा सभव नही है। सत्य मनुष्यकी नाप है, मनुष्य सत्यकी नाप नही है। सत्य बाध्य करके अपने अस्तित्वको मनवाता है। सत्य आत्मिक जीवनके अस्तित्वका प्रमाण है। उसका दूसरा प्रमाण यह है, जो कि कष्टके वक्त लोग आत्मिक लोक या स्वर्गिक राज्यकी शरण लेते है।

प्रकृति भी उपेक्षणीय नही है। इसके भीतर भी काफी बोध है। मनुष्यका मन स्वय प्रकृतिकी उपज है। तो भी प्रकृति मन (=आत्मा) से

---

१. Spiritual Life.

नीचे हैं, अधिक-से-अधिक यही कह सकते हैं कि प्रकृति **आत्मिक जीवनके** मार्गकी पहिली मंजिल है। **आत्मिक जीवन** प्रकृतिकी उपज नहीं, बल्कि उसका मौलिक आधार तथा अन्तिम लक्ष्य है।

आत्मिक जीवनका ज्ञान साइंस या बौद्धिक तर्क-वितर्कसे नहीं हो सकता, इसके लिए आत्मिक अनुभव—उस **आत्मिक जीवनकी** अपने भीतर सर्वत्र उपस्थितिके अनुभव—की जरूरत है।

यही आत्मिक जीवन ईश्वर है। धर्म मानव जीवनको **आत्मिक जीवनके** उच्च शिखरपर ले जाता है, उसके बिना मनुष्यका अस्तित्व खोखला सारहीन है। यूकेन्‌ने इस प्रकार भौतिकवादके प्रभावको हटाकर दम तोड़ते ईश्वर और धर्मको हस्तावलब देना चाहा।

§ २ – अन्-उभयवाद

१ – बेर्गसाँ (१८५९-१९४१ ई०)

फ्रेंच दार्शनिक था। हाल (१९४० ई०) में जर्मनी द्वारा फ्रांसके पराजित होनेके बाद उसकी मृत्यु हुई।

बेर्गसाँकी कोशिश है, कि प्रकृति और प्राकृतिक नियमोंको इन्कार किये बिना विश्वकी आध्यात्मिकताको सिद्ध किया जाये। इसके दर्शनकी विशेषता है परिवर्त्तन (=क्षणिकता), क्रिया, स्वतन्त्रता, सृजनात्मक विकास[1], स्थिति[2], आत्मानुभूति। बेर्गसाँके दर्शनको आमतौरसे "परिवर्तनका दर्शन" या "सृजनात्मक विकास" कहते हैं।

(१) **तत्त्व**—बेर्गसाँके अनुसार असली तत्त्व न भौतिक है, न मन (=विज्ञान), बल्कि इन दोनोंसे भिन्न=अन्-उभय तत्त्व है, जिससे ही भौतिक तत्त्व तथा मन दोनों उपजते हैं। यह मूल तत्त्व सदा परिवर्त्तन-

१. Creative evolution.

२. Duration.

शील, घटना-प्रवाह लहराता जीवन, सदा नये रूपकी ओर बढ़ रहा जीवन है।

(२) **स्थिति**—बेर्गसाँ स्थिति को मानता है, किन्तु स्थिरताकी स्थितिको नहीं बल्कि प्रवाहकी स्थितिको। "स्थिति अतीतकी लगातार प्रगति है, जो कि भविष्यके रूपमें बदल रही है, और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ रही है वैसे-ही-वैसे उसका आकार विशाल होता जा रहा है।" इस प्रकार बेर्गसाँ यहाँ खामखाह "स्थिति" शब्दको घसीट रहा है, क्योंकि स्थिति परिवर्तनसे बिल्कुल उलटी चीज है। वह और कहता है—"हमने अपने अत्यन्त बाल्यसे जो कुछ अनुभव किया है, सोचा और चाहा है; वह यहाँ हमारे वर्तमानके ऊपर झुक रहा है, और वर्तमान जिससे तुरन्त मिलने-वाला है। . . .जन्मसे लेकर—नहीं, बल्कि जन्मसे भी पहिलेसे क्योंकि आनुवंशिकता भी हमारे साथ है—जो कुछ जीवनमे हमने किया है, उस इतिहासके सारके अतिरिक्त हम और हमारा स्वभाव और है ही क्या? इसमें सन्देह नहीं कि हम अपने भूतके बहुत छोटेसे भागको सोच सकते हैं, किन्तु. . . .हमारी चाह, संकल्प, क्रिया अपने सारे भूतको लेकर होती है।" बेर्गसाँ इसे स्थिति कहता है। यह सारे अतीतका वर्तमानमें साराकर्षण है। स्थितिके कारण सिर्फ वास्तविक और निरन्तर परिवर्तन ही नहीं होता, बल्कि प्रत्येक नया परिवर्तन, कुछ ताजगी कुछ नवीनता के लिए होता है। इसीलिए इसे सृजनात्मक विकास कहते हैं। आध्यात्मिकता (=आत्मतत्त्व) इसी प्रकारकी स्मृतिको कहते हैं; वह इस प्रकारकी निरन्तर क्रिया है, जिसमें कि अतीत वर्तमानमें व्याप्त है। कभी-कभी इस क्रियामे शिथिलता हो जाती है, जिससे भौतिक तत्त्व या प्रकृति पैदा होती है। चेतना (= विज्ञान) बाह्यताकी अपेक्षाके बिना व्यापनको कहते हैं; और प्रकृति बिना व्यापककी बाह्यताको कहते हैं।

जीवनके विकासकी तीन भिन्न-भिन्न तथा स्वतंत्र दिशायें हैं—वानस्पतिक, पशुबुद्धिक, बुद्धिक, जो कि क्रमशः वनस्पति, पशु और मनुष्यमें पाई जाती है।

(३) **चेतना**--चेतना या आत्मिकताको, बेर्गसाँ स्मृतिसे सबद्ध मानता है, प्रत्यक्षीकरणसे नही। चेतना मस्तिष्ककी क्रिया नही, बल्कि मस्तिष्कका वह औजारके तौर पर इस्तेमाल करता है। "कोट और खूँटो' जिसपर कि वह टँगा है, दोनोका घनिष्ठ संबंध है, क्योकि यदि खूँटीको उखाड दे, तो कोट गिर जायेगा, किन्तु, इससे क्या यह हम कह सकते हैं कि खूँटीकी शकल जैसी होती है, वैसी ही कोटकी शकल होती है ?"

(४) **भौतिकतत्त्व**--बेर्गसाँके अनुसार भौतिकतत्त्वोका काम है जीवन-समुद्रको अलग-अलग व्यक्तियोमे बाँटना, जिसमे कि वह अपने स्वतत्र व्यक्तित्त्वको विकसित कर सकें। प्रकृति इस विकासमें बाधा नही डालती, बल्कि अपनी रुकावट द्वारा उन्हे और उत्तेजितकर कार्यक्षम बनाती है। प्रकृति एक ही साथ "बाधा, साधन और उत्तेजना" है। जीवन सिर्फ समाजमे ही पहुँच सन्तुष्ट होता है। सर्वोच्च और अत्यन्त सजीव मनुष्य वह है "जिसका काम स्वय जबर्दस्त तो है ही, साथ ही दूसरे मनुष्यके कामको भी जो जबर्दस्त बनाता है; जो स्वयं उदार है, और उदारताकी अँगीठीको जलाता है।"

(५) **ईश्वर**--जीवनका केन्द्रीय प्रकाश-प्रसरण ईश्वर है। ईश्वर "निरन्तर जीवन-क्रिया, स्वतत्रता है।"

(६) **दर्शन**--दर्शन, बेर्गसाँके अनुसार, सदासे वास्तविकताका प्रत्यक्षदर्शन—आत्मानुभूति—रहा और रहेगा।—यह बात बिल्कुल शब्दश ठीक है। आत्मानुभूति[1] द्वारा ही हम "स्थिति", "जीवन", "चेतना" का साक्षात्कार कर सकते हैं। परमतत्त्व[2] तभी अपने आपको हमारे सामने प्रकट करेगा, जब कि हम कर्म करनेके लिए नही बल्कि उसके साक्षात्कार करने ही के लिए साक्षात्कार करना चाहेंगे।

इस प्रकार बेर्गसाँके दर्शनका भी अवसान आत्म-दर्शन, और ईश्वर समर्थनके साथ होता है।

---

१. Intuition. २. Absolute.

२—बर्टरंड रसल् (जन्म १८७२ ई०)

अर्ल रसल एक अंग्रेज लार्ड तथा गणितके विद्वान् विचारक हैं।

रसलका दर्शन "अन्-उभयवाद" कहा जाता है—अर्थात् न प्रकृति मूलतत्त्व है, न विज्ञान, मूलतत्त्व यह दोनो नही हैं। यदि दार्शनिक गोल-मोल न लिखकर स्पष्ट भाषामे लिखें, तो उन्हें दार्शनिक ही कौन कहेगा। दार्शनिकके लिए जरूरी है, कि वह सन्ध्या-भाषामें अपने विचार प्रकट करे, जिसमें उसकी गिनती रात-दिन दोनोंमे हो सके। रसलके दर्शनको, वह खुद "तार्किक परमाणुवाद", "अनुभयवादी अद्वैतवाद", "द्वैतवाद", "वस्तुवाद" कहता है।

रसल कही-कही हमारे सारे अनुभवोका विश्लेषण प्रकृतिके मूलतत्त्व परमाणुओके रूपमे करता है। दर्शन साइसका अनुयायी हो सकता है, साइंसकी जगह लेनेका उसका अधिकार नही है। वस्तुओ, घटनाओंका बहुत्व विज्ञान और व्यवहार-बुद्धि दोनोंसे सिद्ध है, इसलिए दर्शनको उनसे इन्कारी नही होना चाहिए। किन्तु इसका मूल क्या है, इसपर विचार करते हुए रसल कहता है—विज्ञानवादका सारे बाहरी बहुत्वोको मानसिक कहना ठीक नही, क्योंकि यह साइंसका अपलाप है। साथही भौतिकवादके भी वह विरुद्ध है। मूलतत्त्व तरंग—शक्ति या केवल किरण प्रसरण[1] नही है। मूलतत्त्व न विज्ञान है, न भौतिक तत्त्व, वह दोनोंसे अलग "अन्-उभय-तत्त्व" है, लेकिन "अनुभयतत्त्व" एक नही घटनाओंकी एक किस्म है। या तत्त्वोंकी एक जाति है। "जगत् अनेक शायद परिसंख्यात, या असंख्य तत्वोंका समूह है। ये तत्त्व एक दूसरेके साथ विभिन्न संबंध रखते हैं, और शायद उनके गुणोमे भी भेद है। इन तत्वोंमेंसे प्रत्येकको 'घटना' कहा जा सकता है।"

---

१. Radiation.

रसलके अनुसार "दर्शन जीवनके लक्ष्यको निश्चित नहीं कर सकता, किन्तु वह दुराग्रहों, संकीर्ण दृष्टिके अनर्थोंसे हमें बचा सकता है।"

§ ३ – भौतिकवाद

बीसवी सदीका समाजवाद जैसे मार्क्सका समाजवाद है वैसे ही बीसवी सदीका भौतिकवाद मार्क्सीय भौतिकवाद है। मार्क्सवादके कहनेसे यह नहीं समझना चाहिए, कि वह स्थिर और अचल एकरस है। विकास मार्क्सवादका मूलमन्त्र है, इसलिए मार्क्सवादीय भौतिक दर्शनका भी विकास हुआ है। मार्क्सवाद भौतिक दर्शनके बारेमें हमने अपने "वैज्ञानिक भौतिकवाद" मे सविस्तर लिखा है। इसलिए उसे यहाँ दुहरानेकी जरूरत नही।

§ ४ – द्वैतवाद

बीसवी सदीमे नई-नई खोजोंने साइंसकी प्रतिष्ठा और प्रभावको और बढा दिया, इसीलिए केवल बुद्धिवादी दार्शनिकोकी जगह आज प्रयोग-वादियोंको प्रधानता ज्यादा है।

विलियम् जेम्स (१८४२-१९१० ई०)––विलियम् जेम्सका जन्म अमेरिकाके मध्यमवर्गीय परिवारमे हुआ था। मनोविज्ञान और दर्शनका वह प्रोफेसर रहा। जिस तरह बुद्धके तृष्णावाद (=क्षय) वादने शोपन-हारके दर्शनको प्रभावित किया, उसी तरह बुद्धके अनात्मवादी मनोविज्ञान-ने जेम्सपर प्रभाव डाला था।

जेम्सको भौतिकवादी तथा विज्ञानवादी दोनो प्रकारके अद्वैतवाद पसन्द न थे। भौतिक अद्वैतवादके विरुद्ध उसका कहना था कि यदि सभी चीजें—मनुष्य भी—आदिम नीहारिकाओं या अतिसूक्ष्म तत्त्वोंकी उपज मात्र है, तो मनुष्यकी आचारिक जिम्मेवारी (=दायित्व), कर्म-स्वातंत्र्य वैयक्तिक प्रयत्न और महत्त्वाकांक्षाएँ बेकार हैं। यह स्पष्ट है कि भौतिक-

वादका विरोध करते वक्त उसके सामने सिर्फ़ यांत्रिक भौतिकवाद था। वैज्ञानिक भौतिकवाद जिस प्रकार गुणात्मक परिवर्तन द्वारा बिल्कुल नवीन वस्तुके उत्पादनको मानता है, और परिस्थितिके अनुसार बदलती किन्तु और भी बढ़ती जिम्मेवारियोंको अज्ञान और भयके आधारपर नहीं, बल्कि और भी ऊँचे तलपर—ज्ञानके प्रकाशमें—मनुष्य होनेका नाता मानता है, और उसके लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिए आदमीको तैयार करता है इससे स्पष्ट है, कि वह "आचारिक जिम्मेवारियों" की उपेक्षा नहीं करता; किन्तु "आचारिक जिम्मेवारियों" से यदि जेम्सका अभिप्राय पुराने आर्थिक स्वार्थों और उसपर आश्रित समाजके ढाँचेको कायम रखनेसे मतलब है, तो निश्चय ही वह इस तरहकी जिम्मेवारीको उठानेके लिए तैयार नहीं है। शायद, जेम्स को यदि पिछला महायुद्ध—और खासकर वर्तमान युद्ध—देखनेका मौका मिला होता, तो वह अच्छी तरह समझ लेता कि सामाजिक स्वार्थकी अवहेलना करते अन्धी वैयक्तिक लिप्सा—जिसे कर्म-स्वातंत्र्य, प्रयत्न, महत्त्वाकांक्षा आदि जो भी नाम दिया जावे—मानवको कितना नीचे ले जा सकती है।

(१) **प्रभाववाद**[1]—जेम्सके दिलमें साइंसके प्रयत्नों, उसकी गवेषणाओं और सच्चाइयोंके प्रति बहुत सम्मान था, इसलिए वह कोरे मस्तिष्ककी कल्पनाओं या विज्ञानवादको महत्त्व नहीं दे सकता था। उसका कहना था, किसी वाद, विश्वास या सिद्धान्तकी सच्चाईकी कसौटी वह **प्रभाव** या व्यावहारिक परिणाम जो हमपर या जगत्पर पड़ता दिखाई देता है। **प्रभावपर** जोर देनेके ही कारण जेम्सके दर्शनको **प्रभाववाद**[1] भी कहते हैं।

(२) **ज्ञान**—ज्ञान एक साधन है, वह जीवनके लिए है, जीवन ज्ञानके लिए नहीं है। सच्चा ज्ञान या विचार वह है, जिसे हम हजम कर सकें, यथार्थ साबित कर सकें, और जिसकी परीक्षा कर सकें।

---

१. Pragmatism.

यह कहना ठीक नही है, कि जो कुछ बुद्धिपूर्वक है, वह वस्तु-सत् है। जो कुछ **प्रयोग या अनुभवमें सिद्ध** है, वह वस्तु-सत् है। अनुभवसे हमें सिर्फ उसी अनुभवको लेना चाहिए, जो कि कल्पनासे मिश्रित नहीं किया गया, जो शुद्धता और मौलिक निर्दोषितासे युक्त है। वस्तु-सत् वह शुद्ध अनुभव है, जो मनुष्यकी कल्पनासे बिल्कुल स्वतंत्र है, उसकी व्याख्या बहुत मुश्किल है। यह वह वस्तु है, जो कि अभी-अभी अनुभवमे घुस रही है, किन्तु अभी उसका नामकरण नही हुआ है; अथवा, यह अनुभवमें कल्पना-रहित[1] ऐसी आदिम उपस्थिति है, जिसके बारेमे अभी कोई श्रद्धा या विश्वास उत्पन्न नही हो पाया है; जिसपर कोई मानवी कल्पना चिपकाई नही गई है।

(३) **आत्मा नहीं**—मानसी वृत्तियो और कायाको मिलानेवाले माध्यम—आत्मा—का मानना बेकार है, क्योकि वहाँ ऐसे स्वतंत्र तत्त्व नही हैं, जिनको मिलानेके लिए किसी तीसरे पदार्थकी जरूरत हो। **वास्तविकता**, एक अशमे हमारी वेदनाओं[2] का निरन्तर चला आता प्रवाह है, जो आते और विलीन होते जरूर हैं, किन्तु आते कहाँसे हैं, इसे हम नही जानते; दूसरे अशमें वह वे संबध हैं, जो कि हमारी वेदनाओं या मनमे उनके प्रतिबिबोके बीच पाये जाते हैं, और एक अंगमें वह पहिलेकी सच्चाइयाँ हैं।

(४) **सृष्टिकर्त्ता... नहीं**—प्रकट घटनाओके पीछे कोई छिपी हुई वस्तु नही है, **वस्तु-अपने-भीतर** (वस्तुसार), **परमतत्त्व, अज्ञेय** कल्पनाके सिवा कोई हस्ती नही रखते। यह बिल्कुल फजूल बात है, कि हम मौजूद स्पष्ट वास्तविकताकी व्याख्या करनेके लिए एक ऐसी कल्पित वास्तविकताका सहारा लें, जिसको हम ख्यालमे भी नही ला सकते, यदि हम खुद अपने अनुभवसे ही निकले कल्पित चित्रोका सहारा न लें। मनसे परे भी सत्ता

---

१. **"कल्पना-अपोढ"—दिङनाग और धर्मकीर्ति।**

२. Sensations.

है, इसे जेम्स इन्कार नहीं करता था लेकिन साथ ही; शुद्ध आदिम अनुभवको वह मनःप्रसूत नहीं बल्कि वस्तु-सत् मानता था—आदिकालीन तत्त्व ही विकसित हो चेतनाके रूपमें परिणत होते हैं।

(५) **द्वैतवाद**—जेम्सका उग्र प्रभाववाद द्वैतवादके पक्षमें था—अनुभव हमारे सामने बहुता, भिन्नता, विरोधको उपस्थित करता है। वहाँ न हमें कही पता मिलता है कूटस्थ विश्वका, नही परमतत्त्व (=ब्रह्म)-वादियों अद्वैतियोके उस पूर्णतया सगठित परस्पर स्नेहबद्ध जगत्-प्रबधका, जिसमें कि सभी भेद और विरोध एकमत हो जायें। अद्वैतवाद, हो सकता है, हमारी ललित भावनाओ और चमत्कार-प्रिय भावुकताओको अच्छा मालूम हो; किन्तु वह हमारी चेतना-सबधी गुत्थियोंको सुलझा नहीं सकता; बल्कि बुराइयो (=पाप) के सबधकी एक नई समस्या ला खड़ा करता है—अद्वैत शुद्धतत्त्वमे आखिर जीवनकी अशुद्धताए, शुद्ध अद्वैत विश्वमे विषमताए—क्रूरताए कहाँसे आ पडी? अद्वैतवाद इन प्रश्नको हल करनेमे असमर्थ है, कि कूटस्थ एकरस अद्वैत तत्त्वमे परिवर्तन क्यों होता है। सबसे भारी दोष अद्वैतवादमे है, उसका भाग्यवादी (=नियतिवादी) होना—वह एक है, उसकी एक इच्छा है, वह एकरस है, इसलिए उसकी इच्छा—भविष्य—नियत है। इसके विरुद्ध द्वैतवाद प्रत्यक्षसिद्ध घटनाके प्रवाहकी सत्ताको स्वीकार करता है, उसकी तथ्यता (=जैसा-है-वैसेपन) का समर्थक है, और कार्य-कारण सबध (=परिवर्तन) या इच्छा-स्वातत्र्य (=कर्म-स्वातंत्र्य) की पूर्णतया सगत व्याख्या करता है—द्वैतवादमे परिवर्तन, नवीनताके लिए स्थान है।

(६) **ईश्वर**—जेम्स भी उन्नीसवी सदीके कितने ही उन दब्बू, अधिकारारूढ-वर्गसे भयभीत दार्शनिकोमे है, जो एक वक्त सत्यसे प्रेरित होकर बहुत आगे बढ जाते हैं, फिर पीछे छूट गये अपने सहकर्मियोंकी उठती अगुलियोको देखकर "किन्तु, परन्तु" करने लगते है। जेम्सने कान्टके वस्तु-अपने-भीतर, स्पेन्सरके अज्ञेय, हेगेलके तत्त्वको इन्कार करनेमें तो पहिले साहस दिखलाया; किन्तु फिर भय खाने लगा कि कही "सभ्य" समाज उसे

नास्तिक, अनीश्वरवादी न समझ ले। इसलिए उसने कहना शुरू किया—ईश्वर विश्वका एक अग है, वह सहानुभूति रखनेवाला शक्तिशाली मददगार है, तथा महान् सहचर है। वह हमारे ही स्वभावका एक चेतन, आचार-परायण व्यक्तित्वयुक्त सत्ता है, उसके साथ हमारा समागम हो सकता है, जैसा कि कुछ अनुभव (यकायक भगवानसे वार्तालाप, या श्रद्धासे रोगमुक्ति) सिद्ध करते है।—तो भी यह ईश्वरवादी मान्यताए पूर्णतया सिद्ध नही की जा सकती, लेकिन यही बात किसी दर्शनके बारेमे भी कही जा सकती है।—किसी दर्शनको पूर्णतया सिद्ध नही किया जा सकता, प्रत्येक दर्शन श्रद्धा करनेकी चाहपर निर्भर है। श्रद्धाका सार या समझ महसूस करना नही है, बल्कि वह है चाह—उस बातके विश्वास करने की चाह, जिसे हम साइसके प्रयोगो द्वारा न सिद्ध कर सकते और न खंडित कर सकते है।

४

भारतीय दर्शन

उतरार्ध

अध्याय १४

४. भारतीय दर्शन

प्राचीन ब्राह्मण-दर्शन (१०००-६०० ई०पू०)

हम बतला चुके है कि दर्शन मानव मस्तिष्कके बहुत पीछेकी उपज है। यूरोपमें दर्शनका आरभ छठी सदी ईसा पूर्वमें होता है। भारतीय दर्शनका आरभ-समय भी करीब-करीब यही है, यद्यपि उसकी स्वप्न-चेतना वेदके सबसे पिछले मत्रोंमे मिलती है, जो ईसा पूर्व दसवीं सदीके आस-पास बनते रहे।

प्राकृतिक मानव जब अपने अज्ञान एव भयका कारण तथा सहारा ढूढने लगा, तो वह देवताओं और धर्म तक पहुँचा। जब सीधे-सादे धर्म-देवता-सबधी विश्वास उसकी विकसित बुद्धिको सन्तुष्ट करनेमें असमर्थ होने लगे, तो उसकी उडान दर्शनकी ओर हुई। प्राकृतिक मानवको यात्राके आरभसे धर्म तक पहुँचनेमे भी लाखो वर्ष लगे थे, जिससे मालूम होता है कि मनुष्यकी सहज बुद्धि प्रकृतिके साथ-साथ रहना ज्यादा पसन्द करती है। शायद धर्म और दर्शनको उतनी सफलता न हुई होती, यदि मानव समाज अपने स्वार्थोके कारण वर्गोंमे विभक्त न हुआ होता। वर्ग-स्वार्थको जगत्‌की परिवर्त्तनशीलता द्वारा परिचालित सामाजिक परिवर्तनसे जबर्दस्त खतरा रहता है, इसलिए उसकी कोशिश होती है कि परिवर्तित होते जगत्मे अपने-को अक्षुण्ण रक्खे। इन्ही कारणोसे पितृसत्ताक समाजने धर्मकी स्थायी बुनि-याद रक्खी, और प्राकृतिक शक्तियो एव मृत-जीवित प्राणियोके आतंकसे उठाकर उसे वैयक्तिक देवताओं और भूतोके रूपमें परिणत किया। शोषक

वर्गकी शक्तिके बढनेके साथ अपने समाजके नमूनेपर उसने देवताओंकी परम्परा और सामाजिक सस्थाओंकी कल्पना की। यूरोपीय दर्शनोंके इतिहासमे हम देख चुके हैं, कि कैसे विकासके साथ स्वतंत्र होती बुद्धिको घेरा बढाते हुए लगातार रोक रखनेकी कोशिश की गई। लेकिन जब हम दर्शनके उस तरहके स्वार्थपूर्ण उपयोगके बारेमे सोचते हैं, तो उस वक्त यह भी ध्यानमे रखना चाहिए कि दर्शनकी आडमे वर्ग-स्वार्थको मजबूर करनेका प्रयत्न सभी ही दार्शनिक जान-बूझकर करते हैं यह बात नहीं है; कितने ही अच्छी नियत रखते भी आत्म-समोहके कारण वैसा कर बैठते हैं।

§ १ – वेद (१५००-१००० ई० पू०)

"मानव-समाज" मे हम बतला आये है, कि किस तरह आर्योंके भारतमे आनेसे पूर्व सिन्धु-उपत्यकामे असीरिया (मसोपोतामिया) की समसामयिक एक सभ्य जाति रहती थी, जिसका सामन्तशाही समाज अफगानिस्तानमें दाखिल होनेवाले आर्योंके जनप्रभावित पितृसत्ताक समाजसे कही अधिक उन्नत अवस्थामे था। असभ्य लडाकू जन-युगीन जर्मनोने जैसे सभ्य सस्कृत रोमनो और उनके विशाल साम्राज्यको ईसाकी चौथी शताब्दीमे परास्त कर दिया, उसी तरह सर जान मार्शल के मतानुसार इन आर्योंने सिन्धु उपत्यकाके नागरिकोको परास्त कर वहाँ अपना प्रभुत्व १८०० ई० पू० के आसपास जमाया। यह वही समय था, जब कि यूरोपीय ऐतिहासिकोकी रायमे—थोडे ही अन्तरसे—पश्चिममे भी हिन्दी-यूरोपीय जातिकी दूसरी शाखा यूनानियोने यूनानको वहाँके भूमध्यजातीय निवासियोको हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। यद्यपि एकसे देश या कालमे मानव प्रगतिकी समानताका कोई नियम नही है, तो भी यहाँ कुछ बातोमे हिन्दी-यूरोपीय जातीय दोनों शाखाओ—यूनानियो और हिन्दियो—को हम दर्शन-क्षेत्रमे एक समय प्रगति करते देख रहे हैं; यद्यपि यह प्रगति आगे विषम गति पकड़ लेती है। हाँ, एक विशेषता ज़रूर है, कि समय बीतनेके साथ हिन्दी-आर्योंकी सामाजिक प्रगति रुक गई, जिससे उनके समाज-

शरीरको लुंजी मार गई। इसका यदि कोई महत्त्व है तो यही कि उनका समाज जीवित फोसील बन गया, आज वह चार हजार वर्ष तककी पुरानी बेवकूफियोंका एक अच्छा म्यूजियम है, जब कि यूनानी समाज परिस्थितिके अनुसार बदलता रहा—आज यहाँ नव्य शिक्षित भारतीय भी वेद और उपनिषद्के ऋषियोंको ही अनन्तकाल तकके लिए दार्शनिक तत्त्वोंको सोचकर पहिलेसे रख देनेवाला समझते हैं; वहाँ आधुनिक यूरोपीय विद्वान अफलातूँ और अरस्तूको दर्शनकी प्रथम और महत्त्वपूर्ण ईंटें रखनेवाले समझते हुए भी, आजकी दर्शन विचारधाराके सामने उनकी विचारधाराको आरंभिक ही समझता है।

प्राचीन सिन्धु-उपत्यकाकी सभ्यताका परिचय वर्त्तमान शताब्दीके द्वितीयपादके आरम्भसे होने लगा है, जब कि मोहेनजो-दड़ो', और हड़प्पाकी खुदाइयोंमें उस समय के नगरों और नागरिक जीवनके अवशेष हमारे सामने आये। लेकिन जो सामग्री हमें वहाँ मिली है, उससे यही मालूम होता है, कि मेसोपोतामियाकी पुरानी सभ्य जातियोंकी भाँति सिन्धुवासी भी सामन्तशाही समाजके नागरिक जीवनको बिता रहे थे। वह कृषि, शिल्प, वाणिज्यके अभ्यस्त व्यवसायी थे। ताम्र और पित्तलयुगमें रहते भी उन्होंने काफ़ी उन्नति की थी। उनका एक सांगोपांग धर्म था, एक तरहकी चित्र-लिपि थी। यद्यपि चित्र-लिपिमें जो मुद्राएँ और दूसरी लेख-सामग्री मिली है, अभी वह पढ़ी नहीं जा चुकी है; लेकिन दूसरी परीक्षाओंसे मालूम होता है कि सिन्धु-सभ्यता असुर और काल्दी[1] सभ्यताकी समसामयिक ही नहीं, बल्कि उनकी भगिनी-सभ्यता थी, और उसी तरहके धर्मका ख्याल उसमें था। वहां लिंग तथा दूसरे देव-चिह्न या देव-मूर्तियाँ पूजी जाती थीं, किन्तु जहाँतक दर्शनका संबंध है, इसके बारेमें इतना ही कहा जा सकता है कि सिन्धु-सभ्यतामें उसका पता नहीं मिलता। यदि वह होता तो आर्योंको दर्शनका विकास शून्यसे करनेकी जरूरत न होती।

---

१. Chaldean.

१ – आर्योंका साहित्य और काल

आर्योंका प्राचीन साहित्य वेद, जैमिनि (३०० ई०) के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण दो भागोमें विभक्त है। मत्रोके सग्रहको सहिता कहते हैं। ऋग्, यजु., साम, अथर्वकी अपनी-अपनी मत्रसंहिताएँ हैं, जो शाखाओंके अनुसार एकसे अधिक अब भी मिलती है। बहुत काल तक—बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०) के पीछे तक—ब्राह्मण (और दूसरे धर्मवाले भी) अपने ग्रथोको लिखकर नही कंठस्थ करके रखते थे; और इसमे शक नही, उन्होने जितने परिश्रमसे वेदके छन्द, व्याकरण, उच्चारण और स्वर तकको कठस्थ करके सुरक्षित रखा, वह असाधारण बात है। तो भी इसका मतलब यह नही कि आज भी मत्र उसी रूपमें, शुद्धसे-शुद्ध छपी पोथीमे भी, मौजूद है। यदि ऐसा होता तो एक ही शुक्ल यजुर्वेद संहिताके माध्यन्दिन और काण्व शाखाके मत्रोमे पाठभेद न होता। आर्योंके विचारो, सामाजिक व्यवस्थाओं तथा आरभिक अवस्थाके लिए जो लिखित सामग्री मिलती है, वह मत्र (=सहिता), ब्राह्मण, आरण्यक तीन भागोंमे विभक्त है। वैदिक साहित्य तथा कर्मकाण्डके सरक्षक ब्राह्मणोंके तत् तत् मतभेदोंके कारण अलग-अलग सप्रदाय हो गये थे, इन्हीको शाखा कहा जाता है। हर एक शाखाकी अपनी-अपनी अलग सहिता, ब्राह्मण और आरण्यक थे, जैसे (कृष्ण) यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखाकी तैत्तिरीय सहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण और तैत्तिरीय आरण्यक। आज बहुतसी शाखाओके संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक लुप्त हो चुके हैं।

वेदोंमे सबसे पुरानी ऋग्वेद मंत्र-संहिता है। ऋग्वेदके मंत्रकर्ता ऋषियों मे सबसे पुराने विश्वामित्र, वशिष्ठ, भारद्वाज, गोतम (=दीर्घतमा), अत्रि आदि हैं। इनमे कितने ही विश्वामित्र, वशिष्ठकी भाँति हैं समसामयिक परस्पर, और कुछमें एक दो पीढ़ियोंका अंतर है। अंगिराके पौत्र तथा बृहस्पतिके पुत्र भरद्वाजका समय[1] १५०० ई० पू० है। भारद्वाज उत्तर-

---

१. देखिए मेरा "सांकृत्यायन-वंश।"

पंचाल (=वर्त्तमान रुहेलखंड) के राजा दिवोदासके पुरोहित थे। विश्वामित्र दक्षिण-पंचाल (=आगरा कमिश्नरीका अधिक भाग) से संबद्ध थे। वशिष्ठका संबंध कुरु (=मेरठ और अम्बाला कमिश्नरियोंके अधिक भाग)-राजके पुरोहित थे। सारा ऋग्वेद छै सात पीढ़ियोंके ऋषियोंकी कृति है, जैसा कि बृहस्पतिके इस वंशसे पता लगेगा—

(अंगिरा)
|
बृहस्पति (१५२० ई० पू०)
|
भरद्वाज (१५०० ई० पू०)
|
(विदथी)
|
नर (१४६० ई० पू०)
|
(संकृति १४४० ई० पू०)
|
गौरवीति (१४२० ई० पू०) (रन्तिदेव)
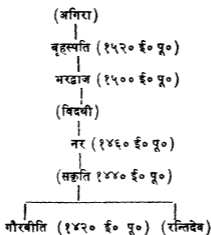
इनमें बृहस्पति, भारद्वाज, नर और गौरवीति ऋग्वेदके ऋषि हैं। बृहस्पतिसे गौरवीति (=सांकृत्यायनोंके एक प्रवर पुरुष) तक छै पीढ़ियाँ होती हैं। मैंने अन्यत्र[1] भारद्वाजका काल १५०० ई० पू० दिखलाया है, और पीढ़ीके लिए २० वर्षका औसत लेनेपर बृहस्पति (१५२० ई० पू०) से गौरवीति के समय (१४२० ई० पू०) के अंदर ही ऋषियोंने अपनी रचनाएँ कीं। ऋषियोंकी परम्पराओंपर नजर करनेपर हम इसी नतीजेपर पहुँचते हैं कि ऋग्वेदका सबसे अधिक भाग इसी समय बना है। ब्राह्मणों और आरण्यकोंके बननेका समय इससे पीछे सातवीं और छठी सदी ईसा पूर्व

1. देखिए मेरा "सांकृत्यायन-वंश।"

तक चला आता है। प्राचीन उपनिषदोंमें सिर्फ़ एक (ईश) मंत्र-संहिता (शुक्ल यजुर्वेद) का भाग (अन्तिम चालीसवाँ) अध्याय है; बाकी सातों ब्राह्मणोंके भाग हैं, या आरण्यकोंके।

ऋग्वेद प्रधानतया कुरु, उत्तर-दक्षिण-पंचाल देशों अर्थात् आजकलके पश्चिमी युक्त-प्रान्तमें बना, जो कि आर्योंके भारतमें आगमनके बाद तीसरा बसेरा है—पहिला बसेरा मंज़िल काबुल और स्वात नदियोंकी उपत्यकाओं (अफ़गानिस्तान) में था, दूसरा सप्त-सिन्धु (पंजाब) में, और यह तीसरा बसेरा पश्चिमी युक्त-प्रान्त या यमुना-गंगा-रामगंगाकी मैदानी उर्वर उपत्यकाओंमें। इतना कहनेसे यह भी मालूम हो जायगा कि क्यों प्रयाग और सरस्वती (घाघर) के बीचके प्रदेशको पीछे बहुत पुनीत, अधिकांश तीर्थोंका, क्षेत्र तथा आर्यावर्त्त कहा गया।

वेदसे आर्योंके समाजके विकासके बारेमें जो कुछ मिलता है, उससे जान पड़ता है कि "आर्यावर्त्त" में बस जानेके समय तक आर्योंमें कुरु, पांचाल जैसे प्रभुताशाली सामन्तवादी राज्य कायम हो चुके थे; कृषि, ऊनी वस्त्र, तथा व्यापार खूब चल रहा था। तो भी पशुपालन—विशेषकर गोपालन, जो कि मास, दूध, हल चलाना तीनोंके लिए बहुत उपयोगी था—उनकी आर्थिक उपजका सबसे बड़ा जरिया था। चाहे सुवास्तु और सप्तसिन्धुके समय—जो कि इससे तीन-चार सदी पहिले बीत चुका था—की ध्वनियाँ वहाँ कहीं-कहीं भले ही मिल जायें, किन्तु उनपर ऋग्वेद ज्यादा रोशनी नहीं डालता। इस समयके साहित्यसे यही पता लगता है, कि आर्यावर्त्तमें बसनेकी आरंभिक अवस्थामें उनके भीतर "वर्ण" या जातियाँ बनने जरूर लगी थीं, किन्तु अभी वह तरल या अस्थिर अवस्थामें थीं। अधिक शुद्ध रक्तवाले आर्य ब्राह्मण या क्षत्रिय थे। केवल विश्वामित्र ही राज-पुत्र (=क्षत्रिय) होते ऋषि नहीं हो गए, बल्कि ब्राह्मण भरद्वाजके पौत्रों सुहोत्र और शुनहोत्रकी अगली सारी सन्तानें क्रमशः कुरु और पंचालकी क्षत्रिय शासक थीं। भरद्वाजके प्रपौत्र संकृतिका पुत्र रन्तिदेव भी राजा और क्षत्रिय था। इस प्रकार इस समय (=कुरु-पंचालकालमें) जहाँ तक ब्राह्मण क्षत्रियों—शासकों तथा

पुरोहितों—का संबंध है, वर्ण-व्यवस्था कर्म पर निर्भर थी। ब्राह्मण क्षत्रिय हो सकता था और क्षत्रिय ब्राह्मण हो सकता था। आगे जिस वक्त राजाओंकी संरक्षकतामें पुश्तैनी पुरोहित—ब्राह्मण—तथा ब्राह्मणोंके विधानके अनुसार क्षत्रिय आनुवंशिक योद्धा और शासक बनते जा रहे थे; उस वक्त भी सप्तसिन्धु तथा काबुल-स्वातमें ब्राह्मणादि भेद नहीं कायम हुआ। पूरबमें भी मल्ल-वज्जी आदि प्रजातंत्रोंमे भी यही हालत थी, यह हम अन्यत्र[1] बतला चुके हैं। इसी पुरोहित-शाहीके कारण इन देशोंके आर्योंको—जो रक्तमें "आर्यावर्त्त"के ब्राह्मण-क्षत्रियों (=आर्यों) से कहीं अधिक शुद्ध थे—व्रात्य (=पतित) कहा जाता था। किन्तु यह "क्रियाके लोप" या "ब्राह्मणके अदर्शनसे नहीं" था, बल्कि वहाँ वह अपने साथ लाई पुरानी व्यवस्थापर ज्यादा आरूढ़ रहना चाहते थे। आर्योंके सामन्तवादके चरम विकासकी उपज ब्राह्मणादि भेदको मानना नहीं चाहते थे।

ऋग्वेदके आर्यावर्त्त (१५००-१००० ई० पू०) में, जैसा कि मैं अभी कह चुका, कृषि और गोपालन जीविकार्जनके प्रधान साधन थे। युक्त-प्रान्त अभी घने जंगलोंसे ढँका था, इसलिए उसके वास्ते वहाँ बहुत सुभीता भी था। उस वक्तके आर्योंका खाद्य रोटी, चावल, दूध, घी, दही, मास—जिसमें गोमास (बछड़ेका मांस, प्रियतम)—बहुप्रचलित खाद्य थे; मांस पकाया और भुना दोनों तरहका होता था। अभी मसाले और छौंक-बघाड़का बहुत जोर न था। गर्मागर्म सूप (मांसका रस) जो कि हिन्दी-युरोपीय जातिके एक जगह रहनेके समयका प्रधान पेय था, वह अब भी वैसा ही था।[2] सोम (=भाँग) का रस हिन्दी-ईरानी कालसे उनके प्रिय पानोंमें था, वह अब भी मौजूद था। पानके साथ नृत्य उनके मनोरंजनका एक प्रिय विषय था।

---

१. "वोल्गासे गंगा" पृष्ठ २१६-१८। २. संकृतिके पुत्र दानी रन्तिदेवके दो सौ रसोइये, प्रतिदिन दो हजारसे अधिक गायोंके मांसको पकाकर भी, अतिथियोंसे विनयपूर्वक कहते थे—"सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा।" महाभारत, द्रोण-पर्व ६७।१७, १८। शान्ति-पर्व २९-२८।

देशवासी लोहार (=ताम्रकार), बढ़ई (=रथकार), कुम्हार अपने व्यवसायको करते थे। सूत (ऊनी) कातना और बुनना प्रायः हर आर्यगृहमें होता था। ऊनी कपड़ोंके अतिरिक्त चमड़ेकी पोशाक भी पहनी जाती थी।

सिन्धुकी पुरानी सभ्यतामे मेसोपोतामिया और मिस्रकी भाँति वैयक्तिक देवता तथा उनकी प्रतिमाएं या संकेत भी बनते थे। किन्तु आर्योंको वह पसन्द न थे—खासकर अपने प्रतियोगी सिन्धुवासियोंकी लिंगपूजाको घृणाकी दृष्टिसे देखते हुए, वह उन्हें "शिश्नदेवाः" कहते थे। आर्यावर्तीय आर्योंके देवता इन्द्र, वरुण, सोम, पर्जन्य आदि अधिकतर प्राकृतिक शक्तियाँ थे। उनके लिए बनी स्तुतियोंमें कभी-कभी हमें कवित्व-कलाका चमत्कार दिखाई पडता है, किन्तु वह सिर्फ कविताएँ ही नही बल्कि भक्तकी भावपूर्ण स्तुतियाँ हैं। वायु की स्तुति करते हुए ऋषि कहता है[1]—

"वह कहाँ पैदा हुआ और कहाँसे आता है?
वह देवताओंका जीवनप्राण, जगत्‌की सबसे बड़ी सन्तान है।
वह देव जो इच्छापूर्वक सर्वत्र घूम सकता है।
उसके चलने की आवाजको हम सुनते हैं; किन्तु उसके रूपको नहीं।"

२—दार्शनिक विचार

(१) **ईश्वर**—ऋग्वेदके पुराने मंत्रोंमें यद्यपि इन्द्र, सोम, वरुणकी महिमा ज्यादा गाई गई है, किन्तु उस वक्त किसी एक देवताको सर्वेसर्वा माननेका ख्याल नहीं था। ऋषि जब किसी भी देवताकी स्तुति करने लगता तन्मय होकर उसीको सब कुछ सभी गुणोंका आकर कहने लगता। किन्तु जब हम ऋग्वेदके सबसे पीछेके मत्रों (दशम मंडल) पर पहुँचते हैं, तो वहाँ बहुदेववादसे एक देववादकी ओर प्रगति देखते हैं। सभी जातियोंके देव-लोकमे उनके अपने समाजका प्रतिबिंब होता है। जहाँ आरंभकालमें देवता, पितृसत्ताको समाजके नेता पितरोंकी भाँति छोटे-

---

१. ऋग्वेद १०।१६८।३, ४

बड़े शासक थे, वहाँ आगे नियंत्रित सामन्त या राजा बनते हुए अन्तमें वह निरंकुश राजा बन जाते हैं—निरंकुश जहाँ तक कि दूसरे देवव्यक्तियों-का संबंध है; धार्मिक, सामाजिक, नियमोंसे भी उन्हें निरंकुश कर देना तो न ब्राह्मणोंको पसन्द होता, न प्रभु वर्गको। प्रजाके अधिकार जब बहुत कम रह गए, और राजा सर्वेसर्वा बन गया, उसी समय (६००-५०० ई० पू०) "देव" राजाका पर्यायवाची शब्द बना।

देवावलीकी ओर अग्रसर होनेपर एक तो हम इस ख्यालको फैलते देखते हैं, कि ब्राह्मण एकही (उस देवताको) अग्नि, यम, सूर्य कहते हैं।[1] दूसरी ओर एकाधिकार को प्रकट करनेवाले प्रजापति वरुण जैसे देवताओंको आगे आते देखते हैं। ब्रह्म (नपुंसकलिंग) व्यापार-प्रधान कालके उपनिषदोंमें चलकर यद्यपि देवताओंका देवता, एक अद्वितीय निराकार शक्ति बन जाता है; किन्तु जहाँ ऋग्वेदका ब्रह्मा (पुंलिंग) एक साधारणसा देवता है, वहाँ ब्रह्म (नपुंसक) का अर्थ भोजन, भोजनदान, सामगीत, अद्भुत शक्तिवाला मन्त्र, यज्ञपूर्ति, दान-दक्षिणा, होता (पुरोहित) का मंत्रपाठ, महान् आदि मिलता है। प्रजापति ऋग्वेदके अन्तिमकालमें पहुंचकर महान् एकदेवता सर्वेश्वर बन जाता है; उसके क्रम विकासपर भी यदि हम गौर करें, तो वह पहिले प्रजाओंका स्वामी, एक विशेषण मात्र है। ऋग्वेदकी अन्तिम रचना दशम मंडलमें प्रजापतिके बारे में कहा गया है[2]—

"हिरण्य-गर्भ (सुनहरे गर्भवाला) पहिले था, वह भूतका अकेला स्वामी मौजूद था।"

"वह पृथिवी और इस आकाशको धारण करता था, उस (प्रजा-पति) देवको हम हवि प्रदान करते हैं।"

वरुण तो भूतलके शक्तिशाली सामन्त राजाका एक पूरा प्रतीक था। और उसके लिए यहाँ तक कहा गया—

---

१. "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।"
ऋ० १।१६४।४६

२. ऋग् १०।१२

"दो (आदमी) बैठकर जो आपसमें मंत्रणा करते हैं, उसे तीसरा राजा वरुण जानता है।"

(२) आत्मा—वैदिक ऋषि विश्वास रखते थे कि आत्मा (=मन) शरीरसे अलग भी अपना अस्तित्व रखता है। ऋग्वेदके एक मंत्र[1] में कहा गया है कि वह वृक्ष, वनस्पति, आन्तरिक्ष सूर्य आदिसे हमारे पास चली आये। वेदके ऋषि विश्वास करते थे कि इस लोकसे परे भी दूसरा लोक है, जहाँ मरनेके बाद सुकर्मा पुरुष जाता है, और आनन्द भोगता है। नीचे पातालमे नर्कका अन्धकारमय लोक है, जहाँ अधर्मी जाते है। ऋग्वेदमें मन, आत्मा और असु जीवके वाचक शब्द है, लेकिन आत्मा वहाँ आम-तौरसे प्राणवायु या शरीरकेलिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक कालके ऋषि पुनर्जन्म से परिचित न थे। शायद उनकी सामाजिक विषमताओंके इतने जबर्दस्त समालोचक नहीं पैदा हुए थे, जो कहते कि दुनियाकी यह विषमता—गरीबी-अमीरी दासता-स्वामिता, जिससे चंदको छोड़कर बाकी सभी दुःखकी चक्कीमे पिस रहे है—सख्त सामाजिक अन्याय है, और उसका समाधान कभी न दिखाई देनेवाले परलोकसे नहीं किया जा सकता। जब इस तरहके समालोचक पैदा हो गए, तब उपनिषत्-कालके धार्मिक नेताओंको पुनर्जन्मकी कल्पना करनी पड़ी—यहाँकी सामाजिक विषमता भी वस्तुतः उन्ही जीवोंको लौटकर अपने कियेको भोगनेकेलिए है। जिस सामाजिक विषमताको लेकर समाजके प्रभुओं और शोषकोंके बारेमें यह प्रश्न उठा था; पुनर्जन्मसे उसी विषमताके द्वारा उसका समाधान—बड़े ही चतुर दिमागका आविष्कार था, इसमें सन्देह नही।

ऋग्वेदके बारे मे जो यहाँ कहा गया, वह बहुत कुछ साम और यजुर्वेद-पर भी लागू है। ७५ मंत्रोंको छोड़ सामके सभी मंत्र ऋग्वेदसे लेकर यज्ञोंमें गानेकेलिए एकत्रित कर दिए गये हैं। (शुक्ल-) यजुर्वेद संहिताके भी बहुतसे मत्र ऋग्वेदसे लिए गए हैं; और कितने ही नये मत्र भी हैं।

---

१. ऋग्वेद १०।५८

यर्जुर्वेद यज्ञ या कर्मकांडका मंत्र है, और इसलिए इसके मन्त्रोंको भिन्न-भिन्न यज्ञोंमें उनके प्रयोगके क्रमसे संगृहीत किया गया है। अथर्ववेद सबसे पीछेका वेद है। बुद्धके वक्त (५६३-४८३ ई०) तक वेद तीन ही माने जाते थे। सुपठित पंडित ब्राह्मणको उस वक्त "तीनों वेदोंका पारंगत"[1] कहा जाता था। अथर्ववेद "मारन-मोहन-उच्चाटन" जैसे तंत्र-मन्त्रका वेद है।

(३) **दर्शन**—इस प्रकार जिसे हम दर्शन कहते हैं, वह वैदिक कालमें दिखलाई नहीं पड़ता। वैदिक ऋषि धर्म और देववादमें विश्वास रखते हैं। यज्ञो-दान द्वारा अब और मरनेके बाद भी, वह सुखी रहना चाहते थे। इस विश्वकी तहमें क्या है? इस चलके पीछे क्या कोई अचल शक्ति है? यह विश्व प्रारंभमें कैसा था? इन विचारोंका धुँधलासा आभास मात्र हमे ऋग्वेदके नासदीय सूक्त[2] और यजुर्वेदके अन्तिम अध्याय[3] में मिलता है। नासदीय सूक्तमे है—

"उस समय न सत् (=होना) था न अ-सत्।
न अन्तरिक्ष था न उसके परे व्योम था।
किसने सबको ढाँका था? और कहाँ? और किसके द्वारा रक्षित?
क्या वहाँ पानी अथाह था? ॥१॥
तब न मृत्यु था न अमर मौजूद;
सत और दिनमें वहाँ भेद न था।
वहाँ वह एकाकी स्वावलंबी शक्तिसे श्वसित था,
उसके अतिरिक्त न कोई था उसके ऊपर ॥२॥
अंधकार वहाँ आदिमे अँधेरेमे छिपा था,
विश्व भेदशून्य जल था।
वह जो शून्य और खालीमें छिपा बैठा है।

---

१. "तिस्रं वेदानं पारगू"। २. ऋग् १०।१२९
३. यजुः अध्याय ४० (ईश-उपनिषद्)।

वही एक (अपनी) शक्तिसे विकसित था ॥३॥
तब सबसे पहिली बार कामना उत्पन्न हुई;
जो कि अपने भीतर मनका प्रारंभिक बीज थी।
और ऋषियोंने अपने हृदयमें खोजते हुए,
अ-सत्‌में सत्‌के योजक संबंधको खोज पाया ॥४॥

× × ×

वह मूल स्रोत जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ,
और क्या वह बनाया गया या अकृत था,
(इसे) वही जानता या नहीं जानता है, जो कि उच्चतम द्यौलोकसे
शासन करता है, जो सर्वदर्शी स्वामी है।" ॥७॥

यहाँ हम उन प्रश्नोंको उठते हुए देखते हैं, जिनके उत्तर आगे चलकर दर्शनकी बुनियाद कायम करते हैं। विश्व पहिले क्या था ?—इसका उत्तर किसीने सत् अर्थात् वह सदासे ऐसा ही मौजूद रहा—दिया। किसीने कहा कि वह अ-सत्=नहीं मौजूद अर्थात् सृष्टिसे पहिले कुछ नहीं था। इस सूक्तके ऋषिने पहिले, वादके प्रतिवादका प्रतिवाद (प्रतिषेध) करके—"नहीं सत् था नहीं असत्"—द्वारा अपने संवादको पेश किया। उसने उस विश्वसे पहिलेकी शून्य अवस्थामें भी एक सत्ताकी कल्पना की, जो कि उस मृत-शून्य जगत्‌मे भी सजीव थी। आरभमें "विश्व भेद-शून्य जल था", यह उपनिषद्‌के "यह जल ही पहिले था"[1] का मूल है। ऋषिकी इस जिज्ञासा और उत्तरसे पता लगता है, कि विश्वका मूल ढूंढ़ते हुए, वह कभी तो प्रकृतिके साथ चलना चाहता है, और थे‌ल्‌की भाँति, किन्तु उससे कुछ सदियों पूर्व, जलको सबका मूल मानता है। दूसरी ओर प्रकृतिका तट छोड़ वह शून्यमें छलाँग मार एक रहस्यमयी शक्तिकी कल्पना करता है, जो कि उस "शून्य और खालीमें बैठी" है। अन्तमें रहस्यको और गूढ़ बनाते हुए, विश्वके सर्वदर्शी शासकके ऊपर विश्वके कृत या अकृत होने तथा उसके

---

१. "आप एव इदमग्र आसुः"-बृहदारण्यक ५।५।१

बारेमें जानने न जाननेका भार रखकर चुप हो जाता है। इस लम्बी छलाँगमें साहस भी है, साथ ही कुछ दूरकी उड़ानके बाद थकावटसे फिर घोंसलेकी ओर लौटना भी देखा जाता है। जो यही बतलाते हैं कि कवि (=ऋषि) अभी ठोस पृथिवीको बिलकुल छोड़नेकी हिम्मत नहीं रखता।

ईश-उपनिषद् यद्यपि संहिता (यजुर्वेद) का भाग है, तो भी वह काल और विचार दोनोंसे उपनिषद्-युगका भाग है, इसलिए उसके बारेमें हम आगे लिखेंगे।

§ २—उपनिषद् (७००-१०० ई० पू०)

क—काल

वैसे तो निर्णयसागर-प्रेस (बंबई) ने ११२ उपनिषदें छापी हैं, किन्तु यह बढ़ती संख्या पीछेके हिन्दू धार्मिक पंथोंके अपनेको वेदोक्त साबित करनेकी धुनकी उपज हैं। इनमे निम्न तेरहको हम असली उपनिषदोंमें गिन सकते हैं, और उन्हें कालक्रमसे निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है—१. प्राचीनतम उपनिषदें (७०० ई० पू०)—

(१) ईश, (२) छांदोग्य, (३) बृहदारण्यक।

२. द्वितीय कालकी उपनिषदें (६००-५०० ई० पू०)—

(१) ऐतरेय (२) तैत्तिरीय।

३ तृतीयकालकी उपनिषदे (५००-४०० ई० पू०)—

(१) प्रश्न, (२) केन, (३) कठ, (४) मुंडक, (५) माडूक्य।

४ चतुर्थकालकी उपनिषदें (२००-१०० ई० पू०)—

(१) कौषीतकि, (२) मैत्री, (३) श्वेताश्वतर

जैमिनिने वेदके मंत्र और ब्राह्मण दो भाग बतलाये हैं, यह हम कह चुके हैं। मंत्र सबसे प्राचीन भाग है, यह भी बतलाया जा चुका है। ब्राह्मणोंका मुख्य काम है, मंत्रोंकी व्याख्या करना, उनमें निहित या उनके पोषक आख्यानोंका वर्णन करना, यज्ञके विधि-विधान तथा उसमें मंत्रोंके प्रयोगको बतलाना। ब्राह्मणोंके ही परिशिष्ट आरण्यक हैं, जैसे (शुक्ल)-

यजुर्वेदके शतपथ (सौ रास्तोंवाले) ब्राह्मणका अन्तिम भाग बृहदारण्यक-उपनिषद्, एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण उपनिषद् है। लेकिन सभी आरण्यक-उपनिषद् नहीं है, हाँ, किन्हीं-किन्हीं आरण्यकोंके अन्तिम भागमें उपनिषद् मिलती है—जैसे ऐतरेय-उपनिषद् ऐतरेय-आरण्यकका और तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय-आरण्यकके अन्तिम भाग हैं। ईश-उपनिषद्, यजुर्वेद संहिता (मंत्र)के अन्तमें आती है, दूसरी उपनिषदें प्राय किसी न किसी ब्राह्मण या आरण्यकके अन्तमें आती हैं, और ब्राह्मण खुद जैमिनिके अनुसार वेदके अन्तमें आते है, आरण्यक ब्राह्मणके अन्तमें आते हैं, यह बतला चुके है। इन्हीं कारणोंमे उपनिषदोंको पीछे वेदान्त (=वेदका अन्त, अन्तिम भाग) कहा जाने लगा।

वैसे उपनिषद् शब्दका अर्थ है पास बैठकर गुरुद्वारा अधिकारी शिष्यको बतलाया जानेवाला रहस्य। ईशको छोड देनेपर सबसे पुरानी उपनिषदें छांदोग्य और बृहदारण्यक गद्यमे हैं, पीछेकी उपनिषदें केवल पद्य या गद्यमिश्रित पद्यमे है।

ख–उपनिषद्-संक्षेप

उपनिषद्के ज्ञात और अज्ञात दार्शनिकोंके आपसमे विचार भिन्नता रखते है। उनमे कुछ आरुणि और उसके शिष्य याज्ञवल्क्यकी भाँति एक तरहके अद्वैती विज्ञानवादपर जोर देते है, दूसरे द्वैतवादपर जोर देते है, तीसरे शरीरके रूपमें ब्रह्म और जगत्की अद्वैतताको स्वीकार करते है। उपनिषद् इन दार्शनिकोंके विचारोंके उनकी शिष्य-परंपरा और शाखा-परम्परा द्वारा अपूर्ण रूपसे याद करके रखे गये संग्रह हैं, किन्तु इस संग्रहमें न दार्शनिककी प्रधानता है, न द्वैत या अद्वैतकी। बल्कि किसी वेदकी शाखामे जो अच्छे-अच्छे दार्शनिक हुए, उनके विचारोंको वहाँ एक जगह जमाकर दिया गया। ऐसा होना जरूरी भी था, क्योंकि प्रत्येक ब्राह्मणको अपनी शाखाके मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, (कल्प व्याकरण) का पढना (=स्वाध्याय) परम कर्त्तव्य माना जाता था।

उपनिषद्के मुख्य विषय हैं, लोक, ब्रह्म, आत्मा (=जीव), पुनर्जन्म मुक्ति—जिनके बारेमें हम आगे कहेंगे । यहाँ हम मुख्य उपनिषदोंका संक्षेपमें परिचय देना चाहते हैं।

१—प्राचीनतम उपनिषदें (७०० ई० पू०)

(१) **ईश-उपनिषद्**—ईश-उपनिषद् यजुर्वेद-संहिताका अन्तिम (चालीसवं) अध्याय है, यह बतला आये हैं। यह अठारह पद्योंका एक छोटा सा संग्रह है। चूँकि इसका प्रथम पद्य (मंत्र) शुरू होता है "ईशावास्य" से इसलिए इसका नाम ही **ईश** या **ईशावास्य** उपनिषद् पड़ गया। इसमें वर्णित विषय है, ईश्वरकी सर्वव्यापकता, कार्य करनेकी अनिवार्यता, व्यवहार-ज्ञान (अविद्या) से परमार्थ ज्ञान (=ब्रह्म-विद्या) की प्रधानता, ज्ञान और कर्मका समन्वय। प्रथम मंत्र बतलाता है—

"यह सब जो कुछ जगतीमें जगत् है, वह ईशसे व्याप्त है, अत. त्यागके साथ भोग करना चाहिए। दूसरेके धनका लोभ मत करो।"

वैयक्तिक सम्पत्ति का ख्याल उस वक्त तक इतना पवित्र और दृढ हो चुका था, साथ ही धनी-गरीब, कमकर-कामचोरकी विषमता, इतनी बढ चुकी थी, कि उपनिषद्-कर्ता अपने पाठक के मनमे तीन बातोंको बैठा देना चाहता है—(१) ईश सब जगह बसा हुआ है, इसलिए किसी "बुरे" कामके करते वक्त तुम्हें इसका ध्यान और ईशसे भय खाना चाहिए; (२) भोग करो, यह कहना बतलाता है कि अभी वैराग्य बिना नकेलके ऊँटकी भाँति नही छूट पडा था; जीवनकी वास्तविकता और उसके लिए जरूरी भोग-सामग्री अभी हेय नही समझी गई थी। हाँ, वैयक्तिक सम्पत्तिके ख्यालमे भी यह जरूरी था कि निर्धन कमकर वर्ग "भोग करो" का अर्थ स्वच्छन्द-भोगवाद न समझ ले, इसलिए उनपर नियंत्रण करनेके लिए त्यागपर भी जोर दिया गया। और (३) अन्तमें मंत्रकर्त्ताने वैयक्तिक सम्पत्तिकी पवित्रताकी रक्षाके लिए कहा—"दूसरेके धनका लोभ मत करो।" उस कालके वर्ग-युक्त (शोषक-शोषित, निठल्ले-कमकर) समाजके लिए इस

मन्त्रका यही अर्थ था; यद्यपि व्यक्तियोंमेंसे कुछके लिए इसका अर्थ कुछ बेहतर भी हो सकता था, क्योंकि यहाँ त्यागके साथ भोगकी बात उठाई गई थी। लेकिन उसके लिए बहुत दूर तक खींच-तान करनेकी गुंजाइश नहीं है। ईशके व्याप्त होने तथा दूसरेके धनको न छूनेकी शिक्षा समर्थ है, वहाँ भय पैदा करनेकेलिए जहां राजदंड भी असमर्थ है। आजके वर्ग-समाजकी भाँति उस कालके वर्गसमाज के शासन-यंत्र (=राज्य) का प्रधान कर्तव्य था,. वर्ग-स्वार्थ—शोषण और वैयक्तिक सम्पत्ति—की रक्षा करना। मंत्रकर्त्ताने अपनी प्रथम और अन्तिम शिक्षाओंसे राज्यके हाथोंको मजबूत करना चाहा। यदि ऐसा न होता, तो आजसे भी अत्यन्त दयनीय दशावाले दास-दासियों (जिन्हे बाजारोंमें ले जाकर सौदेकी तरह बेचा-खरीदा जाता था) और काम करते-करते मरते रहते भी खाने-कपडेको मुहताज कम्मियोंकी ओर भी ध्यान देना चाहिए था। ऐसा होनेपर कहना होता—"जगतीमे जो कुछ है, वह ईशकी देन, सबके लिए समान है, इसलिए मिलकर भोग करो ईशके उस धनमें लोभ मत करो।"[1]

उपनिषद्-कालके आरंभ तक आर्योंके ऊपरी वर्ग—शासक पुरोहित वर्ग—मे भोग और विलास-प्रधान जीवन उस सीमा तक पहुँच गया था; जहाँ समाजकी भीतरी विषमता,अन्दर-अन्दर कुढ़ते उत्पीड़ित वर्गके मूक रोष, और शोषकोंकी अपने-अपने लोभकी पूर्तिकेलिए निरन्तर होते पारस्परिक कलह, शोषक धनिक वर्ग को भी सुखकी नींद सोने नहीं देते, और हर जगह शका एवं भय उठते रहते हैं। इन सबका परिणाम होता है निराशावाद और अकर्मण्यता। राज्य और धर्म द्वारा शासन करनेवाले वर्गको अकर्मण्यतासे हटानेके लिए दूसरे मंत्रमें कहा गया है—

"यहाँ काम करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा रक्खो।

---

१. ईशावास्यं इदं सर्वं यत् किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥

(बस) यही और दूसरा (रास्ता) तुम्हारे लिए नहीं, नरमें कर्म नहीं लिप्त होता।" उपनिषद्कार स्वयं, यज्ञोंके व्यर्थके लम्बे-चौड़े विधिविधानके विरुद्ध एक नई धारा निकालनेवाले थे'—"यज्ञके ये कमज़ोर बेड़े हैं।... इसे उत्तम मान जो अभिनन्दन करते हैं, वे मूढ़ फिर-फिर बुढ़ापे और मृत्युके शिकार बनते हैं। अविद्याके भीतर स्वयं वर्त्तमान (अपनेको) धीर और पंडित माननेवाले...मूढ (उसी तरह) भटकते हैं, जैसे अंधे द्वारा लिये जाये जाते अंधे। इष्ट (=यज्ञ) और पूर्त (=परार्थ किये जानेवाले कूप, तालाब) निर्माण आदि कर्मको सर्वोत्तम मानते हुए (उससे) दूसरेको (जो) अ-मूढ़ अच्छा नहीं समझते, वे स्वर्गके ऊपर सुकर्मको अनुभव कर इस हीनतर लोकमें प्रवेश करते हैं।"

उपनिषद्की प्रतिक्रियासे कर्मकांडके त्यागकी जो हवा उठी, उसके कारण नेतृवर्ग कहीं हाथ-पैर ढीला कर मैदान न छोड़ भागे, इसीलिए कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीते रहनेकी इच्छा करनेका उपदेश दिया गया।

(२) छान्दोग्य उपनिषद् (७०० ई० पू०); (क) संक्षेप— छान्दोग्य और बृहदारण्यक न सिर्फ आकार हीमें बड़ी उपनिषदें हैं, बल्कि काल और प्रथम प्रयासमें भी बहुत महत्त्व रखती हैं। छान्दोग्यके प्रधान दार्शनिक उद्दालक आरुणि (गौतम) का स्थान यदि सुक्रातका है, तो उनके शिष्य याज्ञवल्क्य वाजसेनय उपनिषद्का अफलातूँ है। हम इन दोनों उपनिषदोंके इन दोनों दार्शनिकों तथा कुछ दूसरोंपर भी आगे लिखेंगे, तो भी इन उपनिषदोंके बारेमें यहाँ कुछ संक्षेपमें कह देना जरूरी है।

बृहदारण्यककी भाँति छान्दोग्य पुरानी और सधिकालीन उपनिषद् है, इसीलिए कर्मकाड-प्रशंसाको इसने छोडा नही है। बल्कि पहिले दूसरे अध्याय तो उपनिषद् नहीं ब्राह्मणका भाग होने लायक है। उपनिषद्के सामवेदी होनेसे सामगान और ओम्की महिमा इन अध्यायोंमें गाई गई है।

---

१. मुंडक० १।२।७-११

हाँ, प्रथम अध्यायके अंतमें दाल रोटीकेलिए "हावु" "हावु" (=सामगान-का अलाप) करनेवाले पुरोहितोंका एक दिलचस्प मजाक़ किया गया है। बक दाल्भ्य—जिसका दूसरा नाम ग्लाव मैत्रेय भी था—कोई ऋषि था। वह वेदपाठके लिए किसी एकांत स्थानमे रह रहा था ; उस समय एक सफ़ेद कुत्ता वहाँ प्रकट हुआ। फिर कुछ और कुत्ते आ गये और उन्होंने सफेद कुत्तेसे कहा कि हम भूखे है, तुम साम गाओ, शायद इससे हमें कुछ भोजन मिल जाये। सफेद कुत्तेने दूसरे दिन आनेकेलिए कहा। दाल्भ्यने कुत्तोंकी बात सुनी थी। वह भी सफ़ेद कुत्तेके सामगानको सुननेकेलिए उत्सुक था। दूसरे दिन उसने देखा कि कुत्ते आगे-पीछे एकको मूँछ दूसरेके मुँहमें लिए बैठकर गा रहे थे—'हिं ! ओम्, खावे, ओम्, पीयें ओम् देव हमें भोजन दें। हे अन्न देव ! हमारे लिए अन्न लाओ, हमारे लिए इसे लाओ, ओम्।' इस मजाकमे सामगायक पेटकेलिए यज्ञके वक्त एकके पीछे एक दूसरे अगलोंका वस्त्र पकड़े हुए पुरोहितके साम-गायनकी नकल उतारी गई है।

तीसरे अध्यायमे आदित्य (=सूर्य) को देव-मधु बतलाया गया है। **चौथे** अध्यायमे रैक्व, सत्यकाम जाबाल और सत्यकाम के शिष्य उपकोसल-की कथा और उपदेश हैं। **पाँचवें** अध्यायमे जैविल और अश्वपति कैकेय (राजा) के दर्शन हैं। **छठे** अध्यायमें उपनिषद्के प्रधान ऋषि आरुणिकी शिक्षा है, और यह अध्याय सारे छान्दोग्यका बहुत महत्त्वपूर्ण भाग है। शतपथ ब्राह्मणमे पता लगता है कि आरुणि बहुत प्रसिद्ध ऋषि तथा याज्ञवल्क्यके गुरु थे। **सातवें** अध्यायमे सनत्कुमारके पास जाकर नारदके ब्रह्मज्ञान सीखनेकी बात है। **आठवें** तथा अन्तिम अध्यायमे आत्माके साक्षात्कारकी युक्ति बतलाई गई है।

(ख) ज्ञान—छान्दोग्य कर्मकाडसे नाता तोड़नेकी बात नहीं करता, बल्कि उसे ज्ञानकांडसे पुष्ट करना चाहता है; जैसा कि इन उद्धरणसे मालूम होगा[1]—

---

१. छांदोग्य ५।१९-२४

"प्राणके लिए स्वाहा। व्यान, अपान, समान, उदानके लिए स्वाहा जो इसके ज्ञानके बिना अग्नि होम करता है, वह अंगारोंको छोड मानो भस्ममें ही होम करता है। जो इसे ऐसा जानकर अग्निहोत्र करता है, उसके सभी पाप (=बुराइयाँ) उसी तरह दूर हो जाते हैं, जैसे सरकडेका धूआ आगमे डालनेपर। इसलिए ऐसे ज्ञानवाला चाहे चांडालको जूठ ही क्यों न दे, वह वैश्वानर-आत्मा (=ब्रह्म) में आहुति देना होता है।"

"विद्या और अविद्या तो भिन्न-भिन्न है। (किन्तु) जिस (कर्म) को (आदमी) विद्या (=ज्ञान) के साथ श्रद्धा और उपनिषद्के साथ करता है, वह ज्यादा मजबूत होता है।"[1]

मनुष्यकी प्रतिभा एक नये क्षेत्रमें उड़ रही थी, जिसके चमत्कारको देखकर लोग आश्चर्य करने लगे थे। लोगोंको आश्चर्य-चकित होनेको ये दार्शनिक कम नहीं होने देना चाहते थे। इसलिए चाहते थे कि इसका ज्ञान कमसे कम आदमियोंतक सीमित रहे। इसीलिए कहा गया है—

"इस ब्रह्मको पिता या तो ज्येष्ठ पुत्रको उपदेश करे या प्रिय शिष्यको किसी दूसरेको (हर्गिज) नहीं, चाहे (वह) इसे जल-रहित धनसे पूर्ण इस (पृथ्वी) को ही क्यों न दे देवे, 'यही उससे बढ़कर है, यही उससे बढ़कर है।"

(ग) धर्माचार—छान्दोग्यके समयमें दुराचार किसे कहते थे, इसका पता निम्न पद्यसे लगता है—

"सोनेका चोर, शराब पीनेवाला, गुरु-पत्नीके साथ व्यभिचार करनेवाला और ब्रह्महत्या करनेवाला, ये चार और इनके साथ (संसर्ग या) आचरण करनेवाले पतित होते हैं।"[2]

सदाचार तीन प्रकारके बतलाये गये हैं[3]—

"धर्मके तीन स्कन्ध (=वर्ग) हैं—यज्ञ, अध्ययन (=वेदपाठ) और दान। यह पहिला तप ही दूसरा (स्कन्ध है), ब्रह्मचर्य, (रख) आचार्य-

---

१. छांदोग्य १।१।१० २. वहीं ५।१०।९ ३. वहीं, २।२३।१

कुलमें बसना--; आचार्यके कुलमे अपनेको अत्यन्त छोटा करके (रहना)। ये सभी पुण्य लोक (वाले) होते हैं। (जो) ब्रह्ममें स्थित है वह अमृतत्व (मुक्ति) को प्राप्त होता है।"

(घ) ब्रह्म--ब्रह्मको ज्ञानमय चिह्नों या प्रतीकोंमें उपासना करनेकी बात छांदोग्यमे सबसे ज्यादा आई है। इनके बारेमें सन्देह उठ सकते थे कि यह ब्रह्मकी उपासनाएँ हैं या जिन प्रतीकों--आदित्य, आकाश आदिकी उपासना करने--को कहा गया है। वहाँ अलग-अलग देवता हैं। और उसी रूपमें उनकी उपासना करनेको कहा गया है। बादरायणने अपने वेदान्त-सूत्रोंके काफी भागको इसीको सफाई में खर्च किया है, यह हम आगे देखेंगे। इन उपासनाओंमेसे कुछ इस प्रकार हैं--

(a) **दहर**--दहृदयके क्षुद्र (=दहर) आकाशमें ब्रह्मकी उपासना करनेकेलिए कहा गया है[1]--

"इस ब्रह्मपुर (=शरीर) मे जो दहर (=क्षुद्र) पुंडरीक (=कमल) गृह है। इसमे भीतर (एक) दहर आकाश है, उसके भीतर जो हैं, उसका अन्वेषण करना चाहिए, उसकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए।...... जितना यह (बाहरी) आकाश है, उतना यह हृदयके भीतरका आकाश है। दोनो द्यु (नक्षत्र)-लोक और पृथ्वी उसीके भीतर एकत्रित हैं-- दोनों अग्नि और वायु, दोनों सूर्य और चंद्रमा, दोनों बिजली-तारे और इस विश्वका जो कुछ यहाँ है तथा जो नही, वह सब इसमें एकत्रित हैं।"

(b) **भूमा**--सुखकी कामना हर एक मनुष्यमें होती है। ऋषिने सुखको ही प्राप्त करनेका प्रलोभन दे, भारी (भूमा)-सुखकी ओर खींचते हुए कहा--

"जब सुख पाता है तब (उसके) लिए प्रयत्न करता है। न-सुखको प्राप्तकर नहीं करता; सुखको ही पाकर करता है। सुखकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए।..जो कि भूमा (=बहुत) है वह सुख है, थोड़ेमें सुख नहीं होता।

---

१. छां० ८।१।१-३

भूमाकी ही जिज्ञासा करनी चाहिए। जहाँ (=ब्रह्ममें) न दूसरेको देखता, न दूसरेको सुनता, न दूसरेका विजानन करता (जानता) वह भूमा है। जहाँ दूसरेको देखता, सुनता, विजानन करता है, वह अल्प है। जो भूमा है वह अमृत है, जो अल्प है वह मर्त्य (=नाशमान)। 'हे भगवान्! वह (=भूमा) किसमें स्थित है।' 'अपनी महिमामें या (अपनी) महिमामें नहीं।' गाय-घोड़े, हाथी-सोने, दास-भार्या, खेत-घरको यहाँ (लोग) महिमा कहते हैं। मैं ऐसा नहीं कह रहा हूँ। वही (=भूमा ब्रह्म) नीचे वही ऊपर, वही पश्चिम, वही पूरब, वही दक्षिण, वही उत्तरमें है; वही यह सब है।... वह (=ज्ञानी) इस प्रकार देखते, इस प्रकार मनन करते और इस प्रकार विजानन करते आत्माके साथ रति रखनेवाला, आत्माके साथ क्रीड़ा और आत्माके साथ जोड़ीदारी रखनेवाला आत्मानंद स्वराड् (=अपना राजा) होता है, वह इच्छानुसार सारे लोकोंमें विचरण कर सकता है।"[1]

इसी भाँति आकाश,[2] आदित्य,[3] प्राण,[4] वैश्वानरआत्मा,[5] सेतु[6] ज्योति[7] आदिको भी प्रतीक मानकर ब्रह्मोपासनाकी शिक्षा दी गई है।

(ङ) सृष्टि—विश्वके पीछे कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है, और वह अपनेको बिलकुल छिपाए हुए नहीं है, बल्कि विश्वकी हर एक क्रिया उसीके कारण दृष्टिगोचर हो रही है उसी तरह जैसे कि शरीरमें, जीवकी क्रिया देखी जाती है; लेकिन वस्तुओंके बनने-बिगड़नेसे मानवके मनमें यह भी ख्याल पैदा होने लगा कि इस सृष्टिका कोई आरम्भ भी है, और आरम्भ है तो उस के पहिले कुछ था भी या बिलकुल कुछ नहीं था। इसका उत्तर इस तरह दिया गया है[8]—

"हे सोम्य (प्रिय)! यह पहिले एक अद्वितीय सद् (=भावरूप) ही था। उसीको कोई कहते हैं—"यह पहिले एक अद्वितीय असद् (=अभाव

---

१. छां० ७।२२-२५ २. वहीं १।९।१; ७।१२।१
३. वहीं ३।१९।१-३ ४. वहीं १।११।५; ५. वहीं ५।१८।१;
६. वहीं ८।४।१-२ ७. वहीं ३।१३ ८. वहीं ६।२।१-४

रूप) ही था। इसलिए अ-सत्से सत उत्पन्न हुआ।' लेकिन, सोम्य! कैसे ऐसा हो सकता है—'कैसे अ-सत्से सत् उत्पन्न होगा।' सोम्य! यह पहिले एक अद्वितीय सद् ही था। उसने ईक्षण (=इच्छा) किया—'मैं बहुत ही प्रकट होऊँ।' उसने तेज (=अग्नि) को सिरजा। उस तेजने ईक्षण किया ...उसने जलको सिरजा....उस जलने...अन्नको सिरजा।'

इस उद्धरणसे स्पष्ट है कि (१) यहाँ उपनिषत्कार असत्से सत्की उत्पत्ति नही मानता अर्थात् वह एक तरहका **सत्यकार्यवादी** है; (२) भौतिकतत्त्वोंमें आदिम या मूलतत्त्व तेज (=अग्नि) है।

(ख) मन (a) **भौतिक**—मन आत्मासे अलग और भौतिक वस्तु है, इसी ख्यालसे यहाँ हम **मन**को अन्नसे बना सुनते हैं—[1]

"खाया हुआ अन्न तीन तरहका बनता (=परिणत होता) है। उसका जो स्थूल धातु (=सत्त्व) है, वह पुरीष (=पायखाना) बनता है, जो बिचला वह मास और जो अतिसूक्ष्म वह मन (बनता है)।...सोम्य! मन अन्नमय है।.. सोम्य! दहीको मथनेपर जो सूक्ष्म (अंश है) वह ऊपर उठ आता है, वह मक्खन (=सर्पिः) बनता है। इसी तरह सोम्य! खाये जाते अन्नका जो सूक्ष्म अंश है, वह ऊपर उठ आता है, वह मन बनता है।

(b) **सुप्तावस्था**—इन आरंभिक विचारोंके लिए गाढ निद्रा और स्वप्नकी अवस्थाएं बहुत बड़ा रहस्य ही नहीं रखती थी, बल्कि इनसे उनके आत्मा-परमात्मा संबधी विचारोंकी पुष्टि होती जान पड़ती थी। इसीलिए बृहदारण्यकमें कहा गया[2]—

"जब वह सुषुप्त (=गाढ़ निद्रामें सोया) होता है तब (पुरुष) कुछ नही महसूस (=वेदना) करता। हृदयसे पुरीतत[3]की ओर जानेवाली

---

१. छां० ६।५,६ २. बृह० २।१।१९

३. पुरीतत हृदयके पास अथवा पृष्ठ-वंश में अवस्थित किसी चक्र को कहते थे, जहाँ स्वप्न और गाढ़-निद्रामें जीव चला जाता है।

७२ हजार हिता नामवाली नाड़ियाँ हैं। उनके द्वारा (वहाँ) पहुँचकर पुरीततमें वह सोता है, जैसे कुमार (बच्चा) या महाराजा या महा ब्राह्मण आनन्दकी पराकाष्ठाको पहुँच सोये, वैसे ही यह सोता है।"

इसी बातको छान्दोग्यने इन शब्दोंमे कहा है[1]—

"जहाँ यह सुप्त अच्छी तरह प्रसन्न हो स्वप्नको नही जानता, उस वक्त इन्ही (=हिता नाड़ियों) में वह सोया होता है।"

इसीके बारेमें[2]—

"उद्दालक आरुणिने (अपने) पुत्र श्वेतकेतुको कहा —'स्वप्नके भीतर (की बातको) समझो।'...जैसे सूतसे बँधा पक्षी दिशा-दिशामें उड़कर दूसरी जगह स्थान न पा, बंधन (-स्थान) का ही आश्रय लेता है। इसी तरह सौम्य! वह मन दिशा-दिशामे उड़कर दूसरी जगह स्थान न पा प्राणका ही आश्रय लेता है। सौम्य! मनका बंधन प्राण है।"

सुषुप्ति (=गाढ निद्रा) मे आदमी स्वप्न भी नहीं देखता, इस अवस्थाको आरुणि ब्रह्मके साथ समागम मानते हैं।[3]

"जब यह पुरुष सोता है (=स्वपिति), उस समय सौम्य! वह सत् (=ब्रह्म)के साथ मिला रहता है। 'स्व-अपीति' (=अपनेको मिला) होता है, इसीलिए इसे 'स्वपिति' कहते हैं।"

जब हम रोज़ इस तरह ब्रह्म-मिलन कर रहे हैं, किन्तु इसका ज्ञान और लाभ (=मुक्ति) हमे क्यों नही मिलती, इसके बारेमें कहा है[4]—

"जैसे क्षेत्रका ज्ञान न रखनेवाले छिपी हुई सुवर्ण निधिके ऊपर-ऊपर चलने भी उसे नही पाते, इसी तरह यह सारी प्रजा (=प्राणी) रोज़-रोज़ जाकर भी इस ब्रह्मलोकको नही प्राप्त करती, क्योंकि वह अनृत (=अ-सत्य अज्ञान) से ढँकी हुई है।"

(छ) मुक्ति और परलोक—इन प्रारम्भिक दार्शनिकोंमे जो अद्वैत-वादी भी हैं, उन्हे भी उन अर्थोंमे हम अद्वैती नहीं ले सकते, जिनमें कि

---

१. छां० ८।६।३; २. वहीं ६।८।१, २ ३. वहीं ६।८।१ ४. वहीं ८।३।२

बर्कले या शंकरको समझते हैं। क्योंकि एक तो वे शंकरकी भाँति पृथिवी और पार्थिव भोगोका सर्वथा अपलाप करनेकेलिए तैयार नही हैं, दूसरे धर्मके विरुद्ध अभी इतने स्वतत्र विचार नही उठ खड़े हुए थे कि वह सीधे किसी बातको दो टूक कह देते, अथवा अभी मनुष्यका ज्ञान इतना विकसित नही हुआ था कि रास्तेके झाड-झंखाड़को उखाडते हुए, वह अपना सीधा रास्ता लेते। निम्न उद्धरणमे मुक्तिको इस प्रकार बतलाया गया है, जैसे वहाँ मुक्त आत्मा और ब्रह्मका भेद बिलकुल नही रहता—

"जैसे सोम्य! मधुमक्खियाँ मधु बनाती हैं, नाना प्रकारके वृक्षोंके रसोसे सचय कर एक रसको बनाती हैं। जैसे वहाँ वह (मधु आपसमें) फर्क नही पाती—'मैं अमुक वृक्षका रस हूँ, मैं अमुक वृक्षका रस हूँ,' ऐसे ही सोम्य! यह सारी प्रजा सत्‌में प्राप्त हो नही जानती—'हमने सत्‌को प्राप्त किया'[1]।"

यहाँ सुषुप्तिकी अवस्थाको लेकर मधुके दृष्टान्तसे अभेद बतलानेकी कोशिश की गई है, किन्तु इस अभेद ऋषिका अभिप्राय आत्माकी अत्यन्त समानता तथा ब्रह्मका शुद्ध शरीर होना ही अभिप्रेत मालूम होता है। जैसा कि निम्न उद्धरण बतलाता है[2]—

"जो यहाँ आत्माको न जानकर प्रयाण करते (=मरते) हैं, उनका सारे लोकोमे स्वेच्छापूर्वक विचरण नही होता। जो यहाँ आत्माको जानकर प्रयाण करते है उनका सारे लोकोंमें स्वेच्छापूर्वक विचरण होता है।"

मुक्त पुरुषका मरकर स्वेच्छापूर्वक विचरण यहाँ बतलाता है कि यहाँ विचारकको मुक्तिमें अपने अस्तित्वका खोना अभिप्रेत नही है। छान्दोग्यने इसे और साफ करते हुए कहा है[3]—

"जिस-जिस बात (=अन्त)की वह कामनावाला होता है, जिस जिसकी कामना करता है, संकल्पमात्रसे ही (वह) उसके पास उपस्थित होता है, वह उसे प्राप्त कर महान् होता है।"

---

१. छां० ६।६।१०; २. वहीं ८।१।६ ३. वहीं ८।२।१०

ब्रह्म-ज्ञान प्राप्तकर जीवित रहते मुक्तावस्थामें—

"जैसे कमलके पत्तेमें पानी नहीं लगता, इसी तरह ऐसे ज्ञानीको पाप-कर्म नहीं लगता।"

'पापकर्म नहीं लगता' यह वाक्य सदाचारकेलिए घातक भी हो सकता है, क्योंकि इसका अर्थ 'वह पापकर्म नहीं कर सकता' नहीं है।

मुक्तके पाप क्षीण हो जाते हैं इसके बारेमें और भी कहा है[1]—

"घोड़ा जैसे रोयेंको (झाड़े हो), ऐसे ही पापोंको झाड़कर, चन्द्र जैसे राहुके मुखसे छूटा हो, शरीरको झाड़कर कृतार्थ (हो), वैसे ही मैं ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ।"

(a) **आचार्य**—मुक्तिकी प्राप्तिमें ज्ञानकी अनिवार्यता है, ज्ञानके लिए आचार्य जरूरी है। इसी अभिप्रायको इस वाक्यमें कहा गया है[2]—

"जैसे सोम्य! एक पुरुषको गंधार (देश) से आँख बाँधे लाकर उसे जहाँ बहुत जन हों उस स्थानमें छोड़ दें। जैसे वह वहाँ पूरब पश्चिम ऊपर उत्तर चिल्लाये—'आँख बाँधे लाया आँख बाँधे (मुझे) छोड़ दिया'। जैसे उसकी पट्टी खोलकर (कोई) कहे—'इस दिशामें गंधार है, इस दिशाको जा।' वह (एक) गाँवसे (दूसरे) गाँवको पूछता पंडित मेधावी (पुरुष) गंधारमें ही पहुँच जाये। उसी तरह यहाँ आचार्यवाला पुरुष (ब्रह्मको) जानता है। उसकी उतनी ही देर है, जब तक विमोक्ष नहीं होता, फिर तो (वह ब्रह्मको) प्राप्त होगा।"

(b) **पुनर्जन्म**—भारतीय प्राचीन साहित्यमें छांदोग्य ही ने सबसे पहिले पुनर्जन्म (=परलोकमें ही नहीं इस लोकमें भी कर्मानुसार प्राणी जन्म लेता है) की बात कही। शायद उस वक्त प्रथम प्रचारकोंने यह न सोचा हो कि जिस सिद्धान्तका वह प्रचार कर रहे हैं, वह आगे कितना खतरनाक साबित होगा, और वह परिस्थितिके अनुसार बदलनेकी क्षमता

---

१. छां० ८।१३।१   २. छां० ६।१४।१-२

रखनेवाली शक्तियोंको कुठितकर, समाजको प्रवाहशून्य नदीका गँदला पानी बना छोड़ेगा। मरकर किसी दूसरे चंद्र आदि लोकमें जा भोग भोगना, सिर्फ यहाँके कष्टपीडित जनोको दूरकी आशा देता है। जिसका भी अभिप्राय यही है कि यहाँ सामाजिक विषमताने जो तुम्हारे जीवनको तलख कर रखा है, उसके लिए समाजमे उथल-पुथल लानेकी कोशिश न करो। इसी लोकमे आकर फिर जनमना (=पुनर्जन्म) तो पीड़ित वर्गकेलिए और खतरनाक चीज है। इसमे यही नही है कि आजके दुखोंको भूल जाओ, बल्कि साथ ही यह भी बतलाया गया है कि यहाँ की सामाजिक विषमताएँ न्याय्य है, क्योंकि तुम्हारी ही पिछले जन्मकी तपस्याओं (=दु खो अत्याचारपूर्ण वेदनाओ) के कारण संसार ऐसा बना है। इस विषमताके बिना तुम अपने आजके कष्टोका पारितोषिक नही पा सकते। पुनर्जन्मके सबधमे वह सर्वपुरातन वाक्य है[1]—

"सो जो यहाँ रमणीय (=अच्छे आचरण वाले है, यह जरूरी है कि वह रमणीय योनि—ब्राह्मण-योनि, या क्षत्रिय-योनि, या वैश्य-योनि—को प्राप्त हों। और जो बुरे (=आचार वाले) हैं, यह जरूरी है कि वह बुरी योनि—कुत्ता-योनि, सूकर-योनि, या चाडाल-योनिको प्राप्त हों।"

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको यहाँ मनुष्य-योनिके अन्तर्गत न मानकर उन्हें स्वतत्र योनिका दर्जा दिया है, क्योंकि मनुष्य-योनि माननेपर समानता का सवाल उठ सकता था। पुरुष सूक्तके एक ही शरीरके भिन्न-भिन्न अगकी बातको भी यहाँ भुला दिया गया, क्योंकि यद्यपि वह कल्पना भी सामाजिक अत्याचारपर पर्दा डालनेकेलिए ही गढी गई थी, तो भी वह उतनी दूर तक नही जाती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यको स्वतंत्र योनिका दर्जा इसीलिए दिया गया, जिसमे सम्पत्तिके स्वामी इन तीनो वर्णोंकी वैयक्तिक सम्पत्ति और प्रभुताको धर्म (=कर्म-फल) द्वारा न्याय्य बतलाया जाये, और वैयक्तिक सम्पत्तिके सरक्षक राज्यके हाथको धर्म द्वारा दृढ़ किया जाय।

---

१. छां० ५।१०।७

(c) **पितृयान**—मरनेके बाद सुकर्मी जैसे अपने कर्मोका फल भोगने-के लिए लोकान्तरमें जाते हैं, इसे यहाँ पितृयान (=पितरोंका मार्ग) कहा गया है। उसपर जानेका तरीका इस प्रकार है—

"जो ये ग्राममें (रहते) इष्ट-आपूर्त्त (=यज्ञ, परोपकारके कर्म), दानका सेवन करते हैं। वह (मरते वक्त) धूएंसे संगत होते हैं। धुएंसे रात, रातसे अपर (=कृष्ण) पक्ष, अपर पक्षसे छै दक्षिणायन मासोंको प्राप्त होते हैं. . . । मासोंसे पितृलोकको, पितृलोकसे आकाशको, आकाशसे चंद्रमाको प्राप्त होते हैं। वहाँ (=चन्द्रलोकमें) संपात (=मियाद)के अनुसार निवासकर फिर उसी रास्तेसे लौटते हैं—जैसे कि (चद्रमासे) इस आकाशको, आकाशसे वायुको, वायु हो धूम होता है, धूम हो बादल होता है, बादल हो मेघ होता है, मेघ हो बरसता है। (तब) वे (लौटे जीव) धान, जौ, औषधि, वनस्पति, तिल-उड़द हो पैदा होते हैं. . . .जो जो अन्न खाता है, जो वीर्य सेचन करता है, वह फिरसे ही होता है।"[1]

यहाँ चन्द्रलोकमें सुख भोगना, फिर लौटकर पहिले उद्धृत वाक्यके अनुसार "ब्राह्मण-योनि", "क्षत्रिय-योनि" मे जन्म लेना पितृयान है।

(d) **देवयान**—मुक्त पुरुष जिस रास्तेसे अंतिम यात्रा करते हैं, उसे देवयान या देवताओका पथ कहते हैं। पुराने वैदिक ऋषियोंको कितना आश्चर्य होता, यदि वह सुनते कि देवयान वह है, जो कि उनको इन्द्र आदि देवताओं की ओर नही ले जाता। देवयानवाला यात्री[2]—"किरणोंको प्राप्त होते है। किरणसे दिन, दिनसे भरते (=शुक्ल) पक्ष, भरते पक्षसे जो छै उत्तरायणके मास हैं उन्हें; (उन) मासोंसे संवत्सर, सवत्सरसे आदित्य, आदित्यसे चन्द्रमा, चन्द्रमासे विद्युत्‌को (प्राप्त होते हैं) फिर अ-मानव पुरुष इन (देवयान-यात्रियो) को ब्रह्मके पास पहुँचाता है। यही देवपथ[3] ब्रह्मपथ है, इससे जानेवाले इस मानवकी लौटानमें नही लौटते, नही लौटते।

---

१. छां० ५।१०।१-६　२. छां० ४।१५।५-६　३. आगे (छां० ५।१०।१-२) में इसे देवयान ("एष देवयानः पन्था") कहा है।

(ज) **अद्वैत**—मुक्ति और उसके रास्तेका जो वर्णन यहाँ दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि छादोग्यके ऋषि जीवात्मा और ब्रह्मके भेदको पूर्णतया मिटाने को तैयार नही थे, तो भी वह बहुत दूर तक इस दिशामें जाते थे। यह इससे भी स्पष्ट है, कि शकरने जिन चार उपनिषद् वाक्योंको अद्वैतका जबर्दस्त प्रतिपादक समझा, जिन्हे "महावाक्य" कहा गया, उनमे दो "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[1] (=यह सब ब्रह्म ही है) और "तत्त्वमसि"[2] (=वह तू है) छान्दोग्य-उपनिषद्के है।

(झ) **लोक विश्वास**—वैदिक कर्मकाडसे लोगोका विश्वास हटता जा रहा था, जब छादोग्य ऋषि राजा जैवलि, और ब्राह्मण आरुणिने नया रास्ता निकाला। उन्होंने पुनर्जन्म जैसे विश्वासोंको गढ़कर दास, कर्मकर, आदि पीडित जनताकी बधन-शृखलाकी कड़ियोंको और भी मजबूत किया। भारतके बहुतसे आजकलके विचारक भी जाने या अनजाने उन्ही कड़ियोंको मजबूत करनेकेलिए जैवलि, आरुणि, याज्ञवल्क्यकी दुहाई देते है—दर्शनपथ के प्रथम पथिककी प्रशसाके तौरपर नही, बल्कि उन्हे सर्वज्ञ जैसा बनाकर। वह कितने सर्वज्ञ थे, यह तो राहुके मुखमे चन्द्रमाके घुसने (=चन्द्रग्रहण), तथा सूर्यलोकमे भी परे चन्द्रलोकके होनेकी बात होसे स्पष्ट है। इन विचारकोंकी नजरमे भौतिक साइसकी यह भद्दी भूलसी मालूम होनेवाली गलतिया "सर्वज्ञता" पर कोई असर नही डालती, कसौटीपर कसकर देखने लायक ज्ञानमे भद्दी गलती कोई भले ही करे, किन्तु ब्रह्मज्ञानपर उनका निशाना अचूक लगेगा, यह तो यही साबित करता है कि ब्रह्म-ज्ञानके लिए अतिसाधारण बुद्धिसे भी काम चल सकता है।

चोरी या बुरे कर्मकी सजा देनेकेलिए जब गवाही नहीं मिल सकती थी, तो उसके साबित करनेकेलिए दिव्य (शपथ) करनेका रवाज बहुतसे मुल्कोमे अभी बहुत पीछे तक रहा है। आरुणिके वक्तमें यह अतिप्रचलित प्रथा थी, जैसा कि यह वाक्य बतलाता है[3]—

---

१ छां० ३।१४।१ २. छां० ६।८।७ ३. छान्दोग्य ६।१६।१-२

"सौम्य ! एक पुरुषको हाथ पकड़कर लाते हैं—'चुराया है, सो इसके लिए परशु (=फरसे) को तपाओ।' अगर वह (पुरुष) उस (चोरी) का कर्त्ता होता है, (तो) उससे ही अपनेको झूठा करता है; वह झूठे दावेवाला झूठसे अपनेको गोपित कर तपे परशुको पकड़ता है, वह जलता है; तब (चोरीके लिए) मारा जाता है। और यदि वह उस (चोरी) का अ-कर्त्ता होता है, तो, उससे ही अपनेको सच कहता है, वह सच्चे दावेवाला सचसे अपनेको गोपित कर तपे परशुको पकड़ता है, वह नहीं जलता; तब छोड़ दिया जाता है।"

कोई समय था जब कि "दिव्य" के फरेबमें फँसाकर हजारों आदमी निरपराध जानसे मारे जाते थे, किन्तु, आज कोई ईमानदार इसकेलिए तैयार नहीं होगा। यदि 'दिव्य' सचमुच दिव्य था, तो सबसे जबर्दस्त चोरों—जो यह कामचोर तथा संपत्तिके स्वामी—"ब्राह्मण-, क्षत्रिय-, वैश्य-योनियाँ" हैं—के परखनेमें उसने क्यों नहीं करामात दिखलाई ?

छांदोग्यके अन्य प्रधान ऋषियोंके विचारोंपर हम आगे लिखेंगे।

§३–बृहदारण्यक (६०० ई० पू०)

(क) संक्षेप—बृहदारण्यक शुक्ल-यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणका अन्तिम भाग तथा एक आरण्यक है। उपनिषद्के सबसे बड़े दार्शनिक याज्ञवल्क्यके विचार इसीमें मिलते हैं, इसलिए उपनिषद्-साहित्यमें इसका स्थान बहुत ऊँचा है। याज्ञवल्क्यके बारेमें हम अलग लिखनेवाले हैं, तो भी सारे उपनिषद्के परिचयकेलिए संक्षेपमें यहाँ कुछ कहना जरूरी है। बृहदारण्यकमें छः अध्याय हैं, जिनमें द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ दार्शनिक महत्त्वके हैं। बाकीमें शतपथ ब्राह्मणकी कर्मकांडी धारा बह रही है। **पहिले** अध्यायमें यज्ञीय अश्वकी उपमासे **सृष्टिपुरुष** का वर्णन है, फिर मृत्यु सिद्धान्तका। **दूसरे** अध्यायमें तत्त्वज्ञानी काशिराज अजातशत्रु और अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्यका संवाद है, जिसमें गार्ग्यका अभिमान चूर होता है, और वह क्षत्रियके चरणोंमें ब्रह्मज्ञान सीखनेकी इच्छा प्रकट करता है। दध्यङ् आथर्वणके विचार भी इसी अध्यायमें हैं। **तीसरे**

अध्यायमें याज्ञवल्क्यके दर्शन होते हैं। वह जनकके दरबारमें दूसरे दार्श-निकोसे शास्त्रार्थ कर रहे हैं। चौथे अध्यायमे याज्ञवल्क्यका जनक को उपदेश है। पांचवें अध्यायमे धर्म-आचार तथा दूसरी कितनी ही बातोका जिक्र है। छठें अध्यायमे याज्ञवल्क्यके गुरु (आ रु णि) के गुरु प्र वा ह ण जैवलिके बारेमे कहा गया है। इसी अध्यायमे अच्छी सन्तानकेलिए सॉड, बैल आदिके मास खानेकी गर्भिणीको हिदायत दी गई है, जो बतलाता है कि अभी ब्राह्मण-क्षत्रिय गोमासको अपना प्रिय खाद्य मानते थे।

जिस तरह आजके हिन्दू दार्शनिक अपने विचारोंकी सच्चाईकेलिए उपनिषद्की दुहांई देते हैं; उसी तरह बहदारण्यक उपनिषद् चाहता है, कि वेदोंका झडा ऊँचा रहे। इसीलिए अपनी पुष्टिकेलिए कहता है[1]—

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान "इस महान् भूत (=ब्रह्म) का श्वास है, इसीके ये सारे नि श्वसित है।"

इतना होनेपर भी वेद और ब्राह्मणोके यज्ञादिसे लोगोंकी श्रद्धा उठती जा रही थी, इसमे तो शक नही। इस तरहके विचार-स्वातंत्र्यको खतरनाक न बनने देनेके प्रयत्नमे पुरोहित (=ब्राह्मण) जातिकी अपेक्षा शासक (=क्षत्रिय) जातिका हाथ काफी था, इसीलिए छान्दो-ग्यने कहा[2]—

"चूँकि तुझसे पहिले यह विद्या ब्राह्मणोके पास नही गई, इसीलिए सारे लोकोमे (ब्राह्मणका नही बल्कि सिर्फ) क्षत्र (=क्षत्रिय) का ही शासन हुआ।"

इसमे कौन सन्देह कर सकता है, कि राजनीति—खासकर वर्गस्वार्थ-वाली राजनीति—को चलानेकेलिए पुरोहितसे ज्यादा पैनी बुद्धि चाहिए। लेकिन समाजमे ब्राह्मणकी सबसे अधिक सम्माननीय अवस्थाको बृहदारण्यक समझता था। इसीलिए विद्याभिमानी ब्राह्मण गार्ग्य जब उशीनर

---

१. बृ० २।४।१०   २. छां० ५।३।७

(=बहावलपुरके आसपासके प्रदेश) से मत्स्य (=जयपुर राज्य), कुरु (=मेरठके जिले), प चा ल (=रुहेलखंड आगरा कमिश्नरियाँ), काशी (=बनारसके पासका प्रदेश) वि दे ह (=तिरहुत, बिहार) में घूमता काशिराज अ जा त श त्रु के पास ब्रह्म उपदेश करने गया; और उसे आदित्य, चंद्रमा, विद्युत्, स्तनयित्नु (=बिजलीकी कड़क) वायु, आकाश, आग, पानी, दर्पण, छाया, प्रतिध्वनि, शब्द, शरीर, दाहिनी बाईं आँखोंमें पुरुष-की उपासना करनेको कहा, किन्तु अजातशत्रुके प्रश्नोंसे निरुत्तर हो गया;[1] तब भी काशिराजने विधिवत् शिष्य बनाए बिना ही गार्ग्यको उपदेश दिया—[2]

"अजातशत्रुने कहा—'यह उलटा है, जो कि (वह) मुझ ब्राह्मणको ब्रह्म बतलाएगा इस ख्यालसे (ब्राह्मण) क्षत्रियका शिष्य बनने जाये। तुझे (ऐसे ही) मैं विज्ञापन करूँगा (=बतलाऊँगा)।' (फिर) उसे हाथमे ले खडा हो गया। दोनों एक सोये पुरुषके पास गये। उसे इन नामोंसे पुकारा—'बड़े, पीलेवस्त्रवाले, सोमराजा!' (किन्तु) वह न खड़ा हुआ। उसे हाथसे दबाकर जगाया, वह उठ खडा हुआ। तब अजातशत्रु बोला-'जब यह सोया हुआ था तब यह विज्ञानमय पुरुष (=जीव) कहाँ था? कहाँसे अब यह आया?' गार्ग्य यह नही समझ पाया। तब अजातशत्रुने कहा—'जहाँ यह सोया हुआ था........(उस समय यह) विज्ञानमय पुरुष.... . हृदयके भीतर जो यह आकाश है उसमे सोया था।"

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मके बारेमे याज्ञवल्क्यकी उक्ति हम आगे कहेंगे, हाँ द्वितीय अध्यायमे उसके बारेमे इस प्रकार कहा गया है—

"वह यह **आत्मा** सभी भूतो (प्राणियो) का राजा है, जैसे कि रथ (के चक्र) की नाभि और नेमि (=पुट्ठी) में सारे अरे समर्पित (=घुसे) होते हैं, इसी तरह इस आत्मा (=ब्रह्म) मे सारे भूत, सारे देव, सारे लोक और सारे ये आत्मा (=जीवात्माएं) समर्पित हैं।"

---

१. कौषीतकि ४।१-१९ २. बृह० २।१५-१७

जगत् ब्रह्मका एक रूप है। पियागोर और दूसरे जगत् को ब्रह्मका शरीर माननेवाले दार्शनिकोकी भाँति यहाँ भी जगत्‌को ब्रह्मका एक रूप कहा गया, और फिर[1]—

"ब्रह्मके दो ही रूप है—मूर्त (=साकार) और अ-मूर्त (=निराकार), मर्त्य (=नाशमान) और अमृत (=अविनाशी) ।"

पुराने धर्म-विश्वासी ईश्वरको ससारमे पाये जानेवाले भले पुरुषोंके गुणो—कृपा, क्षमा आदिसे—युक्त, भावात्मक गुणोवाला मानते थे, किन्तु, अब श्रद्धासे आगे बढकर विकसित बुद्धिके राज्यमे लोग घुस चुके थे; इसलिए उनको समझाने या अपने वादको तर्कसगत बनाने एवं पकड़मे न आनेकेलिए, ब्रह्मको अभावात्मक गुणोवाला कहना ज्यादा उपयोगी था। इसीलिए बृहदारण्यकमे हम पाते है[2]—

"(वह) न स्थूल, न सूक्ष्म (=अणु), न ह्रस्व, न दीर्घ, न लाल, न छाया, न तम, न संग-रस-गंधवाला, न आँख-कान-वाणी-मन-प्राण-मुखवाला, न आन्तरिक, न बाहरी, न वह किसीको खाता है, न उसे कोई खाता है।"

ब्रह्मके गुणोका अन्त नही—"नेति नेति"[3] इस तरह का विशेषण भी ब्रह्मके लिए पहिले-पहिल इसी वक्त दिया गया है।

(ग) सृष्टि—ऋग्वेदके नासदीय सूक्तकी कल्पनाको जारी रखते हुए बृहदारण्यक कहता है[4] —

"यह कुछ भी पहिले न था मृत्यु (=जीवन-शून्यता), भूखसे यह ढँका हुआ था। भूख (=अशनाया) मृत्यु है। सो उसने मनमे किया—'मैं आत्मावाला (=सशरीर) होऊँ।' उसने अर्चन (=चाह) किया। उसके अर्चनेपर जल पैदा हुआ। जो जलका शर था, वह बडा हुआ। वह पृथिवी हुई। उस (=पृथिवी) मे श्रान्त हो (=थक) गया। श्रान्त तप्त उस (ब्रह्म) का जो तेज (-रूपी) रस बना, (वही) अग्नि (हुआ)।"

१. बृह० २।३।१ २. बृह० ३।८।८ ३. बृह० २।३।६
४. बृह० १।२।१-२

यूनानी दार्शनिक थेल् (६४०-५२५ ई० पू०) की भाँति यहाँ भी भौतिक तत्त्वोंमे सबसे प्रथम जलको माना गया है, पृथिवीका नंबर दूसरा और आग का तीसरा है।

दूसरी जगह सृष्टिका वर्णन इन शब्दोंमे किया गया है[1]—

"आत्मा ही यह पहिले पुरुष जैसा था। उसने नज़र दौड़ाकर अपनेसे भिन्न (किसी) को नही देखा। (उसने) मैं हूँ (सोहं), यह पहिले कहा। इसीलिए 'अहं' नामवाला हुआ। इसीलिए आज भी बुलानेपर (=मैं) अहं पहले कहकर पीछे दूसरा नाम बोला जाता है।....वह डरा। इसीलिए (आज भी) अकेला (आदमी) डरता है।....'उसने दूसरेकी चाह की।' .. उसने (अपने) इसी ही आत्मा (=शरीर) का दो भाग किया, उसमे पति और पत्नी हुए....।"

और भी[2]—

"ब्रह्म ही यह पहिले था, उसने अपनेको जाना—'मै ब्रह्म हूँ' उससे वह सब हुआ। तब देवताओंमेंसे जो-जो जागा, वह ही वह हुआ। वैसे ही ऋषियों और मनुष्योंमेसे भी जो ऐसा जानता है—'मैं ब्रह्म हूँ' (=अहं ब्रह्मास्मि), वह यह सब होता है। और जो दूसरे देवताकी उपासना करता है—'वह दूसरा, मैं दूसरा हूँ', वह नही जानता, वह देवताओके पशु जैसा है।"

आत्मा (=ब्रह्म) से कैसे जगत् होता है, इसकी उपमा देते हुए कहा है[3]—

"जैसे आग से छोटी चिंगारियाँ (=विस्फुलिंग) निकलती हैं, इसी तरह इस आत्मा (=विश्वात्मा, ब्रह्म) से सारे प्राण (=जीव), सारे लोक, सारे देव, सारे भूत निकलते है।"

बृहदारण्यकके और दार्शनिक विचारकोंके बारेमे हम आगे याज्ञवल्क्य, आदि के प्रकरणमे कहेंगे।

---

१. बृह० १।४।१-४ २. बृह० १।४।१० ३. वही २।१।२०

२–द्वितीय काल की उपनिषदें (६००-५०० ई० पू०)

ईश उपनिषद् संहिताका एक भाग है। छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ब्राह्मणके भाग है, यही तीन सबसे पुरानी उपनिषदें हैं, यह हम बतला आए है। आगे की आरण्यकोवाली ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदोंने एक कदम और आगे बढकर सधिकालीन उपनिषदोसे कुछ और स्पष्ट भाषामे ज्ञानका समर्थन और कर्मकाडकी अवहेलना शुरू की।

(१) ऐतरेय-उपनिषद्

ऐतरेय-उपनिषद् ऋग्वेदके ऐतरेय-आरण्यकका एक भाग है। ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक दोनोके रचयिता महिदास ऐतरेय थे। इस उपनिषद्के तीन भाग है। पहिले भागमें सृष्टिको ब्रह्मने कैसे बनाया, इसे बतलाया गया है। दूसरे भागमे तीन जन्मोका वर्णन है, जो शायद पुनर्जन्मके प्रतिपादक अति प्राचीनतम वाक्योमे है। अन्तिम भागमे प्रज्ञानवादका प्रतिपादन है।

(क) सृष्टि—विश्वकी सृष्टि कैसे हुई। इसके बारेमे महिदास ऐतरेयका कहना है[1]—

"यह आत्मा अकेला ही पहिले प्राणित (=जीवित) था, और दूसरा कुछ भी नही था। उसने ईक्षण किया (=मनमे किया)—'लोकोंको सिरजूं।' उसने इन लोको—जल, किरणों . को सिरजा। उसने ईक्षण किया कि 'ये लोकपालो को सिरजें।' उसने पानीसे ही पुरुषको उठाकर कम्पित किया, उसे तपाया। तप्त करनेपर उसका मुख उसी तरह फूट निकला, जैसे कि अडा। (फिर) मुखसे वाणी, वाणी से आग, नाक से नथने फूट निकले, नथनोसे प्राण, प्राणसे वायु। आँखें फूट निकली। आँखोसे चक्षु (-इन्द्रिय), चक्षुमे आदित्य (=सूर्य)। दोनों कान फूट निकले। कानों से श्रोत्र (-इन्द्रिय)। श्रोत्रसे दिशाएं। त्वक् (=

---

१ ऐतरेय १।१-३

चमड़ा) फूट निकला। चमड़ेसे रोम, रोमोसे **औषधि-वनस्पतियाँ**। **हृदय** फूट निकला। हृदयसे मन, मनसे चन्द्रमा। **नाभि** फूट निकली। नाभिसे अपान (-वायु), अपानसे मृत्यु। **शिश्न** (=जननेन्द्रिय) फूट निकला। शिश्नसे वीर्य, वीर्यसे जल।....(फिर) उस (पुरुष) के साथ भूख प्यास लगा दी।"

सृष्टिकी यह एक बहुत पुरानी कल्पना है, जिसे कि वर्णनकी भाषा ही बतला रही है। उपनिषत्कार एक ही वाक्यमे शरीर तथा उसकी इन्द्रियाँ, एव विश्वके पदार्थोंकी भी रचना बतलाना चाहता है।—पानीसे मानुष शरीर और उसमे क्रमशः मुख आदिका फूट निकलना। किन्तु अभी ऋषि भौतिक विश्वसे पूर्णतया इन्कार नही करना चाहता, इसीलिए क्रम-विकासका आश्रय लेता है। उसे "कुन्, फ-यकून" (=होजा, बस होगया) कहनेकी हिम्मत न थी।

(ख) प्रज्ञान (=ब्रह्म)—ज्ञान या चेतनाको ऋषिने यहाँ प्रज्ञान कहा है, जैसा कि उसके इस वचनसे मालूम होता है[1]—

"सं-ज्ञान, अ-आ-ज्ञान, विज्ञान, **प्रज्ञान**, मेधा, दृष्टि, धृति (=धैर्य), मति, मनीषा, जुति, स्मृति, संकल्प, ऋतु, असु (=प्राण), काम (=कामना), वश, ये सभी प्रज्ञानके नाम है।"

फिर चराचर जगत्को प्रज्ञानमय बतलाते हुए कहता है—

"यह (प्रज्ञान ही) ब्रह्मा है। यह इन्द्र... (यही) ये पाँच महा-भूत... अडज, जारुज, स्वेदज और उद्भिज, घोडे, गाय, पुरुष, हाथी, जो कुछ चलने और उडनेवाले प्राणी है, जो स्थावर है; वह सब प्रज्ञा-नेत्र है, प्रज्ञानमें प्रतिष्ठित है। लोक (भी) प्रज्ञा-नेत्र है, प्रज्ञा (सबकी) प्रतिष्ठा (=आधार) है। प्रज्ञान ब्रह्म है।"

प्रज्ञान या चेतनाको ऋषि सर्वत्र उसी तरह देख रहा है, लेकिन जगत्के पदार्थोंसे इन्कार करके प्रज्ञानको इस प्रकार देखना अभी नही हो रहा है;

---

१. ऐतरेय ३।२

बल्कि जगत्के भीतरकी क्रियाओं और हर्कतोंको देखकर वह अपने समकालीन यूनानी दार्शनिकोंकी भाँति विश्वको सजीव समझकर वैसा कह रहा है।

(२) तैत्तिरीय-उपनिषद्

तैत्तिरीय-उपनिषद्, कृष्ण-यजुर्वेदके तैत्तिरीय आरण्यक का एक भाग है। इसके तीन अध्याय है, जिनमें ब्रह्म, सृष्टि, आनन्दकी-सीमा, आचार्यका शिष्यकेलिए उपदेश आदिका वर्णन है।

(क) ब्रह्म---ब्रह्मके बारे में सन्देह करनेवालेको तैत्तिरीय कहता है---

" 'ब्रह्म अ-सत् है' ऐसा जो समझता है, वह अपने भी असत् ही होता है। 'ब्रह्म सत् है' जो समझता है, उसे सन्त कहते हैं।"[1]

ब्रह्मकी उपासनाके बारेमें कहता है---

" 'वह (ब्रह्म) प्रतिष्ठा है' ऐसे (जो) उपासना करे, वह प्रतिष्ठावाला होता है। 'वह मह है' ऐसे जो उपासना करे तो महान् होता है। 'वह मन है' ऐसे उपासना करे, तो वह मानवान् होता है. . . . । 'वह. . . .परिमर है' यदि ऐसे उपासना करे तो द्वेष रखनेवाले शत्रु उससे दूर ही मर जाते हैं।"

इस प्रकार तैत्तिरीयकी ब्रह्म-उपासना अभी राग-द्वेषसे बहुत ऊँचे नहीं उठी है, और वह शत्रु-संहारका भी साधन हो सकती है। ब्रह्मकी उपासना और उसके फलके बारे में और भी कहा है---

"वह जो यह हृदयके भीतर आकाश है। उसके अन्दर यह मनोमय अमृत, हिरण्मय (=सुनहला) पुरुष है। तालु के भीतरकी ओर जो यह स्तन सा (=क्षुद्र-घटिका) लटक रहा है। वह इन्द्र (=आत्मा) की योनि (=मूल स्थान) है। . . . .(जो एसी उपासना करता है) वह स्वराज्य पाता है, मनके पतिको पाता है। उससे (यह) वाक्-पति, चक्षु-पति, श्रोत्र-पति, विज्ञान-पति होता है। ब्रह्म आकाश-शरीर वाला है।"[2]

ब्रह्मको अन्तस्तम तत्त्व **आनन्दमय**-आत्मा बतलाते हुए कहा है[3]---

---

१ तै० २।६ २. तै० १।६।१।२ ३. वहीं २।२-५

"इस अन्न-रसमय आत्मा (शरीर) से भिन्न आन्तरिक आत्मा प्राणमय है, उससे यह (शरीर) पूर्ण है, और वह यह (=प्राणमय शरीर) पुरुष जैसा ही है।....उस इस प्राणमयसे भिन्न....मनोमय है, उससे यह पूर्ण है। वह यह (=मनोमय शरीर) पुरुष जैसा ही है।....उस मनोमयसे भिन्न विज्ञानमय (=जीवात्मा) है। उससे यह पूर्ण है. ..। उस विज्ञानमयसे भिन्न....आनन्दमय (=ब्रह्म) आत्मा है। उससे यह पूर्ण है। वह यह (=विज्ञानमय आत्मा) पुरुष जैसा ही है।"

यहाँ आत्मा शब्द शरीरसे ब्रह्मतकका वाचक है। आत्माका मूल अर्थ शरीर अभी भी चला आता था।—अभ्यात्मसे 'शरीरके भीतर' यह अर्थ पुराने उपनिषदोंमें पाया जाता है, किन्तु धीरे-धीरे आत्मा शब्द शरीर-का प्रतियोगी, उससे अलग तत्त्वका वाचक, बन जाता है। आनन्दमय शब्द ब्रह्मका वाचक है, इसे सिद्ध करनेके लिए बादरायणने सूत्र लिखा: "आनन्दमयोऽभ्यासात्"[1] (=आनन्दमय ब्रह्मवाचक है, क्योंकि वह जिस तरह दुहराया गया है, उससे वही अर्थ लिया जा सकता है)।

आनन्द ब्रह्मके बारेमें एक कल्पित आख्यायिकाका सहारा ले उप-निषत्कार कहता है[2]—

"भृगु वारुणि (=वरुण-पुत्र) (अपने) पिता वरुणके पास गया (और बोला)—'भगवन्! (मुझे) ब्रह्म सिखलायें।' उसे (वरुणने) यह कहा।.... 'जिससे यह भूत उत्पन्न होते (=जन्मते) हैं, जिससे उत्पन्न हो जीवित रहते हैं, जिसके पास जाते, (जिसके) भीतर समाते हैं। उसकी जिज्ञासा करो वह ब्रह्म है।' उस (=भृगु) ने तप किया। तप करके 'अन्न ब्रह्म है' यह जाना। 'अन्नसे ही यह भूत जन्मते हैं, जन्म ले अन्नसे जीवित रहते हैं, अन्नमे जाते, भीतर घुसते हैं।' इसे जानकर

१. वेदान्त-सूत्र १।१।... २. तैत्तिरीय ३।१-६

"अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा" (=अब यहाँ से ब्रह्म की जिज्ञासा आरम्भ करते हैं), "जन्माद्यस्य यतः" (इस विश्वके जन्म आदि जिससे होते हैं), वेदान्त के प्रथम और द्वितीय सूत्र इसी उपनिषद्-वाक्य पर अवलंबित हैं।

फिर (अपने) पिता वरुणके पास गया—'भगवन! ब्रह्म सिखायें।' उसको (वरुण) ने कहा—'तप से ब्रह्मकी जिज्ञासा करो, तप ब्रह्म है।'... उसने तप करके 'विज्ञान ब्रह्म है' यह जाना।....तप करके 'आनन्द ब्रह्म है' यह जाना।...."

भिन्न-भिन्न स्थानोंमें अवस्थित होते भी ब्रह्म एक है, इसके बारेमें कहा है—

"वह जो कि यह पुरुषमे, और जो वह आदित्यमें है, वह एक है।"[1]

ब्रह्म, मन वचनका विषय नही है—

"(जहाँ) बिना पहुँचे जिससे मनके साथ वचन लौट आते हैं, वही ब्रह्म है।"[2]

(ख) सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म—ब्रह्मसे विश्वके जन्मादि होते हैं, इसका एक उद्धरण दे आए हैं। तैत्तिरीयके एक वचनके अनुसार पहिले विश्व अ-सत् (=सत्ताहीन, कुछ नही) था, जैसे कि—

"असत् ही यह पहिले था। उससे सत् पैदा हुआ। उसने अपनेको स्वयं बनाया। इसीलिए उसे (=विश्वको) सु-कृत (अच्छा बनाया गया) कहते हैं।"

ब्रह्मने सृष्टि कैसे बनाई?—

"उसने कामनाकी 'बहुत होऊँ जन्माऊँ।' उसने तप किया। उसने तप करके यह जो कुछ है, इस सब (जगत्) को सिरजा। उसको सिरजकर फिर उसमे प्रविष्ट हो गया। उसमे प्रविष्टकर सत् और तत् (=वह) हो गया, व्याख्यात और अव्याख्यात, निलयन (=छिपनेकी जगह) और अ-निलयन, विज्ञान और अ-विज्ञान (अ-चेतन), सत्य और अ-नृत (=अ-सत्य) हो गया।"[3]

(ग) आचार्य-उपदेश—आचार्यसे शिष्यकेलिए अन्तिम उपदेश तैत्तिरीयने इन शब्दोमे दिलवाया है।

---

१. तै० २।८ २. वही २।७ ३. वही २।६

"वेद पढ़ाकर आचार्य अन्तेवासी (=शिष्य)को अनुशासन (=उपदेश) देता है—सत्य बोल, धर्माचरण कर, स्वाध्यायमें प्रमाद न करना। आचार्यके लिए प्रिय धन (=गुरु दक्षिणाके तौर पर) लाकर प्रजा-तन्तु (=सन्तान परंपरा) को न तोड़ना। देवों-पितरोंके काममें प्रमाद न करना। माताको देव मानना, पिताको देव मानना, आचार्यको देव मानना, अतिथि को देव मानना। जो हमारे निर्दोष कर्म हैं, उन्हींको सेवन करना, दूसरोंको नहीं।"

३—तृतीय काल की उपनिषदें (५००-४०० ई० पू०)

(१) प्रश्न-उपनिषद्

जैसा कि इसके नाम ही से प्रकट होता है; यह छै ऋषियोंके पिप्पलाद-के पास पूछे प्रश्नों के उत्तरोंका संग्रह है।

प्रश्नमें निम्न बातें बतलाई गई हैं[1]—

(क) मिथुन (=जोड़ा) वाद—"भगवन्! यह प्रजाएं कहाँसे पैदा हुईं?"

"उसको (पिप्पलाद) ने उत्तर दिया—प्रजापति 'प्रजा (पैदा करने)-की इच्छावाला (हुआ), उसने तप किया उसने तप करके 'यह मेरे लिए बहुतसी प्रजाओंको बनायेंगे,' (इस ख्यालसे) मिथुन (=जोड़े) को उत्पन्न किया—रयि (=धन, भूत) और प्राण (=जीवन) को। आदित्य प्राण है, चंद्रमा रयि ही है. . . . । संवत्सर प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर दो अयन हैं। . . . . जो पितृयान (के छै मास) हैं, वही रयि हैं। . . . मास प्रजापति है, उसका कृष्णपक्ष रयि है, शुक्ल (=पक्ष) प्राण है। . . . . दिन-रात प्रजापति है, उसका दिन प्राण है, रात रयि है।"

इस प्रकार प्रश्न उपनिषद्का प्रधान ऋषि पिप्पलाद विश्वको दो-दो (=मिथुन) तत्त्वों में विभक्त कर उसे द्वैतमय मानता है; यद्यपि रयि और प्राण दोनो मिलकर प्रजापतिके रूपमें एक हो जाते हैं।

---

१. प्र० १।३-१३

(ख) सृष्टि—एक प्रश्न है[1]—

'भगवन्! प्रजाओं (=सृष्टि) को कितने देव धारण करते हैं? कौनसे देव प्रकाशन करते हैं, कौन उनमें सर्वश्रेष्ठ है?' उसको उस (=पिप्पलाद ऋषि) ने बतलाया—'(प्रजाको धारण करनेवाला) यह आकाश देव है, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाणी, मन, नेत्र और श्रोत्र (देव) हैं। वह प्रकाश करके कहते हैं 'हम इस प्राण (=शरीर) को रोककर धारण करते हैं।' उनसे सर्वश्रेष्ठ (देव) प्राणने कहा—'मत मूढ़ता करो, मैं ही अपनेको पाँच प्रकारसे विभक्तकर इस प्राणको रोककर धारण करता हूँ।' उन्होंने विश्वास नहीं किया। वह अभिमानसे निकलने लगा। उस (=प्राण) के निकलते ही दूसरे सारे ही प्राण (=इन्द्रिय) निकल जाते हैं, उसके ठहरनेपर सभी ठहरते हैं। जैसे (शहदकी) सारी मक्खियाँ मधुकरराजा (=रानी मक्खी) के निकलनेपर निकलने लगती हैं, उसके ठहरनेपर सभी ठहरती हैं।....वाणी, मन, चक्षु, श्रोत्र ने.... प्राणकी स्तुति की—'यही तप रहा अग्नि है, यह सूर्य पर्जन्य (=वृष्टि देवता), मघवा (=इंद्र) यही वायु है, यही पृथिवी रयि देव है जो कुछ कि सद् असद्, और अमृत है....। (हे प्राण!) जो तेरे शरीर या वचनमें स्थित है, जो श्रोत्र या नेत्र में (स्थित है) जो मनमें फैला हुआ है, उसे शान्त कर, (और शरीरसे) मत निकल।"

इस प्रकार पिप्पलादने प्राण (=जीवन, या विज्ञान) को सर्वश्रेष्ठ माना, और रयि (या भौतिक तत्त्व) को द्वितीय या गौण स्थान दिया।

(ग) स्वप्न—स्वप्न-अवस्था पिप्पलादके लिए एक बहुत ही रहस्यपूर्ण अवस्था थी। वह समझता था कि वह परम पुरुष या ब्रह्मके मिलन का समय है। इसके बारेमें गार्ग्यके प्रश्नका उत्तर देते हुए पिप्पलाद ने कहा[2]—

---

१. प्रश्न २।१–१२ २. प्रश्न ४।२

"जैसे गार्ग्य ! अस्त होते सूर्यके तेजोमंडलमें सारी किरणें एकत्रित होती हैं, (सूर्यके) उदय होते वक्त वह फिर फैलती हैं; , इसी तरह (स्वप्नमें) वह सब (इन्द्रियाँ) उस परमदेव मनमें एक होती है। इसीलिए तब यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, (उसके लिए) 'सो रहा है' इतना ही कहते हैं।"

"वह जब तेजसे अभिभूत (=मद्धिम पड़ा) होता है, तब यह देव स्वप्नोंको नहीं देखता; तब यह इस शरीरमें सुखी होता है।"[1]

"मन यजमान है, अभीष्ट फल उदान है। यह (उदान) इस यजमानको रोज-रोज (सुप्तावस्थामें) ब्रह्मके पास पहुँचाता है।"[2]

"यहाँ सुप्तावस्थामें यह देव (अपनी) महिमाको अनुभव करता है और देखे-देखेके पीछे देखता है, सुने-सुनेके पीछे सुनता है. . . . देखे और न देखे, सुने और न सुने, अनुभव किये और न अनुभव किये, सत् और अ-सत्, सबको देखता है सबको देखता है।"

(घ) मुक्तावस्था—मुक्तावस्थाके बारेमें इस उपनिषद्का कहना है[3]—

"जैसे कि नदियाँ समुद्रमें जा अस्त हो जाती हैं, उनका नाम और रूप छूट जाता है, 'समुद्र' बस यही कहा जाता है; इसी तरह पुरुष (ब्रह्म) को प्राप्त हो इस परिद्रष्टाकी यह सोलह कला अस्त हो जाती हैं। उनके नाम-रूप छूट जाते हैं, उसे 'पुरुष' बस यही कहा जाता है। वही यह कला-रहित अमृत है।"

असत्य-भाषणके बारेमें कहा है—"जो झूठ बोलता है, वह जड़से सूख जाता है।"[4]

(२) केन-उपनिषद्

ईशकी भाँति केन-उपनिषद् भी "केन"से शुरू होता है, इसलिए इसका यह नाम पड़ा। केनके चार खंडोंमें पहिले दो पद्यमें हैं, और अन्तिम

---

१. प्रश्न ४।६ २. प्रश्न ४।४ ३. प्रश्न ६।५ ४. प्रश्न ६।१

दो गद्यमें। पद्य खंडमें आत्माका शरीरसे अलग तथा इन्द्रियोंका प्रेरक होना सिद्ध किया गया है, और बतलाया गया है कि वही चरम तत्व तथा पूजनीय है। उपसहारमें (रहस्यवादी भाषा में) कहा है: "जो जानते हैं वह वस्तुतः नही जानते, जो नहीं जानते वही उसे जानते हैं।" आत्माको सिद्ध करते हुए केनने कहा है:—

"जो श्रोत्रका श्रोत्र, मनका मन, वचनका वचन और प्राणका प्राण, आँखकी आँख है, (ऐसा समझनेवाले) धीर अत्यन्त मुक्त हो इस लोकसे जाकर अमृत हो जाते हैं।"

ब्रह्म छोड़ दूसरोंकी उपासना नहीं करनी चाहिए—

"जो वाणीसे नहीं बोला जाता, जिससे वाणी बोली जाती है; उसीको तू ब्रह्म जान, उसे नही जिसे कि (लोग) उपासते हैं।

"जो मनसे मनन नही किया जाता, जिससे मन जाना गया कहते हैं; उसी को तू ब्रह्म जान,....

"जो प्राणसे प्राणन करता है, जिससे प्राण प्राणित किया जाता है; उसी को तू ब्रह्म जान०[1]।"

केनके गद्य-भागमें जगत्‌के पीछे छिपी अपरिमेय शक्तिको बतलाया गया है।

(३) कठ-उपनिषद्

(क) नचिकेता-यम-समागम—कठ-शाखाके अन्तर्गत होनेसे इस उपनिषद्‌का नाम कठ पड़ा है। यह पद्यमय है। भगवद्गीताने इस उपनिषद्‌से बहुत लिया है, और 'उपनिषद्‌रूपी गायोंसे कृष्णने अर्जुनके लिए गीतामृत दूधका दोहन किया' यह कहावत कठके संबंधसे है। नचिकेता और यमकी प्रसिद्ध कथा इसी उपनिषद् में है। नचिकेताका पिता अपनी सारी सम्पत्तिका दान कर रहा था, जिसमें उसकी अत्यन्त बूढ़ी

---

१. "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥" केन २।३

गायें भी थीं। नचिकेता इन गायोंको दानके अयोग्य समझता था, इसलिए उसने सोचा[1]—

"पानी पीना तृण खाना दूध दुहना जिन (गायों) का खतम हो चुका है, उनको देनेवाला (=दाता) आनन्दरहित लोकमें जाता है।"

नचिकेताकी समझमें यह नहीं आया कि सर्वस्व-दानमें यह निरर्थक वस्तुएं भी शामिल हो सकती हैं। यदि सर्वस्व-दानका अर्थ शब्दशः लिया जाये, तो फिर मैं भी उसमें शामिल हूँ। इसपर नचिकेताने पिता से पूछा—"मुझे किसे देते हो?" पुत्रको प्रश्न दुहराते देख गुस्सा हो पिताने कहा—"तुझे मृत्युको देता हूँ।" नचिकेता मृत्युके देवता (=यम) के पास गया। यम कहीं बाहर दौरेपर गया हुआ था। उसके परिवारने अतिथिको खाने पीनेकेलिए बहुत आग्रह किया; किन्तु, नचिकेताने यमसे मिले बिना कुछ भी खानेसे इन्कार कर दिया। तीसरे दिन यमने अतिथिको इस प्रकार भूखे-प्यासे घरपर बैठा देखकर एक सद्गृहस्थकी भाँति खिन्न हुआ, और नचिकेताको तीन वर माँगनेकेलिए कहा। इन वरोंमें तीसरा सबसे महत्त्व-पूर्ण है। इसे नचिकेताने इस प्रकार माँगा था[2]—

"जो यह मरे मनुष्यके बारेमें सन्देह है। कोई कहता है "है" कोई कहता है 'यह (=जीव) नहीं है।' तुम ऐसा उपदेश दो कि मैं इसे जानूँ। वरोमे यह तीसरा वर है।"

यम—"इस विषयमें देवोंने पहिले भी सन्देह किया था। यह सूक्ष्म धर्म (=बात) जाननेमें सुकर नही है। नचिकेता! दूसरा वर माँगो, मत आग्रह करो, इसे छोड़ दो।"

नचिकेता—"देवोंने इसमे सन्देह किया था, हे मृत्यु! जिसे तुम 'जाननेमें सुकर नहीं' कहते। तुम्हारे जैसा इसका बतलानेवाला दूसरा नहीं मिल सकता; इसके समान कोई दूसरा वर नही।"

यम—"मर्त्यलोकमें जो जो काम (=भोग) दुर्लभ हैं, उन सभी

---

१. कठ १।१।३　　　　२. कठ १।१।२०—२९

कामोंको स्वेच्छासे माँगो ? रथों, वाद्योंके साथ. . . . मनुष्योंकेलिए अलभ्य यह रमणियाँ हैं। नचिकेता ! मेरी दी हुई इन (=रमणियों) के साथ मौज करो—मरणके संबंधमे मुझसे मत प्रश्न पूछो।"

नचिकेता—"कल इनका अभाव (होनेवाला है)। हे अन्तक ! मर्त्य (=मरणधर्मा मनुष्य) की इन्द्रियोका तेज जीर्ण होता है। बल्कि सारा जीवन ही थोड़ा है। ये घोड़े तुम्हारे ही रहें, नृत्य-गीत तुम्हारे ही (पास) रहें। . . . . .जिस महान् परलोकके विषयमे (लोग) सन्देह करते हैं, हे मृत्यु ! हमें उसीके विषयमें बतलाओ। जो यह अतिगहन वर है, उससे दूसरेको नचिकेता नहीं माँगता।"

इसपर यमने नचिकेता को उपदेश देना स्वीकार किया।

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मका वर्णन कठ-उपनिषद्में कई जगह आया है। एक जगह उसे पुरुष कहा गया है—[1]

"इन्द्रियोंसे परे (=ऊपर) अर्थ (=विषय) हैं, अर्थोंसे परे मन, मनसे परे बुद्धि, बुद्धिसे परे महान् आत्मा (=महत् तत्त्व) है। महान्से परे परम अव्यक्त (=मूल प्रकृति), अव्यक्तसे परे पुरुष है। पुरुष से परे कुछ नहीं, वही पराकाष्ठा है, वही (परा) गति है।"

फिर कहा है[2] —

"ऊपर मूल रखनेवाला, नीचे शाखावाला यह अश्वत्थ (वृक्ष) सनातन है। वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, उसीको अमृत कहा जाता है, उसीमें सारे लोक आश्रित हैं। उसको कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। यही वह (ब्रह्म) है।"

और[3]—"अणुसे अत्यन्त अणु, महान्से अत्यन्त महान्, (वह) आत्मा न जन्तुकी गुहा (=हृदय), में छिपा हुआ है।"

और भी[4]—

---

१. कठ १।३।१०–११ २. कठ २।६।१ ३. कठ १।२।२०
४. कठ २।५।१५

"वहाँ सूर्य नहीं प्रकाशता न चाँद तारे, न यह बिजलियाँ प्रकाशतीं, (फिर) यह आग कहाँसे प्रकाशेगी। उसी (=ब्रह्म) के प्रकाशित होनेपर सब पीछेसे प्रकाशते हैं, उसीकी प्रभासे यह सब प्रकाशता है।"

और भी[1]—

"जैसे एक आग भुवनमें प्रविष्ट हो रूप-रूपमें प्रतिरूप होती है, उसी तरह सारे भूतोंका एक अन्तरात्मा है, जो रूप-रूपमें प्रतिरूप तथा बाहर भी है।"

सर्वव्यापक होते भी ब्रह्म निर्लेप रहता है[2]—

"जैसे सारे लोककी आँख (=सूर्य) आँख-सबंधी बाहरी दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही सारे भूतोंका एक अन्तरात्मा (=ब्रह्म) लोकके बाहरी दुःखोंसे लिप्त नहीं होता।" ब्रह्मकी रहस्यमयी सत्ताके प्रतिपादनमें रहस्य-मयी भाषाका प्रचुर प्रयोग पहिलेपहिल कठ-उपनिषद् में किया गया है। जैसे[3]—

"जो सुननेकेलिए भी बहुतोंको प्राप्य नहीं हैं। सुनते हुए भी बहुतेरे जिसे नहीं जानते। उसका वक्ता आश्चर्य (-मय) है, उसको प्राप्त करनेवाला कुशल (=चतुर) है, कुशल द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता आश्चर्य (पुरुष) है।"

अथवा[4]—

"बैठा हुआ दूर पहुँचता है, लेटा सर्वत्र जाता है। मेरे बिना उस मद-अमद देवको कौन जान सकता है?"

(ग) आत्मा (जीव)—जीवात्माका वर्णन जिस प्रकार कठ उपनिषद्ने किया है, उससे उसका झुकाव आत्मा और ब्रह्मकी एकता (=अद्वैत) की ओर नहीं जान पड़ता। आत्मा शरीरसे भिन्न है, इसे इस श्लोकमें बतलाया गया है जिसे भगवद्गीताने भी अनुवादित किया है[5]—

"(वह) ज्ञानी न जन्मता है न मरता है, न यह कहींसे (आया) न

---

१. कठ २।५।९ २. कठ २।५।११ ३. कठ १।२७

४. कठ १।२।२१ ५. कठ १।२।१८

कोई हुआ। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण है। शरीरके हत होनेपर वही नहीं हत होता।"

"हन्ता यदि हननको मानता है, हत यदि हत (=मारित) मानता है, तो वे दोनों ज्ञान रहित हैं; न यह मारता है न मारा जाता है।"[1]

कठने रथके दृष्टान्तसे आत्माको सिद्ध करना चाहा—[2]

"आत्माको रथी जानो, और शरीरको रथ मात्र। इन्द्रियोंको घोड़ा कहते हैं, (और) मन को पकडनेकी रास। बुद्धिको सारथी जानो. . . . ।"

(घ) मुक्ति और उसके साधन—मुक्ति—दुःखसे छूटना और ब्रह्मको प्राप्त करना—उपनिषदोंका लक्ष्य है। कठ मानवको मुक्तिके लिए प्रेरित करते हुए कहता है[3]—

"उठो जागो, वरोंको पाकर जानो। कवि (=ऋषि) लोग उस दुर्गम पथको छुरेकी तीक्ष्ण धार (की तरह) पार होनेमें कठिन बतलाते हैं।"

तर्क, पठन या बुद्धिसे उसे नहीं पाया जा सकता—

"यह आत्मा प्रवचन (पठन-पाठन) से मिलनेवाला नहीं है, नहीं बुद्धि या बहुश्रुत होनेसे।"[4]

"दूसरेके बिना बतलाये यहाँ गति नहीं है। सूक्ष्माकार होनेसे वह अत्यन्त अणु और तर्कका अ-विषय है। यह मति (=ज्ञान) तर्कसे नहीं मिलनेवाली है। हे प्रिय! दूसरेके बतलाने ही पर (यह) जाननेमे सुकर है।"[5]

(a) **सदाचार**—ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए कठ ज्ञान और ध्यानको ही प्रधान साधन मानता है, तो भी सदाचारकी वह अवहेलना नहीं देखना चाहता। जैसे कि[6]—

"दुराचारसे जो विरत नहीं, जो शान्त और एकाग्रचित्त नहीं, अथवा जो शान्त मानस नहीं, वह प्रज्ञानसे इसे नहीं, पा सकता।"

---

१. कठ १।२।१९ २. कठ ३. कठ १।३।१४
४. कठ १।२।२२ ५. वही १।२।८-९ ६. वही १।२।२४

तो भी मुक्तिके लिए कठका बहुत जोर ज्ञानपर है—

"सारे भूतो (=प्राणियों) के अन्दर छिपा हुआ यह आत्मा नहीं प्रकाशता। किन्तु वह तो सूक्ष्मदर्शियों द्वारा सूक्ष्म तीव्र बुद्धिसे देखा जाता है।"[1]

(b) **ध्यान**—ब्रह्म-प्राप्ति या मुक्तिकेलिए ज्ञान-दृष्टि आवश्यक है; किन्तु साथ ही ज्ञान-दर्शनके लिए ध्यान या एकाग्रता भी आवश्यक है—

"स्वयंभू (=विधाता) ने बाहरकी ओर छिद्र (=इन्द्रियाँ) खोदी हैं। इसलिए मनुष्य बाहरकी ओर देखते हैं, शरीरके भीतर (अन्तरात्मा) नहीं। कोई-कोई धीर (हैं जो कि) आँखोंको मूंदकर अमृत पदकी इच्छासे भीतर आत्मामे देखते हैं।"[2]

"(ब्रह्म) न आँखसे ग्रहण किया जाता है, न वचनसे, न दूसरे देवों, तपस्या या कर्मसे। ज्ञानकी शुद्धतासे (जो) मन विशुद्ध (हो गया है वह), ...ध्यान करते हुए, उस निष्फल (ब्रह्म) का दर्शन करता है।"[3]

(४) मुंडक उपनिषद्

मुंडकका अर्थ है, मुंडे-शिरवाला यानी गृहत्यागी परिव्राजक, भिक्षु या संन्यासी, जो कि आजकी भाँति उस समय भी मुंडे शिर रहा करते थे। बुद्धके समय ऐसे मुडक बहुत थे, स्वयं बुद्ध और उनके भिक्षु मुंडक थे। मुडक उपनिषद् में पहिली बार हमें बुद्धकालीन घुमन्त परिव्राजकोंके विचार मालूम होते हैं। यहाँ प्राचीन परंपरासे एक नई परंपरा आरम्भ होती दीख पड़ती है।

(क) **कर्मकांड-विरोध**—ब्राह्मणोंके याज्ञिक कर्मकांडसे, मुंडकको खास चिढ़ मालूम होती है, जो कि निम्न उद्धरणसे मालूम होगा[4]—

"यज्ञ-रूपी ये बेड़े (या धरनइयाँ) कमजोर हैं....। जो मूढ़ से अच्छा (कह) कर अभिनन्दन करते हैं, वे फिर-फिर बुढ़ापे और मृत्युको प्राप्त होते हैं। अविद्या (=अज्ञान) के भीतर वर्तमान अपनेको धीर

---

१. वही १।३।१२ २. वही २।४।१ ३. वही ३।१।८ ४. मुंड १।२।७-११

(और) पंडित समझनेवाले, वे मूढ़ अंधे द्वारा लिवाये जाते अंधोंकी भाँति दुःख पाते भटकते हैं। अविद्याके भीतर बहुतकरके वर्तमान 'हम कृतार्थ हैं' ऐसा अभिमान करते हैं। (ये) बालक वेकर्मी (=कर्मकांडपरायण) रागके कारण नही समझते है, उसीसे (ये) आतुर लोग (पुण्य) लोकसे क्षीण हुए (नीचे) गिरते हैं। . . .तप और श्रद्धाके साथ भिक्षाटन करते हुए, जो शान्त विद्वान् अरण्यमे वास करते हैं। वह निष्पाप हो सूर्यके रास्ते (वहाँ) जाते हैं, जहाँ कि वह अमृत, अक्षय-आत्मपुरुष है।"

जिस वेद और वैदिक कर्मकांडी विद्याकेलिए पुरोहितोंको अभिमान था, उसे **मुंडक** निम्न स्थान देता है—

'दो विद्याए जाननेकी हैं' यह ब्रह्मवेत्ता बतलाते हैं। (वह) हैं, परा और अपरा (=छोटी)। उनमे अपरा है—'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष।' परा (विद्या) वह है, जिससे उस अक्षर (=अविनाशी) को जाना जाता है।"[1]

(ख) ब्रह्म—ब्रह्मके स्वरूपके बारेमें कहता है—

"वही अमृत ब्रह्म आगे है, ब्रह्म पीछे, ब्रह्म दक्षिण, और उत्तरमें। ऊपर नीचे यह ब्रह्म हो फैला हुआ है; सर्वश्रेष्ठ (ब्रह्मही) यह सब है।"[2]

"यह सब पुरुष ही है। . गुहा (=हृदय) में छिपे इसे जो जानता है। वह . अविद्याकी ग्रथिको काटता है।"[3]

"वह बृहद् दिव्य, अचिन्त्य रूप, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर (ब्रह्म) प्रकाशता है। दूरसे (वह) बहुत दूर है, और देखनेवालोको यही गुहा (=हृदय) मे छिपा वह. . . .पास हीमें है।"[4]

(ग) मुक्तिके साधन—कर्मकाड—यज्ञ-दान-वेदाध्ययन आदि—को मुडक हीन दृष्टिसे देखता है यह बतला चुके हैं, उसकी जगह **मुंडक** दूसरे साधनोको बतलाता है।[5]

---

१. मुंडक १।१।४-५ २. मुंडक २।२।११ ३. २।१।१०
४. मुंडक ३।१।७ ५. मुंडक ३।१।५

"यह आत्मा सत्य, तप, ब्रह्मचर्यसे सदा प्राप्य है। शरीरके भीतर (वह) शुभ्र ज्योतिर्मय है, जिसको दोषरहित यति देखते हैं।"

"यह आत्मा बलहीन द्वारा नहीं प्राप्य है और नहीं प्रमाद या लिंगहीन तपसे ही (प्राप्य है)।"

शायद लिंगसे यहाँ मुंडकों (=परिव्राजकों) के विशेष शरीरचिह्न अभिप्रेत हैं। कठ, प्रश्नकी भाँति मुंडक भी उन उपनिषदोंमें है, जो उस समयमें बनी जबकि ब्राह्मणोंके कर्मकांडपर भारी प्रहार हो चुका था।

(a) गुरु—मुंडक गुरुकी प्रधानताको भी स्वीकारता है, इससे पहिले दूसरी शिक्षाओंकी तरह ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा देनेवाला भी आचार्य या उपाध्यायके तौरपर एक आचार्य था। अब गुरुको वह स्थान दिया गया, जो कि तत्कालीन अवैदिक बौद्ध, जैन आदि धर्मोंमें अपने शास्ता और तीर्थंकरको दिया जाता था। मुंडक[1] ने कहा—

"कर्मसे चुने गए लोकोंकी परीक्षा करनेके बाद ब्राह्मणको निर्वेद (=वैराग्य) होना चाहिए कि अ-कृत (=ब्रह्मत्व) कृत (कर्मों) से नहीं (प्राप्त होता)। उस (ब्रह्म-) ज्ञानके लिए समिधा हाथमें ले (शिष्य बननेके वास्ते) श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास ही में जाये।"

(b) ध्यान—ब्रह्मकी प्राप्तिकेलिए मनकी तन्मयता आवश्यक है[2]—

"उपनिषद्के महास्त्र धनुषको लेकर, उपासनासे तेज किये शरको चढ़ाये, तन्मय हुए चित्तसे खींचकर, हे सोम्य ; उसी अ-क्षर (=अ-विनाशी) को लक्ष्य समझ। प्रणव (=ओम्) धनुष है, आत्मा शर, ब्रह्म वह लक्ष्य कहा जाता है। (उसे) प्रमाद (=ग़फ़लत)-रहित हो बेधना चाहिए, शरकी भाँति तन्मय होना चाहिए।"

(c) भक्ति—वैदिक कालके ऋषि, और ज्ञान-युगके आरंभिक ऋषि आरुणि, याज्ञवल्क्य आदि भी देवताओंकी स्तुति करते थे, उनसे अभिलषित भोग-वस्तुएं भी माँगते थे; किन्तु यह सब होता था आत्म-सम्मानपूर्वक

---

१. मुंडक १।२।१२ २. मुंडक २।२।३-४

यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि सामन्तवादमें पहुँच जानेपर भी आर्य अपने जन तथा पितृ-सत्ता-कालीन भावोंको अभी छोड़ नहीं सके थे, इसलिए देवताओंके साथ भी अभी समानता या मित्रता का भाव दिखलाना चाहते थे। किन्तु अब अवस्था बदल गई थी। आर्य जिस तरह खूनमें मिश्रित होते जा रहे थे, उसी तरह उनके विचारोंपर भी बाहरी प्रभाव पड़ते जा रहे थे। इसीलिए अब आत्मसमर्पणका ख्याल राजनीतिक क्षेत्रकी भाँति धार्मिक क्षेत्रोंमें भी ज्यादा जोर मारने लगा था। मुंडककारने ज्ञानको भी काफी नहीं समझा और कह दिया[1]—

"जिसको ही वह (ब्रह्म) चुनता (=वरण) करता है, उसीको वह प्राप्य है, उसीकेलिए यह अपने तनको खोलता है।"

(d) **ज्ञान**—अन्य उपनिषदोंकी भाँति यहाँ भी (ब्रह्म-) ज्ञानपर जोर दिया गया है—

"उसी आत्माको जानो, दूसरी बातें छोड़ो, यह (ही) अमृत (=मुक्ति) का सेतु है। . उसके विज्ञान (=ज्ञान) से धीर (पुरुष), (उसे) चारो ओर देखते है, जो कि आनन्दरूप, अमृत, प्रकाशमान है।"[2]

"जब देखनेवाला (जीव) चमकीले रंगवाले कर्त्ता, ईश, ब्रह्मयोनि, पुरुषको देखता है तब वह (विद्वान्) पुण्य पापको फेंककर निरंजनकी परम समानता को प्राप्त होता है।"[3]

यहाँ याद रखना चाहिए कि ज्ञानको ब्रह्मप्राप्तिका साधन मानते हुए, मुंडक मुक्त जीवकी ब्रह्मसे अभिन्न होनेकी बात नहीं, बल्कि "परम-समानता" की बात कह रहा है।

(घ) **द्वैतवाद**—ऊपरके उद्धरणसे मालूम हो गया कि मुंडकके मतमें मुक्तिका मतलब ब्रह्मकी परम समानता मात्र है, जिससे यह समझना आसान है; कि वह अद्वैत नहीं द्वैतका हामी है। इस बातमें सन्देहकी कोई गुंजाइश नहीं रह जाती, जब हम उसके निम्न उद्धरणोंको देखते हैं[4]—

---

१. मुंडक ३।२।३ २. मुंडक २।२।५-७ ३. मुंडक ३।१।३ ४. मुंडक ३।१-२

"दो सहयोगी सखा पक्षी (=जीवात्मा और परमात्मा) एक वृक्षको आलिंगन कर रहे हैं। उनमेंसे एक फल (=कर्मभोग) को चखता है, दूसरा न खाते हुए चारों ओर प्रकाशता है। (उस) एक वृक्ष (=प्रकृति) में निमग्न पुरुष परवश मूढ़ हो शोक करता है। दूसरे ईशको जब वह (अपना) साथी (तथा) उसकी महिमाको देखता है, तो शोक-रहित हो जाता है।"

(ङ) मुक्ति—मुंडकके त्रैतवाद—प्रकृति (=वृक्ष), जीव, ईश्वर और मुक्तिका आभास तो कुछ ऊपर मिल चुका, यदि उसे और स्पष्ट करना है, तो निम्न उद्धरणों को लीजिए—

"जैसे नदियाँ बहती हुई नाम रूप छोड़ समुद्रमें अस्त हो जाती हैं, वैसेही विद्वान् (=ज्ञानी) नाम-रूपसे मुक्त हो, दिव्य परात्पर (=अति परम) पुरुषको प्राप्त होता है।"[1]

"इस (=ब्रह्म) को प्राप्तकर ऋषि ज्ञानतृप्त, कृतकृत्य, वीतराग, (और) प्रशान्त (हो जाते हैं)। वे धीर आत्म-संयमी सर्वव्यापी (=ब्रह्म) को चारों ओर पाकर सर्व (=ब्रह्म) में ही प्रवेश करते हैं।"[2]

"वेदान्तके विज्ञानसे अर्थ जिन्हें सुनिश्चित हो गया, संन्यास-योगसे जो यति शुद्ध मन वाले हैं; वे सब सबसे अन्तकालमें ब्रह्म-लोकमें पर-अमृत (बन) सब ओर से मुक्त होते हैं।"[3]

उपनिषद् या ज्ञानकांडके लिए यहाँ **वेदान्त** शब्द आ गया, जो इस तरहका पहिला प्रयोग है।

(च) सृष्टि—ब्रह्मने किस तरह विश्वकी सृष्टि की, इसके बारेमें मुंडकका कहना है—

"(वह है) दिव्य अ-मूर्त (=निराकार) पुरुष, बाहर भीतर (बसने वाला) अ-जन्मा। प्राण-रहित, मन-रहित शुद्ध अ-क्षत (प्रकृति) के परेसे परे है। उससे प्राण, मन और सारी इन्द्रियाँ पैदा होती हैं। आकाश, वायु, ज्योति

---

१. मुंडक ३।२।८ २. वही ३।२।५ ३. वही ३।२।६

(=अग्नि), जल, विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी।. . . .उससे बहुत प्रकारके देव पैदा हुए। साध्य (=निम्नकोटिके देव) मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण, अपान, धन, जौ, तप और श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य, विधि (=कर्मका विधान)।. . .इससे (ही) समुद्र और गिरि। सब रूपके सिन्धु (=नदियाँ) इसीसे बहते हैं। इसीसे सारी औषधियाँ, और रस पैदा होते हैं।"[1]

और—

"जैसे मकड़ी सृजती है, और समेट लेती है; जैसे पृथिवीमें औषधियाँ (=वनस्पति) पैदा होती है; जैसे विद्यमान पुरुषसे केश रोम (पैदा होते हैं), उसी तरह अ-क्षर (=अविनाशी) से विश्व पैदा होता है।"[2]

और—

"इसलिए यह सत्य है कि जैसे सुदीप्त अग्निसे समान रूपवाली हजारो शिखाएँ पैदा होती है, उसी तरह अ-क्षर (=अ-विनाशी) से हे सोम्य! नाना प्रकारके भाव (=हस्तियाँ) पैदा होते हैं।"[3]

इस प्रकार मुडकके अनुसार ब्रह्म (=अ-क्षर) जगत्का निमित्त और उपादान कारण दोनो हैं; वह ब्रह्म और जगत्में शरीर शरीरी जैसा सबध मानता है, तभी तो जहाँ सत्ता बतलाते वक्त वह जीव, ब्रह्म और प्रकृति तीनों के अस्तित्वको स्वीकार करता है, वहाँ सृष्टिके उत्पादनमें प्रकृतिको अलग नहीं बतलाता। मकड़ी आदिका दृष्टान्त इसी बातको सिद्ध करता है।

बुद्धके समय परिव्राजकोंके नामसे प्रसिद्ध धार्मिक सम्प्रदाय इन्ही मुंडकोंका था। पाली सूत्रोंके अनुसार इनका मत था कि मरने के बाद "आत्मा, अरोग एकान्त सुखी होता है।"[4]

पोट्ठपाद, वच्छ-गोत्त जैसे अनेकों परिव्राजक बुद्धके प्रति श्रद्धा रखते थे और उनके सर्वश्रेष्ठ दो शिष्य सारिपुत्र और मोद्गल्यायन पहिले परिव्राजक

---

१. मुंडक २।१।२-९ २. वही १।१।७ ३. वही ३।१।१
४. पोट्ठपाद-सुत्त (दीघनिकाय, १।९)

सम्प्रदायके थे। मुंडकोंसे ब्राह्मणोंकी चिढ़ थी, यह अम्बष्टके बुद्धके सामने "मुंडक, श्रमण,...काले, बंधु (ब्रह्मा) के पैरकी सन्तान" कहकर बुरा-भला कहने से भी पता लगता है।[1] सुन्दरिका भारद्वाजका बुद्धको 'मुंडक' कहकर तिरस्कार करना भी उसी भावको पुष्ट करता है।[2] मज्झिम-निकायमें परिव्राजकोंके सिद्धान्तके बारेमें कितनी ही और बातें मिलती हैं, जो इस उपनिषद्‌के अनुकूल पड़ती हैं। परिव्राजक कर्मकांड-विरोधी भी थे।

(५) मांडूक्य-उपनिषद्

इसके प्रतिपाद्य विषयोंमें ओम्‌को खामखाह दार्शनिक तलपर उठानेकी कोशिश की गई है; और दूसरी बात है, चेतनाकी चार अवस्थाओं—जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—का विवेचन। इसका एक और महत्व यह है कि "प्रच्छन्न बौद्ध" शंकरके परम गुरु तथा बौद्ध गौडपादने मांडूक्यपर कारिका लिखकर पहिले-पहिल बौद्ध-विज्ञानवादसे कितनी ही बातोंको ले—और कुछको स्पष्ट स्वीकार करते भी—आगे आनेवाले शंकरके अद्वैत वेदान्तका बीजारोपण किया।

(क) ओम्—"भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्, सब ओंकार ही है। जो कुछ त्रिकालसे परे है, वह भी ओंकार ही है।"[3]

(ख) ब्रह्म—ओंकारको ब्रह्मसे मिलाते आगे कहा है—[4]

"सब कुछ यह ब्रह्म है। यह आत्मा (=जीव) ब्रह्म है। वह यह आत्मा चार पादवाला है। (१) जागरित अवस्थावाला, बाहरका ज्ञान रखनेवाला, सात अंगों (=इन्द्रियों), उन्नीस मुखोंवाला, वैश्वानर (नामका) प्रथम पाद है, (जिसका) भोजन, स्थूल है। (२) स्वप्न अवस्थावाला

---

१. वही २।१ (देखो बुद्धचर्या, पृष्ठ २११)
२. संयुत्तनिकाय ७।१।९ (बुद्धचर्या, पृष्ठ ३७९)
३. मांडूक्य १ ४. मांडूक्य २-१२

भीतरी ज्ञान रखनेवाला, सात अंगों उन्नीस मुखोंवाला तैजस (नामका) दूसरा पाद है, जो अति एकान्तभोगी है। (३) जिस (अवस्था) मे सोया, न किसी भोगकी कामना करता है, न किसी स्वप्नको देखता है, वह सुषुप्त (की अवस्था) है। सुषुप्तकी अवस्थामे एकमय प्रज्ञान-घन (=ज्ञानमय) ही आनन्द-मय (नामक) चेतोमुखवाला तीसरा पाद है, जिसका कि आनन्द ही भोजन है। यही सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ, यही अन्तर्यामी, यही सबकी योनि (=मूल), भूतों (=प्राणियो) की उत्पत्ति और विनाश है। (४) न भीतरी प्रज्ञावाला, न बाहरी प्रज्ञावाला, न दोनों तरहकी प्रज्ञावाला, न प्रज्ञान-घन, न प्रज्ञ और न अ-प्रज्ञ है। (जो कि वह) अ-दृष्ट, अ-व्यवहार्य, अ-ग्राह्य, अ-लक्षण, अ-चिन्त्य, अ-व्यपदेश्य (=बे नामका), एक आत्मा रूपी ज्ञान (=प्रत्यय) के सारवाला, प्रपंचोका उपशमन करनेवाला, शान्त, शिव, अद्वैत है। इसे चौथा पाद मानते हैं। वह आत्मा है, उसे जानना चाहिए। वह आत्मा अक्षरोंके बीच ओंकार है। . . ."

माडूक्य-उपनिषद्की भाषाको दूसरी पुरानी उपनिषदोकी भाषासे तुलना करनेसे मालूम हो जावेगा कि अब हम दर्शन-विकासके काफी समयसे गुजर चुके है। और ब्रह्मवाद-आत्मवादके विरोधियोका इतना प्राबल्य है कि यह अज्ञात उपनिषत्-कर्त्ता खडनके भयसे भावात्मक विशेषणोंको न दे, "अदृष्ट", "अव्यपदेश्य" आदि भावात्मक विशेषणोंपर जोर देने लगा है। साथ ही वेदसे दूर रहनेसे वेदकी स्थिति निर्बल हो जानेके डरसे ओंकारको भी अपने दर्शनमे घुसानेका प्रयत्न कर रहा है। प्राचीन उपनिषदोंमे उपदेष्टा ऋषिका जिक्र ज़रूर आता है, किन्तु इन जैसी उपनिषदोंमें कर्त्ताका जिक्र न होना, उस युगके आरभकी सूचना देता है, जब कि धर्मपोषक ग्रथकारोका प्रारभ होता है। पहिले ऐसे ग्रथकार नामके बिना अपनी कृतियोंको इस अभिप्रायसे लिखते हैं कि अधिक प्रामाणिक और प्रतिष्ठित किसी ऋषिके नामसे उसे समझ लिया जायेगा। इसमें जब आगे कठिनाई होने लगी, तब मनुस्मृति, भगवद्गीता, पुराण जैसे ग्रंथ खास-खास महर्षियों और महापुरुषोंके नामसे बनने लगे।

४. चतुर्थकालकी उपनिषदें (२००-१०० ई० पू०)

बुद्ध और उनके समकालीन दार्शनिकोंके विचारोंसे तुलना करनेपर समझना आसान होगा कि कौषीतकि, मैत्री तथा श्वेताश्वतर उपनिषदें बुद्ध के पीछेकी हैं, तो भी वह उन बरसाती मेढकों जैसी उपनिषदोंमें नहीं हैं, जिनकी भरमार हम पीछे ११२, और १५० उपनिषदोंके रूपमें देखते हैं।

(१) कौषीतकि उपनिषद् (२०० ई० पू०)

कौषीतकि उपनिषद्, कौषीतकि ब्राह्मणका एक भाग है। इसके चार अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें छान्दोग्य, बृहदारण्यकमें वर्णित पितृयान और देवयानको विस्तारपूर्वक दुहराया गया है। द्वितीय अध्यायमें कौषीतकि, पैंग्य, प्रतर्दन और शुष्क शृंगारके विचार स्फुट रूपमें उल्लिखित हैं। साथ ही कितनी ही पुत्र-धन आदिके पानेकी "युक्तियाँ" भी बतलाई गई हैं। तृतीय अध्यायमे ऋग्वेदीय राजा, तथा भरद्वाजके यजमान (वशिष्ठ, विश्वामित्रके यजमान सुदास् के पिता) दिवोदासके वंशज (?) प्रतर्दनको इन्द्रके लोकमें (सदेह) जानेकी बात तथा इन्द्रके साथ सवादका जिक्र है। इसमे अधिकतर इन्द्रकी अपनी करतूतोंका वर्णन है, इसी वर्णनमें प्राण (=ब्रह्म)के बारेमें इन्द्रने बतलाया। चतुर्थ अध्यायमें गार्ग्य बालाकिका उशीनरमे घूमते हुए काशिराज अजात-शत्रुको ब्रह्मविद्या सिखानेके प्रयास, फिर अजातशत्रुके प्रश्नोसे निरुत्तर हो, उसके पास शिष्यता ग्रहण करनेकी बात है।

(क) ब्रह्म—प्रतर्दन राजाको इन्द्रने वर दिया और जिज्ञासा करने-पर उसने आत्मप्रशंसा ('मुझे ही जान, इसीको मै मनुष्योंकेलिए हित-तम समझता हूँ') करके प्राण रूपी ब्रह्मके बारेमें कहा[१]—

"आयु (=जीवन) प्राण है, प्राण आयु है। ....प्राणोंकी सर्वश्रेष्ठता तो है ही। जीते (आदमी) में वाणी न होनेपर गूँगोंको हम देखते हैं,....

---

१. कौषीतकि ३।२-९

आँख न होनेपर अंधों . . ., कान न होनेपर बहरों. . . ., मन (=बुद्धि) न होनेपर बालो (मूर्खों) को देखते हैं। जो प्राण है वह प्रज्ञा (=बुद्धि) है, जो प्रज्ञा है, वह प्राण है। ये दोनों एक साथ इस शरीरमें बसते हैं, साथ निकलते हैं। . . .जैसे जलती आगसे सभी दिशाओमे शिखाएँ स्थित होती हैं, उसी तरह इस आत्मासे प्राण अपने-अपने स्थानके अनुसार स्थित होते है, प्राणोसे देव, देवोंसे लोक (स्थित होते हैं)। . . . जैसे रथके अरोमे नेमि (=चक्केकी पुट्ठी) अर्पित होती है, नाभिमे अरे अर्पित होते है; इसी तरह यह भूत-मात्राएं प्रज्ञा-मात्राओंमें अर्पित है। प्रज्ञा-मात्राए (चेतन तत्व) प्राणमे अर्पित हैं। सो यह प्राण ही प्रज्ञात्मा, आनन्द अजर अमृत है। (यह) अच्छे कर्मसे बड़ा नहीं होता। बुरेसे छोटा नही होता।"[1]

प्राण और प्रज्ञात्मा कौषीतकिका खास दर्शन है। प्राणकी उपासना ज्ञानियोंकेलिए सबसे बड़ा अग्निहोत्र है—

"जब तक पुरुष बोलता है, तब तक प्राणन (साँस लेना) नहीं कर सकता, प्राणको (वह) उस समय वचन (=भाषण क्रिया) में हवन करता है। जब तक पुरुष प्राणन करता है, तब तक बोल नही सकता, वाणीको उस समय प्राणमे हवन करता है। ये (प्राण और वचन) दोनो अनन्त, अमृत (=अविनाशी) आहुतियाँ हैं; (जिन्हें) जागते सोते वह सदा निरन्तर हवन करता है। जो दूसरी आहुतियाँ हैं, वह कर्मवाली अन्तवाली होती हैं, इसीलिए पुराने विद्वान् (=ज्ञानी) अग्निहोत्र नही करते थे।"

(ख) जीव—जीवको कौषीतकिने प्रज्ञात्मा कहा है और वह उसे यावद्-शरीर-व्यापी मानता है[2]—

"जैसे छुरा छुरधान (=छुरा रखनेकी थैली) मे रहता है, या विश्वंभर (चिड़िया) विश्वंभरके घोंसलोंमें; इसी तरह यह प्रज्ञात्मा इस शरीरमें लोमो तक, नखों तक प्रविष्ट है।"

---

१. कौ० २।५ २. कौ० ५।२०

(२) मैत्री-उपनिषद्

(२००-१०० ई० पू०) मैत्री-उपनिषद्पर बुद्धकालीन शासक-समाजके निराशावाद और वैराग्यका पूरा प्रभाव है, यह राजा वृहद्रथके वचनसे मालूम होगा। और राजाका शाक्यायन राजा के पास जाना भी कुछ खास अर्थ रखता है, क्योंकि शाक्यमुनि गौतम बुद्धको शाक्यायन बुद्ध भी कहा जा सकता है। मैत्रीके पहिले चार अध्याय ही दार्शनिक महत्त्वके हैं। आगेके तीनमें षडंग-योग, भौतिकवादी दार्शनिक वृहस्पति और फलित ज्योतिषके शनि, राहु, केतुका जिक्र है। पहिले अध्यायमें वैराग्य ले राजा वृहद्रथ (शायद राजगृह मगधवाले) का शाक्यायनके पास जा अपने उद्धारकी प्रार्थना है। शाक्यायनने जो कुछ अपने गुरु मैत्रीसे सीखा था, उसे अगले तीनों अध्यायोंमें बतलाया है। मैत्रीके दर्शनमे दो प्रकारकी आत्माओंको माना गया है।—एक शुद्ध आत्मा, जो शरीरमें प्रादुर्भूत हो अपनी महिमासे प्रकाश-मान होती है। दूसरी भूत-आत्मा, जिसपर अच्छे बुरे कर्मोंका प्रभाव होता है, और यही आवागमनमे आती है। शुद्धात्मा शरीरको वैसे ही संचालित करता है, जैसे कुम्हार चक्केको।

(क) **वैराग्य**—मैत्रीने वैराग्यके भाव प्रकट करते हुए कहा[1]—

"वृहद्रथ राजा पुत्रको राज्य दे इस शरीरको अनित्य मानते हुए वैराग्यवान् हो जंगलमें गया। वहाँ परम तपमें स्थित हो आदित्यपर आँख गडाये ऊर्ध्व-बाहु खड़ा रहा। हजार दिनोंके बाद...आत्मवेत्ता भगवान् शाक्यायन आये, और राजासे बोले—"उठ उठ वर माँग।"....'भगवन्! हड्डी, चमड़ा-नस-मज्जा-मांस-शुक्र-(=वीर्य)-रक्त-कफ-आँसूसे दूषित, विष्टा-मूत्र-वात-पित्त-कफसे युक्त, निःसार और दुर्गन्धवाले इस शरीरमें काम-उपभोगोंसे क्या? काम-क्रोध-लोभ-भय-विषाद-ईर्ष्या, प्रिय-वियोग-अप्रिय-संयोग-क्षुधा-प्यास-जरा-मृत्यु-रोग-शोक आदिसे पीड़ित इस शरीरमें काम-

---

१. मैत्री १।१-७

उपभोगोंसे क्या ? इन सबको मैं नाशमान देखता हूँ। ये डंस, मच्छर ....तृण-वनस्पतियोंकी भाँति (सभी) पैदा होने-नष्ट होनेवाले हैं; फिर क्या इनसे (लेना है) ? .... (जहाँ) महासमुद्रोंका सूखना, पहाड़ोंका गिरना, ध्रुवका चलना....पृथिवीका डूबना, देवताओंका हटना (होता है) इस तरहके इस संसारमें काम=भोगोंसे क्या ? ....राजाने गाथा कही....'मैं अंधे कुएंमें पड़े मेंढककी भाँति इस संसारमें (पड़ा हूँ); भगवन् तुम्ही हमारे बचानेवाले हो।"

इसे बुद्धके दु:ख-वर्णनसे मिलाइये[1] मालूम होता है उसे देखकर ही यह लिखा गया।

(ख) आत्मा—वालखिल्योंने प्रजापतिसे आत्माके बारेमें प्रश्न किया।[2]

"भगवन् ! शकट (=गाड़ी) की भाँति यह शरीर अचेतन है।... भगवन् ! जिसे इसका प्रेरक जानते हैं, उसे हमें बतलावें।' उन्होंने कहा—'जो (यहाँ) शुद्ध ...शान्त. ..शाश्वत, अजन्मा, स्वतंत्र अपनी महिमामे स्थित है, उसके द्वारा यह शरीर चेतनकी भाँति स्थित है।"

उस आत्माका स्वरूप[3]—

"शरीरके एक भाग में अँगूठेके बराबर अणु (=सूक्ष्म) से भी अणु (इस आत्माको) ध्यान कर (पुरुष) परमता (=परमपद) को प्राप्त करता है।"

(३) श्वेताश्वतर (२००-१०० ई० पू०)

श्वेताश्वतर उपनिषद् तेरह उपनिषदोंमे सबसे पीछेकी ही नहीं है, बल्कि उसमे पहुँचकर हम भाषा-भाव सभी बातो में शैव आदि सम्प्रदायोंके जमानेमे चले आते हैं। रुद्र (=शिव) की महिमा, सांख्य-दर्शनके प्रकृति, पुरुष (=जीव) मे ईश्वरको जोड़ त्रैतवाद तथा योग उसके खास विषय हैं। इसके छोटे-छोटे छै अध्याय हैं जो सभी पद्यमय हैं। प्रथम अध्यायमें

---

१. देखिए पृष्ठ ५०२-३ २. मै० २।३-४ ३. मै० ६।३८

अद्वैत ब्रह्मके स्थानपर त्रैतवाद—जीव, ईश्वर, प्रकृति—का प्रतिपादन किया गया है। **द्वितीय** अध्यायमें योगका वर्णन है। **तृतीय** अध्यायमें जीवात्मा और परमात्मा तथा साथ ही शैव सम्प्रदाय और द्वैतवादके बारेमें कहा गया है। इसके बहुतसे श्लोकों को शब्दशः या भावतः पीछे भगवद्गीतामें ले लिया गया है। **चतुर्थ** अध्यायमें त्रैतवाद और ज्ञानकी प्रधानता है। **पंचम** अध्यायमें कपिल ऋषि तथा जीवात्माके स्वरूपका वर्णन है। **षष्ठ** अध्यायमें त्रैतवाद, सृष्टि, ब्रह्म-ज्ञान आदिका जिक्र है।

"जो पहिले (पुराने समयमें) उत्पन्न कपिल ऋषिको ज्ञानोंके साथ धारण करता है।"[1]—इससे मालूम होता है, बुद्धसे कुछ समय बाद पैदा हुए सांख्य के संस्थापक कपिलसे बहुत पीछे यह उपनिषद् बनी। पुरानी उपनिषदों (७००-६०० ई० पू०)से बहुत पीछे यह उपनिषद् बनी, इसे वह स्वयं उस उद्धरणमें स्वीकार करती है, जिसमें कि छान्दोग्यके ज्येष्ठ पुत्र और प्रिय शिष्यके सिवा दूसरेको उपनिषद्ज्ञानको न बतलानेकी बात[2] को पुराकल्प (=पुराने युग) की बात कहा गया है—

"पुराने युगमें वेदान्तमें (यह) परम गुह्य (ज्ञान) कहा गया था, उसे न अ-प्रशान्त (व्यक्ति)को देना चाहिए, और (न उसे जो कि) न (अपना) पुत्र और शिष्य है।"

(क) जीव-ईश्वर-प्रकृतिवाद—मुंडक बुद्धकालीन परिव्राजकोंका उपनिषद् है, यह कह चुके हैं और यह भी कि उसमें त्रैतवादकी स्पष्ट झलक है।[3] नीचे हम **श्वेताश्वतर** (=सफेद-खच्चर)से इस विषयके कितने ही वाक्य उद्धृत करते हैं। इनकी प्रचुरतासे मालूम होता है, कि इसके गुमनाम लेखककी मुख्य मंशा ही त्रैतवाद-प्रतिपादन करना था।

"उस ब्रह्म चक्रमें हंस (=जीव) घूमता है। प्रेरक पृथग्-आत्मा (=ब्रह्म)का ज्ञान करके फिर उस (=ब्रह्म)से युक्त हो अमृतत्व (=मुक्ति) को प्राप्त करता है।"[4]

---

१. श्वे० ५।२ २. छां० ३।११।६ ३. मुंडक ३।१।१ ४. श्वे० १।६

"ज्ञ (=ज्ञानी, ब्रह्म) और अज्ञ (=जीव) दोनों अजन्मा हैं, जिनमेंसे एक ईश, (दूसरा) अनीश (=पराधीन) है। एक अजा (=जन्मरहित प्रकृति है, जो कि) भोक्ता (=जीव)के भोगवाले पदार्थोंसे युक्त है। आत्मा (=ब्रह्म) अनन्त, नानारूप, अकर्त्ता है। तीनोको लेकर यह ब्रह्म है? क्षर (=नाशमान) प्रधान (=प्रकृति) है, अमृत अक्षर (=अविनाशी) हर है। क्षर और (जीव-) आत्मा (दोनों) पर एक देव (=ईश्वर) शासन करता है।.. सदा (जीव-) आत्मामें स्थित वह (=ब्रह्म) जानने योग्य है। इससे परे कुछ भी जानने लायक नहीं है। भोक्ता (=जीव), भोग्य (=प्रकृति), प्रेरिता (=ब्रह्म) को जानना; यह सारा त्रिविध ब्रह्म कहा गया।"[1]

"लाल-सफेद-काली एक रूपवाली बहुतसी प्रजाओंको सृजन करती एक अ-जा (=प्रकृति) मे एक अज (=जीव) भोग करते हुए आसक्त है, (किन्तु) इस भुक्त भोगोंवाली (प्रकृति) को दूसरा (=ब्रह्म) छोड़ता है। दो सहयोगी सखा पक्षी (=जीव, ईश्वर) एक वृक्षको आलिंगन कर रहे हैं। उनमेंसे एक फलको चखता है, दूसरा न खाते हुए चारों ओर प्रकाशता है।...मायी (=मायावाला ईश्वर) इस विश्वको सृजता है, उसमे दूसरा मायासे बँधा हुआ है। प्रकृतिको माया जानो, और महेश्वरको मायी।"[2]

"नित्यों (बहुतसे जीवों) के बीच (एक) नित्य, चेतनोंके बीच एक चेतन जो (कि) बहुतोकी कामनाओंको (पूरा) करता है।....प्रधान और क्षेत्रज्ञ (जीव)का स्वामी गुणोंका ईश ससारसे मोक्ष, स्थिति, बंधनका (जो) हेतु है।"[3]

श्वेताश्वतरकी भगवद्गीता[4] से तुलना करनेपर साफ जाहिर होता है, कि गीताके कर्त्ताके सामने यह उपनिषद् मौजूद ही नहीं थी, बल्कि इस प्रथम प्रयाससे उसने लाभ उठाया, रचनाके ढंगको लिया,

---

१. श्वे० १।९-१२ २. श्वे० ४।५-१० ३. श्वे० ६।१३-१६
४. मिलाओ भगवद्गीता, अध्याय १२, १३, १५

तथा वेनाम न रख वासुदेव कृष्ण के नाम उसे थोपने द्वारा बड़ी चतुराई दिखलाई। जान पड़ता है उसका अभिप्राय था शैवोंके मुकाबिलेमें वैष्णवों-का भी एक जबरदस्त ग्रंथ—गीतोपनिषत्—तैयार करना। यद्यपि ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दीके आस-पास समाप्त होनेवाले श्वेताश्वतरसे चार-पाँच सदियाँ पिछड़कर आनेसे उसने देरी जरूर की, किन्तु गीताकी जन-प्रियता बतलाती है, कि गीताकार अपने उद्देश्यमें सफल जरूर हुआ और उत्तरी भारतमें पुराने वैष्णवोंको प्रधानता दिलानेमें सफल हुआ।

(ख) **शैववाद**—श्वेताश्वतरके त्रैतवादमें ईश्वर या ब्रह्मको शिव, रुद्र या महेश्वर—हिन्दुओंके तीन प्रधान देवताओंमेंसे एक—को लिया गया है।

"एक ही रुद्र है. . .जो कि इन लोकोंपर अपनी ईशनी (=प्रभुताओं) से शासन करता है।"[1]

"मायाको प्रकृति जानो, मायीको महेश्वर।"[2]

"सारे भूतो (प्राणियो) मे छिपे शिवको . . .जानकर (जीव). . . . सारे फंदोसे मुक्त होता है।"[3]

(ग) **ब्रह्म**—ब्रह्मसे इस शैव-उपनिषद्का अर्थ उसका इष्टदेवता शिव से है। ब्रह्मके रूपके वर्णनमे यहाँ भी पुराने उपनिषदोंका आश्रय लिया गया है, यद्यपि वह कितनी ही जगह ज्यादा स्पष्ट है। उदाहरणार्थ—

"जिस (=ब्रह्म) से न परे न उरे कुछ भी है, न जिससे सूक्ष्मतम या महत्तम कोई है। द्युलोकमे वृक्षकी भाँति निश्चल (वह) एक खड़ा है, उस पुरुषसे यह सब (जगत्) पूर्ण है।"[4]

"जिससे यह सारा (विश्व) नित्य ही ढँका है, जो कालका काल, गुणी और सर्ववेत्ता है, उसीसे सचालित कर्म (=क्रिया) यहाँ पृथिवी, जल, तेज, सारेका उद्घाटन (=सृजन) करता है. . . .।. . . .। वह ईश्वरोंका परम-महेश्वर, देवताओंका परम-देवता, पतियो (=पशुपतियो)का परम-

---

१. श्वे० ३।२ २. श्वे० ६।१० ३. श्वे० ४।१६
४. श्वे० ३।९ ५ श्वे० ६।२-१८

(पति) है। पूज्य भुवनेश्वर (उस) देवको हम जानें। उसका कार्य और कारण (कोई) नहीं है, न कोई उसके समान या अधिक है....। जो ब्रह्माको पहिले बनाता है और जो उसे वेदोंको देता है। ."

(घ) जीवात्मा—जीवात्माका वर्णन त्रैतवादमें कर चुके हैं। लेकिन श्वेताश्वतर जीवात्माको ईश्वरसे अलग करनेपर तुला हुआ है। तो भी पुरानी उपनिषदोंके ब्रह्म-अद्वैतवादको वह इन्कार करनेकी हिम्मत नहीं कर सकता था, इसीलिए "त्रय....ब्रह्ममेतत्"[1] (=तीन. ..यह ब्रह्म है), "त्रिविध ब्रह्ममेतत्"[2] मे जीव, ईश्वर, प्रकृति—तीनोंको—ब्रह्म कहकर संगति करनी चाही है। जीवमें कोई लिंग-भेद नही—

"न वह स्त्री है न. .पुरुष, और न वह नपुंसक ही है। जिस-जिस शरीरको ग्रहण करता है, उसी-उसीके साथ जोडा जाता है।"[3]

जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, और उसका परिमाण है—

"बालकी नोकके सौवें हिस्सेका और सौ (हिस्सा) किया जावे, तो इस भागको जीव (के समान) जानना चाहिए।"[4]

(ङ) सृष्टि—सृष्टिकेलिए श्वेताश्वतरने भी मकडीका दृष्टान्त दिया, किन्तु और उपनिषदोकी भाँति ब्रह्मके उपादान-कारण होनेका सन्देह न हो, इसे साफ करते हुए—

"जिसे एक देव मकडीकी भाँति प्रधान (=प्रकृति) से उत्पन्न तन्तुओं द्वारा स्वभावसे (विश्वको) आच्छादित करता है।"[5]

(च) मुक्ति—मुक्तिके लिए श्वेताश्वतरका ज़ोर ज्ञानपर है; यद्यपि "मैं मुमुक्षु उस देवको शरण.. .लेता हूँ।"[6]—वाक्यमें भगवद्गीताके लिए शरणागति-धर्म (=प्रपत्ति) का रास्ता भी खोल रखा है। शरणागति जो भागवतों (=वैष्णवो) के पंचरात्र-आगमकी भाँति शायद तत्कालीन शैव-आगमोंमें भी रही है। वैसे भी भेदवादी ईश्वरवाद शरणागति-धर्मकी

---

१. श्वे० १।९ २. श्वे० १।१२ ३. श्वे० ५।१०
४. श्वे० ५।९ ५. श्वे० ६।१० ६. श्वे० ६।१८

ही ओर ले जाता है। तो भी अभी "मत शोचकर सारे धर्मोंको छोड़ अकेले मेरी शरणमें आ, मैं तुझे सारे पापोंसे मुक्त कराऊँगा।"[1] बहुत दूर था, इसीलिए—

"देवको जानकर सारे फंदोंसे छूट जाता है।"[2]

"जब मनुष्य चमड़ेकी भाँति आकाशको लपेट सकेंगे, तभी देवको बिना जाने दुःखका अन्त होगा।"[3]

(ख) योग—योगका वेदमें नाम नहीं है। पुरानी उपनिषदोंमें भी योगसे जो अर्थ आज हम लेते हैं, उसका पता नहीं है। श्वेताश्वतरमें हम स्पष्ट योगका वर्णन पाते हैं। उसके पहिले इसका वर्णन बुद्धके उपदेशोंमें भी मिलता है। जिस सांख्य योगका समन्वय पीछे भगवद्गीतामें किया गया, उसकी नींव पहिले-पहिल श्वेताश्वतर होने डाली थी। पुरुष, प्रकृति ही नहीं कपिल ऋषि तकका उसने जिक्र किया, हाँ, निरीश्वर सांख्यको सेश्वर बना कर। इस बातका इस्तेमाल भगवद्गीताने भी बहुत सफाईके साथ किया, *और सेश्वर सांख्य तथा योगको एक कहकर घोषित किया*— 'मूर्ख ही सांख्य और योगको अलग-अलग बतलाते हैं।'[4]

श्वेताश्वतरकी योग-विधिको गीताने भी लिया है।—

"तीन जगहसे शरीरको समान उन्नत स्थापित कर हृदयमें मनसे इन्द्रियोंको रोककर, ब्रह्मरूपी नावसे विद्वान् (=ज्ञानी) सभी भयावह धारोंको पार करे। चेष्टामें तत्पर हो प्राणोंको रोक, उनके क्षीण होनेपर नासिकासे श्वास ले। दुष्ट घोड़ेवाले यानकी भाँति इस मनको विद्वान् बिना गाफिल हुए धारण करे। समतल, पवित्र, ककड़ी-आग-बालुका-रहित, शब्द-जलाश्रय आदि द्वारा मनको अनुकूल—किन्तु आँखको न खींचनेवाले गुहा-सुन-सान स्थानमें (योगका) प्रयोग करे। योगमें ब्रह्मकी अभिव्यक्ति करानेवाले ये रूप पहिले आते हैं—'कुहरा, धूम, सूर्य, अग्नि, वायु, जुगनू,

---

१. भगवद्गीता २. श्वे० १।८; २।१५; ४।१६ ३. श्वे० ६।२०

४. भगवद्गीता—"सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।"

बिजली, बिल्लोर और चन्द्रमा।' .. योग-गुणोके चालित हो जानेपर उस योगाग्निमय शरीरवाले योगीको न रोग, न बुढ़ापा, न मृत्यु होती है। (शरीरमे) हलकापन, आरोग्य, निर्लोभता, रगमे स्वच्छता, स्वरमे मधुरता, अच्छी गध, मल-मूत्र कम, योगकी पहिली अवस्थामे (दीखते)। ...दीपकी भाँति (योग-) युक्त हो जब आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको देखता है, (तब) सारे तत्त्वोसे विशुद्ध अजन्मा ध्रुव (=नित्य) देवको जान सारे फदोसे मुक्त हो जाता है।"[1]

(ख) गुरुवाद--मुक्तिकी प्राप्तिकेलिए ज्ञान और योग जैसे आवश्यक हैं, वैसे ही गुरु भी अनिवार्य है--पुराने उपनिषदो और वेदके आचार्योंकी भाँति अध्यापनशिक्षण करनेवाले गुरु नही, बल्कि ऐसे गुरु जो कि ईश्वरसे दूसरे नम्बरपर है--

"जिसकी देवमे परम भक्ति है, जैसी देवमे वैसी ही गुरुमे (भी भक्ति है), उसी महात्माके कहनेपर ये अर्थ (=परमार्थतत्त्व) प्रकाशित होते हैं।"[2]

ग--उपनिषद्के प्रमुख दार्शनिक

जिन उपनिषदोंका हम जिक्र कर आए हैं, इनमें छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, मैत्रीमे ही ऐतिहासिक नाम मिलते हैं। इनमे भी जिन ऋषियोके नाम आते हैं, उनमे और प्रवाहण जैवलि, उद्दालक, आरुणि, याज्ञवल्क्य, सत्यकाम जाबाल ही वह व्यक्ति हैं, जिनके बारेमें कहा जा सकता है कि उपनिषद्के दर्शनकी मौलिक कल्पनामें इनका विशेष हाथ था। ऋग्वेदकालमें भी कुरु-पचाल (=मेरठ-आगरा-रुहेलखडकी कमिश्नरियाँ) वैदिक आर्यों-का प्रधान कर्मक्षेत्र था। यही भरद्वाजके यजमान राजा दिवोदासका समृद्धशाली शासन था। यही उनके पुत्र सुदासने पहिले वशिष्ठ और पीछे विश्वामित्रको पुरोहित बना अनेक याग कराये, और पश्चिमके दश राज्योंको पराजित कर पजाबमे भी सतलज-व्यास तक अपना राज्य

---

१. श्वे० २।८-१५ २. श्वे० ६।२३

फैलाया। उपनिषद्‌कालमें वेदकी इसी भूमिको हम फिर नये विचारक पैदा करते देखते हैं। उद्दालक आरुणि कुरु पंचालका ब्राह्मण था, यह शतपथ ब्राह्मणसे[1] मालूम होता है। जनककी जिस परिषद्‌में विद्वानोंसे शास्त्रार्थ करके याज्ञवल्क्यने विजय प्राप्तकी थी, उसमें मुख्यतः कुरु-पंचालके विद्वान् मौजूद थे।[2] याज्ञवल्क्यके समयसे दो शताब्दी बाद बुद्धके समयमें भी इसी भूमिमें उन्होंने "महासत्तिपट्ठानसुत्त" और "महानिदानसुत्त"[3] जैसे दार्शनिक उपदेश दिये थे, जिसका कारण बतलाते हुए अट्ठकथाकार कहते हैं—"कुरु देश-वासी . देशके अनुकूल ऋतुआदि-युक्त होनेसे हमेशा स्वस्थ-शरीर स्वस्थ-चित्त होते हैं। चित्त और शरीरके स्वस्थ होनेसे प्रज्ञा-बलयुक्त हो गंभीर कथाके ग्रहण करनेमें समर्थ होते हैं।....भगवान् (=बुद्ध)ने कुरु-देश-वासी परिषद्‌को ...गंभीर देशनाका उपदेश किया।....(इस देशमें) दास और कर्मकर, नौकर-चाकर भी स्मृति-प्रस्थान (=ध्यानयोग)-संबंधी कथाहीको कहते हैं। पनघट और सूत कातनेके स्थान आदिमें भी व्यर्थकी बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री—'अम्म! तू किस स्मृति-प्रस्थानकी भावना करती है?' पूछनेपर 'कोई नहीं', बोलती है; तो उनको धिक्कारती है—'धिक्कार है तेरी जिन्दगीको, तू जीती भी मुर्देके समान है।'"[4]

त्रिपिटककी यह अट्ठकथाएं ईसा पूर्व तीसरी शताब्दीमें भारतसे सिंहल गई परंपराके आधारपर ईसवी चौथी सदीमें लेखबद्ध हुई थीं।

उपनिषद्‌के दार्शनिक विकासको दिखलानेकेलिए यहाँ हम उपनिषद्‌के कुछ प्रधान दार्शनिकोंके विचारोंको देते हैं।

---

१. शत० १।४।१२

२. बृह० ३।१।१ "तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः।"

३. दीघनिकाय २।१; २।२२

४. दीघनिकाय-अट्ठकथा—"महासतिपट्ठानसुत्त" (देखो मेरी "बुद्ध-चर्या", पृष्ठ ११८)

१—प्रवाहण जैवलि (७००–६५० ई० पू०)

आरुणिका समय अपने शिष्य याज्ञवल्क्य (६५० ई०) से थोड़ा पहिले होगा और आरुणिका गुरु होनेसे प्रवाहण जैवलिको हम उससे कुछ और पहिले ले जा सकते हैं। वह पचालके राजा थे, और सामवेदके उद्गीथ (-गान) मे अपने समयके तीन मशहूर गवैयो[1]—शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य, और प्रवाहण जैवलि—मे एक थे। प्रवाहण क्षत्रिय थे। यह अपने दो समकक्षोंके कहनेपर उनकी इस बातसे मालूम होता है—"आप (दोनों) भगवान् बोलें, बोलते (दोनो) ब्राह्मणों के वचनको मैं सुनूंगा।"[2] जैवलिके प्रश्नोंका उत्तर न दे सकनेके कारण श्वेतकेतुका अपने पिता आरुणिके पास गुस्सेमे जैवलिको राजन्यबन्धु[3] कहकर ताना देना भी उनके क्षत्रिय राजा होनेको साबित करता है।

(दार्शनिक विचार)—जैवलिके विचार छान्दोग्यमे दो जगह और वृहदारण्यकमे एक जगह मिलते हैं, जिनमे एक तो छान्दोग्य[4] और वृहदारण्यक[5] दोनों जगह आया है[6]—

"श्वेतकेतु आरुणेय पचालोंकी समितिमे गया। उससे (राजा) प्रवाहण जैवलिने पूछा—'कुमार! क्या पिताने तुझे अनुशासन (=शिक्षण) किया है?"

'हाँ भगवन्!'

'जानते हो कि यहाँसे प्रजाए (=प्राणी) कहाँ जाती हैं?

'नही भगवन्!'

'जानते हो, कि कैसे यहाँ लौटती हैं?'

'नही भगवन्!'

'जानते हो, देवयानके पथको और पितृयाणमे लौटनेको?'

'नही भगवन्!'

'जानते हो, क्यो वह लोक नही भर जाता?'

---

१. छां० १।८।१ २. वही, ३. बृह० ६।२।३; छां० ५।३।५
४. छां० १।८।३ ५. छां० ५।३।१ ६. बृह० ६।१।१

'नही भगवन् !'

'जानते हो, क्यों पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष-नामवाला हो जाता है ?'

'नहीं, भगवन् !'

'तो कैसे तुम (अपनेको) अनुशासन किया (पठित) बतलाते हो ? जो इन (बातों)को नहीं जानता, कैसे वह (अपने को) अनुशिष्ट बतलायेगा !'

(तब) खिन्न हो वह अपने पिताके पास आया,—और बोला—

'बिना अनुशासन किये ही भगवान्ने मुझे कहा—तुझे मैंने अनुशासन कर दिया। राजन्यबन्धु (=प्रवाहण)ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, उनमेंसे एकका भी उत्तर मैं नहीं दे सका।'

'जैसा . . . तूने इन (प्रश्नों) को बतलाया, मैं उनमेंसे एकको भी नहीं जानता। यदि मैं इन्हें जानता, तो क्यों न तुझे बतलाता ?'

"तब गौतम (आरुणि) राजाके पास गया। उसके पहुँचनेपर (जैवलि) ने उसका सम्मान किया। दूसरे दिन . . . . (आरुणि गौतम) से पूछा—

'भगवन् गौतम ! मानुष वित्तका वर माँगो।'

"उसने कहा—'मानुष वित्त तेरे ही पास रहे। जो कुमार (श्वेतकेतु)-से बात कही उसे मुझसे भी कह।'

"वह (जैवलि) मुश्किलमें पड़ गया। फिर आज्ञा दी 'चिरकाल तक वास करो। . . . जैसा कि तुमने गौतम ! मुझसे कहा ? (किन्तु) चूँकि वह विद्या तुमसे पहिले ब्राह्मणोंके पास नही गई, इसीलिए सारे लोकोमे क्षत्रियका ही प्रशासन (=शासन) हुआ था।' . . . पीछे पाँचवीं आहुतिमें कैसे वह पुरुष नामवाली होती हैं, इसे समझाते हुए जैवलिने कहा—

"गौतम ! वह (नक्षत्र) लोक अग्नि है, उसकी आदित्य ही समिधा (ईंधन) है, (आदित्य-) रश्मियाँ धूम हैं, दिन किरण, चन्द्रमा अंगार, और नक्षत्र शिखाएं हैं। इस अग्निमें देव श्रद्धाका हवन करते हैं, उस आहुतिसे सोम राजा पैदा होता है।

"पर्जन्य अग्नि है. . . . वायु समिधा, अभ्र (=बादल) धूम, बिजली किरण, अशनि (=चमक) अंगार, ह्रादुनि (=कड़क) शिखाएं। इस

अग्निमें देव सोमराजाको हवन करते हैं, उस आहुतिसे वर्षा होती है।"

इसी तरह आगे भी बतलाया। इस सारे उपदेशको कोष्ठक-चित्रमें देने पर इस प्रकार होगा—

अग्नि	समिधा	धूम	किरण	अंगार	शिखा	आहुति	फल
१. (नक्षत्र) लोक	आदित्य	रश्मि	दिन	चंद्रमा	नक्षत्र	श्रद्धा	सोम
२ पर्जन्य	वायु	अभ्र	विद्युत्	अशनि	ह्लादुनि	सोम	वर्षा
३ पृथिवी	संवत्सर	आकाश	रात्रि	दिशा	अंतर्दिशा	वर्षा	अन्न
४ पुरुष	वाणी	प्राण	जिह्वा	चक्षु	श्रोत्र	अन्न	वीर्य
५. स्त्री	उपस्थ	प्रेमाह्वान	योनि	अन्त प्रवेश	मैथुन सुख	वीर्य	गर्भ

"'इस प्रकार पाँचवी आहुतिमें जल पुरुषनामवाला (=पुरुष कहा जानेवाला) होता है। झिल्लीमें लिपटा वह गर्भ दस या नौ मासके बाद (उदरमें) लेटकर जन्मता है। जन्म ले आयु भर जीता है। मरनेपर अग्नियाँ ही उसे यहाँसे वहाँ ले जाती हैं, जहाँसे (आकर) कि वह (यहाँ) पैदा हुआ था।"'

आगे ब्रह्मविद्याके जाननेवाले साधककेलिए, देवयानका रास्ता प्राप्त होता है, यह बतलाया गया है।

छान्दोग्यके इसी सवादको बृहदारण्यकने भी दुहराया है। हाँ, जैवलिने आरुणिको जिन मानुष-वित्तोंके देनेका प्रलोभन दिया, उनकी यहाँ गणना भी की गई है—हाथी, सोना, गाय, घोड़े, प्रवर दासियाँ, परिधान (=वस्त्र)। यह विद्या आरुणिसे पहिले 'किसी ब्राह्मणमें नहीं बसी' पर यहाँ भी जोर दिया गया? पंचाहुति, फिर देवयान, पितृयाण और पितृयाणसे लौटकर फिर इस लोकमें छान्दोग्यके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि योनियों और बृहदारण्यकके अनुसार कीट-पतंग आदिमें भी जन्म लेना। यह खूब स्मरण रखनेकी बात है, कि पुनर्जन्मका सिद्धान्त ब्राह्मणोंका नहीं

क्षत्रियों (=शासकों) का गढ़ा हुआ है, और तब इसके भीतर छिपा रहस्य आसानीसे समझमें आ सकता है।

२—उद्दालक आरुणि-गौतम (६५० ई० पू०)

आरुणि शतपथके अनुसार कुरु-पचालके ब्राह्मण थे।[1] पंचालराज प्रवाहण जैवलिके पास देर तक शिष्य रहे, इन्होंने उनसे पचाग्नि विद्या, देव, यान, पितृयाण (=पुनर्जन्म) तत्त्वकी शिक्षा ग्रहण की थी, इसे हम अभी बतला चुके हैं। आगेके उद्धरणसे यह भी मालूम होगा, कि इन्होंने राजा अश्वपति कैकय तथा (राजा ?) चित्र गार्ग्यायणिसे भी दर्शनकी शिक्षा ग्रहण की थी। बृहदारण्यक[2] के अनुसार याज्ञवल्क्य आरुणिके शिष्य थे, किन्तु साथ ही जनककी परिषद् में उद्दालक आरुणिका याज्ञवल्क्यके साथ शास्त्रार्थ होना[3] प्रमाद पाठ है यह हम बतला चुके हैं। इस तरह आरुणि की शिष्य-परंपरा है—(क)

---
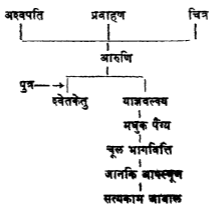
१. शतपथ १।४।१२ २. बृह० ६।३।७ ३. बृह० ३।७।१

(ख) और याज्ञवल्क्यके समकालीन प्रतिद्वन्द्वी, साथी या शिष्य हैं[1]—

१ याज्ञवल्क्य, २ जनक वैदेह, ३ जारत्कारव आर्त्तभाग, ४. भुज्यु लाह्यायनि, ५. उषीम्न चाक्रायण, ६ कहोल कौषीतकेय, ७. गार्गी वाचक्नवी, ८ विदग्ध साकल्य।

(ग) जनक वैदेहके साथ बात करनेवालोमें, हम निम्न नाम पाते हैं[2]—

९ जित्वा शैलिनि, १०. उदङ्क शौल्वायन, ११. वर्कु वार्ष्ण, १२ गर्दभीविपीत भारद्वाज, १३ सत्यकाम जाबाल।

इन तीनो सूचियोके मिलानेसे सत्यकाम जाबाल और उद्दालक आरुणिके सबधोमे गड़बडी मालूम होती है—(क) मे उद्दालक आरुणि (श्वेतकेतुका पिता) याज्ञवल्क्यके गुरु हैं, लेकिन (ख) मे वह जनकको सभामें उनके प्रतिद्वन्द्वी। इसी तरह (क) में सत्यकाम जाबाल याज्ञवल्क्यकी शिष्य-परपरामें पाँचवे हैं, किन्तु (ग) मे वह जनक विदेहके उपदेशक रह चुके हैं। वशावली की अपेक्षा सवादके समय कहा गया सबध यदि अधिक शुद्ध मान लिया जाय, तो मानना पड़ेगा कि सत्यकाम जाबाल याज्ञवल्क्यकी शिष्य-परपरामे नही बल्कि समकालीन थे। यद्यपि दोनो उद्दालक आरुणियो के गौतम होनेसे वहाँ दो व्यक्तियोंकी कल्पना स्वाभाविक नही मालूम होती, साथ ही आरुणिके सर्वप्रथम क्षत्रियसे पचाग्नि विद्या, देवयान, पितृयाणकी शिक्षा पानेवाले प्रथम ब्राह्मण होनेसे आरुणिका याज्ञवल्क्यका गुरु होना ज्यादा स्वाभाविक मालूम होता है, और यहाँ सवादमे आरुणिको याज्ञवल्क्यका प्रतिद्वन्द्वी बतलाया गया है। लेकिन, जब हम सवादोकी सख्या और क्रमको देखते हैं, तो मालूम होता है कि परिषद्में सभी प्रतिद्वन्द्वियोके संवाद एक जगह आये हैं, सिर्फ गार्गी वाचक्नवी ही वहाँ एक ऐसी प्रतिद्वन्द्वी है, जिसके संवाद दो बार आये हैं, और दोनों सवादोके बीच आरुणिका सवाद मिलता है। यद्यपि इसमे भीतर रह ब्रह्मके सचालन (=अन्तर्यामिता) की महत्त्वपूर्ण बात है,

---

१. बृह० ३।१-७ २. बृह० ४।१

इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, तो भी आरुणिको बीचमें डालकर गार्गीके संवादको दो टुकड़ेमें बाँटनेका कोई कारण नहीं मालूम होता। आखिर, क्या वजह जब सभी वक्ता एक-एक बार बोलते हैं, तो गार्गी दो बार बोलने गई। फिर पतंचल काप्यकी भार्यापर आये भूतका जिक्र भुज्युने[1] पहिले अपने नामसे कहा है, अब उसे ही आरुणि भी दुहरा रहा है, यह भी हमारे सन्देहको पुष्ट करता है और एक बार गार्गी के चुप हो जानेपर निगृहीत व्यक्तिका फिर बोलना उस वक्तकी वाद-प्रथाके भी विरुद्ध था। इस तरह आरुणिका याज्ञवल्क्यका गुरु होना ही ठीक मालूम होता है।

दार्शनिक विचार—

(१) **आरुणि जैवलिके शिष्यतामें**—आरुणिको पंचालराज जैवलिने पंचम आहुति तथा देवयान-पितृयानका उपदेश दिया था, इसका जिक्र हम कर चुके हैं। छान्दोग्यमें एक ज. और आरुणिका आचार्य नहीं शिष्यके तौरपर जिक्र आया है[2]—

"प्राचीनशाल औपमन्यव, सत्ययज्ञ पौलुषि, इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय, जन शार्कराक्ष्य, बुडिल अश्वतराश्वि—इन महाशालों (=प्रतापी) महाश्रोत्रियों (=महावेदज्ञों) ने एकत्रित हो विचार किया—'क्या आत्मा है, क्या ब्रह्म है' उन्होंने सोचा—भगवानो! 'यह उद्दालक आरुणि इस वक्त वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, उसके पास (चलो) हम चलें।' वह उसके पास गये। उस (=आरुणि) ने सोचा (=संपादन किया)—ये महाशाल महाश्रोत्रिय मुझसे प्रश्न करेंगे, उन्हें सब नहीं समझा सकूँगा। अच्छा! मैं दूसरेका (नाम) बतलाऊँ।' (और) उनसे कहा—'भगवानो! यह अश्वपति कैकय इस वक्त इस वैश्वानर आत्माका अध्ययन करता है, (चलो) उसीके पास हम चलें।' वे उसके पास गये। आनेपर उसने उनकी पूजा (=सम्मान) की। (फिर) उसने सबेरे . (उनसे) कहा—

---

१. बृह० ३।३।१ २. छां० ५।११

' न मेरे देश (जनपद) में चोर है, न कंजूस, न शराबी, न अग्निहोत्र न करने वाला, न अ-विद्वान्; न स्वैरी है, (फिर) स्वैरिणी (=व्यभिचारिणी) कहाँसे? मैं यज्ञ कर रहा हूँ; जितना एक-एक ऋत्विजको धन दूँगा, उतना (आप) भगवानोंको भी दूँगा। बसो भगवानो!'

"उन्होंने कहा—'जिस प्रयोजनसे मनुष्य चले, उसीको कहे। वैश्वानर आत्माको तुम इस वक्त अध्ययन कर रहे हो, उसे ही हमें बतलाओ।'

"उसने कहा—'सबेरे आपलोगोंको बतलाऊँगा।'

"वे (शिष्यता-सूचक) समिधा हाथमें लिए पूर्वाह्णमें (उसके) पास गये। उसने उनका उपनयन किये (=शिष्यता स्वीकार कराये) बिना कहा—

'औपमन्यव! तू किस आत्माकी उपासना कर रहा है?'

'द्यौ (=नक्षत्रलोक) की भगवन् राजन्!'

वह सुन्दर तेजवाला वैश्वानर आत्मा है, जिसकी तू उपासना करता है, इसलिए तेरे कुल में सुत (=सन्तान), प्र-सुत, आ-सुत दिखाई देते हैं, तू अन्न भोजन करता है, प्रियको देखता है। जो ऐसे इस वैश्वानर आत्माकी उपासना करता है, उसके कुलमें ब्रह्मतेज रहता है। यह आत्माका शिर है। .. शिर तेरा गिर जाता यदि तू मेरे पास न आया होता।'

"तब सत्य यज्ञ पौलुषिसे बोला—'प्राचीनयोग्य! तू किस आत्माकी उपासना करता है?"

'आदित्यकी ही भगवन् राजन्!'

'यदि विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है, जिसकी तू उपासना करता है। इसलिए तेरे कुलमें विश्वरूप दिखलाई देते हैं—ऊपरसे ढँका खचरीका रथ, दासी, निष्क (=अशर्फी). .. तू अन्न खाता ...यह आत्माका नेत्र है। .अन्धा हो जाता यदि तू मेरे पास न आया होता।

"तब इन्द्रद्युम्न भाल्लवेयसे बोला—'वैयाघ्रपद्य! तू किस आत्माकी उपासना करता है?'

'वायुकी ही भगवन् राजन्!'

'यही पृथग् वर्त्म (=अलग रास्तेवाला) वैश्वानर आत्मा है. . . .। इसीलिए तेरे पास अलग (अलगसे) बलियाँ आती हैं, अलग (अलग) रथकी पंक्तियाँ अनुगमन करती हैं. . . .।'

"तब जन शार्कराक्ष्यसे पूछा—'तू किस. . . . ?'

'आकाशकी ही भगवन् राजन् !'

'यही बहुल वैश्वानर आत्मा है। . . . .इसलिए तू प्रजा (=सन्तान) और धनसे बहुबल है. . . . !'

"तब बुडिल अश्वतराश्विसे बोला—'वैयाघ्रपति ! . . . .?'

'जलकी ही. . . !'

'यही रयि वैश्वानर आत्मा है। . . .इसीलिए तू रयिमान् (=धनी) पुष्टिमान् है। . . . .!'

"तब उद्दालक आरुणिसे बोला—'गौतम. . . .?'

'पृथिवीकी ही भगवन् राजन्!'

'यही प्रतिष्ठा वैश्वानर आत्मा है। . . . .इसीलिए तू प्रजा और पशुओंसे प्रतिष्ठित है। . . . .!'

'(फिर) उन (सब)से बोला—तुम सब वैश्वानर आत्माको पृथक्की तरह जानते अन्न खाते हो। . . . इस वैश्वानर आत्माका शिर ही सुतेजा है, चक्षु विश्वरूप है, प्राण पृथग्वर्त्मा है. . .।' "

यहाँ इस संवादमें आरुणिने अपनेको पृथिवीको वैश्वानर आत्मा (=जगत्-शरीर आत्मा)के तौरपर अध्ययन करनेवाला बतलाया है; और अश्वपतिने उसे एकांशिक कहा।'

(२) आरुणि गार्ग्यायणिकी शिष्यतामें—आरुणि मालूम होता है, क्षत्रियोंसे दार्शनिक ज्ञान संग्रह करनेमें ब्राह्मणोंके एक जबर्दस्त प्रतिनिधि थे। उनकी पंचालराज जैवलि, कैकयराज[1] अश्वपतिके पास ज्ञान

---

१. झेलम और सिन्धके बीचके हिमालयके निचले भागपर अवस्थित राजौरीके पासका प्रदेश।

सीखनेकी बात कही जा चुकी। कौषीतकि उपनिषद्[1] से यह भी पता लगता है, कि उन्होंने चित्र गार्ग्यायणिके पास भी ज्ञान प्राप्त किया था।—

"चित्र गार्ग्यायणिने यज्ञ करते आरुणिको (ऋत्विक्) चुना। उसने (अपने) पुत्र श्वेतकेतुसे कहा—'तू यज्ञ करा।' "

गार्ग्यायणिके प्रश्नोंका उत्तर न दे सकनेके कारण श्वेतकेतुने घर लौटकर पितासे कहा। तब आरुणि शिष्य बनकर ज्ञान सीखनेके लिए समिधा हाथमें लिये गार्ग्यायणिके पास गया। गार्ग्यायणिने पितृयान, पुनर्जन्म, देवयानका उपदेश दिया, जो कि जैवलिके उपदेशकी भद्दी आवृत्ति मात्र है।

(२) आरुणिका याज्ञवल्क्यसे संवाद असत—बृहदारण्यकमें आये आरुणि-याज्ञवल्क्य संवादकी असंगतिके बारेमें हम बतला चुके हैं। वहाँ आरुणिके मुँहसे यह कहलाया गया है—[2]

"(एक बार) हम मद्र[3] में पतंचल काप्यके घर यज्ञ (-विद्या) का अध्ययन करते निवास करते थे। उसकी भार्याको गंधर्व (=देवता) ने पकडा था। उस (=गंधर्व)से पूछा—'तू कौन है?' उसने कहा—'कबन्ध आथर्वण।' उस (=गंधर्व)ने याज्ञिकों और पतंचल काप्यसे पूछा—'काप्य! क्या तुझे वह सूत्र (धागा) मालूम है, जिसमें यह लोक, परलोक, सारे भूत गुथे हुए हैं।' पतंचलने कहा—'भगवन् मैं उसे नहीं जानता।' "

शायद आरुणिका मद्रमें पतंचलके पास कर्मकाण्डका अध्ययन सही हो, और याज्ञिक (=वैदिक) गुरु भी दर्शनसे बिलकुल कोरे रहते थे यह भी ठीक हो।

इन उद्धरणोंसे यह पता लगता है, कि आरुणि प्रथम ब्राह्मण दार्शनिक था। इससे पहिले दर्शन-चिन्तन शासक (=क्षत्रिय) वर्ग करता था,

---

१. कौ० १।१ २. बृह० ३।७।१ ३. स्यालकोट, गुजराँवाला आदि जिले।

जिसमें कितने ही उस समयके राजा भी शामिल थे। राजा दार्शनिक होते भी यज्ञ करना, ब्राह्मणोंको दक्षिणा देना छोड़ते नहीं थे—जैसा कि अश्वपति और गार्ग्यायणिके दृष्टान्तसे स्पष्ट है। आरुणिने पंचमाहुति (=देवयान-पितृयान) तथा वैश्वानर-आत्माका ज्ञान अपने क्षत्रिय गुरुओंसे सीखा था, किन्तु उसका अपना दर्शन वही था, जिसे कि उसने अपने पुत्र श्वेतकेतुको 'तत्त्वमसि'—या ब्रह्म-जगत् अभेदवाद—द्वारा बतलाया।

(४) आरुणिका श्वेतकेतुको उपदेश—श्वेतकेतु आरुणेय आरुणिका पुत्र था, दोनों पिता-पुत्रोंका संवाद हमें छान्दोग्य[1] में मिलता है—

"श्वेतकेतु आरुणेय था। उसे पिताने कहा—

'श्वेतकेतु! ब्रह्मचर्य वास कर। सोम्य! हमारे कुलका (व्यक्ति) अपठित रह ब्रह्मबन्धु (=ब्राह्मणका भाई मात्र) की तरह नही रहता।"

"बारहवें वर्षमे उपनयन (ब्रह्मचर्य-आरभ) कर चौबीसवें वर्ष तक सारे वेदोको पढ़ (श्वेतकेतु) महामना पठिताभिमानी गम्भीर-सा हो पास गया। उससे पिताने कहा—

'श्वेतकेतो! जो कि सोम्य! यह तू महामना ०है, क्या तूने उस आदेशको पूछा, जिसके द्वारा न-सुना सुना हो जाता है, न-जाना जाना?'

'कैसा है भगवन्! वह आदेश (=उपदेश)?'

'जैसे सोम्य! एक मिट्टीके पिंडसे सारी मिट्टीकी (चीजें) ज्ञात हो जाती हैं, मिट्टी ही सच है और तो विकार, वाणीका प्रयोग नाम-मात्र है। जैसे सोम्य! एक लोह-मणि (=ताम्र-पिंड)से सारी लोहेकी (चीजें) विज्ञात हो जाती हैं....। जैसे सोम्य! एक नखसे खरोटनेसे सारी कृष्ण-अयस् (=लोहे)की (चीजें) विज्ञात हो जाती हैं। इसी तरह सोम्य! वह आदेश होता है।'

'निश्चय ही वे भगवन् (मेरे आचार्य) नही जानते थे, यदि उसे जानते तो क्यो न मुझे बतलाते। भगवान् ही उसे बतलायें।'

---

१. छान्दोग्य ६।१

'अच्छा सोम्य !'

'सोम्य ! पहिले यह एक अद्वितीय सद् (=भावरूप) ही था, उसे कोई-कोई कहते है—पहिले यह एक अद्वितीय अ-सद् ही था, इसलिए अ-सत्से सत् उत्पन्न हुआ। किन्तु सोम्य ! यह कैसे हो सकता है?'

'कैसे असत्से सत् उत्पन्न हो सकता है ?'

'सत् ही सोम्य ! यह एक अद्वितीय था। उसने ईक्षण (=कामना) किया. . . .उसने तेजको सिरजा।'"

इस प्रकार आरुणिके मतसे तेज (=अग्नि) प्रथम भौतिकतत्त्व था जिससे दूसरा तत्त्व—जल—पैदा हुआ। तपनेपर पसीना निकलता है, इस उदाहरणको आरुणि अग्निसे जलकी उत्पत्ति साबित करनेके लिए काफ़ी समझता था। जलसे अन्न। इस प्रकार "सत् मूल" है तेजका, "तेज मूल" है पानी का। उदाहरणार्थ "मरते हुएकी वाणी मनमे मिल जाती है, मन प्राणमे, प्राण तेज (=अग्नि) मे, तेज परमदेवतामें।' सो जो यह **अणिमा** (=सूक्ष्मता) है; इसका ही स्वरूप यह सारा (=विश्व) है, वह सत्य है, वह आत्मा है, 'वह तू है' (=तत् त्व असि) श्वेतकेतु!'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! . . जैसे सोम्य ! मधु-मक्खियां मधु बनाती है, नाना प्रकारके वृक्षोके रसोंको जमाकर एक रस बनाती हैं। वह (रस) जैसे वहाँ फर्क नही पाता—मैं उस वृक्षका रस हूँ, उस वृक्षका रस हूँ। इसी तरह सोम्य ! यह सारी प्रजाए सत् (=ब्रह्म) मे प्राप्त हो नही जानती—हम सत्मे प्राप्त होते हैं। . . .वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'अच्छा सोम्य ! . जैसे सोम्य ! पूर्ववाली नदियां पूर्वसे बहती हैं, पश्चिमवाली पश्चिमसे, वह समुद्रसे समुद्रमे जाती हैं, (वहाँ) समुद्रही होता है। वह जैसे नही जानती—'मैं यह हूँ'। ऐसे ही सोम्य ! यह सारी प्रजाएं सत्से आकर नही जानती—सत्से हम आई. . . .वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! ......जैसे सोम्य ! बड़े वृक्षके यदि मूलमें आघात करे, तो जीव (-रस) बहता है। मध्यमें आघात करे....अग्रमें आघात करे, जीव (-रस) बहता है। सो यह (वृक्ष) इस जीव आत्मा द्वारा अनुभव किया जाता, पिया जाता, मोद लेता स्थित होता है। उसकी यदि एक शाखाको जीव छोड़ता है, वह सूख जाती है, दूसरीको छोड़ता है, वह सूख जाती है, तीसरीको छोड़ता है वह सूख जाती है, सबको छोड़ता है, सब (वृक्ष) सूख जाता है। ऐसे ही सोम्य ! तू समझ ! ....जीव-रहित ही यह (शरीर) मरता है, जीव नहीं मरता। सो जो यह....वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें !

'बर्गदका फल ले आ।'

'यह है भगवन् !'

'तोड।

'तोड दिया भगवन् !'

'यहाँ क्या देखता है !'

'छोटे छोटे इन दोनोंको भगवन !'

'इनमेसे प्रिय'! एकको तोड़ !

'तोड दिया भगवन् !'

'यहाँ क्या देखता है ?'

'कुछ नहीं भगवन् !'

'सोम्य ! तू जिस इस अणिमा (=सूक्ष्मता) को नहीं देख रहा है, इसी अणिमासे सोम्य ! यह महान् बर्गद खड़ा है। श्रद्धा कर सोम्य ! सो जो ..वह तू है श्वेतकेतु !'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य ! इस नमकको सोम्य ! पानीमे रख, फिर सबेरे मेरे पास आना।'

"उसने वैसा किया।"

'जो नमक शतको पानीमें रखा, प्रिय ! उसे ला तो।'

'उसे ढूंढ़ा पर नहीं पाया।'

'गल गया सा (मालूम होता) है।'

'प्रिय ! भीतरसे इसका आचमन कर। कैसा है?'

'नमक है!'

'मध्यसे आचमन कर। कैसा है!'

'नमक है।'

'इसे पीकर मेरे पास आ।'

'उसने वैसा किया।' वह एक समान (नमकीन) था। उस (=श्वेत-केतु) से कहा—'(उसके) यहाँ होते भी जिसे सोम्य! तू नहीं देखता, यही है (वह)। सो जो ....वह तू है श्वेतकेतु!'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करे।'

'अच्छा सोम्य! ....जैसे सोम्य! (किसी) पुरुषको गधार (देश) से आँख मूँद लाकर (एक) जनपूर्ण (स्थान) में छोड़ दे। वह जैसे वहाँ आगे-पीछे या ऊपर-नीचे चिल्लाये 'आँख मूँदे (मुझे) लाया, आँख मूँदे मुझे छोड़ दिया।' जैसे उसकी पट्टी छोड़ (कोई) कहे—इस दिशामें गधार है, इस दिशामें जा। वह पंडित, मेधावी एक गाँवसे दूसरे गाँवको पूछता गधार हीको पहुँच जाये, इसी तरह यहाँ आचार्य रखनेवाला पुरुष ज्ञान प्राप्त करता है। उसको (मुक्त होनेमें) उतनी ही देर है, जबतक कि (शरीरसे) नहीं छूटता, (शरीर छूटने) पर तो (ब्रह्मको) प्राप्त होता है। सो जो....वह तू है श्वेतकेतु!'

'और भी मुझे भगवान् विज्ञापित करें।'

'अच्छा सोम्य! .....जैसे सोम्य! (मरण-यातनासे) पीड़ित पुरुषको भाई-बंधु घेरते (और पूछते) हैं—पहिचानते हो मुझे, पहिचानते हो मुझे! जब तक उसकी वाणी मनमें नहीं मिलती, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, तेज परम देवतामें (नहीं मिलता) तबतक, पहिचानता है। किन्तु जब उसकी वाणी मनमें मिल जाती है, मन प्राणमें, प्राण तेजमें,

तेज परम देवताओं, तब नहीं पहचानता। सो भो. . वह तू है श्वेत-केतु!' ."

इस तरह आरुणि सद्ब्रह्म (=शारीरक ब्रह्म) वादी थे, और भौतिक तत्त्वोंमें अग्निको प्रथम मानते थे।

३—याज्ञवल्क्य (६५० ई० पू०)

(१) जीवनी—याज्ञवल्क्यकी जन्मभूमि कहाँ थी, इसका उल्लेख नहीं मिलता। कुछ लेखकों[1]ने जनक वैदेहका गुरु होनेसे उन्हें भी विदेह (=तिर-हुत) का निवासी समझ लिया है, जो कि गलत है। बृहदारण्यक[2]के उद्धरण पर गौर करनेसे यही पता लगता है, कि वह कुरु-पंचालके ब्राह्मणोंमें से थे—

"जनक वैदेहने बहुत दक्षिणावाले यज्ञको किया। उसमें कुरु-पंचाल (=पश्चिमी युक्तप्रान्त) के ब्राह्मण एकत्रित हुए थे। जनक वैदेहके मनमें जिज्ञासा हुई—इन ब्राह्मणों (=कुरु-पंचालवालों) में कौन सबसे बड़ा शिक्षित (=अनूचानतम) है?' "

यहाँ इन ब्राह्मणों शब्दसे कुरु-पंचालवालोंका ही बोध होता है। वैसे भी यदि याज्ञवल्क्य विदेहके थे, तो उनकी विद्वता जनकके लिए अज्ञात नहीं होनी चाहिए।

इस तरह जान पड़ता है, जैवलि, आरुणि, याज्ञवल्क्य तीनों दिग्गज उपनिषदके दार्शनिक कुरु पंचालके रहनेवाले थे। इसीसे बुद्ध कालमें भी कुरु-पंचाल दर्शनकी खानि समझा जाता था, जैसा कि पीछे हम बतला चुके हैं। और इस तरह ऋग्वेदके समयसे (१५०० ई० पू०) जो प्रधानता इस प्रदेशको मिली, वह बराबर याज्ञवल्क्यके समय तक मौजूद रही, यद्यपि इसी बीच कैकय (पंजाब) काशी, और विदेहमें भी ज्ञान-चर्चा होने लगी थी।

अश्वपति कैकयके पास आनेवाले ये ब्राह्मण महाशाल बड़े धनाढ्य

---

१. डाक्टर श्रीधर व्यंकटेश केतकरका 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश' (पूना, १९१२) प्रस्तावना खंड १, विभाग ३, पृ० ४४८ २. बृह० ३।१

व्यक्ति थे। उनके पास सैकड़ों खचरीके रथ—घोड़ेसे खच्चरकी कीमत उस वक्त ज्यादा थी—हाथी, दासियाँ, अशर्फियाँ थीं। प्रवर (=सुन्दर) दासियोंके लिखनेसे यही मतलब मालूम होता है, कि दासियाँ सिर्फ कमकरियाँ ही नहीं बल्कि अपने स्वामियोंकी कामतृप्तिका साधन भी थीं। याज्ञवल्क्य इसी तरह के एक ब्राह्मण महाशाल (=धनी) थे। याज्ञवल्क्यकी कोई सन्तान न थी, यह इसीसे पता लगता है,कि गृहत्यागी होते वक्त उन्होंने अपनी दोनों भार्याओं मैत्रेयी और कात्यायनीमें सम्पत्ति बाँटनेका प्रस्ताव किया[1]—

"याज्ञवल्क्यकी दो भार्यायें थी—मैत्रेयी और कात्यायनी। उनमें मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी थी, किन्तु कात्यायनी सिर्फ स्त्रीबुद्धिवाली। तब याज्ञवल्क्यने कहा—

'मैत्रेयी! मै इस स्थानसे प्रव्रज्या लेनेवाला हूँ। आ तुझे इस कात्यायनीसे (धनके बँटवारे द्वारा) अलग कर दूँ।'"

ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी भी पतिकी भाँति धनसे विरक्त थी, इसलिए उसने उससे इन्कार करते हुए कितने ही प्रश्न किये, जिसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने जो उपदेश दिया था, उसका जिक्र हम आगे करनेवाले हैं।

(२) **दार्शनिक-विचार**—याज्ञवल्क्यके दार्शनिक विचार बृहदारण्यक मे तीन प्रकरणों मे आये हैं—एक जनककी यज्ञ-परिषद्में, दूसरा जनकके साथीकी तीन मुलाकातोंमें और तीसरा सवाद अपनी स्त्री मैत्रेयीके साथ।

(क) जनककी सभामें—"जनक वैदेहने बहु-दक्षिणा यज्ञका अनुष्ठान किया। वहाँ कुरु-पचालके ब्राह्मण आए थे। जनक वैदेहको जिज्ञासा हुई—'कौन इन ब्राह्मणोमें सर्वश्रेष्ठ पडित है।' उसने हजार गायोंको रुकवाया (=एक जगह खडा किया)। उनमेंसे एक एककी दोनो सीगोमें दस-दसपाद[3]

---

१. बृह० ४।५।१ २. बृह० ३।१।१

३. कार्षापणके चौथाई भागका सिक्का, जो कि बुद्धके वक्त पाँच मासेभर ताँबे का होता था। १० पाद=ढाई कार्षापण। एक कार्षापणका मूल्य उस वक्त आजके बारह आनेके बराबर था।

बाँधे हुए थे। जनकने उनसे कहा—'ब्राह्मण भगवानो ! जो तुममें ब्रह्मिष्ठ (=सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवादी) है, वह इन गायोंको हँका ले जाये।' ब्राह्मणोंने हिम्मत नहीं की। तब याज्ञवल्क्यने अपने ही ब्रह्मचारी (=शिष्य) को कहा—'सोमश्रवा ! हँका ले चल इन्हें।' और उन्हें हँकवा दिया। वे ब्राह्मण क्रुद्ध हुए—कैसे (यह) हममें (अपनेको) ब्रह्मिष्ठ कहता है। जनक वैदेहका होता अश्वल था, उसने इस (यज्ञवल्क्य) से पूछा—

'तुम हममें ब्रह्मिष्ठ हो याज्ञवल्क्य

'हम ब्रह्मिष्ठको नमस्कार करते हैं, हम तो गायें चाहते हैं।'

(a) **अश्वल का कर्मपर प्रश्न**—"होता अश्वलने वहींसे उससे प्रश्न करना शुरू किया—. . . .

अश्वलने अपने प्रश्न ज्यादातर यज्ञ और उसके कर्म-कलापके बारेमें किये। याज्ञवल्क्य वैदिक कर्मकाण्डके बडे पंडित थे, यह शत-पथ ब्राह्मणके १-४ तथा १०-१४ कांडोमें उद्धृत उनकी बहुतसी याज्ञिक व्याख्याओंसे स्पष्ट है। याज्ञवल्क्यकी आधी तार्किक और आधी साम्प्रदायिक व्याख्यासे होता अश्वल चुप हो गया।

(b) **आर्तभागका मृत्यु-भक्षकपर प्रश्न**—फिर जारत्कारव आर्त-भागने प्रश्न करने शुरू किये—अतिग्राह (=बहुत पकड़नवाले) क्या हैं? आठ—प्राण, वाग्, जिह्वा, आँख, कान, मन, हाथ, चर्म—यह आठ ग्रह (=इन्द्रिय) हैं; जो कि क्रमशः अपान, नाम, रस, रूप, शब्द, कामना और कर्म इन आठ अतिग्राहों (=विषयों) द्वारा गंध सूँघते, नाम बोलते, रस चखते, रूप देखते, शब्द सुनते, काम =(भोग) चाहते, कर्म करते, स्पर्श जानते हैं। इन्द्रियोंके बारेमें यह उत्तर सुनकर आर्तभागने फिर पूछा—

'याज्ञवल्क्य ! यह सब (=विश्व) तो मृत्युका अन्न (भोजन) है। कौन वह देवता है, जिसका अन्न मृत्यु है?"

'आग मृत्यु है, वह पानीका भोजन है, पानीसे मृत्यु को जीता जा सकता है।'

'याज्ञवल्क्य ! जब यह पुरुष मर जाता है, (तब) उसके प्राण (साथ) जाते हैं या नहीं?'

'नहीं। . यहीं रह जाते है। वह उमास लेता है, खर्खर करता है, फिर मरकर पड जाता है।'

'याज्ञवल्क्य ! जब यह पुरुष मरता है, क्या (है जो) इसे नहीं छोड़ता ?'

'नाम .।'

'याज्ञवल्क्य ! जब मरनेपर इस पुरुषकी वाणी आग (=तत्त्व) में समा जाती है, प्राण वायुमें, आँख आदित्यमें, मन चन्द्रमामे, श्रोत्र दिशाओंमें, शरीर पृथिवीमें, आत्मा आकाशमें, रोए औषधियोंमें, केश वनस्पतियोंमें, खून और वीर्य पानीमे मिल जाते हैं ; तब यह पुरुष (जीव) कहां होता है?'

'हाथ ला, सोम्य आर्तभाग ! हम दोनों ही इस (तत्त्व) को जान सकेंगे, ये लोग नही . .।'

"तब दोनोंने उठकर मंत्रणाकी, उन्होने जो कहा, वह कर्महीके बारे में कहा। जो प्रशसाकी कर्मकी ही प्रशंसाकी।—'पुण्य कर्मसे पुण्य (=भला) होता है, पापसे पाप (=बुरा) होता है।' तब जारत्कारव आर्तभाग चुप हो गया।

(c) **भुज्यु लाह्यायनिका अश्वमेध-याजियोंके लोकपर प्रश्न—**
"तब भुज्यु लाह्यायनिने पूछा—'याज्ञवल्क्य ! हम मद्र देशमें विचरण करते थे। वहाँ पतंचल काप्यके घर पर गये। उसकी लडकी गधर्व-गृहीता (=देवता जिसके सिरपर आया हो) थी। उससे मैंने पूछा—'तू कौन है?' उसने कहा—'सुधन्वा अङ्गीरस।' तब उससे लोकोंका अन्त पूछते हुए मैंने कहा —'कहाँ पारिक्षित' (परीक्षित-वंशी) गये ?' सो मैं तुमसे भी याज्ञवल्क्य ! पूछता हूँ, कहाँ पारीक्षित गये ?'

---

१. छान्दोग्य (३।१७।६) में घोर आंगीरसके शिष्य देवकीपुत्र कृष्णका जिक्र आया है, उससे और यहाँके वर्णनको मिलानेसे परीक्षित् महाभारतके अर्जुनका पुत्र मालूम होता है। फिर परीक्षित्-वंशियोंके कहनेसे जान पड़ता है, कि तबसे याज्ञवल्क्य तक कितनी ही पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। "सांकृत्यायन-वंश" में मैंने परीक्षित्-पुत्र जन्मेजयका समय ९०० ई० पू० निश्चित किया है।

"उस (याज्ञवल्क्य) ने कहा—. . .'वह वहाँ गये जहाँ अश्वमेध-याजी (=करनेवाले) जाते हैं?'

'अश्वमेधयाजी कहाँ जाते हैं?'

इसपर याज्ञवल्क्यने वायु द्वारा उस लोकमें अश्वमेधाजियोंका जाना बतलाया, जिसपर लाह्यायनि चुप हो गया।

(d) **उषस्ति चाक्रायण-सर्वान्तरात्मापर प्रश्न**—उषस्ति चाक्रायण कुरु-देशका एक प्रसिद्ध वेदज्ञ था। छान्दोग्य[1] में उसके बारेमें कहा गया है—

"कुरु-देशमें ओले पड़े थे, उस समय उषस्ति चाक्रायण (अपनी भार्या आटिकी के साथ **प्राणक** नामक शूद्रोंके ग्राममें रहता था। उसने (एक) **इभ्य** (=शूद्र) को कुल्माष (=दाल) खाते देख, उससे माँगा। उसने उत्तर दिया—'यह जो मेरे सामने है उसे छोड़ और नहीं है।' 'इसे ही मुझे दे।' उसने दे दिया . ।"

इभ्यने उषस्तिको जब पानी भी देना चाहा, तो उषस्तिने कहा—"यह जूठा पानी होगा।" जिसपर दूसरेने पूछा—क्या यह (कुल्माष) जूठा नहीं है? तो उसने कहा—इसे खाये बिना हम नहीं जी सकेंगे। पानी तो यथेष्ट पा सकते हैं। खाकर बाकीको स्त्रीके लिए ले गया। वह पहिले ही आहार प्राप्त कर चुकी थी। उसने उसे लेकर रख लिया। दूसरे दिन उसी जूठे कुल्माषको खाकर उषस्ति कुरु-राजके यज्ञमें गया, और राजाने उसका बहुत सन्मान किया।

उषस्ति चाक्रायण अब कुरु (मेरठ जिले) से चलकर विदेह (दर्भंगा जिले, बिहार) में आया था, जहाँ कि जनक बहुदक्षिणा यज्ञ कर रहा था। याज्ञवल्क्यको गायें हँकवाते देख उसने पूछा[2]—

'याज्ञवल्क्य! जो साक्षात् अपरोक्ष (=प्रत्यक्ष) ब्रह्म, जो सबके भीतरवाला (=सर्वान्तर) आत्मा है, उसके बारेमें मुझे बतलाओ।"

---

१. छां० १।१० २. बृह० ३।४।१

"यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।"

'कौनसा याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तर है?'

'जो प्राणसे प्राणन करता (=श्वास लेता) है, वह तेरा सर्वान्तर आत्मा है, जो अपानसे. व्यान . . .उदानसे उदानन (=ऊपरको खीचनेकी क्रिया) करता है, वह तेरा सर्वान्तर आत्मा है।'

उषस्ति चाक्रायणने कहा—'जैसे कहे—यह गाय है, यह अश्व है; इसी तरह यह (तुम्हारा) कहा हुआ, जो वही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म, जो सर्वान्तर आत्मा है, उसके बारेमें मुझे बतलाओ।'

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।'

'कौनसा याज्ञवल्क्य ? सर्वान्तर है?'

'दृष्टिके देखनेवालोको तू नही देख सकता, न श्रुति (=शब्द) के सुननेवाले को सुन सकता, न मतिके मनन करनेवालेको मनन कर सकता, न विज्ञाति (=जानने) के जाननेवालोंको विज्ञानन कर सकता। यही तेरा आत्मा सर्वान्तर है, इससे भिन्न तुच्छ (=आर्त) है।'

"तब उषस्ति चाक्रायण चुप हो गया।"

(c) **कहोल कौषीतकेयका सर्वान्तरात्मापर प्रश्न**—तब कहोलने पूछा'—

"याज्ञवल्क्य ! जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सर्वान्तर आत्मा है, उसके बारेमें मुझे बतलाओ।'

'यह तेरा आत्मा सर्वान्तर है।'

'कौनसा याज्ञवल्क्य ! सर्वान्तर है?'

'(वह) जो (कि) भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा, मृत्युसे परे है। इसी आत्माको जानकर ब्राह्मणपुत्र-इच्छा, धन-इच्छा, लोक (=सन्मान) इच्छासे हटकर भिक्षाचारी (=गृहत्यागी) होते हैं। जो कि पुत्र-इच्छा है वही वित्त-इच्छा है, जो वित्त-इच्छा है, वही लोक-इच्छा है; दोनों ही

१. बृह० ३।५।१

इच्छाएं हैं। इसलिए ब्राह्मणको पांडित्यसे विरक्त हो बाल्य (=बालकोंकी भाँति भोलाभालापन) के साथ रहना चाहिए; बाल्य और पाण्डित्यसे विरक्त हो मुनि . . .।. . . मौनसे विरक्त हो, फिर ब्राह्मण (होता है)। वह ब्राह्मण कैसे होता है? जिससे होता है उससे ऐसा ही (होता है) इससे भिन्न तुच्छ है।'

तब कहोल कौषीतकेय चुप हो गया।'

(f) **गार्गी वाचक्नवी (ब्रह्मलोक, अक्षर)**—मैत्रेयीकी भाँति गार्गी और उसके प्रश्न इस बातके सबूत हैं, कि छठी-सातवीं सदी ईसापूर्वमें स्त्रियोंको चौके चूल्हे से आगे बढ़नेका काफ़ी अवसर मिलता था; अभी वह पर्दे और दूसरी सामाजिक जकड़बन्दियोंमें उतनी नहीं जकड़ी गई थीं। गार्गीने पूछा[1]—

'"याज्ञवल्क्य ! जो (कि) यह सब (=विश्व) पानीमें ओत-प्रोत (=ग्रथित) है, पानी किसमें ओतप्रोत है?"

'वायुमें, गार्गी!'

'वायु किसमें ओतप्रोत है?'

'अन्तरिक्ष लोकोंमें गार्गी!'"

आगेके इसी तरहके प्रश्नके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने गन्धर्वलोक, आदित्य-लोक, चन्द्रलोक,[2] नक्षत्रलोक, देवलोक, इन्द्रलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक—में पहिलोंका पिछलोंमें ओतप्रोत होना बतलाया। —ब्रह्मलोकमें सारे ही ओतप्रोत हैं; इसपर गार्गी ने पूछा—

'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है?'

"उस याज्ञवल्क्यने कहा—'मत प्रश्नकी सीमाके पार जा, मत तेरा शिर गिरे। प्रश्नकी सीमा न पारकी जानेवाली देवताके बारेमें तू अतिप्रश्न कर रही है। गार्गी ! मत अति-प्रश्न कर।'

---

१. बृह० ३।६।१

२. आदित्यलोकसे भी चन्द्रलोकको परे और महान् बतलाना बतलाता है, कि ब्रह्मज्ञानीके लिए विज्ञानके द-सके ज्ञान होनेकी कोई खास जरूरत नहीं।

"तब गार्गी वाचक्नवी चुप हो गई।"

इसके बाद उद्दालक आरुणिका प्रश्न है। जो कि प्रश्नकर्त्ता आरुणिके लिए असंगत मालूम होता है। सदियों तक ये सारे ग्रन्थ कंठस्थ करके लाये गये थे, इसलिए एकाध जगह ऐसी भूल संभव है। पालि दीघनिकायके महापरिनिब्बाणसुत्तमें भी कंठस्थ प्रथाके कारण ऐसी गलती हुई है, इसका उल्लेख हमने वहाँ किया है। गार्गीके प्रश्न के उत्तरांशको भी देकर हम आगे याज्ञवल्क्यके विचारोंके जाननेकेलिए किसी विस्मृत प्रश्नकर्त्ताके प्रश्नोत्तरको (जोकि यहाँ आरुणिके नामसे मिल रहा है) देंगे।[1]—

"तब वाचक्नवीने पूछा—

'ब्राह्मण भगवानो! अच्छा तो मैं इन (याज्ञवल्क्य) से दो प्रश्न पूछती हूँ, यदि उन्हें यह, बतला देंगे, तो तुममेसे कोई भी इन्हें ब्रह्मवादमें न जीतेगा।'

(याज्ञवल्क्य—) 'पूछ गार्गी!'

"उसने कहा—'याज्ञवल्क्य! जैसे काशी या विदेह देशका कोई उग्र-पुत्र (=सिपाही) उत्तरी प्रत्यचाको धनुषपर लगा शत्रुको बेधनेवाले वाण-फलवाले दो (तीरो) को हाथमें ले उपस्थित हो; इसी तरह मैं तुम्हारे पास दो प्रश्नोंके साथ उपस्थित हुई हूँ। उन्हें मुझे बतलाओ।'

'पूछ गार्गी!'

"उसने कहा—'याज्ञवल्क्य! जो ये द्यौ (=नक्षत्र) लोक से ऊपर, जो पृथिवीसे नीचे, जो द्यौ और पृथिवीके बीचमें है, जो अतीत, वर्तमान और भविष्य कहा जाता है; किसमें यह ओतप्रोत है?'

'वह आकाशमे ओतप्रोत है।'

"उस (गार्गी) ने कहा—'नमस्ते याज्ञवल्क्य! जो कि तुमने यह मुझे वतलाया। (अब) दूसरा (प्रश्न) लो।'

---

१. बृह० ३।८।१।१-१२

'पूछ गार्गी !'

'आकाश किसमे ओतप्रोत है ?'

'गार्गी ! इसे ही ब्राह्मण अक्षर (=अ-विनाशी) कहते है; (जो कि) न स्थूल, न अणु, न ह्रस्व, न दीर्घ, न लाल, न स्नेह, (=चिकना या आर्द्र) न छाया, न तम, न वायु, न आकाश, न सग, न रस, न गंध, न नेत्र-श्रोत्र-वाणी-मन द्वारा ग्राह्य, न तेज (=अग्नि) वाला, न प्राण, न मुख, न मात्रा (=परिमाण) वाला, न आन्तरिक, न बाह्य है। न वह किसीको खाता है, न उसको कोई खाता है। गार्गी ! इसी अक्षरके शासनमे सूर्य-चन्द्र धारे हुए स्थित हैं, इसी अक्षरके शासनमे द्यौ और पृथिवी . . . मुहूर्त्त रात-दिन, अर्द्ध-मास, मास, ऋतु-सवत्सर . . . धारे हुए स्थित है। इसी अक्षरके शासनमे श्वेत पहाडों (=हिमालय) से पूर्ववाली नदियाँ या पश्चिम वाली दूसरी नदियाँ उस उस दिशामे बहती हैं, इसी अक्षरके शासनमे (हो) गार्गी ! दाताओंकी मनुष्य, यजमानकी देव प्रशंसा करते हैं। . गार्गी ! जो इस अक्षरको बिना जाने इस लोकमे हवन करे, यज्ञ करे, बहुत हजार वर्ष तप तपे उसका यह (सब करना) अन्तवाला ही है। गार्गी ! जो इस अक्षरको बिना जाने इस लोकसे प्रयाण करता है वह अभागा (=कृपण) है, और जो गार्गी ! इस अक्षरको जानकर इस लोकसे प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है। वह यह अक्षर गार्गी ! न-देखा देखनेवाला, न-सुना सुननेवाला, न-मनन-किया मनन करनेवाला, न विज्ञात विजानन करनेवाला है। इससे दूसरा श्रोता . मन्ता . विज्ञाता नही है। गार्गी ! इसी अक्षरमे आकाश ओतप्रोत है। .

"तब वाचक्नवी चुप हो गई।"

गार्गीके दो भागोंमें बँटे संवादमे 'किसमे यह विश्व ओतप्रोत है' इसी प्रश्नका उत्तर है; इससे भी हमारा सन्देह दृढ़ होता है, कि श्रुतिमे स्मरण करनेवालोंकी गलतीसे यहाँ आरुणि—जो कि याज्ञवल्क्यके गुरु थे—के नामसे नया प्रश्न डालनेकी गडबड़ी हुई है।

(g) विदग्ध शाकल्यका देवों की प्रतिष्ठापर प्रश्न—अन्तिम

प्रश्नकर्त्ता[1] विदग्ध शाकल्य था। उसका संवाद वैदिक देवताओंके संबंधमें 'दूरकी कौड़ी' लानेकी तरहका है—

"....कितने देव हैं?"

'तैंतीस।'

'हाँ, कितने देव हैं?'

'छै।'.. .'तीन। . 'दो।' . 'अधा।'

'कौनसे तैंतीस?'

'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, (सब मिलकर) एक्तीस, और इन्द्र तथा प्रजापति—तैंतीस।'

फिर इन वैदिक देवताओंके बारेमे दार्शनिक अटकलबाजी की गई है। फिर अन्तमे शाकल्यने पूछा—

'किसमे तुम और आत्मा प्रतिष्ठित (=स्थित) हो?'

'प्राणमें।'

'किसमे प्राण प्रतिष्ठित है?'

'अपानमें।'. . .'व्यानमे।' . 'उदानमे।'

'किसमे उदान प्रतिष्ठित है?'

'समान मे। वह यह (=समान आत्मा) अ-गृह्य=नही ग्रहण किया जा सकता, अ-शीर्य=नहीं शीर्ण हो सकता, अ-संग=नही लिप्त हो सकता तुझसे मैं उस औपनिषद (=उपनिषद् प्रतिपादित, अथवा रहस्यमय) पुरुषके बारेमे पूछता हूँ, उसे यदि नहीं कहेगा तो तेरा शिर गिर जायेगा।' "शाकल्यने उसे नही समझा, (और) उसका शिर गिर गया। (मराता) समझ दूसरे हटानेवाले उसकी हड्डियोंको ले गये।"

ब्रह्माके सवादमें शाकल्यका इस तरह शोचनाय अन्त हो जानेपर याज्ञवल्क्यने कहा—

'ब्राह्मण भगवानो! आपमेसे जिसकी इच्छा हो, मुझसे प्रश्न करे,

---

१. बृह० ३।९।१

या सभी मुझसे प्रश्न करें। आपमेंसे जो चाहें उससे मैं प्रश्न करूँ या आपमें सबसे मैं प्रश्न करूँ।"

"उन ब्राह्मणोंकी हिम्मत नहीं हुई।"

(h) **अज्ञात प्रश्नकर्त्ताका अन्तर्यामीपर प्रश्न**—आरुणिके नामसे किये गये प्रश्नके कर्त्ताका असली नाम हमारे लिए चाहे अज्ञात हो, किन्तु याज्ञवल्क्यके दर्शनके जानने के लि[illegible] इन महत्वपूर्ण है, इसलिए उसका भी संक्षेप देना जरूरी है[1]—

"उसे मैं जानता हूँ, याज्ञवल्क्य! यदि उस सूत्र और अन्तर्यामीको बिना जाने ब्राह्मणोंकी गायोंको हँकायेगा तो तेरा शिर गिर जायगा।'

'मैं जानता हूँ गौतम! उस सूत्र (=धागे) को उस अन्तर्यामीको।

'मैं जानता हूँ, (कहता है, तो) जैसे तू जानता है, वैसे बोल. . . .।'

"उस (=याज्ञवल्क्य) ने कहा—'वायु हे गौतम! वह सूत्र-वायु है। सूत्रसे गौतम! यह लोक, परलोक और सारे भूत गुथे हुए हैं। इसीलिए गौतम! मरे पुरुषके लिए कहते हैं—वायुसे इसके अंग छूट गये। . . . .।'

'यह ऐसा ही है याज्ञवल्क्य! अन्तर्यामीके बारेमे कहो।'

'जो पृथिवीमे रहते पृथिवीसे भिन्न हैं, जिसे पृथिवी नही जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवीको अन्दरसे नियमन करता (=अन्तर्यामी) है, यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।'

'जो पानीमे . .आगमें . . .अन्तरिक्षमें . .वायुमें . .द्यौमें आदित्य मे . . दिशाओं में. . . .चन्द्र-तारो मे . . .आकाश में. . . .तम (=अन्धकार) मे. . . तेजमें. . सारे भूतोमें. . . प्राणमें. . . .वाणीमें नेत्रमे . . .श्रोत्रमे. . .मन में. . . चर्म (=त्वग्-इन्द्रिय) में. . .विज्ञान (=जीव) में. . .(और) जो वीर्य (=रेतस्) में रहते वीर्यसे भिन्न हैं, जिसे वीर्य नही जानता, जिसका वीर्य शरीर है, जो वीर्यको अन्दरसे नियमन

---

[1] बृह० ३।७।१-२३

करता (=अन्तर्यामी) है, यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत (=अवि-नाशी) है। वह अ-देखा देखनेवाला० अ-विज्ञात विजानन करनेवाला है। इससे दूसरा श्रोता. . मन्ता . विज्ञाता नहीं है। यही तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है। इससे अन्य (सभी) तुच्छ हैं।"

(ख) जनकको उपदेश—सभाके बाद भी याज्ञवल्क्य और दर्शन-प्रेमी जनक (=राजा) विदेहका समागम होता रहा। इस समागममें जो दार्शनिक वार्तालाप हुए थे, उसको **बृहदारण्यकके चौथे अध्यायमें** सुरक्षित रखा गया है।—

"जनक वैदेह बैठा हुआ था, उसी समय याज्ञवल्क्य आ गये। उनसे (जनकने) पूछा—

'कैसे आये. पशुओंकी इच्छासे या (किसी) सूक्ष्म वात (अण्वन्त) के लिए ?'

'दोनो हीके लिए सम्राट् ! जो कुछ किसीने तुझे बताया हो, उसे सुनना चाहता हूँ।'

'मुझसे **जित्वा शैलनिने** कहा था—वाणी ब्रह्म है।'

'जैसे माता-पिता आचार्यवाला (=शिक्षित पुरुष) बोले, उसी तरह शैलनिने यह कहा—वाणी ब्रह्म है। . . क्या उसने तुझे उसका आयतन (=स्थान) प्रतिष्ठा बतलाई ?'

' . . नहीं बतलाई।'

'वह एकपाद (एक पैरवाला) है सम्राट् !'

'तो (उसे) मुझे बतलाओ याज्ञवल्क्य !'

'वाणी आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है, प्रज्ञा (मान) करके इसकी उपासना करे।'

'प्रज्ञा क्या है याज्ञवल्क्य !'

'वाणी ही सम्राट् ! वाणीसे ही सम्राट् ! बन्धु (=ब्रह्म) जाना

१. तुलना करो "दीघ-निकाय" (हिन्दी-अनुवाद, नामसूची)

जाता है; ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वांगिरस, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद् श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, आहुति, खान-पान, यह लोक, परलोक, सारे भूत वाणीसे ही जाने जाते हैं। सम्राट्! वाणी परमब्रह्म है। जो ऐसे जानते हुए इसकी उपासना करता है, उसको वाणी नही त्यागती, सारे भूत उसे (भोग) प्रदान करते हैं, (वह) देव बन देवोंमें जाता है।'

"जनक वैदेहने कहा—'(तुम्हें) हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'पिता मेरे मानते थे, कि बिना अनुशासन (=उपदेश) के (दान) नहीं लेना चाहिए। जो कुछ किसीने तुझे बतलाया हो, उसीको मैं सुनना चाहता हूँ।'

'मुझसे उदङ्क शौल्वायनने कहा था—प्राण ही ब्रह्म है।'

'जैसे माता-पिता आचार्यवाला बोले, उसी तरह शौल्वायनने कहा—प्राण ही ब्रह्म है। क्या उसने....प्रतिष्ठा बतलाई?'

'...नहीं बतलाई।'....

'हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

(जनक—) 'मुझसे बर्कु वार्ष्णने कहा—नेत्र ही ब्रह्म है।'....

'मुझसे गर्दभीविपति भारद्वाजने कहा—श्रोत्रही ब्रह्म है।'....

'मुझसे सत्यकाम जाबालने कहा—मन ही ब्रह्म है।'

'मुझसे विदग्ध शाकल्यने कहा—हृदय ही ब्रह्म है'....

(जनक—) 'हजार हाथी-साँड देता हूँ।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—पिता मेरे मानते थे कि बिना अनुशासनके दान नहीं लेना चाहिए।'

और दूसरी बार जानेपर[1] "जनक वैदेहने दाढ़ीपर (हाथ) फेरते हुए कहा—'नमस्ते हो याज्ञवल्क्य! मुझे अनुशासन (=उपदेश) करो।'

"उस (=याज्ञवल्क्य) ने कहा—'जैसे सम्राट्! बड़े रास्तेपर

---

१. बृह० ४।२।१

जानेवाला (यात्री) रथ या नाव पकड़ता है, इसी तरह इन उपनिषदों (=तत्त्वोपदेशों) से तेरे आत्माका समाधान हो गया है। इस तरह वृन्दा-रक (=देव), आढ्य (=धनी) वेद-पढ़ा, उपनिषत्-सुना तू यहाँसे छूटकर कहाँ जायेगा?'

'भगवन्! मैं. . .नहीं जानता कि कहाँ जाऊँगा।'

'अच्छा तो जहाँ तू जायेगा उसे मैं तुझे बतलाता हूँ।'

'कहे भगवन्!'"

इसपर याज्ञवल्क्यने आँखों और हृदयसे हजार होकर ऊपरको जाने वाली केश-जैसी सूक्ष्म हिता नामक नाडियोंका जिक्र करते प्राणको चारों ओर व्यापक बतलाया और कहा —

'वह यह 'नेति नेति' (=इतना ही नहीं) आत्मा है, (जो) अगृह्य= नहीं ग्रहण किया जा सकता अ-संग नहीं लिप्त हो सकता। . . . जनक! (अब) तू अभयको प्राप्त हो गया।'

"जनक वैदेहने कहा—'अभय तुम्हें प्राप्त हो, याज्ञवल्क्य! जो कि हमें तुम अभयका ज्ञान करा रहे हो। नमस्ते हो, यह विदेह (=देश) यह मैं (तुम्हारा) हूँ॥२॥"

(a) **आत्मा, ब्रह्म और सुषुप्ति**—"जनक वैदेहके पास याज्ञवल्क्य गए। जब तक वैदेह और याज्ञवल्क्य अग्निहोत्रमें एकत्रित हुए, (तब) याज्ञवल्क्यने जनकको वर दिया। उसने इच्छानुसार प्रश्नका वर माँगा, उसने उसे दिया। सम्राट्ने ही पहिले पूछा —

'याज्ञवल्क्य! किस ज्योतिवाला यह पुरुष है?'

'आदित्य-ज्योतिवाला सम्राट्! आदित्य-ज्योतिसे ही वह. . . .कर्म करता है. . . .।'

'हाँ, ऐसा ही है याज्ञवल्क्य! आदित्यके डूबनेपर . . .किस ज्योति वाला. ?'

'चन्द्र-ज्योतिवाला. . . . . 'अग्नि-ज्योतिवाला. . .'. . .

'वाक्. . . . .

'आत्म-ज्योतिवाला सम्राट्! आत्मा (रूपी) ज्योतिसे ही वह.... कर्म करता है....।'

'कौनसा है आत्मा?'

'जो यह प्राणोंमें विज्ञानमय, हृदयमें आन्तरिक ज्योति (=प्रकाश) पुरुष है, वह समान हो दोनों लोकोंमें संचार करता है. ..वह स्वप्न (देखनेवाला) हो इस लोकके मृत्युके रूपोंको अतिक्रमण करता है। वह पुरुष पैदा हो, शरीरमें प्राप्त हो पापसे लिप्त होता है, उत्क्रान्ति करते मरते वक्त पापको त्यागता है। इस पुरुषके दो ही स्थान होते हैं—यह और परलोक स्थान, तीसरा सन्धिवाला स्वप्नस्थान है। उस सन्धिस्थानमें रहते (वह) इन दोनों स्थानोंको देखता है—इस और परलोक स्थानको। ....पाप और आनन्द दोनोंको देखता है। वह जब सोता है, इस लोककी सारी ही मात्राको ले....स्वयं निर्माण कर, अपनी प्रभा अपनी ज्योतिके साथ प्रसुप्त होता है, वहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है। न वहाँ (स्वप्नमे) रथ होते न घोड़े (=रथ-योग) न रास्ते; किन्तु (वह) रथो, रथयोगों, रास्तोंको सृजता है... आनन्दो को सृजता है। न वहाँ घर, पुष्करिणियाँ, नदियाँ होती, किन्तु ...(इन्हें) वह सृजता है।.... जिन्हें जागृत (-अवस्थामें) देखता है, उन्हें स्वप्नमें भी (देखता है); इस तरह वहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति होता है।'

'सो मैं भगवान्को (और) हजार देता हूँ, इसके आगे (भी) विमोक्षके बारेमें बतलावें।'....

"जैसे कि बड़ी मछली (नदीके) दोनों किनारोंमें संचार करती है ...., इसी तरह यह पुरुष स्वप्न और बुद्ध (=जागृत) दोनों छोरोंमें संचार करता है। जैसे आकाशमें बाज या गरुड़ उड़ते (उड़ते) थककर पंखोंको इकट्ठाकर घोंसलेका ही (आश्रय) पकड़ता है, इसी तरह यह पुरुष उस अन्त (=छोर) की ओर धावन करता है, जहाँ सोया हुआ न किसी काम (=भोग) की कामना करता है, न किसी स्वप्नको देखता है। उसकी वह केश-जैसी (सूक्ष्म) हजारों फूट-निकली नील-पिंगल-हरित-

लोहित (रस) से पूर्ण हिता नामक नाडियाँ है. . .जिनमें. . .गड्ढे में (गिरते) जैसा गिरता है जहाँ देवकी भाँति राजाकी भाँति—मैं ही यह सब कुछ हूँ, (मैं ही) सब हूँ—यह मानता है; वह इसका परम लोक है।. . सो जैसे प्रिय स्त्रीसे आलिंगित हो (पुरुष) न बाहरके बारेमें कुछ जानता, न भीतरके बारेमें; ऐसे ही यह पुरुष प्राज्ञ-आत्मा (=ब्रह्म) से आलिंगित हो न बाहरके बारे मे कुछ जानता, न भीतरके बारेमे। वह-इसका रूप . है। यहाँ पिता अ-पिता हो जाता है, माता अ-माता, लोक अ-लोक, देव अ-देव, वेद अ-वेद हो जाते है। यहाँ चोर अ-चोर, गर्भघाती अ-गर्भघाती, चडाल अ-चडाल, पोल्कस (=म्लेच्छ), अ-पोल्कस, श्रमण अ-श्रमण, तापस अ-तापस, पुण्यसे रहित, पापसे रहित होता है। उस समय वह हृदयके सारे शोकोंसे पार हो चुका होता है। यदि वहाँ उसे नहीं देखता, तो देखने हुए ही उसे नही देखता, अविनाशी होनेसे द्रष्टा (=आत्मा) की दृष्टिका लोप नही होता। उससे विभक्त (=भिन्न) दूसरा नही है, जिसे कि वह देखता। .जहाँ दूसरा जैसा हो, वहाँ दूसरा दूसरेको देख, दूसरा दूसरेको सूँघे .. चखे.. .बोले . . .सुने . . . संयुक्त हो . . .छूये. . . विजानन करे। द्रष्टा एक अद्वैत होता है, यह है ब्रह्मलोक सम्राट् !"

(b) ब्रह्मलोक-आनन्द—ब्रह्मलोकमें कितना आनन्द है, इसको समझाते हुए याज्ञवल्क्यने कहा—

"मनुष्योंमें जो सतुष्ट समृद्ध, दूसरोंका अधिपति न (होते भी) सब मानुष भोगोंसे सम्पन्न होता है, उसका यह (आनन्द) मनुष्योंका परमानंद है। १०० मनुष्योंके जो आनन्द है, वह एक पितरोंका. . . आनन्द. . . .",आगे—

१०० पितर	आनन्द	=१ गधर्व-लोक आनन्द
१०० गन्धर्वलोक	,,	=१ कर्मदेव आनन्द
१०० कर्मदेव	,,	=१ आजानदेव आनन्द
१०० आजानदेव	,,	=१ प्रजापति-लोक आनन्द
१०० प्रजापति-लोक	,,	=१ ब्रह्म-लोक आनन्द

फिर उपसंहार करते—

" 'यही परम-आनन्द ही ब्रह्मलोक है, सम्राट्!'

'सो मैं भगवानको सहस्र देता हूँ। इससे आगे (भी) विमोक्षकेलिए ही बतलाओ।'

"यहाँ याज्ञवल्क्यको भय होने लगा— राजा मेधावी है, इन सब (की बात करने) से मुझे रोक दिया।' (पुनः) वही यह (आत्मा) इस स्वप्नके भीतर रमण, विचरण कर पुण्य और पापको देखकर फिर नियमानुसार . जागृत अवस्थाको दौडता है।....जैसे राजाको आते देख उग्र-प्रत्येनस् (=सैनिक), सूत (=सारथी) ग्रामणी (=गाँवके मुखिया) अन्न-पान-निवास प्रदान करते हैं—'यह आ रहा है', 'यह आता है', इसी तरह इस तरहके ज्ञानीकेलिए सारे भूत (=प्राणी) प्रदान करते हैं—यह ब्रह्म आ रहा है—यह आता है।. . "

(ग) **मैत्रेयीको उपदेश**—याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। याज्ञवल्क्यने घर छोड़ते वक्त जब सम्पत्तिके बँटवारेका प्रस्ताव किया, तो मैत्रेयीने अपने पतिसे कहा—

" 'भगवन्। यदि वित्तसे पूर्ण यह सारी पृथिवी मेरी हो जाय, तो क्या उससे मैं अमृत होऊँगी अथवा नहीं?'

'नहीं, जैसे सम्पत्तिवालोंका जीवन होता है, वैसा ही तेरा जीवन होगा, अमृतत्व (=मुक्तपद) की तो आशा नहीं है।'

उस (=मैत्रेयी) ने कहा—'जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती, उसे (ले) क्या करूँगी। जो भगवान् जानते हैं, वही मुझसे कहें।'

"याज्ञवल्क्यने कहा—'हमारी प्रिया हो आपने सबसे प्रिय (वस्तु) माँगी, अच्छा तो आपको यह बतलाता हूँ। 'मेरे वचनको ध्यानमें करो।' और उसने कहा—'अरे! पतिकी कामनाकेलिए पति प्रिय नहीं होता, अपनी कामना (=मोक्ष) केलिए पति प्रिय होता है। अरे! भार्याकी कामनाके लिए भार्या प्रिया नहीं होती, अपनी कामनाके लिए भार्या प्रिय होती है।

. पुत्र ..वित्त ...पशु....ब्रह्म ....क्षत्र....लोक....

देव. . .वेद . .भूत. . . .सर्वकी कामनाकेलिए सर्व (=सब वस्तुएँ) प्रिय नही होता, अपनी कामनाकेलिए सर्व प्रिय होता है! अरे! आत्मा (=आप) ही द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य, निदिध्यास (=ध्यान) करने योग्य है। मैत्रेयि! आत्माके दृष्ट, श्रुत, मत, विज्ञात हो जानेपर यह सब (=विश्व) विदित हो जाता है। ब्रह्म उसे हटा देता है, जो आत्मासे अलग ब्रह्मको जानता है क्षत्र . . लोक. . . .देव. . . .वेद

भूत (=प्राणी) . सर्व . । यह जो आत्मा है वही ब्रह्म, क्षत्र . लोक देव . .वेद . भूत. . .सर्व है। . . . .जैसे सभी जलोका समुद्र एकायन (=एकघर) है, ऐसे ही सभी स्पर्शोंका त्वक . गधोकी नासिका रसोकी जिह्वा . रूपोंका नेत्र. . . शब्दोका श्रोत्र, सकल्पोका मन . विद्याओंका हृदय . . .कर्मोका हाथ आनन्दोका उपस्थ (=जनन-इन्द्रिय) . विसर्गों (=त्यागों) की गुदा मार्गोंके पैर सभी वेदोंकी वाणी एकायन है। सो जैसे सेंधा (=नमक) पूर्ण होता है बाहर भीतर (कहीं) बिना छोड़े सारा (लवण-)रसपूर्ण ही है, इसी तरह अरे! मैं आत्मा बाहर भीतर (कहीं) न छोड़े **प्रज्ञानपूर्ण** (=प्रज्ञानघन) ही हूँ। इन (शरीरके) भूतोंसे उठकर उनके बाद ही विनष्ट हो जाता है, अरे! मरकर (प्रेत्य) सज्ञा नहीं है (यह मै) कहता हूँ।'

मैत्रेयीने कहा—'यही मुझे भगवान्ने मोहमे डाल दिया, मैं इसे नही समझ सकी।

"उस (=याज्ञवल्क्य) ने कहा—'अरे! मैं मोह (की बात) नहीं कहता। अविनाशी है अरे! यह आत्मा, उच्छिन्न न होनेवाला है। जहाँ द्वैत हो वहाँ (उनमेसे) एक दूसरेको देखता. . .सूँघता. . . .चखता. . . बोलता सुनता . .मनन करता. . . .छूता . .विजानन करता है; जहाँ कि सब उसका आत्मा ही है, वहाँ किससे किसको देखे. . . . विजानन करे। सो यह 'नेति नेति' आत्मा अगृह्य=नही ग्रहण किया जा सकता ० अ-सग=नही लिप्त हो सकता है। . . . .मैत्रेयी! यह

(जो स्वयं) सबका विज्ञाता (=जाननहार) है, उसे किससे जाना जाये, यह मैत्रेयी! तुझे अनुशासना कह दी गई। अरे! इतना ही अमृतत्व है।' यह कह याज्ञवल्क्य चल दिये।"

याज्ञवल्क्यके इन उपदेशोंसे पता लगता है, कि यद्यपि अभी भी जगत्के प्रत्याख्यानका सवाल नहीं उठा था, और न पीछेके बोधाचारों और शंकरानुयायियोंकी भाँति "ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या" तक बात पहुँची थी, तो भी सुषुप्ति और मुक्तिमें याज्ञवल्क्य ब्रह्मसे अतिरिक्त किसी और तत्त्वका भान होना है, इसे स्वीकार नहीं करते थे। आनंदोंकी सीमा ब्रह्म या ब्रह्मलोक है—वह सिर्फ अभावात्मक गुणोंका ही धनी नहीं है। ब्रह्म सबके भीतर है और सबको अन्दरसे नियमन करता (=अन्तर्यामी) है। यद्यपि अन्तमें याज्ञवल्क्यने घर-बार छोड़ा, किन्तु सन्तानरहित एक बूढ़के तौर पर। घर छोड़ते वक्त उनका ब्रह्मज्ञान (=दर्शन) पहिलेसे ज्यादा बढ़ गया था, इसकी संभावना नहीं है। पहिले जीवनमें धन और कीर्ति दोनोंका उन्होंने खूब संग्रह किया यह हम देख चुके हैं। याज्ञवल्क्यके समयमें कर्म-काडपर जबर्दस्त संदेह होने लगा था, यज्ञमें लाखों खर्च करनेवाले क्षत्रियोंके मनमें पुरोहितोंकी आमदनीके संबंध में खतरनाक विचार पैदा हो रहे थे। साथ ही गृहत्यागी श्रमण और तापस साधारण लोगोंको अपनी तरफ खींच रहे थे। ऐसी अवस्थामें याज्ञवल्क्य और उनके गुरु आरुणिकी दार्शनिक विचारधाराने ब्राह्मणोंके नतृत्वको बचानेमें बहुत काम किया। (१) पुराने ब्राह्मण इन बातोंपर डटे हुए थे—यज्ञसे लौकिक पारलौकिक सारे सुख प्राप्त होते हैं। (२) ब्राह्मण-विरोधी-विचार-धारा कहती थी—यज्ञ, कर्मकांड फजूल हैं, इन्हें लोकमें कितनी ही बार असफल होते देखा गया है, ब्राह्मण अपनी दक्षिणाके लोभसे परलोकका प्रलोभन देते हैं। (३) इसपर आरुणि याज्ञवल्क्य का कहना था—ज्ञानके बिना कर्म बहुत कम फल देता है। ज्ञान सर्वोच्च साधन है, उससे हम उस अक्षर ब्रह्मके पास जाते हैं, जिसका आनंद सभी आनंदोंकी चरम सीमा है। इस ब्रह्मलोकको हम नहीं देखते, किन्तु वह है, उसकी हल्कीसी झाँकी हमें गाढ़ निद्रा

(सुषुप्ति) मे मिलती है जहाँ—

"जब सो गये हो गये बराबर।
कब शाहो-गदामें फर्क पाया॥"

इन्द्रिय-अगोचर इस ब्रह्मलोकके ख्यालको मजबूत कर देनेपर यज्ञ-फल भोगनेवालेकेलिए देवलोककी सत्ताको मनवानेका भी काम चल जाता है। सर्व-श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य यज्ञके वेद (यजुर्वेद) के मुख्य आधार तथा यजुर्वेदके कर्मकाण्डीय ब्राह्मण—शतपथ ब्राह्मण—के महान् कर्ता है। यज्ञरूपी अदृढ प्लवोंको उन्होंने सबसे अधिक दृढता प्रदान की। उपनिषदके इन ऋषियोंने अपने सारे ब्रह्मज्ञानके साथ पुनर्जन्म, परलोककी बात छोडी नही। सामाजिक दृष्टिसे देखनेपर पुरोहित वर्गके आर्थिक स्वार्थपर जो एक भारी सकट आया था, उसे यज्ञोकी प्रथाको पूर्ववत प्रधान स्थान दिलाकर तो नही, बल्कि स्वय गुरु बनने तथा श्रद्धा-दक्षिणा पानेका पहिलेसे भी मजबूत दूसरा रास्ता—ब्रह्मज्ञान-प्रचार—निकालकर हटा दिया। अब जहाँ ब्राह्मण पुरोहित बन पुराने यज्ञोंमे श्रद्धा रखनेवालेकी सन्तुष्टि कर्मकाड द्वारा कर सकते थे, वहाँ ब्राह्मण ज्ञानी बुद्धिवादियोंको ब्रह्म ज्ञानसे भी सन्तुष्ट कर सकते थे।[1]

४—सत्यकाम जाबाल (६५० ई० पू०)

सत्यकाम जाबालका दर्शन जैसा हम छान्दोग्यमे पाते हैं और उसके प्रकट करनेका जो स्थूलसा ढग है, उससे वह समय याज्ञवल्क्यसे पहलेवाली पीढीका मालूम होता है। याज्ञवल्क्यके यजमान जनक वैदेह[2] ने सत्यकामसे अपने वार्तालापका जिक्र किया है, इस से याज्ञवल्क्यके समयमे उसका होना सिद्ध होता है। अपने गुरु हारिद्रुमत गौतमके अतिरिक्त गोश्रुति वैयाघ्र-पद्य[3] का नाम सत्यकामके साथ आता है, वैयाघ्रपद्य उसके शिष्योमे था।

---

१ इस कालकी सामाजिक व्यवस्थाके लिए देखो मेरी "बोल्गासे गंगा" में "प्रवाहण जैवलि", पृष्ठ ११८-३४ २. बृह० ४।१।६ ३. छां० ५।२।३

(१) **जीवनी**—सत्यकाम जाबालके जीवनके बारेमें उपनिषद्से हमें इतना ही मालूम होता है[1]—

"सत्यकाम जाबालने (अपनी) माँ जबालासे पूछा—'मैं ब्रह्मचर्य-वास करना चाहता हूँ. . . . . मेरा गोत्र क्या है?'

'बहुतोंके साथ संचरण-परिचारण करती जवानीमें मैंने तुझे पाया। इसलिए मैं नहीं जानती कि तेरा क्या गोत्र है। जबाला तो नाम मेरा है, सत्यकाम तेरा नाम, इसलिए सत्यकाम जाबाल ही तू कहना।'

"तब वह हारिद्रुमत गौतमके पास जाकर बोला—'भगवानके पास ब्रह्मचर्यवास करना चाहता हूँ, भगवान्‌की शिष्यता मुझे मिले।'

"उसने पूछा—'क्या है सौम्य! तेरा गोत्र?'

"उसने कहा—'मैं यह नहीं जानता भो:! माँसे पूछा, उसने मुझसे कहा—बहुतोंके साथ संचरण परिचारण करती जवानीमें मैंने तुझे पाया। . . . सत्यकाम जाबाल ही तू कहना। सो मैं सत्यकाम जाबाल हूँ भो:!'

'उसने (=गौतमने) कहा—'अ-ब्राह्मण ऐसे (साफ-साफ) नहीं कह सकता। सौम्य! समिधा ला, तेरा उपनयन (=शिष्य बनाना) करूँगा, तू सत्यसे नहीं हटा।"

(२) **अध्ययन**—". . उपनयनके बाद दुबली-पतली चार सौ गौओंको हवाले कर (हारिद्रुमत गौतमने) कहा—'सौम्य! इनके पीछे जा।'

'हजार हुए बिना नहीं लौटना।' उसने कितने ही वर्ष (=वर्षगण) प्रवास किये, जब कि वह हजार हो गई, तब ऋषभ (=साँड़ने) उसके पास आकर (बात) सुनाई—'हम हजार हो गए, हमें आचार्य-कुलमें ले चलो। और मैं ब्रह्मका एक पाद तुम्हें बतलाता हूँ।'

'बतलायें मुझे भगवन्!'

'पूर्व दिशा एक कला, पश्चिम दिशा एक कला, दक्षिण दिशा एक कला, उत्तर दिशा एक कला—यह सौम्य! ब्रह्मका प्रकाशवान् नामक चार

[1] छां० ४।४।१–५

कलावाला पाद है। (अगला) पाद अग्नि तुझे बतलायेगा।'

"दूसरे दिन उसने गायोंको हाँका। जब संध्या आई, तो आग को जगा गायोंको घेर, समिधाको रखकर आगके सामने बैठा। उसे अग्निने आकर कहा—'सत्यकाम!'

'भगवन्!'

'ब्रह्मका एक पाद मैं तुझे बतलाता हूँ।'

'बतलाये मुझे भगवन्!'

'पृथिवी एक कला, अन्तरिक्ष. . .द्यौ. . .समुद्र एक कला है। यह सोम्य—ब्रह्मका अनन्तवान् नामक चार कलावाला पाद है। . . .हंस तुझे (अगला) पाद बतलायेगा।'

". . .'अग्नि . . सूर्य चन्द्र, विद्युत् . कला है। यह . . . .ज्योतिष्मान् नामक . .पाद है। . . .मद्गु तुझे (अगला) पाद बतलायेगा।'

". .'प्राण . . .चक्षु . . .श्रोत्र मन .कला है। यह . . . .आयतन (=इन्द्रिय) वान् नामक . . पाद है।'

"वह आचार्यकुलमें पहुँच गया। आचार्यने उससे कहा—'सत्यकाम!'

'भगवन्!'—उत्तर दिया।"

'ब्रह्मवेत्ताकी भाँति सौम्य! तू दिखाई दे रहा है, किसने तुझे उपदेश दिये?'

'(वह) मनुष्योंमेंसे नहीं थे। भगवान् ही मुझे इच्छानुसार बतला सकते हैं। भगवान्-जैसोंसे सुना है, आचार्यके पाससे जानी विद्या ही उत्तम प्रयोजन (=समाधि)को प्राप्त करा सकती है।'

"(आचार्यने) उससे कहा—'यहाँ छूटा कुछ नहीं है।' "

इससे इतना ही पता लगता है कि गौतमने सत्यकामसे कई वर्षों गायें चरवाई, वहीं चराते वक्त पशुओं और प्राकृतिक वस्तुओंसे उसे दिशाओं, लोकों, प्राकृतिक शक्तियों और इन्द्रियोंसे व्याप्त प्रकाशमान्, ज्योतिःस्वरूप इन्द्रिय (=चेतना)-प्रेरक ब्रह्मका ज्ञान हुआ।

(३) दार्शनिक विचार—सत्यकाम ब्रह्मको व्यापक, अनन्त, चेतन, प्रकाशवान् मानता था, यह ऊपर आ चुका। जनकको उसने "मन ही ब्रह्म"[1] का उपदेश किया था, अर्थात् ब्रह्म मनकी भाँति चेतन है। उसके दूसरे दार्शनिक विचार (आँखमेंका पुरुष ही ब्रह्म है आदि) उस उपदेशसे जाने जा सकते हैं, जिसे कि उसने अपने शिष्य उपकोमल कामलायनको दिया था।[2]—

"उपकोसल कामलायनने सत्यकाम जाबालके पास ब्रह्मचर्यवास (=शिष्यता) किया। उसने गुरुकी (पूजा की) अग्नियोंकी बारह वर्ष तक सेवा (=परिचरण) की। वह (=सत्यकाम) दूसरे शिष्योंका समावर्त्तन (शिक्षा समाप्तिपर विदाई) कराते भी इसका समावर्त्तन नहीं कराता था। उससे पत्नीने कहा—

'ब्रह्मचारीने तपस्या की, अच्छी तरह अग्नि-परिचरण किया। क्या तुम्हें अग्नियोंने इसे बतलानेको नहीं कहा?'

"(सत्यकाम) बिना बतलाये ही प्रवास कर गया। उस (=उपकोसल) ने (चिंता-) व्याधिके मारे खाना छोड़ दिया। उसे आचार्य-जायाने कहा—

'ब्रह्मचारिन्! खाना खा, क्यों नहीं खाता?'

'इस पुरुषमें नाना प्रकारकी बहुतसी कामनाएँ हैं। मैं (मानसिक) व्याधियोंसे परिपूर्ण हूँ। (अपनेको) नष्ट करना चाहता हूँ।"

इसके बाद जिन अग्नियोंकी उसने सेवा की थी, उन्होंने उसे उपदेश दिया—

"....(प्राण ब्रह्म है....प्राणको आकाश भी कहते हैं।... जो यह आदित्यमें पुरुष (=आत्मा) है, वह मैं (=सोऽहम्) हूँ, वही मैं हूँ।....जो यह चन्द्रमामें पुरुष (=आत्मा) है, वह मैं (=सोऽहम्) हूँ, वही मैं हूँ।....जो यह विद्युत्में पुरुष है वह मैं हूँ, वही मैं हूँ।...."

साथ ही अग्नियोंने यह भी कहा—'उपकोसल! यह विद्या तू हमसे जान, (बाकी) आचार्य तुझे (इसकी) गति बतलायेगा।'

---

१. बृह० ४।१।६	२. छां० ४।१०।१

आचार्यने आनेपर पूछा—'उपकोसल!'

'भगवन्!'

'सोम्य! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताकी भाँति दिखलाई दे रहा है। किसने तुझे उपदेश दिया।'

'कौन मुझे उपदेश देता भो!'

पीछे और पूछनेपर उपकोसलने बात बतलाई, तब सत्यकामने कहा—

'सोम्य! तुझे लोकोंके बारेमें ही उन्होंने कहा, मैं तुझे वह (ज्ञान) बतलाऊँगा, कमल-पत्रमें पानी नहीं लगनेकी तरह ऐसा जानने वालेमें पापकर्म नहीं लगता।'

कहें भगवन्।

'यह जो आँखमें पुरुष दिखलाई पड़ता है यह आत्मा है। यह अमृत, अभय है, यह ब्रह्म है।'''

५–सयुग्वा (=गाड़ीवाला) रैक्व

सयुग्वा रैक्व उपनिषत्कालके प्रसिद्ध ही नहीं आरम्भिक ऋषियोंमें मालूम होता है। बैलगाड़ी साथ जहाँ-तहाँ आप पागलोंकी भाँति घूमते रहना, तथा राजाओं और सम्पत्तिकी परवाह न करना—एक नये प्रकारके विचारकोंका नमूना पेश करता था। यूनानमें दियोजेन[1] (४१२-३२३ ई० पू०)—जो कि चन्द्रगुप्त मौर्यके राज्यारोहणके साल मरा—भी इसी तरहका एक फक्कड़ दार्शनिक हुआ था, अपने स्नान-भाजनमें बैठे रहते उपदेश देना उसका मशहूर है। भारतमें इस तरहके फक्कड़—चाहे उनमें विचारोंकी मौलिकता हो या न हो—अभी भी सिद्ध महात्मा समझे जाते हैं। याज्ञवल्क्यने जो ब्रह्मज्ञानीको बालककी भाँति रहनेकी बात[2] कही थी, वह सयुग्वा जैसों हीके आचरणसे आकृष्ट होकर कही मालूम होती है। इतना होते भी सयुग्वा अध्यात्मवादी नहीं ठेठ भौतिकवादी दार्शनिक

१ Diogenes　　२. बृह०

था, वह संसारका मूल उपादान याज्ञवल्क्यके समकालीन अनक्सिमनस्[1] (लगभग ५८८-५२४ ई० पू०) की भाँति वायुको मानता था।

रैक्वका जीवन और उपदेश—सिर्फ छान्दोग्यमें और उसमें भी सिर्फ एक स्थानपर सयुग्वा रैक्वका जिक्र आया है—[2]

"(राजा) **जानश्रुति पौत्रायण** श्रद्धासे दान देनेवाला, बहुत दान देने-वाला था, (अतिथियोंके लिए) बहुत पाक (बाँटनेवाला) था। उसने सर्वत्र आवसथ (=पथिकशालाएँ, धर्मशालाएँ) बनवाई थीं, (इस ख्यालसे कि) सर्वत्र (लोग) मेरा ही (अन्न) खायेंगे। हंस रातको उड़ रहे थे। उस समय एक हंसने दूसरे हंससे कहा—

'हो-हो-हि भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! जानश्रुति पौत्रायणकी भाँति (यहाँ) दिनकी ज्योति (=अग्नि) फैली हुई है, सो छू न जाना, जल न जाना।'

"उसे दूसरेने उत्तर दिया—'कम्बर ! तू तो ऐसा कह रहा है, जैसे कि वह सयुग्वा रैक्व हो।'

'कैसा है सयुग्वा रैक्व ?'

'जैसे विजेताके पास नीचेवाले जाते हैं, इसी तरह प्रजाएं जो कुछ अच्छा कर्म करती हैं वह उस (=रैक्व)के ही पास चले आते हैं. . . .।'

"जानश्रुति पौत्रायणने सुन लिया। उसने बड़े सबेरे उठते ही क्षत्ता (=सेक्रेटरी)से कहा—'अरे प्रिय ! सयुग्वा रैक्वके बारेमें बतलाओ न ?'

'कैसा सयुग्वा रैक्व ?'

'जैसे विजेताके पास नीचेवाले जाते हैं. . . .।'

"ढूँढ़नेके बाद क्षत्ताने कहा—'नहीं पा सका।'

"(फिर) जहाँ ब्राह्मणोंको ढूँढ़ा जा सकता है, वहाँ ढूँढ़ो।"

"वह शकटके नीचे दाद खुजलाता बैठा हुआ था। (क्षत्ताने) उससे पूछा—'भगवन् ! तुम्हीं सयुग्वा रैक्व हो ?'

'मैं ही हूँ रे !'. . . .

---

1. Anaximancs   २. छां० ४।१

"क्षत्ता. . . .लौट गया। तब जानश्रुति पौत्रायण छै सौ गायें, निष्क (=अशर्फी या सुवर्ण मुद्रा), खचरी-रथ लेकर गया, और उससे बोला—

'रैक्व! यह छै सौ गायें हैं, यह निष्क है, यह खचरी-रथ है। भगवन्! मुझे उस देवताका उपदेश करो, जिस देवताकी तुम उपासना करते हो।

"(रैक्वने) कहा—'हटा रे शूद्र! गायोंके साथ (यह सब) तेरे ही पास रहे।'

"तब फिर जानश्रुति पौत्रायण हजार गायें, निष्क, खचरी-रथ (और अपनी) कन्याको लेकर गया—और उससे बोला—

'रैक्व! यह हजार गायें हैं, यह निष्क हैं, यह खचरी-रथ है, यह (तुम्हारे लिए) जाया (=भार्या) है, यह गाँव है जिसमे तुम (इस समय) बैठे हुए हो। भगवन्! मुझे उपदेश दो।'

"(रैक्वने) उस (कन्या)के मुखको (हाथसे) ऊपर उठाते हुए कहा—

'हटा रे शूद्र! इन सबको, इसी मुखके द्वारा तू मुझसे (उपदेश) कहलवायेगा। वायु ही मूल (=सवर्ग) है। जब आग ऊपर जाती है वायुमे ही लीन होती है। जब सूर्य अस्त होता है, वायुमे ही लीन होता है। जब चन्द्र अस्त होता है, वायुमे ही लीन होता है। जब पानी सूखता है, वायुमे ही लीन होता है। वायु ही इन सबको समेटता है।—यह देवताओंके बारेमें। अब शरीरमे (=अध्यात्म) प्राण मूल (सवर्ग) है, वह जब सोता है, वाणी प्राणमे ही लीन होती है चक्षु श्रोत्र . . मन प्राणमे ही लीन होता है। यही दोनो मूल हैं—देवोंमे वायु, प्राणोंमे प्राण।'"

इस प्रकार भौतिक जगत् (=देवताओं) और शरीर (=अध्यात्म) दोनोमे वायुको ही मूलतत्त्व मानना रैक्वका दर्शन था। रैक्वको फक्कडपन बहुत पसद था, इसलिए 'राजकन्याको लिए' बैलगाडीपर विचरना, और गाडीके नीचे बैठे दाद खुजलाना जितना उसे पसद था, उतना उसे गाँव, सोना, गायें, रथ नही।

पंचदश अध्याय

स्वतंत्र विचारक

जिस समय भारतमें उपनिषद्के दार्शनिक विचार तैयार हो रहे थे, उसी वक्त उससे उलटी दिशाकी ओर जाती दूसरी विचार-धाराएं भी चल रही थीं, स्वयं उपनिषद्में भी इसका पता लगता है।[1] सयुग्वा रैक्वके विचार भी भौतिकवादकी ओर झुकते थे, यह हम देख चुके हैं। ये तो वे विचारक थे, जो किसी न किसी तरह वैदिक परंपरासे अपना संबंध बनाये रखना चाहते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त ऐसे भी विचारक थे, जो वैदिक परंपरासे अपनेको बँधा नहीं समझते थे, और जीवन तथा विश्वकी पहेलियोंको वैदिक परंपरासे बाहर जाकर हल करना चाहते थे। हम "मानव समाज"में कह चुके हैं, कि भारतीय आर्योंका प्रारंभिक समाज जब अपनी पितृसत्ताक व्यवस्थासे आगे सामन्तवादकी ओर बढ़ा तो उसकी दो शाखाएं हुईं, एक तो वह जिसने कुरु-पंचाल (मेरठ-रुहेलखंड) और आसपासके प्रदेशोंमे जा राजसत्ता कायम की, दूसरी वह जिसने कि पंजाब तथा मल्ल-वज्जी (युक्तप्रान्त-बिहारकी सीमाओंपर)में अपने सामन्तवादी प्रजातंत्र कायम किये। इनके अतिरिक्त यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि सिन्धु-उपत्यका और दूसरे भू-भागोंमें भी जिस जाति (=असुर) से आर्योंका संघर्ष हुआ था, वह सामन्तवादी थे, राजतांत्रिक थे, सभ्य थे, नागरिक थे। उनके परास्त होनेका मतलब यह नहीं था, कि सभ्यता और विचारोंमें जो विकास उन्होंने किया था, वह उनके पराजयके साथ बिल्कुल लुप्त हो गया।

---

१. "तद्धैक आहुः 'असदेवेदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायते'।" छां० ६।२।१

ईसा-पूर्व छठी-सातवी सदीमे जब कि भारतमे दर्शनका स्रोत पहिले-पहिल फूट निकला, उस समय तीन प्रणालियाँ मौजूद थीं—वैदिक (ब्राह्मणानुयायी) आर्य, अ-वैदिक (ब्राह्मणोंसे स्वतंत्र, या व्रात्य) आर्य, और न-आर्य। इनमें वैदिक और अवैदिक आर्योंके राजनीतिक (-आर्थिक) क्षेत्र किसी एक जनपदकी सीमाके भीतर न थे। लेकिन न-आर्य नागरिक दोनोंमें मौजूद थे गणों (=प्रजातंत्रों) में खूनकी प्रधानता मानी जानेसे राजनीतिमें सीधे तो वह दखल नही दे सकते थे, किन्तु उनकेलिए राजतंत्रोंमें सुविधा अधिक थी। वहाँ किसी एक कबीले (=जन) की प्रधानता न होनेसे राजा और पुरोहितकी अधीनता स्वीकार कर लेनेपर उनकेलिए भी राज्यके उच्चपद और कभी-कभी तो राजपद पर भी पहुँचनेका सुभीता था। इतना होनेपर भी दर्शन-युगके आरंभ होनेसे पहिले अनार्य-संस्कृतिसे आर्य-संस्कृतिको अलग रखने हीकी कोशिश की जाती रही। वेद-संहिताएं उठाइए, ब्राह्मणोंको देखिए, कही अनार्य-धार्मिक रीति-रवाजोंको लेने या समन्वयका प्रयास नही मिलता—इसका अपवाद यदि है तो अथर्ववेद; किन्तु बुद्धके समय (५०० ई० पू०) तक वेद अभी तीन ही थे, बुद्धके समकालीन उपनिषदोंमे इसका नाम तो आता है, किन्तु तीनों वेदोंके बाद बिना वेद-विशेषणके—अथर्ववेद नही आथर्वण[1] या अथर्वाङ्गिरस[1] के नामसे[3], तो भी अथर्ववेद निम्न तलपर आर्य-अनार्य धर्मों—मंत्र-तंत्रो, टोने-टोटकों—के मिश्रणका प्रथम प्रयत्न है। दर्शनकी शिक्षा यद्यपि दास-स्वामी दो वर्गोंमें विभक्त समाजमे जरा भी हेरफेर करनेकेलिए तैयार नहीं है, तो भी मानसिक तौरपर इस तरहके भेदको मिटानेका प्रयत्न जरूर करती है।—इस दिशामें वैदिक दर्शन (=उपनिषद्) का प्रयत्न जितना हुआ, उससे कहीं अधिक प्रयत्नशील हम अ-वैदिक दर्शनोंको पाते हैं। बुद्धने

---

१. छां० ७।१।२; ७।२।१ २. बृह० ४।१।२

३. छान्दोग्य (१।३) में भी कई बार तीन ही वेदोंका जिक्र किया गया है।

जातिभेद या रंगके प्रश्न (आर्य-अनार्य-भेद) को उठा देना चाहा। यही बात जैन, आजीवक आदि धर्मोंके बारेमें भी है।

इन स्वतंत्र विचारकोंमें चार्वाक और कपिलके दर्शन प्रथम आते हैं, उनके बाद बुद्ध और उनके समकालीन तीर्थंकर (=सम्प्रदाय-प्रवर्तक)।

§ १–बुद्धके पहिलेके दार्शनिक

चार्वाक

भौतिकवादी दर्शनको हमारे यहाँ चार्वाक दर्शन कहा जाता है। चार्वाकका शब्दार्थ है चबानेके लिए मुस्तैद या जो खाने पीने—इस दुनिया-के भोगको ही सब कुछ समझता है। चार्वाक मत-संस्थापक व्यक्तिका नाम नहीं है। बल्कि परलोक पुनर्जन्म, देववादसे जो लोग इन्कारी थे, उनके लिए यह गालीके तौरपर इस्तेमाल किया जाता था। जड़वादी दर्शनके आचार्योंमें बृहस्पतिका नाम मिलता है। बृहस्पतिने शायद सूत्र, रूपमें अपने दर्शनको लिखा था। उसके कुछ सूत्र कहीं-कहीं उद्धृत भी मिलते हैं। किन्तु हम देखेंगे कि सूत्र-रूपेण दर्शनोंका निर्माण ईसवी सनके बादसे शुरू हुआ है। बुद्धके समकालीन अजित केशकम्बल भी जड़वादी थे, किन्तु वह धार्मिक चोगेको उतारना पसंद न करते थे। प्राचीन चार्वाक-सिद्धान्त जड़वादके सिद्धान्त थे—ईश्वर नहीं, आत्मा नहीं, पुनर्जन्म और परलोक नहीं। जीवनके भोग त्याज्य नहीं ग्राह्य हैं। तजर्बे (अनुभव) और बुद्धिको हमें सत्यके अन्वेषणकेलिए अपना मार्गदर्शक बनाना चाहिए। चार्वाक दर्शनके कितनेही और मंतव्य हमें पीछेके ग्रंथोंमें मिलते हैं। वह उसके पिछले विकासकी चीजें हैं उनके बारेमें हम आगे कहेंगे।

§२–बुद्ध-कालीन और पीछेके दार्शनिक
(५००-१५० ई० पू०)

हमने "विश्वकी रूपरेखा"में देखा, कि 'अचेतन' प्रकृतिके राज्यमें गति शान्त एकरस प्रवाहकी तरह नहीं, बल्कि रह-रह कर गिरते जल-प्रपात या मेंढककुदानकी भाँति होती है। "मानव समाज"में भी यही बात मानव-

संस्कृति, वैज्ञानिक आविष्कारो और सामाजिक प्रगतिके बारेमे देखी। दर्शनक्षेत्रमे भी हम यही बात देखते है—कुछ समय तक प्रगति तीव्र होती है, फिर प्रवाह रुँध जाता है, उसके बाद एकत्रित होती शक्ति एक बार फिर फूट निकलती देख पडती है। हर वादके प्रतिवाद मे, जान पडता है, काफी समय लगता है, फिर संवाद फूट निकलता है। यूरोपीय दर्शनके इतिहासमे हम ईसा-पूर्व छठीसे चौथी शताब्दीका समय दर्शनकी प्रगतिका सुनहरा समय देखते है, फिर जो प्रवाह क्षीण होता है तो तेरहवी सदीमे कुछ सुगबुगाहट होती दीख पडती है, और सत्रहवी सदीमे प्रवाह फिर तीव्र हो जाता है। भारतीय इतिहासमे ई० पू० पद्रहवीसे तेरहवी सदी भरद्वाज, वशिष्ठ, विश्वामित्र जैसे प्रतिभाशाली वैदिक कवियोका समय है। फिर छै सदियोके कर्मकाडी जगलकी मानसिक निद्राके बाद हम ई० पू० सातवी-छठवी-पाँचवी सदियोके दर्शनके रूपमे प्रतिभाको जागते देखते है। इन तीन सदियोके परिश्रमके बाद, मानो श्रान्त प्रतिभा स्वास्थ्यकेलिए सदियोकी निद्राको आवश्यक समझती है, और फिर ईसाकी दूसरी सदीमे तीन सदियों तक यूनानी दर्शनसे प्रभावित हो, वह नागार्जुनके दर्शनके रूपमे फूट निकलती है। चार सदियां तक प्रवाह प्रखर होता जाता है, उसके बाद आठवी और ग्यारहवी सदीमे सिवाय थोड़ीसी करवट बदलनेके वह अब तक निस्पन्द है।

उपनिषद्के जैवलि, आरुणि याज्ञवल्क्य ऋषियो, आदि और चार्वाक-दर्शनके स्वतत्र विचारको ने जो विचार-सम्बन्धी उथल-पुथल पैदा की थी, वह अब पाँचवी सदी ई० पू० मे अपनी चरमसीमापर पहुँच रही थी। यह बुद्धका समय था। इस कालके निम्नलिखित दार्शनिक बहुत प्रसिद्ध है, इनका उस समयके सभ्य समाजमे बहुत सम्मान था—

१. भौतिकवादी—अजित केशकम्बल, मक्खलि गोशाल
२ नित्यतावादी—पूर्णकाश्यप, प्रकुधकात्यायन
३. अनिश्चिततावादी—संजय वेलट्ठिपुत्त, निगंठ नातपुत्त
४. अभौतिक क्षणिक अनात्मवादी—गौतम बुद्ध।

१—अजित केशकम्बल (५२३ ई० पू०) भौतिकवादी

अजित केशकम्बलके जीवनके बारेमें हमें इससे अधिक नहीं मालूम है, कि वह बुद्धके समय एक लोक-विख्यात, सम्मानित तीर्थंकर (सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक) था। कोसलराज प्रसेनजित्ने बुद्धसे एक बार कहा था[1]— "हे गौतम! वह जो श्रमण-ब्राह्मण संघ के अधिपति, गणाधिपति, गणके आचार्य, प्रसिद्ध यशस्वी, तीर्थंकर, बहुत जनों द्वारा सुसम्मत हैं, जैसे—पूर्ण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगंठ नातपुत्त, संजय बेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुध कात्यायन, अजित केशकम्बल—वह भी यह पूछनेपर कि (आपने) अनुपम सच्ची सम्बोधि (=परम ज्ञान) को जान लिया, यह दावा नहीं करते। फिर जन्मसे अल्पवयस्क, और प्रव्रज्या (=संन्यास)मे नये आप गौतमकेलिए तो क्या कहना है?"

इससे जान पड़ता है, कि बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०) से अजित उम्रमें ज्यादा था। त्रिपिटकमे अजित और बुद्धके आपसमे संवादकी कोई बात नही आती, हाँ यह मालूम है कि एक बार बुद्ध और इन छओ तीर्थंकरोंका वर्षावास राजगृहमे (५२३ ई० पू०) हुआ था।[2] केशकम्बल नाम पड़नेसे मालूम होता है, कि आदमीके केशोंका कम्बल पहिननेको, सयुग्वा रैक्वकी बैलगाडीकी भाँति उसने अपना बाना बना रखा था।

दर्शन—अजित केशकम्बलके दार्शनिक विचारोंका जिक्र त्रिपिटकमें कितनी[3] ही जगह आया है, लेकिन सभी जगह एक ही बातको उन्हीं शब्दोंमें दुहराया गया है।—

"दान . . . यज्ञ . . . हवन नहीं (=बेकार है), सुकृत-दुष्कृत कर्मोंका फल=विपाक नहीं। यह लोक-परलोक नहीं। माता-पिता नहीं। देवता

---

१. संयुत्त-निकाय ३।१।१ (देखो, "बुद्धचर्या", पृ० ९१)
२. बुद्धचर्या, पृ० २६६, ७५ (मज्झिम-निकाय, २।३।१)
३. दीघ-निकाय, १।२; मज्झिम-निकाय, २।१।१०, २।६।६

(=औपपातिक, अयोतिज) नही । लोकमे सत्य तक पहुँचे, सत्यारूढ़ (=ऐसे) श्रमण-ब्राह्मण नही हैं, जो कि इस लोक, परलोकको स्वयं जानकर, साक्षात्कर (दूसरोको) जतलावेंगे। आदमी चार महाभूतोंका बना है। जब (वह) मरता है, (शरीरकी) पृथिवी पृथिवीमें. . . .पानी पानीमें. . आग आगमे . वायु वायुमें मिल जाते हैं। इन्द्रियाँ आकाशमे चली जाती हैं। मृत पुरुषको खाटपर ले जाते हैं। जलाने तक चिह्न जान पडते हैं। (फिर) हड्डियाँ कबूतर (के रंग) सी हो जाती हैं। आहुतियाँ राख रह जाती हैं। दान (करो) यह मूर्खोंका उपदेश है। जो कोई आस्तिकवादकी बात करते हैं, वह उनका (कहना) तुच्छ (=थोथा) झूठ है। मूर्ख हो चाहे पडित, शरीर छोडनेपर (सभी) उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते है; मरनेके बाद (कुछ) नही रहता।"

यहाँ हमें अजितका दर्शन उसके विरोधियोंके शब्दोंमे मिल रहा है, जिसमे उसे बदनाम करनेकेलिए भी कोशिश जरूर की गई होगी। अजित आदमीको चातुर्महाभौतिक (=चारो भूतोका बना) मानता था। परलोक और उसकेलिए किए जानेवाले दान-पुण्य तथा आस्तिकवादको वह झूठ समझता था, यह तो स्पष्ट है। किन्तु वह माता-पिता और इस लोकको भी नही मानता था यह ग़लत है। यदि ऐसा होता तो वह वैसी शिक्षा न देता, जिसके कारण वह अपने समयका लोक-सम्मानित सम्भ्रान्त आचार्य माना जाता था, फिर तो उसे डाकुओ और चोरोका आचार्य या सर्दार होना चाहिए था।

अजितने अपने दर्शनमे, मालूम होता है, उपनिषद्के तत्त्वज्ञानकी अच्छी खबर ली थी। सत्य तक पहुँचा (=सम्यग्-गत), 'सत्यारूढ़ ब्रह्मज्ञानी कोई हो सकता है, यह माननेसे उसने इन्कार किया; एक जन्मके पाप-पुण्यको आदमी दूसरे जन्ममें इसी लोकमे अथवा परलोकमें भोगता है, इसका भी खडन किया।

उग्र भौतिकवादी होते हुए भी अजित तत्कालीन साधुओं जैसे कुछ यम-नियमको मानता था, यह उक्त उद्धरणके आगे—'ब्रह्मचर्य, नंगा, मुंडित

रहना, उकडूं-तप करना, केश-दाढ़ी नोचना'—इस वचनसे मालूम होता है। किन्तु यह वचन छओं अ-बौद्ध तीर्थंकरोंके लिए एक ही तरह दुहराया गया है, और निगंठ नातपुत्तके (जैन-) मतमें यह बातें धर्मका अंग मानी भी जाती रही हैं, जिससे जान पड़ता है, त्रिपिटकको कंठस्थ करनेवालोंने एक तीर्थंकरकी बातको कंठ करनेकी सुविधाकेलिए सबके साथ जोड़ दी—स्मरण रहे बुद्धके निर्वाणके चार सदियों बाद तक बुद्धका उपदेश लिखा नहीं गया था।

२—मक्खलि गोशाल (५२३ ई० पू०) अकर्मण्यतावादी

मक्खलि (=मस्करी) गोशालका जिक्र बौद्ध और जैन दोनों पिटकोंमें आता है। जैन "पिटक"से पता लगता है, कि वह पहिले जैन मतका साधु था, पीछे उससे निकल गया। गोशालका जो चित्र वहाँ अंकित किया गया है, उससे वह बहुत नीच प्रकृतिका ईर्ष्यालु, धर्मान्ध जान पड़ता है।—उसने महावीर (=जैन-तीर्थंकर, निगंठ नातपुत्त) को जानसे मारनेकी कोशिश की; ब्राह्मण-देवताकी मूर्तिपर पेशाब-पाखाना किया, जिससे ब्राह्मणोंने उसे कूटा आदि आदि। किन्तु इसके विरुद्ध बौद्ध पिटक उसे बुद्धकालीन छै प्रसिद्ध लोकसम्मानित आचार्योंमें एक मानता है; आजीवक सम्प्रदायके तीन आचार्यों (=निर्यातार्यों)—नन्द वात्स्य, कृश सांकृत्य और मक्खलि गोशालमेंसे एक बतलाता है।[1] वहीं[2] यह भी पता लगता है, कि मक्खलि गोशाल (आजीवक-) आचार्य नंगे रहते, तथा कुछ संयम-नियमकी पाबन्दी भी करते थे। बुद्धके बुद्धत्व प्राप्त करनेके समय (५३७ ई० पू०में) आजीवक सम्प्रदाय मौजूद था, क्योंकि बुद्ध-गयासे चलनेपर बोधि और गयाके बीच रास्ते उन्हें उपक नामक आजीवक मिला था।[3] इससे यह भी पता लगता है, कि गोशालसे पहिले नन्द

---

१. मज्झिम-निकाय, २।३।६ (मेरा हिन्दी अनुवाद, पृ० ३०४)
२. वहीं, १।४।६   ३. म० नि०, १।३।६ (अनुवाद, पृ० १०७)

वात्स्य और कुछ साकृत्य आजीवक सम्प्रदायके आचार्य थे।

मक्खलि गोशाल नामकी व्याख्या करनेकी भी पालीमें कोशिश की गई है, जिसमें मक्खलि=मा खलि=न गिर, गो शाल=गोशालामें उत्पन्न बतलाया गया। पाणिनि (४०० ई० पू०) ने मस्करी शब्दको गृहत्यागियोंकेलिए माना है। पालीकी व्याख्याकी जगह पाणिनिकी व्याख्या लेनेपर अर्थ होगा 'साधु गोशाल'।

दर्शन--गोशालके (आजीवक) दर्शनका जिक्र पालि-त्रिपिटकमें कई जगह आया है, किन्तु सभी जगह उन्हीं शब्दोंको दुहराया गया है।'--

'प्राणियों (=सत्त्वों)के संक्लेश (=चित्त-मालिन्य)का कोई हेतु=कोई प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके ही प्राणी संक्लेशको प्राप्त होते हैं। प्राणियोंकी (चित्त-) विशुद्धिका कोई हेतु=प्रत्यय नहीं। बिना हेतुके प्राणी विशुद्ध होते हैं। बल नहीं, वीर्य नहीं, पुरुषकी दृढ़ता नहीं, पुरुष-पराक्रम नहीं (काम आते)। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव वश-बल-वीर्यके बिना ही नियति (=भवितव्यता)के वशमें छै **अभिजातियों** (=जन्मों)में सुख-दुःख अनुभव करते हैं। चौदह सौ हजार प्रमुख **योनियाँ** हैं, (दूसरी) साठ सौ, (दूसरी) छै सौ। पाँच सौ कर्म हैं, (दूसरे) पाँच कर्म, तीन कर्म, एक कर्म और आधा कर्म। बासठ प्रतिपद (=मार्ग), बासठ अन्तरकल्प, छै अभिजातियाँ, आठ पुरुष-भूमियाँ, उन्नीस सौ आजीवक, उनचास सौ परिव्राजक, उनचास सौ नाग-वास, बीस सौ इन्द्रियाँ, तीस सौ नरक, छत्तीस रजो (=मलवाली)-धातु, सात संज्ञी (=होशवाले) गर्भ, सात अ-संज्ञी गर्भ, सात निगंठी गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात सर, सात सौ सात पवुट (=गाँठ), सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न। और अस्सी लाख छोटे बड़े कल्प हैं, जिन्हें मूर्ख और पंडित जानकर और अनुगमन कर दुःखोंका अन्त कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है कि इस शील-व्रत, इस तप-ब्रह्म-

१. दीघ-नि०, १।२ (अनुवाद, पृ० २०); "बुद्धचर्या", पृ०४६२, ४६३

वर्षसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा; परिपक्व कर्मको भोगकर (उसका) अन्त करूँगा। सुख और दुःख द्रोण (=नाप)से नपे हुए हैं। संसारमें घटना-बढ़ना, उत्कर्ष-अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकनेपर खुलती हुई गिर पडती है, वैसे ही मूर्ख और पंडित दौड़कर, आवागमनमें पड़कर, दुःखका अन्त करेंगे।"

इससे जान पडता है, कि मक्खलि गोशाल (आजीवक) पूरा भाग्यवादी था; पुनर्जन्म और देवताओंको मानता था और कहता था कि जीवनका रास्ता नपा-तुला है, पाप-पुण्य उसमें कोई अन्तर नही डालते।

३ – पूर्ण काश्यप (५२३ ई० पू०) अक्रियावादी

पूर्णकाश्यपके बारेमें भी हम इससे अधिक नही जानते, कि वह बुद्धका समकालीन एक प्रसिद्ध तीर्थंकर था।

दर्शन—पूर्ण अच्छे बुरे कर्मोंको निष्फल बतलाता था। किन्तु परलोकके सम्बन्धमें था, या इस लोकके, इसे वह स्पष्ट नही करता था। उसका मत इस प्रकार उद्धृत मिलता है[1]—

"(कर्म) करने-कराते, छेदन करने-कराते, पकाने-पकवाते, शोक करते, परेशान होते, परेशान करते, चलते-चलाते, प्राण मारते, बिना दिया लेते (=चोरी करते), सेंध काटते, गाँव लूटते, चोरी-बटमारी करते, परस्त्रीगमन करते, झूठ बोलते भी पाप नहीं होता। छुरे जैसे तेज चक्र-द्वारा (काटकर) चाहे इस पृथिवीके प्राणियोंका (कोई) मासका एक खलिहान, मासका एक पुंज (क्यों न) बना दे, तो (भी) इसके कारण उसको पाप नही होगा, पापका आगम नही होगा। यदि घात करते-कराते, काटने-कटवाते, पकाते-पकवाते, गंगाके (उत्तर तीरसे) दक्षिण तीरपर भी (चला) जाये, तो भी इसके कारण उसको पाप नही होगा, पापका आगम नही होगा। दान देते-दिलाते, यज्ञ करते-कराते यदि गंगाके

---

१. दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० १९, २०)

उत्तर तीर भी जाय, तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं होगा, पुण्यका आगम नहीं होता। दान-दम-संयमसे सत्य बोलनेसे न पुण्य है न पुण्यका आगम है।"

पूर्ण काश्यपका यह मत परलोकमें भोगे जानेवाले पाप-पुण्यके संबंध हीमें मालूम होता है; इस लोकमें चोरी, हत्या, व्यभिचारका फल राजदंडके रूपमें अनिवार्य है, इसे वह जानता ही था।

४ – प्रकुध कात्यायन (५२३ ई० पू०) नित्यपदार्थवादी

प्रकुधकी जीवनीके संबंधमे भी हम यही जानते हैं, कि वह बुद्धका ज्येष्ठ समकालीन प्रसिद्ध और लोकसम्मानित तीर्थंकर था।

दर्शन—मक्खलि गोशालने भाग्यवादके कारण फलतः शुभ कर्मोंको निष्फल बतलाया था। पूर्ण काश्यप भी उन्हे निष्फल समझता था। प्रकुध कात्यायन हर वस्तुको अचल, नित्य मानता था, इसलिए कोई कर्म वस्तु-स्थितिमे किसी तरहका परिवर्तन ला नही सकता, इस तरह वह भी उसी अकर्मण्यतावादपर पहुँचता था। उसका मत इस प्रकार मिलता है[1]—

"यह सात काय (=समूह) अ-कृत=अकृत जैसे=अ-निर्मित? अनि-मित जैसे, अ-बध्य, कूटस्थ=स्तम्भ जैसे (अचल) हैं, यह चल नहीं होते, विकारको प्राप्त नही होते, न एक दूसरेको हानि पहुँचाते हैं; न एक दूसरे-के सुख, दुःख, या सुख-दुःखकेलिए पर्याप्त (=समर्थ) हैं। कौनसे सात? पृथिवी-काय (=पृथिवीतत्व) जल-काय, अग्नि-काय, वायु-काय, सुख, दुःख और जीवन—यह सात।....यहाँ न (कोई) हन्ता है न घातयिता (=हनन करनेवाला), न सुननेवाला, न सुनानेवाला, न जाननेवाला, न जतलानेवाला। यदि तीक्ष्ण शस्त्रसे भी काट दे, (तो भी) कोई किसीको नहीं मारता। सातों कायोंसे हटकर विवर (खाली जगह)में वह शस्त्र गिरता है।"

---

१. दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० २१)

प्रकुध पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों, तथा जीवन (=चेतना) के साथ सुख और दुःखको भी अलग तत्व मानता था। इन तत्वोंके बीचमें काफी खाली जगह है, जिसकी वजहसे हमारा कड़ासे कड़ा प्रहार भी वही रह जाता है, और मूलतत्वको नहीं छू पाता। यह विचार-धारा बतलाती है, कि दृश्य तत्वोंकी तहमें किसी तरहके अखंडनीय सूक्ष्म अंशको वह मानता था, जो कि एक तरहका परमाणुवादसा मालूम होता है।—खाली जगह या विवर (=आकाश)को उसने आठवाँ पदार्थ नही माना। सुख और दुःखको जीवनसे स्वतंत्र वस्तु मानना यही बतलाता है कि कर्मके निष्फल मान लेनेपर उन्हे अकृत माने बिना उसकेलिए कोई चारा नही था।

५ – संजय बेलट्ठिपुत्त (५२३ ई० पू०) अनेकान्तवादी

सजय वेलट्ठिपुत्त भी बुद्धका ज्येष्ठ समकालीन तीर्थंकर था।

दर्शन—संजय वेलट्ठिपुत्त और निगठ नातपुत्त (=महावीर) दोनो हीके दर्शन अनेकान्तवादी हैं। फर्क इतना ही है, कि महावीरका जोर 'हाँ' पर ज्यादा है और संजयका 'नहीं' पर, जैसा कि संजयके निम्न वाक्य और महावीरके स्याद्वादके मिलानेसे मालूम होगा'—

"यदि आप पूछें,—'क्या परलोक है', तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नही कहता वैसा भी नही कहता, दूसरी तरहसे भी नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि 'वह नही है'। मैं यह भी नहीं कहता कि 'वह नहीं नहीं है। परलोक नही है, परलोक नहीं नही है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।' देवता (=औपपातिक प्राणी) हैं. . . । देवता नहीं हैं, हैं भी और नही भी, न हैं और न नहीं हैं। . . . . अच्छे बुरे कर्मके फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न हैं और न नहीं हैं। तथागत (=मुक्तपुरुष) मरनेके बाद होते हैं, नहीं होते हैं. . . .?'—यदि मुझसे

१. दीघ-निकाय, १।२ (अनुवाद, पृ० २२)

ऐसा पूछे, तो मैं यदि ऐसा समझता होऊँ . . . ., तो ऐसा आपको कहूँ। मैं ऐसा भी नही कहता, वैसा भी नहीं कहता. . . ."

परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्त-पुरुषके विषयमें संजयके विचार यहाँ उल्लिखित है। अजितके विचारो तथा उपनिषद्में उठाई शंकाओंको देखनेसे मालूम होता है, कि धर्मकी कल्पनाओंपर सन्देह किया जाने लगा था; और यह सन्देह इस हद तक पहुँच गया था, कि अब उसके आचार्य लोक-सम्मानित महापुरुष माने जाने लगे थे। सजयका दर्शन जिस रूपमे हम तक पहुँचा है, उससे तो उसके दर्शनका अभिप्राय है, मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें डाला जाये, और वह कुछ निश्चय न कर भ्रान्त धारा-ओको अप्रत्यक्षरूपसे पुष्ट करे।

६—वर्धमान महावीर (५६९-४८५ ई० पू०) सर्वज्ञतावादी

जैन धर्मके सस्थापक वर्धमान ज्ञातृपुत्र (=नातपुत्त) बुद्धके सम-कालीन आचार्योंमें थे। उनका जन्म प्राचीन वज्जी[1] प्रजातत्रकी राजधानी वैशाली[2] में लिच्छवियोंकी एक शाखा ज्ञातृवशमे बुद्धके जन्म (५६३ ई० पू०) से कुछ पहिले हुआ था। उनके पिता सिद्धार्थ गण-संस्था (=सीनेट) के सदस्यो (=राजाओ) मेंसे एक थे। वर्धमानकी शादी, यशोदासे हुई थी जिससे एक लडकी हुई। माँ-बापके मरनेके बाद ३० वर्षकी उम्रमें वर्ध-मानने गृहत्याग किया। १२ वर्ष तक शरीरको सुखानेवाली तपस्याओंके बाद उन्होंने केवल (=सर्वज्ञ)-पद पाया। तबसे ४२ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्मका उपदेश मध्यदेश (=युक्तप्रान्त और बिहार) में किया। ८४ वर्षकी उम्रमें पावा[3] में उनका देहान्त हुआ। मृत्युके समय महावीरके

---

१. जिला मुजफ्फरपुर, बिहार।

२. वर्तमान बसाढ़ (पटनासे २७ मील उत्तर)।

३. कुसीनारा (कसया) से बंब मील उत्तर पपउर (जिला गोरखपुर)। परंपराको भूलकर पटना जिलाकी पावा गई कल्पना है।

अनुयायियोंमें भारी कलह उपस्थित हो गया था।[1]

तीर्थंकर वर्धमानको जैन लोग वीर या महावीर भी कहते हैं, बौद्ध उनका उल्लेख निगंठ नातपुत्त (=निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र)के नामसे करते हैं।

(१) **शिक्षा**—महावीरकी मुख्य शिक्षाको बौद्ध-त्रिपिटकमें इस प्रकार उद्धृत किया गया है—

(क) चातुर्याम संवर[2]—"निर्ग्रंथ (=जैन साधु) चार संवरों (=संयमों)से संवृत्त (=आच्छादित, संयत) रहता है। . . . (१) निर्ग्रंथ जलके व्यवहारका वारण करता है, (जिसमें जलके जीव न मारे जावें); (२) सभी पापोंका वारण करता है; (३) सभी पापोंके वारण करनेसे वह पापरहित (=धुतपाप) होता है, (४) सभी पापोंके वारणमें लगा रहता है। . . चूंकि निर्ग्रंथ इन चार प्रकारके संवरोंसे संवृत रहता है, इसीलिए वह . . . गतात्मा (=अनिच्छुक), यतात्मा (संयमी) और स्थितात्मा कहलाता है।"

(ख) शारीरिक कर्मोंकी प्रधानता—मज्झिम-निकायमें[3] महावीर (ज्ञातृपुत्र)के शिष्य दीर्घ तपस्वीके साथ बुद्धका वार्तालाप उद्धृत किया गया है। इसमे दीर्घ तपस्वीने कर्मकी जगह निर्ग्रंथी परिभाषामें 'दंड' कहे जानेपर जोर देते हुए, कर्मों (=दंडों)को काय-, वचन-, मन-दंडोंमें विभक्त करते हुए, काय-दंड (कायिक कर्म)को सबसे "महादोष-युक्त" बतलाया है।

(ग) तीर्थंकर सर्वज्ञ—तीर्थंकर सर्वज्ञ होता है, इसपर, जान पड़ता है, आरम्भ हीसे बहुत जोर दिया जाता था—

"(तीर्थंकर) सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सारे ज्ञान=दर्शनको जानते हैं।—चलते खड़े, सोते, जागते, सदा निरन्तर (उनको) ज्ञान=दर्शन उपस्थित रहता है।"[4]

---

१. देखो सामगामसुत्त (म० नि०, ३।१।४; "बुद्ध-चर्या", ४८१)
२ दीघ-नि० १।२ (अनु०, पृ० २१)
३. म०-नि०, २।२।६, 'बुद्धचर्या', पृ० ४४५
४. म०-नि०, १।२।४ (अनुवाद, पृ० ५९)

इस तरहकी सर्वज्ञताका मजाक उड़ाते हुए बुद्धके शिष्य आनन्दने कहा था[1]—

" एक शास्ता सर्वज्ञ, सर्वदर्शी. . .होनेका दावा करते हैं. . . . (तो भी) वह सूने घरमे जाते है, (वहाँ) भिक्षा भी नहीं पाते, कुक्कुर भी काट खाता है, चड हाथी चड घोडे. चड-बैलसे भी सामना हो जाता है। (सर्वज्ञ होनेपर भी) स्त्री-पुरुषोके नाम-गोत्रको पूछते हैं, गाँव-कस्बेका नाम और रास्ता पूछते हैं। (आप सर्वज्ञ हैं, फिर) क्यों पूछते हैं'—पूछनेपर कहते है—'सूने घरमे जाना . . भिक्षा न मिलनी कुक्कुरका काटना, हाथी . घोडा. . . बैलसे सामना बदा था।' . . "

(घ) शारीरिक तपस्या—शारीरिक कर्मपर महावीरका जोर था, उनका उससे शारीरिक तपस्यापर तो जोर देना स्वाभाविक था। इस शारीरिक तपस्या—मरणान्त अनशन, नगे बदन रह शीत-उष्णको सहना आदि बातें जैन-आगमोंमें बहुत आती हैं। जैन साधुओंकी तपस्या और उसके औचित्यका वर्णन त्रिपिटकमे भी मिलता है। बुद्धने महानाम शाक्यसे कहा था[2]—

"एक समय महानाम ! मैं राजगृह मे गृध्रकूट पर्वतपर रहता था। उस समय बहुतसे निगठ (=जैन साधु) ऋषिगिरिकी कालशिलापर खडे, रहने (का व्रत) ले, आसन छोड, तप (=उपक्रम) करते दुःख, कटु तीव्र, वेदना झेल रहे थे। (कारण पूछनेपर) निगठोंने कहा—'निगंठ नातपुत्त (महावीर) सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। वह ऐसा कहते हैं—'निगठो ! जो तुम्हारा पहिलेका किया हुआ कर्म है, उसे इस कडवी, दुष्कर-क्रिया (=तपस्या)से नाश करो, और जो यहाँ तुम काय-वचन-मनसे संयम-युक्त हो, यह भविष्यकेलिए पापका न करना होगा। इस प्रकार

---

१. म० नि०, २।३।६ (अनुवाद, पृ० ३०२)
२. म० नि०, १।२।४ (अनुवाद, पृ० ५९)

तपस्या द्वारा पुराने कर्मोंके अन्त होने और नये कर्मोंके न करनेसे भविष्यमें चित्त निर्मल (=अनास्रव) हो जायेगा। भविष्यमें मल (=आस्रव) न होनेसे कर्मका क्षय (हो जायेगा), कर्मक्षयसे दुःख-क्षय, दुःख-क्षयसे वेदनाका क्षय, वेदना-क्षयसे सभी दुःख नष्ट हो जायेंगे।"

बुद्धने इस पर उन निगंठोंसे पूछा, कि क्या तुम्हें पहिले अपना होना मालूम है? क्या तुमने उस समय पापकर्म किये थे? क्या तुम्हें मालूम है कि इतना दुःख (=पाप-फल) नष्ट हो गया, इतना बाकी है? क्या मालूम है कि तुम्हें इसी जन्ममें पापका नाश और पुण्यका लाभ प्राप्त करना है? इसका उत्तर निगंठोंने 'नहीं' में दिया। इसपर बुद्ध ने कहा—

"ऐसा होनेसे ही तो निगठो! जो दुनियामें रुद्र (=भयंकर), खून-रंगे हाथोंवाले, क्रूरकर्मा मनुष्योंमें नीच हैं, वह निगंठों में साधु बनते हैं। निगंठोंने फिर कहा—"गौतम! सुखसे सुख प्राप्य नहीं है, दुःखसे सुख प्राप्य है।"

—अर्थात् शारीरिक दुःख ही पाप हटाने और कैवल्य-सुख प्राप्त करनेका मुख्य साधन है, यह वर्धमानका विश्वास था।

(२) **दर्शन**—तप-संयम ही वर्धमानकी मूल शिक्षा मालूम होती है, उसमें दर्शनका अंश बहुत कम था, यदि था, तो यही कि पानी, मिट्टी, सभी जड़-अजड़ तत्व जीवोंसे भरे पड़े हैं, मनुष्यको हर तरहकी हिंसासे बचना चाहिए। इसीलिए उन्होंने जलके व्यवहार, तथा गमन-आगमन आदि सबमें भारी प्रतिबंध लगाया। इसीका परिणाम यह हुआ, कि जोतने, काटने, निराने—जैसे कामोंमें प्रत्यक्ष अगनित जीवोंको मारे जाते देख, जैन लोग खेती छोड़ बैठे; और आज वे प्रायः सभी बनिया-वर्गमें पाये जाते हैं।—यूरोपमें यहूदियोंने राजद्वारा खेतके अधिकारसे वंचित होनेके कारण मजबूरन् बनिया-व्यवसाय स्वीकार किया। किन्तु, भारतमें जैनियोंने अपने धर्मसे प्रेरित हो स्वेच्छापूर्वक वैसा किया। मनुष्योंकी एक भारी जमाअतको कैसे धर्म द्वारा उत्पादक-श्रमसे हटाकर पर परिश्रमापहारी बनाया जा सकता है, यहाँ यह इसका एक ज्वलंत उदाहरण है।

आगे चलकर जैनोंका भी एक स्वतंत्र दर्शन बना, जिसपर आगे यथा-स्थान लिखा जायेगा। आधुनिक जैन-दर्शनका आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है संजय बेलट्ठिपुत्तके चार अंगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अंगवाला किया गया है। संजयने तत्त्वों (=परलोक, देवता) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इन्कार करते हुए उस इन्कारको चार प्रकार कहा है—

(१) है ?—नहीं कह सकता।
(२) नहीं है ?—नही कह सकता।
(३) है भी और नही भी ?—नही कह सकता।
(४) न है और न नही है ?—नही कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनोके सात प्रकारके स्याद्वादसे—

(१) है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)
(२) नही है ?—नही भी हो सकता है। (स्याद् नास्ति)
(३) है भी और नही भी ?—है भी और नही भी हो सकता है (स्यादस्ति च नास्ति च)

उक्त तीनो उत्तर क्या कहे जा सकते (=वक्तव्य है) ? इसका उत्तर जैन 'नही'मे देते हैं—

(४) 'स्याद' (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता (=वक्तव्य) है ?—नही, स्याद् अ-वक्तव्य है।
(५) 'स्याद् अस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् अस्ति' अवक्तव्य है।
(६) 'स्याद नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् नास्ति' अवक्तव्य है।
(७) 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्याद् अस्ति च नास्ति च' अ-वक्तव्य है।

दोनोंके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोंने संजयके पहिलेवाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनो)को अलग करके अपने स्याद्वादकी छै

भंगियाँ बनाई हैं, और उसके चौथे वाक्य "न है और न नहीं है" को छोड़कर, 'स्याद्' भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्त-भंगी पूरी की।

उपलभ्य सामग्रीसे मालूम होता है, कि संजय अपने अनेकान्तवादका प्रयोग—परलोक, देवता, कर्मफल, मुक्त पुरुष जैसे—परोक्ष विषयोंपर करता था। जैन संजयकी युक्तिको प्रत्यक्ष वस्तुओंपर भी लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घटकी सत्ताके बारेमें यदि जैन-दर्शनसे प्रश्न पूछा जाये, तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

(१) घट यहाँ है?—हो सकता है (=स्याद् अस्ति)।

(२) घट यहाँ नहीं है?—नहीं भी हो सकता है (=स्याद् नास्ति)।

(३) क्या घट यहाँ है भी और नहीं भी है?—है भी और नहीं भी हो सकता है (=स्याद् अस्ति च नास्ति च)।

(४) 'हो सकता है' (=स्याद्) क्या यह कहा जा सकता (=वक्तव्य) है?—नहीं, 'स्याद्' यह अ-वक्तव्य है।

(५) घट यहाँ 'हो सकता है' (=स्यादस्ति) क्या यह कहा जा सकता है?—नहीं 'घट यहाँ हो सकता है', यह नहीं कहा जा सकता।

(६) घट यहाँ 'नहीं हो सकता है' (=स्याद् नास्ति) क्या यह कहा जा सकता है?—नहीं, 'घट यहाँ नहीं हो सकता', यह नहीं कहा जा सकता।

(७) घट यहाँ 'हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है', क्या यह कहा जा सकता है? नहीं, 'घट यहाँ हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है', यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (=वाद)की स्थापना न करना, जो कि संजयका वाद था, उसीको संजयके अनुयायियोंके लुप्त हो जानेपर, जैनोंने अपना लिया, और उसकी चतुर्भंगी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।

§ ३.—गौतम बुद्ध (५६३-४८३ ई० पू०)

दो सदियों तकके भारतीय दार्शनिक दिमागोंके जबर्दस्त प्रयासका अन्तिम फल हमे बुद्धके दर्शन—क्षणिक अनात्मवाद—के रूपमें मिलता है। आगे हम देखेंगे कि भारतीय दर्शनधाराओंमें जिसने काफी समय तक नई गवेषणाओंको जारी रहने दिया, वह यही धारा थी।—नागार्जुन, असग, वसुबधु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति,—भारतके अप्रतिम दार्शनिक इसी धारामें पैदा हुए थे। उन्हींके ही उच्छिष्ट-भोजी पीछेके प्राय: सारे ही दूसरे भारतीय दार्शनिक दिखलाई पड़ते है।

१—जीवनी

सिद्धार्थ गौतमका जन्म ५६३ ई० पू० के आस-पास हुआ था। उनके पिता शुद्धोदनको शाक्योका राजा कहा जाता है, किन्तु हम जानते हैं कि शुद्धोदनके साथ-साथ भद्दिय[1] और दण्डपाणि[2] को भी शाक्योंका राजा कहा गया, जिससे यही अर्थ निकलता है कि शाक्योके प्रजातंत्रकी गण-संस्था (=सीनेट या पार्लमेंट) के सदस्योको लिच्छविगणकी भाँति राजा कहा जाता था। सिद्धार्थकी माँ मायादेवी अपने मैके जा रही थीं, उसी वक्त कपिलवस्तुसे कुछ मीलपर लुम्बिनी[3] नामक शालवनमे सिद्धार्थ पैदा हुए। उनके जन्मसे ३१८ वर्ष बाद तथा अपने राज्याभिषेकके बीसवे साल अशोकने इसी स्थानपर एक पाषाण स्तम्भ गाड़ा था, जो अब भी वहाँ मौजूद है। सिद्धार्थके जन्मके सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गई, और उनके पालन-पोषणका भार उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजापती गौतमीके ऊपर पड़ा।

१ चुल्लवग्ग (विनय-पिटक) ७, ("बुद्धचर्या", पृ० ६०)

२ मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, १।२।८

३. वर्त्तमान रुम्मिनदेई, नेपाल-तराई (नौतनवा-स्टेशनसे ८ मील पश्चिम)।

तरुण सिद्धार्थ को संसार से कुछ विरक्त तथा अधिक विचार-मग्न देख, शुद्धोदनको डर लगा कि कहीं उनका लड़का भी साधुओंके बहकावेमें आकर घर न छोड़ जाये; इसकेलिए उसने पड़ोसी कोलिय गण (=प्रजातंत्र)की सुन्दरी कन्या भद्रा कापिलायनी (या यशोधरा) से विवाह कर दिया। सिद्धार्थ कुछ दिन और ठहर गये, और इस बीचमें उन्हें एक पुत्र पैदा हुआ, जिसे अपने उठते विचार-चन्द्रके ग्रसनेके लिए राहु समझ उन्होंने राहुल नाम दिया। वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित (=संन्यासी) के चार दृश्योंको देख उनकी संसारसे विरक्ति पक्की हो गई, और एक रात चुपकेसे वह घरसे निकल भागे। इसके बारेमे बुद्धने स्वय चुनार (=सुंसुमारगिरि) मे वत्सराज उदयके पुत्र बोधिराजकुमारसे कहा था[1]—

"राजकुमार! बुद्ध होनेसे पहिले... मुझे भी होता था—'सुखमें सुख नहीं प्राप्त हो सकता, दुःखमें सुख प्राप्त हो सकता है।' इस लिए... मैं तरुण बहुत काले केशोंवाला ही, सुन्दर यौवनके साथ, प्रथम वयसमें माता-पिताको अश्रुमुख छोड़ घरसे. . प्रव्रजित हुआ। ...(पहिले) आलार कालाम (के पास) ...गया। ..."

आलार कालामने कुछ योगकी विधियाँ बतलाईं, किन्तु सिद्धार्थकी जिज्ञासा उससे पूरी नहीं हुई। वहाँसे चलकर वह उद्रक रामपुत (=उद्रक रामपुत्र)के पास गये, वहाँ भी योगकी कुछ बात सीख सके; किन्तु उससे भी उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। फिर उन्होंने बोधगयाके पास प्रायः छै वर्षों तक योग और अनशनकी भीषण तपस्या की। इस तपस्याके बारेमे वह खुद कहते हैं[2]—

"मेरा शरीर (दुर्बलता)की चरमसीमा तक पहुँच गया था। जैसे आसीतिक (अस्सी सालवाले)की गाँठें... वैसे ही मेरे अंग

---

१. मज्झिम-निकाय, २।४।५ (अनुवाद, पृ० ३४५)

२. वहीं, पृ० ३४८

प्रत्यंग हो गए थे। . . . .जैसे ऊँटका पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे. . . .सूओंकी (ऊँची नीची) पाँती वैसे ही पीठके काँटे हो गये थे। जैसे शालकी पुरानी कड़ियाँ टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं, वैसी ही मेरी पँसुलियाँ हो गई थीं। . . . .जैसे गहरे कूएमे तारा, वैसे ही मेरी आँखें दिखाई देती थीं। . . . जैसे कच्ची तोडी कडवी लौकी हवा-धूपसे चुचक जाती है, मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे शिरकी खाल चुचक मुर्झा गई थी। . . उस अनशनसे मेरे पीठके काँटे और पैरकी खाल बिलकुल सट गई थी। . . . . यदि मैं पाखाना या पेशाब करनेकेलिए (उठता) तो वहीं भहराकर गिर पडता। जब मैं कायाको सहराते हुए, हाथसे गात्रको मसलता, तो. . . . कायासे सड़ी जडवाले रोम झड़ पडते। . . . .मनुष्य . .कहते—'श्रमण गौतम काला है' कोई. . कहते—' . .काला नही स्याम'। .कोई. . . . . . कहते—'. . . . मंगुरवर्ण है। मेरा वैसा परिशुद्ध, गोरा (=परि-अवदात) चमड़ेका रग नष्ट हो गया था। . . .

". . . .लेकिन. . .मैंने इस (तपस्या). से उस परम . . दर्शन . . .को न पाया। (तब विचार हुआ) बोधि (=ज्ञान) केलिए क्या कोई दूसरा मार्ग है? . . . तब मुझे हुआ—'. . . .मैंने पिता (= शुद्धोदन) शाक्यके खेतपर जामुनकी ठडी छायाके नीचे बैठ. . . प्रथम ध्यानको प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधिका हो। . . . . (किन्तु) इस प्रकारकी अत्यन्त कृश पतली कायासे वह (ध्यान-)सुख मिलना सुकर नही है। . . फिर मैं स्थूल आहार—दाल-भात—ग्रहण करने लगा। . .उस समय मेरे पास पाँच भिक्षु रहा करते थे। . . . जब मैं स्थूल आहार . ग्रहण करने लगा। तो वह पाँचो भिक्षु . उदासीन हो चले गये।"

आगेकी जीवनयात्राके बारेमे बुद्ध अन्यत्र कहते है[1]—

---

१. म० नि० १।३।६ (अनुवाद पृ० १०५)

"मैंने एक रमणीय भूभागमें, वनखंडमें एक नदी (=निरंजना) को बहते देखा। उसका घाट रमणीय और श्वेत था। यही ध्यान-योग्य स्थान है, (सोच) वहाँ बैठ गया। (और)....जन्मनेके दुष्परिणामको जान ....अनुपम निर्वाणको पा लिया....मेरा ज्ञान दर्शन (=साक्षात्कार) बन गया, मेरे चित्तकी मुक्ति अचल हो गई, यह अन्तिम जन्म है, फिर अब (दूसरा) जन्म नहीं (होगा)।"

सिद्धार्थका यह ज्ञान दर्शन था—दुःख है, दुःखका हेतु (=समुदय), दुःखका निरोध (=विनाश) है और दुःख-निरोधका मार्ग। 'जो धर्म (=वस्तुएं घटनाएं) हैं, वह हेतुसे उत्पन्न होते हैं। उनके हेतुको, बुद्धने कहा। और उनका जो निरोध है (उसे भी), ऐसा मत रखनेवाला महा श्रमण।'[1]

सिद्धार्थने उनतीस सालकी आयु (५३४ ई० पू०) मे घर छोड़ा। छै वर्ष तक योग-तपस्या करनेके बाद ध्यान और चिन्तन द्वारा ३६ वर्षकी आयु (५२८ ई० पू०) मे बोधि (=ज्ञान) प्राप्त कर वह बुद्ध हुए। फिर ४५ वर्ष तक उन्होंने अपने धर्म (=दर्शन)का उपदेश कर ८० वर्षकी उम्रमे ४८३ ई० पू० में कुसीनारा[2] में निर्वाण प्राप्त किया।

२—साधारण विचार

बुद्ध होनेके बाद उन्होंने सबसे पहिले अपने ज्ञानका अधिकारी उन्ही पाँचो भिक्षुओंको समझा, जो कि अनशन त्यागनेके कारण पतित समझ उन्हे छोड़ गये थे। पता लगाकर वह उनके आश्रम ऋषि-पतन मृगदाव (सारनाथ, बनारस) पहुँचे। बुद्धका पहिला उपदेश उसी शंकाको हटानेके लिए था, जिसके कारण कि अनशन तोड़ आहार आरम्भ करनेवाले गौतम-

---

१. "ये धर्मा हेतुप्रभवा हेतुं तेषां तथागतो ह्यवदत्।
तेषां च यो निरोध एवंवादी महाश्रमणः।"

२. कसया, जिला गोरखपुर।

को वह छोड आये थे। बुद्धने कहा'—

"भिक्षुओ! इन दो अतियों (=चरम-पथो)को . .नही सेवन करना चाहिए।—(१). .काम-सुखमें लिप्त होना; . . (२) . . शरीर पीडामे लगना।—इन दोनों अतियोको छोड. . (मैं)ने मध्यम-मार्ग खोज निकाला है, (जो कि) आँख देनेवाला, ज्ञान करानेवाला. . . शान्ति (देने)वाला है।. .वह (मध्यम-मार्ग) यही आर्य (=श्रेष्ठ) अष्टांगिक (=आठ अगोंवाला) मार्ग है, जैसे कि—ठीक दृष्टि (=दर्शन), ठीक संकल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि।. . "

(१) चार आर्य-सत्य—

दु:ख, दु:ख-समुदय (०हेतु), दु:ख निरोधदु:खनिरोधगामी मार्ग—जिनका जिक्र अभी हम कर चुके हैं, इन्हें बुद्धने **आर्य-सत्य—**श्रेष्ठ सच्चाइयाँ—कहा है।

क. दु:ख-सत्यकी व्याख्या करते हुए बुद्धने कहा है—"जन्म भी दु:ख है, बुढ़ापा भी दु:ख है, मरण शोक-रुदन—मनकी खिन्नता—हैरानगी दु:ख है। अ-प्रियसे सयोग, प्रियसे वियोग भी दु:ख है, इच्छा करके जिसे नही पाता वह भी दु:ख है। सक्षेपमे पाँचों **उपादान स्कन्ध** दु:ख हैं।'"

(पांच उपादान स्कंध)—रूप, वेदना, सज्ञा, संस्कार, विज्ञान—यही पाँचों उपादान स्कध हैं।

(a) **रूप**—चारों महाभूत—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप-उपादान स्कध हैं।

---

१. **"धर्मचक्रप्रवर्तन-सूत्र"—संयुत्त-निकाय ५५।२।१ ("बुद्धचर्या", पृ० २३)**

२. **महासतिपट्ठान-सुत्त (दीघ-निकाय, २।९)**

(b) **वेदना**—हम वस्तुओं या उनके विचारके सम्पर्कमें आनेपर जो सुख, दुख, या न सुख-दुखके रूपमें अनुभव करते हैं, इसे ही वेदना स्कंध कहते हैं।

(c) **संज्ञा**—वेदनाके बाद हमारे मस्तिष्कपर पहिलेसे ही अंकित संस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते हैं—'यह वही देवदत्त है', इसे संज्ञा कहते हैं।

(d) **संस्कार**—रूपोंकी वेदनाओं और संज्ञाओंका जो संस्कार मस्तिष्कपर पड़ा रहता है, और जिसकी सहायतासे कि हमने पहिचाना—'यह वही देवदत्त है', इसे संस्कार कहते हैं।

(e) **विज्ञान**—चेतना या मनको विज्ञान कहते हैं।

ये पाँचों स्कंध जब व्यक्तिकी तृष्णाके विषय होकर पास आते हैं, तो इन्हें ही उपादान स्कंध कहते हैं। बुद्धने इन पाँचों उपादान-स्कंधोंको दु:ख-रूप कहा है।

ख. दु:ख हेतु—दु:खका हेतु क्या है? तृष्णा—काम (भोग) की तृष्णा, भवकी तृष्णा, विभवकी तृष्णा। इन्द्रियोंके जितने प्रिय विषय या काम हैं, उन विषयोंके साथ संपर्क, उनका ख्याल, तृष्णाको पैदा करता है। "काम (=प्रिय भोग) केलिए ही राजा भी राजाओंसे लड़ते हैं, क्षत्रिय भी क्षत्रियोंसे, ब्राह्मण भी ब्राह्मणोंसे, गृहपति (=वैश्य) भी गृहपतिसे, माता भी पुत्रसे, पुत्र भी मातासे, पिता पुत्रसे, पुत्र पितासे, भाई भाईसे, बहिन भाईसे, भाई बहिनसे, मित्र मित्रसे लड़ते हैं। वह आपसमें कलह-विग्रह-विवाद करते एक दूसरेपर हाथसे भी, डंडसे भी, शस्त्रसे भी आक्रमण करते हैं। वह (इससे) मर भी जाते हैं, मरण-समान दु:खको प्राप्त होते हैं।"[1]

ग. दु:ख-विनाश—उसी तृष्णाके अत्यन्त निरोध परित्याग विनाशको दु:ख-निरोध कहते हैं। प्रिय विषयों और तद्विषयक विचारों विकल्पोंसे जब तृष्णा छूट जाती है, तभी तृष्णाका निरोध होता है।

---

१. मज्झिम-निकाय, १।२।३

तृष्णाके नाश होनेपर **उपादान** (=विषयोंके संग्रह करने) का निरोध होता है। उपादानके निरोधसे भव (=लोक) का निरोध होता है, भव निरोधसे जन्म (=पुनर्जन्म) का निरोध होता है। जन्मके निरोधसे बुढ़ापा, मरण, शोक, रोना, दु:ख, मनकी खिन्नता, हैरानगी नष्ट हो जाती है। इस प्रकार दु:खोंका निरोध होता है।

यही दु:खनिरोध बुद्धके सारे दर्शनका केन्द्र-बिन्दु है।

घ. दुःख-विनाशका मार्ग—दु:ख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग क्या है?—**आर्य अष्टांगिक मार्ग** जिन्हें पहिले गिना आए है। आर्य-अष्टांगिक मार्गकी आठ बातोंको ज्ञान (=प्रज्ञा), सदाचार (=शील और योग (=समाधि) इन तीन भागो (=स्कधो) मे बाँटनेपर वह होते हैं—

(क) ज्ञान { ठीक दृष्टि, ठीक संकल्प }

(ख) शील { ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका }

(ग) समाधि { ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति, ठीक समाधि }

(क) ठीक ज्ञान—

(a) **ठीक** (=**सम्यग्**) **दृष्टि**—कायिक, वाचिक, मानसिक, भले बुरे कर्मोंके ठीक-ठीक ज्ञानको ठीक दृष्टि कहते हैं। भले बुरे कर्म इस प्रकार हैं—

	बुरे कर्म	भले कर्म
कायिक	१ हिंसा	अ-हिंसा
	२. चोरी	अ-चोरी
	३. (यौन) व्यभिचार	अ-व्यभिचार

वाचिक	४. मिथ्याभाषण	अ-मिथ्याभाषण
	५. चुगली	न-चुगली
	६ कटुभाषण	अ-कटुभाषण
	७ बकवास	न-बकवास
मानसिक	८. लोभ	अ-लोभ
	९. प्रतिहिंसा	अ-प्रतिहिंसा
	१०. झूठी धारणा	न-झूठी धारणा

दुःख, हेतु, निरोध, मार्गका ठीकसे ज्ञान ही ठीक दृष्टि (=**दर्शन**) कही जाती है।

(b) **ठीक संकल्प**—राग, हिंसा, प्रतिहिंसा-,रहित संकल्पको ही ठीक संकल्प कहते हैं।

(ख) **ठीक आचार**—

(a) **ठीक वचन**—झूठ, चुगली, कटुभाषण और बकवाससे रहित सच्ची मीठी बातोंका बोलना।

(b) **ठीक कर्म**—हिंसा-चोरी-व्यभिचार-रहित कर्म ही ठीक कर्म है।

(c) **ठीक जीविका**—झूठी जीविका छोड़ सच्ची जीविकासे शरीर-यात्रा चलाना। उस समयके शासक-शोषक समाजद्वारा अनुमोदित सभी जीविकाओंमें सिर्फ प्राणि हिंसा संबंधी निम्न जीविकाओंको ही बुद्धने झूठी जीविका कहा[1]—

"हथियारका व्यापार; प्राणिका व्यापार, मासका व्यापार, मद्यका व्यापार, विषका व्यापार।"

(ग) **ठीक समाधि**—

(a) **ठीक प्रयत्न**—(=**व्यायाम**)—इन्द्रियोंपर संयम, बुरी भावनाओंको रोकने तथा अच्छी भावनाओंके उत्पादनका प्रयत्न, उत्पन्न अच्छी

---

१. अंगुत्तर-निकाय, ५

भावनाओंको कायम रखनेका प्रयत्न—ये ठीक प्रयत्न हैं।

(b) **ठीक स्मृति**—काया, वेदना, चित्त और मनके धर्मोंकी ठीक स्थितियों—उनके मलिन, क्षण-विध्वंसी आदि होने—का सदा स्मरण रखना।

(c) **ठीक समाधि**—"चित्तकी एकाग्रताको समाधि कहते हैं"।[1] ठीक समाधि वह है जिससे मनके विक्षेपोंको हटाया जा सके। बुद्धकी शिक्षाओंको अत्यन्त सक्षेपमे एक पुरानी गाथामे इस तरह कहा गया है—

"सारी बुराइयोका न करना, और अच्छाइयोंका सपादन करना; अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।"

अपनी शिक्षाका क्या मुख्य प्रयोजन है, इसे बुद्धने इस तरह बतलाया है[2]—

"भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य (=भिक्षुका जीवन) न लाभ-सत्कार-प्रशसा-केलिए है, न शील (=सदाचार) की प्राप्तिकेलिए, न समाधि प्राप्तिके-लिए, न ज्ञान=दर्शनकेलिए है। जो न अटूट चित्तकी मुक्ति है, उसीकेलिए . . . . यह ब्रह्मचर्य है, यही सार है, यही उसका अन्त है।

बुद्धके दार्शनिक विचारोको देनेसे पूर्व उनके जीवनके बाकी अशको समाप्त कर देना जरूरी है।

सारनाथमे अपने धर्मका प्रथम उपदेश कर, वही वर्षा बिता, वर्षाके अन्तमे स्थान छोडते हुए प्रथम चार मासोंमे हुए अपने साठ शिष्योंको उन्होंने इस तरह सम्बोधित किया[3]—

"भिक्षुओ! बहुत जनोंके हितकेलिए, बहुत जनोंके सुखकेलिए, लोकपर दया करनेकेलिए, देव-मनुष्योंके प्रयोजन-हित-सुखकेलिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। . . . मैं भी . . . उरुवेला . सेनानी-ग्राममे . धर्म-उपदेशकेलिए जा रहा हूँ।"

---

१. म० नि०, १।५।४ २. म० नि०, १।३।९
३. संयुत्त-नि०, ४।१।४

इसके बाद ४४ वर्ष बुद्ध जीवित रहे। इन ४४ वर्षोंके बरसातके तीन मासोंको छोड़ वह बराबर विचरते, जहाँ-तहाँ ठहरते, लोगोंको अपने धर्म और दर्शनका उपदेश करते रहे।[1] बुद्धने बुद्धत्व प्राप्तिके बादकी ४४ बर-सातोंको निम्न स्थानोंपर बिताया था—

स्थान	ई० पू०	स्थान	ई० पू०
(लुंबिनी जन्म	५६३)	बीच)	५१७
(बोधगया बुद्धत्वमें	५२८)	१३ चालिय पर्वत (बिहार)	५१६
१ ऋषिपतन (सारनाथ)	५२८	१४. श्रावस्ती (गोंडा)	५१५
२-४ राजगृह	५२७-२५	१५ कपिलवस्तु	५१४
५ वैशाली	५२४	१६. आलवी (अरवल)	५१३
६. मकुल पर्वत (बिहार)	५२३	१७ राजगृह	५१२
७ (त्रयस्त्रिंश ?)	५२२	१८ चालिय पर्वत	५११
८. सुसुमारगिरि (=चुनार)	५२१	१९ चालिय पर्वत	५१०
९ कौशाम्बी (इलाहाबाद)	५२०	२०. राजगृह	५०९
१० पारिलेयक (मिर्जापुर)	५१९	२१-४५. श्रावस्ती	५०८-४८४
११ नाला (बिहार)	५१८	४६ वैशाली	४८३
१२ वेरंजा (कन्नौज-मथुराके		(कुसीनारामें निर्वाण ४८३)	

उनके विचरणका स्थान प्राय सारे युक्त प्रान्त और सारे बिहार तक सीमित था। इससे बाहर वह कभी नहीं गये।

(२) **अनात्मवाद**—

हम देख चुके हैं, कि जहाँ बुद्ध एक ओर अत्यन्त भोग-मय जीवनके विरुद्ध थे, वहाँ दूसरी ओर वह शरीर सुखानेको भी मूर्खता समझते थे। कर्मकांड, भक्तिकी अपेक्षा उनका झुकाव ज्ञान और बुद्धिवादकी ओर

[1] बुद्धके जीवन और मुख्य-मुख्य उपदेशोंको प्राचीनतम सामग्रीके आधारपर मैंने "बुद्धचर्या" में संगृहीत किया है।

ज्यादा था। उनके दर्शनकी विशेषताको हम अभी कहनेवाले हैं। इन सारी बातोके कारण अपने जीवनमें और बाद मे भी बुद्ध प्रतिभाशाली व्यक्तियोंको आकर्षित करनेमें समर्थ हुए। मगधके सारिपुत्र, मौद्-गल्यायन, महाकाश्यप ही नही, सुदूर उज्जैनके राजपुरोहित महा-कात्यायन जैसे विद्वान ब्राह्मण उनके शिष्य बने जिन्होंने ब्राह्मणोके धर्म और स्वार्थके विरोधी बौद्धधर्मके प्रति ब्राह्मणोंमें कटुता फैलने—खासकर प्रारंभिक सदियोमे—से रोका। मगधका राजा बिंबिसार बुद्धका अनुयायी था। कोसलके राजा प्रसेनजित्को इसका बहुत अभिमान था कि बुद्ध भी कोसल क्षत्रिय है और वह भी कोसल क्षत्रिय। उसने बुद्धका और नजदीकी बननेकेलिए शाक्यवशकी कन्या के साथ ब्याह किया था। शाक्य-, मल्ल-, लिच्छवि-प्रजातत्रोमे उनके अनुयायियोंकी भारी सख्या थी। बुद्धका जन्म एक प्रजातत्र (शाक्य) मे हुआ था, और मृत्यु भी एक प्रजातंत्र (मल्ल) ही मे हुई। प्रजातत्र-प्रणाली उनको कितनी प्रिय थी, यह इसीसे मालूम है, कि अजातशत्रुके साथ अच्छा सबध होनेपर भी उन्होने उसके विरोधी वैशालीके लिच्छवियोकी प्रशसा करते हुए राष्ट्रके अपराजित रखनेवाली निम्न सात बाते बतलाईं[१]—

(१) बराबर एकत्रित हो सार्वजनिक निर्णय करना, (२) (निर्णयके अनुसार) कर्त्तव्यको एक हो करना, (३) व्यवस्था (कानून और विनय) का पालन करना, (४) वृद्धोका सत्कार करना, (५) स्त्रियो-पर जबर्दस्ती नही करना, (६) जातीय धर्मका पालन करना, (७) धर्माचार्योका सत्कार करना।

इन सात बातोमे सामूहिक निर्णय, सामूहिक कर्त्तव्य-पालन, स्त्री-स्वातत्र्य प्रगतिके अनुकूल विचार थे, किन्तु बाकी बातोंपर जोर देना यही बतलाता है, कि वह तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थामे हस्तक्षेप नही करना

---

१. देखो, महापरिनिब्बाण-सुत्त (दी० नि०, २।३), "बुद्धचर्या", पृष्ठ ५२०-२२

चाहते थे। वैयक्तिक तृष्णाके दुष्परिणामको उन्होंने देखा था। दुःखोंका कारण यही तृष्णा है। दुःखोंका चित्रण करते हुए उन्होंने कहा था[1]—

"चिरकालसे तुमने. . . .माता पिता-पुत्र-दुहिताके मरणको सहा, . . भोग-रोगकी आफतोंको सहा, प्रियके वियोग, अप्रियके संयोगसे रोते क्रन्दन करते जितना आँसू तुमने गिराया, वह चारों समुद्रोंके जल से भी ज्यादा है।"

यहाँ उन्होंने दुःख और उसकी जड़को समाजमें न ख्याल कर व्यक्तिमें देखने की कोशिश की। भोगकी तृष्णाकेलिए राजाओं, क्षत्रियों, ब्राह्मणों, वैश्यो, सारी दुनियाको झगडते मरने-मारते देख भी उस तृष्णाको व्यक्तिसे हटानेकी कोशिश की। उनके मतानुसार मानो, काँटोंमे बचनेकेलिए सारी पृथिवी को तो नही ढाँका जा सकता है, हाँ, अपने पैरोंको चमड़ेसे ढाँक कर काँटोसे बचा जा सकता है। वह समय भी ऐसा नही था, कि बुद्ध जैसे प्रयोगवादी दार्शनिक, सामाजिक पापोंको सामाजिक चिकित्सासे दूर करनेकी कोशिश करते। तो भी वैयक्तिक सम्पत्तिकी बुराइयोंको वह जानते थे, इसीलिए जहाँ तक उनके अपने भिक्षु-संघका सबंध था, उन्होंने उसे हटाकर भोगमें पूर्ण साम्यवाद स्थापित करना चाहा।

(३) दुःख-विनाश-मार्गकी त्रुटियाँ—

बुद्धका दर्शन घोर क्षणिकवादी है, किसी वस्तुको वह एक क्षणसे अधिक ठहरनेवाली नहीं मानते, किन्तु इस दृष्टिको उन्होंने समाजकी आर्थिक व्यवस्थापर लागू नही करना चाहा। सम्पत्तिशाली शासक-शोषक-समाजके साथ इस प्रकार शान्ति स्थापित कर लेनेपर उनके जैसे प्रतिभाशाली दार्शनिकका ऊपरके तबकेमे सम्मान बढना लाजिमी था। पुरोहित-वर्गके कूटदत, सोणदंड जैसे धनी प्रभुताशाली ब्राह्मण उनके अनुयायी बनते थे, राजा लोग उनकी आवभगतकेलिए उतावले दिखाई पड़ते थे। उस वक्तका धनकुबेर व्यापारी-वर्ग तो उससे भी

[1] सं० नि०, १४

ज्यादा उनके सत्कारकेलिए अपनी थैलियाँ खोले रहता था, जितने कि आजके भारतीय महासेठ गाधीकेलिए। श्रावस्तीके धनकुबेर सुदत्त (अनाथपिंडक) ने सिक्केसे ढाँक एक भारी बाग (जेतवन) खरीदकर बुद्ध और उनके भिक्षुओके रहनेकेलिए दिया। उसी शहरकी दूसरी सेठानी विशाखाने भारी व्ययके साथ एक दूसरा विहार (=मठ) पूर्वाराम बनवाया था। दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारतके साथ व्यापारके महान केन्द्र कौशाम्बीके तीन भारी सेठोंने तो बिहार बनवानेमे होड़सी कर ली थी। सच तो यह है, कि बुद्धके धर्मको फैलानेमे राजाओंसे भी अधिक व्यापारियोने सहायता की। यदि बुद्ध तत्कालीन आर्थिक व्यवस्थाके खिलाफ जाते तो यह सुभीता कहाँ से हो सकता था ?

३—दार्शनिक विचार

"अनित्य, दु:ख, अनात्म"[1] इस एक सूत्रमे बुद्धका सारा दर्शन आ जाता है। इनमे दु:खके बारेमे हम कह चुके हैं।

(१) क्षणिकवाद—बुद्धने तत्वोंका विभाजन तीन प्रकारसे किया है—(१) स्कन्ध, (२) आयतन, (३) धातु।

स्कन्ध पाँच है—रूप, वेदना, संज्ञा, सस्कार, विज्ञान। रूपमें पृथिवी आदि चारो महाभूत शामिल है। विज्ञान चेतना या मन है। वेदना सुख-दु:ख आदिका जो अनुभव होता है उसे कहते है। सज्ञा होश या अभिज्ञानको कहते हैं। सस्कार मन पर बच रही छाप या वासनाको कहते हैं। इस प्रकार वेदना, सज्ञा, सस्कार—रूपके सपर्कसे विज्ञान (=मन) की भिन्न-भिन्न स्थितियाँ हैं।[2] बुद्धने इन स्कधोको 'अ-नित्य सस्कृत (=कृत)-

१. अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

२. महावेदल्ल-सुत्त; म० नि०, १।५।३—"संज्ञा .... वेदना ..... विज्ञान .... यह तीनों धर्म (=पदार्थ) मिलेजुले हैं, विलग नहीं ... विलग करके इनका भेद नहीं बतलाया जा सकता।

प्रतीत्य समुत्पन्न=क्षय धर्मवाला=व्यय धर्मवाला=...निरोध(=विनाश) धर्मवाला"[1] कहा है।

आयतन बारह हैं—छै इन्द्रियाँ (चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काया या चमड़ा और मन) और छै उनके विषय—रूप, शब्द, गंध, रस, स्प्रष्टव्य, और धर्म (=वेदना, संज्ञा, संस्कार)।

धातु अठारह हैं—उपरोक्त छै इन्द्रियाँ तथा उनके छै विषय; और इन इन्द्रियों तथा विषयोंके संपर्कसे होनेवाले छै विज्ञान (=चक्षु-विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, काय-विज्ञान और मन-विज्ञान)।

विश्वकी सारी वस्तुएं स्कन्ध, आयतन, धातु तीनोंमेंसे किसी एक प्रक्रियामे बांटी जा सकती हैं। इन्हें ही नाम और रूपमें भी विभक्त किया जाता है, जिनमें नाम विज्ञानका पर्यायवाची है। यह सभी अनित्य हैं[2]—

"यह अटल नियम है—....रूप (महाभूत) वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान (ये) सारे संस्कार (=कृत वस्तुएं) अनित्य हैं।"

"रूप ...वेदना ..संज्ञा ..संस्कार....विज्ञान (ये पांचों स्कंध) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, अविकारी नहीं हैं, यह लोकमें पंडितसम्मत (बात) है। मैं भी (वैसा) ही कहता हूँ। ऐसा कहने ..समझाने

पर भी जो नहीं समझता नही देखता, उस.. बालक (=मूर्ख)
अन्धे, बेआँख, अजान के लिए मैं क्या कर सकता हूँ।[3]

रूप (भौतिक पदार्थ) की क्षणिकताको तो आसानीसे समझा जा सकता है। विज्ञान (=मन) उससे भी क्षणभंगुर है, इसे दर्शाते हुए बुद्ध कहते है—

"भिक्षुओ! यह बल्कि बेहतर है, कि अजान... पुरुष इस चार महाभूतोंकी कायाको ही आत्मा (=नित्य तत्त्व) मान ले, किन्तु

---

१. महानिदान-सुत्त, (दी० नि०, २।१५; "बुद्धचर्या", १३३

२. अंगुत्तर-निकाय, ३।१।३४

३. संयुत्त-नि०, १६

चित्तको (वैसा मानना ठीक) नहीं। सो क्यों? ...चारों महाभूतोंकी यह काया एक, .दो . तीन .चार . पाँच.. .छै ... साल वर्ष तक भी मौजूद देखी जाती है; किन्तु जिसे 'चित्त','मन' या 'विज्ञान' कहा जाता है, वह रात और दिनमें भी (पहिलेसे) दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है।"[1]

बुद्धके दर्शनमें अनित्यता एक ऐसा नियम है, जिसका कोई अपवाद नहीं है।

बुद्धका अनित्यवाद भी "दूसरा ही उत्पन्न होता है, दूसरा ही नष्ट होता है" के कहे अनुसार किसी एक मौलिक तत्त्वका बाहरी अपरिवर्त्तनमात्र नहीं, बल्कि एकका बिलकुल नाश और दूसरेका बिलकुल नया उत्पाद है।—बुद्ध कार्य-कारणकी निरन्तर या अविच्छिन्न सन्ततिको नहीं मानते।

(२) **प्रतीत्य-समुत्पाद**—यद्यपि कार्य-कारणको बुद्ध अविच्छिन्न सन्तति नहीं मानते, तो भी वह यह मानते है कि "इसके होनेपर यह होता है"[2] (एकके विनाशके बाद दूसरेकी उत्पत्ति इसी नियमको बुद्धने **प्रतीत्य-समुत्पाद** नाम दिया है)। हर एक उत्पादका कोई **प्रत्यय** है। प्रत्यय और हेतु (=कारण) समानार्थक शब्द मालूम होते है, किन्तु बुद्ध प्रत्ययसे वही अर्थ नहीं लेते, जो कि दूसरे दार्शनिकोंको हेतु या कारणसे अभिप्रेत है। प्रत्ययसे उत्पाद' का अर्थ है, बीतनेसे उत्पाद—यानी एकके बीत जाने नष्ट हो जानेपर दूसरेकी उत्पत्ति। बुद्धका प्रत्यय ऐसा हेतु है, जो किसी वस्तु या घटनाके उत्पन्न होनेसे पहिले क्षण सदा लुप्त होते देखा जाता है। प्रतीत्य **समुत्पाद** कार्यकारण नियमको अविच्छिन्न नहीं **विच्छिन्न प्रवाह**[3] बतलाता है। **प्रतीत्य समुत्पादके** इसी विच्छिन्न प्रवाहको लेकर आगे नागार्जुनने अपने **शून्यवादको** विकसित किया।

---

१. **संयुत्त-नि०, १२।७** २. **"अस्मिन् सति इदं भवति।" (म० नि०, १।४।८; अनुवाद, पृ० १५५)**

३. Discontinuous continuity.

प्रतीत्य-समुत्पाद—बुद्धके सारे दर्शनका आधार है, उनके दर्शनके समझनेकी यह कुंजी है, यह खुद बुद्धके इस वचनसे मालूम होता है[१]—

"जो प्रतीत्य समुत्पादको देखता है, वह **धर्म** (=बुद्धके दर्शन) को देखता है; जो धर्मको देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पादको देखता है। यह पाच उपादान स्कंध (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार, विज्ञान) प्रतीत्य समुत्पन्न (=विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न) हैं।"

प्रतीत्य-समुत्पादके नियमको मानव व्यक्तिमें लगाते हुए, बुद्धने इसके बारह अग (=द्वादशाग प्रतीत्य समुत्पाद) बतलाये हैं। पुराने उपनिषद्के दार्शनिक तथा दूसरे कितने ही आचार्य नित्य ध्रुव, अविनाशी, तत्त्वको आत्मा कहते थे। बुद्धके **प्रतीत्य समुत्पादमें आत्माकेलिए** कोई गुजाइश न थी, इसीलिए आत्मवादको वह महा-अविद्या कहते थे। इस बातको उन्होंने अपने एक उपदेश[२] में अच्छी तरह समझाया है—

"साति केवट्टपुत्त भिक्षुको ऐसी बुरी दृष्टि (=धारणा) उत्पन्न हुई थी—मैं भगवान्‌के उपदिष्ट धर्मका इस प्रकार जानता हूँ, कि दूसरा नहीं बल्कि वही (एक) **विज्ञान** (=जीव) ससरण-सधावन (=आवागमन) करता रहता है।"

बुद्धने यह बात सुनी तो बुलाकर पूछा—

"'क्या सचमुच साति! तुझे इस प्रकारकी बुरी धारणा हुई है?'

'हाँ . दूसरा नही वही विज्ञान (=जीव) ससरण-सधावन करता है।'

'साति! वह **विज्ञान** क्या है?'

'यह जो, भन्ते! वक्ता अनुभव करता है, जो कि वहाँ-वहाँ (जन्म-लेकर) अच्छे बुरे कर्मोंके फलको अनुभव करता है।'

'निकम्मे (=मोघपुरुष)! तूने किसको मुझे ऐसा उपदेश करते

---

१. मज्झिम-नि०, १।३।८

२. महातण्हा-संखय-सुत्तन्त, म० नि०,१।४।८ (अनुवाद, पृ० १५१-८)

सुना? मैंने तो मोघपुरुष! **विज्ञान** (=जीव)को अनेक प्रकारसे **प्रतीत्य-समुत्पन्न** कहा है—**प्रत्यय** (=विगत) होनेके बिना **विज्ञान**का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता (बतलाया है)। मोघपुरुष! तू अपनी ठीकसे न समझी बातका हमारे ऊपर लांछन लगाता है।'. .."

फिर भिक्षुओंको संबोधित करते हुए कहा—

"'भिक्षुओ! जिस-जिस **प्रत्ययसे विज्ञान** (=जीव) चेतना उत्पन्न होता है, वही उसकी संज्ञा होती है। चक्षुके निमित्तसे (जो) विज्ञान उत्पन्न होता है, उसकी चक्षुविज्ञान ही संज्ञा होती है। (इसी प्रकार) श्रोत्र-, घ्राण-, रस-, काया, मन-विज्ञान संज्ञा होती है।....जैसे....जिस जिस निमित्त (=प्रत्यय) से आग जलती है, वही-वही उसकी संज्ञा होती है,... काष्ट अग्नि . तृण अग्नि . .तुष अग्नि .. '

" 'यह (पाच स्कन्ध) उत्पन्न हैं—यह अच्छी प्रकार प्रज्ञासे देखनेपर (आत्माके होनेका) सन्देह नष्ट हो जाता है न?'

'हाँ, भन्ते!'

'भिक्षुओ! 'यह (पाँच स्कन्ध) उत्पन्न हैं—इस (विषयमें) तुम सन्देह-रहित हो न?'

'हाँ, भन्ते!'

"भिक्षुओ! 'यह (पाँच स्कन्ध=भौतिक तत्त्व और मन) उत्पन्न है', ...'यह अपने आहारसे उत्पन्न हैं'....'यह अपने आहारके निरोधसे निरुद्ध होनेवाला हैं'—यह ठीकसे अच्छी प्रकार जानना सुदृष्ट है न?'

'हाँ, भन्ते!'

'भिक्षुओ! तुम इस....परिशुद्ध (सु-) दृष्ट (विचार) में भी आसक्त न होना, रमण न करना, 'मेरा धन है'—न समझना, न ममता करना। बल्कि भिक्षुओ! मेरे उपदेश किए **धर्मको बेड़े** (=कुल्ल) **के समान समझना**, (यह) पार होनेके लिए है, पकड़ रखनेके लिए नहीं है।'....

साति केवट्टपुत्तके मनमें जैसे 'आत्मा है' यह अविद्या छाई थी, उस अविद्याका कारण समझाते हुए बुद्धने कहा—

"सभी आहारोंका निदान (=कारण) है तृष्णा....उसका निदान वेदना....उसका निदान स्पर्श....उसका निदान छै आयतन (=पाँचों इन्द्रियाँ और मन)....उसका निदान नाम और रूप....उसका निदान विज्ञान....उसका निदान संस्कार...उसका निदान अविद्या।"

अविद्या फिर अपने चक्रको १२ अंगोंमें दुहराती है, इसे ही द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं—

१. अविद्या ↓	← १२ जरामरण
२. संस्कार ↓	↑ ११. जाति (=जन्म)
३. विज्ञान ↓	↑ १०. भव (=आवागमन)
४ नाम-रूप ↓	↑ ९. उपादान (=ग्रहण या ग्रहण करनेकी इच्छा)
५. छ. आयतन (=इन्द्रियाँ) ↓	↑ ८. तृष्णा
६ स्पर्श →	↑ ७. वेदना
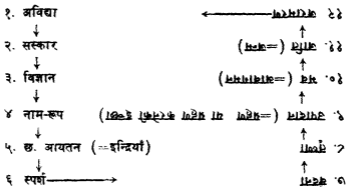
तृष्णाकी उत्पत्तिकी कथा कहते हुए बुद्धने वहीं कहा है—

"'भिक्षुओ! तीनके एकत्रित होनेसे गर्भधारण होता है।.... (१) माता-पिता एकत्रित होते हैं, (२) माता ऋतुमती होती है, (३) गंधर्व उपस्थित होता है।...तब माता गर्भको...नौ या दस मासके बाद जनती है।....उसको....माता अपने लोहित....दूधसे पोसती है। तब वह बच्चा (कुछ बड़ा होने पर....बच्चोंके खिलौने—बंका, घड़िया, मुहके लट्टू, चिंगुलियां, तराजू, गाडी, धनुही—से खेलता है।... (और) बड़ा होनेपर....पाँच प्रकारके विषय-भोगों—(रूप, शब्द, रस, गंध, स्पर्श)—का सेवन करता है।....वह (उनकी अनुकूलता, प्रति-

कूलता आदिके अनुसार) अनुरोध (=राग), विरोधमें पड़ा सुखमय, दु:खमय, न सुख-न दु:खमय वेदनाको अनुभव करता है, उसका अभिनन्दन करता है। ...(इस प्रकार) अभिनन्दन करते उसे नन्दी (=तृष्णा) उत्पन्न होती है।....वेदनाओंके विषयमें जो यह नन्दी (=तृष्णा है,) (यही) उसका उपादान (=ग्रहण करना या ग्रहण करनेकी इच्छा) है।"

(३) अनात्मवाद—बुद्धके पहिले उपनिषद्के ऋषियोंको हम आत्माके दर्शनका जबर्दस्त प्रचार करते देखते हैं। साथ ही उस समय चार्वाककी तरहके भौतिकवादी दार्शनिक भी थे, यह भी बतला चुके हैं। नित्यतावादियोंके आत्मा-संबंधी विचारोंको बुद्धने दो भागोंमें बाँटा है;[1] एक वह जिसमें आत्माको रूपी (इन्द्रिय-गोचर माना जाता है) दूसरेमें उसे अ-रूपी माना गया है। फिर इन दोनों विचारवालोंमें कुछ आत्माको अनन्त मानते हैं, और कुछ सान्त (परिमित या अणु)। फिर ये दोनों विचारवाले नित्यवादी और अनित्यवादी दो भागोंमें बँटे हैं —

---

[1] महानिदान-सुत्त (दी० नि०, २।१५; "बुद्धचर्या", १११,१२)
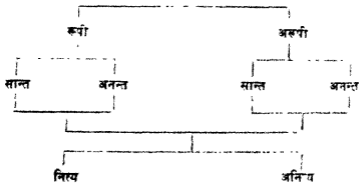
आत्मवादकेलिए बुद्धने एक दूसरा शब्द सत्काय-दृष्टि भी व्यवहृत किया है। सत्कायका अर्थ है, कायामें विद्यमान (=कायासे भिन्न अजर अमर तत्त्व)। अभी साति केवट्टपुत्तके विज्ञान (=जीव) के आवागमनकी बात करनेपर बुद्धने उसे कितना फटकारा और अपनी स्थितिको स्पष्ट किया यह बतला चुके है। सत्काय (=आत्मा) की धारणाको बुद्ध दर्शन-संबंधी एक भारी बन्धन (=दृष्टि-संयोजन) मानते थे, और सच्चे ज्ञानकी प्राप्तिकेलिए उसके नष्ट होनेकी सबसे ज्यादा जरूरत समझते थे। बुद्धकी शिष्या भिक्षुणी धम्मदिन्नाने अपने एक उपदेशमें[1] पाँच उपादान (=ग्रहण करनेकी इच्छासे युक्त)-स्कन्धोंको सत्काय बतलाया है, और आवागमनकी तृष्णा को सत्कायदृष्टिका कारण।

यह अविद्या और तृष्णासे मनुष्य की सारी प्रवृत्तियोंकी व्याख्या करते है। हम लिख आये है, कि कैसे जर्मन दार्शनिक शोपेनहारने बुद्धकी इसी मर्मान्तिकी तृष्णाका बहुत व्यापक क्षेत्रमें प्रयोग किया।

लेकिन बुद्ध सत्काय-दृष्टि या आत्मवादकी धारणाको नैसर्गिक नही मानते थे इसीलिए उन्होंने कहा है[2]—

"उत्तान (हो) सो सकनेवाले (दुधमुँहे) अबोध छोटे बच्चेको सत्काय (=आत्मवाद) का भी (पता) नहीं होता, फिर कहाँ से उसे सत्काय-दृष्टि उत्पन्न होगी?"

—यहाँ मिलाइए भेड़ियेकी माँदसे निकाली गई लड़की कमलासे, जिसने चार वर्षमें ३० शब्द सीखे।[3]

उपनिषद्के इतने परिश्रमसे स्थापित किए आत्माके महान् सिद्धान्तको अनात्मवादी बुद्ध कितनी तुच्छ दृष्टिसे देखते थे?[4]—

---

१. चूलवेदल्ल-सुत्त, म० नि०, १।५।४ (अनुवाद पृ० १७९)
२. महामालुंक्य-सुत्त, म० नि०, २।२।४ (अनुवाद पृ० २५४)
३. "वैज्ञानिक भौतिकवाद।" पृष्ठ ९९-१०० ४. मज्झिम-नि०, १।१।२—"अयं भिक्खवे ? केवलो परिपूरो बाल-धम्मो।"

" 'जो यह मेरा आत्मा अनुभव कर्त्ता, अनुभवका विषय है, और तहाँ-तहाँ (अपने) भले बुरे कर्मोंके विपयको अनुभव करता है; वह मेरा आत्मा नित्य = ध्रुव=शाश्वत=अपरिवर्तनशील है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा'—यह भिक्षुओ! केवल भरपूर बाल-धर्म (=मूर्ख-विश्वास) है।"

अपने दर्शनमे अनात्मासे बुद्धको अभावात्मक वस्तु अभिप्रेत नहीं है। उपनिषद् मे आत्माको ही निष्य, ध्रुव, वस्तु सत्य माना जाता था। बुद्धने उसे निम्न प्रकारसे उत्तर दिया—

(उपनिषद्)—आत्मा=नित्य, ध्रुव=वस्तुसत्

(बुद्ध)—अन्-आत्मा=अ-नित्य, अ-ध्रुव=वस्तुसत्

इसीलिए वह एक जगह कहते हैं—

'रूप अनात्मा है; वेदना अनात्मा है, संज्ञा . . . संस्कार . . . . विज्ञान सारे धर्म अनात्मा हैं।"[1]

बुद्धने प्रतीत्य-समुत्पादके जिस महान् और व्यापक सिद्धान्तका आविष्कार किया था, उसके व्यक्त करनेकेलिए उस वक्त अभी भाषा भी तैयार नही हुई थी, इसलिए अपने विचारोको प्रकट करनेके वास्ते जहाँ उन्हे प्रतीत्य-समुत्पाद, सत्काय जैसे कितने ही नये शब्द गढ़ने पड़े; वहाँ कितने ही पुराने शब्दोको उन्होंने अपने नये अर्थोंमें प्रयुक्त किया। उपरोक्त उद्धरणमे धर्मको उन्होने अपने खास अर्थ में प्रयुक्त किया है, जो कि आजके साइसकी भाषामे वस्तुकी जगह प्रयुक्त होनेवाला घटना शब्दका पर्यायवाची है। ये धर्मा हेतु—प्रभवा:' (=जो धर्म हैं वह हेतुसे उत्पन्न हैं)—यहाँ भी धर्म विच्छिन्न-प्रवाहवाले विश्वके कण-तरंग अवयवको बतलाता है।

(४) अ-भौतिकवाद—आत्मवादके बुद्ध जबर्दस्त विरोधी थे सही; किन्तु, इसमे यह अर्थ नही लेना चाहिए, कि वह भौतिक (=जड़) वादी थे। बुद्धके समय कोसलदेशकी सालविका नगरीमें लौहित्य नामक एक ब्राह्मण

---

1. चूलसच्चक-सुत्त, म० नि०, १।४।५ (अनु० पृ० १३८)

सामन्त रहता था। धर्मोके बारे में उसकी बहुत बुरी सम्मति थी[1]—

संसारमें (कोई ऐसा) श्रमण (=संन्यासी) या ब्राह्मण नहीं है जो अच्छे धर्मको....जानकर....दूसरेको समझावेगा। भला दूसरा दूसरेकेलिए क्या करेगा? (नये नये धर्म क्या हैं), जैसे कि एक पुराने बंधनको काटकर एक दूसरे नये बंधनका डालना। इसी प्रकार मैं इसे पाप (=बुराई) और लोभकी बात समझता हूँ।"

बुद्धने अपने शील-समाधि-प्रज्ञा संबंधी उपदेश द्वारा उसे समझानेकी कोशिश की थी।

कोसलदेशमें ही एक दूसरा सामन्त—सेतब्याका स्वामी पायासी राजन्य था। उसका मत था[2]—

"यह भी नहीं है, परलोक भी नहीं है, जीव मरनेके बाद (फिर) नहीं पैदा होते, और अच्छे बुरे कर्मोंका कोई भी फल नहीं होता।"

पायासी क्यों परलोक और पुनर्जन्मको नहीं मानता था, इसकेलिए उसकी तीन दलीलें थीं, जिन्हें कि बुद्धके शिष्य कुमार कश्यपके सामने उसने पेश की थी—(१) किसी मरेने लौटकर नहीं कहा, कि दूसरा लोक है; (२) धर्मात्मा आस्तिक—जिन्हें स्वर्ग मिलना निश्चित है—भी मरनेसे अनिच्छुक होते हैं; (३) जीवके निकल जानेसे मृत शरीरका न वजन कम होता है, और सावधानीसे मारनेपरभी जीवको कहीं से निकलते नहीं देखा जाता।

बुद्ध समझते थे, कि भौतिकवाद उनके ब्रह्मचर्य और समाधिका भी वैसा ही विरोधी है, जैसा कि वह आत्मवादका विरोधी है। इसीलिए उन्होंने कहा[3]—

"'वही जीव है वही शरीर है', (दोनों एक हैं) ऐसा मत होनेपर

---

१. दीघ-निकाय, १।१२ (अनुवाद, पृ० ८२)
२. दीघ-नि०, २।१० (अनुवाद, पृ० १९९)
३. संयुत्त-नि०, ३

ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता। 'जीव दूसरा है शरीर दूसरा है' ऐसा मत (=दृष्टि) होनेपर भी ब्रह्मचर्यवास नहीं हो सकता।"

आदमी ब्रह्मचर्यवास (=साधुका जीवन) तब करता है, जब कि इस जीवनके बाद भी उसे फल पाने या काम पूरा करने का अवसर मिलनेवाला हो। भौतिकवादीके वास्ते इसीलिए ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है। शरीर और जीवको भिन्न-भिन्न माननेवाले आत्मवादीकेलिए भी ब्रह्मचर्यवास व्यर्थ है, क्योंकि नित्य-ध्रुव आत्मामें ब्रह्मचर्य द्वारा संशोधन संवर्द्धनकी गुंजाइश नहीं। इस तरह बुद्धने अपनेको अभौतिकवादी अनात्मवादीकी स्थितिमें रक्खा।

(५) अनीश्वरवाद—बुद्धके दर्शनका जो रूप—अनित्य, अनात्म, प्रतीत्य—समुत्पाद—हम देख चुके हैं, उसमें ईश्वर या ब्रह्माकी भी उसी तरह गुंजाइश नहीं है जैसे कि आत्माकी। यह सच है कि बुद्धने ईश्वर-वादपर उतने ही अधिक व्याख्यान नहीं दिये हैं, जितने कि अनात्मवादपर। इसमे कुछ भारतीय—साधारण ही नहीं लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी ढंगके प्रोफ़ेसर—भी यह कहते हैं, कि बुद्धने चुप रहकर इस तरहके बहुतसे उपनिषद्के सिद्धान्तोंकी पूर्ण स्वीकृति दे दी है।

ईश्वरका ख्याल जहाँ आता है, उससे विश्वके स्रष्टा, भर्ता, हर्ता एक नित्यचेतन व्यक्तिका अर्थ लिया जाता है। बुद्धके प्रतीत्य-समुत्पादमें ऐसे ईश्वरकी गुंजाइश तभी हो सकती है जबकि सारे "धर्मों" की भाँति वह भी प्रतीत्य-समुत्पन्न हो। प्रतीत्य-समुत्पन्न होने पर वह ईश्वर ही नहीं रहेगा। उपनिषदमें हम विश्वका एक कर्त्ता पाते हैं—

'प्रजापतिने प्रजाकी इच्छासे तप किया। . . उसने तप करके जोड़े पैदा किये।'[1]

"ब्रह्म . . ने कामना की। . . तप करके उसने इस सब (=विश्व) को पैदा किया। . .'[2]

१. प्रश्नोपनिषद्, १।३-१३ २. तैत्तिरीय, २।६

"आत्मा ही पहिले अकेला था।.....उसने चाहा—'लोकोंको सिरजूँ।' उसने इन लोकोंको सिरजा।"[1]

अब इस सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, आत्मा, ईश्वर, सत् ...की बुद्ध क्या गति बनाते हैं, इसे सुन लीजिए। मल्लोंके एक प्रजातन्त्रकी राजधानी अनूपिया[2] में बुद्ध भार्गव-गोत्र परिव्राजकसे इस बातपर वार्तालाप कर रहे हैं।[3]—

"भार्गव! जो श्रमण-ब्राह्मण, ईश्वर (=इस्सर) या ब्रह्मा के कर्त्तापनके मत (=आचार्यक) को श्रेष्ठ बतलाते है, उनके पास जाकर मैं यह पूछता हूँ—'क्या सचमुच आपलोग ईश्वर ...के कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते है?' मेरे ऐसा पूछनेपर वे 'हाँ' कहते हैं। उनसे मैं (फिर) पूछता हूँ—'आपलोग कैसे ईश्वर या ब्रह्माके कर्त्तापनको श्रेष्ठ बतलाते है?' मेरे ऐसा पूछनेपर ...वे मुझसे ही पूछने लगते हैं।... मैं उनको उत्तर देता हूँ—'...बहुत दिनोंके बीतनेपर... इस लोकका प्रलय होता है।... (फिर) बहुत काल बीतनेपर इस लोककी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति होनेपर शून्य ब्रह्म-विमान (=ब्रह्माका उड़ना फिरना (घर) प्रकट होता है। तब (आभास्वर देवलोकका) कोई प्राणी आयुके क्षीण होनेसे या पुण्यके क्षीण होने से ...उस शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होता है।... वह वहाँ बहुत दिनो तक रहता है। बहुत दिनो तक अकेला रहनेके कारण उसका जी ऊब जाता है और उसे भय मालूम होने लगता है।[4]—'अहो दूसरे प्राणी भी यहाँ आवें।'...

१. ऐतरेय, १।१ २. छपरा जिला में कहीं पर, अनोमाम बीके पास था।

३. पाथिकसुत्त, दीघ-नि०, ३।१ (अनुवाद, पृ० २२३)

४. बुद्धका यहाँ ब्रह्माके अकेले डरनेसे बृहदारण्यकके इस वाक्य (१।४।१-२)की ओर इशारा है।—"आत्मा ही पहले था।.....उसने नजर दौड़ाकर अपनेसे दूसरेको नहीं देखा।.....वह भय खाने लगा। इसीलिए (आदमी) अकेला भय खाता है।.....उसने दूसरे (के होने) की इच्छा की.....।"

दूसरे प्राणी भी आयुके क्षय होने से. . .शून्य ब्रह्म-विमानमें उत्पन्न होते हैं। . जो प्राणी वहाँ पहिले उत्पन्न होता है, उसके मनमें होता है— 'मैं ब्रह्मा, महा ब्रह्मा, विजेता, अ-विजित, सर्वज्ञ, वशवर्ती, ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता, श्रेष्ठ, स्वामी और भूत तथा भविष्य के प्राणियोंका पिता हूँ। मैंने ही इन प्राणियोंको उत्पन्न किया है।. . . .(क्योंकि) मेरे ही मनमें यह पहिले हुआ था—'दूसरे भी प्राणी यहाँ आवें।' अतः मेरे ही मनसे उत्पन्न होकर ये प्राणी यहाँ आये हैं। और जो प्राणी पीछे उत्पन्न हुए, उनके मनमे भी उत्पन्न होता है 'यह ब्रह्मा. . ईश्वर . .कर्त्ता. . . .है। . सो क्यो? (इसलिए कि) हम लोगोने इसको पहिलेहीसे यहाँ विद्यमान पाया, हम लोग (तो) पीछे उत्पन्न हुए।'. . . .दूसरा प्राणी जब उस (देव-) कायाको छोड़कर इस (लोक) मे आते हैं।. . . .(जब इनमेंसे कोई) समाधिको प्राप्तकर उसमे पूर्वजन्मका स्मरण करता है, उसके आगे नही स्मरण करता है। वह कहता है—'जो वह ब्रह्मा . ईश्वर कर्त्ता है, वह नित्य, ध्रुव है, शाश्वत, निर्विकार और सदाकेलिए वैसा ही रहनेवाला है। और जो हम लोग उस ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न किये गये हैं (वह) अनित्य, अ-ध्रुव, अल्पायु, मरणशील है।' इस प्रकार (ही तो) आप लोग ईश्वरका कर्तापन . . .बतलाते हैं? वह कहते हैं—'. जैसा आयुष्मान गौतम बतलाते हैं, वैसा ही हम लोगोंने (भी) सुना है।"

उस वक्ताकी—परपरा, चमत्कार, शब्दकी अधेरगर्दी प्रमाणमें ईश्वरका यह एक ऐसा बेहतरीन खडन था, जिसमे एक बड़ा बारीक मजाक भी शामिल है।

सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा (=ईश्वर) का बुद्धने एक जगहपर और सूक्ष्म परिहास किया है[1]—

. बहुत पहिले . एक भिक्षुके मनमे यह प्रश्न हुआ—'ये चार

---

१. केवट्टसुत्त (दीघ-निकाय, १।११; अनुवाद, पृ० ७९-८०)

महाभूत—पृथिवी-धातु, जल-धातु, तेज-धातु, वायु-धातु—कहाँ जाकर बिलकुल निरुद्ध हो जाते हैं?'....उसने....चातुर्महाराजिक देवताओं (केपास) जाकर....(पूछा)....। चातुर्महाराजिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'....हम भी नहीं जानते....हमसे बढ़कर चार महाराजा[1] हैं। वे शायद इसे जानते हों....।

"....'हमसे भी बढ़कर त्रायस्त्रिंश....याम....सुयाम.... तुषित (देवगण)....संतुषितदेवपुत्र....निर्माणरति (देवगण)... सुनिर्मित (देवपुत्र)....परनिर्मितवशवर्ती (देवगण)....वशवर्ती नामक देवपुत्र....ब्रह्मकायिक नामक देवता है, वह शायद इसे जानते हों। ...ब्रह्मकायिक देवताओंने उस भिक्षुसे कहा—'हमसे भी बहुत बढ़ चढ़कर ब्रह्मा हैं....वह....ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता....और सभी पैदा हुए और होनेवालोंके पिता हैं, शायद वह जानते हों।'.... (भिक्षुके पूछनेपर उन्होंने कहा—) 'हम नहीं जानते कि ब्रह्मा (=ईश्वर) कहाँ रहते हैं।'....इसके बाद शीघ्र ही महाब्रह्मा (=महान् ईश्वर) भी प्रकट हुआ। ... (भिक्षुने) महाब्रह्मासे पूछा—'... ये चार महाभूत ..कहाँ जाकर बिलकुल निरुद्ध (=विलुप्त) हो जाते हैं?' ...महाब्रह्माने कहा—' ...मैं ब्रह्मा....ईश्वर....पिता हूँ।'....दूसरी बार भी. .महाब्रह्मासे पूछा—'....मैं तुमसे यह नहीं पूछता, कि तुम ब्रह्मा....ईश्वर....पिता....हो। .... मैं तो तुमसे यह पूछता हूँ—ये चार महाभूत. ..कहाँ....बिलकुल निरुद्ध हो जाते हैं?'....तीसरी बार भी....पूछा—तब महाब्रह्माने उस भिक्षुकी बाँह पकड़, (देवताओंकी सभासे) एक ओर ले जाकर ...कहा—'हे भिक्षु, ये देवता....मुझे ऐसा समझते हैं कि.... (मेरे लिए) कुछ अज्ञात...अ-दृष्ट नहीं है...इसीलिए मैंने उन लोगोंके सामने नहीं बतलाया। भिक्षु! मैं भी नहीं जानता....वह तुम्हारा

---

१. धृतराष्ट्र, विरूढक, विरूपाक्ष, वैश्रवण (=कुबेर)

ही दोष है. कि तुम . (बुद्ध) को छोड़ बाहरमें इस बातकी खोज करते हो। उन्हीके. . पास जाओ, . . जैसा . . (वह) कहे, वैसा ही समझो।' '

स्मरण रखना चाहिए कि आज हिन्दूधर्ममें ईश्वरसे जो अर्थ लिया जाता है, वही अर्थ उस समय ब्रह्मा शब्द देता था। अभी शिव और विष्णुको ब्रह्मासे ऊपर नहीं उठाया गया था। बुद्धकी इस परिहासपूर्ण कहानी का मजा तब आयेगा, यदि आप यहां ब्रह्माकीजगह अल्लाह या भगवान्, बुद्धकी जगह मार्क्स और भिक्षुकी जगह किसी साधारणसे मार्क्स-अनुयायीको रखकर इसे दुहरायें। हजारों अ-विश्वसनीय चीजोंपर विश्वास करनेवाले अपने समयके अन्ध श्रद्धालुओंको बुद्ध बतलाना चाहते थे, कि तुम्हारा ईश्वर नित्य, ध्रुव वगैरह नहीं है, न वह सृष्टिको बनाता बिगाड़ता है, वह भी दूसरे प्राणियोंकी भाँति जन्मने-मरनेवाला है। वह ऐसे अनगिनत देवताओंमें सिर्फ एक देवतामात्र है। बुद्धके ईश्वर (ब्रह्मा) के पीछे 'लाठी' लेकर पड़नेका एक और उदाहरण लीजिए। अबके बुद्ध स्वयं जाकर 'ईश्वर' को फटकारते हैं'—

"एक समय . . बक ब्रह्माको ऐसी बुरी धारणा हुई थी'—'यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत शुद्ध, अ-च्युत, अज, अजर, अमर है, न च्युत होता है, न उपजता है। इससे आगे दूसरा निस्सरण (पहुँचनेका स्थान) नहीं है।' . तब मैं ब्रह्मलोकमें प्रकट हुआ। बक ब्रह्माने दूरसे ही मुझे आते देखा। देखकर मुझसे कहा—'आओ मार्ष ! (मित्र!) स्वागत मार्ष ! चिरकालके बाद मार्ष ! (आपका) यहाँ आना हुआ। मार्ष ! यह (ब्रह्मलोक) नित्य, ध्रुव, शाश्वत, ... अजर . . . अमर . . है, . .'. ऐसा कहनेपर मैंने कहा—'अविद्यामें पड़ा

---

१. ब्रह्मनिमन्तिक-सुत्त (म० नि०, १।५।९; अनुवाद, पृ० १९४-५)

२. याज्ञवल्क्यने गार्गीको ब्रह्मलोकसे आगेके प्रश्नको शिर गिरनेका डर दिखलाकर रोक दिया था। (बृहदारण्यक ३।६)

है, अहो! बक ब्रह्मा, अविद्यामें पड़ा है, अहो! बक ब्रह्मा, जो कि अनित्यको नित्य कहता है, अशाश्वतको शाश्वत . . .।' . . . ऐसा कहने पर . . . . बक ब्रह्माने . . . कहा—'मार्ष! मैं नित्यको ही नित्य कहता हूँ . . . .।' . . मैंने कहा— . . ' . ब्रह्मा! . . . (दूसरे लोक) से च्युत होकर तू यहाँ उत्पन्न हुआ।' . ।"

ब्राह्मण अन्धेके पीछे चलनेवाले अन्धोंकी भाँति बिना जाने देखे ईश्वर (ब्रह्मा) और उसके लोकपर विश्वास रखते हैं, इस भावको समझाते हुए एक जगह और बुद्धने कहा है[1]—

वाशिष्ट ब्राह्मणने बुद्धसे कहा—'हे गौतम! मार्ग-अमार्गके संबंधमें ऐतरेय ब्राह्मण, छन्दोग ब्राह्मण छन्दावा ब्राह्मण, . नाना मार्ग बतलाते हैं, तो भी वह ब्रह्माकी सलोकताको पहुँचाते हैं। जैसे . . ग्राम या कस्बे के पास बहुतसे, नाना मार्ग होते हैं, तो भी वे सभी ग्राममें ही जानेवाले होते हैं। . . .

'वाशिष्ट! . त्रैविद्य ब्राह्मणोंमें एक ब्राह्मण भी नहीं, जिसने ब्रह्माको अपनी आँखसे देखा हो . . एक आचार्य . . . एक आचार्य-प्राचार्य . सातवीं पीढ़ी तकका आचार्य भी नहीं। ब्राह्मणोंके पूर्वज, ऋषि[2] मंत्रोंके कर्ता, मन्त्रोंके प्रवक्ता . . अष्टक, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अंगिरा, भरद्वाज, वशिष्ट, कश्यप, भृगु—से क्या कोई है,

---

१. तेविज्ज-सुत्त (दी० नि०, १।१३, अनुवाद, पृ० ८७-९)

२. ऋग्वेदके ऋषियोंमें वामकका नाम नहीं है, अंगिराका भी अपना मंत्र नहीं है, किंतु अंगिराके गोत्रियोंके ५७से ऊपर सूक्त हैं। (ऋक् १।३५।३६; ६।१५; ८।५७-५८, ६४, ७४, ७६, ७८-७९, ८१-८५, ८७, ८८, ९।४, ३०, ३५-३६, ३९-४०, ४४-४६, ५०-५२, ६१, ६७, (२२-३२), ६९, ७२, ७३, ८३, ९४, ९७, (४५-५८), १०८ (८-११), ११२, १०।४२-४४, ४७, ६७-६८, ७१, ७२, ८२, १०७, १२८, १६४, १७२-७४ बाकी आठ ऋषियोंके बनाए ऋग्-मंत्र इस प्रकार हैं—

... जिसने ब्रह्माको अपनी आँखोंसे देखा हो।....'जिसको न जानते हैं, न देखते हैं उसकी सलोकताकेलिए मार्ग उपदेश करते हैं।' ....वाशिष्ट[1] (यह तो वैसे ही हुआ), जैसे अन्धोंकी पाँति एक

	सूक्त संख्या	पता
१. अष्टक (विश्वामित्र-पुत्र)	१	१।१०४
२. वामक	०	
३. वामदेव (बृहदुक्थ, मूर्धन्वा, अंहोमुचके पिता)	५५	४।१-४१, ४५-५८
४. विश्वामित्र (कुशिक-पुत्र)	४६	३।१-१२, २४-२६, २७-३०, ३२-५३, ५७-६२; ९।६७ (१३-१५); ९।१०१ (१३-१६)
५. जमदग्नि (भार्गव)	४	८।९०; ९।६२, ६५, ६७ (१६-१८)
६. अंगिरा	०	०
७. भरद्वाज (बृहस्पति-पुत्र)	६०	६।१-१४, १६-३२, ३७-४३, ५३-७४; ९।६७ (१-३)
८. वशिष्ट (मित्रावरुण-पुत्र)	१०५	७।१-१०४ ९-९७ (१९-२१), ९०, ९७ (१-३)
९. कश्यप (मरीचि-पुत्र)	७	१।९९; ९।६४, ६७ (४-६), ९१-९३, ११३-१४
१०. भृगु (वरुण-पुत्र)	१	९।६५

दूसरेको छूती हो, पहिलेवाला भी नहीं देखता, बीचवाला भी नहीं देखता, पीछेवाला भी नहीं देखता।..."

(६) क्या अकथनीय—बुद्धने कुछ बातोंको अकथनीय (=अव्याकृत) कहा है, जिसे ही बौद्धिक बेईमानीकेलिए उत्सुक भारतीय लेखक उसीका सहारा लेकर यह कहना चाहते हैं, कि बुद्ध ईश्वर, आत्माके बारेमें चुप थे। इसलिए चुप्पीका मतलब यह नहीं लेना चाहिए, कि बुद्ध उनके अस्तित्वसे इन्कार करते हैं। लेकिन वह इस बातको छिपाना चाहते हैं, कि बुद्धकी अव्याकृत बातोंकी सूची खुली हुई नहीं है, कि उसमें जितनी चाहें उतनी बातें आप दर्ज करते जायें। बुद्धके अव्याकृतोंकी सूचीमें सिर्फ दस बातें हैं, जो लोक (=दुनिया), जीव-शरीरके भेद-अभेद तथा मुक्त-पुरुषकी स्थितिके बारेमें हैं[1]—

विषय	प्रश्न
क. लोक	१ क्या लोक नित्य है?
	२ क्या लोक अनित्य है?
	३ क्या लोक अन्तवान है?
	४ क्या लोक अनन्त है?
ख. जीव-शरीरकी एकता	५ क्या जीव और शरीर एक है?
	६ क्या जीव दूसरा शरीर दूसरा है?
ग. निर्वाणके बादकी अवस्था	७ क्या मरनेके बाद तथागत (=मुक्त) होते हैं?
	८ क्या मरनेके बाद तथागत नहीं होते?
	९ क्या मरनेके बाद तथागत होते भी हैं नहीं भी होते हैं?
	१० क्या मरनेके बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं?

[illegible]

मालुंक्यपुत्तने बुद्धसे इन दस अव्याकृत बातोंके बारेमें प्रश्न किया था—

१. म० नि०, २।२।३ (अनुवाद, पृ० २५१)

"यदि भगवान् (इन्हें) जानते हैं तो बतलायें... नहीं जानते हो, तो न जानने-समझनेवालोंकेलिए यही सीधी (बात) है, कि वह (साफ कह दे)—मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम।...

बुद्धने इसका उत्तर देते हुए कहा—

" मैंने इन्हें अव्याकृत (इसलिए) (कहा) है; (क्योंकि) यह (=इनके बारेमें कहना) सार्थक नहीं, भिक्षु-चर्या (=आदि ब्रह्मचर्य)केलिए उपयोगी नहीं (और) न यह निर्वेद=वैराग्य, निरोध=शान्ति=परम-ज्ञान निर्वाणकेलिए (आवश्यक) है; इसीलिए मैंने उन्हें अव्याकृत किया।"

(सर राधाकृष्णन्की लीपापोती—) बुद्धके दर्शनमें इस प्रकार ईश्वर, आत्मा, ब्रह्म—किसी भी नित्य ध्रुव पदार्थकी गुंजाइश न रहनेपर भी, उपनिषद् और ब्राह्मणके तत्त्वज्ञान—सत्-चित्-आनन्द—से बिल्कुल उलटे तत्त्वों अ-सत् (=अनित्य, प्रतीत्य, समुत्पन्न) -अ-चित् (=अनात्म)-अन्-आनन्द (=दुःख)—अनित्य-दुःख-अनात्म—की घोषणा करनेपर भी यदि सर राधाकृष्णन् जैसे हिन्दू लेखक गैरजिम्मेवारीके साथ निम्न वाक्योंको लिखनेकी धृष्टता करते हैं, तो इसे धर्मकीर्तिके शब्दोंमें 'धिग् व्यापक तम' ही कहना पड़ेगा।—

(क) 'उस (=बुद्ध)ने ध्यान और प्रार्थना (करने)को पकड़ा।'[1] किसकी प्रार्थना?

(ख) "बुद्धका मत था कि सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही क्षणिक है, और चीजें नहीं।"[2]

आपने 'सारे धर्म प्रतीत्य समुत्पन्न हैं', इसकी खूब व्याख्या की?

(ग) बुद्धने जो ब्रह्मके बारेमें साफ हाँ या नहीं कहा, इसे "किसी तरह भी परम सत्ता (=ब्रह्म)से इन्कारके अर्थमें नहीं लिया जा सकता।

---

१. Indian Philosophy by Sir S. Radhakrishnan, Vol. I. (1st edition), p. 355. २. वही P. 378.

यह समझना असम्भव है, कि बुद्धने दुनियाके इस बहावमें किसी वस्तुको ध्रुव (=नित्य) नहीं स्वीकार किया; सारे विश्वमें हो रही अ-शान्तिमें (उन्होंने) कोई ऐसा विश्राम-स्थान नहीं (माना), जहाँ कि मनुष्यका अशान्त हृदय शान्ति पा सके।"[1]

इसकेलिए सर राधाकृष्णन्ने बौद्ध निर्वाणको "परमसत्ता" मनवाने-की चेष्टा की है, किन्तु बौद्ध निर्वाणको अभावात्मक छोड़ भावात्मक वस्तु माना ही नहीं जा सकता। बुद्ध जब शान्तिके प्राप्तिकर्त्ता आत्माको भारी मूर्खता (=बालधर्म) मानते हैं, तो उसके विश्रामकेलिए शान्तिका ठाँव राधाकृष्णन् ही ढूँढ़ सकते हैं! फिर आपने तो इस वचनको वहीं उद्धृत भी किया है—"यह निरन्तर प्रवाह या घटना है, जिसमें कुछ भी नित्य नहीं। यहाँ (=विश्वमें) कोई चीज नित्य (=स्थिर) नहीं—न नाम (=विज्ञान) ही और न रूप (=भौतिकतत्त्व) ही।"[2]

(घ) "आत्माके बारेमें बुद्धके चुप रहनेका दूसरा ही कारण था" "बुद्ध उपनिषद्में वर्णित आत्माके बारेमें चुप हैं—वह न उसे स्वीकार ही करते हैं, न इन्कार ही।"[3]

नहीं जनाब! बुद्धके दर्शनका नाम ही अनात्मवाद है। उपनिषद्के नित्य, ध्रुव आत्माके साथ यहाँ 'अन्' लगाया गया है। "अनित्य दुःख अनात्म"की घोषणा करनेवालेकेलिए आपके ये उद्गार सिर्फ यही साबित करते हैं, कि आप दर्शनके इतिहास लिखनेकेलिए बिलकुल अयोग्य हैं।

आगे यह और दुहराते हैं—

'बिना इस अन्तर्हित तत्त्वके जीवनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसीलिए बुद्ध बराबर आत्माकी सत्यताके निषेधसे इन्कार करते थे।"[4]

---

१. वहीं, पृष्ठ ३७९ २. It is a Perpetual Process with nothing permanent. Nothing here is permanent, neither name nor form——महावग्ग (विनय-पिटक) VI.35. ff
३. वहीं, पृष्ठ ३८५ ४. वहीं, पृष्ठ ३८७ ५. वहीं, पृष्ठ ३८९

(७) **विचार-स्वातंत्र्य**—प्रतीत्य-समुत्पादके आविष्कर्त्ताके लिए विचार-स्वातंत्र्य स्वाभाविक चीज थी। बौद्ध दार्शनिकोंने अपने प्रवर्त्तकके आदेशके अनुसार ही प्रत्यक्ष और अनुमान दोके अतिरिक्त तीसरे प्रमाण-को माननेसे इन्कार कर दिया। बुद्धने विचार-स्वातन्त्र्यको अपने ही उपदेशोंसे इस प्रकार शुरू किया था[1]—

"भिक्षुओ ! मैं बेड़े (=कुल्ल) की भाँति पार जानेकेलिए तुम्हें धर्मका उपदेश करता हूँ, पकड़ रखनेकेलिए नही।....जैसे भिक्षुओ ! पुरुष ....ऐसे महान् जल-अर्णवको प्राप्त हो, जिसका उरला तीर खतरे और भयसे पूर्ण हो और परला तीर क्षेमयुक्त तथा भयरहित हो। वहाँ न पार ले जानेवाली नाव हो, न इधरसे उधर जानेकेलिए पुल हो।.... तब वह....तृण-काष्ठ-पत्र जमाकर बेड़ा बाँधे और उस बेड़ेके सहारे हाथ और पैरसे मेहनत करते स्वस्तिपूर्वक पार उतर जाये।.. उतर जानेपर उसके (मनमें) हो—'यह बेड़ा मेरा बड़ा उपकारी हुआ है, इसके सहारे....मैं पार उतर सका, क्यों न मैं ऐसे बेड़ेको शिरपर रख कर, या कन्धेपर उठाकर... ले चलूँ।'. ..तो क्या .. ऐसा करने-वाला पुरुष उस बेड़ेके प्रति (अपना) कर्त्तव्य पालन करनेवाला होगा ?' ....नहीं....। 'भिक्षुओ ! वह पुरुष उस बेड़ेसे दुःख उठानेवाला होगा।"

एक बार बुद्धसे केसपुत्र ग्रामके कालामोने नाना मतवादो के सच-झूठमें सन्देह प्रकट करते हुए पूछा था[2]—

"भन्ते ! कोई-कोई श्रमण (=साधु) ब्राह्मण केशपुत्र में आते हैं, अपने ही वाद (=मत)को प्रकाशित....करते हैं, दूसरेके वादपर नाराज होते हैं, निन्दा करते हैं।....दूसरे भी....अपने ही वादको प्रकाशित....करते....दूसरेके वादपर नाराज होते हैं।

---

१. म० नि०, १।३।२ (अनुवाद, पृष्ठ ८६-८७)

२. अंगुत्तर-निकाय, ३।७।५

तब. . . .हमे सन्देह. . .होता है—कौन इन . में सच कहता है, कौन झूठ ?'

"कालामो ! तुम्हारा सन्देह . . ठीक है, सन्देहके स्थानमे ही तुम्हे सन्देह उत्पन्न हुआ है।. कालामो ! मत तुम श्रुत (=सुने वचनो, वेदों) के कारण (किसी बातको मानो), मत तर्कके कारणसे, मत नय-हेतुसे, मत (वक्ताके) आकारके विचारसे, मत अपने चिर-विचारित मतके अनुकूल होनेसे, मत (वक्ताके) भव्यरूप होनेसे, मत 'श्रमण हमारा गुरु है' से। जब कालामो ! तुम खुद ही जानो कि ये धर्म (=काम या बात) अच्छे, अदोष, विज्ञोसे अनिन्दित है यह लेने, ग्रहण करनेपर हित, सुखके लिए होते हैं, तो कालामो ! तुम उन्हे स्वीकार करो।"

(८) **सर्वज्ञता गलत**—बुद्धके समकालीन वर्धमानको सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता था, जिसका प्रभाव पीछे बुद्धके अनुयायियोपर भी पडे बिना नही रहा। तो भी बुद्ध स्वय सर्वज्ञताके ख्यालके विरुद्ध थे।

वत्सगोत्रने पूछा[1]—"सुना है भन्ते ! 'श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं . . .—(क्या ऐसा कहनेवाले) यथार्थ कहनेवाले है ? भगवान्की असत्य मे निन्दा तो नही करते ?"

"वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहते है . वह मेरे बारेमे यथार्थ कहनेवाले नही है। वह असत्यसे मेरी निन्दा करने हैं।"

और अन्यत्र[2]—

"ऐसा श्रमण ब्राह्मण नही है जो एक ही बार सब जानेगा, सब देखेगा (सर्वज्ञ सर्वदर्शी होगा)।"

(९) **निर्वाण**—निर्वाणका अर्थ है बुझना—दीप या आगका जलन-जलते बुझ जाना। प्रतीत्यसमुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पन्न) नाम-रूप (=विज्ञान और भौतिकतत्त्व) तृष्णाके मारेसे मिलकर जो एक जीवन-प्रवाहका रूप धारण कर प्रवाहित हो रहे है, इस प्रवाहका

१ म० नि०, २।३।१ २. म० नि०, २।४।१० (अनुवाद, पृष्ठ ३६९)

अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है। पुराने तेल-बत्ती या ईंधनके जल चुकने तथा नयेकी आमदनी न होनेसे जैसे दीपक या अग्नि बुझ जाते हैं, उसी तरह आस्रवों=चित्तमलों, (काम-भोगों, पुनर्जन्म और नित्य आत्माके नित्यत्व आदिकी दृष्टियों)के क्षीण होनेपर यह आवागमन नष्ट हो जाता है। निर्वाण बुझना है, यह उसका शब्दार्थ ही बतलाता है। बुद्धने अपने इस विशेष शब्दको इसी भावके द्योतनकेलिए चुना था। किन्तु साथ ही उन्होंने यह कहनेसे इन्कार कर दिया कि निर्वाण-गत पुरुष (=तथागत)का मरनेके बाद क्या होता है। अनात्मवादी दर्शनमें उसका क्या हो सकता है, यह तो आसानीसे समझा जा सकता है, किन्तु वह ख्याल "बालाना त्रासजनकम्" (=अज्ञोंको भयभीत करनेवाला) है, इसलिए बुद्धने उसे स्पष्ट नहीं कहना चाहा।' उदानके इस वाक्यको लेकर कुछ लोग निर्वाणको एक भावात्मक ब्रह्मलोक जैसा बनाना चाहते हैं।—[1]

"हे भिक्षुओ! अ-जात, अ-भूत, अ-कृत=अ-संस्कृत।" किन्तु यह, निषेधात्मक विशेषणसे किसी भावात्मक निर्वाणको सिद्ध तभी कर सकते थे, जब कि उसके 'आनन्द'का भोगनेवाला कोई नित्य ध्रुव आत्मा होता। बुद्धने निर्वाण उस अवस्थाको कहा है, जहाँ तृष्णा क्षीण हो गई, आस्रव -चित्तमल (=भोग, जन्मान्तर और विशेष मनवादकी तृष्णाएँ हैं) जहाँ नहीं रह जाते। इससे अधिक कहना बुद्धके अ-व्याकृत प्रतिज्ञाकी अवहेलना करनी होगी।[3]

४—बुद्ध का दर्शन और तत्कालीन समाज-व्यवस्था

दर्शन दिमागकी चीज है, फिर हाड़-मासके समूहोंवाले समाजका उसपर क्या बस है? वह केवल मनकी ऊँची उड़ान, मनोमय जगत्की

---

१. इतिवुत्तक, २।२।६ २. उदान, ८।३

३. उदान, ८।२—"दुद्दसं अनत्तं नाम न हि सच्चं सुदस्सनं।
पटिविद्धा तण्हा जानतो पस्सतो नत्थि किञ्चनं॥"

उपज है, इसलिए उसे उसी तरहपर देखना चाहिए। दर्शनके संबंधमें इस तरहके विचार पूरब और पश्चिम दोनोंमें देखे जाते हैं। उनके ख्यालमें दर्शन भौतिक जिससे बिल्कुल अलग चीज है। लेकिन हमने यूनानी-दर्शनमें भी देखा है, कि दर्शन मनकी चीज होते हुए भी "तीन लोकसे मथुरा न्यारी" वाली चीज नहीं रहा। खुद मन भौतिक उपज है। याज्ञवल्क्यके गुरु उद्दालक आरुणिने भी साफ स्वीकार किया था कि "मन अन्नमय है।....खाये हुए अन्नका जो सूक्ष्मांश ऊपर जाता है, वही मन है।"[1] हम खुद अन्यत्र[2] बतला आये हैं कि, हमारे मनके विकासमें हमारे हाथों—हाथके श्रम, सामाजिक और वैयक्तिक दोनों—का सबसे भारी हिस्सा है। मनुष्यकी भाँति मनुष्यका मन भी अपने निर्माणमें समाजका बहुत ऋणी है। ऐसी स्थितिमें मनकी उपज दर्शनकी भी व्याख्या समाजसे दूर जाकर कैसे की जा सकती है? इसलिए सजीव आँखकी असलियतको जैसे शरीरसे अलग निकालकर देखनेसे नहीं मालूम हो सकती, उसी तरह दर्शनके समझनेमें भी हमें उसे उसके जन्म, और कार्यकी परिस्थितिमें देखना होगा।

उपनिषद्को हम देख चुके हैं, समाजकी स्थितिको धारण करने (=रोकने)वाले धर्म (वैदिक कर्मकाण्ड और पाठ-पूजा)की ओरसे आस्था उठते देख पहिले शासक वर्गको चिन्ता हुई और क्षत्रियों—राजाओं—ने ब्रह्मज्ञान तथा पुनर्जन्मके दर्शनको पैदाकर बुद्धिको थकाने तथा सामाजिक विषमताको उचित ठहरानेकी चेष्टा की। द्वन्द्वात्मक रीतिसे विश्लेषण करनेपर हम देखेंगे—(१)

वाद—यज्ञ, वैदिक कर्मकांड, पाठ-पूजा श्रेयका रास्ता है।

प्रतिवाद—यज्ञ रूपी घरनई पार होनेकेलिए बहुत कमजोर है।

संवाद—ब्रह्मज्ञान श्रेयका रास्ता है, जिसमें कर्म सहायक होता है।

बुद्धका दर्शन—(२)

---

१. छान्दोग्य-उपनिषद्, ६।६।१-५ २. "मानव-समाज", पृ० ४-६

सारा वक्तव्य है। तो भी जो प्रहार हो चुका था, उससे वैदिक कर्मकांडको बचाया नहीं जा सकता था। कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे पता लगता है, कि लोकायत (=भौतिक-नास्तिक)-वाद शासकोंमें भी भीतर ही भीतर बहुत प्रिय था। किन्तु दूसरी ही दृष्टिसे वह समयके अनुसार, सिर्फ अपने स्थायी स्वार्थोंका ख्याल रखते हर सामाजिक—धार्मिक—रूढ़िको बदलनेकी स्वतंत्रता चाहते थे। लोगोंके धार्मिक मिथ्याविश्वासोंसे फायदा उठाकर, शासकोंको दैवी चमत्कारों द्वारा राज्यकोष और बल बढ़ानेकी वहाँ साफ सलाह दी गई है। "दशकुमारचरित"के समय (ई० छठी सदीमें) तो राज्यके गुप्तचर धार्मिक "निर्दोष वेष"को बेखटके इस्तेमाल करते थे; और इस तरीकेका इस्तेमाल चाणक्य और उसके पहिलेके शासक भी निस्संकोच करते थे इसमें सन्देह नहीं। लेकिन, शासकवर्ग भौतिकवादको अपने प्रयोजनके लिए इस्तेमाल करता था—सिर्फ, "ऋण कृत्वा घृतं पिबेत्" (=ऋण करके घी पीने) के नीच उद्देश्य से। वहां भौतिकवाद जब शोषित-श्रमिकवर्गके लिए इस्तेमाल होता, तो उसका उद्देश्य वैयक्तिक स्वार्थ नहीं होता था। अब अपने श्रमका फल स्वयं भोगनेकी माँग पेश करता—शोषणको बन्द करना चाहता था।

बुद्धका दर्शन अपने मौलिक रूप—प्रतीत्य-समुत्पाद (क्षणिकवाद)—में भारी क्रान्तिकारी था। जगत्, समाज, मनुष्य सभीको उसने क्षण-क्षण परिवर्तनशील घोषित किया, और कभी न लौटनेवाले "वे हि नो दिवसा गताः" (=वे हमारे दिवस चले गये) की परवाह छोड़कर परिवर्तनके अनुसार अपने व्यवहार, अपने समाजके परिवर्तनके लिए हर वक्त तैयार रहनेकी शिक्षा देता था। बुद्धने अपने बड़े-से-बड़े दार्शनिक विचार ("धर्म")को भी बेड़ेके समान सिर्फ उससे फायदा उठानेकेलिए कहा था और उस समयके बाद भी उनकी निन्दा की थी। तो भी इस क्रान्तिकारी दर्शनने अपने भीतरसे उन तत्त्वों (धर्म)को हटाया नहीं था, जो "समाजकी प्रगतिको रोकने"का काम देते हैं। 'पुनर्जन्मकी यद्यपि बुद्धने नित्य आत्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें आवागमनके

रूपमें माननेसे इन्कार किया था, तो भी दूसरे रूपमे परलोक और पुनर्जन्म-को माना था। जैसे इस शरीरमे 'जीवन' विच्छिन्न प्रवाह (नष्ट—उत्पत्ति—नष्ट—उत्पत्ति)के रूपमें एक तरहकी एकता स्थापित किये हुए है, उसी तरह वह शरीरान्तमे भी जारी रहेगा। पुनर्जन्मके दार्शनिक पहलूको और मजबूत करते हुए बुद्धने पुनर्जन्मका पुनर्जन्म प्रतिसन्धिके रूपमें किया—अर्थात् नाश और उत्पत्तिकी संधि (=शृंखला) से जुड़कर जैसे जीवन-प्रवाह इस शरीरमे चल रहा है, उसी तरह उसकी प्रतिसंधि (=जुड़ना) एक शरीरमे अगले शरीरमे होती है। अविकारी ठोस आत्मामे पहिलेके संस्कारोंको रखनेका स्थान नहीं था, किन्तु क्षण-परिवर्तनशील तरल **विज्ञान** (=जीवन)मे उसके वासना या संस्कारके रूपमें अपना अंग बनकर चलनेमे कोई दिक्कत न थी। क्षणिकता सृष्टि-की व्याख्याकेलिए पर्याप्त थी, किन्तु ईश्वरका काम संसारमें व्यवस्था, समाजमे व्यवस्था (=शोषितको विद्रोहसे रोकनेकी चेष्टा)—कायम रखना भी है। इसकेलिए बुद्धने **कर्म**के सिद्धान्तको और मजबूत किया। आवागमन, धनी-निर्धनका भेद उसी कर्मके कारण है, जिसके कर्त्ता कभी तुम स्वद थे, यद्यपि आज वह कर्म तुम्हारे लिए हाथसे निकला तीर है।

इस प्रकार बुद्धके **प्रतीत्य-समुत्पाद**को देखनेपर जहाँ तत्काल प्रभु-वर्ग भयभीत हो उठता, वहाँ, प्रतिसंधि और कर्मका सिद्धान्त उन्हें बिलकुल निश्चिन्त कर देता था। यही वजह थी, जो कि बुद्धके झंडेके नीचे हम बड़े-बड़े राजाओं, सम्राटों, सेठ-साहूकारोंको आते देखते हैं, और भारतसे बाहर—लंका, चीन, जापान, तिब्बतमें तो उनके धर्मको फैलानेमें राजा सबसे पहिले आगे बढ़े।—वह समझते थे, कि यह धर्म सामाजिक विद्रोहके लिए नहीं बल्कि सामाजिक स्थितिको स्थापित रखनेकेलिए बहुत सहायक साबित होगा। जातियों, देशोंकी सीमाओंको तोड़कर बुद्धके विचारोंने राज्य-विस्तार करनेमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपेण भारी मदद की। समाजमें आर्थिक विषमताको अक्षुण्ण रखते ही बुद्धने वर्ण-व्यवस्था, जातीय ऊँच-नीचके भावको हटाना चाहा था, जिसमे वास्तविक विषमता तो

नहीं हटी, किन्तु निम्न वर्गका सद्भाव जरूर बौद्ध धर्मकी ओर बढ़ गया। वर्ग-दृष्टिसे देखनेपर बौद्धधर्म शासकवर्गके एजंटकी मध्यस्थता जैसा था, वर्गके मौलिक स्वार्थको बिना हटाये वह अपनेको न्याय-पक्षपाती दिखलाना चाहता था।

सिद्धार्थ गौतम अपने दर्शनके रूपमें सोचनेकेलिए क्यों मजबूर हुए? इसकेलिए उनके चारों ओरकी भौतिक परिस्थिति कहाँ तक कारण बनी? यह प्रश्न उठ सकते हैं। किन्तु हमें ख्याल रखना चाहिए कि व्यक्तिपर भौतिक परिस्थितिका प्रभाव समाजके एक आवश्यक रूपमें जो पड़ता है, कभी-कभी वही व्यक्तिको विशेष दिशामें प्रतिक्रियाकेलिए पर्याप्त है; और कभी-कभी व्यक्तिकी अपनी वैयक्तिक भौतिक परिस्थिति भी दिशा-परिवर्तनमें सहायक होती है। पहिली दृष्टिसे बुद्धके दर्शनपर हम अभी विचार कर चुके हैं। बुद्धकी वैयक्तिक भौतिक परिस्थितिका उनके दर्शनपर क्या कोई प्रभाव पड़ा है, जरा इसपर भी विचार करना चाहिए। बुद्ध शरीरसे बहुत स्वस्थ थे। मानसिक तौरसे वह शान्त, गम्भीर, तीक्ष्ण प्रतिभाशाली विचारक थे। महत्त्वाकांक्षाएं उनकी उतनी ही थीं, जितनी कि एक काफी योग्यता रखनेवाले आत्म-विश्वासी व्यक्तिको होनी चाहिए। वह अपने दार्शनिक विचारोंकी सच्चाईपर पूरा विश्वास रखते थे, प्रतीत्यसमुत्पादके महत्त्वको भली प्रकार समझते थे; साथ ही पहिले-पहिल उन्हें अपने विचारोंको फैलानेकी उत्सुकता न थी, क्योंकि वह तत्कालीन विचार-प्रवृत्तिको देखकर आशापूर्ण न थे। शायद अभी तक उन्हें यह पता न था, कि उनके विचारों और उस समयके प्रभुवर्गकी प्रवृत्तिमें समझौतेकी गुंजाइश है।

बुद्धके दर्शनका अनित्य,—अनात्मके अतिरिक्त दुःखवाद भी एक स्वरूप है। इस दुःखवादका कारण यदि उस समयके समाज तथा बुद्धकी अपनी परिस्थिति में ढूँढ़ें, तो यही मालूम होता है, कि उन्हें बचपनमें ही मातृवियोग सहना पड़ा था, किन्तु उनकी मौसी प्रजापतीका स्नेह सिद्धार्थकेलिए कम न था। घरमें उनको किसी प्रकारका कष्ट

हुआ हो, इसका पता नहीं लगता। एक धनिकपुत्रकेलिए जो भोग चाहिए, वह उन्हें सुलभ थे। किन्तु समाजमें होती घटनाएं तेजीसे उनपर प्रभाव डालती थीं। बूढ़, बीमार और मृतके दर्शनसे मनमें वैराग्य होना इसी बातको सिद्ध करता है। दुःखकी सच्चाईको हृदयंगम करनेकेलिए यही तीन दर्शन नहीं थे, इससे बढ़कर मानवकी दासता और दरिद्रताने उन्हें दुःखकी सच्चाईको साबित करनेमें मदद दी होगी; यद्यपि उसका जिक्र हमें नहीं मिलता। इसका कारण स्पष्ट है—बुद्धने दरिद्रता और दासताको उठाना अपने प्रोग्रामका अंग नहीं बनाया था। आरम्भिक दिनोंमें, जान पड़ता है, दरिद्रता-दासताकी भीषणताको कुछ हलका करनेकी प्रवृत्ति बौद्धसंघमें थी। कर्ज देनेवाले उस समय सम्पत्ति न होनेपर शरीर तक खरीद लेनेका अधिकार रखते थे, इसलिए कितने ही कर्जदार त्राण पानेकेलिए भिक्षु बन जाते थे। लेकिन जब महाजनोंके विरोधी हो जानेका खतरा सामने आया, तो बुद्धने घोषित किया[1]—

"ऋणीको प्रव्रज्या (संन्यास) नहीं देनी चाहिए।"

इसी तरह दासोंके भिक्षु बननेसे अपने स्वार्थपर हमला होते देख दास-दासियोंने जब हल्ला किया तो घोषित किया[2]—

"भिक्षुओ! दासको प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए।"

बुद्धके अनुयायी मगधराज बिंबिसारके सैनिक जब बुद्धमें आनेकी जगह भिक्षु बनने लगे तो, सेनानायक और राजा बहुत घबराये, आखिर राज्यका अस्तित्व अन्तमें सैनिक-शक्तिपर ही तो निर्भर है। बिंबिसारने जब पूछा कि, राजसैनिकको साधु बनानेवाला किस दंडका भागी होता है, तो अधिकारियोंने उत्तर दिया[3]—

"देव! उस (-गुरु)का सिर काटना चाहिए, अनुशासक (-भिक्षु

१. महावग्ग, १।३।४।८ (मेरा "विनयपिटक", हिन्दी, पृष्ठ ११८)
२. वही, १।३।४।९ (मेरा "विनयपिटक", पृ० ११८)
३. वही, १।३।४।२ (वहीं, पृ० ११६-११७)

बनाते वक्त विधिवाक्योंको पढ़नेवाले)की जीभ निकालनी चाहिए, और गण (=संघ)की पसली तोड़ देनी चाहिए।"

राजा बिंबिसारने जाकर बुद्धके पास इसकी शिकायत की, तो बुद्धने घोषित किया—

"भिक्षुओ! राजसैनिकोंको प्रब्रज्या नहीं देनी चाहिए।"[1]

इस तरह दुःख सत्यके साक्षात्कारसे दुःख-हेतुओंको संसारसे दूर करनेका जो सवाल था, वह तो खतम हो गया; अब उसका सिर्फ आध्यात्मिक मूल्य रह गया था, और वैसा होते ही सम्पत्तिवाले वर्गकेलिए बुद्धका दर्शन विषदन्तहीन सर्प-सा हो जाता है।

सब देखनेपर हम यही कह सकते हैं, कि तत्कालीन दासता और दरिद्रता बुद्धको दुःखसत्य समझनेमें साधक हुए। दुःख दूर किया जा सकता है, इसे समझते हुए बुद्ध प्रतीत्यसमुत्पादपर पहुँचे—क्षणिक तथा "हेतुप्रभव" होनेसे उसका अन्त हो सकता है। समाजमें साफ दिखाई देनेवाले दुःखकारणोंको हटानेमें असमर्थ समझ उन्होंने उसकी अलौकिक व्याख्या कर डाली।

§ ४–बुद्धके पीछेके दार्शनिक

क – कपिल (४०० ई० पू०)

बुद्धके पहिलेके दार्शनिकोंमें कपिलको भी गिना जाता है, किन्तु जहाँ तक बुद्धके प्राचीनतम उपदेश-संग्रहों तथा तत्कालीन दूसरी उपलब्ध सामग्रीका संबंध है, वहाँ कपिल या उनके दर्शनका बिलकुल पता नहीं है। श्वेताश्वतरमें कपिलका नाम ही नहीं है, बल्कि उसपर कपिलके दर्शनकी स्पष्ट छाप भी है, किन्तु वह बुद्धके पीछेकी उपनिषदोंमें है, यह कह आये हैं। ईसाकी पहिली सदीके बौद्ध कवि और दार्शनिक

---

१. वही

अश्वघोषने अपने "बुद्धचरित"में बुद्धके पहिलेके दो आचार्यों—आलार-कालाम और उद्दक रामपुत्त—में एकको सांख्यवादी (कपिलका अनुयायी) कहा है; किन्तु यह भी जान पड़ता है, ज्यादातर नवनिर्मित परम्परापर निर्भर है, क्योंकि न इसका जिक्र पुराने साहित्यमें है और न उन दोनोंमें से किसीकी शिक्षा सांख्यदर्शनसे मिलती है। ऐसी अवस्थामे कपिलको बुद्धके पहिलेके दार्शनिकोंमें ले जाना मुश्किल है।

श्वेताश्वतरमे कपिल एक बड़े ऋषि हैं। भागवतमें वह विष्णुके २४ अवतारोंमें हैं, और उनके माता पिताका नाम कर्दम ऋषि और देवहूति बतलाया गया है। तो भी इससे कपिलके जीवनपर हमें ज्यादा प्रकाश पड़ना दिखाई नहीं पड़ता। कपिलके दर्शनका सबसे पुराना उपलब्ध ग्रंथ ईश्वरकृष्णकी साख्यकारिका है। सांख्यसूत्रोंके नामसे प्रसिद्ध दोनों सूत्र-ग्रथ उससे पीछे तथा दूसरे पाच सूत्रात्मक दर्शनोसे मुकाबिला करनेके-लिए बने। चीनमे सुरक्षित भारतीय बौद्ध-परंपरासे पता लगता है, कि वसुबधु समकालीन (४०० ई०) विन्ध्यवासीने सत्तर कारिकाओंमे सांख्यदर्शनको लिखा। वसुबधुने उसके खंडनमें **परमार्थसप्तति**के नामसे कोई ग्रथ लिखा था। साख्यकारिकाके ऊपर माठरने एक वृत्ति (=टीका) लिखी है, जिसका अनुवाद चीनी भाषामे भी हो चुका है। ईश्वरकृष्ण तथा माठरके कथनोसे मालूम होता है, कि विचारक कपिलके उपदेशोका एक बड़ा सग्रह था, जिसे **षष्ठितंत्र** कहा जाता था। ईश्वरकृष्णने षष्ठितंत्रके कथानकों, परवादोको हटाकर दर्शनके असली तत्त्वको सत्तर आर्या श्लोकोंमे गुंफित किया। इससे यह भी मालूम होता है, कि षष्ठितंत्र बौद्धोंके पिटक और जैनोंके आगमोकी भाँति एक बृहत् साम्प्रदायिक पिटक था, जिसमे बुद्ध और महावीरके उपदेशोंकी भाँति

---

१. "सप्तत्यां किल येऽर्थाः तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्ठितंत्रस्य। आख्यायिका-विरहिताः परवादविवर्जिताश्चेति।"—(सां० का०)

कपिल—और आसाद उनके शिष्य आसुरि—के उपदेश और संवाद संगृहीत थे।

दर्शन—इतना होते भी हम सांख्यकारिकाको अपने मूलसे अप्रभावित षष्टितंत्रका हूबहू सार नहीं मान सकते। सांख्यकारिकामें प्राप्त विकसित सांख्यदर्शनका वर्णन हम यथास्थान करेंगे, यहाँ संक्षेपमें यही कह सकते हैं—कि कपिल उपनिषद्के दर्शनकी भाँति ब्रह्म या आत्माको ही सर्वेसर्वा नहीं मानते थे। वह आत्मासे इन्कार नहीं करते थे, बल्कि उन्होंने उसके लिए उपनिषद्के अकर्त्ता, अभोक्ता अज, नित्य आदि विशेषणोंको भी स्वीकार कर लिया है। नित्य होनेका मतलब है निष्क्रियता, इसीलिए कपिलने आत्माके निष्क्रिय होनेपर बहुत जोर दिया। निष्क्रिय होनेपर आत्माको विश्वकी सृष्टिसे क्या मतलब दूसरे शब्दोंमें हो क्या प्रयोजन ? ऐसी हालतमें सृष्टिकर्त्ता, या अन्तर्यामी ब्रह्मकी जरूरत न थी, इसीलिए कपिलने अपने दर्शनमें परमात्मा या ब्रह्मको स्थान नहीं दिया, हाँ, असंख्य जीवों या पुरुषोंको उन्होंने प्रकृतिके साथ एक स्वतंत्र तत्त्व माना।

चेतन पुरुषके अतिरिक्त जड़ प्रकृति कपिलके मतमें मुख्य तत्त्व है इसीलिए प्रकृतिका दूसरा नाम प्रधान है। प्रकृति नित्य है, जगत्की सारी वस्तुएं उसीके विकार हैं। बुद्धके पीछे ईश्वर और कपिल कुमारिलवाद मानने आने (३०० ई० पू०)से पूर्व ही हो चुके थे और उनका दर्शन कुछ इतना स्वावलम्बित हो चुका था, कि जहाँ सभी पिछले भौतिक और प्रतिसंस्कृत दर्शनोंने परमाणुवादको अपनाया, वहाँ सांख्यने उससे लाभ नहीं उठाया, इसकी जगह उसने तीन गुणों—सत्त्व रज, तम—का सिद्धान्त पहिले ही आविष्कृत कर लिया था। सांख्यमें कपिल प्रकृति और अनेक चेतन पुरुषोंको मानते थे और कहते थे कि पुरुषकी समीपता पाकर और उसके ही लिए प्रकृतिमें क्रिया उत्पन्न होती है, जिससे विश्वकी वस्तुओंका उत्पाद और विनाश होता है।

सांख्यके विकसित दर्शनके बारेमें हम आगे लिखेंगे।

ख—बौद्ध दार्शनिक नागसेन (१५० ई० पू०)

१—सामाजिक परिस्थिति

बुद्धके जन्मसे कुछ पहिले हीसे उत्तरी भारतके सामन्तोंने राज्यविस्तार-केलिए युद्ध छेड़ने शुरू किये थे—दो-तीन पीढ़ी पहिले ही कोसलने काशी-जनपदको हड़प कर लिया था। बुद्धके समयमें ही बिंबिसारने अंगको भी मगधमें मिला लिया और उस समय विन्ध्यमें होती मगधकी सीमा अवन्ती (उज्जैन) के राज्यसे मिलती थी। वत्स (=कौशाम्बी, इलाहाबाद) का राज भी उस वक्तके सभ्य भारतके बड़े शासकोंमें था। कोसल, मगध, वत्स, अवन्तीके अतिरिक्त लिच्छवियों (वैशाली) का प्रजातंत्र पाँचवीं महान् शक्ति थी। आर्य प्रदेशोंको विजय करते एक-एक जन (=कबीले) के रूपमें बसे थे। आर्योंकी यह नई बस्तियाँ पहिलेसे बसे लोगों और स्वयं दूसरे आर्य जनोंके साथ संघर्षोंके साथ मजबूत हुई थीं। कितनी ही सदियों तक राजतंत्र या प्रजातंत्रके रूपमें यह जन चले आये। उपनिषद्कालमें भी यह जन दिखाई पड़ते हैं, यद्यपि जनतंत्रके रूपमें नहीं बल्कि अधिकतर राजतंत्रके रूपमें। बुद्धके समय जनोंकी सीमाबन्दियाँ टूट रही थीं, और काशि-कोसल, अंग-मगधकी भाँति अनेक जनपद मिलकर एक राज्य बन रहे थे। व्यापारी वर्गने व्यापारिक क्षेत्रमें इन सीमाओंको तोड़ना शुरू किया। एक नहीं अनेक राज्योंसे व्यापारिक संबंधके कारण उनका स्वार्थ उन्हें मजबूर कर रहा था, कि वह छोटे-छोटे स्वतंत्र जनपदोंकी जगह एक बड़ा राज्य कायम होनेमें मदद करें। मगधके धनंजय सेठ (विशाखाके पिता) का साकेत (=अयोध्या) में वहीं कोठी कायम करते हम अन्यत्र देख चुके हैं। जिस वक्त व्यापारी अपने व्यापार द्वारा, राजा अपनी सेना द्वारा जनपदोंकी सीमा तोड़नेमें लगे हुए थे, उस वक्त जो भी दर्शन या धार्मिक विचार उसमें सहायता देते, उनका अधिक प्रचार होना जरूरी था। बौद्ध

---

१. "मानवसमाज", पृष्ठ १३६-३८

धर्मने इस कामको सफलताके साथ किया, चाहे जान-बूझकर धर्मने और राजके हाथमे बिककर ऐसा न भी हुआ हो।

बुद्धके निर्वाणके तीन वर्ष बाद (४८० ई० पू०) अजातशत्रु (मगध) ने लिच्छवि प्रजातंत्रको खतम कर दिया, और अपने समयमें ही उसने अपने राज्यकी सीमा कोसीसे यमुना तक पहुँचा दी, उत्तर दक्खिनमें उसकी सीमा विंध्य और हिमालय थे। जनपदी जातियो, वर्णोकी सीमाओंको न माननेवाली बुद्धकी शिक्षा, यद्यपि इस बातमे अपने समकालीन दूसरे छै तीर्थंकरोंके समान ही थी, किन्तु उनके साथ इसके दार्शनिक विचार बुद्धिवादियोंको ज्यादा आकर्षक मालूम होते थे—पिछले दार्शनिक प्रवाहका चरम रूप होनेसे उसे श्रेष्ठ होना ही चाहिए था। उस समयके प्रतिभाशाली ब्राह्मणों और क्षत्रिय विचारकोंका भारी भाग बुद्धके दर्शनसे प्रभावित था। इन आदर्शवादी भिक्षुओंका त्याग और सादा जीवन भी कम आकर्षक न था। इस प्रकार बुद्धके समय और उसके बाद बौद्धधर्म युग-धर्म—जनपद-एकीकरण—में सबसे अधिक सहायक बना। बिंबिसारके वंशके बाद नन्दोंका राज्यवंश आया, उसने अपनी सीमाको और बढ़ाया, और पश्चिममें सतलज तक पहुँच गया। पिछले राजवंशके बौद्ध होनेके कारण उसके उत्तराधिकारी नदवंशका धार्मिक तौरसे बौद्धसंघके साथ उतना घनिष्ठ संबंध चाहे न भी रहा हो, किन्तु राज्यके भीतर जबर्दस्ती शामिल किये जाते जनपदोंमें जनपदके व्यक्तित्वके भावको हटाकर एकताका जो काम बौद्ध कर रहे थे, उसके महत्त्वको वह भी नहीं भूल सकते थे—मगधमें बुद्धके जीवनमें उनका धर्म बहुत अधिक जनप्रिय हो चुका था, और वहाँका राजधर्म भी हो ही चुका था। इस प्रकार मगध-राजके शासन और प्रभावके विस्तारके साथ उसके बौद्धधर्मके विस्तारका होना ही था। नन्दोंके अन्तिम समयमें सिकन्दरका पंजाबपर हमला हुआ, यद्यपि यूनानियोंका उस वक्तका शासन बिलकुल अ-स्थायी था, तो भी उसके कारण भारतमें यूनानी सिपाही, व्यापारी, शिल्पी लाखोंकी संख्यामें बसने लगे थे। इन अभिमानी "म्लेच्छ" जातियोंको भारतीय बनानेमें सबसे आगे बढ़े थे बौद्ध। यवन मितान्दर और शक

कनिष्क जैसे प्रतापी राजाओंका बौद्ध होना आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि वह यह बतलाता है कि जनपद और जनपद, आर्य और म्लेच्छके बीचके भेदको मिटानेमें बौद्धधर्मने खूब हाथ बँटाया था।

२—यूनानी और भारतीय दर्शनों का समागम

यूनानी भारतीयोंकी भाँति उस वक्तकी एक बड़ी सभ्य जाति थी। दर्शन, कला, व्यापार, राजनीति, सभीमें वह भारतीयोंसे पीछे तो क्या मूर्तिकला, नाट्यकला जैसी कुछ बातोंमें तो भारतीयोंसे आगे थे। दर्शनके निम्न सिद्धान्तोंको उनके दार्शनिक आविष्कृत कर चुके थे, और इन्हें पिछले वक्तके भारतीयोंने बिना ऋण कबूल किये अपने दर्शनका अंग बना लिया।

वाद	दार्शनिक	समय ई० पू०
आकृतिवाद	पिथागोर	५७०–५००
क्षणिकवाद	हेराक्लितु	५३५–४७५
बीजवाद	अनक्सागोर	५००–४२८
परमाणुवाद	देमोक्रितु	४६०–३७०
विज्ञान (=आकृति)	अफलातूँ	४२७–३४७
विशेष		
सामान्य (=जाति)	"	
मूल स्वरूप	"	
सृष्टिकर्ता	"	
उपादान कारण	"	
निमित्त कारण	"	
तर्कशास्त्र	अरस्तू	३८४–३२२
द्रव्य	"	
गुण	"	
	"	

कर्म	अरस्तू
दिशा	,,
काल	,,
परिमाण	,,
आसन	,,
स्थिति	,,

इस दर्शनका भारतीय दर्शनपर क्या प्रभाव पड़ा, यह अगले पृष्ठोंसे मालूम होगा। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना है, कि हेराक्लितु, अफलातूँ, अरस्तू दर्शनोंको जाननेवाले अनेक यवन भारतमें बस गये थे, और वे बुद्धके दर्शनके महत्त्वको अच्छी तरह समझ सकते थे।

यह वह समय है जब कि यवन-शासित पंजाबमें नागसेन पैदा होते हैं।

३—नागसेनकी जीवनी

नागसेनके जीवनके बारेमें 'मिलिन्द प्रश्न'[1] में जो कुछ मिलता है, उससे इतना ही मालूम होता है, कि हिमालय-पर्वतके पास (पंजाब)में कजंगल गाँवमें सोनुत्तर ब्राह्मणके घरमें उनका जन्म हुआ था। पिताके घरमें ही रहते उन्होंने ब्राह्मणोंकी विद्या वेद, व्याकरण आदिको पढ़ लिया था। उसके बाद उनका परिचय उस वक्त वत्तनीय (=वर्त्तनीय) स्थानमें रहते एक विद्वान् भिक्षु रोहणसे हुआ जिससे नागसेन बौद्ध-विचारोंकी ओर झुके। रोहणके शिष्य बन वह उनके साथ विजम्भवत्थु (=विजृम्भवस्तु) होते हिमालयमें रक्षिततल नामक स्थानमें गये। वहीं गुरुने उन्हें उस समयकी रीतिके अनुसार कंठस्थ किये सारे बौद्ध वाङ्मयको पढ़ाया। और पढ़नेकी इच्छासे गुरुकी आज्ञाके अनुसार वह एक बार फिर पैदल चलते वत्तनीयमें

१. 'मिलिन्द-प्रश्न', अनुवादक भिक्षु जगदीश काश्यप, १९३७ ई०)।
 वर्त्तनीय, कजंगल और शायद विजम्भवत्थु भी स्यालकोटके जिलेमें थे।

एक प्रख्यात विद्वान् अश्वगुप्तके पास पहुँचे। अश्वगुप्त अभी इस नये विद्यार्थीकी विद्या-बुद्धिकी परख कर ही रहे थे, कि एक दिन किसी गृहस्थके घर भोजनके उपरान्त कायदेके अनुसार दिया जानेवाला धर्मोपदेश नागसेनके जिम्मे पड़ा। नागसेनकी प्रतिभा उससे खुल गई और अश्वगुप्तने इस प्रतिभा-शाली तरुणको और योग्य हाथोंमें सौंपनेकेलिए पटना (=पाटलिपुत्र)के अशोकाराम विहारमें वास करनेवाले आचार्य धर्मरक्षितके पास भेज दिया। सौ योजनपर अवस्थित पटना पैदल जाना आसान काम न था, किन्तु तब भिक्षु बराबर आते-जाते रहते थे, व्यापारियोंका सार्थ (=कारवाँ)भी एक-न-एक चलता ही रहता था। नागसेनको एक ऐसा ही कारवाँ मिल गया जिसके स्वामीने बड़ी खुशीसे इस तरुण विद्वान्को खिलाते-पिलाते साथ ले चलना स्वीकार किया।

अशोकाराममें आचार्य धर्मरक्षितके पास रहकर उन्होंने बौद्ध तत्त्व-ज्ञान और पिटकका पूर्णतया अध्ययन किया। इसी बीच उन्हें पंजाबसे बुलौवा आया, और वह एक बार फिर रक्षिततलपर पहुँचे।

मिनान्दर (=मिलिन्द)का राज्य यमुनासे आमू (वक्षु) दरिया तक फैला हुआ था। यद्यपि उसकी एक राजधानी बलख (वाह्लीक) भी थी, किन्तु हमारी इस परपराके अनुसार मालूम होता है, मुख्य राजधानी सागल (=स्यालकोट) नगरी थी। प्लूतार्कने लिखा है कि—मिनान्दर बड़ा न्यायी, विद्वान् और जनप्रिय राजा था। उसकी मृत्युके बाद उसकी हड्डियों-केलिए लोगोंमें लड़ाई छिड़ गई। लोगोंने उसकी हड्डियोंपर बड़े-बड़े स्तूप बनवाये। मिनान्दरको शास्त्रचर्चा और बहसकी बड़ी आदत थी, और साधारण पंडित उसके सामने नहीं टिक सकते थे। भिक्षुओंने कहा—'नागसेन! राजा मिलिन्द वादविवादमें प्रश्न पूछकर भिक्षु-संघको तंग करता और नीचा दिखाता है; जाओ तुम उस राजाका दमन करो।"

नागसेन, संघके आदेशको स्वीकार कर सागल नगरके असंखेय्य नामक परिवेण (=मठ)में पहुँचे। कुछ ही समय पहिले वहाँके बड़े पंडित आयु-पालको मिनान्दरने चुप कर दिया था। नागसेनके आनेकी खबर शहरमें

फैल गई। मिनान्दरने अपने एक अमात्य देवमंत्री (-जो शायद यूनानी दिमित्री है)से नागसेनसे मिलनेकी इच्छा प्रकट की। स्वीकृति मिलनेपर एक दिन "पाँच सौ यवनोंके साथ अच्छे रथपर सवार हो वह असंखेय्य परिवेणमें गया। राजाने नमस्कार और अभिनंदनके बाद प्रश्न शुरू किये।" इन्हीं प्रश्नोंके कारण इस ग्रंथका नाम "मिलिन्द-प्रश्न" पड़ा। यद्यपि उपलभ्य पाली "मिलिन्द पञ्ह"में छः परिच्छेद है, किन्तु उनमेंसे पहिलेके तीन ही पुराने मालूम होते हैं, चीनी भाषामें भी इन्हीं तीन परिच्छेदोंका अनुवाद मिलता है। मिनान्दरने पहिले दिन मठमें जाकर नागसेनसे प्रश्न किये, दूसरे दिन उसने महलमें निमन्त्रण कर प्रश्न पूछे।

४–दार्शनिक विचार

अपने उत्तरमें नागसेनने बुद्धके दर्शनके अनात्मवाद, कर्म या पुनर्जन्म, नाम-रूप (=मन और भौतिक तत्त्व), निर्वाण आदिको ज्यादा विशद करनेका प्रयत्न किया है।

(१) **अनात्मवाद**—मिनान्दरने पहिले बौद्धोंके अनात्मवाद की ही परीक्षा करनी चाही। उसने पूछा[1]—

(क) "भन्ते (स्वामिन्)! आप किस नामसे जाने जाते हैं?"

"नागसेन . नाममे (मझे) पुकारते हैं ? किन्तु यह केवल व्यवहारकेलिए संज्ञा भर है, क्योंकि यथार्थमें ऐसा कोई एक पुरुष (=आत्मा) नहीं है।"

"भन्ते! यदि एक पुरुष नहीं है तो कौन आपको वस्त्र . भोजन देता है? कौन उसको भोग करता है? कौन शील (-सदाचार)की रक्षा करता है? कौन ध्यान. . . .का अभ्यास करता है? कौन आर्यमार्गके फल निर्वाणका साक्षात्कार करता है? यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्यका कोई करनेवाला है . .न करानेवाला

---

१. मिलिन्द-प्रश्न, २।१ (अनुवाद, पृ० ३०-३४)

है। ....न पाप और पुण्य ...के.. फल होते हैं?....यदि आपको कोई मार डाले तो किसी का मारना नहीं हुआ। ...(फिर) नागसेन क्या है? ..क्या ये केश नागसेन हैं?"

"नहीं महाराज!"

"ये रोयें नागसेन हैं?"

"नहीं महाराज!"

"ये नख, दाँत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, बुक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, पतली आँत, पेट, पाखाना, पित्त, कफ, पीव, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, राल, नासामल, कर्णमल, मस्तिष्क नागसेन है?"

"नहीं महाराज!"

"तब क्या आपका रूप (=भौतिक तत्त्व) ..वेदना....संज्ञा संस्कार या विज्ञान नागसेन है?

नहीं महाराज!"

"तो क्या रूप ..विज्ञान (=पाँचों स्कंध) सभी एक साथ नागसेन हैं?"

"नहीं महाराज!"

" तो क्या रूप आदिसे भिन्न कोई नागसेन है?"

"नहीं महाराज!"

"भन्ते! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु 'नागसेन' क्या है। इसका पता नहीं लग सका। तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है? आखिर नागसेन है कौन?"

"महाराज!... क्या आप पैदल चलकर यहाँ आये या किसी सवारीपर?"

"भन्ते! .. मैं ...रथपर आया।"

"महाराज! ...तो मुझे बतावें कि आपका 'रथ' कहाँ है? क्या हरिस (=ईषा) रथ है?"

"नही भन्ते !"

"क्या अक्ष रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"क्या चक्के रथ हैं ?"

"नही भन्ते !"

"क्या रथका पंजर. . .रस्मियाँ. . .लगाम. . .चाबुक . . . रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एक साथ रथ हैं ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! क्या हरीस आदिके परे कही रथ है ?"

"नही भन्ते !"

"महाराज ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया, किन्तु यह पता नही लगा कि रथ कहाँ है ? क्‍या रथ केवल एक शब्द मात्र है। आखिर यह रथ है क्या ? आप झूठ बोलते हैं कि रथ नही है ! महाराज ! सारे जम्बूद्वीप (- भारत)के आप सबसे बड़े राजा हैं; भला किससे डरकर आप झूठ बोलते हैं ?'

"भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नही बोलता। हरीस आदि रथके अवयवोंके आधारपर केवल व्यवहारके लिए 'रथ' ऐसा एक नाम बोला जाता है।"

"महाराज ! बहुत ठीक, आपने जान लिया कि रथ क्या है। इसी तरह मेरे केश आदिके आधारपर केवल व्यवहारकेलिए 'नागसेन' ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु, परमार्थमें 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्यमान नहीं है। भिक्षुणी वजाने भगवान्‌के सामने इसीलिए कहा था—

'जैसे अवयवोंके आधारपर 'रथ' संज्ञा होती है, उसी तरह (रूप आदि) स्कंधोंके होनेसे एक सत्त्व (=जीव) समझा जाता है।' "[1]

---

१. संयुत्तनिकाय, ५।१०।६

(ख)—"महाराज ! 'जान लेना' विज्ञानकी पहिचान है, 'ठीकसे समझ लेना' प्रज्ञाकी पहिचान है; और 'जीव' ऐसी कोई चीज नहीं है।"

"भन्ते ! यदि जीव कोई चीज ही नहीं है, तो हम लोगोंमें वह क्या है जो आँखसे रूपोंको देखता है, कानसे शब्दोंको सुनता है, नाकसे गंधोंको सूँघता है, जीभसे स्वादोंको चखता है, शरीरसे स्पर्श करता है और मनसे 'धर्मों'को जानता है।"

"महाराज ! यदि शरीरसे भिन्न कोई जीव है जो हम लोगोंके भीतर रह आँखसे रूपको देखता है, तो आँख निकाल लेनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिए। कान काट देनेपर बड़े छेदसे उसे और भी अच्छी तरह सुनना चाहिए। नाक काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह सूँघना चाहिए। जीभ काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्वाद लेना चाहिए और शरीरको काट देनेपर उसे और भी अच्छी तरह स्पर्श करना चाहिए।"

"नहीं भन्ते ! ऐसी बात नहीं है।"

"महाराज ! तो हम लोगोंके भीतर कोई जीव भी नहीं है।"

(२) **कर्म या पुनर्जन्म**—आत्माके न माननेपर किये गये भले बुरे कर्मोंकी जिम्मेवारी तथा उसके अनुसार परलोकमें दुःख-सुख भोगना कैसे होगा, मिनान्दरने इसकी चर्चा चलाते हुए कहा।

"भन्ते ! कौन जन्म ग्रहण करता है?"

"महाराज ! नाम[2] (=विज्ञान) और रूप[3] ।"

"क्या यही नाम—रूप जन्म ग्रहण करता है?"

"महाराज ! यही नाम और रूप जन्म नहीं ग्रहण करता। मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य करता है, उस कर्मके करनेसे दूसरा नाम रूप जन्म ग्रहण करता है।"

"भन्ते ! तब तो पहिला नाम और रूप अपने कर्मोंसे मुक्त हो गया?"

"महाराज ! यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे, तो मुक्त हो गया;

---

१. वही, ३।४।४४ (अनुवाद, पृष्ठ ११०) २. Mind. ३. Matter

किन्तु, चूँकि वह फिर भी जन्म ग्रहण करता है, इसलिए (मुक्त) नहीं हुआ।"

". . उपमा देकर समझावें।"

a. "आमकी चोरी"—कोई आदमी किसीका आम चुरा ले। उसे आमका मालिक पकड़कर राजाके पास ले जाये—'राजन्! इसने मेरा आम चुराया है'। इसपर वह (चोर) ऐसा कहे—'नहीं', मैंने इसके आमोंको नहीं चुराया है। इसने (जो आम लगाया था) वह दूसरा था, और मैंने जो आम लिये वे दूसरे हैं। ' महाराज! अब बतावें कि उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं?"

" . सजा मिलनी चाहिए।"

"सो क्यों?"

"भन्ते! वह ऐसा भले ही कहे, किन्तु पहिले आमको छोड़ दूसरे हीको चुरानेके लिए उसे जरूर सजा मिलनी चाहिए।"

'महाराज! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूपसे पाप या पुण्य . करता है। उन कर्मोंसे दूसरा नाम और रूप जन्मता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ।

b. "आगका प्रवास—महाराज! कोई आदमी जाड़ेमें आग जलाकर तापे और उसे बिना बुझाये छोड़कर चला जाय। वह आग किसी दूसरे आदमीके खेतको जला दे . (पकड़कर राजाके पास ले जानेपर वह आदमी बोले—) 'मैंने इस खेतको नहीं जलाया। वह दूसरी ही आग थी, जिसे मैंने जलाया था, और वह दूसरी है जिससे खेत जला। मुझे सजा नहीं मिलनी चाहिए।' . . महाराज! उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं?'

" . . मिलनी चाहिए। . . उसीकी जलाई हुई आगने बढ़ते-बढ़ते खेतको भी जला दिया। . "

c. "दीपकसे आग लगना—महाराज! कोई आदमी दीया

---

१. वही, २।२।१४ (अनुवाद, पृष्ठ ५७-६०)

लेकर अपने घरके उपरले छतपर जाये और भोजन करे। वह दीया जलता हुआ कुछ तिनकोंमें लग जाये। वे तिनके घरको (आग) लगा दें, और वह घर सारे गाँवको लगा दे। गाँववाले उस आदमीको पकड़ कर कहे—'तुमने गाँवमें क्यों आग लगाई?' इसपर वह कहे—'मैंने गाँवमें आग नहीं लगाई। उस दीयेकी आग दूसरी ही थी, जिसकी रोशनी में मैंने भोजन किया था, और वह आग दूसरी ही थी, जिसने गाँव जलाया।' इस तरह आपसमें झगड़ा करते (यदि) वे आपके पास आवें, तो आप किधर फैसला देंगे?"

'भन्ते! गाँववालोंकी ओर ।"

"महाराज! इसी तरह यद्यपि मृत्युके साथ एक नाम और रूपका लय होता है और जन्मके साथ दूसरा नाम और रूप उठ खड़ा होता है, किन्तु वह भी उसीसे होता है। इसलिए वह अपने कर्मोंसे मुक्त नहीं हुआ।"

(ग) **विवाहित कन्या—**महाराज! कोई आदमी . .रुपया दे एक छोटीसी लड़कीसे विवाह कर, कहीं दूर चला जाये। कुछ दिनोंके बाद वह बढ़कर जवान हो जाये। तब कोई दूसरा आदमी रुपया देकर उससे विवाह कर ले। इसके बाद पहिला आदमी आकर कहे—'तुमने मेरी स्त्रीको क्यों निकाल लिया?' इसपर वह ऐसा जवाब दे—'मैंने तुम्हारी स्त्रीको नहीं निकाला। वह छोटी लड़की दूसरी ही थी, जिसके साथ तुमने विवाह किया था और जिसकेलिए रुपये दिये थे। यह सयानी, जवान औरत दूसरी ही है जिसके साथ कि मैंने विवाह किया है और जिसके-लिए रुपये दिये हैं। अब, यदि दोनों इस तरह झगड़ते हुए आपके पास आवें तो आप किधर फैसला देंगे?"

" .पहिले आदमीकी ओर।. . (क्योंकि) वही लड़की तो बढ़कर सयानी हुई।"

(घ)[1]—"भन्ते! जो उत्पन्न है, वह वही व्यक्ति है या दूसरा?"

---

१. वही, २।२।९ (अनुवाद, पृ० ४९)

"न वही और न दूसरा ही। (१) जब आप बहुत बच्चे थे और खाटपर चित्त ही लेट सकते थे, क्या आप अब इतने बड़े होकर भी वही हैं?"

"नहीं भन्ते! अब मैं दूसरा हो गया हूँ।"

"महाराज! यदि आप वही बच्चा नहीं हैं, तो अब आपकी कोई माँ भी नहीं है, कोई पिता भी नहीं है, कोई गुरु भी नहीं।. क्योंकि तब तो गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी भी भिन्न-भिन्न माताएं होवेंगी। बड़े होनेपर माता भी भिन्न हो जायेगी। शिल्प सीखनेवाला (विद्यार्थी) दूसरा और सीखकर तैयार (हो जानेपर) दूसरा होगा। अपराध करनेवाला दूसरा होगा और (उसकेलिए) हाथ पैर किसी दूसरेका काटा जायेगा।'

भन्ते! आप इससे क्या दिखाना चाहते हैं?

'महाराज! मैं बचपनमे दूसरा था और इस समय बड़ा होकर दूसरा हो गया हूँ, किन्तु वह सभी भिन्न भिन्न अवस्थाए इस शरीरपर ही घटनेसे एक हीमे ले ली जाती है।

"(२) यदि कोई आदमी दीया जलावे तो वह रात भर जलता रहेगा न?"

" रातभर जलता रहेगा।

'महाराज! रातके पहिले पहरमे जो दीयेकी टेम थी। क्या वही दूसरे या तीसरे पहरमे भी बनी रहती है?"

"नहीं, भन्ते!"

"महाराज! तो क्या वह दीया पहिले पहरमे दूसरा, दूसरे और तीसरे पहरमे और हो जाता है?"

"नहीं भन्ते! वही दीया सारी रात जलता रहता है।"

"महाराज! ठीक इसी तरह किसी वस्तुके अस्तित्वके सिलसिलेमे एक अवस्था उत्पन्न होती है, एक लय होती है—और इस तरह प्रवाह जारी रहता है। एक प्रवाहकी दो अवस्थाओंमे एक क्षणका भी अन्तर

नहीं होता; क्योंकि एकके लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न (वह) वही जीव है और न दूसरा ही हो जाता है। **एक जन्मके अन्तिम विज्ञान (=चेतना) के लय होते ही दूसरे जन्मका प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।**

(**इ**)[1]—"भन्ते! जब एक नाम-रूपसे अच्छे या बुरे कर्म किये जाते है, तो वे कर्म कहाँ ठहरते हैं?"

"महाराज! कभी भी पीछा नही छोड़नेवाली छायाकी भाँति वे कर्म उसका पीछा करते है।"

"भन्ते! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते है, (कि) वह यहाँ ठहरे हैं?"

"महाराज! वे इस तरह नही दिखाये जा सकते। क्या कोई वृक्षके उन फलोको दिखा सकता है जो अभी लगे ही नही . . ?"

(३) **नाम और रूप**—बुद्धने विश्वके मूल तत्त्वको विज्ञान (=नाम) और भौतिकतत्त्व (=रूप)मे बाँटा है, इनके बारेमे मिनान्दरने पूछा[2]—

"भन्ते! नाम क्या चीज है और रूप क्या चीज?"

महाराज! जितनी स्थूल चीजें है, सभी रूप है और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म है, सभी नाम हैं। . . दोनो एक दूसरेके आश्रित है, एक दूसरेके बिना ठहर नही सकते। दोनो (सदा) साथ ही होते है। . यदि मुर्गीके पेटमे (बीज रूपमे) बच्चा नही हो तो अडा भी नही हो सकता; क्योंकि बच्चा और अंडा दोनो एक दूसरेपर आश्रित हैं। दोनो एक ही साथ होते है। यह (सदासे) होता चला आया है। "

(४) **निर्वाण**—मिनान्दरने निर्वाणके बारेमे पूछते हुए कहा[1]—

"भन्ते! क्या निरोध हो जाना ही निर्वाण है?"

"हाँ, महाराज! निरोध (=बन्द) हो जाना ही निर्वाण है। . सभी . . अज्ञानी विषयोके उपभोगमे लगे रहते हैं, उसीमे आनन्द लेते हैं, उसीमे डूबे रहते हैं। वे उसीकी धारामे पड़े रहते हैं, बार-बार

---

१. वही २. वही, ३।१।६ (अनुवाद, पृ० ८५)

जन्म लेते, बूढ़े होते, मरते, शोक करते, रोते-पीटते, दुःख, बेचैनी और परेशानीसे नहीं छूटते। (वह) दुःख ही दुःखमें पड़े रहते हैं। महाराज! किन्तु ज्ञानी विषयोंके भोग (=उपादान) में नहीं लगे रहते। इससे उनकी तृष्णाका निरोध हो जाता है। उपादानके निरोधसे भव (=आवागमन)का निरोध हो जाता है। भवके निरोधसे जन्मना बन्द हो जाता है। (फिर) बूढ़ा होना, मरना सभी दुःख बन्द (=निरुद्ध) हो जाते है। महाराज! इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।"....

" . (बुद्ध) कहाँ है?"

"महाराज! भगवान् परम निर्वाणको प्राप्त हो गये हैं, जिसके बाद उनके व्यक्तित्वको बनाये रखनेकेलिए कुछ भी नहीं रह जाता ...।"

"भन्ते! उपमा देकर समझावें।"

"महाराज! क्या होकर-बुझ-गई जलती आगकी लपट, दिखाई जा सकती है. .?"

"नहीं भन्ते! वह लपट तो बुझ गई।"

नागसेनने अपने प्रश्नोत्तरोंसे बुद्धके दर्शनमे कोई नई बात नहीं जोड़ी, किन्तु उन्होंने उसे कितना साफ किया यह ऊपरके उद्धरणोंसे स्पष्ट है। यहाँ हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए, कि नागसेनका अपना जन्म हिन्दी-यूनानी साम्राज्य और सम्यनाके केन्द्र स्यालकोट (=सागल)के पास हुआ था, और भारतीय ज्ञानके साथ-साथ यूनानी ज्ञानका भी परिचय रखनेके कारण ही वह मिनान्दर जैसे तार्किकका समाधान कर सके थे। मिनान्दर और नागसेनका यह संवाद इतिहासकी उस विस्तृत घटनाका एक नमूना है, जिसमे कि हिन्दी और यूनानी प्रतिभाएं मिलकर भारतमें नई विचार-धाराओका आरम्भ कर रही थी।

---

१. वही, ३।२।१८ (अनुवाद, पृ० ९१)

अध्याय १६

अनीश्वरवादी दर्शन

दर्शनका नया युग (२००-४००)

क—बाह्य परिस्थिति

(सामाजिक स्थिति)—मौर्यकि शासनके साथ कुमारी अन्तरीपसे हिमालय, सुवर्णभूमि (=बर्मा) की सीमासे हिन्दूकुश तकका भारत एक शासनके सूत्रमे बँध गया, और इस विशाल साम्राज्यकी राजधानी पटना हुई। पटना नाम ही पत्तनसे बिगड़कर बना है, जिसका अर्थ होता है बन्दर-गाह, नावका घाट। पटना जिस तरह शासन केन्द्र था, वैसे ही वह व्यापार-का केन्द्र था। यह भी हम बतला चुके है, कि किस तरह मगधकी राजनीतिक प्रधानताके साथ वहाँके सर्व-प्रिय धर्म—बौद्ध-धर्म—ने भी अपने प्रभावका विस्तार किया। पाटलिपुत्र (=पटना) विद्वानोंकी परीक्षाका स्थान बन गया। यही पाणिनि (४०० ई० पू०) जैसे विद्वान् सुपरीक्षित हो सारे भारतमें कीर्ति पाने थे। मिनान्दरके गुरु नागसेनका पटना (अशोकाराम) मे आकर विद्याध्ययनकी बात हम कह चुके हैं। इतने बडे साम्राज्यमे एक राजकीय भाषा (=मागधी), एक तरहके सिक्के, एक तरहके नाप-तोल होनेसे भारतीय समाजमे एकता आने लगी थी। लेकिन यह एकता भीतर नही प्रवेश कर सकी, क्योंकि देशों, प्रदेशोंके छोटे-छोटे प्रजातंत्रों और राजतंत्रोंके टूटने रहनेपर भी हर एक गाँव अपने स्वावलंबी "प्रजातंत्र"के रूपको नही छोड़ना चाहता था।

मौर्य चन्द्रगुप्तने यूनानी शासनको भारतसे हटाया जरूर, किन्तु उससे यूनानी भारतसे नहीं हट सके। पंजाबमे उनकी कितनी ही बस्तियाँ बसी हुई थीं। हिन्दूकुश पारसे उनका विशाल राज्य शुरू होता था जो कि मध्य-एसिया, ईरान, मेसोपोतामिया, क्षुद्र-एसिया होते मिस्र और यूरोप तक फैला

हुआ था। सिकन्दरकी मृत्यु (३२३ ई० पू०)के साथ वह कितने ही टुकड़ों में बँटा जरूर, किन्तु तब भी उसकी शासनप्रणाली, सभ्यता आदि एकसी थी। मातृभूमि (यूनान) तथा एक दूसरेके साथ उनका व्यापारिक ही नहीं सामाजिक, बौद्धिक घनिष्ठ सम्बन्ध था। और मौर्य साम्राज्यके नष्ट होते ही यूनानी फिर हिन्दूकुश पार हो यमुना और नर्मदाके पश्चिमके सारे भारतपर स्थायी तौरसे अधिकार जमानेमें सफल हुए। इस कार्यको सम्पन्न करनेवाले यूनानी शासकोंमें मिनान्दर (१५० ई० पू०) प्रमुख और प्रथम था।[1] इन यूनानी शासकोंके मध्य-एसियाई साम्राज्यमें शक, जट्ट, गुज्जर, आभीर आदि जातियाँ रहती थीं, इसलिए पश्चिमी भारतमें यूनानियोंके शासन स्थापित होनेपर यह जातियाँ भी आ-आकर भारतमें बसने लगीं, और आज भी उनकी सन्तानें पश्चिमी भारतकी आबादीमें काफी संख्या रखती हैं। इन जातियोंमें शक तो यूनानियोंके क्षत्रप (उपराज या वाइस-राय) होकर मथुरा और उज्जैनमें रहते थे, और यूनानियोंके शासनके उठ जानेपर स्वतन्त्र साम्राज्य कायम करनेमें समर्थ हुए। ईसाकी पहिली सदीमें शक सम्राट कनिष्क प्रायः सारे उत्तरी भारत और मध्य-एसियाका शासक था। शक तीसरी सदी तक गुजरात और उज्जैनपर शासन करते रहे। आभीर शकोंके प्रधान सेनापति तथा कभी-कभी स्वतन्त्र शासक भी बने थे। जायसवालके मतानुसार गुप्त राजवंश जट्ट था। अस्तु, यह तो साफ है कि जिस कालकी ओर हम आगे बढ़ रहे हैं वह पश्चिमसे आनेवाली जातियोंके भारतमें भारी संख्यामें आकर भारतीय बन जानेका समय था। जातियोंके साथ नाना सभ्यताओं, नाना विचारोंका भारतमें सम्मिश्रण भी हो रहा था। इसी समय (१५० ई० पू०) भारतने यूनानी ज्योतिषमें—१२ राशियाँ होरा (=घंटा), फलित ज्योतिषका होडाचक्र[2] सीखा। गन्धार-मूर्तिकला इसी कालकी देन है। इसी समय भारतीय

---

१. राजधानी बाह्लीक (बलख या बाक्तर)। २. होडाचक्रकी वर्णमाला भारतीय (क-ख-ग...) नहीं बल्कि यूनानी (अल्फा,बीता, गामा...) है।

कार्षापण चौकोरकी जगह यूनानी सिक्कोंकी तरह गोल और राजाके चित्रसे अंकित बनने लगे। यूनानी नाटकोंकी भाँति भारतीय नाटकोंका प्रथम प्रयास भी इसी समय शुरू हुआ,—उपलभ्य नाटक हमें अश्वघोष (५० ई०) से पहिले नहीं ले जाते। दार्शनिक क्षेत्रमें भी इस कालकी देनोंमें आकृतिवाद, परमाणुवाद, विज्ञान-विशेष-जातिवाद, उपादान-निमित्त-कारण, द्रव्यगुणपरिणाम-देश-काल-वाद हैं, जिनके बारेमें हम आगे कहेंगे।

इस राजनीतिक, अन्तर्जातिक, सांस्कृतिक उथल-पुथलके ज़माने (१सदी ई०)में यदि हम भारतीय समाजके आर्थिक वर्गोंकी ओर नज़र दौड़ाते हैं, तो मालूम होता है—सबसे ऊपर एक छोटीसी संख्या देशीय या देशीय बन गये राजाओं, उनके दरबारियोंकी है, जो शारीरिक श्रम तथा उत्पादनके कामको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं। जनताकी बड़ी संख्या इनकेलिए अच्छे-अच्छे खाने अच्छे-अच्छे कपड़े देती है, रहनेके लिए बड़े-बड़े महल बनाती है, देश विदेशसे अधिकारपर संकट उपस्थित होनेपर सैनिक बन, हथियार उठा, उनके लिए अपना खून बहाने जाती है। और परिणाम ?—बाज़की भाँति शिकार मारकर फिर मालिकके हाथकी साँकलमें बँधना—फिर वही खून-पसीना एक कर मिहनत कर प्रभुओंके आगे—विलासकी सामग्री उपस्थित करना और खुद पेटके अन्न और तनके कपड़े बिना मरना।

इस शासक जमातके बाद दूसरी जमात थी धर्माचार्यों भाँडों और धूर्तोंकी, जिनका काम था सामाजिक व्यवस्थाको विशृंखलित होनेसे रोकना, लोगोंको भ्रममें रखे रहना, अर्थात् 'दुनिया ठगिए मक्करसे। रोटी खाइए घी शक्करसे।" इस जमातके आहार-विहारके लिए भी उसी परिश्रमी भूखों मरती जनताको मेहनत करना पड़ता था।

तीसरी जमात व्यापारियोंकी थी, जो कारीगरोंके मालको कम दामपर खरीद और ज्यादा दामपर बेंचते देश-विदेशमें, जल-स्थल मार्गसे व्यापार करते थे या सूदपर रुपया लगाते थे, और जिनकी करोड़ोंकी सम्पत्तिको देख-कर राजा भी रश्क करते थे।

इन तीन कामचोर शोषक जमातके अतिरिक्त एक और जमात "संसार-त्यागियो" की थी, जो अपनेको वर्गोंसे ऊपर निष्पक्ष, निर्लोभ सत्यान्वेषी समझते थे। इनसे उस बहुसंख्यक कर्मीवर्गको क्या मिलता था? संसार झूठा है, संसारकी वस्तुएं झूठी है, इसकी समस्याएं झूठी हैं, इनकी ओरसे आँख मूँदना ही अच्छा है; अथवा धनी गरीब भगवान्के बनाये है, कर्मके सँवारे है, उनके भोगोंकेलिए ईर्ष्या करनेकी जरूरत नही; सन्तोष और धैर्यसे काम लो, जिन्दगी ही भर तो दुःख है। गोया इस जमातका काम था, अफीमकी गोलियोंपर गोलियाँ खिलाकर धन-उत्पादक निर्धन वर्गको बेहोश रखना। साथ ही इस "संसार त्यागी" वर्गको भी खाना, कपड़ा, मकान—और बाजोंकेलिए वह राजाओंसे कम खर्चीला नही—चाहिए, जिसका भी बोझ उसी श्रमसे पिसे जाते वर्गपर था।

यह तो हुई कामचोर वर्गकी बात। कमकर वर्गका क्या काम था, इसका दिग्दर्शन कामचोर वर्गके साथ अभी कर चुके हैं। लेकिन, उनकी मुसीबतें यही खतम नही होती थी। उनमे काफी संख्या ऐसे स्त्री-पुरुषोंकी थी, जिनकी अवस्था पशुओंसे बेहतर न थी। दूसरे सौदोंकी भाँति उनकी खरीद-फरोख्त होती थी। ये दास-दासी मनुष्यसे पशु होते तो ही बेहतर था, क्योंकि उस वक्त इनका अनुभव भी तो पशुओं जैसा होता।

उन वक्तके दार्शनिकोंने ब्रह्म और निर्वाण तककी उड़ान लगाई, आत्मा-परमात्मा तकका सूक्ष्म विश्लेषण किया, किन्तु नर्क सैकड़ा जनताके पशुवत् जीवन, उसके उत्पीड़न और शोषणके बारेमे इससे अधिक नही बतलाया, कि यह अवश्य भोक्तव्य है।

ख—दर्शन-विभाग

विक्रम संवत् (५७ ई० पू०), ईसवी सन् या शक संवत् (७८ ई०)के शुरू होनेके साथ तीन शताब्दियोंके विचार-संघर्षोंकी धुन्ध फटने लगती है; और उसके बीचसे नई धारा निकलती है। पेशावरमे जो इस वक्त भारतके महान् सम्राट् कनिष्ककी राजधानी ही नहीं है, बल्कि पूरब

(चीन), पश्चिम (ईरान और यूनान) तथा अपने (भारतके) विचारोंके सम्मिश्रणसे पैदा हुए नये प्रयोगकी नाप-तोल हो रही है। अश्वघोष संस्कृत काव्य-गगनमें एक महान् कवि और नाट्यकारके रूपमें आते हैं। इसी समयके आसपास गुणाढ्य अपनी बृहत्कथा लिखते हैं। चरक एक परिष्कृत आयुर्वेदका सम्पादन करते हैं। बौद्ध सभा बुला अपने त्रिपिटकपर नये भाष्य (=विभाषा) तैयार करवाते हैं।—उनके दर्शनमें विज्ञानवाद, शून्यवाद, बाह्यार्थवाद (=सौत्रान्तिक), और सर्वार्थवादकी दार्शनिक धाराएँ स्पष्ट होने लगती हैं। लेकिन इस वक्तकी कृतियाँ इतनी ठोस न थी, कि कालके थपेड़ोसे बच रहतीं, न वह इतनी लोकोत्तर थीं कि धार्मिक लोग बड़ी चेष्टाके साथ उन्हें सुरक्षित रखने।

दर्शनका नया युग नागार्जुनसे आरम्भ होता है, इस कालके दर्शनोमे कितने ही ईश्वरवादी हैं और कितने ही अनीश्वरवादी, विश्लेषण करनेपर हम उन्हे इस रूपमें पाते हैं—
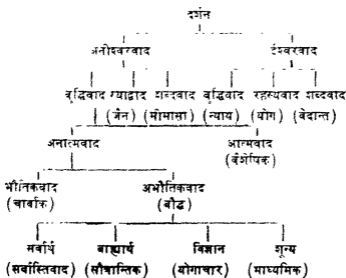
अनीश्वरवादी दर्शन

§१–अनात्म-भौतिकवादी चार्वाक-दर्शन

चार्वाक दर्शनका हम पहिले ज़िक्र कर चुके हैं। बुद्धकालके बाद चार्वाक दर्शनके विकासका कोई क्रम हमे नही मिलता। साथ ही यह भी देखा जाता है, कि उसकी तरफ सभी शंका और घृणाकी दृष्टि से देखते हैं। अब पायासीकी तरह अपने भौतिकवादको छोडनेमे भी शर्म महसूस करने-की तो बात ही अलग, लोग चार्वाक शब्दको गाली समझते हैं। इसका यही अर्थ हो सकता है, कि जिनके हितकेलिए परलोकवाद, ईश्वरवाद, आत्मवादका खडन किया जाता था, वह भी विरोधियोंके बहकावेमे इतने आ गये थे, कि अब उधर ध्यान ही देना पसन्द नही करते थे। तो भी इनके जिन विचारोंके खडनकेलिए विरोधी दार्शनिकोंने उद्धृत किया है, उससे मालूम होता है, कि अन्तर्हित होने भी इस वादने कुछ चेष्टा जरूर की थी। यहाँ सक्षेपमे हम इन भारतीय भौतिकवादियोंके विचारोंको रखते है —

१. **चेतना (=जीव)**—जीवको चार्वाक भौतिक उपज मात्र मानते है —

"पृथिवी, जल, हवा, आग यह चार भूत हैं। (इन) चार भूतोंमे चैतन्य उत्पन्न होता है, जैसे (उपयोगी सामग्री) ...से शराबकी शक्ति।"[1]

२. **अन्-ईश्वरवाद**—सृष्टिके निर्माताकी आवश्यकता नही, इसे बतलाते हुए कहा है —

अग्नि गर्म, पानी ठंडा, और हवा शीत-स्पर्शवाली।

यह सब किसने चित्रित किया? इसलिए (इन्हें) स्वभाव (से ही समझना चाहिए)।"[1] विश्वकी सृष्टि स्वभावसे ही होती है, इसके

१ सर्वदर्शन-संग्रह; "कायादेव ततो ज्ञानं प्राणापानाद्यधिष्ठितात्।
युक्तं जायते इत्येतत् कम्बलाश्वतरोदितम्॥"

लिए कर्ताको ढूंढना फजूल है—

"काँटोंमें तीखापन, मृगों या पक्षियोंमें विचित्रता कौन करता है? यह (सब) स्वभावसे ही हो रहा है।"[1]

३. मिथ्याविश्वास-खंडन—मिथ्या विश्वासका खंडन करते हुए लिखा है—

"न स्वर्ग है, न अपवर्ग, न परलोकमें जानेवाला आत्मा। वर्ण और आश्रम आदिकी (सारी) क्रियाएँ निष्फल हैं। अग्निहोत्र, तीनों वेद, ... बुद्धि और पौरुषसे जो हीन हैं, उन लोगोंकी जीविका है। . . . ."

"यदि ज्योतिष्ठोम (यज्ञ) में मारा पशु स्वर्ग जायेगा, तो उसके लिए यजमान अपने बापको क्यों नहीं मारता? श्राद्ध यदि मृत प्राणियोंकी तृप्तिका कारण हो सकता है, तो यात्रापर जानेवाले व्यक्तिको पाथेयकी चिन्ता व्यर्थ है। यदि यह (जीव) देहसे निकलकर परलोक जाता है, तो बन्धुओंके स्नेहसे व्याकुल हो क्यों नहीं फिर लौट आता? . . . . मृतक श्राद्ध (आदिको) ब्राह्मणोंने जीविकोपाय बनाया है।"[2]

४. वैराग्य-वैराग्य-खंडन—"विषयके संसर्गसे होनेवाला सुख दुःखसे संयुक्त होनेके कारण त्याज्य है, यह मूर्खोंका विचार है। कौन हितार्थी है जो सफेद बढ़िया चावलवाले धानको तुष (—भूसी)से लिपटी होनेके कारण छोड़ देगा?"[2]

§ २—अनात्म-अभौतिकवादी बौद्ध-दर्शन

१. बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय—बुद्ध आत्मवादके सख्त विरोधी थे, फिर साथ ही वह भौतिकवादके भी खिलाफ थे, यह हम बतला चुके हैं। मौर्योंके शासनकालके अन्त तक मगध ही बौद्ध-धर्मका केन्द्र था, किन्तु साम्राज्यके ध्वंसके साथ बौद्ध धर्मका केन्द्र भी कमसे कम उसकी

---

१. सांख्यकारिकाकी माठरवृत्ति।

२. सर्वदर्शनसंग्रह (चार्वाक-दर्शन)।

सबसे अधिक प्रभावशाली शाखा (=निकाय)—पूरबसे पश्चिमकी ओरको लेनेपर हटने लगा। इसी स्थान-परिवर्त्तनमे सर्वास्ति वाद निकाय मगधसे उरुमुंड पर्वत (=गोबर्धन, मथुरा) पहुँचा, और यवन-शासन कालमें पंजाबमें जोर पकड़ते-पकडते कनिष्कके समय ईसाकी पहिली सदीके मध्यमे गधार-कश्मीर उसके प्रधान केन्द्र बन गये। यही जगह थी, जहाँ वह यूनानी विचार, कला आदिके सपर्कमे आया। अशोकके समय (२६९ ई० पू०) तक बौद्ध धर्म निम्न संप्रदायोंमे बँट चुका था*—
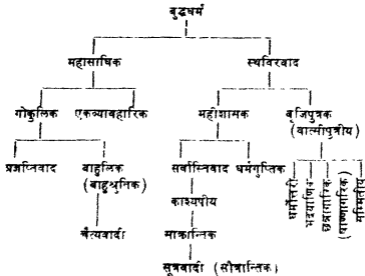
अर्थात्—बुद्धनिर्वाण (४८३ ई० पू०) के बादके सौ वर्षों (३८० ई० पू०) मे स्थविरवाद (=बूढ़ोके रास्तेवाले) और महासांघिक जो दो

---

* देखो मेरी "पुरातत्त्व-निबंधावली", पृ० १२१ (और कथावत्थु-अट्ठकथा भी)।

निकाय (=सम्प्रदाय) हुए थे, वह अगले सवा सौ वर्षोंमें बँटकर महा-सांघिकके छै और स्थविरवादके बारह कुल अठारह निकाय हो गए—सर्वास्तिवाद स्थविरवादियोंके अन्तर्गत था। इन अठारह निकायोंके पिटक (सूत्र, विनय, अभिधर्म) भी थे, जो सूत्र और विनयमें बहुत कुछ समानता रखते थे, किन्तु अभिधर्म पिटकमें मतभेद ही नहीं बल्कि उनकी पुस्तकें भी भिन्न थीं। स्थविरवादियोंने इन प्राचीन निकायोंमेंसे निम्न आठके कितने ही मतोंका अपने अभिधर्मकी पुस्तक 'कथावत्थु' में खंडन किया है—

महासांघिक, गोकुलिक, काश्यपीय; भद्रयाणिक, महीशासक, वात्सी-पुत्रीय, सर्वास्तिवाद, साम्मितीय।

कथावत्थुको अशोकके गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्सकी कृति बतलाया जाता है, किन्तु उसमें वर्णित २१४ कथावत्थुओं (=वादके विषयों) में सिर्फ ७३ उन पुराने निकायोंसे संबंध रखते है,[1] जो कि मोग्गलिपुत्त तिस्सके समय तक मौजूद थे—अर्थात् उसका इतना ही भाग मोग्गलिपुत्तका बनाया हो सकता है। बाकी "कथावत्थु" अशोकके बादके निम्न आठ निकायोंसे संबंध रखती है—

(१) अन्धक, (२) अपरशैलीय, (३) पूर्वशैलीय (४) राजगिरिक, (५) सिद्धार्थक, (६) वैतुल्यवाद, (७) उत्तरापथक, (८) हेतुवाद।

२. **बौद्ध दार्शनिक संप्रदाय**—इन पुराने निकायोंके दार्शनिक विचारोंमें जानेकी जरूरत नहीं, क्योंकि वह "दिग्दर्शन" के कलेवरसे बाहर-की बात है, किन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि बौद्धोंके जो चार दार्शनिक सम्प्रदाय प्रसिद्ध है, उनमें (१) सर्वास्तिवाद और (२) सौत्रा-न्तिक दर्शन तो पुराने अठारह निकायोंसे संबंध रखते थे, बाकी (३) योगाचार और (४) माध्यमिक अठारह निकायोंसे बहुत पीछे ईसाकी पहिली सदीमें आदिम रूपमें आए। इनके विकासके क्रमके बारेमें हम "महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति"[1] में लिख चुके है। महासांघिकोंमें

---

[1] देखो वहीं, पृ० १२६, टिप्पणी भी।

एक निकायका नाम था **चैत्यवाद,** जिनका केन्द्र आन्ध्र-साम्राज्यमें धान्यकटकका महाचैत्य (=महास्तूप) था, इसीसे इनका नाम ही चैत्य-वादी पड़ा। आन्ध्र साम्राज्यके पच्छिमी भाग (वर्त्तमान महाराष्ट्र)में साम्मितीय निकायका जोर था। इन्हीं दोनों निकायोंसे आगे चलकर महायानका विकास निम्न प्रकार हुआ'—

योगाचारका जबर्दस्त समर्थक "लंकावतार-सूत्र" वैपुल्यवादी पिटकसे संबंध रखता है। नागार्जुनके माध्यमिक (=शून्य) वादके समर्थनमें प्रज्ञापार-मिताएँ तथा दूसरे सूत्र रचे गये, किन्तु नागार्जुनको अपने दर्शनकी पुष्टिके लिए इनकी जरूरत न थी, उन्होंने तो अपने दर्शनको **प्रतीत्य-समुत्पाद** (-विच्छिन्न=प्रवाहरूपेण उत्पत्ति) पर आधारित किया था।

कथावत्थुके "अर्वाचीन" निकायोंमें हमने उत्तरापथक और हेतुवाद-का भी नाम पढ़ा है। **उत्तरापथक** कश्मीर-गंधारका निकाय था इसमें सन्देह नहीं। किन्तु **हेतुवादके** स्थानके बारेमें हमें मालूम नहीं। अफलातूंके विज्ञानवादको प्रतीत्य-समुत्पादसे जोड़ देनेपर वह आसानीसे योगाचार विज्ञानवाद बन जाता है, किन्तु अभी हमारे पास इससे अधिक प्रमाण नहीं है, कि उसके दार्शनिक असंगका जन्म और कर्म स्थान पेशावर (गंधार) था। नागार्जुनके बाद बौद्धदर्शनके विकासमें सबसे जबर्दस्त हाथ असंग और वसु-

---

१. वहीं, पृ० १२७

बंधु इन दो पठान भाइयोंका था। नागार्जुनसे एक शताब्दी पहिलेके जबर्दस्त बौद्ध विचारक अश्वघोषको यदि हम लें, तो उनका भी कर्मक्षेत्र पेशावर (गंधार) ही मालूम होता है। इससे भी बौद्ध दर्शनपर यूनानी प्रभावका पड़ना जरूरी मालूम होता है। अश्वघोषको महायानी अपने आचार्योंमें शामिल करते हैं, और इसके सबूतमें "महायानश्रद्धोत्पाद" ग्रंथको उनकी कृतिके तौरपर पेश करते हैं; किन्तु जिन्होंने "बुद्धचरित", "सौन्दरानन्द", "सारिपुत्त-प्रकरण" जैसे काव्य नाटकोंको पढ़ा है, तिब्बती भाषामें अनूदित उनके सर्वास्तिवाद सूत्रोंपर व्याख्याएँ देखी हैं, और जो "सर्वास्तिवादी आचार्यों" को चैत्य बनाकर अर्पित करनेवाले तथा त्रिपिटककी व्याख्या ("विभाषा") के लिए सर्वास्तिवादी आचार्योंकी परिषद् बुलानेवाले महाराज कनिष्कपर विचार करते हैं, वह अश्वघोषको सर्वास्तिवादी[1] स्थविर छोड़ दूसरा कह नहीं सकते।

अस्तु! यूनानी तथा शक-कालके इन बौद्ध प्राचीन निकायोंपर यदि और रोशनी डाली जा सके; तो हमें उन्हींके नहीं, भारतीय दर्शनके एक भारी विकासके इतिहासके बारेमें बहुत कुछ मालूम हो सकेगा। किन्तु, चीनी तिब्बती अनुवाद, तथा गोबीकी मरुभूमि हमारी इस विषयमें कितनी मदद कर सकती हैं, यह आगेके अनुसन्धानके विषय हैं। अभी हमें इससे ज्यादा नहीं कहना है कि भारतीय और यूनानी विचारधाराका जो समागम गंधारमें हो रहा था, उसमें अश्वघोष अपने आधुनिक ढंगके काव्यों और नाटकोंको ही नहीं बल्कि नवीन दर्शनको भी यूनानसे मिलानेवाली कड़ी थे। उनसे किसी तरह नागार्जुनका संबंध हुआ। फिर नागार्जुनने वह दर्शन-चक्रप्रवर्तन किया, जिसने भारतीय दर्शनोंको एक अभिनव सुव्यवस्थित रूप दिया।

---

१. पोड़-बाड़् (तिब्बत) में सुरक्षित एक संस्कृत ताल-पत्रकी पुस्तककी पुष्पिकामें अश्वघोषको सर्वास्तिवादी भिक्षु भी लिखा मिला है। (देखो J. B. O. R. S. में मेरे प्रकाशित सूचीपत्रोंको)।

३. नागार्जुन (१७५ ई०) का शून्यवाद (१) जीवन—नागार्जुनका जन्म विदर्भ (=बरार) मे एक ब्राह्मण के घर हुआ था। उनके बाल्यके बारेमे हम अनुमान कर सकते है, कि वह एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे, ब्राह्मणोके ग्रंथोका गम्भीर अध्ययन किया था। भिक्षु बननेपर उन्होने बौद्ध ग्रंथोका भी उसी गभीरताके साथ अध्ययन किया। आगे चलकर उन्होंने श्रीपर्वत (=नागार्जुनीकोंडा, गुन्टूर) को अपना निवास-स्थान बनाया; जो कि उनकी ख्याति, तथा समय बीतनेके साथ गढ़े जानेवाले पँवारोके कारण सिद्ध-स्थान बन गया। नागार्जुन वैद्यक और रसायन शास्त्रके भी आचार्य बतलाये जाते है। उनका 'अष्टागहृदय" अब भी तिब्बतके वैद्योकी सबसे प्रामाणिक पुस्तक है। किन्तु नागार्जुनकी सिद्धाई तथा तंत्र-मंत्रके बनाने बढ़ानेकी बातें जो हमे पीछेके बौद्ध साहित्यमे मिलती हैं, उनमे हमारे दार्शनिक नागार्जुनका कोई संबंध नहीं।

नागार्जुन आन्ध्रराजा गौतमीपुत्र यज्ञश्री (१६६-१९६ ई०) के समकालीन थे, विन्टरनिट्ज[1] का यह मत युक्तियुक्त मालूम होता है।

नागार्जुनके नामसे वैसे बहुतसे ग्रंथ प्रसिद्ध है, किन्तु उनकी असली कृतियाँ है —

(१) माध्यमिककारिका, (२) युक्तिषष्ठिका, (३) प्रमाणविध्वंसन, (४) उपायकौशल्य (५) विग्रहव्यावर्तनी।[2]

इनमे सिर्फ दो—पहिली और पांचवीं का मूल संस्कृतमें उपलब्ध है।

(२) दार्शनिक विचार—नागार्जुनने विग्रह-व्यावर्तनीमे विरोधी तर्कोंका खंडन करके बतलाके वस्तु-सत्ताके स्थान वस्तु-शून्यता—वस्तुओंके

१ History of Indian literature, Vol. II, pp. 346-48.

२ Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Patna, Vol. XXIII **में मेरे द्वारा संपादित।**

भीतर कोई स्थिर तत्त्व नहीं, वह विच्छिन्न प्रवाह मात्र है—सिद्धि की है।

(क) शून्यता—नागार्जुनको कारिका शैलीका प्रवर्त्तक कहा जाता है। कारिकामें पद्यकी-सी स्मरण करने, तथा सूत्रकी भाँति अधिक बातोको थोड़े शब्दोमें कहनेकी सुविधा होती है। कमसे कम नागार्जुनके तीन ग्रंथ (१, २, ५) कारिकाओंमें ही हैं। "विग्रहव्यावर्त्तनी" मे ७२ कारिकाएँ है, जिनमें अन्तिम दो माहात्म्य और नमस्कार श्लोक हैं, इसलिए मूलग्रंथ सत्तर ही कारिकाओका हुआ। वह शून्यतापर है, इसलिए जान पड़ता है विग्रह-व्यावर्त्तनका ही दूसरा नाम "शून्यता सप्तति" है। इन कारिकाओंपर आचार्यने स्वयं सरल व्याख्या की है।

नागार्जुनने ग्रंथके आदिमें नमस्कार श्लोक और ग्रंथ-प्रयोजन नहीं दिया है, जो कि पीछेके बौद्ध अबौद्ध ग्रंथोंमें सर्वमान्य परिपाटीसी बन गई देखी जाती है। नागार्जुनने ७१वीं कारिकामें शून्यताका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है—

'जो इस शून्यताको समझ सकता है, वह सभी अर्थोंको समझ सकता है।
जो शून्यताको नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता।'[1]

इसकी व्याख्यामें आचार्यने बतलाया है कि जो शून्यता को समझता है वह प्रतीत्य-समुत्पाद (विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पत्ति) को समझ सकता है, प्रतीत्य-समुत्पाद समझनेवाला चारों आर्यसत्योंको समझ सकता है। चारों आर्यसत्योंके समझनेपर उसे तृष्णा-निरोध (निर्वाण) आदि पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है। धर्म-प्रतीत्य-समुत्पाद जाननेवाला जान सकता है कि क्या धर्म है, क्या धर्मका हेतु और क्या धर्मका फल है। वह जान सकता है कि अधर्म, अधर्म-हेतु अधर्म-फल क्या है, क्लेश (चित्तमल), क्लेश-हेतु, क्लेश-वस्तु क्या है। जिसे यह सब मालूम है वह जान सकता है कि क्या है सुगति या दुर्गति, क्या है सुगति-दुर्गतिमें जाना, क्या है सुगति-

१. "प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य।"।

दुर्गतिमें आनेका मार्ग, क्या है सुगति-दुर्गतिसे निकलना तथा उसका उपाय।

शून्यता से नागार्जुनका अर्थ है, प्रतीत्य-समुत्पाद[1]—विश्व और उसकी सारी जड़-चेतन वस्तुएँ किसी भी स्थिर अचल तत्त्व (=आत्मा, द्रव्य आदि) से बिल्कुल शून्य हैं। अर्थात् विश्व घटनाएं हैं, वस्तु समूह नहीं। आचार्यने अपने ग्रंथ की पहिली बीस कारिकाओंमें पूर्वपक्षीके आक्षेपोंको दिया है, और ग्रंथके उत्तरार्द्धमें उसका उत्तर देते हुए शून्यताका समर्थन किया है। संक्षेपमें उनकी तर्कप्रणाली इस प्रकार है—

पूर्वपक्ष—(१) वस्तुसत्तासे इन्कार—अर्थात् शून्यवाद ठीक नहीं है, क्योंकि (i) जिन शब्दोंको तुम युक्तिके तौरपर इस्तेमाल करते हो, वह भी शून्य—अ-सार—होंगे (ii) यदि नहीं, तो तुम्हारी पहिली बात—सभी वस्तुएँ शून्य हैं—झूठी पड़ेगी; (iii) शून्यताको सिद्ध करनेकेलिए कोई प्रमाण नहीं है।

(२) सभी भाव (=वस्तुएँ) वास्तविक हैं; क्योंकि (i) अच्छे बुरेके भेदको सभी स्वीकार करते हैं; (ii) जो वस्तु है नहीं उसका नाम ही नहीं मिलता; (iii) वास्तविकताका प्रतिषेध युक्तिसिद्ध नहीं; (iv) प्रतिषेध्यको भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उत्तरपक्ष—(१) सभी भावों (=सत्ताओं) की शून्यता या प्रतीत्य समुत्पाद (=विच्छिन्न प्रवाहके रूपमें उत्पत्ति) सिद्ध है; क्योंकि (i) विश्वकी अवास्तविकताका स्वीकार, शून्यता सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है; (ii) इसलिए वह हमारी प्रतिज्ञाके विरुद्ध नहीं; (iii) जिन प्रमाणोंसे भावोंकी वास्तविकता सिद्ध की जा सकती है, उन्हींको सिद्ध नहीं किया जा सकता—(a) न प्रमाण दूसरे प्रमाणसे सिद्ध किया जा सकता क्योंकि ऐसी अवस्था

---

१. विग्रहव्यावर्तनी २२—"इह हि यः प्रतीत्य भावानां भावः सा शून्यता। कस्मात्? निःस्वभावत्वात्। ये हि प्रतीत्य समुत्पन्ना भावास्ते न सस्वभावा भवन्ति स्वभावाभावात्। कस्मात्? हेतुप्रत्ययापेक्षत्वात्। यदि हि स्वभावतो भावा भवेयुः। प्रत्याख्यायापि हेतुप्रत्ययं भवेयुः।"

में वह प्रमाण नहीं प्रमेय (=जिसे अभी प्रमाणसे सिद्ध करना है) हो जायगा; (b) वह आगकी भाँति अपनेको सिद्ध कर सकता है; (c) न वह प्रमेयसे सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि प्रमेय तो खुद ही सिद्ध नहीं, साध्य है; (d) न वह संयोग (=इत्तिफाक) से सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि संयोग कोई प्रमाण नहीं है।

(२) भावो (=सत्ताओ) की शून्यता सत्य है; क्योंकि (i) यह अच्छे बुरेके भेदके खिलाफ नहीं है, वह भेद तो स्वयं प्रतीत्य-समुत्पादके कारण ही है। यदि प्रतीत्य समुत्पादकके आधारपर नहीं बल्कि स्वतः परमार्थ रूपेण अच्छे बुरेका भेद हो, तो वह अचल एकरस है, फिर ब्रह्मचर्य आदिके अनुष्ठान द्वारा इच्छानुकूल उसे बदला नहीं जा सकता. (ii) शून्यता होने पर नाम नहीं हो सकता, यह भी ख्याल गलत है, क्योंकि नामको हम सद्भूत नहीं असद्भूत मानते है। सत (=स्थिर अविकारी, वस्तुसार) का ही नाम हो, अ-सत्का नहीं, यह कोई नियम नहीं, (iii) प्रतिषेध नहीं सिद्ध किया जा सकता यह कहना गलत है, क्योंकि अप्रतिषेधको सिद्धको करनेके लिए प्रमाण आदिकी जरूरत पड़ेगी।

अक्षपादके **न्यायसूत्र**का प्रमाण-सिद्धि प्रकरण तथा विग्रह-व्यावर्तनी एक ही विषयके पक्ष प्रति-पक्षमें है। हम अन्यत्र[1] बतला चुके है, कि अक्षपादने अपने न्यायसूत्रमे नागार्जुनके उपरोक्त मतका खंडन किया है।

पुस्तकको समाप्त करते हुए नागार्जुनने कहा है—

"जिसने शून्यता प्रतीत्य-समुत्पाद और अनेक-अर्थोवाली मध्यमा प्रतिपद (=बीचके मार्ग) को कहा, उस अप्रतिम बुद्धको प्रणाम करता हूँ।"[2]

---

१. विग्रहव्यावर्तनीकी भूमिका (Preface) में हम बतला आये हैं कि अक्षपादने नागार्जुनके इसी मतका खंडन किया है।

२. वि० व्या० ७२—

"यः शून्यतांप्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमा प्रतिपदमनेकार्थां।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसंबुद्धम् ॥"

(a) **प्रमाण-विध्वंसनमे** नागार्जुनने **प्रमाणवादका खंडन** किया है, **नागार्जुन** प्रमाणवादका खंडन करते भी **परमार्थके अर्थमें ही उसका खंडन** करते है, व्यवहार-सत्यमे वह उससे इन्कार नही करते। लेकिन प्रमाण जैसा प्रबल खंडन उन्होंने अपने ग्रंथोंमें किया, उसका परिणाम यह हुआ कि माध्यमिक दर्शन व्यवहार-सत्यवादी **वस्तुस्थितिपोषक दर्शन होनेकी जगह सर्वध्वंसक नास्तिवाद** बन गया[1]। "**प्रमाण-विध्वसन**" में अक्षपादकी तरह ही प्रमाण, प्रमेय, आदि अठारह पदार्थोंका संक्षिप्त वर्णन है। इसी तरह **उपाय-कौशल्यमे** भी शास्त्रार्थ-सबधी बातों—**निग्रह-स्थान, जाति** आदि—के बारेमे कहा गया है, जो कि हमें अक्षपादके सूत्रोंमे भी मिलता है। उपाय-कौशल्यका अनुवाद चीनी-भाषामे ४७२ ई० मे हुआ था।[2] इनके बारेमें हम यही कह सकते है कि अनुवादकोंमेसे किसीने दूसरा ग्रन्थ लेकर इसे अपने आचार्यके ग्रंथमें जोड दिया है।

(**ख**) **माध्यमिक-कारिकाके विचार**—दर्शनकी दृष्टिसे नागार्जुनकी कृतियोंमे **विग्रह-व्यावर्त्तनी** और **माध्यमिक-कारिकाका** स्थान ऊँचा है। नागार्जुनका शून्यतासे अभिप्राय है, प्रतीत्य-समुत्पाद यह हम 'विग्रह-व्यावर्त्तनी' मे देख आये है। नागार्जुन प्रतीत्य-समुत्पादके दो अर्थ लेते है—(१) प्रत्यय (=हेतु या कारण) से उत्पत्ति—"सभी वस्तुएँ प्रत्यय समुत्पन्न हैं" का अर्थ है, सभी वस्तुएँ अपनी उत्पत्तिमें अपनी सत्ताको पानेकेलिए दूसरे प्रत्यय या हेतुपर आश्रित (=पराधीन) हैं। (२) प्रतीत्य-समुत्पादका दूसरा अर्थ क्षणिकता है, सभी वस्तु क्षणके बाद नष्ट हो जाती हैं, और उनके बाद दूसरी नई वस्तु या घटना क्षण भरके लिए आती है, अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न-प्रवाह-सी है। प्रतीत्य-समुत्पाद-को ही मध्यम-मार्ग कहा जाता है, यह कह चुके है, और यह भी कि **बुद्ध** न आत्मवादी थे न **भौतिकवादी, बल्कि उनका** रास्ता **इन दोनोंके** बीचका (=मध्यम-मार्ग) था—वह "**विच्छिन्न प्रवाह**" को मानते थे।

---

1. **सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्ध-दर्शन।** 2. Nanjio, 1257

आत्मवादियोंकी सतत विद्यमानताके विरुद्ध उन्होंने विच्छिन्न या प्रतीत्य-को रखा, और भौतिकवादियोंके सर्वथा उच्छेद (विनाश)के विरुद्ध प्रवाहको रखा।

पराश्रित उत्पादके अर्थको लेकर नागार्जुन साबित करना चाहते हैं, कि जिसकी उत्पत्ति, स्थिति या विनाश है, उसकी परमार्थ सत्ता कभी नहीं मानी जा सकती।

माध्यमिक दर्शन वस्तुसत्ताके परमार्थ रूपपर विचार करते हुए कहता है—

"न सत् है, न अ-सत् है, न सत् और-अ-सत दोनो है, न सत्-असत्-दोनों नहीं है।"

"कारक है, यह कर्मके निमित्त (प्रत्यय) से ही कह सकते हैं, कर्म है यह कारकके निमित्तसे, यह छोड़ दूसरा (सत्ताको) सिद्धिका कारण हम नहीं देखते हैं।"

इस प्रकार कारक और कर्मकी सत्ता अन्योन्याश्रित है, अर्थात् स्वतंत्र रूपसे दोनोंमें एककी भी सत्ता सिद्ध नहीं है। फिर स्वयं असिद्ध वस्तु दूसरेको क्या सिद्ध करेगी? इसी न्यायको लेकर नागार्जुन कहते हैं कि निरपेक्ष सत्ता नहीं सिद्ध की जा सकती—सत्ता और असत्ता भी इसी तरह एक दूसरेपर आश्रित हैं, इसलिए न अलग-अलग, दोनों या दोनोंके रूपमें भी नहीं सिद्ध किये जा सकते।

कर्ता और कर्मका निषेध करते हुए नागार्जुन फिर कहते हैं—

"सत्-रूप कारक सत्-रूप कर्मको नहीं करता, (क्योंकि) सत्-रूपसे क्रिया नहीं होनी अतः कर्मका कर्त्ताकी जरूरत नहीं।

सद्-रूपकेलिए क्रिया नहीं, अतः कर्त्ताकी कर्मकी जरूरत नहीं।"

इस प्रकार परस्पराश्रित सत्तावाली वस्तुओंमें कर्त्ता, कर्म, कारण, क्रियाकी सिद्धि नहीं किया जा सकता।

---

१. माध्यमिक-कारिका ६२ २. वही, ५८, ५९

"कहीं भी कोई सत्ता न स्वतः है, न परतः, न स्वतः परतः दोनों, और न बिना हेतुके ही है।"[1]

कार्य कारण सबबका खंडन करते हुए नागार्जुनने लिखा है—

"यदि पदार्थ सत् है, तो उसकेलिए प्रत्यय (=कारण) की जरूरत नहीं। यदि अ-सत् है तो भी उसकेलिए प्रत्ययकी जरूरत नहीं।

(गदहेके सींगकी भाँति) अ-सत् पदार्थकेलिए प्रत्ययकी क्या जरूरत ?

सत् पदार्थको (अपनी सत्ताकेलिए) प्रत्ययकी क्या जरूरत ?"[2]

उत्पत्ति, स्थिति और विनाशको सिद्ध करनेकेलिए कार्य-कारण, सत्ता-असत्ता आदिके विवेचनमें पड़कर आखिर हमें यही मालूम होता है कि वह परस्पराश्रित है, ऐसी अवस्थामें उन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता। बौद्ध-दर्शनमें पदार्थोंको संस्कृत (=कृत) और अ-संस्कृत (=कृत) दो भागोंमें बाँटकर सारी सत्ताओंको संस्कृत और निर्वाणको असंस्कृत कहा गया है। नागार्जुनने इस संस्कृत असंस्कृत विभागपर प्रहार करते हुए कहा है—

"उत्पत्ति-स्थिति-विनाशके सिद्ध होनेपर संस्कृत नहीं (सिद्ध) होगा। संस्कृतके सिद्ध हुए बिना अ-संस्कृत कैसे सिद्ध होगा ?"[3]

जगत् और उसके पदार्थोंकी मरुमरीचिका बतलाते हुए नागार्जुनने लिखा है[4]—

"(रेगिस्तानकी) लहरको पानी समझकर भी यदि वहाँ जाकर पुरुष 'यह जल नहीं है' समझे तो वह मूढ़ है। उसी तरह मरीचि समान (इस) लोकको 'है' समझनेवालेका 'नहीं है' यह मोह भी मोह होनेसे युक्त नहीं है।"

जिस तरह पराश्रित उत्पाद (=प्रतीत्य-समुत्पाद) होनेसे किसी वस्तुको सिद्ध, असिद्ध, सिद्ध-असिद्ध, न-सिद्ध-न-अ-सिद्ध नहीं किया जा सकता, उसी तरह प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ विच्छिन्न प्रवाह रूपसे उत्पाद लेनेपर वहाँ

---

१. मध्य० का० ४ २. वहीं २२ ३. वहीं ५६ ४. वहीं ५६

भी कार्य, कारण, कर्म, कर्त्ता आदि व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि उनमेंसे एक वस्तु दूसरेके बिलकुल उच्छिन्न हो जानेपर अस्तित्वमें आती है।

(ग) **शिक्षायें**—आन्ध्रवंशी राजाओंकी पदवी शातवाहन (शालिवाहन[1] भी) होती थी। तत्कालीन शातवाहन राजा (यज्ञश्री गौतमी पुत्र) नागार्जुनका "सुहृद्" था। यह सुहृद् राजा साधारण नहीं भारी राजा था, यह नागार्जुनसे चार सदी बाद हुए बाणके **हर्षचरित**के इस वाक्यसे पता लगता है[2]—"नागार्जुन नामक भिक्षुने उस एकावली (हार)को नागराजसे माँगा और पाया भी। (फिर) उसे (अपने) **सुहृद्** तीन समुद्रोंके स्वामी शातवाहन नामक नरेन्द्रको दिया।"

यहाँ शातवाहनको तीनों समुद्रों (अरब सागर, दक्षिण-भारत सागर, बंग-खाड़ी)का स्वामी तथा नागार्जुनका सुहृद् बतलाया गया है। नागार्जुन जैसा प्रतिभाशाली विद्वान् जिसके राज्य (=विदर्भ)में पैदा हुआ तथा रहता हो, वह उससे क्यों नहीं सौहार्द्र प्रदर्शन करेगा? नागार्जुनने अपने सुहृद् शातवाहन राजाको एक शिक्षापूर्ण पत्र "सुहृद्-लेख" लिखा था, जिसका अनुवाद तिब्बती तथा चीनी दोनों भाषाओंमें अब भी सुरक्षित है। इस लेखमें नागार्जुनने जो शिक्षाएँ अपने सुहृद्को दी है, उनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

"६ धनको चंचल और असार समझ धर्मानुसार उसे भिक्षुओं, ब्राह्मणों, गरीबों और मित्रोंको दो, दानसे बढ़कर दूसरा मित्र नहीं है।"

१. बैस राजपूत अपनेको शालवाहन वंशज तथा पैठन नगरसे आया बतलाते हैं। पैठन या प्रतिष्ठान (हैदराबाद रियासत) नगर शातवाहन राजाओंकी राजधानी थी।

२. "....तामेकावलीं....तस्माद्नागराजात् नागार्जुनो नाम.... भिक्षुरभिक्षत् लेभे च।....त्रिसमुद्राधिपतये शातवाहननाम्ने नरेन्द्राय सुहृदे स ददौ ताम्।।"

—हर्षचरित ७।

"७. निर्दोष, उत्तम, अमिश्रित, निष्कलंक, शील (=सदाचार)को (कार्यरूपमे) प्रकट करो, सभी प्रभुताओंका आधार शील है, जैसे कि चराचरका आधार धरती है।

"२१ दूसरेकी स्त्रीपर नजर न दौड़ाओ, यदि देखो तो आयुके अनुसार उसे मा, बहिन या बेटीकी तरह समझो।

"२९ तुम जगको जानते हो, ससारकी आठ स्थितियों—लाभ, अलाभ, सुख-दुःख, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा—मे समान भाव रखो, क्योंकि वह तुम्हारे विचारके विषय नहीं हैं।

"३७. किन्तु उस एक स्त्री (अपनी पत्नी)को परिवारकी अधिष्ठात्री देवीकी भाँति सम्मान करना, जो कि बहिनकी भाँति मजुल, मित्रकी भाँति विजयिनी, माताकी भाँति हितैषिणी, सेवककी भाँति आज्ञाकारिणी है।

"४९. यदि तुम मानते हो कि 'मैं रूप (=भौतिकतत्व) नहीं हूँ, तो इससे तुम समझ जाओगे कि रूप आत्मा नही है, आत्मा रूपमे नहीं है, रूप आत्मा (=मेरे) मे नही बसता। इसी तरह दूसरे (वेदना आदि) चार स्कंधोंके बारेमे भी जानोगे।

"५० ये स्कध न इच्छासे, न कालसे, न प्रकृतिसे, न स्वभावसे, न ईश्वरसे, और न बिना हेतुके पैदा होते हैं; समझो कि वे अविद्या और तृष्णासे उत्पन्न होते हैं।

"५१ जानो कि धार्मिक क्रिया-कर्म (=शीलव्रतपरामर्श) झूठा दर्शन (=सत्कायदृष्टि) और संशय (विचिकित्सा)में आसक्ति तीन वेड़ियाँ (=संयोजन)[1] हैं।. . . ."

नागार्जुनका दर्शन—शून्यवाद—वास्तविकताका अपलाप करता है। दुनियाको शून्य मानकर उसकी समस्याओंके अस्तित्वसे इन्कार करनेकेलिए इससे बढ़कर दर्शन नहीं मिलेगा? इसीलिए आश्चर्य

१. देखो संगीति-परियायसुत्त (दी० नि०, ३।१०) "बुद्धचर्या" पृ० ५९०

नहीं, यदि ऐसा दार्शनिक सम्राट् बलमी मौलमीपुत्रका घनिष्ट मित्र (? सुहृद्) था।

४. योगाचार और दूसरे बौद्ध-दर्शन—माध्यमिक और योगाचार महायानसे संबंध रखनेवाले दर्शन हैं, जब कि सर्वास्तिवाद और सौत्रान्तिक हीनयान (=स्थविरवाद) से संबंध रखते हैं। इन चारों बौद्ध दर्शनोंको यदि आकाशसे धरतीकी ओर लायें तो वह इस प्रकार मालूम होते हैं—

वाद	नाम	आचार्य
१. शून्यवाद	माध्यमिक	नागार्जुन, आर्यदेव, चंद्रकीर्ति, भाव्य, बुद्धपालित
२. विज्ञानवाद	योगाचार	असंग, वसुबंधु, दिङ्-नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित
३. बाह्य-अर्थवाद	सौत्रान्तिक	
४. बाह्य-आभ्यन्तर-अर्थवाद	सर्वास्तिवाद	संघभद्र, वसुबंधु (का अभिधर्मकोश)

योगाचार-दर्शनके मूल बीज वैपुल्यसूत्रोंमें मिलते हैं। उसके लंकावतार, सन्धि-निर्मोचन, आदि सूत्र बाह्य जगत्‌के अस्तित्वसे इन्कार करते हुए विज्ञान (=अभौतिक तत्व, मन)को एकमात्र पदार्थ मानते हैं। "जो क्षणिक नहीं वह सत् ही नहीं" इस सूत्रका अपवाद बौद्धदर्शनमें हो नहीं सकता, इसलिए योगाचार विज्ञान भी क्षणिक है। दूसरी कितनीही विचार-धाराओंकी भाँति योगाचारके प्रथम प्रवर्तकके बारेमें भी हमें कुछ नहीं मालूम है। चौथी सदी तक यह दर्शन जिस किसी तरह चलता रहा, किन्तु चौथी सदीके उत्तरार्द्धमें असंग और वसुबंधु दो दार्शनिक भाई पेशावरमें पैदा हुए, जिनके प्रौढ़ ग्रंथोंके कारण यह दर्शन अत्यन्त प्रबल और प्रसिद्ध हो गया।

योगाचार योगावचर (=योगी) शब्दसे निकला है, जो कि पुराने पिटकमें भी मिलता है, किन्तु वहाँ यह दार्शनिक सम्प्रदायके नामके तौर

पर प्रयुक्त होता है। इस नामके पड़नेका एक कारण यह भी है कि योगाचार दर्शन-प्रतिपादक आर्य असंगका मौलिक महान् ग्रंथ "योगाचारभूमि"[1] है। असंगके बारेमें हम आगे कहेंगे। यहाँ नागार्जुन और उनसे पहिले जैसा विज्ञानवाद माना जाता था और जिसपर गंधार-प्रवासी यूनानियों द्वारा अफलातूनी दर्शनका प्रभाव जरूर पड़ा था, उसके बारेमें कुछ कहते हैं।

"**आलय-विज्ञान** (समुद्र)से प्रवृत्तिविज्ञानकी तरंग उत्पन्न होती है।"[2]

विश्वके मूल तत्वको इस दर्शनकी परिभाषामें आलयविज्ञान कहा गया है। विज्ञान-समुद्रसे जो पाँचों इन्द्रियाँ और मनके—ये छै विज्ञान उत्पन्न होते हैं, उन्हे प्रवृत्ति-विज्ञान कहते हैं।[3]—

"जैसे पवन-रूपी प्रत्यय (=हेतु)से प्रेरित हो समुद्रमें नाचती हुई तरंगें पैदा होती हैं, और उनके (प्रवाहका) विच्छेद नहीं होता। उसी तरह विषय-रूपी पवनसे प्रेरित चित्र-विचित्र नाचती हुई विज्ञान-तरंगोंके साथ आलय समुद्र सदा क्रियापरायण रहता है।"

अर्थात् भीतरी ज्ञेय पदार्थ (=अभौतिक विज्ञान) पदार्थ है, वही बाहरकी तरह दिखलाई पड़ता है। स्कंध, प्रत्यय (=हेतु), अणु, भौतिक तत्व, सभी विज्ञान मात्र है। यह **आलयविज्ञान** भी प्रतीत्य-समुत्पन्न (विच्छिन्न प्रवाहके तौरपर उत्पन्न), क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। क्षणिकताके कारण उसे हर वक्त नया रूप धारण करते रहना पड़ता है, जिसके ही कारण यह जगत-वैचित्र्य है।

सर्वास्तिवादका वही सिद्धान्त है, जिसे हम बुद्धके दर्शनमें बतला आये है, वह बाह्य रूप, आन्तरिक विज्ञान दोनोंकी प्रतीत्य-समुत्पन्न सत्ताको स्वीकार करता है।

सौत्रान्तिक अपनेको बुद्धके सूत्रान्तों (सूत्रों या उपदेशों)का अनुयायी बतलाते हैं। वह बाह्य विज्ञानवादसे उलटे बाह्यार्थवादी हैं अर्थात् क्षणिक रूप ही मौलिक तत्त्व है।

---

१. देखो आगे, पृष्ठ ७०४-१७ २. लंकावतारसूत्र ५१ ३. वही

§ ३—आत्मवादी दर्शन

अनीश्वरवादी दर्शनोंमें चार्वाक और बौद्ध अनात्मवादी हैं, उनके बारेमें हम बतला चुके। दर्शनके इस नवीन युगमें कुछ ऐसे भी भारतीय दर्शन रहे हैं, जो कि ईश्वरपर तो जोर नहीं देते किन्तु आत्माको स्वीकार करते रहे हैं। वैशेषिक ऐसा ही आत्मवादी दर्शन है।

१—परमाणुवादी कणाद (१५० ई०)

क. कणादका काल—वैशेषिक दर्शनके कर्त्ता कणाद थे। ब्राह्मणोंके छै दर्शनोंके कर्त्ताओंकी जीवनी और समयके बारेमें जो घना अंधकार देखा जाता है, वह कणादके बारेमें भी वैसा ही है। कणादके जीवनके बारेमें हम इतना ही जानते हैं, कि वह गिरे हुए दानों (=कणों)को खाकर जीवन यात्रा करते थे, इसीलिए उनका नाम कणाद (=कण-आद) पड़ा; लेकिन यह सूचना शायद ऐतिहासिक स्रोतसे नहीं बल्कि व्याकरणसे मिली व्याख्याके आधारपर है। वैशेषिकका दूसरा नाम औलूक्य दर्शन भी है। वैशेषिकके कर्त्ता, या सृष्टिके उलूक (=उल्लू) पक्षीका क्या संबंध था, यह नहीं कहा जा सकता। कणादका दूसरा नाम उलूक होता यदि वे सरस्वती (=विद्या)के नहीं बल्कि लक्ष्मी (=धनके) स्वामी होते! उलूक कोई अच्छा पक्षी नहीं, कि माता-पिता या मित्र-सुहृद् इस नामसे कणादको याद करते। उल्लू अथेन्स (यूनान)के पवित्र चिन्होंमें था, क्या इस दर्शनका यूनानी दर्शनसे जो घनिष्ठ संबंध है, उसे ही तो उलूक शब्द सूचित नहीं करता?

ख. यूनानी दर्शन और वैशेषिक—देवलीकी इस मरुस्थली कारामें जितनी कम सामग्रीके साथ मुझे यह पंक्तियाँ लिखनी पड़ रही हैं, उसकी दिक्कतोंको सहृदय पाठक जान सकते हैं। तो भी यूनानी दार्शनिकोंके मूल अनुवादोंको पढ़कर तुलना कर फिर कुछ विस्तृत तौरपर लिखनेके ख्यालपर इसे छोड़ देना अच्छा नहीं है; इसलिए यहाँ हम ऐसे कुछ हिन्दू-यवन सिद्धान्तोंके बारेमें लिखते हैं।

a. **परमाणुवाद**—देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०) का जन्म बुद्धके निर्वाण (४८३ ई० पू०)से २३ साल पीछे हुआ था। यह वह समय है जब कि हमारी दर्शन-सामग्री, कुछ पुराने (उपनिषदों), तथा बुद्ध-महावीर आदि तीर्थंकरोंके उपदेशोंपर निर्भर थी। इस सामग्रीमें ढूँढ़नेपर हमें परमाणुके जगत्‌का मूलतत्व होनेकी गंध तक नहीं मिलती। देमोक्रितुने जिस वक्त अविभाज्य, अवेध्य—अ-तोमन्—का सिद्धान्त निकाला, उस वक्त भारतमें उसका बिलकुल ख्याल नहीं था यह स्पष्ट है। देमोक्रितु परमाणुओंको सबसे सूक्ष्म तत्त्व मानता था, किन्तु साथ ही उनके परिमाण हैं, इससे इन्कार नहीं करता था। कणाद भी परमाणुको सूक्ष्म परिमाणवाला कण समझते हैं। दोनों ही परमाणुओंको सृष्टिके निर्माणकी ईंटें मानते हैं।

b. **सामान्य, विशेष**—पिथागोर (५३०-५०० ई० पू०)ने आकृति-को मूलतत्त्व माना था, क्योंकि भिन्न-भिन्न गायोंके मरनेके बाद भी हर पीढ़ीमें गायकी आकृति मौजूद रहती है। अफलातूं (४२७-३४७ ई० पू०)ने और आगे बढ़कर बराबर दुहराई जानेवाली आकृतियोंकी जो समानता=सामान्य है, उसपर और जोर दिया, उसके ख्यालमें **विशेष** मूलतत्व (=**विज्ञान**)में बिखरे हुए हैं। यह सामान्य विशेषकी कल्पना अफलातूंने पहिले-पहिल की थी। यूनानियोंके भारतमें घनिष्ठ संबंध स्थापित करने (३२३ ई० पू०)से पहिलेके भारतीय साहित्यमें इस ख्याल-का बिलकुल अभाव है।

c. **द्रव्य, गुण आदि**—कणादने अपने दर्शनमें विश्वके तत्त्वोंका—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय इन छै पदार्थोंमें वर्गीकरण किया है। अफलातूंके शिष्य अरस्तू (३८४-३२२ ई० पू०)ने अपने तर्क-शास्त्रमें आठ और दस पदार्थ माने है—द्रव्य, गुण, परिमाण, संबंध दिशा, काल, आसन, स्थिति, कर्म, परिमाण। द्रव्य, गुण, कर्म, संबंध (समवाय) दोनोंके मतमें समान हैं। दिशा और कालको कणादने द्रव्योंमें गिना है, और परिमाणको गुणोंमें। इस प्रकार हम कह सकते हैं, कि कणादने अरस्तूके पदार्थोंका वर्गीकरण फिरसे किया।

इन बातोंके साथ काल और भारतके यूनानसे घनिष्ठ संबंध तथा सास्कृतिक दानादानको देखते हुए यह आसानीसे समझमे आ सकता है, कि ये सादृश्य आकस्मिक नहीं है।

कणादने वैशेषिक दर्शनको बुद्धसे पहिले ले जानेका प्रयास फ़जूल है कणादका दर्शन यदि पहिलेसे मौजूद होता, तो बुद्ध तथा दूसरे समकालीन दार्शनिकोको त्रिपिटक और जैनागमोकी भाषा-परिभाषाके द्वारा अपने दर्शनाको न आरम्भ करनेकी जरूरत थी, और न वह कणादके दर्शनके प्रभावस अछूते रह सकने थे।

कणादके दर्शनपर बौद्ध दर्शनका कोई प्रभाव नही है, यह कहते हुए कितने ही विद्वान् वैशेषिकको बुद्धमे पहिले खीचना चाहते हैं। इसके उत्तरमे हम अभी कह चुके हैं, कि (१) बुद्धके दर्शनमे उसकी गध तक नही है। (२) कणादका दर्शन बौद्ध-दर्शनसे अप्रभावित नही है। आत्मा और नित्यताकी सिद्धिपर इतना ज़ोर आखिर किसके प्रहारके उत्तरमे दिया गया है ? यह निश्चय ही बुद्धके "अनित्य, अनात्म'के विरुद्ध कणादकी दार्शनिक जवाद है। यूनानी दर्शनमे भी हेराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०) के अनित्यतावादके उत्तरमे नित्य सामान्यकी कल्पना पेश की गई थी, कणाद और उनके अनुयायियोका शताब्दियो तक उसी सामान्यको नित्यताके नमूनेके तौरपर पेश करना, बौद्धोके अनित्य (=क्षणिक)वादके उत्तरमे ही था और इस तरह वैशेषिक बौद्ध दर्शनमे परिचित नही यह बात गलत है।

नागार्जुनसे कणाद पहिले थे, यद्यपि इसके बारेमे अभी कोई पक्की बात नही कही जा सकती, किन्तु जिस तरह हम कणादको नागार्जुनके **प्रमाण-विध्वंसन**के बारेमे चुप देखते हैं, उससे यही कहना पडता है, कि शायद कणादको नागार्जुनके विचार नही मालूम थे।

ग. वैशेषिकसूत्रोंका संक्षेप—कणादने अपने ग्रथ—वैशेषिकसूत्र—को दस अध्यायोमे लिखा है, हर एक अध्यायमें दो-दो आह्निक हैं। अध्यायो और आह्निकोके प्रतिपाद्य विषय निम्न प्रकार हैं—

१ अध्याय	पदार्थ-कथन
१ आह्निक	सामान्य (=जाति) वान्
२ आह्निक	सामान्य, विशेष
२ अध्याय	द्रव्य
१ आह्निक	पृथिवी आदि भूत
२ आह्निक	दिशा, काल
३ अध्याय	आत्मा, मन
१ आह्निक	आत्मा
२ आह्निक	मन
४ अध्याय	शरीर आदि
१ आह्निक	कार्य-कारण-भाव आदि
२ आह्निक	शरीर (पार्थिव, जलीय . . . नित्य.)
५ अध्याय	कर्म
१ आह्निक	शारीरिक कर्म
२ आह्निक	मानसिक कर्म
६ अध्याय	धर्म
१ आह्निक	दान आदि धर्मोंकी विवेचना
२ आह्निक	धर्मानुष्ठान
७ अध्याय	गुण, समवाय
१ आह्निक	निरपेक्ष गुण
२ आह्निक	सापेक्ष गुण
८ अध्याय	प्रत्यक्ष प्रमाण
१ आह्निक	कल्पना-सहित प्रत्यक्ष
२ आह्निक	कल्पना-रहित प्रत्यक्ष
९ अध्याय	अभाव, हेतु
१ आह्निक	अभाव
२ आह्निक	हेतु

१० अध्याय अनुमानके भेद
 १ आह्निक ,,
 २ आह्निक ,,

कणादने किस प्रयोजनसे अपने दर्शनकी रचना की, इसे उन्होंने ग्रंथके पहिले सूत्रोंमें साफ़ कर दिया है[1]—

"अतः अब मैं धर्मका व्याख्यान करता हूँ।"

"जिससे अभ्युदय (=लौकिक सुख) और निःश्रेय (=पारलौकिक सुख)की सिद्धि होती है, वह धर्म है।"

"उस (=धर्म)को कहनेसे वेद (=आम्नाय)की प्रामाणिकता है[2]।"

ख. धर्म और सदाचार—इसका अर्थ यह है, कि यद्यपि कणादने द्रव्य, गुण, कर्म, प्रत्यक्ष, अनुमान जैसी संसारी वस्तुओंपर ही एक बुद्धिवादीकी दृष्टिसे विवेचना की है, तो भी उस विवेचनाका मुख्य लक्ष्य है धर्मके प्रति होती शंकाओंको युक्तियोंसे दूर कर फिरसे धर्मकी धाक स्थापित करना। अपने इस दार्शनिक प्रयोजनकी सिद्धि वे दो प्रकारसे करते हैं, एक तो दृष्ट हेतुओंसे—ऐसे हेतुओंसे जिन्हें हम लौकिक दृष्टिसे जान (=देख) सकते हैं, दूसरे वे जिनकेलिए दृष्ट हेतु पर्याप्त नहीं हैं और उनके लिए अदृष्टकी कल्पना करनी पड़ती है। कणादने अपनेको बुद्धिवादी साबित करते हुए कहा, कि "दृष्ट न होनेपर ही अदृष्टकी कल्पना" करनी चाहिए जैसे कि चुम्बक (=अयस्कान्त)की ओर लोहा क्यों खिंचता है, वृक्षके शरीरमें ऊपरकी ओर पानी कैसे चढ़ता है, और चक्कर काटता है, आग क्यों ऊपरकी ओर जाती है, हवा क्यों अगल-बगलमें फैलती है, परमाणुओंमें एक दूसरेके साथ संयोग करनेकी प्रवृत्ति क्यों होती है। इनके लिए दृष्ट हेतु न मिलनेसे अदृष्टकी कल्पना करनी पड़ती है, इसी तरह जन्मान्तर, गर्भमें जीवका आना आदिके बारेमें दृष्ट हेतु नहीं मिल सकते, वहाँ हमें अदृष्टकी कल्पना करनी पड़ेगी। कणादके मतानुसार द्रव्य,

---

१. वैशेषिकसूत्र १।१।१-२ २. वहीं १०।२।९

गुण, कर्म इन तीन पदार्थों तक दृष्ट हेतुओंका प्रवेश है, इनसे अन्यत्र अदृष्टका सहारा लेना पड़ता है।

एक बार जब अदृष्टकी सल्तनत कायम हो गई, तो फिर उससे धर्म, रूढ़ि, वर्ग-स्वार्थ सभीको कितना पुष्ट किया जा सकता है; इसे हम कान्ट आदि पाश्चात्य दार्शनिकोंके प्रयत्नोंमें देख चुके हैं। पाँचवें अध्यायके दूसरे आह्निकमे उस समयके अज्ञात कारणवाली कितनी ही भौतिक घटनाओंकी व्याख्या अदृष्ट द्वारा करनेकी कोशिश की गई है। पुरोहितोंके कितने ही यज्ञ-यागों, स्नान, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान आदि क्रिया-कर्मोंका जो फल बतलाया जाता है, उसे बुद्धिसे नहीं साबित किया जा सकता, इनके लिए हमे अदृष्टपर वैसे ही विश्वास रखना चाहिए, जैसे कि चुम्बक द्वारा लोहेके खिंचनेपर हमें विश्वास करना पड़ता है।

आहार भी धर्मका अंग है। शुद्ध आहार वह है, जो कि यज्ञ करनेके बाद बच रहता है, जो आहार ऐसा नहीं है वह अशुद्ध है।

ङ. दार्शनिक विचार—इस तरह कणादने धर्मके पुष्ट करनेकी प्रतिज्ञा पूरी करनेकी चेष्टा जरूर की है, किन्तु सारे ग्रंथमें उसकी मात्रा इतनी कम और दलीलें इतनी निर्बल हैं, कि किसी ब्राह्मणको यह कहना ही पड़ा[1] —

"धर्मं व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।
हिमवद्गन्तुकामस्य सागरागमनोपमम् ॥"

["धर्मकी व्याख्याकी इच्छा रखनेवाले (कणाद)का छः पदार्थोंका वर्णन वैसा ही है, जैसा हिमालय जानेकी इच्छावालेका समुद्रकी ओर आना।"]

१. **पदार्थ**—अरस्तूने जिस तरह अपने "तर्कशास्त्र"में पदार्थोंको

---

१. **कलाप-व्याकरणकी कोई पुरानी टीका**—History of Indian Philosophy, (by S. N. Das-Gupta) में उद्धृत।

गिनाया है, उसी तरह कणादने भी विश्वके तत्त्वोंको छै[1] पदार्थोंमें विभाजित किया है, वे हैं—

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय।

(b) द्रव्य—चल विश्वकी तहमें जो अचल या बहुत कुछ अचल तत्त्व हैं, उन्हें कणादने द्रव्य कहा है। जो आज ईंटें, घड़े, सिकोरे हैं, वे कल टूटकर घिसते-घिसते धूलि बन जाते हैं, फिर उन्हें हम ईंटों और बर्तनोंके रूपमें बदल सकते हैं। इन सब तब्दीलियोंमें जो वस्तु एकसाँ रहती है, वही है पृथिवी द्रव्य। कणादने नौ द्रव्य माने हैं—

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा (=देश) आत्मा और मन।

इनमें पहिले चार अभौतिक तत्त्व, और अपने मूलरूपमें अत्यन्त सूक्ष्म अविभाज्य, अवेध्य अनेक परमाणुओंसे मिलकर बने हैं। आकाश, काल, दिशा और आत्मा, अभौतिक, तथा सर्वत्र व्यापी तत्त्व हैं। मन भी अतिसूक्ष्म अभौतिक कण (=अणुपरिमाणवाला) है।

(c) गुण—गुण सदा किसी द्रव्यमें रहता है। जैसे—

द्रव्य	विशेषगुण	सामान्य गुण		
१. पृथिवी	गंध	रस, रूप, स्पर्श	संयोग, विभाग	संख्या परिमाण पृथक्त्व
२. जल	रस	रस, रूप, स्पर्श, तरलता, स्निग्धता		
३. अग्नि	रूप	रूप, स्पर्श		
४. वायु	स्पर्श	स्पर्श		
५. आकाश	शब्द	शब्द		
६. काल			परत्व, अपरत्व	
७. दिशा			परत्व, अपरत्व	
८. आत्मा				

१. पीछेके न्याय वैशेषिकने अभावको और जोड़ सात पदार्थ माने हैं।

कणादने सिर्फ ग्यारह गुण माने थे—

(१) रूप	(७) पृथक्त्व (=अलगपन)
(२) रस	(८) संयोग (=जुड़ना)
(३) गंध	(९) विभाग
(४) स्पर्श (=सर्दी, गर्मी)	(१०) परत्व (=परे होना)
(५) संख्या	(११) अपरत्व (=उरे होना)
(६) परिमाण	

किन्तु, पीछेके आचार्योंने १३ और बढ़ा गुणोंकी संख्या चौबीस कर दी है—

(१२) बुद्धि (=ज्ञान)	(१८) गुरुत्व (=भारीपन)
(१३) सुख	(१९) लघुत्व (=हल्कापन)
(१४) दुःख	(२०) द्रवत्व (=तरलता)
(१५) इच्छा	(२१) स्नेह (=जोड़नेका गुण)
(१६) द्वेष	(२२) संस्कार
(१७) प्रयत्न	(२३) अदृष्ट (=अलौकिक शक्तिमत्ता)
	(२४) शब्द

इनमे द्रवत्व, स्नेह और शब्दको कणादने जल और आकाशके गुणोंमें गिना है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—विशेष गुण कहे गये हैं, क्योंकि ये पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशके क्रमशः अपने-अपने विशेष गुण हैं[1]।

(d) कर्म—कर्म क्रिया (=गति)को कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—

---

१. "वायो नवैकादश तेजसो गुणा जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्-कालयोः पंच षडेव चांबरे महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥"

(१) उत्क्षेपण (=ऊपरकी ओर गति)	(४) प्रसारण (=चारों ओर फैलना)
(२) अपक्षेपण (=नीचेकी ओर गति)	(५) गमन (=सामनेकी गति)
(३) आकुंचन (=सिकुड़ना)	

द्रव्य, गुण, और कर्मपर दृष्ट हेतुओंका प्रयोग होता है, यह बतला चुके हैं। इन तीनोंको हम निम्न समान रूपोंमें पाते हैं—

(१) सत्ता (=अस्तित्व) वाले	(४) कार्य
(२) अनित्य	(५) कारण
(३) द्रव्य	(६) सामान्य
	(७) विशेष

गुण और कर्म सदा किसी द्रव्यमें रहते हैं, इसलिए द्रव्यको गुणकर्मोंका समवायि (=नित्य) कारण कहते हैं। गुणकी विशेषता यह है, कि वह किसी दूसरे गुण और कर्म में नहीं होता।

(८) सामान्य—अनेक द्रव्योंमें रहनेवाला नित्य पदार्थ सामान्य है, जैसे पृथिवीत्व (=पृथिवीपन) अनेक पार्थिव द्रव्योंमें, गोत्व (=गायपन)

— —

अर्थात्—

द्रव्य	गुण-संख्या	द्रव्य	गुण-संख्या
(१) पृथिवी	१४	(६) काल	५
(२) जल	१४	(७) दिशा	५
(३) अग्नि	११	(८) आत्मा	१४
(४) वायु	९	(९) मन	८
(५) आकाश	६		

महेश्वर (=ईश्वर)को पीछेके ग्रन्थकारोंने आठ गुणोंवाला माना है, किन्तु कणादके सूत्रोंमें ईश्वरके लिए कोई स्थान नहीं, वहाँ तो ईश्वर-का काम अदृष्टसे लिया गया है।

अनेक गायोंमें रहनेवाला नित्य पदार्थ है। गायें लाखों आज, पहिले और आगेभी नष्ट होती रहेंगी, किन्तु गोत्व नष्ट नहीं होता। वह आजकी सारी गायोंमें जिस तरह मौजूद है, उसी तरह पहिले भी था और आगेकी गायोंमें भी मिलेगा, इस प्रकार गोत्व नित्य है।

(f) विशेष—परमाणुओं (=पृथिवी, जल, वायु, आगके सूक्ष्मतम नित्य अवयव) में जो एक दूसरेसे भेद है, उसे विशेष कहते हैं। विशेष सिर्फ नित्य द्रव्योंमें रहता है, और वह स्वयं भी नित्य है। इसी विशेषके प्रतिपादनके कारण कणादके शास्त्रका नाम वैशेषिक पड़ा।

(क) समवाय—वस्तुओंके बीच के नित्य संबंधको समवाय कहते हैं। द्रव्यके साथ उसके गुण, कर्म समवाय संबंधसे संबद्ध हैं—पृथिवीमें गंध, जलमें रस समवाय संबंधसे रहते हैं। सामान्य (=गोत्व आदि) भी द्रव्य, गुण, कर्ममें समवाय (=नित्य) संबंधसे रहता है।

(ख) द्रव्य—चारों भूतोंका जिक्र ऊपर हो चुका है। बाकी द्रव्योंमें आकाश, काल और दिशा अदृष्ट हैं, साथ ही वैशेषिक इन्हें निष्क्रिय भी मानता है। अदृष्ट और निष्क्रिय होनेपर वह है, इसको कैसे सिद्ध किया जा सकता है—इस प्रश्नका उत्तर आसान नहीं था। वैशेषिकका कहना है—शब्द एक गुण है जो प्रत्यक्ष सिद्ध है। गुण द्रव्यके बिना नहीं रह सकता, शब्दको किसी और भूतसे जोड़ा नहीं जा सकता, इसलिए एक नये द्रव्यकी जरूरत है, जो कि आकाश है। कणादको यह नहीं मालूम था, कि हवासे खाली जगहमें रखी घंटी शब्द नहीं कर सकती।

(a) काल[1]—बाल्य, जरा, एक साथ (=यौगपद्य), क्षिप्रता हमारे लिए सिद्ध बातें हैं, इनका कोई ज्ञापक होना चाहिए, इसी ज्ञापकको काल कहा जाता है। कालका जबर्दस्त खंडन बौद्धोंने किया है, जो बहुत कुछ आधुनिक सापेक्षतावाद की तरहका है; इसे हम आगे कहेंगे[2]। कणादके समय व्यवहारकी आसानीकेलिए जो कितनी ही युक्तिरहित धारणाएँ

१. संख्या   २. देखो, धर्मकीर्ति, पृष्ठ ७४२

फैली हुई थीं, उनसे भी उन्होंने अपने वादका अंग बनाया।

(b) दिशा—दूर और नजदीकका ख्याल भी देशका भाव है; इसका भी कोई कारण होना चाहिए, और वही दिशा (=देश) द्रव्य है।[1] सापे-क्षतामें हम देख चुके हैं, और आगे धर्मकीर्तिके दर्शनमें भी देखेंगे, कि देश या दिशा व्यवहार-सत्य हो सकती है, किन्तु ऐसे निष्क्रिय अदृष्ट तत्त्वको परमार्थ-सत्य अज्ञानवश ही माना जा सकता है।

(c) आत्मा—(१) इन्द्रियों और विषयोंके सम्पर्कसे हमें जो ज्ञान होता है, उसका आधार इन्द्रिय या विषय नहीं हो सकते, क्योंकि वे दोनों ही भौतिक—जड़—हैं। ज्ञानका अधिकरण (=कोष) आत्मा है। (२) जीवितावस्थामें शरीरमें गति और मृतावस्थामें गति का बन्द होना भी बतलाता है, कि गति देनेवाला कोई पदार्थ है; वही आत्मा है। (३) श्वास-प्रश्वास, आँखका निमेष-उन्मेष, मनकी गति, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, शरीरके रहते भी जिसके अभावमें नहीं होते वही आत्मा है। दूसरे आत्मवादियोंकी भाँति कणाद शब्द (=वेद, धार्मिक ग्रंथ) के प्रमाणसे आत्माको सिद्ध कर सकते थे, किन्तु शब्द-प्रमाणपर जिस तरहका प्रहार उस वक्त पड़ रहा था, उससे उन्होंने उसपर ज्यादा जोर नहीं दिया। उन्होंने यह भी कहा कि (४) आत्मा प्रत्यक्ष-सिद्ध है, जिसे 'मैं' (=अहं) कहा जाता है, वह किसी पदार्थका बोधक है, और वही पदार्थ आत्मा है। इस प्रकार यद्यपि आत्मा प्रत्यक्ष-सिद्ध है, तो भी अनुमान उसकी और पुष्टि करता है। सुख, दुःख, ज्ञान की निष्पत्ति (=उत्पत्ति) सर्वत्र एकसी होनेसे (सभी आत्माओं) की एक-आत्मता (=एक आत्माकी व्यापकता) है; तो भी सबका सुख, दुःख, ज्ञान अलग-अलग होता है, जिससे सिद्ध है, कि आत्मा एक नहीं अनेक है। शास्त्र (=वेद आदि) भी इस मतकी पुष्टि करते हैं।

(d) मन—अणु (=सूक्ष्म) परिमाणवाला, तथा प्रत्येक आत्माका

---

१. देखो, "विश्वकी रूपरेखा"।

अलग-अलग है। कई इन्द्रियों और विषयोंका सन्निकर्ष हो चुका है, आत्मा भी व्यापक होनेसे वहाँ मौजूद है, तो भी अनेक इन्द्रियाँ आत्माके साथ मिलकर अनेक विषयों का ज्ञान नहीं करा सकती, एक बार एक विषयका ही ज्ञान होता है; इससे मालूम होता है कि इन तीनों के रहते कोई एक चौथी चीज (आत्माकी शक्तिको सीमित करनेवाली) है, जो अणु होनेसे सिर्फ एक इन्द्रिय-विषय-सपर्कपर ही पहुँच सकती है, यही मन है। मन प्रत्यक्षका विषय नही है, इसलिए एक बार एक ही विषयका ज्ञान होनेमे उसका हम अनुमान कर सकते हैं।

(ग) अन्य विषय—छँ पदार्थोंके अतिरिक्त कुछ और बातोंपर कणादने प्रसगवश विचार किये हैं। जैसे—

(a) **अभाव**—अभावको यद्यपि कणादने अपने पिछले अनुयायिओंकी भाँति पदार्थोंमे नही गिना है, तो भी उन्होंने उसका प्रतिपादन जरूर किया है। अभाव अ-सत्, अ-विद्यमानको कहते हैं। अभाव गुण और क्रियासे रहित है। सिर्फ क्रियासे रहित इसलिए नही कहा, क्योकि वैसा करनेपर आकाश, काल और दिशा भी अभावमे शामिल हो जाते; इस-लिए कणादने उन्हें कोई न कोई गुण देकर भाव-पादार्थोंमे शामिल किया। अभाव चार प्रकारके होते हैं। (१) **प्राग-अभाव**—उत्पत्तिसे पहिले उस वस्तुका न होना प्राग्-अभाव है, जैसे बननेसे पहिले घडा। (२) **ध्वंस-अभाव**—ध्वस हो जानेपर जो अभाव होता है, जैसे टूट जानेके बाद घड़ेकी अवस्था। (३) **अन्योन्य-अभाव**—भाववाले पदार्थ भी एक दूसरेके तौरपर अभाव-रूप हैं, घडा कपडेके तौरपर अभाव-रूप है, कपडा घड़ेके तौरपर अभाव-रूप है। (४) **सामान्य-अभाव** (=अत्यताभाव)—किसी देश-कालमे वस्तुका न होना, सामान्याभाव है, जैसे गदहेकी सींग, बाँझका बेटा। अभाव बनी वस्तुकी स्मृतिकी सहायतासे अभावको प्रत्यक्ष किया जा सकता है। स्मृति अभावके प्रतियोगी (=जिसका कि वह अभाव है, उस) वस्तुका चित्र सामने उपस्थित रखती है, जिससे हम अभावका साक्षात्कार करते हैं।

(b) **नित्यता**—जो सत् (=भाव-रूप) है, और बिना कारणका है, वह नित्य है। जैसे कार्य (=धूए)से कारण (=आग) का अनुमान होता है, जैसे अभावसे भावका अनुमान होता है, उसी तरह अनित्यसे नित्यका अनुमान होता है। कणाद, देमोक्रितुके मतानुसार बाहरसे निरन्तर परिवर्तन होती दुनियाकी तहमें अचल, अपरिवर्तन-शील, नित्य परमाणुओंको देखते हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चारो भूत परमाणु-रूपमें नित्य हैं। इन्हीं नेत्र-अगोचर सूक्ष्मकणोंके मिलनेसे आँखसे दिखाई देनेवाले अथवा शरीरके स्पर्शसे मालूम होनेवाले स्थूल महाभूत पैदा होते हैं। मन भी अणु तथा नित्य है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा सर्व-व्यापी (विभु) होते नित्य है। इस प्रकार कणादके मतमें परिवर्तन अनित्यता या क्षणिकता बाहरी दिखावा मात्र है, नहीं, तो विश्व वस्तुतः नित्य है—अर्थात् अनित्यता अवास्तविक है और नित्यता वास्तविक। यह और बौद्धदर्शनके अनित्यता (क्षणिक) वादका जवाब नहीं तो और क्या है? कणादका मुख्य प्रयोजन ही मालूम होता है, बौद्ध क्षणिक-वादका देमोक्रितुके परमाणुवाद अफलातूंके सामान्यवाद तथा अरस्तूके द्रव्य आदि पदार्थवादकी सहायतासे खंडन करना। कणादने यूनानियोंके दर्शनका प्रयोग पूरी तौरसे अपने मतलबके लिए किया, इसमें सन्देह नहीं।

(c) **प्रमाण**—वैशेषिक दर्शनकी पदार्थोंकी विवेचना मुख्यतः थी पदार्थोंके नित्य और अनित्य रूपों तथा दृष्ट और अदृष्ट (=शास्त्र) हेतुओंसे उन रूपोंकी सिद्धिकेलिए। किन्तु किसी वस्तुकी सिद्धिके लिए प्रमाण पर कुछ कहना जरूरी था, इसीलिए विशेषतौरसे नहीं बल्कि प्रसंगवश प्रमाणोंपर भी वैशेषिकसूत्रोंमें कुछ कहा गया। यहाँ सभी प्रमाणोंका एक जगह क्रमबद्ध विवेचन नहीं है, तो भी सब मिलानेपर प्रत्यक्ष, अनुमान ये दृष्ट प्रमाण वहाँ मिलते हैं। (१) साथ ही कणाद कितनी ही बातों के लिए शास्त्र या शब्दप्रमाणको भी मानते हैं। (२) नवें अध्यायके प्रथम आह्निक वस्तुके साक्षात्कार करनेकेलिए योगीकी विशेष शक्तिका भी जिक्र आता है, जिससे मालूम होता है, कि यौगिक शक्तिको कणाद

प्रमाणोंमें मानते हैं। किस तरह के शब्द और योगि-प्रत्यक्षको प्रमाण माना जाये, इसके बारे मे कणादने बहस नहीं की। (३) प्रत्यक्षपर एक जगह कोई विवेचना नहीं है, तो भी आत्माके प्रकरणमे "इन्द्रिय और विषयके सन्निकर्ष (=संबंध) से ज्ञान" का जिक्र प्रत्यक्षके ही लिए आया है, इसमें सन्देह नहीं। जो पदार्थ प्रत्यक्षके विषय हैं, उनमेंसे गुण, कर्म, सामान्यकी प्रत्यक्षताको उनके आश्रयभूत द्रव्यके संयोगसे बतलाया है—जैसे कि पृथिवीद्रव्यका (घ्राणसे) संयोग होनेपर गंध गुणका प्रत्यक्ष होता, जल-अग्नि वायुके संयोगसे रस वर्ण, स्पर्श गुणों के प्रत्यक्ष होते हैं। (४) वस्तुका अनुमान प्रसिद्धि के आधारपर होता है। इसके तीन रूप हैं—(a) एकके अभावका अनुमान दूसरेके भाव (=विद्यमानता) से, जैसे सींगके विद्यमान होनेसे अनुमान हो आता है कि वह घोड़ा नहीं है। (b) एकके भावका अनुमान दूसरेके अभावसे, जैसे सींगके न विद्यमान होने से अनुमान होता है कि वह घोड़ा है। (c) एकके भावसे दूसरेके भावका अनुमान, जैसे सींगके विद्यमान होनेसे अनुमान होता है, यह गाय है। ये सभी अनुमान इन प्रसिद्धियोंके आधार पर किये जाते हैं, कि घोड़ा सींग-रहित होता है गाय सींग सहित होती है। प्रथम अध्यायके प्रथमाह्निकमें यह भी बतलाया है, कि कारण (आग) के अभावमें कार्य (धूम) का अभाव होता है किन्तु कार्य (धूम) के अभावमें कारण (अग्नि) का अभाव नहीं होता। अनुमानके लिए हेतुकी जरूरत होती है। बिना देखे ही कोई कह उठता है, 'पहाड़में आग है', किन्तु जब हम उसे देखते नहीं, कहने मात्रसे आगकी सत्ता नहीं मानी जा सकती। इसीकेलिए हेतु देनेकी जरूरत पड़ती है, और वह है—'क्योंकि वहाँ धुआँ दिखाई पड़ रहा है' इस प्रकार नवम अध्यायके दूसरे आह्निकमें हेतुका जिक्र किया गया है।

(d) ज्ञान और मिथ्याज्ञान—अ-विद्या या मिथ्याज्ञान इन्द्रियोंके विकार अथवा गलत संस्कारोंके साथ किये साक्षात्कार या अ-साक्षात्कार के कारण होता है। इससे उल्टा है विद्या या ज्ञान।

(ङ) ईश्वर—ईश्वरके लिए कणादके दर्शनमें गुंजाइश नहीं।

उसके नौ द्रव्योमे आत्मा आया है, किन्तु वे है इन्द्रियो और मनोकी सहायता से ज्ञान प्राप्त करनेवाले अनेक जीव। उन्हें कर्मफल आदि अदृष्ट देना है। यह फल देनेवाला अदृष्ट सुकृत दुष्कृतकी वासना या संस्कार है। इसे ईश्वर नही कहा जा सकता। सृष्टिके निर्माणकेलिए परमाणुओ मे गतिकी आवश्यकता है जिसमे कि उनमे संयोग होकर स्थूल पदार्थ बनें। सृष्टि रचनाकेलिए होनेवाली यह परमाणु-गति भी कणादके अनुसार अदृष्टके अनुसार होती है इस प्रकार अदृष्टवादी कणादको सृष्टि क्रमफल कही भी ईश्वरकी जरूरत नही महसूस होती।

२—अनेकान्तवादी जैन-दर्शन

जैन तीर्थंकर महावीरके दर्शनके बारेमे हम पहिले कुछ बतला चुके हैं। महावीरके समय यम व्रत उपवास और तपस्याका पथ था, अभी इसपर दर्शनकी पुट नही लगी थी किन्तु जैसा कि हम बतला आये हैं संजय बेलट्ठिपुत्तके अनेकान्तवादसे प्रभावित हो जैनोंने अपना अनेकान्तवादी स्याद्वाद दर्शन तैयार किया। दार्शनिक विचार-संघर्ष और यूनानियोंके संपर्कसे ईसवी सनके आरम्भ होनेके साथ अपने-अपने दार्शनिक विचारोंको सुव्यवस्थित करनेका प्रयत्न जो भारतके भिन्न-भिन्न संप्रदायोने करना शुरू किया उनमे जैन भी पीछे नही रह सकते थे, और इसीका परिणाम हम नग्नता और अनशनके व्रती इस संप्रदायमे स्याद्वाद दर्शनके रूपमे पाते हैं। नई व्यवस्थावाले जैन-दर्शनके पुराने ग्रंथकारो मे उमास्वातिका नाम पहिले आता है। इनका समय ईसाकी पहिली सदी बतलाया जाता है, किन्तु वह सन्दिग्ध है। जो कुछ भी हो उमास्वातिका **तत्त्वार्थाधिगम** नवीन दर्शन युगमे जैनो का सबसे पुराना दर्शन-ग्रंथ है।

यद्यपि जैनोके श्वेताम्बर और दिगम्बर दो मुख्य संप्रदाय ईसाकी पहिली सदीसे चले आते हैं, तो भी जहाँ तक दर्शनका संबंध है उनमे वैसा कोई मौलिक भेद नही है। दोनोके भेद आचार आदिके संबंधमे हैं जैसे—

श्वेतांबर	दिगंबर
१ अर्हत् भोजन करते हैं	नही

२. वर्धमानको गर्भावस्थामें देवनन्दासे त्रिशलाके गर्भ में
बदला गया था। नहीं
३. साधु वस्त्र पहिन सकते हैं नहीं
४. स्त्रीको मोक्ष मिल सकती है नहीं

श्वेतांबर जैन अधिकतर गुजरात, पश्चिमी राजपूताना, युक्तप्रान्त और मध्यभारतमें रहते हैं। दिगंबर पश्चिमोत्तर पंजाब, पूर्वीय राजपूताना और दक्षिण भारतमें रहते हैं। श्वेतांबरों के मूलग्रंथ—अंग—प्राकृतमें मिलते हैं, किन्तु दिगंबरोंके सारे ग्रंथ संस्कृतमें हैं। दिगंबर प्राकृत अंगोंको बनावटी बतलाते हैं, यद्यपि पालि-त्रिपिटकसे अर्वाचीनता रखनेपर भी उतने नवीन नहीं हैं, जितने कि ये उन्हें बतलाते हैं।

जैन-धर्म-दर्शनकी एक खास विशेषता है, कि इसके प्रायः सारे अनुयायी व्यापारी, महाजन और छोटे दूकानदार हैं। "लाभ-शुभ" और शान्तिके स्वाभाविक प्रेमी व्यापारी वर्गका चरम अहिंसाके दर्शनमें इतनी श्रद्धा आकस्मिक नहीं हो सकती, यह हम अन्यत्र[1] बतला आये हैं।

हमने यहाँ २००-४०० ई० तकके भारतीय दर्शनोंको लिया है, किन्तु इससे अगले प्रकरणमें दुहरानेसे बचनेके लिए हम यहीं अगले विकासको भी लेते हुए इस विषयमें लिख रहे हैं।

(१) **दर्शन और धर्म**—जैनोंके स्याद्वादका जिक्र पीछे कर चुके हैं, जिसके अनुसार वह सबमें सबके होनेकी संभावना मानते हैं। उपनिषद्के दर्शनमें नित्यतापर जोर दिया गया था, बौद्धोंका जोर अनित्यतापर था, जैनोंने दोनोंको सम्भव बतलाते हुए बीचका रास्ता स्वीकार किया। उदाहरणार्थ—

उपनिषद्	बौद्ध	जैन
(ब्रह्म) सत् है	सब अनित्य है	कुछ नाशमान हैं, और कुछ अनाशमान भी

१. "मानव-समाज", पृष्ठ १९३-४

जैन दोनों की आंशिक सत्यता और असत्यताको बतलाते हुए कहते हैं—पर्यायरूपसे देखनेपर मिट्टीका पिंड नष्ट होता है, घड़ा उत्पन्न होता है, वह भी नष्ट हो जाता है। किन्तु द्रव्यरूपसे देखनेपर सारी अवस्थाओंमें मिट्टी (द्रव्य) मौजूद रहती है। द्रव्यको न वह सर्वथा परिवर्तनशील मानते हैं, नहीं सर्वथा अपरिवर्तनशील; बल्कि परिवर्तनशील अ-परिवर्तनशील दोनों तरहका मानते हैं—अर्थात् द्रव्य एक ही समयमें वह (=द्रव्य है) और नहीं भी है। सत्ता (=विद्यमानता) के बारेमें सात प्रकारके स्याद् (=हो सकता है) की बात हम पीछे बतला चुके हैं।

(२) तत्त्व—जैन-दर्शनमें तत्त्वोंके दो, पाँच, सात, नौ भेद बतलाये गयें हैं, जो कि बौद्धोंके स्कन्ध, आयतन धातुकी भाँति एक ही विश्व-के भिन्न-भिन्न दृष्टिसे विभाजन हैं।—

दो तत्त्व—जीव, अजीव

पाँच तत्त्व—जीव, अजीव, आकाश, धर्म, पुद्गल

सात तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जर, मोक्ष

नौ तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जर, मोक्ष, पुण्य, अपुण्य

दो और पाँच तत्त्वोंवाले विभाजनमें दार्शनिक पदार्थों को ही रखा गया है, पिछले दो विभाजनोंमें धर्म और आचारकी बातोंको भी शामिल कर दिया गया है:

(३) पाँच अस्तिकाय—जीव अजीवके दो भेदोंमें अजीवको ही आकाश, "धर्म", "अधर्म", पुद्गल चार भेदोंमें बाँटकर पाँच तत्त्वमें बाँटा गया है, इन्हें ही पंच अस्तिकाय भी कहते हैं, इनमें—

(क) जीव—जीव आत्माको कहता है जिसकी पहिचान ज्ञान है। तो भी सिर्फ ज्ञानवाला मान लेनेपर अनेकान्तवाद न हो सकता था, इस-लिए कहा गया'—

---

१. "ज्ञानाद् भिन्नो न चाभिन्नो भिन्नाभिन्नः कथञ्चन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोऽयमात्मेति कीर्तितः॥"

"जो ज्ञानसे भिन्न है और न अभिन्न है, न कैसे भी भिन्न-और-अभिन्न है, (जो) ज्ञान पूर्वापरवाला है, वह आत्मा है॥"

आत्मा भौतिक (=भूतपरिणाम) नहीं है, शरीर उसका अधिकरण है, जीवोंकी सख्या असख्य है। जीव नही सर्वव्यापी है; न वैशेषिकके मन-की भाँति अणु है, बल्कि वह मध्यम परिमाणी है, अर्थात् जितना बड़ा शरीर होता है, उतना बड़ा ही आत्मा है—हाथीके शरीरमे हाथीके बराबर-की आत्मा है, और चीटीके शरीरमे चीटीके बराबरकी। मृत हाथीसे निकलकर जब वह चीटीके शरीर मे प्रवेश करता है, तो उसे वैसा ही क्षुद्र आकार धारण करना पड़ता है। दीपकके प्रकाशकी भाँति वह प्रसार और सकोच कर सकता है। इतनेपर भी आत्मा नित्य है, भिन्न-भिन्न जीवोमे इन्द्रियोंकी सख्या कम-बेश होती है, यह ख्याल जैनोंमे महावीरके समयमे चला आता है। वृक्षोंके कटवानेपर जैन साधुओंने बौद्ध भिक्षुओंको "एकेन्द्रिय जीव" के वध करनेवाले कहकर बदनाम करना शुरू किया था, जिसपर बुद्धको भिक्षुओंके लिए वृक्ष काटना निषिद्ध ठहराना पड़ा[1]। भिन्न-भिन्न जीवोंमे इन्द्रियोंकी सख्या इस प्रकार है—

जीव	इन्द्रिय सख्या
(१) वृक्ष	(१) स्पर्श
(२) पीलु (कृमि)	(२) स्पर्श, रस
(३) चींटी	(३) स्पर्श, रस, गध
(४) मक्खी	(४) स्पर्श, रस, गध, दृष्टि
(५) पृष्ठधारी	(५) स्पर्श, रस, गंध, दृष्टि, शब्द
(६) नर, देव, नारकीय	(६) स्पर्श, रस, गध, दृष्टि, शब्द, मन

स्पर्श आदिकी जगह त्वक्, रसना, नासिका, आँख, श्रोत्र और मन इंद्रिय समझ लीजिए।

जीवोके फिर दो भेद हैं, कितने ही जीव संसारी हैं और कितने ही मुक्त।

---

१. विनय-पिटक (भिक्षु-विभंग) ५।११

(a) **संसारी**—संसारी आवागमन (=पुनर्जन्म) के चक्कर (=संसार) में फिरते रहनेवाले है। वे कर्मके आवरणसे ढँके हुए हैं। मन-सहित (=समनस्क) और मन-रहित (=अमनस्क) यह उनके दो भेद है। शिक्षा, क्रिया, आलापको ग्रहण करनेवाली संज्ञा (=होश) जिनमे है, वह मन-सहित जीव हैं। जिनमे संज्ञा (होश) नही है, वह मन-रहित (=अमनस्क) है। अमनस्कोमे फिर दो भेद हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वृक्ष—ये एक इन्द्रियवाले जीव स्थावर जीव हैं। पृथिवी आदि चारो महाभूत भी जैन-दर्शनके अनुसार किसी जीवके शरीर हैं, उपनिषद्के अन्तर्यामी ब्रह्मकी तरह नही बल्कि द्वैती आत्मवादियोके शरीर-निवासी जीवकी तरह।

मन-सहित (=समनस्क) जीव छै इन्द्रियोंवाले नर, देव और नारकीय प्राणी है।

(b) **मुक्त**—जीवोंमे जिन्होने त्याग-तपस्यासे कर्मके आवरणको हटाकर कैवल्य पद प्राप्त कर लिया है वे मुक्त कहे जाते है।

प्रश्न हो सकता है कि अनन्तकालसे आजतक जिस प्रकार प्राणी मुक्त होते जा रहे हैं उससे तो एक दिन दुनिया जीवोसे खाली हो जायेगी। इसके समाधानमे जैन-दर्शनका कहना है, कि जीवोकी संख्या घटने योग्य नही है, विश्व तो **निगोद**—जीव-ग्रंथियां—से भरा हुआ है। एक-एक निगोदके भीतर संकोच-विकास-शील जीवोंकी कितनी भारी संख्या है, यह इसीसे पता लग सकता है कि अनादिकालसे लेकर आजतक जितने जीव मुक्त हुए है उनके लिए एक **निगोद** पर्याप्त है। इस प्रकार संसार के उच्छिन्न होने का डर नही।

(अजीव)—अजीवके धर्म, अधर्म, पुद्गल आकाश चार भेद बतला चुके है, धर्म अधर्म यहाँ खास अर्थमे व्यवहृत होता है।

(क) **धर्म**—विश्वव्यापी एक चालक तत्त्व है, जिसका अनुमान गति—प्रवृत्ति—से होता है।

(ग) **अ-धर्म**—एक विश्वव्यापी रोधक तत्त्व है, स्थिति—गतिहीन अवस्था—से इसका अनुमान होता है।

विश्वका संचालन, सृष्टि, स्थिति, प्रलय इन्हीं दो तत्त्वो—धर्म

अधर्म—द्वारा होता है।

(घ) पुद्गल (=भौतिक तत्त्व)--बौद्ध-दर्शनमें पुद्गल जीवको कहते हैं, और बौद्ध इस तरहके पुद्गलको नहीं मानते। जैनोंका पुद्गल उससे बिल्कुल उलटा अ-जीव पदार्थ अर्थात् भौतिक तत्त्व है। पुद्गल (=भौतिक तत्त्व) में स्पर्श, रस, वर्ण, तीनों गुण मिलते हैं। इनके दो भेद हैं—(१) उनकी तहमें पहुँचनेपर वह सूक्ष्म अणु रह जाते हैं, इन्हें अणु-पुद्गल कहते हैं, ये देमोक्रितुके भौतिक परमाणु हैं, जिनके ख्यालको दूसरे भारतीय दार्शनिकोंकी भाँति जैन-दर्शनने भी बिना आभार स्वीकार किये यवनोंसे ले लिया है। (२) दूसरे हैं स्कंध-पुद्गल, जो अनेक परमाणुओं के संघात (=स्कन्ध) हैं। स्कन्ध पुद्गलोंकी उत्पत्ति परमाणुओंके संयोग-वियोगसे होती है।

(ङ) आकाश--यह भी पच अस्तिकायोमें एक है, और उपनिषद्के समयसे चला आया है। यह आकाश संसारी जीवोंके लोकसे परे, जहाँ कि मुक्त जीव हैं, वहाँ तक फैला हुआ है। आकाश अभावात्मक नही भावात्मक वस्तु है, इसीलिए इसकी गणना पाँच अस्तिकायोंमें है।

(४) सात तत्त्व—(क, ख) सातमें जीव और अजीवको पाँच अस्तिकायोंके रूपमें अभी बतला चुके, बाकी पाँच निम्न प्रकार हैं।

(ग) आस्रव—आस्रव बहनेको कहते हैं, जैसे "नदी आस्रवति" (=नदी बहती है)। बौद्ध-दर्शनमें भी आस्रव (=आसव) आता है, किन्तु वह बहुत कुछ चित्तमलके अर्थमें। जीव कषाय या चित्तमलोंसे लिपटा आवागमनमे आता है।

कषाय--क्रोध, मान, माया, लोभ और अशुभ बुरे कषाय हैं, अ-क्रोध, अ-मान, अ-माया, अ-लोभ, शुभ (अच्छे) कषाय हैं।

(घ) बंध—बंध सातवाँ तत्त्व है: कषायसे लिप्त होनेसे जीव विषयोंमे आसक्त होता है, यही बंध या बन्धन है जिसके कारण जीव एक शरीरसे दूसरे शरीरमें दुःख सहते मारा-मारा फिरता है।

कषायके चार हेतु होते हैं—(१) मिथ्या दर्शन—झूठा दर्शन, जो नैसर्गिक या पूरबले मिथ्या कर्मोंसे उत्पन्न भी हो सकता है, या उपदेशज

यानी इसी जन्ममें झूठे दर्शनोंके सुनने-पढ़नेसे हो सकता है। (२) अविरति या इन्द्रिय आदिपर संयम न करना। (३) प्रमाद है, आस्रव रोकनेके उपाय गुप्ति समिति आदिसे आलसी होना।

(ङ) संवर—आस्रव-प्रवाहके रास्तेको रोक देनेको संवर कहते हैं। जो कि गुप्ति और समिति द्वारा होता है।

(a) गुप्ति—काया, वचन, मनकी रक्षाको कहते हैं। गुप्तिका शब्दार्थ है रक्षा।

(b) समिति—समिति संयम है, इसके पाँच भेद हैं —(१) ईर्या समिति यानी प्राणियोंकी रक्षा करना; (२) भाषा-समिति, हित, परिमित और प्रिय भाषण; (३) ईषणा-समिति—शुद्ध, दोषरहित भिक्षाको ही लेना; (४) आदान-समिति, यह देख-भालकर आसन वस्त्र आदिको लेना कि उसमें प्राणिहिंसा आदि होनेकी तो संभावना नहीं है; (५) उत्सर्ग-समिति यानी वैराग्य, जगत् मल गंदगीसे पूर्ण है इसे उत्सर्ग (=त्याग) करना चाहिए।

जैसे बौद्धोंका आर्य-सत्योंपर बहुत जोर है, वैसे ही जैन-धर्ममें आस्रव और संवर मुमुक्षुके लिए त्याज्य और ग्राह्य हैं—

"आवागमन (=भव) का हेतु आस्रव है, और संवर मोक्षका कारण। बस यह अर्हत् (महावीर)की रहस्य-शिक्षा है, दूसरे तो इसीके विस्तार हैं।"[1]

इसी तरह बौद्धोंमें भी बुद्धकी शिक्षाका सार माना जाता है—

"सारी बुराइयों (=पापों)का न करना, भलाइयोंका संपादन करना। अपने चित्तका संयम करना, यह बुद्धकी शिक्षा है।"[2]

(च) निर्जर—जन्मान्तरसे जो कर्म—कषाय—संचित हो गया है

---

१. "आस्रवो भवहेतुः स्यात् संवरो मोक्ष-कारणम्।
इतीयमार्हती मुष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥"

२. "सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्सुपसंपदा। सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धानुसासनं॥"

उसका निर्जरण या नाश करना निर्जर है, यह केश उखाड़ने, गर्मी, सर्दीको नगे बदनसे बर्दाश्त करने आदि तपोंके द्वारा होता है।

(छ) **मोक्ष**--कर्मोंका जब बिलकुल नाश हो जाता है, तो जीव अपने शुद्ध आनंदमे होता है, इसे ही **केवल** अवस्था या कैवल्य भी कहते है। इस अवस्थामे मुक्त पुरुष हर समय अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन---सर्वज्ञ सर्वदर्शी--- होता है। ससार या आवागमनकी अवस्थामे जीवकी यह कैवल्यावस्था ढँकी होती तथा शुद्ध स्वरूप मल-लिप्त होता है। मुक्त जीव हमारे लोकके सीमान्तपर अवस्थित लोकाकाशके भी ऊपर जाकर अचल हो वास करते हैं।

(५) **नौ तत्त्व**--पिछले (क--छ) सात तत्त्वोंमे पुण्य और अपुण्यको और जोड देनेसे नौ तत्त्व होते है---

(ज) **पुण्य**--जीवपर पडा एक प्रकारका सस्कार है, जो कि सुखका साधन होता है। यह अभौतिक नही परमाणुमय है जो एक गिलाफकी भाँति जीवसे लिपटा रहता है। मुक्तिके लिए इस **पुण्यसे** मुक्त होना जरूरी है।

(झ) **पाप**--पाप दुःख-साधन है, और पुण्यकी भाँति परमाणुमय है।

(६) **मुक्तिके साधन**--दुःखके त्याग और अनन्त अमिश्रित सुखकी प्राप्तिके लिए मोक्ष की जरूरत है। इसकी प्राप्तिके लिए ज्ञान, श्रद्धा, चरित्र और भावना (=योग) की जरूरत है।

(क) **ज्ञान**--ज्ञानसे मतलब जैन-दर्शन स्याद्वाद या अनेकान्तवाद-का सत्यताका निश्चय है।

(ख) **श्रद्धा**--तीर्थंकरके वचनोंपर श्रद्धा या विश्वास।

(ग) **चारित्र**--सदाचार या शीलको जैन-धर्ममे चारित्र कहा गया है। पापका विरत होना, अर्थात् अ-हिंसा, सूनृत (=सत्य), अ-चोरी, ब्रह्मचर्य, अ-परिग्रह (=अ-सग्रह) ये चारित्र हैं। गृहस्थोंके लिए चारित्र कुछ नर्म है, उन्हे सच्चाईसे धन अर्जन[1] सदाचारका पालन, कुलीन सती

---

१. खेती तथा दूसरे उत्पादक श्रममें हिंसा होनी जरूरी है, इसलिए वह सच्चाईसे धनार्जनके रास्ते नहीं हैं। सच्चाईसे धनार्जनके रास्ते है,

स्त्रीसे विवाह, देशाचारका पालन, पोषधव्रत, अतिथि-सेवा करनी चाहिए।

(घ) भावना—मानसिक एकाग्रता है। मोक्षके लिए करणीय भावनाओंके कई प्रकार हैं, जैसे—

(a) [1]अनित्यता-भावना—भोगोंको अनित्य समझ उनकी भावना करना।

(b) [1]अशरण-भावना—कि मृत्यु, दुःखके प्रहारसे बचनेके लिए संसारमें कोई शरण नहीं है।

(c) [1]अशुचि-भावना—कि शरीर मल-दुर्गंध पूर्ण है।

(d) आस्रवा-भावना—कि आस्रव बंधनके हेतु है।

(e) धर्मस्वभावाख्यातता-भावना—संयम, सत्य, शौच, ब्रह्मचर्य, अलोभ, तप, क्षमा, मृदुता, सरलता आदि द्वारा भावना-रत होना।

(f) लोक-भावना—सृष्टिके स्वभावकी भावना।

(g) बोधि-भावना—मनुष्यकी अवस्था कर्म-निर्मित है।

(h) [1]मैत्री-भावना—सर्वत्र मित्रताके भावसे देखना।

(i) [1]करुणा-भावना—

(j) [1]मुदिता-भावना—आदि।

(७) अनीश्वरवाद—ईश्वरके न माननेमें जैन भी चार्वाक और बौद्ध-दर्शनोंके साथ है। इनकी युक्तियां भी प्रायः वही हैं, जिन्हें वे दोनों दर्शन देते हैं। वैशेषिकने लोककी सृष्टिके लिए अदृष्टको ईश्वरके स्थानपर रखा है, और जैनोंने धर्म-अधर्मको उसके स्थानपर रखा। लोक, ऊर्ध्व, मध्य और अधः तीनों लोकोंमें विभक्त है, जिनमें क्रमशः देव, मानव और नारकीय लोग बसते हैं। लोकमें सर्वत्र आकाश है, जिसे लोकाकाश कहते हैं। लोकाकाशके परे तीन तह हवाकी है। मुक्त जीव तीनों लोकोंको पार कर लोकाकाशके ऊपर जाकर वास करता है।

व्यापार, दुकान, सूदका व्यवसाय......।

१. ये भावनाएं बौद्ध-ग्रंथों में भी पाई जाती हैं।

जैन तत्वोको वृक्षके रूपमे इस प्रकार अंकित कर सकते हैं—

३—शब्दवादी जैमिनि (३०० ई०)

जैमिनि उस कालके ग्रन्थकारोंमें है, जब कि ब्राह्मणोंमें पुराने ऋषियों-के नामपर ग्रंथोंको लिखकर अपने धर्मको मजबूत करनेका बहुत जोर था। इसलिए मीमांसाकार जैमिनिकी जीवनीके बारेमें जानना सम्भव नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि मीमांसाका लेखक कणाद, नागार्जुन, अक्षपादके पीछे हुआ, और इन स्वतंत्र चेता दार्शनिकोंके ग्रन्थो से उसने पूरा लाभ उठाया। साथही उसे हम वसुबन्धु (४०० ई०) और दिग्नाग (४२५) से पीछे नहीं ला सकते। बादरायण और जैमिनि दोनोंने एक दूसरेके मतको उद्धृत किया है, इसलिए दोनोंका समय एक तथा ३०० ई० के आसपास मालूम होता है।

(१) **मीमांसा शास्त्रका प्रयोजन**—मीमांसाका आरंभ करते हुए जैमिनिने लिखा है—"अब यहाँसे धर्मकी जिज्ञासा आरंभ होती है।"[1] वैशेषिकका प्रथम सूत्र भी इससे मिलता-जुलता है। कुछ विद्वानोंके मतसे वैशेषिक एक तरहकी पुरानी मीमांसा है, जिससे प्रभावित हो जैमिनीने अपने १२ अध्यायके विस्तृत मीमांसा-शास्त्रको लिखा। यद्यपि वेदकी अनित्यता, वेदके स्वतःप्रामाण्य आदि कितनी ही बातोंमें वैशेषिकका मीमांसासे मतभेद है, तो भी, अदृष्ट, कितनी ही बातों में शास्त्र प्रामाण्य, धर्म-व्याख्यान आदिपर दोनोंका जोर एकसा होनेसे समानता भी ज्यादा है। भारी भेद यहाँ कहा जा सकता है, कि वैशेषिक जहाँ उत्तरमें हिमालयके लिए घरसे निकल दक्षिणके समुद्रमे पहुँच गया, वहाँ जैमिनिने सचमुच शुरूसे अन्ततक धर्म-जिज्ञासा जारी रखी, और वैदिक कर्मकांडके समर्थन तथा विरोधियोंके प्रत्याख्यानमें अपनी शक्ति लगाई।

उपनिषद्के वर्णनके समय हमने ब्राह्मण ग्रंथोंका जिक्र किया था,

१. "अथातो धर्मजिज्ञासा"—मीमांसासूत्र १।१।१; "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः"—वैशेषिकसूत्र १।१।१

जो कि वेद-संहिताओंके बाद यज्ञ-कर्मकांडकी विधि और व्याख्याके लिए भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा कई पीढ़ियों तक बनाए जाते रहे। शतपथ ऐतरेय, तैत्तिरीय, षड्‌विंश, गोपथ आदि कितने ही ब्राह्मण ग्रंथ अब भी मिलते हैं। इन्हीं ब्राह्मणोंमेंसे कुछके अन्तिम भाग आरण्यक और उपनिषद् हैं, यह भी हम बतला चुके हैं। ब्राह्मणोंका मुख्य तात्पर्य भिन्न-भिन्न यज्ञोंकी प्रक्रियाओं तथा वह वेदके किन-किन मंत्रोंके साथ की जानी चाहिए, इसे ही बतलाना है। ब्राह्मण ग्रंथोंमें वर्णित ये विधान जहाँ-तहाँ बिखरे तथा कहीं-कहीं असंबद्ध भी थे, जिससे पुरोहितोंको दिक्कत होती थी, जिसके लिए बुद्धके पीछे कितनेही ग्रंथ बने, जिन्हें कल्प-सूत्र या प्रयोग-शास्त्र कहते हैं। कल्प-सूत्रों में श्रौत-सूत्रोंका काम था, यज्ञ करनेवाले पुरोहितोंकी आसानीके लिए सारी प्रक्रियाको व्यवस्थित रीतिसे जमा कर देना। यजुर्वेद के कात्यायन श्रौतसूत्रको देखनेसे यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

ब्राह्मण और श्रौतसूत्रोंने यज्ञ-पद्धतियाँ बनानेकी कोशिश की। अपने-अपने वक्तके लिए यह पर्याप्त थी, किन्तु, ईसवी सनके शुरू होनेके साथ सिर्फ पद्धतियोंसे काम नहीं चल सकता था, बल्कि वहाँ अब उन्न भी उठती हुई शंकाओंको दूर कर यज्ञ और कर्मकांडके महत्त्वको समझानेकी। इसी कामको अप्रत्यक्ष रूपसे कणादने करना चाहा, किन्तु यूनानी दर्शनने दिमाग पर भारी असर किया था, जिससे धर्मके लौकिक व्याख्यान द्वारा अदृष्टकी पुष्टिकी जगह दृष्टपर जोर ज्यादा दिया, जिससे वह लक्ष्यसे बहक गए। जैमिनिने, जैसाकि अभी कहा जा चुका है, यज्ञ और कर्मकांडके लौकिक पारलौकिक लाभके रूपमें पुरोहितोंकी आमदनीके एक भारी व्यवसायकी रक्षा करनेके ख्यालसे पहिले तो यह सिद्ध करना चाहा कि सत्यकी प्राप्तिके लिए वेद ही एकमात्र अभ्रान्त प्रमाण हैं। इसके बाद फिर उसने भिन्न-भिन्न यज्ञों, उनके अंगों तथा दूसरी कर्मकांडसंबंधी प्रक्रियाओंका विवेचन किया।

मीमांसा-सूत्रमें १२ अध्याय तथा प्रायः २५०० सूत्र हैं। इसके भाष्य-कार शबर स्वामी (४०० ई०) ने योगाचार मतका जिस तरहसे खंडन

किया है, उससे उसको असंगका समकालीन या पश्चात्कालीन होना चाहिये। मीमांसाके शब्द प्रामाण्यवाद तथा कर्मकांडका खंडन दिङ्नाग और दूसरे आचार्योंने किया, उसके उत्तरमें छठी सदीमें कुमारिल भट्ट (५५० ई०) ने कलम उठाई, और जैमिनिका समर्थन करते हुए मीमांसाके भिन्न-भिन्न भागोंपर क्रमश: श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका तीन ग्रंथ लिखे, जिनमें श्लोकवार्तिक विशेषकर तर्क-निर्भर है। कुमारिलके शिष्य प्रभाकर (जिसकी प्रतिभाके कारण कहा जाता है उसके गुरु कुमारिलने उस गुरुका नाम दे दिया, और तबसे प्रभाकरका मत गुरुमत कहा जाने लगा) ने शबर-भाष्यपर दूसरी टीका बृहती लिखी। मीमांसापर और भी ग्रंथ लिखे गए, किन्तु शबर और कुमारिलके ही ग्रंथ ज्यादा महत्त्व रखते हैं। हम यहां जैमिनि ही के दर्शनपर कहेंगे, कुमारिलका दार्शनिक मत धर्मकीर्तिके प्रकरणमें पूर्वपक्षके रूपमें आ जायेगा।

(२) **मीमांसासूत्र-संक्षेप**—मीमांसाने अपने १२ अध्याय तथा ढाई हजार सूत्रोंमें निम्न विषयोंपर विवेचन किया है—

अध्याय	विषय
१	प्रमाण—विधि (यज्ञका विधान), अर्थवाद, मन्त्र, स्मृति, नामधेयकी प्रामाणिकता।
२	अर्थ—कर्मभेद, उपोद्घात, प्रमाण, अपवाद, प्रयोगभेद।
३.	श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या (=नाम) के विरोध, प्रधान (-यज्ञ) के उपकारक और कर्मोंका चिन्तन।
४.	प्रधान (=मुख्य) यज्ञ, तथा अप्रधान (=अंग यज्ञ) की प्रयोजकता, जुहू (=पात्र) के पत्ते आदिके होनेका फल, राजसूय यज्ञके भीतर जूआ खेलने आदि कर्मोंपर विचार।
५	श्रुति, लिंग, आदि के क्रम, उनके द्वारा विशेषका घटना-बढ़ना और मजबूती तथा कमजोरी।
६.	अधिकारी उसका धर्म, द्रव्य-प्रतिनिधि, अर्थलोपनप्राय-श्चित्त, सत्रदेय वह्निपर विचार।

अध्याय	विषय
७.	प्रत्यक्ष (=श्रुतिमें) न कथन किये गए अतिदेशोंमेंसे नाम-लिंग-अतिदेशपर विचार।
८.	स्पष्ट, अस्पष्ट प्रवल लिंगवाले अतिदेशपर विचार।
९.	ऊहपर विचारारम्भ—साम-ऊह, मंत्र-ऊह।
१०	निषेधके अर्थोपर विचार।
११.	तंत्र के उपोद्घात, अवाप, प्रपचन अवाय, प्रपचन चिंतन।
१२.	प्रसग, तंत्र निर्णय, समुच्चय, विकल्पपर विचार।

यह सूची पूर्ण नहीं है। यहाँ दिये विषयोंसे यह भी पता लग जाता है, कि **मीमांसाका** दर्शनसे बहुत थोडा सा सबंध है, बाकी तो कर्मकांड-संबंधी प्रश्नों, विरोधों, सन्देहोको दूर करनेके लिए कोशिश मात्र है।—वस्तुतः जैमिनिने कल्प-सूत्रों (=प्रयोगशास्त्रों) के लिए वही काम किया है, जो कि वेदान्तने उपनिपदोके लिए।

(३) **दार्शनिक विचार**—जैमिनिने पहिले सूत्रमें धर्म-जिज्ञासाको मीमासा शास्त्रका प्रयोजन बतलाया। धर्म क्या है। इसका उत्तर दिया—"चोदनालक्षणार्थो धर्मः"[1]—(वेदकी) प्रेरणा जिसके लिए हो वह बात धर्म है। कणादने धर्मकी व्याख्या करते हुए उसे अभ्युदय और निःश्रेयस (=पारलौकिक समृद्धि) का साधन बतलाया था। जैमिनिने यहाँ धर्मका स्वरूप बतलाना चाहा, और उसके लिए तर्क और बुद्धिपर जोर न देकर वेदके उन वाक्योको मुख्य बतलाया जिनमे कर्मकी प्रेरणा (=चोदना या विधि) पाई जाती है। ऐसे प्रेरणा (=चोदना) वाक्य ब्राह्मणो मे सत्तरके करीब हैं। इन्हें ही जैमिनि कर्मकाडके लिए सबसे बडा प्रमाण तथा उसके साफल्यकी गारटी बतलाता है।

मीमासाने बुद्धिवादकी चकाचौंधमे आये भारतमें किस मतलबसे पदार्पण किया, इसे आचार्य श्चेर्बात्स्कीके दो वाक्य अच्छी तरह बत-

---

१. मीमांसा-सूत्र १।१।२

लाते हैं[1]।—

"मीमांसक पुराने ब्राह्मणी यज्ञवाले धर्मके अत्यन्त कट्टर धर्मशास्त्री थे। यज्ञके सिवाय किसी दूसरे विषयके तर्क-वितर्कके वह सख्त खिलाफ थे। शास्त्र—वेद—उन ७०के करीब उत्पत्ति विधियोंके समूहके अतिरिक्त और कुछ नहीं। ये विधियाँ यज्ञोंका विधान करती हैं और बतलाती हैं कि उनके करनेसे किस तरहका फल मिलेगा। (मीमांसाके) इस धर्ममें न कोई धार्मिक भावुकता है और न उच्च भावनाएँ। उसकी सारी बातें इस सिद्धान्तपर स्थापित हैं—ब्राह्मणोंको उनकी दक्षिणा दे दो, और फल तुम्हारे पास आ मौजूद होगा। लेकिन इस धार्मिक क्रय-विक्रय—व्यापार—पर जो प्रहार (बुद्धिवादियोंकी ओरसे) हो रहे थे, उनसे अपनी रक्षा करना मीमांसकोंके लिए जरूरी था, और (सारे व्यापारकी भित्ति) वेदकी प्रामाणिकताको दृढ़ करनेके लिए 'शब्द नित्य है' इस सिद्धान्तकी कल्पना थी। जिन गकार आदि (वर्णों) से हमारी भाषा बनी है, वह उस तरहकी ध्वनियाँ या शब्द नहीं हैं, जैसी कि दूसरी ध्वनियाँ और शब्द। वर्ण नित्य अविकारी द्रव्य हैं किन्तु सिवाय समय-समयपर अभिव्यक्त होनेके उन्हें साधारण आदमी (सदा) नहीं ग्रहण कर सकता। जिस तरह प्रकाश जिस वस्तुपर पड़ता है, उसे पैदा नहीं करता, बल्कि प्रकाशित (=अभिव्यक्त) करता है, इसी तरह हमारा उच्चारण वेदके शब्दोंको पैदा नहीं बल्कि प्रकाशित करता है। सभी दूसरे आस्तिक नास्तिक दर्शन मीमांसकोंके इस उपहासास्पद विचारका खंडन करते थे, तो भी मीमांसक अपनी असाधारण सूक्ष्म तार्किक युक्तियोंसे उनका उत्तर देते थे। इस एक बातकी रक्षामें वह इतने व्यस्त थे, कि उन्हें दूसरे दार्शनिक विषयोंपर ध्यान देनेकी फुर्सत न थी। वह कट्टर वस्तुवादी, योग तथा अध्यात्मविद्याके विरोधी और निषेधात्मक सिद्धान्तोंके पक्षपाती थे। कोई सृष्टिकर्ता ईश्वर नहीं,

---

१ Buddhist Logic (by Dr. Th. Stcherbatsky, Leningrad, 1932) Vol. I, pp. 23–24 (भावार्थ)

कोई सर्वज्ञ नहीं, कोई मुक्त पुरुष नहीं, विश्वके भीतर कोई रहस्यवाद नही, वह उससे अधिक कुछ नहीं है, जैसा कि हमारी (स्थूल) इन्द्रियोंको दिखलाई पड़ता है। इसलिए (यहाँ) कोई स्वयंभू (=स्वतःसिद्ध) विचार नहीं, कोई रचनात्मक साक्षात्कार नही, कोई (मानस) प्रतिबिंब नही, कोई अन्तर्दर्शन नही, एक केवल चेतना—चेतना स्मृतिकी कोरी तख्ती—है, जो कि सभी बाहरी अनुभवोको अंकित करती और सुरक्षित रखती है। बोले जानेवाले शब्दों को नित्य माननेके लिए उन्होंने जिस प्रकारकी मनोवृत्ति दिखाई, वही उनके (यज्ञके) फलोके पैसे-पैसेके हिसाबवाले सिद्धान्तमे भी पाई जाती है। यज्ञकी क्रियाएँ बहुत पेचीदा है, यज्ञ बहुतसे टुकडो (=अंगों) से मिलकर सम्पन्न होता है। प्रत्येक अंग-क्रिया आंशिक फल (=भाग-अपूर्व) उत्पन्न करती है, फिर ये आंशिक फल जोड़े जाते हैं, जिससे सम्पूर्ण फल (=समाहार-अपूर्व) तैयार होता है—यही सम्पूर्ण याग (=प्रधान) का फल है। 'शब्द नित्य है' इस सिद्धान्त तथा इससे संबंध रखनेवाले विचारोंको छोड़ देनेपर मीमांसा और बुद्धिवादी न्याय-वैशेषिक दर्शनोंमे कोई भेद नहीं रहता। मीमांसकोंके सबसे जबर्दस्त विरोधी बौद्ध दार्शनिक थे। दोनोंके प्रायः सारे ही सिद्धान्त एक दूसरेसे उल्टे है।"

(क) वेद स्वतः प्रमाण हैं—जैसा कि ऊपरके उद्धरणसे मालूम हुआ, मीमांसाका मुख्य प्रयोजन था पुरोहितोंकी आमदनीको सुरक्षित करना। दक्षिणा उन्हे तभी मिल सकती थी, यदि लोग वैदिक कर्मकांडको माने, वैदिक कर्मकांड तब यजमानोंको प्रिय हो सकता था, जब कि उन्हें विश्वास हो कि यज्ञका अच्छा फल—स्वर्ग जरूर मिलेगा। इस विश्वासके लिए कोई पक्का प्रमाण चाहिए, जिसके लिए मीमांसकोंने वेदको पेश किया। उन्होंने कहा—वेद अनादि है, वह किसी देवता या मानुषके नही बनाये—अपौरुषेय—है। पुरुषके वचन में गलतीका डर रहता है, क्योंकि उसमे राग-द्वेष है, जिसकी प्रेरणासे वह गलत बात भी मुँहसे निकाल सकता है। वेद यदि बना होता तो उसके कर्त्ताओंका नाम सुना जाता,

कर्त्ताकी याद तक न रहनी यही सिद्ध करती है कि वेद अकृत हैं। वेद अनादि हैं, क्योंकि उन्हें हर एक वेदपाठीने अपने गुरुसे पढ़ा है, और इस प्रकार यह गुरु-शिष्यकी परंपरा कभी नहीं टूटती। वेदमंत्रों में भरद्वाज, वशिष्ठ, कुशिक, आदि ऋषियो, दिवोदास्, सुदास्, आदि राजाओं के नाम आते हैं। जैमिनि मंत्र (-संहिता) और ब्राह्मण दोनो को वेद मानता है। उसने और सैकडों ऐतिहासिक नामोंकी व्याख्याके फंदेमे फँसनेके डरसे दयानंदकी भाँति ब्राह्मणको वेदसे खारिज नहीं किया। भरद्वाज-वशिष्ठ और दिवोदास-सुदाससे लेकर आरुणि-याज्ञवल्क्य और पौत्रायण-जनक तक सैकड़ो ऐतिहासिक नामोको वह अनैतिहासिक वस्तुओं का नाम कहकर व्याकरण के धातु-प्रत्ययोंमे व्याख्या कर देना चाहता है। जैमिनिके लिए प्रावाहणि किसी प्रवहणके पुत्र का नाम नही, बहनेवाली हवाका नाम है। ऋषियोको मंत्रकर्त्ता कहना गलत है। वेदके शब्द-अर्थका संबंध नित्य है जैसे लौकिक भाषामे "रेलगाडी" शब्द और पहियावाले लम्बे चौडे घर पदार्थका संबंध पिता-माता-गुरु आदि द्वारा बतलाया और किसी समय वन मानुष-संकेतके रूप मे देखा जाता है, वेदमे ऐसा नही है। जैमिनिने तो बल्कि यहाँ तक कहा है कि लौकिक भाषामे भी 'गाय' शब्द और गाय अर्थका जो संबंध है, वह भी वैदिक शब्दार्थ-संबंधकी नकलपर भ्रान्तिके कारण है।

वेद जिस कर्मको इष्टका साधक बतलाता है, वही धर्म है। वेद जिसे अनिष्ट का साधक बतलाता है, वह अधर्म है। स्मृति (—ऋषियोंके बनाए धर्म संबंधी ग्रंथ) और सदाचार भी धर्ममे प्रमाण हो सकते हैं, यदि वह वेद-अनुसारी हैं। स्मृति और सदाचारमे पाये जानेवाले कितने ही कर्म भी धर्म हो सकते हैं, यदि वेदमे उनका विरोध न मिले। किन्तु उन्हे वेदसे अलगका समझकर धर्म नही माना जायगा, बल्कि इसलिए माना जायगा कि वेदका वैसा कोई वाक्य पहिले कभी मौजूद था, जिसमे स्मृति और सदाचारने उसे लिया। अब वेदकी कितनी ही शाखाओ के लुप्त हो जानेसे वह प्राप्य नही हैं। 'प्राप्त नही हैं" का अर्थ इतना ही लेना है, कि उसकी

अभिव्यक्ति नहीं होती अन्यथा नित्य होने से वेदकी शब्दराशि तो कहीं मौजूद है ही।

(a) **विधि**—वेदमे भी सबसे ज्यादा प्रयोजनके है **विधि-वाक्य**, जिनके द्वारा वेद यज्ञ आदि कर्मोंके करनेका आदेश देता है[1]—"स्वर्गकी कामनावाला अग्निहोत्र करे" "सोमसे यजन करे" "पशुकी कामनावाला उदिभद् (यज्ञ) का यजन करे।" इस तरह सत्तरके करीब विधि-वाक्य हैं जो यज्ञ कर्मोंके करनेका विधान करते हैं। और साथ ही यजमानको उसके शुभफलकी गारंटी देते हैं। वेदके मंत्रभागका जैमिनि इससे ज्यादा कोई प्रयोजन नहीं मानता कि यज्ञकी क्रियाओं—पशुके पकड़ने धोने, वध करने मांस काटने पकाने-बघारने होम करने आदि—में उनके पढ़न (विनियोग) की जरूरत होती है। ब्राह्मणग्रंथ भी इन सत्तर-बहत्तर यज्ञ विधायक वाक्योंके अतिरिक्त बाकी सारे—ब्राह्मण—आरण्यक उपनिषदके—पोथे सिर्फ **अर्थवाद** हैं।

सांगोपांग सारा यज्ञ **प्रधान** यज्ञ कहा जाता है लेकिन सारा यज्ञ एक क्षणमें पूरा नहीं हो सकता। जैसे "गाय लाता है" यह सारा वाक्य एक अभिप्रायको व्यक्त करता है किन्तु जब 'गा-' वाला जा रहा होता है उसी वक्त अभिप्राय नहीं मालूम होता। जब एक-एक करके "है" तक हम पहुँचते हैं तो सारे गाय लाता है वाक्यका अभिप्राय मालूम हो जाता है। उसी तरह एक यज्ञ के **अंगभूत** कर्म पूरे होते-होते जब सांगोपांग यज्ञ पूरा हो जाता है तो उसके फलका **अपूर्व**—फल-उत्पादक संस्कार—पैदा होता है यही अपूर्व श्रुति प्रतिपादित फलको इस जन्म या परजन्ममें देगा।

(b) **अर्थवाद**—वेद (ब्राह्मण)के चंद विधि-वाक्योंको छोड़ बाकी सभी अर्थवाद हैं यह बतला चुके। अर्थवाद चार प्रकारके हैं—निंदा प्रशंसा, परकृति पुराकल्प। निंदा आदि द्वारा अर्थवाद विधिकी पुष्टि

१ "अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः" "सोमेन यजेत"।

करता है। जैमिनिके अनुसार आरुणि और याज्ञवल्क्यके सारे गंभीर दर्शन यज्ञ-प्रतिपादक विधियोंके अर्थवादको छोड़ और कोई महत्त्व नहीं रखते।

(i) स्तुति[1]—"उसका मुख शोभता है, जो इसे जानता है"—यहाँ जाननेकी विधिकी स्तुति है।

(ii) निन्दा—इस अर्थवादका उदाहरण है[2]—"आँसुओंसे जन्मी (यह) चाँदी है, जो इसे यज्ञमें देता है, वर्षसे पहिलेही उसके घरमें रोते हैं।" यह यज्ञमें दक्षिणा रूपसे चाँदी देनेकी निंदा करके "यज्ञमें चाँदी नहीं देनी चाहिए"[3]—इस विधि-वाक्यकी पुष्टि करता है। (iii) परकृति—दूसरे किसी महान् पुरुषने किसी कामको किया उसको बतलाना परकृति है, जैसे "अग्निने कामना की"[4] (iv) पुराकल्प—पुराने कल्पकी बात, जैसे "पहिले (जमानेमे) ब्राह्मण डरे।"[5] जैसे स्तुति और निंदासे विधिकी पुष्टि होती है, वैसे ही बड़ोंकी कृति तथा पुराने युगकी बातें भी उसकी पुष्टि करती हैं। यह समझानेकी कोशिश की गई है कि वेदमें विधि-वाक्योंको कम करनेसे वेद का अधिकांश भाग निरर्थक नहीं है। जैमिनिने एक ओर तो वेदको अनादि अपौरुषेय सिद्ध करनेके लिए यह घोषित किया कि उसमें कोई इतिहास नहीं, दूसरी ओर अर्थवादोंमें परकृति और पुराकल्प जोड़कर इतिहासको मान-सा लिया; इसके उत्तरमें मीमांसकोंका कहना है, यह इतिहास नित्य इतिहास है, अर्थात् याज्ञवल्क्य और जनक अनित्य इतिहास की एक बारकी घटना नहीं, बल्कि रात दिनकी भाँति बराबर अनादिकालसे ऐसे याज्ञवल्क्य और जनक होते हैं, जिनका जिक्र वेदके एक अंश शतपथ ब्राह्मणके अंतिम खंड बृहदारण्यकमें हमेशासे लिखा

---

१. "शोभते अस्य मुखं"।

२. "अश्रुजं हि रजतं यो बर्हिषि ददाति पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रुदन्ति।"

३. "बर्हिषि रजतं न देयम्"। ४. "अग्निरकामयत"।

५. "पुरा ब्राह्मणा अभैषुः।"

हुआ है। आज हमें यह दलील उपहासास्पदसी जान पड़ेगी, किन्तु कोई समय था जब कि कितने ही लोग ईमानदारी से जैमिनिके इस तरहके अपौरुषेय वेदके सिद्धान्तको मानते थे।

(ख) अन्य प्रमाण—मीमांसाके प्रमाणोंकी सूची बहुत लंबी है। वह शब्द प्रमाण के अतिरिक्त प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, संभव, अभाव छै और प्रमाणोंको मानता है, यद्यपि सबसे मजबूत प्रमाण उसका शब्द प्रमाण या वेद है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान मीमांसको के भी वैसे ही हैं, जैसे कि उन्हें अक्षपाद गौतम जैमिनिसे पहिले कह गए थे। **अर्थापत्तिका** उदाहरण "मोटा देवदत्त दिनको नहीं खाता" अर्थात् रात को खाता है। **संभव**—जैसे हजार कहनेपर सौ उसमें सम्मिलित समझा जाता है। **अभाव** या अनुपलब्धि भी एक प्रमाण है, क्योंकि "भूमिपर घड़ा नहीं है" इसके सच होनेकेलिए यही प्रमाण दे सकते हैं कि वहाँ घड़ा अनुपलब्ध है।

(ग) तत्त्व—मीमांसाके अनुसार बाह्य विश्व सच है और वह जैसा दिखलाई पड़ता है वैसा ही है। आत्मा अनेक है। स्वर्गको भी वह मानता है, किन्तु उसके भोगोंकी विश्वके भोगोंसे इस बातमें समानता है, कि दोनों भौतिक हैं। ईश्वरकेलिए मीमांसामें गुंजाइश नहीं।[1] जैमिनि-को वेदकी स्वतः प्रमाणता सिद्धकर यज्ञ कर्मकांडका रास्ता साफ करना था। उसने ईश्वर-सिद्धिके बखेड़ेमें पड़नेसे वेदको नित्य अनादि सिद्ध करना आसान समझा, और इतिहासके संबंध में उस वक्त जितना अज्ञान था, उससे यह बात आसान भी थी।

मीमांसासूत्र वैसे बाकी पाँचों ब्राह्मण दर्शनोंसे बहुत बड़ा है, किन्तु उसमें दर्शनका अंश बहुत कम है।

मीमांसा वैदिककालसे चले आते पुरोहित श्रेणीका अपनी जीविका (=दक्षिणा आदि) को सुरक्षित रखनेकेलिए अन्तिम प्रयत्न था। उपनिषद्

---

१. "द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमथार्थतः। निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्॥"—पद्मपुराण, उत्तरखंड २६३

कालके आसपास (७००-६०० ई० पू०) धर्म और स्वर्गके नामपर होने-वाली मुँहबाँधकर या दूसरे ढंगसे की गई पशु-हत्याओं तथा टोटके जैसी क्रियाओंसे बुद्धि बगावत करने लगी थी। उपनिषद्ने यागोंका स्थान थोड़ा नीचाकर ब्रह्मज्ञानको ऊँचे स्थानपर रख, ब्राह्मणोंको नये धर्म (=ब्रह्म-वाद) का पुरोहित ही नहीं बनाया, बल्कि पुराने यज्ञ-यागोंको पितृयाणका साधन मात्र पुरानी पुरोहितीको भी हाथसे नहीं जाने दिया। अब बुद्धका समय आया। जात-पातों और आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न हुए असन्तोषोंने धार्मिक विद्रोहका रूप धारण किया। अजित केशकम्बली जैसे भौतिकवादी तथा बुद्ध जैसे प्रतीत्य-समुत्पाद प्रचारक बुद्धिवादीने पुराने धार्मिक विश्वासोंपर जबर्दस्त प्रहार किये। कूपमंडूकता भौगोलिक ही नहीं बौद्धिक क्षेत्रमें भी हटने लगी। फिर यूनानियों, शकों तथा दूसरी आकर बस जानेवाली आगन्तुक जातियोंने इस बौद्धिक युद्धको और उग्र कर दिया। अब याज्ञवल्क्य और आरुणिकी शिक्षाओंसे, गार्गीको शिर गिराने का भय दिखा, प्रश्न और सन्देहकी सीमाओंको रोका नहीं जा सकता था। नवागन्तुक जातियाँ जब यहाँ बसकर भारतीय बन गईं, तो फिर अपने-अपने धर्मोंको बौद्धिक भित्तिपर तर्कसम्मत सिद्ध करनेकी कोशिश की गई। बुद्धके बाद भी मौर्योंके उत्तराधिकारी और प्रतिद्वंद्वी शुंगोंने अश्वमेध यज्ञ तथा दूसरे यागोंको पुनरुज्जीवित करना चाहा था। मथुरामें शककालके भी यज्ञ-यूप मिले हैं। इस तरह जैमिनिके समय यज्ञ-संस्था लुप्त नहीं हो गई थी। लेकिन उसका ह्रास हुआ था, और भविष्यका संकट और भी प्रबल था, जिसको रोकनेके लिए कणादने हलका और जैमिनिने भारी प्रयत्न किया। जैमिनिके बाद गुप्तकालमें लोक-प्रसिद्धिके लिए यज्ञ राजाओं और धनियोंको बड़े साधक मालूम हुए, जिससे इनका प्रचार अच्छा रहा। किन्तु इसी कालने वसुबंधु (४०० ई०), दिग्नाग (५२५ ई०) जैसे स्वतन्त्रचेता तार्किकोंको पैदा किया, जिससे फिर ब्राह्मणोंकी यज्ञ-जीविकापर एक भारी संकट आन उपस्थित हुआ, और तब कुमारिलने जैमिनिके पक्षमें तलवार उठाई।

कुमारिलने मीमासा दर्शनमे कोई खास-तत्त्व विकास नहीं किया, बल्कि जैमिनिके सिद्धान्तोको युक्ति और न्यायसे और पुष्ट करना चाहा। कुमारिलके तर्ककी बानगी हम उसके प्रतिद्वद्वी धर्मकीर्तिके प्रकरणमें देखेंगे।

यद्यपि इस प्रकार मीमासकोने वैदिक कर्मकांडको जीवित रखनेका बहुत प्रयत्न किया, किन्तु उसके ह्रासको नहीं रोका जा सका। उसमें एक कारण था—ब्राह्मणोके अनुयायियोंमे भी मन्दिरों और मूर्तियोंकी अधिक सर्वप्रियता। वैदिक पुरोहित देवल या पुजारी बनकर दक्षिणा कम करनेके लिए तैयार न था दूसरी ओर यजमान भी चद दिनोंमें खिला-पिला मामली पत्थर या गूलरके यूपको खडाकर अपनी कीर्तिको उतना चिरस्थायिनी नही होते देखता था जितना कि उतने खर्चसे खडा किया देवबर्नारक या बैजनाथ (कागडा) का मदिर उसे कर सकता था।

अध्याय १७

ईश्वरवादी दर्शन

नये युगके अनीश्वरवादी दर्शनोंके बारे में हम बतला चुके, अब हम इस युगके ईश्वरवादी दर्शनोंको लेते हैं। इन्हें हम बुद्धिवाद, रहस्यवाद और शब्दवाद —तीन श्रेणियोंमे बाँट सकते हैं। अक्षपाद गोतमका न्याय-शास्त्र बुद्धिवादी है, पतंजलिका योग रहस्यवादी दर्शन है, बल्कि दर्शनकी अपेक्षा उसे योग-युक्तिकी गुटका समझना चाहिए। बादरायणका वेदान्त शब्दवादी है।

§१—बुद्धिवादी न्यायकार अक्षपाद (२५० ई०)

१ – अक्षपादकी जीवनी

अक्षपादके जीवनके बारेमे भी हम अन्धेरेमे हैं। डाक्टर सतीशचंद्र विद्याभूषण[1]ने मेधातिथि गौतमको आन्वीक्षिकी (=न्याय) का आचार्य बतलाते हुए उसका काल ५५० ई० पू० साबित करना चाहा है, और दर्भंगाके गौतम-स्थानको[2] उनका जन्मस्थान बतला, उन्होंने वहाँकी तीर्थयात्रा भी कर डाली। ऐसा गौतमस्थान सारन (छपरा जिला) मे सरयूके दाहिने तटपर गोदना भी है, जहाँ कार्तिकके महीने मे भारी मेला लगता है।[3]

---

१. Indian Logic, P. 17 २. दर्भंगासे २८ मील पूर्वोत्तर।
३. गौतम-स्थानमें चैत में मेला लगता है।

ऋग्वेदके ऋषि मेधातिथि गौतम, और उपनिषद्के ऋषि नचिकेता गौतमको मिला-जुलाकर उन्होंने आन्वीक्षकीके मूल आचार्य मेधातिथि गौतमको तैयार किया है। तर्कविद्याको आन्वीक्षकी अक्षपादसे पहिले, कौटिल्य (३२० ई० पू०) के समय भी मुमकिन है, कहा जाता हो। "तक्की वीमंसी" (=तार्किक और मीमांसक) शब्द पाली ब्रह्मजाल-सुत्तमें[1] भी आता है, किन्तु इससे हम जैमिनिके "मीमांसा"का अस्तित्व उस समय स्वीकार नहीं कर सकते। जिस न्यायसूत्रको हम अक्षपादके न्यायसूत्रोंके रूपमें पाते हैं, उससे पहिले भी ऐसा कोई व्यवस्थित शास्त्र था, इसका कोई पता नहीं।

न्यायसूत्रोंके कर्त्ता अक्षपाद (आँखका काम देते हैं जिनके पैर) हैं। न्यायवार्त्तिक (उद्योतकर ५५० ई०) और न्यायभाष्यकार (वात्स्यायन ३०० ई०) मे न्यायसूत्रकारको इसी नामसे पुकारा गया है।[2] किन्तु श्रीहर्ष (नैषधकार ११९० ई०) के समय न्याय-सूत्रकारका नाम गोतम (? गौतम) भी प्रसिद्ध थे।[3] दोनोंकी सगति गौतम गोत्री अक्षपादसे हो जाती है।

अक्षपादके समयके बारेमें हम इतना ही कह सकते हैं, कि वह नागार्जुनसे पीछे हुए थे। सापेक्षतावादी नागार्जुनने अपनी "विग्रहव्या-

---

१. सुत्तपिटक, दीघनिकाय १।१

२. "यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।"

—न्यायवार्त्तिक (आरम्भ),

"योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद् वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इति भाष्यजातमवर्त्तयत्॥"

३. "मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥"

—नैषध १७।७५

वर्त्तनी" में परमार्थ रूपमें प्रमाणकी सत्ता न माननेकेलिए जो युक्तियाँ दी हैं, अक्षपादने न्यायसूत्रोंमें उनका खंडन कर परमार्थ प्रमाण के साबित करनेकी चेष्टा की है; जिसका अर्थ इसके सिवाय और कुछ नहीं हो सकता, कि न्यायसूत्र नागार्जुनके बाद बना।

२—न्यायसूत्र का विषय-संक्षेप

न्यायसूत्रोंके वर्णनकी शैली ऐसी है, कि पहिले ग्रंथकार प्रतिपाद्य विषयोंके नामोंकी गिनती और लक्षण बतलाता है, फिर पीछे युक्ति (=न्याय) से परीक्षा करके बतलाता है, कि उसका मत ठीक है, और विरोधीका मत गलत है। न्यायसूत्रमें पाँच अध्याय और प्रत्येक अध्यायमें दो-दो आह्निक हैं। इनमें सूत्रोंकी संख्या निम्न प्रकार है—

अध्याय	आह्निक	सूत्र-संख्या	
१	१	४१	६१
	२	२०	
२	१	६९	१३९
	२	७०	
३	१	७२	१४५
	२	७३	
४	१	६९	१२०
	२	५१	
५	१	४३	६८
	२	२५	
			५३३

अध्यायोंमें कही गई बातें निम्न प्रकार हैं—

१ प्रतिपाद्यका सामान्य कथन .. .. अध्याय १

---

१. "विग्रहव्यावर्त्तनी" J.B.O.R.S., Vol. XXIII, Preface, pp. iv, v.

(१) प्रतिपाद्य विषयोका सामान्य तौरसे वर्णन अध्याय १
(२) प्रतिपादनके लिए युक्त और अयुक्त शैली ,,
२ परीक्षाए २-५
(१) प्रमाणोकी पराक्षा २
(२) प्रमेयो (=प्रमाणके विषयो)की परीक्षा ३-४
(क) स्वसम्मत वस्तुओंकी परीक्षा ३
(ख) धार्मिक धारणाओकी परीक्षा . ४
(३) अयुक्त वाद-शैलियाकी परीक्षा ५[1]

---

[1] इस सक्षेपको और विस्तारसे जाननेके लिए निम्न पक्तियोंका अवलोकन करें--

अध्याय	आह्निक	विषय	सूत्रांक
१		न्यायसूत्रके प्रतिपाद्योंकी नाम-गणना	१
१	१	अपवर्ग (=मुक्ति) प्राप्तिका क्रम	२
		(१) (चारो) प्रमाणोंकी नाम-गणना	३
		प्रमाणोंके लक्षण	४-८
		(२) प्रमेयों (=प्रमाणके विषयों) की नाम-गणना	९
		प्रमेयोंके लक्षण	१०-२२
		(३) सशयका लक्षण	२३
		(४) प्रयोजनका लक्षण	२४
		(५) दृष्टान्तका लक्षण	२५
		(६) सिद्धान्तका लक्षण	२६
		सिद्धान्तोंके भेद और उनके लक्षण	२७-३१
१	२	(७) साधक वाक्योंके अवयवोंकी नाम-गणना	३२
		उनके लक्षण	३३-३९
		(८) तर्कका लक्षण	४०
		(९) निर्णयका लक्षण	४१

न्यायसूत्रके प्रतिपाद्य विषय या पदार्थ सोलह हैं जो कि पहिले अध्याय-के दोनों आह्निकोंमें दिये हैं। इनमें चार प्रमाणों और ग्यारह प्रमेयोंपर

अध्याय	आह्निक	विषय	सूत्रांक
१	२	(१०) वाद (=ठीक बहस) का लक्षण	१
		(११) जल्पका लक्षण	२
		(१२) वितण्डाका लक्षण	३
		(१३) गलत हेतुओं (=हेत्वाभासों) की नाम-गणना	४
		हेत्वाभासोंके लक्षण	५-९
		(१४) छलका लक्षण	१०
		छलके भेद	११
		उनके लक्षण	१२-१७
		(१५) जाति (=एक तरहका गलत हेतु) का लक्षण	१८
		(१६) निग्रह-स्थान (=पराजयके स्थान) का लक्षण	१९
		जाति-निग्रहस्थानकी बहुता	२०
२	१	संशयकी परीक्षा	१-७
		(१) प्रमाण-परीक्षा (सामान्यतः)	८-१९
		(क) प्रत्यक्ष-प्रमाणके लक्षणकी परीक्षा	२५-२९
		प्रत्यक्ष अनुमान नहीं है	३०-३२
		[पूर्ण (=अवयवी) अपने अंगोंसे अलग है]	३३-३६
		(ख) अनुमानप्रमाण-परीक्षा	३७-३८
		(काल पदार्थ है)	३९ ४३
		(ग) उपमान-प्रमाणकी परीक्षा	४४-४८
		(घ) शब्द-प्रमाणकी परीक्षा	४९-६९
२	२	प्रमाण चार ही हैं	१-१२
		(बोले जानेवाले वर्ण नित्य नहीं हैं)	१३-५९
		पद क्या है	६०

ही बहुत जोर दिया गया है, यह इसीसे मालूम होता है, कि पाँच अध्यायोंमें तीन अध्याय (२-४) तथा ५३३ सूत्रोंमें ४०४ सूत्र इन्हींके बारेमें लिखे गये हैं।

अध्याय	आह्निक	विषय	सूत्रांक
		पदार्थ (=गाय आदि पदोंके विषय) क्या हैं?	६१-७०
३	१	(१) आत्मा है	१-२७
		(आँखोंके दो होनेपर भी चक्षु-इन्द्रिय एक है)	(८-१५)
		(२) शरीर क्या है?	२८-२९
		(३) इन्द्रियाँ भौतिक हैं	३०-५०
		(आँख आगसे बनी है)	(३०-३६)
		इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं	५१-६०
		(४) अर्थों (=इन्द्रियोंके विषयों) की परीक्षा	६१-७१
३	२	(५) बुद्धि (=ज्ञान) अनित्य है	१-५६
		(बौद्धोंके क्षणिकवादकी परीक्षा)	(१०-१७)
		(६) मन है	५७-६०
		[=अदृष्ट (देहान्तर और कालान्तरमें भोग पानेका कारण) है]	६१-७३
		(७) प्रवृत्ति (=कायिक, वाचिक, मानसिक, कर्म, या धर्म-अधर्म) की परीक्षा	१
		(८) दोष क्या है?	२-९
		(दोषके तीन भेद—राग, द्वेष, मोह)	(३)
		(९) प्रेत्यभाव (=पुनर्जन्म) है	१०-१३
		(बिना हेतु कुछ नहीं उत्पन्न होता)	१४-१८
		(ईश्वर है)	१९-२१
		अ-हेतुवादका खंडन	२२-२४

३–अक्षपाद के दार्शनिक विचार

न्यायसूत्रके प्रतिपाद्य विषयोंपर संक्षेपसे भी लिखना यहाँ संभव नहीं है तो भी दार्शनिक विचारोंको बतलानेके लिए हम यहाँ उसकी कुछ बातों-पर प्रकाश डालना चाहते हैं।

अध्याय	आह्निक	विषय	सूत्रांक
		(सभी अनित्य हैं ?)	२५-२८
		(सभी वस्तुएं नित्य हैं ?)	२९-३३
		(सभी वस्तुएं अपने भीतर भी अलग-अलग हैं ?)	३४-३६
		(सभी शून्य हैं ?)	३७-४०
		(प्रतिज्ञा, हेतु आदि एक नहीं हैं)	४१-४३
		(१०) (कर्म-) फल होता है	४४-५४
		(११) दुःख-परीक्षा	५५-५८
		(१२) अपवर्ग (मुक्ति) है	५९-६९
४	२	पूर्ण [अवयवी] अंशोंसे अलग है	१-१५
		परमाणु	१६-२५
		विज्ञानवादियोंका बाहरी जगत्से इन्कार गलत है	२६-३७
		तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेका उपाय	३८-५१
		जल्प, वितंडा जैसी गलत बहसोंकी भी जरूरत है	५०-५१
५	१	जातिके भेद	१
		उनके लक्षण आदि	२-४३
	२	निग्रह-स्थानके भेद	१
		उनके लक्षण आदि	२-२५

क—प्रमाण

(१) प्रमाण—सच्चे ज्ञान तक पहुँचनेके तरीकेको प्रमाण कहा जाता है। अक्षपाद प्रमाणको सापेक्ष नहीं परमार्थ अर्थमें लेते हैं; जिसपर (नागार्जुन जैसे) विरोधियोंका पहिले ही से आक्षेप था—[1]

पूर्वपक्ष—प्रत्यक्ष आदि (परमार्थ रूपेण) प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि तीनों कालों (=भूत, भविष्यत्, वर्तमान) में वह (किसी) बात (=प्रमेय—ज्ञेय बात) को नहीं सिद्ध कर सकते।—(क) यदि प्रमाण (प्रमेयसे) पहिलेहीसे सिद्ध है, (तो ज्ञान-रूप प्रमाणके पहिले ही सिद्ध होनेसे) इन्द्रिय और विषय (=अर्थ) के संयोगसे प्रत्यक्ष (ज्ञान) उत्पन्न होता है, यह बात गलत हो जाती है। (ख) यदि प्रमाण (प्रमेयके सिद्ध हो जानेके) बाद सिद्ध होता है, तो प्रमाणसे प्रमेय (ज्ञातव्य सच्चा ज्ञान) सिद्ध होता है यह बात गलत है। (ग) एक ही साथ (प्रमाण और प्रमेय दोनों)की सिद्धि माननेपर (एक ही साथ दो ज्ञान (=बुद्धि) होता है यह मानना पड़ेगा फिर) ज्ञान (=बुद्धि) क्रमशः उत्पन्न होती है (अर्थात् एक समय मनमें सिर्फ एक ज्ञान पैदा होता है) यह (तुम्हारा सिद्धान्त) नहीं रहेगा।

इन चार सूत्रोंमें किये गए आक्षेपोंका उत्तर पाँच सूत्रोंमें[2] देते हुए कहते हैं—

उत्तरपक्ष—(क) तीनों कालोंमें (=प्रमाण) सिद्ध नहीं है, ऐसा माननेपर (तुम्हारा) निषेध भी ठीक नहीं होगा। (ख) सारे प्रमाणोंका निषेध करनेपर निषेध नहीं किया जा सकता, (क्योंकि आखिर निषेध भी प्रमाणकी सहायतासे ही किया जाता है)। (ग) उस (=अपने मतलब वाले प्रमाण) को प्रमाण माननेपर सारे प्रमाणोंका निषेध नहीं हुआ। (घ) तीनों कालों (=पहिले, पीछे और एक काल) में निषेध (आपने

---

१ न्यायसूत्र २।१।८-१२ २ वही २।१।१२-१६

किया है, वह) नही किया जा सकता, आखिर पीछे जिस शब्द (की सिद्धि सुनकर हमे होती है उस)से (पहिलेसे स्थित) बाजा सिद्ध होता है। (इसी तरह एक साथ होनेवाले धुएं और आगमे धुएके देखनेसे आगकी सिद्धि होती है) । (ङ) प्रमेय (=ज्ञेय) होनेसे कोई किसी वस्तुके प्रमाण होनेमे बाधक नही होती, जैसे तौला (का बटखरा माशा या रत्तीसे तोलते वक्त प्रमेय हो सकता है, किन्तु साथ ही वह स्वय मान=प्रमाण है, समे मन्देह नही) ।

इसपर फिर आक्षेप होता है—

पूर्वपक्ष[1]—(क) प्रमाणसे (दूसरे) प्रमाणोंकी सिद्धि माननेपर (फिर उस पहिले प्रमाण की सिद्धिके लिए) किसी और प्रमाणकी सिद्धि करनी पडेगी । (ख) इस (बात) से इन्कार करनेपर जैसे (बिना प्रमाण के किसी बातको) प्रमाण मान लिया उस तरह प्रमेयको भी (स्वत) सिद्ध मान लेना चाहिये।

उत्तर-पक्ष[2]—(आपका आक्षप ठीक) नही है, दीपकके प्रकाशकी भाँति (प्रमाण) स्वत अपनी सत्ताको सिद्ध करते हुए दूसरी वस्तुओंकी सत्ताको भी सिद्ध करता है।

इस तरह अक्षपादने प्रमाणको परमार्थरूपेण प्रमाण सिद्ध करना चाहा है, यद्यपि आज के **सापेक्षतावादी** युगमे परमार्थ नामधारी किसी सत्ताको साबित करना टढी खीर है, साथ ही सापेक्ष प्रमाण एसा सिक्का है, जिसे प्रकृति स्वीकार करती है इसलिए व्यवहार (अर्थक्रिया) मे बाधा नही होती ।

(२) **प्रमाणको सख्या**—अक्षपादने प्रमाण चार मान है[3]— प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द । दूसरे प्रमाणशास्त्री चारसे अधिक प्रमाणोको भी मानते हैं—जैसे इतिहास, अर्थापत्ति (अर्थसे ही जिसको सिद्ध समझा जाये, जैसे मोटा देवदत्त दिनको बिलकुल नही खाता,

१ वहीं २।१।१७-१८ २ वहीं २।१।१९ ३ वहीं १।१।३

जिसका अर्थ होता है, वह रातको खाता है), सम्भव, अभाव (घड़ेका किसी जगह न होना वहाँ उसके अभावसे ही सिद्ध है)। अक्षपाद इन्हें अपने चारों प्रमाणों के अन्तर्गत मानते हैं, और प्रमाणोंकी संख्या चारसे अधिक करने की जरूरत नहीं समझते। जैसे[1]—

इतिहास	शब्द प्रमाणमें
अर्थापत्ति संभव अभाव	अनुमानमें

किन्तु साथ ही इतिहास आदिकी प्रामाणिकतामें सन्देह करनेकी वह आज्ञा नहीं देते।[2]

(क) प्रत्यक्ष-प्रमाण—इन्द्रिय और "अर्थ (=विषय) के संयोगसे उत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है, (किन्तु इन शर्तोंके साथ, यदि वह ज्ञान) कथनका विषय न हुआ हो, गलत (=व्यभिचारी) न हो और निश्चयात्मक हो (=दूर आदिसे देखी जानेवाली अनिश्चित चीज जैसी न हो।"[3]

अक्षपाद इन्द्रियोंसे परे मन और उससे परे आत्माको भी मानते हैं, प्रत्यक्षका लक्षण करते हुए उन्होंने "आत्मासे युक्त मन, मनसे युक्त इन्द्रिय" नहीं जोड़ा इसलिए उनका लक्षण अपूर्ण (=असमग्र) है।[4] इसका समाधान करते हुए सूत्रकारने कहा है कि (अनुमान आदि दूसरे प्रमाणोंसे) खास बात जो ज्यादा[5] (प्रत्यक्षमें) है, उसको यहाँ लक्षण में दिया गया है। (ऐसा न करनेपर) दिशा, देश, काल, आकाश आदिको भी (प्रत्यक्षके लक्षणमें) देना होगा।[6]

गायका हम जब प्रत्यक्ष करते हैं, तो "उसके (सिर्फ) एक अंगको ग्रहण करते हैं", एक अंगके ग्रहणसे सारे गौ-शरीरका प्रत्यक्ष (ज्ञान) अनुमान होता है, इस प्रकार 'प्रत्यक्ष अनुमान'[7] के अन्तर्गत है। अक्षपादका

१. वहीं २।२।२ २. वहीं २।२।३-१२ ३. वहीं १।१।४
४. वहीं २।१।२० ५. वहीं २।१।२९ ६. वहीं २।१।२२ ७. वहीं २।१।३०

उत्तर है।'—(क) एक अंशका भी प्रत्यक्ष मान लेनेपर प्रत्यक्ष से इन्कार नहीं किया जा सकता; (ख) और एक अंशका प्रत्यक्ष ग्रहण करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि आदमी गाय के सिर्फ एक अंग (=अवयव) का ही प्रत्यक्ष नहीं करता, बल्कि अवयवोंके भीतर किन्तु उनसे भिन्न एक अखंड अवयवी भी है, जिसका कि वह अपनी आँखसे सीधा प्रत्यक्ष करता है।

यहाँ दूसरा उत्तर एक विवादास्पद वस्तु "अवयवी"—जिसे भारतीय दार्शनिकने यवन दार्शनिकोंसे लिया है,—को मानकर दिया गया, और सापेक्षको छोड़कर परमार्थरूपेण ज्ञान, सत्य आदिकी सिद्धिके लिए पुराने दार्शनिक—चाहे पूर्वी हों या पश्चिमी—इस तरहकी संदिग्ध दलीलोंपर बहुत भरोसा किया करते थे। अवयवीके बारे मे अक्षपादका मत क्या है इसे हम आगे बतलायेंगे।

(ख) **अनुमान-प्रमाण**—अनुमान वह है जो कि प्रत्यक्ष-पूर्वक होता है—अर्थात् जहाँ कुछका प्रत्यक्ष होनेपर बाकीके होनेका ज्ञान होता है, जैसे धूएको हम प्रत्यक्ष देखते है, फिर उसके कारण आग—जो कि प्रत्यक्ष नहीं है—का अनुमान-ज्ञान होता है। अनुमान तीन प्रकारका है।—(a)—**पूर्ववत्** (पूर्ववाली वस्तुके प्रत्यक्षसे पीछे होनेवाली संबद्ध वस्तुका ज्ञान—कारणसे कार्यका अनुमान, चींटियोंके उठनेसे वर्षा आनेका अनुमान), (b) **शेषवत्** (पीछेवाली वस्तु के प्रत्यक्ष से पूर्व बीती बातका अनुमान—कार्यसे कारणका अनुमान, बिना वर्षा ही हमारे यहाँ की बढ़ी गंगासे ऊपरकी ओर वृष्टिके होनेका अनुमान), और (c) **सामान्यतो-दृष्ट** (जो दो वस्तुएं सामान्यतः एक साथ देखी जाती हैं, उनमेंसे एकके देखनेसे दूसरे का अनुमान, जैसे आगको देख आँच या आँचको देख आगका अनुमान अथवा मोर और बादलोंसे एकसे दूसरे का अनुमान)।[3]

अनुमानके उक्त लक्षण और भेदके संबंध मे आक्षेप हो सकता है'—पूर्ववत् अनुमान कोई प्रमाण नहीं क्योंकि चींटियाँ कितनी ही बार वर्षा छो

१ वहीं २।१।३१-३२ २. वहीं १।१।५ ३ वहीं २।१।३७

किसी दूसरे त्रासके कारण भी अंडा मुँहमें दाबे हजारों के झुंडमें घर छोड़ बैठती हैं। शेषवत्[1] भी गलत है, क्योंकि ऊपर की ओर वर्षा हुए बिना बाँधे प्रवाह रुक जानेपर—किसी पहाड़के गिरने या दूसरे कारणसे—भी नदीमें बाढ़ आई सी मालूम हो सकती है। सामान्यतोदृष्ट भी गलत है, क्योंकि मोरका शब्द बाज वक्त मनुष्यके स्वरसे मिल (समानहो) जाता है, फिर ऐसा सादृश्य वास्तविक नहीं भ्रमात्मक अनुमान पैदा कर सकता है। इसके उत्तरमें कहा है—जब हम पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट कहते हैं, तो सारी विशेषताओंके साथ वैसा मानते हैं। सिर्फ नदी की भरी धार ऊपर हुई वृष्टिका अनुमान नहीं करा सकती, किन्तु यदि उसमें मिट्टी मिली हो, काठ और तिनके बहकर चले आ रहे हो, तो वृष्टिका अनुमान सच्चा होता है।

(ग) उपमान-प्रमाण—प्रसिद्ध वस्तुकी समानता (=सधर्मता)से किसी साध्य पदार्थकी सिद्ध करनेको उपमान-प्रमाण कहते हैं।[2] जैसे गाय एक लोक-प्रसिद्ध वस्तु है। किसी शहरी आदमीको कहा गया कि जैसी गाय होती है, उसीके समान जंगलमें एक जानवर होता है, जिसे नीलगाय (=घोडरोज) कहते हैं। शहरी आदमी इस ज्ञानके साथ जंगल मे जा नीलगाय को ठीकसे पहचाननेमें समर्थ होता है—यह ज्ञान उसे उपमान-प्रमाणसे हुआ।

पूर्वपक्ष[3]—किन्तु समानता एक सापेक्ष बात है, उसमें अत्यन्त समानता अभिप्रेत है, या प्रायिक समानता ? अत्यन्त समानता लेनेपर "जैसी गाय तैसी" गाय ही हो सकती है, फिर नया ज्ञान क्या हुआ। प्रायिक समानता लेनेपर जैसी सरसों गोल तैसी नारंगी गोल, इस तरह सरसों देखे हुए को नारंगी देखनेपर उसका ज्ञान नहीं हो सकता।

उत्तर[4]—हम न अत्यन्त समानताकी बात कहते हैं और न प्रायिक समानताकी, बल्कि हमारा मतलब प्रसिद्ध समानतासे—"जैसी गाय तैसी नीलगाय।"

---

१. वहीं २।१।३८ २. वहीं १।१।६ ३. वहीं २।१।४४ ४. वहीं २।१।४५

पूर्वपक्ष[1]—फिर प्रत्यक्ष देखी गई गायसे अप्रत्यक्ष नीलगायकी सिद्धि जिस उपमानमे होती है, उसे अनुमान ही क्यो न कहा जाये ?

उत्तर[2]—यदि नीलगाय अप्रत्यक्ष हो, तो वहाँ उपमान प्रयोग करनेको कौन कहता है ?—अनुमानमे प्रत्यक्ष धूएंसे अप्रत्यक्ष आगका अनुमान होता है, उपमानमे अप्रत्यक्ष गायकी समानता से प्रत्यक्ष नीलगायका ज्ञान होता है यह दोनोमे भेद है।

पूर्वपक्ष—किसी यथार्थवक्ताकी बातपर विश्वास करके जो नीलगाय-का ज्ञान हुआ, उसे शब्द-प्रमाण-मूलक क्या न मान लिया जाये ?

उत्तर[3]—"जैसी गाय तैसी नीलगाय" यहाँ "तैसी" यह खास बात है जो उपमानमे ही मिलती है, जिसे कि शब्द-प्रमाणमे हम नहीं पाते।

(घ) शब्द-प्रमाण—आप्त—यथार्थवक्ता (=सत्यवादी) के—उपदेशका शब्दप्रमाण[4] कहते हैं। शब्दप्रमाण दो[5] प्रकारका होता है, एक वह जिसका विषय दृष्ट—प्रत्यक्षसे सिद्ध—पदार्थ हैं, दूसरा वह जिसका विषय अ-दृष्ट—प्रत्यक्षसे अ-सिद्ध अथवा प्रत्यक्ष-भिन्न (=अप्रत्यक्ष) से सिद्ध—पदार्थ हैं।

पूर्वपक्ष[6]—(क) शब्द (प्रमाण) भी अनुमान है, क्योंकि गाय-शब्दका वाच्य जो साकार गाय-पदार्थ है, वह नहीं प्राप्त होता, उसका अनुमान ही किया जाता है। (ख) किसी दूसरे प्रमाणसे भी गाय-पदार्थको उपलब्ध मानने-पर दो-दो प्रमाणोंकी एक ही बातके लिए क्या जरूरत ? (ग) शब्द और अर्थके सबंधके ज्ञान होनेसे उसी संबंध द्वारा गाय-पदार्थका ज्ञान होना एक प्रकारका अनुमान है, इस तरह भी शब्द को अलग प्रमाण नहीं मानना चाहिए।

उत्तर[7]—सिर्फ शब्दप्रमाणसे स्वर्ग आदिका ज्ञान नहीं होता, बल्कि आप्त (=सत्यवादी) पुरुषके उपदेशकी सामर्थ्यसे (इस) वाच्य—अर्थ—

---

१ न्याय० २।१।४६ २ वहीं २।१।४७ ३ वहीं २।१।४८
४. वहीं १।१।७ ५. वहीं १।१।८ ६. वहीं २।१।४९-५१
७ वहीं २।१।५२-५४

में विश्वास होता है। शब्द और अर्थके बीचका संबंध किसी दूसरे प्रमाणसे नहीं ज्ञात होता; अतः शब्द और उसके वाच्य अर्थका कोई स्वाभाविक संबंध नहीं है, यदि संबंध होता तो लड्डू कहनेसे मुँहका लड्डूसे भर जाना, आग कहनेसे मुँहका जलना, बसूला कहनेसे मुँहका चीरा जाना देखा जाता।

पूर्वपक्ष[1]—शब्द और अर्थके बीच संबंध की व्यवस्था है, तभी तो गाय शब्द कहनेसे एक खास साकार गाय-अर्थका ज्ञान होता है; इसलिए शब्द और अर्थके स्वाभाविक संबंधसे इन्कार नहीं किया जा सकता।

उत्तर[1]—स्वाभाविक संबंध नहीं है किन्तु सामयिक (=मान लिया गया) संबंध जरूर है, जिसके कारण वाच्य-अर्थका ज्ञान होता है। यदि शब्द-अर्थका संबंध स्वाभाविक होता, तो दुनिया की सभी जातियों और देशोंमें उस शब्दका वही अर्थ पाया जाता, जैसे आग पदार्थ और गर्मीके स्वाभाविक संबंध होनेसे वे सर्वत्र एकसे पाये जाते हैं।

शब्द-प्रमाणको सिद्ध करनेसे अक्षपादका मुख्य मतलब है, वेद-ऋषि-वाक्यों—को प्रत्यक्ष अनुमानके दर्जेका एक स्वतंत्र प्रमाण मनवाना। इसीलिए उन्होंने जहाँ प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानकी परीक्षाओंमें क्रमशः १३, २ और ४ सूत्र लिखे हैं, वहाँ शब्द-प्रमाणकी परीक्षामें सबसे अधिक लंबी २१ सूत्र[2] लिखे हैं; जिनमें अन्तिम १२ सूत्रोंका ढंग तो करीब करीब वही है, जिसका अनुकरण पीछे जैमिनिने अपने मीमांसा-सूत्रोंमें बड़े पैमानेपर किया है।

वेदकी कितनी ही बातें (यज्ञ-कर्म) झूठ निकलती हैं, कितनी ही परस्परविरोधी हैं, वहाँ कितनी ही पुनरुक्तियाँ भरी पड़ीं हैं। अक्षपादने इसका समाधान करना चाहा है।—झूठ नहीं निकलती, ठीक फल न मिलना कर्म, कर्त्ता और सामग्री के दोषके कारण होता है। परस्परविरोधी बात नहीं है, दो तरहकी बात दो तरहके आदमियोंके लिए हो सकती है। पुनरुक्ति अनुवाद के लिए भी हो सकती है।[3]

---

१. न्याय० २।१।५५ २. वहीं २।१।४९-६९ ३. वहीं २।१।५८-६१

फिर अक्षपादने वेदके वाक्योंको विधि, अर्थवाद और अनुवाद तीन भागोंमें विभक्त किया है। विधिका काम है कर्तव्यका विधान करना। विधि में श्रद्धा बढ़ानेके लिये उसकी प्रशंसा (=स्तुति) दूसरेकी निन्दा, और दूसरे व्यक्तियोंकी कृतियों तथा पुरानी ऐतिहासिक कथाओंका वर्णन वेद में बहुत मिलता है, इसको अर्थवाद कहते हैं। अनुवाद विधिवाक्योंमें आये शब्द या अर्थको फिरसे दुहराना है, जो कि "जल्दी-जल्दी चलो" की भाँति विधि (=आज्ञा) को और जोरदार बनाता है, इसलिए वह व्यर्थकी चीज नहीं है। अन्तमें वेद के प्रमाणमें सबसे जबर्दस्त युक्ति है—वेद प्रमाण है, क्योंकि उसके वक्ता ऋषि आप्त (=सत्यवादी) होनेसे प्रामाणिक है, उसी तरह जैसे कि साँप-बिच्छूके मंत्रों और आयुर्वेदकी प्रामाणिकता हमें माननी पड़ती है।—आखिर मंत्रों और आयुर्वेदके कर्ता जो ऋषि हैं, वही तो वेद के भी हैं।[1]

यहाँ मैंने अक्षपादकी वर्णनशैली को दिखलानेके लिए उनका अनुकरण किया है, किन्तु साथ ही समझनेकी आसानीके लिए सूत्रोंसे कुछ दूर भी उनके अर्थको विशद करनेकी कोशिश की है।

ख—कुछ प्रमेय

आत्मा आदि ग्यारह प्रमेय न्यायने माने हैं, इनमें मन, आत्मा और ईश्वरके बारेमें हम यहाँ न्यायके मतको देंगे, और कुछका जिक्र न्यायके धार्मिक विचारों को बतलाते समय करेंगे।

(१) मन—यद्यपि न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायन स्मृति, अनुमान, आगम, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ऊह (=तर्क-वितर्क)की शक्ति जिसमें है उसे मन बतलाया है; किन्तु अक्षपाद स्वयं इस विवरणमें न जा "एक समय (अनेक) ज्ञानोंका उत्पन्न न होना मन (के अनुमान) का लिंग"[2] बतलाते हैं।—अर्थात् एक ही समय हमारी आँखका किसी रूपसे संबंध है, तथा

---

१. न्याय० २।१।६२-६९		२. वहीं १।१।१६

उसी समय कानका शब्दसे भी; किन्तु हम एक समयमें एकका ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, जिससे जान पड़ता है, पाँच इन्द्रियोंके अतिरिक्त एक और भीतरी इन्द्रिय है, जिसका ज्ञानके प्राप्त करनेमें हाथ है और वही मन है। एक बार अनेक ज्ञान न होने से यह भी पता लगता है, कि मन एक और अणु है।[1] जहाँ एक समय अनेक क्रिया देखी जाती है, वह तीव्र गतिके कारण है, जैसे कि घूमती बनेठीके दोनों छोर आगका वृत्त बनाते दीख पड़ते हैं।

(२) आत्मा—बौद्ध-दर्शनके बढ़ते प्रभावको कम करना न्यायसूत्रोंके निर्माणमें खास तौरसे अभिप्रेत था। शब्द-प्रमाणक सिद्धिमें इतना प्रयत्न इसीलिए है, नित्य आत्मा और ईश्वर को सिद्ध करनेपर जोर भी इसीलिए है। बौद्धोंके कितने ही सिद्धान्तों का न्यायमें खंडन हम आगे देखेंगे। मनकी तरह आत्माको भी प्रत्यक्षसे नहीं सिद्ध किया जा सकता। अनुमानसे उसे सिद्ध करनेके लिए कोई लिंग (=चिह्न) चाहिये जो कि खुद प्रत्यक्ष-सिद्ध हो, साथ ही आत्मासे संबंध रखता हो। अक्षपादके अनुसार[2] (१) आत्माके लिंग हैं—"इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान।" शरीर, इन्द्रिय और मनसे भी अलग आत्माकी सत्ताको सिद्ध[3] करते हुए अक्षपाद कहते हैं—(२) आँखसे देखी वस्तुको स्पर्श-इन्द्रियसे छूकर जो हम एकताका ज्ञान—जिसे मैंने देखा, उसीको छू रहा हूँ—प्राप्त करते हैं, यह भी आत्माकी सत्ताको साबित करता है। (३) एक-एक इन्द्रियको एक-एक विषय जो बाँटा गया है उससे भी अनेक इन्द्रियोंके ज्ञानोंके एकत्रीकरणके लिए आत्माकी जरूरत है। (४) आत्माके निकल जानेपर मृत शरीरके जलानेमें अपराध नहीं लगता। आत्माके नित्य होनेसे उसके साथ भी शरीरके जलानेपर आत्माका कुछ नहीं होगा यह ठीक है; किन्तु शरीरको हानि पहुँचाकर हम उसके स्वामीको हानि पहुँचाते हैं, जिससे अपराध लगना जरूरी है। बाईं आँख से देखी चीज को दूसरी बार

---

१. न्याय० ३।२।५७-६० २. वहीं १।१।१० ३. वहीं ३।१।१-२४

सिर्फ दाहिनीसे देखकर स्मरण करते हैं, यह आत्माके ही कारण। (६) स्वादु भोजनको आँख से देखते ही हमारे जीभमें पानी आने लगता है, यह बात स्वादकी जिस स्मृतिके कारण होती है, वह आत्माका गुण है।

यहाँ जिन बातोंसे आत्माकी सत्ताका प्रतिपादन किया गया है, वह मन पर घटित होती है।[1] इस आक्षेपका उत्तर अक्षपादने ज्ञाता (आत्मा) को ज्ञानका एक साधन (मन) भी चाहिए कहकर देना चाहा है; किन्तु, यह कोई उत्तर नहीं है। चूँकि आत्मा सर्वव्यापी (=विभु) है, जिससे पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयोंके जिस समय संयोग हो रहा है, उस वक्त आत्मा भी वहाँ मौजूद है; तब भी चूँकि विषय ज्ञान नहीं होता, इससे साबित होता है कि आत्मा और इन्द्रियोंके बीच एक और अणु (=अ-सर्वव्यापी) चीज है जो कि मन है—अक्षपादकी इन्द्रिय, मन और आत्माके विषयकी यह कल्पना बहुत उलझी हुई है। अनुमानसे वह मनको सिद्ध कर सकते है, जिसकी सिद्धिमें ही सारे लिंग समाप्त हो जाते हैं, फिर उनमेंसे ही कुछको लेकर वह आत्माको सिद्ध करना चाहते हैं, जिससे आत्मा और मन एक ही वस्तुके दो नाम भले ही हो सकते हैं, किन्तु उन्हें दो भिन्न वस्तु नहीं साबित किया जा सकता।

(३) **ईश्वर**—अक्षपादने ईश्वरको अपने ११ प्रमेयोंमें नहीं गिना है, और न उन्होंने कहीं साफ कहा है कि ईश्वरको भी वह आत्मा के अन्तर्गत मानते हैं। ऊपर जो मनको आत्मा का साधन कहा है, उससे भी यही साबित होता है, कि आत्मासे उनका मतलब जीवसे है। अपने सारे दर्शनमें अक्षपादका ईश्वरपर कोई जोर नहीं है, और न ईश्वरवाले प्रकरणको हटा देनेसे उनके दर्शनमें कोई कमी रह जाती है; ऐसी अवस्थामें न्याय-सूत्रोंमें यदि क्षेपक हुए हैं, तो हम इन तीन सूत्रों[2] को ले सकते हैं, जिनमें ईश्वरकी सत्ता सिद्ध की गई है।—डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषणने जहाँ न्यायसूत्र के बहुत से भागको पीछेका क्षेपक मान लिया है फिर इन तीन सूत्रों का क्षेपक होना

1. न्याय० ३।१।१६-१७ 2. वहीं ४।१।१९-२१

बहुत ज्यादा नहीं है। इन सूत्रोंमें भी, हम देखते हैं, अक्षपाद ईश्वरको दुनियाका कर्त्ता-हर्ता नहीं बना सकते हैं। कर्म-फलके बीचमें ईश्वर कारण है, उसके न होनेपर पुरुषके शुभ-अशुभ कर्मोंका फल न होता। यह नहीं है कि पुरुषका कर्म न होनेपर भी फल नहीं होता, किन्तु कर्म यदि फलका कर्त्ता है, तो ईश्वर उस फलका कारयिता (=करानेवाला) है।

४—अक्षपाद के दार्शनिक विचार

आत्मा और ईश्वरके बारेमें न्यायसूत्रके विचारको हम कह आये हैं। शब्द-प्रमाणके प्रकरणमें यह भी बतला चुके हैं, कि अक्षपादका वेदकी प्रामाणिकता ही नहीं उसके विधि-विधान—कर्मकांड—पर बहुत जोर था; यद्यपि कणादकी भाँति इन्होंने धर्म-जिज्ञासापर ज्यादा जोर न दे तत्त्व-जिज्ञासाको अपना लक्ष्य बनाया।

(१) परलोक और पुनर्जन्म

एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें आत्मा जाता है, इसका अक्षपादने समर्थन किया है।[1] मरनेके बाद आत्मा लोकान्तरमें जाता है, इसके लिए आत्माका नित्य होना ही काफी हेतु है। परलोकमें ही नहीं इस लोकमें भी पुनर्जन्म होता है, इसे सिद्ध करने के लिए अक्षपादने निम्न युक्तियाँ दी हैं[2]—(१) पैदा होते ही बच्चेको हर्ष, भय, शोक होते देखा जाता है, यह पहिले (जन्म) के अभ्यास के कारण ही होता है। यह बात पद्मके खिलने और संकुचित होनेकी तरह स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि पाँचों महाभूतोंके बने पद्म आदिकी वैसी अवस्था सर्दी, गर्मी, वर्षा, आदिके कारण होती है। (२) पैदा होते ही बच्चेको स्तन-पानकी अभिलाषा होती है, वह भी पूर्वजन्म के आहारके अभ्याससे ही होती है।

---

१. न्याय० १।१।१९; ३।१।१९-२७; ४।१।१० २. वही ३।१।१९-२७

(२) कर्म-फल

कायिक, वाचिक, मानसिक कर्मोंसे उनका फल उत्पन्न होता है।[1] अच्छे बुरे कर्मोंका फल तुरन्त नहीं कालान्तरमें होता है। चूँकि कर्म तब तक नष्ट हो गया रहता है, इसलिए उससे फल कैसे मिलेगा ?—ऐसी शंकाकी गुंजाइश नहीं, जब कि हम गेहूँके पौधेके नष्ट हो जानेपर भी उसके बीजसे अगले साल नये वृक्षको उगते देखते हैं, उसी तरह किये कर्मोंसे धर्म-अधर्म उत्पन्न होते हैं, जिनसे आगे फल मिलता है। यह धर्म-अधर्म उसी आत्मामें रहते हैं, जिसने किसी शरीरमें उस कामको किया है।[1]

पहिलेके कर्मसे पैदा हुआ फल शरीरकी उत्पत्तिका हेतु है।[2] महाभूतोंसे जैसे कंकड़-पत्थर आदि पैदा होते हैं, वैसे ही शरीर भी, यह कहना मान्य नहीं है; क्योंकि इसके बारे में कुछ विचारकोंका मत है, कि सारी दुनिया भले-बुरे कर्मोंके कारण बनी है। माता-पिताका रज-वीर्य तथा आहार भी शरीर-उत्पत्तिका कारण नहीं है क्योंकि इनके होनेपर भी नियमसे शरीर (=बच्चे)को उत्पन्न होते नहीं देखा जाता। भला-बुरा कर्म शरीरकी उत्पत्तिका निमित्त (=कारण) है, उसी तरह वह किसी शरीरके साथ किसी खास आत्मा के संयोगका भी निमित्त है।[4]

(३) मुक्ति या अपवर्ग

यज्ञ आदि कर्मकांडका फल स्वर्ग होता है, यह वेद, ब्राह्मण तथा श्रौत-सूत्र आदिका मन्तव्य था। उपनिषद्‌ने स्वर्गके भी ऊपर मुक्ति या अपवर्गको माना। जैमिनिने अपने मीमांसा-दर्शनमें उपनिषद्‌की इस नई विचारधारा को छोड़, फिर पुराने वेद-ब्राह्मणकी ओर लौटनेका नारा बुलन्द किया; किन्तु अक्षपाद उपनिषद्‌से पीछे लौटने की सम्मति नहीं देते,

---

१. न्याय० १।१।२० २. वहीं ४।१४४-४७, ५२
३. वहीं ३।२।६१-६६ ४. वहीं ३।२।६७

बल्कि एक तरह उसे और "ऊपर" उठाना चाहते हैं। उपनिषद्‌मे तथा सांसारिक या स्वर्गीय आनन्दों (=सुखों)को एक जगह तौला गया है, और उस तौल मे ब्रह्मलोक या मुक्तिके आनन्दको भी तराजूपर रखा गया है। अक्षपाद भावात्मक (=सुखमय) मुक्तिमे इस तरहके खतरेको महसूस करते थे, इसीलिए उन्होंने मुक्तिको भावात्मक—सुखात्मक—न कह, दुःखाभाव-रूप माना है[1]—"(तत्त्वज्ञानसे) मिथ्याज्ञान (=झूठे ज्ञान) के नाश होनेपर दोष (=राग, द्वेष, मोह) नष्ट होते है, दोषोके नष्ट होनेपर धर्म-अधर्म (प्रवृत्ति)का खात्मा होता है, धर्म-अधर्मके खत्म होनेपर जन्म खत्म होता है, जन्म खत्म होनेपर दुःख समाप्त होता है, तदनन्तर (इस) नाशसे अपवर्ग (=मुक्ति) होता है।" अपवर्गके स्वरूपको और स्पष्ट करते हुए दूसरी जगह कहा है[2]—"उन [शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन प्रवृत्ति (क्रिया), दोष, पुनर्जन्म, फल और दुःख]से सदाके लिए मुक्त होना अपवर्ग है।" यहाँ मुक्तावस्थामे अक्षपाद गोतमने आत्माको बुद्धि (=ज्ञान), मन और क्रियासे भी अत्यन्त रहित कहा है, इसीको लेकर श्रीहर्ष (११९० ई०) ने नैषधमें उपहास किया है[3]—"जिसने सचेतनोंकी मुक्तिके लिए अ-चेतन बन जाना कहते शास्त्रकी रचना की, वह गोतम वस्तुतः गोतम (भारी बैल) ही होगा ।"

(४) मुक्तिके साधन

(क) तत्त्वज्ञान—निःश्रेयस् (=मुक्ति या अपवर्ग) की प्राप्तिके लिए अक्षपादने अपना दर्शन लिखा, यह उनके प्रथम सूत्रमे ही, स्पष्ट है। जन्म-मरण (=पुनर्जन्म) या संसारमे भटकनेका कारण मिथ्या (=झूठा)-ज्ञान है, जिसे तत्त्वज्ञान (=यथार्थ या वास्तविक ज्ञान)मे दूर किया जा सकता है। तत्त्वज्ञान भी किसी वस्तुका होता है, उपनिषद् ब्रह्मका तत्त्वज्ञान (=ब्रह्मज्ञान) मुक्तिके लिए जरूरी समझती है।

---

१. न्याय० १।१।२ २. वहीं १।१।२२ ३. नैषधचरित १७।७५

अक्षपादने प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह न्यायशास्त्र द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थोंके वास्तव ज्ञानको तत्त्वज्ञान कहा।

तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिए विद्या और प्रतिभा पर्याप्त नहीं है, वह "खास प्रकारकी समाधिके अभ्याससे"[1] होता है। "यह (खास प्रकारकी समाधि) पूर्व (=जन्म) के किये फलके कारण उत्पन्न होती है॥"[2] इसीके लिए "जंगल, गुहा, नदी-तट आदिपर योगाभ्यासका उपदेश है।"[3]

(ख) मुक्तिके दूसरे साधन—मुक्तिके लिए "यम, नियम (=मन और इन्द्रियका संयम) के द्वारा, योग तथा आध्यात्मिक विधियोंके तरीकोंसे आत्माका संस्कार करना होता है; ज्ञान ग्रहण करनेका अभ्यास तथा उस (विषय) के जानकारोंसे संवाद (=वाद या सत्संग) करना होता है।"[4]

इस प्रकार न्यायसम्मत वाद—संवाद—का प्रयोजन तत्वज्ञान होता है, किन्तु अपने मतकी सिद्धि तथा परमतके खंडनके लिए छल आदि अनुचित तरीके वाले जल्प, एवं केवल दूसरे के पक्ष के खंडन के लिए ही बहस—वितंडा—की भी तत्त्वज्ञानमें जरूरत है, इसे बतलाते हुए अक्षपादने कहा है[5]—तत्त्व-ज्ञानकी रक्षाके लिए जल्प और वितंडाकी उसी तरह जरूरत है, जैसे बीज के अंकुरोंकी रक्षाकेलिए काँटेवाली शाखाओं के बाड़की।" हमे याद है, यूनानके स्तोइक दार्शनिक जेनो ईसा-पूर्व तीसरी सदीमे ही कहता था[6]—दर्शन एक खेत है जिसकी रक्षाके लिए तर्क एक बाड़ है।

५—न्यायपर यूनानी दर्शनका प्रभाव

भारतमें यूनानियोंका प्रभाव ईसा-पूर्व चौथी सदीमें सिकन्दरकी विजय (३२३ ई० पू०) के साथ बढ़ने लगा। चन्द्रगुप्त मौर्यने भारतसे यूनानी शासनका खात्मा कर दिया, तो भी ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में यवन-प्रभाव कम नहीं हुआ, यह अशोकके शिलालेखोंसे भी मालूम होता है, जिनमें

---

१. न्याय० ४।२।३८   २. वहीं ४।२।४१   ३. वहीं ४।२।४२
४. वहीं ४।२।४६-४७   ५. वहीं ४।२।५०   ६. देखो पृष्ठ ८

भारत और यूनानी राजाओंके शासित प्रदेशों से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने-की बात आती है। और मौर्य साम्राज्यकी समाप्ति के बाद उसके पश्चिमी भागका तो शासन ही हिन्दूकुशपारवाले यूनानियों (मिनान्दर)के हाथमें चला गया। ईसापूर्व दूसरी शताब्दीसे यूनानी और भारतीय मूर्तिकलाके मिश्रणसे गंधारकला उत्पन्न होती है, और ईसाकी तीसरी सदी तक अटूट चली आती है। कलाके क्षेत्रमें दोनों जातियोंके दानादानका यह एक अच्छा नमूना है, और साथ ही यह भी बतलाता है कि भारतीय दूसरे देशोंसे किसी बातको सीखनेमे पिछड़े नहीं थे। पिछली सदियोंमें कुछ उलटी मनोवृत्ति ज्यादा बढ़ने लगी थी जरूर, और इसलिए वराह-मिहिरको[1] इस मनोवृत्तिके विरुद्ध कलम उठानेकी जरूरत पड़ी। कला ही नहीं, आजका हिन्दू ज्योतिष भी यूनानियोंका बहुत ऋणी है। यह हो नहीं सकता था, कि भारतीय दार्शनिक यूनानके उन्नत दर्शनसे प्रभा-वित न होते। यूनानी प्रभावके कुछ उदाहरण हम वैशेषिकके प्रकरणमें दे आए हैं। अक्षपादने स्तोइकोंकी तर्कके बारेमें "अंकुरकी रक्षाके लिए (काँटोंकी) बाड़" की उपमाको एक तरह शब्दशः ले लिया, इसे हमने अभी देखा। महामहोपाध्याय सतीशचन्द्र विद्याभूषणने अपने लेख[2] "अरस्तूके तर्क-संबंधी सिद्धान्तोंका सिकन्दरिया (मिश्र)से भारतमें आना" में दिख-लाया है, कि १७५ ई० पू० से ६०० ई० तक किस तरह अरस्तूके तर्कने भारतीय न्यायको प्रभावित किया। सिकन्दरियाके प्रसिद्ध पुस्तकालयके पुस्तकाध्यक्ष कलिमक्सुने २८५-२४७ ई० पू० में अरस्तूके ग्रंथोंकी प्रतियाँ पुस्तकालयमें जमा की। दूसरी सदीमें स्यालकोट (=सागल) यूनानी राजा मिनान्दरकी राजधानी थी, और मिनान्दर स्वयं तर्क और वादका पंडित था यह हम बतला आए हैं। उस समय भारतके यूनानियोंमें अरस्तूके तर्कका

---

१. बृहत्संहिता २।१४ "म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्। ऋषिवत् तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद् द्विजः॥"

२. Indian Logic, Appendix B., P. 511-13

प्रचार होना बिल्कुल स्वाभाविक बात है। यूनानी स्वयं बौद्ध धर्मसे प्रभावित हुए थे, इसलिए उनके तर्कसे यदि नागसेन, अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबंधु, दिङ्नाग, प्रभावित हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। अक्षपादने भी उससे बहुत कुछ लिया है, यहाँ इसके चन्द उदाहरण हम देने जा रहे हैं—

(१) अवयवी

अवयव (=अंश) मिलकर अवयवी (=पूर्ण)को बनाते हैं, अर्थात् अवयवी अवयवोंका योग है। यूनानी दार्शनिक अवयवी[1] को एक स्वतंत्र वस्तु मानते थे। अक्षपादने भी उनके इस विचारको माना है। प्रमाणसे हम सापेक्ष नहीं यथार्थ ज्ञान पा सकते हैं, यह अक्षपादका सिद्धान्त है। प्रत्यक्ष प्रमाणसे प्राप्त ज्ञानको भी वह इसी अर्थमें लेते हैं। किन्तु प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय और विषयके संयोगसे होता है, वह संयोग विषयके सारे अवयव (वृक्षके भीतरी-बाहरी छोटेसे छोटे सभी अंशों—परमाणुओं)के साथ नहीं होता, इसलिए जो प्रत्यक्ष ज्ञान होगा वह सारे विषय (=वृक्ष)का नहीं हो सकता। ऐसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि हमने सारे वृक्षका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लिया, हम तो सिर्फ इतना ही कह सकते हैं कि वृक्षके एक बहुत थोड़ेसे बाहरी भागका हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हुआ है। लेकिन अक्षपाद इसको माननेके लिए तैयार नहीं हैं। उनका कहना है, —(वृक्ष)के एक देशका ज्ञान नहीं (सारे वृक्षका ज्ञान होता है) क्योंकि अवयवीके अस्तित्व होनेसे (हम अखंड वृक्षको देख लेते हैं)[2]। "अवयवी (सिद्ध नहीं) साध्य है, इसलिए उस (की सत्ता)में सन्देह है।[3]" इस उचित सन्देहको दूर करनेके लिए अक्षपादने कहा—[4]

---

१. Whole. २ न्याय० २।१।३२ ३. वहीं २।१।३३
४. वहीं २।१।३४-३६

"सभी (पदार्थों) का ग्रहण (=ज्ञान) नहीं होगा, यदि हम (अवयवों से) अवयवी (की अलग सत्ताको) न मानें। थामने तथा खींचनेसे भी सिद्ध होता है (कि अवयवसे अवयवी अलग है, क्योंकि थामते या खींचते वक्त हम वस्तुके एक अवयवसे ही संबंध जोड़ते हैं, किन्तु थामते या खींचते हैं सारी वस्तुको)। (यह नही कहा जा सकता कि) जैसे सेना या वन (अलग अलग अवयवों—सिपाहियों तथा वृक्षों—का समुदाय मात्र होने-पर भी उन) का ज्ञान होता है, (वैसे ही यहाँ भी परमाणु-समूह वृक्षका प्रत्यक्ष होता है), क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय (अत्यन्त सूक्ष्म) होनेसे इन्द्रियके विषय नहीं हैं।

अवयवीको सिद्ध करते हुए दूसरी जगह[1] भी अक्षपादने लिखा है—

पूर्वपक्ष—"(सन्देह हो सकता है कि अवयवीमें अवयव) नही सर्वत्र हैं न एक देशमें आ सकते है, इसलिए अवयवोंका अवयवीमें अभाव (मानना पड़ेगा)। अवयवों में न आ सकनेसे भी अवयवीका अभाव सिद्ध होता है) अवयवोंसे पृथक् अवयवी हो नही सकता; और नही अवयव ही अवयवी है।"

उत्तर—एक (अखंड अवयवी वस्तु) मे (एक देश और सर्वत्रका) भेद नहीं होता, इसलिए भेद शब्दका प्रयोग नही किया जा सकता, अतएव (अवयवीमें सर्वत्र या एक देशको जो) प्रश्न (उठाया गया है, वह) हो नही सकता। दूसरे अवयवमे (अवयवीके) न आ सकनेपर भी (एक देश मे) न होनेसे (वह अवयवीके न होने का) हेतु नही है।"

पूर्वपक्ष—"(एक एक अवयवके देखनेपर भी समूहमें किसी वस्तुको देखा जा सकता है)। जैसे कि तिमिरान्ध (आदमी एक एक केश नहीं देखता, किन्तु केश-समूहोंको देखता है, उसी तरह अवयव-समूहमें) उस वस्तुकी उपलब्धि (=प्राप्ति) हो सकती है (फिर अवयव-समूह से अलग अवयवीके माननेकी क्या आवश्यकता ?)"

---

१. न्याय० ४।२।७-१७

उत्तर—"विषयके ग्रहणमें (किसी आँख आदि) इन्द्रियका तेज मद्धिम होनेसे अपने विषयको बिना छोड़े वैसा (तेजमद देखना) होता है, (उस अपने) विषयसे बाहर (इन्द्रियकी) प्रवृत्ति नहीं होती। (केश और केश समूह एक तरहके विषय होनेसे वहाँ आँखकी तेजी या मद्धिमपन (आवरण) का प्रभाव देखा जा सकता है, किन्तु परमाणु कभी आँखका विषय ही नहीं है, इसलिए वहाँ तेजी मदीका सवाल नहीं हो सकता। अतएव अवयवीकी अलग ही सत्ता माननी पड़ेगी।

(परमाणुवाद--)

पूर्वपक्ष—'अवयवोंमें अवयवीका होना तभी तक रहेगा, जब तक कि प्रलय नहीं हो जाता।"

उत्तर--'प्रलय (तक) नहीं, क्योंकि परमाणुकी सत्ता (अन्तिम इकाईकी भाँति उस वक्त भी रहती है)। (अवयव और अवयवीका विभाग) त्रुटि (=परमाणुसे बनी दूसरी इकाई) तक है।" परमाणुमें अवयव नहीं होता, अवयव तो तब शुरू होता है, जब अनेक परमाणु मिलते हैं और अवयव बननेके बाद अवयवी भी आन उपस्थित होता, इसी त्रुटिसे अवयवीका आरम्भ होता है।

यहाँ हमने देखा परमार्थ-ज्ञानके फेरमें पड़कर अक्षपादको अवयवोंके भीतर अवयवोंसे परे एक पृथक पदार्थ सिद्ध करनेकी कोशिश करनी पड़ी, यदि सापेक्ष-ज्ञानसे वह सन्तुष्ट होते—और वह अर्थक्रिया(=व्यवहार) के लिए पर्याप्त भी है—तो ऐसी क्लिष्ट कल्पनाकी जरूरत नहीं पड़ती।

(२) काल

अक्षपादने कालको एक स्वतंत्र पदार्थ सिद्ध करनेकी चेष्टा नहीं की, किन्तु, उनके अनुयायी विशेषकर उद्योतकर (५०० ई०) ने[1] कालको एक

---

१. "न्यायवार्तिक" २।१।३८ (चौखम्बा सिरीज, पृष्ठ २५३)

स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करना चाहा है: उनकी युक्तियाँ हैं—(१) कालके न होनेका कोई प्रमाण नहीं; (२) पहिले और पीछेका जो ख्याल है, वह किसी वस्तुके आधारसे ही हो सकता है, और वह काल है। काल एक है, उसमें पहिले, पीछे, या भूत वर्त्तमान, भविष्यका भेद पाया जाता है, वह सापेक्ष है, जैसे कि एक ही पुरुष अनेक व्यक्तियोंकी अपेक्षासे पिता, पुत्र और भ्राता कहला सकता है। वर्त्तमान (काल) को अक्षपादने पाँच सूत्रोंमें सिद्ध किया है।

पूर्वपक्षीका आक्षेप है—"(डंठसे) गिरते (फल) का (वही) काल साबित होता है, जिसमें कि वह गिर चुका या गिरनेवाला है, (बीचका) वर्त्तमानकाल (वहाँ) नहीं मिलता।"

उत्तर—"वर्त्तमानके अभावमे (भूत और भविष्य) दोनोंका भी अभाव होगा; क्योंकि वर्त्तमानकी अपेक्षासे ही पहिलेको भूत और पिछले को भविष्य कहा जाता है। वर्त्तमानके न माननेपर किसी (वस्तु) का ग्रहण नहीं होगा, क्योंकि (वर्तमानके अभावमें) प्रत्यक्ष ही संभव नहीं।"

(३) साधन वाक्यके पाँच अवयव

अनुमान प्रमाण (विशेषकर दूसरे को समझानेके लिए उपयुक्त अनुमान) द्वारा जितने वाक्योंसे किसी तथ्य तक पहुँचा जाता है, उसके पाँच अवयव (=अंश) होते हैं, उनको अवयव या पंच-अवयव कहते हैं। डाक्टर विद्याभूषणने[2] इसे सविस्तारसे सिद्ध किया है, कि यह विचार ही नहीं बल्कि स्वयं अवयव शब्द भी अरस्तूके ऑर्गनॅ[3] का अनुवाद मात्र है। अरस्तूने पाँचके अतिरिक्त दो, तीन अवयव भी अपने तर्कमें इस्तेमाल

---

१. न्याय० २।१।३९-४३

२. Indian Logic, Appendix B, pp. 500-15

३. Organon.

किए हैं, जैसा कि भारतमें भी वसुबंधु, दिङ्नाग और धर्मकीर्तिने किया है। ये पाँच अवयव हैं[1]—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन, इनके उदाहरण हैं—

१. प्रतिज्ञा—यह पहाड़ आगवाला है;
२. हेतु—धुआँ दिखाई देनेसे;
३ उदाहरण—जैसे कि रसोईघर;
४ उपनय—वैसा ही धुआँवाला यह पहाड़ है;
५. निगमन—इसलिए यह पहाड़ भी आगवाला है।

६ – बौद्धों का खण्डन

अक्षपादके दर्शनका मुख्य प्रयोजन ही था, युक्ति प्रमाण से अपने पक्षका मडन और विरोधी विचारोंका खंडन। उनके अपने सिद्धान्तोंके बारेमें हम कह आए हैं। दूसरे दर्शनोंमें सबसे ज्यादा जिसके खिलाफ उन्हें लिखना पड़ा, वह था बौद्ध-दर्शन। यूनानी दर्शनमें जैसे हेराक्लितुके "सर्वं अनित्यं" (=सभी अनित्य है)-वादके विरुद्ध एलियातिक दार्शनिक "अनित्यता" से ही बिलकुल इन्कार करते थे। अरस्तूने इन दोनों वाद-प्रतिवादोंका संवाद करते हुए कहा—विश्व नित्य है, किन्तु दृश्य जगत् जरूर परिवर्तनशील है। अक्षपादके सामने भी सांख्यका "सर्व नित्यवाद" और बौद्धोंका "सर्व अनित्यवाद" मौजूद था। यद्यपि अरस्तूकी भाँति अक्षपाद विश्वको मौलिक तौरसे नित्य ही साबित करना चाहते थे, और इस प्रकार बौद्ध-दर्शन से बिलकुल उलटा मत रखते थे; तो भी उन्होंने पंच बनकर अरस्तूके फैसलेको दुहराया। बौद्ध इस "पक्षपातहीन" पंच के फैसले-को नहीं मान सके, और इसका परिणाम हम देखते हैं नागार्जुनके आगे बराबर दोनों ओरसे मल्लयुद्ध—

[1]. न्यायसूत्र १।१।३२-३९
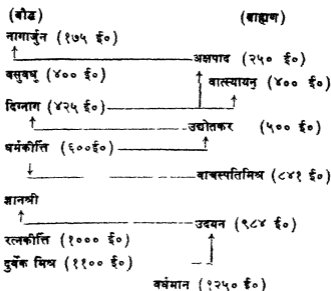
बौद्ध अनात्मवादी, अनीश्वरवादी तथा दो प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान) वादी हैं, साथही वह प्रमाणको भी परमार्थ नहीं सापेक्ष तौरपर मानते हैं। अक्षपादके सिद्धान्त उनके विरुद्ध हैं यह हम बतला आए हैं। यहाँ बौद्धोंके दूसरे सिद्धान्तोंको अक्षपादने किस तरह खंडन किया है, इसके बारेमें लिखेंगे।

(१) क्षणिकवाद-खंडन[1]—'सब कुछ क्षणिक है' यह सिद्धान्त पक्का (=एकान्त) नहीं है, क्योंकि कितनी ही चीजें क्षणिक (=क्षण क्षण परिवर्तनशील) देखी जाती हैं, और कितनी ही नहीं; जैसे कि शरीर में नया नया परिवर्तन होता है, स्फटिक (=बिल्लौर) में वैसा नहीं देखा जाता। परिवर्तन भी (बौद्धोंके सिद्धान्तके अनुसार) बिना कारण (=हेतु) के नहीं

---

१. न्याय० ३।२।१०-१७ का भाव

होता बल्कि, कारणके रहते होता है, जैसे कि कारणरूप दूध मौजूद रहनेपर ही दही उत्पन्न होता है।

(२) **अभाव अहेतुक नहीं**—बौद्ध-दर्शनका कार्य-कारणके संबंध में अपना खास सिद्धान्त है, जिसे **प्रतीत्य-समुत्पाद**[1] (=विच्छिन्न प्रवाह) कहते हैं, अर्थात् कार्य और कारणके भीतर कोई वस्तु या वस्तुसार नहीं है, जो कि कारण (दूध) की अवस्थामें भी हो, कार्य (=दधि) की अवस्थामें भी। प्रतीत्य-समुत्पादके अनुसार पहिले एक वस्तु (=दूध) होकर आमूल नष्ट हो गई (इसे "कारण" कह लीजिए), फिर दूसरी वस्तु (दही) जो पहिले बिलकुल न थी, सर्वथा नई पैदा हुई, इसे "कार्य" कह लीजिए। इस प्रकार कार्य अपने प्रादुर्भावसे पहिले बिलकुल अभाव रूप था। अक्षपादने इसे "अभावसे-भाव-उत्पत्ति" कह कर खंडित किया; यद्यपि यहाँ पर ख्याल रखना चाहिये कि बौद्ध-दर्शन अत्यन्त विनाश और सर्वथा नये उत्पादको मानते भी विनाश-उत्पत्ति-विनाश-उत्पत्ति . . .-इस प्रवाह (=सन्तान) को स्वीकार करता है।

"अभाव से भावकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि बिना (बीज के) नष्ट हुए (अंकुरका) प्रादुर्भाव नहीं होता"[2]—इन शब्दोंमें बौद्ध विचारोंको रखते अक्षपादने इसका खंडन इस प्रकार किया है[3]—

नष्ट और प्रादुर्भाव (जैसे एक) अभाव और (दूसरा) भावरूप होनेसे दो परस्पर-विरोधी बातें हैं, जो कि एक ही वस्तु (=बीज) के लिए नहीं इस्तेमाल की जा सकतीं। जो बीज वस्तुतः नष्ट हो गया है, उससे अंकुर नहीं उत्पन्न होता, इसलिए अभावसे भावकी उत्पत्ति कहना गलत है। पहिले बीजका विनाश होता है, पीछे अंकुर उत्पन्न होता है, यह जो क्रम देखा जाता है, वह बतलाता है, कि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं होती; यदि वैसा होता तो बीज-अंकुर क्रमकी जरूरत ही क्या थी?

प्रवाह स्वीकार करनेसे बौद्ध क्रमको भी स्वीकार करते हैं, इसलिए,

---

१. देखो पृष्ठ ५१४ २. वहीं ४।१।१४ ३. वहीं ४।१।१५-१८

अक्षपादका आक्षेप ठीक नहीं है, यह साफ है।

(३) **शून्यवाद (=नागार्जुन-मत) का खंडन**—नागार्जुनने क्षणिकवाद और प्रतीत्य-समुत्पादके आधार पर अपने सापेक्षतावाद या शून्यवाद-का विकास किया, यह हम बतला चुके हैं। विच्छिन्न-प्रवाह रूपमें वस्तुओं-के निरन्तर विनाश और उत्पत्ति होनेसे प्रत्येक वस्तुकी स्थितिको सापेक्ष तौरपर ही कह सकते हैं। सर्दीकी सत्ता हमें गर्मीकी अपेक्षासे मालूम होती, गर्मीकी सर्दीकी अपेक्षासे। इस तरह सत्ता सापेक्ष ही सिद्ध होती है। सापेक्ष-सत्तासे (वस्तुका) सर्वथा अभाव सिद्ध करना मर्यादाको पार करना है, तो भी हम जानते हैं कि नागार्जुनका सापेक्षतावाद अन्तमें वहाँ जरूर पहुँचा और इसीलिए शून्यवादका अर्थ जहाँ क्षणिक जगत् और उसका प्रत्येक अंश किसी भी स्थिर तत्त्वसे सर्वथा शून्य है—होना चाहिये था; वहाँ क्षणिकत्वसे भी उसका अर्थ शून्य—सर्वथा शून्य—मान लिया गया। "भावों" (=सद्भूत पदार्थों) में एकका दूसरे में अभाव (=घड़ेमें कपड़ेका अभाव, कपड़ेमें घड़ेका अभाव) देखा जाता है, इसलिए सारे (पदार्थ) अभाव (=शून्य) ही हैं"[1]—इस तरह शून्यवाद के पक्षको रखते हुए अक्षपादने उसके विरुद्ध अपने मतको स्थापित किया[2]—'सब अभाव है,' यह बात गलत है, क्योंकि भाव (=सद्भूत पदार्थ) अपने भाव (=सत्ता) से विद्यमान देखे जाते हैं। एक ओर सब वस्तुओंके अभावकी घोषणा भी करना और दूसरी ओर उसी अभावको सिद्ध करनेके लिए उन्हीं अभावभूत वस्तुओंमेंसे कुछको सापेक्षताके लिए लेना क्या यह परस्पर-विरोधी नहीं है?

(४) **विज्ञानवाद-खंडन**—यद्यपि बौद्ध (क्षणिक-) विज्ञानवादके महान् आचार्य असंग ३५० ई० के आसपास हुए, किन्तु विज्ञानवादका मूल (=अविकसित) रूप उनसे पहिलेके वैपुल्य-सूत्रोंमें पाया जाता है,

---

१. न्याय० ४।१।३७

२. वहीं ४।१।३८-४० (भावार्थ)।

यह हम बतला आए हैं;[1] इसलिए विज्ञानवादके खंडनसे अक्षपादको अलंगसे पीछे खींचनेकी जरूरत नहीं।

"बुद्धिसे विवेचन करनेपर वास्तविकता (=याथात्म्य) का ज्ञान होता है, जैसे (मूल) सूतोंको (एक एक करके) खींचनेपर कपड़ेकी सत्ताका पता नहीं रहता, वैसे ही (बाहरी जगत्का भी परमाणु और उससे आगे भी विश्लेषण करनेपर) उसका पता नहीं मिलता।"—इस तरह विज्ञान-वादी पक्षको रखकर अक्षपादने उसका खंडन किया है[2]—एक ओर बुद्धिसे बाहरी वस्तुओंके विवेचन करनेकी बात करना दूसरी ओर उनके अस्तित्वसे इन्कार करना यह परस्परविरोधी बातें हैं। कार्य (=कपड़ा) कारण (=सूत) के आश्रित होता है, इसलिए कार्यके कारणसे पृथक् न मिलनेमें कोई हर्ज नहीं है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे हमें बाहरी वस्तुओं का पता लगता है। स्वप्नकी वस्तुओं, जादूगरकी माया, गंधर्वनगर, मृगतृष्णाकी भाँति प्रमाण, प्रमेयकी कल्पना, करनेके लिए कोई हेतु नहीं है, इसलिए बाह्य जगत् स्वप्न आदिकी भाँति है, यह सिद्ध नहीं होता। स्वप्नकी वस्तुओंका ख्याल भी उसी तरह वास्तविक बाह्य दुनिया पर निर्भर है, जैसे कि स्मृति या सकल्प; यदि बाहरी दुनिया न हो तो जैसे स्मृति और सकल्प नहीं होगा, वैसे ही स्वप्न भी नहीं होगा। हाँ बाह्य जगत्का मिथ्या-ज्ञान भी होता है, किन्तु वह तत्त्व (=यथार्थ)-ज्ञानसे वैसे ही नष्ट हो जाता है, जैसे जागनेपर स्वप्नकी वस्तुओंका ख्याल। इस तरह बाहरी वस्तुओंकी सत्तासे इन्कार नहीं किया जा सकता।

§२–योगवादी पतंजलि (४०० ई०)

जहाँ तक योगमें वर्णित प्राणायाम, समाधि, योगिक क्रियाओं का संबंध है, इनका पता हमें साल-महाल[3] जैसे प्राचीनतम बौद्ध सुत्तों तथा कठ,

---

१. देखो पृष्ठ ५२२ २. न्याय० ४।२।२६-३५ (का भावार्थ)।
३. दीघनिकाय २।९

श्वेताश्वतर जैसी पुरानी उपनिषदों तकमें लगता है। बुद्ध के वक्त तक यौगिक क्रियायें काफी विकसित ही नही हो चुकी थीं, बल्कि मौलिक बातों में योग उस वक्त जहाँ तक बढ़ चुका था, उससे ज्यादा फिर विकसित नहीं हो सका—हाँ, जहाँ तक सिद्धि, महातमको बढ़ा चढ़ाकर कहनेकी बात है, उसमें तरक्की जरूर हुई। इस प्रकार योगको, ईसा-पूर्व चौथी सदीमें हम बहुत विकसित रूपमे पाते हैं। योगका आरंभ कब हुआ—इसका उत्तर देना आसान नही है। यद्यपि पाणिनि (ईसा-पूर्व चौथी सदी) ने युज् धातुको समाधिके अर्थमे लिया है, किन्तु वह इस अर्थमें हमें बहुत दूर तक नही ले जाता। खुद बौद्ध सुत्तोंमें योग शब्द अपरिचित-सा है और इसकी जगह वहाँ समाधि "समापत्ति", स्मृतिप्रस्थान (=सतिपट्ठान) आदि शब्दों का ज्यादा प्रयोग है। प्राचीन हिन्दी-युरोपीय भाषामें युज् धातुका अर्थ जोडना ही मिलता है योग्य नही।[1] चाहे दूसरे नामसे देवताकी प्राप्तिकी ऐसी क्रिया—जिसमें सामग्री नही मनका संबंध हो—ही से योगका आरम्भ हुआ होगा। दूसरे देशों में भी योग-क्रियाओंका प्रचार हुआ। नव्य-अफलातूनी दर्शनके साथ योग भी पश्चिम में फैला, और वह पीछे ईसाई साधकों और मुसल्मान सूफियोंमें प्रचलित हुआ था, किन्तु योगका उद्गम स्थान भारत ही मालूम होता है।

पतंजलि (२५० ई०)—पहिलेसे प्रचलित योग-क्रियाओं को पतञ्जलिने अपने १९४ सूत्रोंमें संगृहीत किया। पतंजलिके कालके बारेमें हम इतना कह सकते हैं, कि उन्होंने वेदान्त-सूत्रोंसे पहिले अपने सूत्र लिखे थे, क्योंकि बादरायणने "एतेन योग: प्रत्युक्त:"[2] में उसका जिक्र किया है। बादरायणका समय हमने ३०० ई० माना है। डाक्टर दासगुप्त[3] ने व्याकरण महाभाष्य-

---

१. जर्मन भाषामें Joch, अंग्रेजीमें Yoke, लातिनमें, Jugum, संस्कृतमें युग=जुआ, युग्म=जुएका बैल। २. वेदान्तसूत्र २।१।३

३. A History of Indian Philosophy *by* S. N. Das Gupta, 1922, Vol. I, p. 238

कार पतंजलि (१५० ई० पू०) और योग-सूत्रकार पतंजलिको एक करके उनका समय ईसा-पूर्व दूसरी सदी माना है। मैं समझता हूँ, किसी भी हमारे सूत्रबद्ध दर्शनको नागार्जुनसे पहिले ले जाना मुश्किल है। चाहे योगसूत्रमें नागार्जुनके शून्यवादका खंडन नहीं भी हो किन्तु उसके अन्तिम (चतुर्थ) पादमें विज्ञानवादका खंडन आया है, जिसे डाक्टर दासगुप्तने क्षेपक मानकर छुट्टी लेली है, लेकिन वैसा मानने के लिए उन्होंने जो प्रमाण दिए हैं, वे बिलकुल अपर्याप्त हैं। हाँ, उनके इस मतसे मैं सहमत हूँ, कि पतंजलिने जिस विज्ञानवादका खंडन किया है, वह असंगसे पहिले भी मौजूद था।

दूसरे दर्शन-सूत्रकारोंकी भाँति पतंजलिकी जीवनीके बारेमें भी हम अन्धकारमें हैं।

१ – योगसूत्रोंका संक्षेप

योग्य-दर्शन छवों दर्शनोंमें सबसे छोटा है, इसके सारे सूत्रोंकी संख्या सिर्फ १९४ है, इसीलिए इसे अध्यायोंमें न बाँटकर चार पादोंमें बाँटा गया है; जिनके सूत्रोंकी संख्या निम्न प्रकार है—

पाद	नाम	सूत्र-संख्या
१	समाधिपाद	५१
२	साधनपाद	५५
३	विभूतिपाद	५४
४	कैवल्यपाद	३४

पादोंके नाम, मालूम होता है, पीछेसे दिये गये हैं। कुल १९४ सूत्रोंमें से चौथाई (४९) योगसे मिलनेवाली अद्भुत शक्तियोंकी महिमा गानेके लिए हैं। इन सिद्धियों (=विभूतियों) में "सारे प्राणियोंकी भाषाका ज्ञान"[1] "अन्तर्धान",[2] "भुवन (=विश्व)-ज्ञान"[3], "क्षुधा-प्यासकी निवृत्ति"[4]

---

१. योगसूत्र ३।१७ २. वहीं ३।२ ३. वहीं ३।२६ ४. वहीं ३।३०

"दूसरे के शरीरमें घुसना,"[1] "आकाशगमन"[2] "सर्वज्ञता"[3] "इष्ट देवतासे मिलन"[4] जैसी बातें हैं। सूर्यमें संयम करके, न जाने, कितने योगियोंने "भुवन (=विश्व) ज्ञान" प्राप्त किया होगा, किन्तु हमारा पुराना भुवन-ज्ञान कितना नगण्यसा है, यह हमसे छिपा नहीं है—जहाँ दूसरे देशोंने अपने पचांगोंको आधुनिक उन्नत ज्योतिष-शास्त्रके अनुसार सुधार लिया है; वहाँ अपने "भुवन-ज्ञान" के भरोसे हम अभी तालमीके पचांगको ही लिए बैठे हैं।

२ – दार्शनिक विचार

सिद्धियोंकी बात छोड देनेपर योग-सूत्रमें प्रतिपादित विषयोंको मोटे तौरसे दो भागोंमें बाँटा जा सकता है—दार्शनिक विचार और योग-साधना-संबंधी विचार। दार्शनिक विचारोंके (१) चित्त-चेतन, (२) बाह्य (=दृश्य) जगत् और (३) तत्त्वज्ञान इन तीन भागों में बाँटा जा सकता है; तो भी यह स्मरण रखना चाहिए कि योगसूत्रका प्रतिपाद्य विषय दर्शन नहीं योगिक साधनायें हैं, इसलिये उसने जो दार्शनिक विचार प्रकट किये हैं, वह सिर्फ प्रसंगवश ही किये हैं।

(१) जीव (=द्रष्टा)

"द्रष्टा चेतनामात्र (=चिन्मात्र) शुद्ध निर्विकार होते भी बुद्धिकी वृत्तियोंके द्वारा देखता है (इसलिए वह बुद्धिकी वृत्तियोंसे मिश्रित मालूम होता है।) दृश्य (=जगत्) का स्वरूप उसी (=द्रष्टा) के लिए है।"[5] पुरुष (=चेतन, जीव) की निर्विकारिताको बतलाते हुए कहा है[6]—"उस (=भोग्य बुद्धि) का प्रभु पुरुष अपरिणामी (=निर्विकार) है, इस-लिए (क्षण क्षण बदलती भी) चित्तकी वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती है।"

यद्यपि इन सूत्रों में चेतना का स्वरूप पूरी तौर से व्यक्त नहीं किया गया

---

१. योग० ३।३८ २. वहीं ३।४२ ३. वहीं ३।४८
४. वहीं २।४४ ५. वहीं २।२५, २१ ६. वहीं ४।१८

है, किन्तु इनसे यह मालूम होता है, कि चेतन (=पुरुष) चेतनाका आधार नहीं बल्कि चेतना-मात्र तथा निर्विकार है। उसकी चेतनामें हम जो विकार होते देखते हैं, उसका समाधान पतंजलि बुद्धिकी वृत्तियों से मिश्रित होनेकी बात कह कर देते हैं। बुद्धिको सांख्यकी भाँति पतंजलि भी भोग्य विकारशील (प्रकृति) से बनी मानते हैं। बुद्धिसे प्रभावित हो पुरुष जो विकारी मालूम होता, उसीको हटाकर उसे "अपने (चेतना मात्र), केवल स्वरूप मे स्थापित करना)"[1] योगका मुख्य ध्येय है, इसी अवस्थाको कैवल्य कहते हैं।

(२) चित्त (=मन)

चित्तसे पतंजलिका क्या अभिप्राय है, इसे बतलानेकी उन्होंने कोशिश नही की है, उनका ऐसा करनेका कारण यह भी हो सकता है कि सांख्यके प्रकृति-पुरुष-संबंधी दर्शनको मानते हुए उन्होंने योग-संबंधी पहलूपर ही लिखना चाहा। चित्तको वह भोक्ता (=चेतन)को भोग्य वस्तुओंमें मानते हैं—"यद्यपि चित्त (मल, कर्म-विपाकवाली) असंख्य वासनाओं-से युक्त होनेसे (देखनेमे भोक्ता जैसा मालूम होता है), तथापि (वह) दूसरे (अर्थात् भोक्ता जीव) के लिए है, क्योंकि वह संघातरूपमे होकर (अपना काम) करता है, (वैसे हो जैसे कि घर, ईंट, काठ, कोठरी, द्वार आदिका) संघात बनकर जो अपनेको बसने योग्य बनाता है, वह किसी दूसरे के लिए ही ऐसा करता है।[2]

(३) चित्तकी वृत्तियाँ

पतंजलिके अनुसार योग कहते ही हैं चित्तकी वृत्तिकी वृत्तियोंके निरोध-को। जब तक चित्तकी वृत्तियोंका निरोध (=विनाश) नहीं होता, तब तक पुरुष (=जीव) अपने शुद्ध रूप (=कैवल्य) मे नही स्थित होता,

---

१. योग० १।३ २. वहीं ४।२४ मिलाइये "प्रयोजनवाद"से (ह्वाइटहेड पृ० ३६५) ३. वहीं १।२

चित्तकी वृत्तियाँ जैसी होती हैं, उसी रूपमें वह स्थित रहता है।[1] चित्तके बारेमे ज्यादा न कहकर भी चित्तकी वृत्तियोंको पतंजलिने साफ करके बतलाया है,[2] और यह वृत्तियाँ चूँकि चित्तकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं, इसलिए उनसे हमे चित्तका भी परिज्ञान हो सकता है। चित्त-वृत्तियाँ पाँच प्रकारकी हैं, जो कि (राग आदिके कारण) मलिन और निर्मल दो भेद और रखती हैं। वह पाँच वृत्तियाँ निम्न हैं :—

(क) प्रमाण—यथार्थज्ञानके साधन, प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीन प्रमाणोके रूप में जब चित्तवृत्ति क्रियाशील होती है, उसे प्रमाण-वृत्ति कहते है।

(ख) विपर्यय—(किसी वस्तुका ज्ञान) जो अपने से भिन्न रूपमे होता है, वही मिथ्या-ज्ञान विपर्यय-वृत्ति है (जैसे रस्सीमे साँपका ज्ञान)।

(ग) विकल्प—वस्तुके अभावमें सिर्फ उसके नाम (=शब्द) के ज्ञान को लेकर (जो चित्तकी अवस्था, कल्पना होती है) वही विकल्प (? संकल्प-विकल्पकी) वृत्ति है।

(घ) निद्रा—(दूसरी किसी तरहकी वृत्ति के) अभावको ही लिए हुए, जो चित्तकी अवस्था होती है, उसे निद्रावृत्ति कहते हैं।

(ङ) स्मृति—प्रमाण आदि वृत्तियोंसे जिन विषयों का अनुभव होता है, उनका चित्तसे लुप्त न होना स्मृति-वृत्ति है।

यहाँ पतंजलिने स्वप्नका जिक्र नहीं किया है, जिसे कि विकल्पवृत्ति के लक्षणको जरा व्यापक—वस्तुके अभाव में सिर्फ वासनाको लेकर जो चित्तकी अवस्था होती है—करके प्रकट किया जा सकता है, किन्तु सूत्रकार केवल चित्त द्वारा निर्मित वस्तुको उतना तुच्छ नहीं समझते, बल्कि चित्तकी ऐसी निर्माण करनेकी शक्तिको एक बड़ी सिद्धि मानते हैं,[3] यह भी ख्याल रखना चाहिए।

---

१. योग० १।४ २. वहीं १।५-११ ३. वहीं ४।४-५

(४) ईश्वर

पतंजलिके योगशास्त्रको सेश्वर (=ईश्वरवादी) सांख्य भी कहते हैं, क्योंकि जहाँ कपिलके सांख्यमें ईश्वरकी गुंजाइश नहीं है, वहाँ पतंजलिने अपने दर्शनमें उसके लिए "गुंजाइश बनाई" है। "गुंजाइश बनाई" इसलिए कहना पड़ता है, कि पतंजलिने उसे उपनिषत्कारोंकी भाँति सृष्टि-कर्त्ता नहीं बनाना चाहा और न अक्षपादकी भाँति कर्मफल दिलानेवाला ही। चित्तवृत्तियोंके निरोध (=बंद) करनेके (योग-संबंधी साधनोंका) अभ्यास, और (विषयोंसे) वैराग्य दो मुख्य उपाय बतलाये[1] हैं; उन्हींमें "अथवा ईश्वरकी भक्तिसे"[2] कहकर ईश्वरको भी पीछेसे जोड़ दिया। ईश्वर-भक्तिसे समाधिकी सिद्धि होती है, यह भी आगे कहा है।[3] पतंजलि के अनुसार "ईश्वर एक खास तरहका पुरुष है, जो कि (अविद्या, राग, द्वेष आदि) मलों, (धर्म, अधर्म रूपी) कर्मों, (कर्मके) विपाकों (=फलों), तथा संस्कारोंसे निर्लेप है।"[4] इस परिभाषाके अनुसार जैनों और बौद्धोंके अर्हत् तथा कैवल्यप्राप्त कोई भी (मुक्त) पुरुष ईश्वर है। हाँ, ईश्वर बननेवालोंकी सूची कम करनेके लिए आगे फिर शर्त्त रक्खी है—'उस (=ईश्वर) में बहुत अधिकताके साथ सर्वज्ञ बीज है।'[5] लेकिन जैन और उनकी देखादेखी पीछेवाले बौद्ध भी अपने मत-प्रवर्त्तक गुरुको सर्वज्ञ (=सब कुछ जाननेवाला) मानते हैं। इस खतरेसे बचने के लिए पतंजलिने फिर कहा[6]—"वह पहिलेवाले (गुरुओं=ऋषियों) का भी गुरु है, क्योंकि जब वह न हो ऐसा काल नहीं है।" बुद्ध और महावीर ऐसे सनातन पुरुष नहीं हैं यह सही है, तो भी पतंजलि के कथनसे यही मालूम होता है, कि ईश्वर कैवल्यप्राप्त दूसरे मुक्तों जैसा ही एक पुरुष है; फर्क इतना ही है, कि जहाँ मुक्त पुरुष पहिले बद्ध रह कर अपने प्रयत्नसे मुक्त हुए हैं,

---

१. योग० १।१२　　२. वहीं २।४५　　३. वहीं १।२३
४. वहीं १।२४　　५. वहीं १।२५　　६. वहीं १।२६

वहाँ ईश्वर सदासे (=नित्य) मुक्त है। उसका प्रयोजन यही है, कि उसकी भक्ति या प्रणिधानसे चित्त-वृत्तियों का निरोध होता है।[1] "उसका वाचक प्रणव (=ओम्) है, जिसके अर्थकी भावना उस (=ओम्) का जप कहलाता है, जिस (=जप) से प्रत्यक्-चेतन (=बुद्धिसे भिन्न जो जीव है उस) का साक्षात्कार होता है, तथा (रोग, संशय, आलस्य आदि चित्त विक्षेपरूपी) अन्तरायों (=बाधाओं) का नाश होता है।

(५) भौतिक जगत् (=दृश्य)

पतंजलिने जहाँ पुरुषको द्रष्टा (=देखनेवाला) कहा है, वहाँ भौतिक जगत् या सांख्यके प्रधानके लिए दृश्य शब्दका प्रयोग किया है। दृश्यका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—[2] "(सत्त्व, रज, तम, तीनों गुणोंके कारण) प्रकाश, गति और गति-राहित्य (-स्थिति) स्वभाववाला, भूत (पाँच महाभूत और पाँच तन्मात्रा) तथा इन्द्रिय (पाँच ज्ञान, पाँच कर्म-इन्द्रिय; बुद्धि, अहंकार, मन तीन अन्तःकरण) स्वरूपी दृश्य (=जगत्) है, जो कि (पुरुषके) भोग, और मुक्ति (=अपवर्ग) के लिए है।"

(क) प्रधान-सांख्यने पुरुषके अतिरिक्त प्रकृति (=प्रधान) के २४ तत्त्वोंको प्रकृति, प्रकृति-विकृति, और विकृति इन तीन कोटियोंमें बाँटा है, जिन्हें हैं। पतंजलिने चार प्रकार से बाँटा है।—[3]

सांख्य	तत्त्व	योग
प्रकृति १	प्रधान (त्रिगुणात्मक)	अ-लिंग १
प्रकृति-विकृति ७	१ महत्तत्त्व (=बुद्धि)	लिंग १
	+५ तन्मात्रा+१अहंकार	अ-विशेष ६
विकृति १६	५ महाभूत+५ कर्मेन्द्रिय +५ ज्ञानेन्द्रिय+१ मन	विशेष १६

---

१. योग० १।२७-३० २. वहीं २।१८, २१, २२ ३. वहीं २।१९

दोनों के जन्य-जनक संबंध में निम्न अन्तर है—
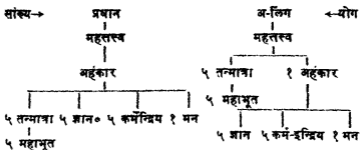
पाँच तन्मात्रायें हैं—गंधतन्मात्रा, र०, रूप०, स्पर्श०, शब्दतन्मात्रा

पाँच भूत हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश

पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ हैं—नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श, श्रोत्र

पाँच कर्म-इन्द्रियाँ हैं—वाणी, हाथ, पैर, मल-इन्द्रिय, मूत्र-इन्द्रिय

अनीश्वरवादी सांख्य २४ प्राकृतिक तत्त्वों तथा पुरुष (जीव को लेकर २५ तत्त्वोंको मानता है; और ईश्वरवादी योग उसमें पुरुषविशेष (=ईश्वर) को जोड़ कर २६ तत्त्वोंको।

"पुरुषके लिए ही दृश्य (जगत्) का स्वरूप है,"[1] इसका अर्थ है, कि पुरुषके कैवल्य (=मुक्ति) प्राप्त हो जानेपर संसारका अस्तित्व खतम हो जायेगा; किन्तु अनादिकालसे आज तक कितने ही पुरुष कैवल्यप्राप्त हो गए, तो भी जगत् इसलिए जारी है, कि कैवल्यप्राप्तोंसे भिन्न—बद्ध पुरुषों—की भी वह साझेकी भोग्य वस्तु है।"[2]

(ख) परिवर्तन—पाँचों महाभूतों, दसों इन्द्रियों और मन (=चित्त) में निरन्तर परिवर्तन (=नाश, उत्पत्ति) होता रहता है, जिनसे महाभूतों और इन्द्रियों के परिवर्तन (=परिणाम) तीन प्रकार के होते हैं—धर्म-परिणाम (=मिट्टी का पिंडरूपी धर्म छोड़ घटरूपी धर्म में परिणत

१. योग० २।२१   २. वहीं २।२२

होना), लक्षण-परिणाम (=घडेका अतीत, वर्तमान, भविष्य के संबंध=लक्षणसे अतीत घडा, वर्तमान घडा, भविष्य घडा बनना), अवस्था-परिणाम (=वर्तमान घडेका नयापन, पुरानापन आदि अवस्था बदलना)। मिट्टी मे चूर्ण और पिंड, पिंड और घडा, घडा और कपाल (=खपडा) यह जो पहिले पीछेका क्रम देखा जाता है, वह एक ही मिट्टी के भिन्न-भिन्न धर्म-परिवर्त्तनोको जतलाता है, इसी अतीत, वर्तमान और भविष्यकालके भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न लक्षण तथा दृढ़ क्षय, सूक्ष्म, स्थूलके भिन्न-भिन्न क्रमसे भिन्न-भिन्न अवस्थाका परिवर्त्तन मालूम पडता है।[1]

इस तरह पतजलि परिवर्त्तन होना है इसे स्वीकार करते हैं यद्यपि वह स्वय इस बात को स्पष्ट नही करते, तो भी साख्यकी दूसरी कितनी ही बातोकी भाँति उनके मनमे भी परिवर्त्तन होता है भावसे भाव रूप मे (=सत्कार्यवाद) मे ही।

"(सत्त्व, रज, तम ये तीन) गुण स्वरूपवाले (प्रधानमेसे नीचके २३ तत्त्व) व्यक्त होते हैं (जब कि वर्तमान काल मे हमारे सामने होते हैं) और सूक्ष्म होते हैं (जब कि वे आँखसे ओझल भूत, या भविष्य मे रहते है)। (गुणोके तीन होनेपर भी उनके धर्म, लक्षण, या अवस्था-) परिणाम (=परिवर्त्तन) चूँकि एक होते है, इसलिए (परिणाम से उत्पन्न बुद्धि अहकार आदि वस्तुओका) एक होना देखा जाता है।[2] इस प्रकार नाना कारणो (=गुणो) से एक कार्यकी उत्पत्ति पतंजलिने सिद्ध की। साख्य और योग के नाना गुण प्रकृतिकी तीन स्थितियों को बतलाते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए, वह स्थितियाँ हैं—सत्त्व प्रकाशमय अवस्था, रज=गतिमय अवस्था, तम=गतिशून्यतामय अवस्था।

(६) क्षणिक विज्ञानवाद खंडन

नाना कारणसे एक कार्यका उत्पन्न होना विज्ञानवादके विरुद्ध है

१. योग० ३।१३-१५ २. वहीं ४।१३।१४

क्योंकि विज्ञानवादी एक ही विज्ञानसे जगत्की असंख्य विचित्रताओंको उत्पन्न मानते हैं। इसका खंडन करते हुए पतंजलि कहते हैं कि "वे (चित्त=विज्ञान=मन और भौतिक तत्त्व) दोनों भिन्न भिन्न है, क्योंकि एक (स्त्री) वस्तुके होनेपर भी (जिस चित्तसे उसकी उत्पत्ति विज्ञानवादी बतलाते हैं, वह) चित्त (एक नहीं) अनेक हैं।"[1] विज्ञानवादके अनुसार वहाँ जो स्त्री शरीर है, वह विज्ञान (=चित्त) का ही बाहरी क्षेपण (=फेंकना) है, किंतु जिस चित्तके क्षेपणका परिणाम वह स्त्री है, वह एक नहीं है—किसीके चित्तके लिए वह सुखदा प्रिया पत्नी है, किसीके चित्तके लिए वह दुःखदा सौत है। फिर ऐसे परस्परविरोधी अनेक विज्ञानों (=चित्तों) से निर्मित स्त्री एक विज्ञानसे बनी नहीं कही जा सकती; इसका जगह यही मानना चाहिए कि विज्ञान और भौतिक तत्त्व भिन्न-भिन्न है, और वही मिलकर एक वस्तु को बनाते है। और भी[2] "यदि वस्तुको एक चित्त (=विज्ञान) से बनी माना जाये, तो (उस चित्तके किसी दूसरे कपड़े आदिके निर्माण में) व्यस्त होने पर, उस वस्तुका क्या होगा —(=निर्माण कर्ता चित्त के अभावमें उसका अभाव होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए) वस्तु चित्तसे बनी नहीं है, बल्कि उसकी स्वतंत्र सत्ता है। अकेला चित्त सारी वस्तुओं (=भौतिक पदार्थों)का कारण होनेसे आपके तर्कानुसार उसे सर्वज्ञ होना चाहिए, किन्तु वैसा नहीं देखा जाता, इसलिए विज्ञान सबका मूलकारण है, यह मत गलत है। हमारे मतमें तो "वस्तुके ज्ञान होनेके लिए (इन्द्रिय-द्वारा) चित्तका उस (वस्तु)से 'रँगा जाना' (=मनपर संस्कार पड़ना) जरूरी है, (जब वह वस्तुसे रँगा नहीं होता, तो वस्तु) अज्ञात होती है।" चित्त परिवर्तनशील है, किन्तु "चित्तकी वृत्तियाँ लगातार (=सदा) ज्ञात रहती है, यह इसीलिए कि उस (=भोग्य-वस्तु) का स्वामी (=पुरुष) अ-परिवर्तनशील है।" "दृश्य (=जगत्का एक भाग होनेसे चित्त स्वप्रकाश (=स्वयंचेतन) नहीं है" बल्कि उसे प्रकाश

[1] योग० ४।१५   [2] वहीं ४।१६-१९

पुरुष के सपर्कसे मिलता है। इसलिए चित्तमात्रसे जगत्‌की उत्पत्ति माननेसे चेतनाकी गुत्थी भी नहीं सुलझ सकती।

यद्यपि उपरोक्त आक्षेप शकर और बर्कले जसे नित्य (=स्थिर) विज्ञानवादियो पर भी लागू होता है, किंतु पतजलिका मुख्य लक्ष्य यहाँ क्षणिक विज्ञानपर है, इसीलिए अपने अभिप्राय को और स्पष्ट करते हुए कहते हैं'— "और (बौद्धोंके अनुसार चित्तके क्षणिक होने तथा उससे परे पुरुषके न होनेपर) एक समयमे (चित और चेतन पुरुष) दोनोकी स्मृति (=अवधारण) नहीं हो सकती" यद्यपि ऐसा होते देखा जाता है—घडा देखते वक्त 'मैंने घडा देखा'से मैंका भी स्मरण होता है। "यदि (दूसरे क्षणवाले) अन्य चित्तसे (उसे) देखा जानेवाला मानें, तो उस बुद्धिमे दूसरी, उससे दूसरी, इस प्रकार, कहीं निश्चित स्थानपर नही पहुँच सकेंगे, और स्मृतियोमे गडबडझाला (=सकरता) होगा।" इसलिए क्षणिक विज्ञान स्मरणकी समस्याको हल नही कर सकता, और वस्तुओं की उत्पत्तिकी समस्याका भी नही कर सकता यह अभी कह आये हैं, इस प्रकार विज्ञानवाद युक्तिसगत नहीं है।

(७) योगका प्रयोजन

अविद्या, प्रत्ययालम्बन, क्लेश, सविचार, निर्विचार, शुक्ल, कृष्णकर्म, आशय (=आस्रव), चित्त, समापत्ति, वासना, वैशारद्य, प्रसाद, भवप्रत्यय, मृदु-मध्य-अधिमात्र, मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा, श्रद्धा-वीर्य आदि बहुत से पारिभाषिक शब्दार्थ पतंजलिने ज्योंके त्यों बौद्धोंसे तो ले लिए ही हैं, साथ ही मौलिक सच्चाई जिसपर पतजलि जोर देना चाहते हैं, उसे भी जब देखते हैं, कि वह बौद्धों के चार आर्य-सत्योंका ही रूपान्तर है तो पता लग जाता है, कि पतजलि बौद्ध विचारोंसे कितने प्रभावित हुए थ [illegible] आर्यसत्य हैं—(१) दुख, (२) दुख-समुदाय (=दुख-हेतु), (३) [illegible]निरोध (=दुखका विनाश) और (४) दुख-

---

१ योग० ४।२०-२१

निरोध-गामिनी-प्रतिपद् (=दुःख निरोधकी ओर ले जानेवाला मार्ग या उपाय)। इसकी जगह देखिये पतंजलिके[1] (१) हेय (=त्याज्य), (२) हेय-हेतु, (३) हान (=नाश) और (४) हान-उपायको। हेयसे उनका क्या मतलब है, इसे खुद ही "हेय आनेवाला दुःख" है[2] कह कर साफ कर दिया है, इसलिए इसमें सन्देह ही नही रह जाता कि योगने बौद्ध चार आर्यसत्योंको ले लिया है। योगके इन चार मौलिक सिद्धान्तों—जो ही वस्तुतः योगशास्त्रके मुख्य प्रयोजन हैं—के बारेमें यहाँ कुछ और कहना जरूरी है।

(क) हान—हान दुःखको कहते हैं, और दुःख पतंजलिका भी उतना ही व्यापक सत्य है जितना बौद्धोंका —"सारे (भोग) ही दुःख"[3] हैं।

(ख) हेय (=दुःख)-हेतु—इस दुःखका कारण क्या है? "जीव (=द्रष्टा) और जगत् (=दृश्य) का संयोग।"[3] "(यही) संयोग मिल्कियत (=जगत्) और मालिक (=जीव) की शक्तियोंके (जो) अपने-अपने स्वरूप हैं, उनकी उपलब्धि (=अनुभव) का हेतु है।"[4] इनमें जगत्के स्वरूपका अनुभव भोगके रूपमें होता है, पुरुष (=जीव) के स्वरूपका अनुभव अपवर्ग (=कैवल्य)के रूपमें। भोगके रूपमें होनेवाले अनुभवका कारण जो संयोग है, वही दुःखका हेतु है।

(ग) हान (=दुःख)से छूटना—जीव और जगत्के भोक्ता और भोग्यके रूपमें जिस संयोगको अभी दुःखका हेतु बतलाया गया है, उस संयोगका कारण अविद्या है। उसीके अभावसे उस संयोगका अभाव होता है। यही संयोगका अभाव हान है, और वही द्रष्टा (=पुरुष)का कैवल्य है।[5]

(घ) हान(=दुःख)से छूटनेका उपाय—पुरुषका प्रकृतिके संयोगसे मुक्त हो अपने स्वरूपमें अवस्थित होना हान या कैवल्य है, यह तो ठीक है

---

१. योग० २।१६, १७, २५, २६ २. वहीं २।१६ ३. वहीं २।१५
४. वहीं २।७ ५. वहीं २।२३ ६. वही २।२४-२५

किंतु यह संयोगसे मुक्त होना (=हान) किस उपायसे हो सकता है? इसका उत्तर पतंजलि देते हैं—"(पुरुष और प्रकृतिके) विवेक (=भिन्न-भिन्न होने) का निर्भ्रान्त ज्ञान हानका उपाय है।"[1]

योग के अंगोंके अनुष्ठानसे (चित्तके) मलोंका नाश होता है, जिसमें ज्ञान उज्ज्वल होता जाता है, यहाँ तक कि विवेक ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[2]

३ – योगकी साधनायें

योगसूत्रका मुख्य प्रयोजन है, उन साधनों या अंगोंके बारे में बतलाना, जिनसे पुरुष कैवल्य प्राप्त कर सकता है। ये योगके अंग आठ है, इसीलिए पतंजलिके योगको भी अष्टाग-योग कहते हैं। ये आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, जिनमें पहिले पाँच वहिरंग कहे जाते है, और अन्तिम तीन चित्तकी वृत्तियोंसे विशेष संबंध रखने के कारण अन्तरंग कहे जाते हैं। योगसूत्रके दूसरे और तीसरे पादमें इन आठों योग-अंगोका वर्णन है।

(१) **यम**[3]—अहिंसा, सत्य, चोरी-त्याग, (=अस्तेय), ब्रह्मचर्य और अ-परिग्रह (=भोगोंका अधिक संग्रह न करना)।

(२) **नियम**[4]—शौच (=शारीरिक शुद्धता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (=ईश्वरभक्ति)।

(३) **आसन**[5]—सुखपूर्वक शरीरको निश्चल रखना (जिसमें कि प्राणायाम आदिमें आसानी हो)।

(४) **प्राणायाम**[6]—आसनसे बैठे श्वास-प्रश्वासकी गतिका विच्छेद करना।

(५) **प्रत्याहार**[7]—इन्द्रियोंका उनके विषयोंके साथ योग्य न होने दे चित्त (=मन)का अपने रूप जैसा रहना।

---

१. योग० २।२६ २ वहीं २।२८ ३ वहीं २।३० ४ वहीं २।३२
५. योग० २।४६ ६. वहीं २।४९ ७. वहीं २।५४

(६) धारणा[1]—(किसी खास) देश (=नासाग्र आदि) मे चित्तको रोकना।

(७) ध्यान[2]—उस (धारणाकी स्थिति) मे (चित्तकी) वृत्तियोंकी एकरूपता।

(८) समाधि[3]—वही (ध्यान) जब (ध्यानके) स्वरूप (के ज्ञानसे) रहित, सिर्फ (ध्येय) अर्थ (के स्वरूप) मे प्रकाशमान होता है (तो उसे समाधि कहते हैं)।—अर्थात् ध्येय, ध्याता और ध्यानके ज्ञानोंमें जहाँ ध्येय मात्रका ज्ञान प्रकट होता है, उसे समाधि कहते हैं।

धारणा, ध्यान, समाधि इन तीन अन्तरंग योगांगोंको **संयम** भी कहते है।

§ ३—शब्दप्रमाणक ब्रह्मवादी बादरायण (३०० ई०)

१—बादरायणका काल

यूनानियो और शकोंके चार शताब्दियोंके शासन और संस्कृति-संबंधी प्रभाव तथा बौद्धोंके तीक्ष्ण तर्क प्रहारसे ब्राह्मणोंके कर्मकांडकी ही नहीं उनके उपनिषदीय अध्यात्म दर्शनका प्रभाव भी क्षीण होने लगा। जहाँ तक युक्ति-सगत सिद्धान्तोंके संबंधमें उत्तर हो सकता था, वह उन्होंने न्याय, वैशेषिक, योग और सांख्य द्वारा दिया; किन्तु वह काफी नहीं था। यदि वेद-मूलक ज्ञान और कर्मकांडके संबंधमें उत्पन्न हुई शंकाओंका वह उत्तर नही दे सकते थे, तो ब्राह्मणधर्मकी जड खुद चुकी थी, इसीलिए उनकी रक्षाके लिए बादरायण और जैमिनिने कलम उठाई। जैमिनिकी कर्म-मीमांसाके बारेमे हम लिख चुके हैं। वहां हमने यह भी बतलाया था, कि एक दूसरे की राय उद्धृत करनेवाले जैमिनि और बादरायण समकालीन थे, जिसका अर्थ हुआ, बादरायण भी ३०० ई०में मौजूद थे। पौराणिक परंपरा बादरायण

---

१. योग० ३।१　　२ वहीं ३।२　　३. वहीं ३।३

तथा व्यासको एक मानती है, और पाँच हजारसे कुछ साल पहिले महाभारत कालमें उनका होना बतलाती है; किन्तु इसका खंडन स्वयं वेदान्त सूत्रकारके सूत्र करते हैं, जिसमें सिर्फ बुद्धके दर्शनका ही नहीं, बल्कि उनकी मृत्यु (४८३ ई० पू०)से छै-सात सदियोंसेभी पीछे अस्तित्व में आनेवाले बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों—वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक—का खंडन है। अफलातूंके प्रभावसे प्रभावित हो बौद्धोंने अपने विज्ञानवादका विकास नागार्जुन (१७५ ई०)से पहिले भी किया था जरूर, किन्तु उसका पूर्ण विकास दो पेशावरी पठान भाइयों—असंग और वसुबंधु (३५० ई०)—ने किया। यद्यपि विज्ञानवाद (=योगाचार) का जिस प्रकार खंडन सूत्रोंमें किया गया है, उससे काफी सन्देहकी गुंजाइश है, कि वेदान्तसूत्र असंग (३५० ई०) से पीछे बने, तो भी और निश्चयात्मक प्रमाणोंके अभावमें अभी हम यही कह सकते है, कि बादरायण, कणाद (१५० ई०), नागार्जुन (१७५ई०), योगसूत्रकार पतंजलि (२५० ई०), के पीछे और जैमिनि (३०० ई०)के समकालीन थे। यह स्मरण रखना चाहिए, कि ३५० ई०मे पहिलेके दर्शन-समालोचक बौद्ध-दार्शनिकोंके ग्रंथोंमें पता नहीं लगता, कि उनके समयमें वेदान्तसूत्र या मीमांसासूत्र मौजूद थे।

२ – वेदान्त-साहित्य

वेदान्तसूत्रोंपर बौधायन और उपवर्षने वृत्तियाँ (=छोटी टीकायें) लिखी थीं, जिनमें बौधायन वृत्तिके कुछ उद्धरण रामानुज (जन्म १०२७ ई०)ने दिये है किन्तु वे दोनों वृत्तियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। परम्परासे यही पता लगता है कि बौधायन शारीरकवादी द्वैतवादके समर्थक थे जो हो वेदान्त सूत्रों का भी भाव मालूम होता है, जैसा कि आगे पता होगा, और उपवर्ष अद्वैतवादके। वेदान्तसूत्रोंपर सबसे पुराना ग्रंथ शंकर (७८८-८२० ई०) का भाष्य है। हर्षवर्धन (६४० ई०)के शासन और धर्मकीर्ति (६०० ई०) के दर्शनके बाद, दिसयोंसे कलपर रग्ग छोड़ा

गई सामाजिक और आर्थिक समस्याओंकी उलझनों, उनके कारण पैदा हुई विषमताओं, बहुसंख्यक जनताकी पीड़ा-प्रताड़नाओं तथा अल्पसंख्यक शासकों-शोषकोंकी मानसिक विलासिताओं, अनिश्चित भविष्य संबंधी आशंकाओंसे भारतीय मस्तिष्क वस्तुस्थितिको लेते हुए किसी हलके ढूँढ़नेमें इतना असमर्थ था, कि उसे विज्ञानवाद, परलोकवाद, मायावादकी हवामे उड़कर आत्मसन्तोष या आत्मसम्मोह—आँख मूँदना—एक-मात्र रास्ता सूझना था। असंग, वसुबंधुके विज्ञानवाद द्वारा बौद्धोंको शिक्षित शासक-शोषक वर्ग में प्रिय और सम्मानित बननेका मौका मिला था, तो भी बौद्ध विज्ञानवाद उस समय अति तक न पहुँच सका, यह तो इसीसे मालूम होता है, कि दिङ्नाग (४५० ई०) और धर्मकीर्ति (६०० ई०) विज्ञानवादी सम्प्रदायके होते भी उनपर वस्तुवादका जितना प्रभाव था, उतना विज्ञानवादका नहीं—धर्मकीर्तिको तो बल्कि स्वातंत्रिक (=वस्तुवादी) विज्ञानवादी साफ तौरसे कहा गया है। बौद्धोंकी सफलताको देखकर शंकरने भी उपनिषद् दर्शनको शुद्ध विज्ञानवादके रूपमें परिणत करनेकी इच्छामें अपने वेदान्तभाष्यको लिखा। उन्हे इसमें आशातीत सफलता हुई, यह तो इसीसे मालूम है, कि आजके शिक्षित हिन्दुओंमें—जिन्हें दर्शनकी ओर कुछ भी शौक है—सबसे अधिक संख्या शंकर-वेदान्त अनुयायियों—"वेदान्तियों"को है; शंकर-वेदान्तसे संबंध रखनेवाली तथा खुद शंकरभाष्यपर लिखी गई पुस्तकोंकी संख्या हजारों है। शंकर-भाष्यके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०)की **भामती** (शंकरभाष्यकी टीका) तथा कन्नौजराज जयचन्दके दर्बारी कवि और दार्शनिक श्रीहर्ष (११९० ई०) का **खंडनखंडखाद्य** है।

शंकरकी सफलताने बतला दिया, कि ब्राह्मण (=हिन्दू)-धर्मी किसी सम्प्रदायको यदि सफलता प्राप्त करनी है, तो उसे शंकरके रास्तेका अनुकरण करना चाहिए। इस अनुकरणका परिणाम यह हुआ है, कि आज सभी प्रधान-प्रधान हिन्दू सम्प्रदायों के पास अपनी दार्शनिक नींव

मजबूत करनेके लिए अपने-अपने वेदान्त-भाष्य हैं[1]—

संप्रदाय	भाष्यकार	काल
शंकर (शैव)	शंकर (मलबार)	७८८-८२० ई०
रामानुजीय (वैष्णव)	रामानुज (तमिल)	१०२७ (जन्म)
निम्बार्क (वैष्णव)	निम्बार्क (तेलगू)	११ वीं सदी
माध्व (वैष्णव)	आनन्दतीर्थ (कर्नाट)	११९८ (जन्म)
राधावल्लभी (वैष्णव)	वल्लभ (तेलगू)	१४०१ (जन्म)

३—वेदान्तसूत्र

वेदान्तसूत्रोंको शारीरकसूत्र भी कहा जाता है, क्योंकि इसमें जगत् और ब्रह्मको शरीर और शरीरधारी=शारीरकके तौरपर वर्णित किया है,—जो कि शंकरके मतके खिलाफ जाता है। दूसरा नाम ब्रह्ममीमांसा है, जो कि कर्ममीमांसा (=मीमांसा)की तुलनामें रखा गया है। वेदान्त-सूत्रमें चार अध्याय और हर अध्यायमें चार-चार पाद हैं, जिनमें सूत्रों-की संख्या इस प्रकार है—

अध्याय	पाद	सूत्र-संख्या	अधिकरण (प्रकरण)	विषय
१	१	३२	११	उपनिषद् सिर्फ ब्रह्मको जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका कारण मानती हैं।
	२	३३	६	
	३	४४	१०	
	४	२९	८	युक्तिसे भी जगत् कारण ब्रह्म है, प्रधान आदि नहीं।
		१३८		

१. इनके अतिरिक्त श्रीकंठ, बलदेव और भास्करके भी भाष्य हैं, यद्यपि उनका आज कोई धार्मिक संप्रदाय मौजूद नहीं है। हालमें अब रामा-

अध्याय	पाद	सूत्र-संख्या	अधिकरण (प्रकरण)	विषय
२	१	३६	१०	दूसरे दर्शनोंका खंडन
	२	४२	८	
	३	५२	७	चेतन और जड
	४	१९	३	प्राण और इन्द्रियाँ
		१४९		
३	१	२७	६	पुनर्जन्म
	२	४०	८	स्वप्न सुषुप्ति आदि अवस्थायें।
	३	६४	२६	उपनिषद्‌के सभी उपदेशों (विद्याओं) का प्रयोजन ब्रह्मज्ञानसे ही मुक्ति;
	४	५१	१५	किन्तु कर्म भी सहकारी।
		१८२		
४	१	१९	११	ब्रह्मज्ञानका फल शरीरान्तके बाद मुक्तकी यात्रा।
	२	२०	११	
	३	१५	५	अन्तिम यात्राका मार्ग
	४	२२	६	मरनेके बाद मुक्तकी अवस्था और अधिकार
	१६	७६	१५१	
		५४५		

४– वेदान्तका प्रयोजन उपनिषदोंका समन्वय

जिस तरह जैमिनिने ब्राह्मण और उसके कर्मकांडका अन्धाधुंध समर्थन

नन्दी वैष्णवोंने अपनेको रामानुजी वैष्णवोंसे स्वतंत्र संप्रदाय साबित करनेका प्रयास किया, तो किसी विद्वान्‌के वेदान्तभाष्यको रामानन्द-भाष्यके नामसे प्रकाशित करना जरूरी समझा।

किया है, वही काम बादरायणने उपनिषद्के संबंधमें अपने ऊपर लिया। पहिले अध्यायके चतुर्थ पाद तथा दूसरे अध्यायके प्रथम और द्वितीय पाद—५४५ सूत्रोंमेंसे १०७—को छोड़ बाकी सारा ग्रंथ उपनिषद्की शिक्षाओं, और विद्याओं (= विशेष उपदेशों) पर बहस करनेमें लिखा गया है और इन १०७ सूत्रोंमें भी अधिकतर उपनिषद्-विरोधी विचारोंका खंडन किया गया है।

वेदान्तका प्रथम सूत्र है "अब यहाँसे ब्रह्मकी जिज्ञासा" शुरू होती है; इसकी तुलना कीजिये मीमांसाके प्रथम सूत्र—"अब यहाँसे धर्मकी जिज्ञासा" शुरू होती है—से। ब्रह्म क्या है, यह दूसरे सूत्रमें बतलाया है—"इस (= जगत्)का जन्म आदि (स्थिति और प्रलय) जिससे (वही ब्रह्म है)"[1] यहाँ सूत्रकारने ब्रह्मकी सिद्धिमें अनुमान प्रमाणका प्रयोग किया है, 'हर वस्तुका कोई कारण होता है, इसलिये जगत्का भी कारण होना चाहिये' इस तर्कसे उन्होंने जगत्-स्रष्टा ब्रह्मको सिद्ध किया। तो भी बादरायण ब्रह्मको तर्कसे सिद्ध करने पर उतने तुले हुए नहीं मालूम होते, इसलिए सबसे भारी हेतु ब्रह्मके होनेमें तीसरे सूत्रमें दिया है—"क्योंकि शास्त्र (= उपनिषद्) इसका प्रमाण है" (शब्दार्थ है "क्योंकि शास्त्र उसकी योनि है") "और वह (शास्त्रका प्रमाण होना, सारे उपनिषदोंका) सर्वसम्मत (= समन्वय)[2] है।" बाकी सारा वेदान्त-सूत्र एक तरह इसी चौथे सूत्रकी विस्तृत व्याख्या है।

सर्व-सम्मत या समन्वय साबित करनेमें बादरायणने एक तो उपनिषद्के भीतरी विरोधोंका परिहार करना चाहा है, दूसरे यह साबित किया है कि भिन्न-भिन्न उपनिषद् वक्ताओंने जो ब्रह्मज्ञान-संबंधी खास-खास उपदेश (विद्यायें) दिए हैं, वह सभी उसी एक ब्रह्मके बारेमें है। ब्रह्म, जीव, जगत् आदिके बारेमें अपने सिद्धान्त क्या हैं, और विरोधी दार्शनिक

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद् ३।१।१ में "जिससे ये प्राणी पैदा हुए . . ."के आशयको इस सूत्रमें व्यक्त किया गया है। २. वेदान्तसूत्र १।१।४

सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं हैं, इतना और ले लेनेपर वेदान्तसूत्रमें प्रतिपादित सारी बातें आ जाती हैं, जैसा कि पहिले दिए नक्शेसे मालूम होगा।

(विरोध-परिहार)—उपनिषद्के ऋषियोंने जगत्के मूलकारणके ढूंढ़नेका प्रयास किया था, और सभी एक ही रायपर नहीं पहुँचे—उदाहरणार्थ सयुग्वा रैक्व जल (=आप) को मूलकारण मानता था, पिछले उपनिषदोंमें कपिल भी ऋषि माने गए हैं, वह प्रधानको मूलकारण मानते थे। इसलिए बादरायणके लिए यह जरूरी था, कि उपनिषद्के ऐसे वक्तव्योंके पारस्परिक विरोधको दूर करें। ग्रंथकारने पहिले अध्यायके पहिले पादके पाँचवें सूत्रसे विरोध-परिहारको शुरू किया है।

(१) प्रधान (=प्रकृति)को उपनिषद् मूलकारण नहीं मानता—उद्दालक आरुणिने अपने पुत्रको ब्रह्मका उपदेश करते हुए कहा था[1]—"सौम्य! यह पहिले एक अद्वितीय सद् (=अस्ति रूप) था।...... उसने ईक्षण (=कामना) किया कि "मैं बहुतसा होऊँ।" यहाँ जिस सद्, एक, अद्वितीय तत्त्वके अस्तित्वको सृष्टिसे पहिले आरुणि स्वीकार करते हैं, वह कपिल-प्रतिपादित प्रधान (=प्रकृति) पर भी लागू हो सकता था; फिर कहीं जगत्का जन्म ब्रह्मसे मानना कहीं प्रधानसे, यह परस्पर-विरोधी बात होती, इसी विरोधको दूर करते हुए बादरायणने कहा है[2]—"अ-शब्द (=उपनिषद्के शब्दोंसे न प्रतिपादित प्रधान, यहाँ अभिप्रेत) नहीं है, क्योंकि यहाँ ईक्षण (का प्रयोग किया गया है, और वह जड़ प्रधानके लिए इस्तेमाल नहीं हो सकता)।" प्रश्न हो सकता है, शब्दोंका[2] प्रयोग कितनी ही बार मुख्य नहीं गौण अर्थमें भी किया जाता है, उसी तरह आगे होनेवाली बातको काव्यकी भाषामें ऋषिने "ईक्षण किया" कहा होगा। उसका उत्तर है—"गौण नहीं है, क्योंकि (वहाँ उसी सत्के लिए) आत्म शब्द (का प्रयोग आया है, जो कि जड़ प्रधानके लिए नहीं हो सकता)।" यही नहीं "उस (सत्य)में निष्ठावालेको मोक्ष पानेकी

---

१. छान्दोग्य ६।२।१; देखो पृष्ठ ४५४ भी। २. वे० सू० १।१।५-८

बात कही है। (प्रधान अभिप्रेत होता तो मुमुक्षु श्वेतकेतुके लिए अन्तमें उस प्रधानको हेय=त्याज्यके तौरपर बतलाना चाहिए था) "हेय होना न कहना भी (यही सिद्ध करता है, कि आरुणि सत्‌से प्रधानका अर्थ नहीं लेते थे)। आरुणिने उपदेशके आरम्भ हीमें "एकके जाननेसे सबका ज्ञान"[१] होना है, इसे मिट्टीके पिंड और मिट्टीके भांडोंके उदाहरणसे बतलानेको प्रतिज्ञा (=दावा) की थी. चेतन (=पुरुष) उसी तरह प्रधानका कारण नहीं हो सकता, इसलिए[२] "(उस) प्रतिज्ञाके विरोध (का ख्याल करने) से" भी यहाँ सत्‌से प्रधान अभिप्रेत नहीं है। आगे[३] इसी उपदेशमें स्वप्नमें पुरुष (=जीव)के उस सत्‌के पास जानेकी बात कही है, इस[४] "स्वप्नमें जाने (की बात)से" भी प्रधान अभिप्रेत नहीं मालूम होता। यही नहीं जैसे यहाँ "सद् ही अकेला पहिले था" कहा गया है, उसी तरह ऐतरेय उपनिषद्‌में[५] "आत्मा ही अकेला पहिले था" कहा गया है. इस "एक तरहको (वर्णन) गति (=शैली)में"[६] भी हमारे पक्षकी पुष्टि होती है। और खुद आत्माका शब्द भी सत्‌के लिए वहाँ[७] सुना गया (श्रुतिने कहा) है इससे भी।"[८]

इसी तरह "आनन्दमय" में मय (धातुमय)मे जीवात्मा अभिप्रेत नहीं है, बल्कि वहाँ भी यह ब्रह्मवाचक है।

(२) **जीवात्मा (और प्रधान) भी मूल कारण नहीं**—तैत्तिरीय उपनिषद्‌में[९] कहा है—"उसी इस आत्मासे आकाश पैदा हुआ, आकाशसे वायु, वायुसे आग, आगसे जल, जलसे पृथिवी ... विज्ञान (=आत्मा)को यदि ब्रह्म जानता है ... तो सभी कामनाओंको प्राप्त करता है। उस (=विज्ञान) का यह शरीर (में रहने) वाला ही आत्मा है, जो कि पहलेका

१. छां० ६।१।१, देखो पृष्ठ ४५३ भी। २. वे० सू० १।१।९
३ छां० ६।८।१ ४. वे० सू० १।१।१० ५. ऐतरेय १।१
६. वे० सू० १।१।११ ७. छां० ६।३।२ "अनेन जीवेनात्मना"।
८ वे० सू० १।१।१२ ९. २।१, ... ५

है। उसी इस विज्ञानमयसे अन्य=अन्तर आनन्दमय आत्मा है, उससे यह (विश्व) पूर्ण है।" यहाँ आत्मामे आकाश आदिकी उत्पत्ति बतलाई है, जिससे आत्मा मूलकारण मालूम होता है, और उसी आत्माके लिए "आनन्दमय", "शरीरवाला" भी प्रयुक्त हुआ है, जिससे जान पड़ता है,; सृष्टिकर्त्तासे यहाँ ब्रह्म नहीं जीवात्मा अभिप्रेत है। इसका उत्तर वेदान्तके आठ सूत्रोंमें दिया गया है[1]—

"आनन्दमय (यहाँ जीवके लिए नहीं ब्रह्मके लिए है) क्योंकि (तैत्तिरीय उपनिषद्के इसी प्रकरण—ब्रह्मानन्दवल्ली—मे आनन्द शब्दको (ब्रह्म के लिए) बार-बार दुहराया गया है।"

"मय (सिर्फ) विकार (मिट्टीका विकार घड़ा मृन्मय, सोनेका विकार कुंडल सुवर्णमय) वाचक नहीं हैं, बल्कि (वह) अधिकता (जैसे सुखमय) के लिए भी होता है।"

"और (वही तैत्तिरीयमें[2]) उस (आनन्द) का (इस आत्माको) हेतु भी बतलाया गया है।"

"और (उसी उपनिषद्के) मंत्राक्षरमें[3] (जो 'सत्य ज्ञान अनन्त ब्रह्म') आया है, वही (आनन्दमयमे यहाँ) गाया (=वर्णित किया) गया है।"

"(ब्रह्मसे) दूसरा (जीवात्मा) यहाँ संभव नहीं है (क्योंकि उसमे जगत्के उत्पादनके लिए आवश्यक सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कहाँ है?)।"

"और (यदि कहो कि जीवात्मा और ब्रह्म एक ही है, तो यह गलत है) क्योंकि (दोनोंमें) भेद बतलाया गया है।"—('उसी इस विज्ञानमय (जीव) से अन्य=अन्तर आनन्दमय आत्मा है।"

"उसने कामना की" यहाँ जो "कामना करना आया है, उसमे (शब्द-प्रमाण-बहिष्कृत) अनुमान-गम्य (=प्रधान) भी नहीं लिया जा सकता।"

---

1. वे० सू० १।१।१३-२०   2. तै० उ० २।९   3. तै० उ० २।१

"और फिर इस (आत्मा) के भीतर उस (आनन्द) का इस (जीव) के साथ योग (=मिलना) भी कहा[1] गया है।"

इस प्रकार आत्मा शब्दसे यहाँ न जीवको लेकर उसे मूलकारण माना जा सकता है, और न "मय" प्रत्ययके विकार अर्थको ले सांख्यवाले प्रधानको लिया जा सकता। इस तरह उपनिषद् ब्रह्मको ही विश्वके जन्म आदिका कर्त्ता मानते हैं यह बात साफ है।

"अन्तर", "आकाश", "प्राण", "ज्योति" शब्दोंको भी छान्दोग्य उपनिषद्में[2] जन्मादि-कर्त्ताके तौरपर कहा गया है। उनके बारेमे भी प्रकृति (=प्रधान) या प्राकृतिक पदार्थका भ्रम हो सकता है, जिसको सूत्रकारने इस पादके आठ सूत्रोंमे यह कहकर दूर किया है, कि इनमे शब्दोंके साथ जो विशेषण आदि आए हैं, वह ब्रह्मपर ही घट सकते हैं, जीव या प्रकृति-पर नही।

(३) **जगत् और जीव ब्रह्मके शरीर**—उपनिषद्के कुछ उपदेश ऐसे भी है, जिनसे मालूम होता है, कि वक्ता जीव और ब्रह्मको एकसा समझता है, बादरायण **शारीरकवाद** (=जीव और जगत् शरीर हैं, और ब्रह्म शरीरवाला - शारीरक, शरीर और शरीरवालेको अभिन्न समझना आमतौरसे प्रचलित है, अथवा तीनों मिलकर एक पूर्ण ब्रह्म हैं)को मानते जरूर थे, किन्तु वह जीव ही ब्रह्म है इसे माननेके लिए तैयार न थे, इसलिए जहाँ कहीं ऐसे भ्रमकी सभावना हुई है, उसे उन्होंने बार-बार हटानेकी कोशिश की है, इसे हम आगे बतलायेंगे। कौषीतकि उपनिषद्[3]में इसी तरहका एक प्रकरण आया है, जिसमे "प्राण"को लेकर ऐसे भ्रमकी गुंजाइश है—'दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन (देवासुर-संग्राममें) युद्ध (-विजय) तथा

---

१. तै० २।७ "वह (ब्रह्म) रस है, इसको ही पाकर यह (जीव) आनन्दी होता है।"

२. क्रमशः निम्नस्थलोंमें—छां० १।३।६; छां० १।९।१; छां० १।११।५; छां० १।११।४ ३ कौ० उ० ३।१,९

पराक्रमसे इन्द्रके प्रिय धाम (इन्द्रलोक) में पहुँचा। उसे इन्द्रने कहा—...तुझे वर देता हूँ।' उसने उत्तर दिया—'मनुष्यके लिए जो हिततम वर हो ऐसे वरको तुम ही चुन दो।'......इन्द्रने कहा—'मेरा ही ज्ञान प्राप्त कर......मैं प्रज्ञात्मा (=प्रज्ञास्वरूप) प्राण हूँ; मुझे आयु, अमृत समझ उपासना कर।" यहाँ प्राणकी उपासना कहनेसे जान पड़ता है कि वह ब्रह्मकी भाँति उपास्य है, तथा इन्द्र (एक जीव)के कहनेसे वह जीवात्माका वाचक भी मालूम होता है। सूत्रकारने इस सन्देहको दूर करते हुए कहा[1]—

"(यहाँ) प्राण (पहिले) जैसा ही (ब्रह्मवाचक) है, क्योंकि (आगे कहे गए विशेषण तभी) संभव हैं।"

"वक्ता (इन्द्र) अपने (जीवात्माकी उपासना)का उपदेश करता है, यह (माननेकी जरूरत) नहीं, क्योंकि (वक्ता इन्द्र)में आत्माका आन्तरिक संबंध बहुत अधिक (ब्रह्मसे व्याप्त है, इसलिए ब्रह्मभूतके तौरपर वहाँ इन्द्रने अपने भीतर प्राण ब्रह्मकी उपासना करनेका उपदेश दिया, न कि अपने जीवको ब्रह्म सिद्ध करनेके लिए)।"

"शास्त्रकी दृष्टिसे भी (ऐसा) उपदेश होता है, जैसे कि वामदेव (ने कहा है)।" बृहदारण्यकमें[2] कहा है—"इसीको देखते हुए ऋषि वामदेवने कहा—"मैं मनु हुआ था और मैं सूर्य हुआ था।" सो आज भी जिसे ज्ञान हो गया है—'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब (=विश्व) होता है ....इन सबका वह आत्मा होता है।" वामदेवने जैसे ब्रह्मको अपने आत्माके तौरपर समझकर उसके नाते मनु और सूर्यको अपना रूप (=शरीर) बतलाया वैसे ही इन्द्रका प्राण और अपनी उपासनाके बारे में कहना भी है।

(४) उपनिषदोंमें अस्पष्ट और स्पष्ट जीववाची शब्द भी ब्रह्मके लिये प्रयुक्त—कितने ही जीव-वाचक शब्द हैं, जिन्हें उपनिषद्के

---

१. वे० सू० १।१।२९-३२ २. बृ० उ० १।४।१० ३. ऋक्० ३।६।१५

ऋषियोन ब्रह्मके लिए प्रयुक्त किया है, इसलिए उन शब्दोंके कारण इस भ्रममें नहीं पड़ना चाहिए कि उपनिषद् जीवको ही जन्मादिकारण तथा उपास्य मानती है। ऐसे शब्दोंमे कुछ साफ साफ जीव-वाचक नहीं है, ऐसे अ-स्पष्ट जीववाचक शब्दोंके बारेमे सूत्रकारने दूसरे पादमें कहा है, स्पष्ट जीववाचक शब्द भी ब्रह्मके अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं, यह तीसरे पादमें बतलाया है।

मनोमय[1] अत्ता (=भक्षक) अन्तर (=भिन्न) अन्तर्यामी, अदृश्य (आँखसे न दिखाई देनेवाला), वैश्वानर ऐसे शब्द हैं, जो कि कितनी ही बार जीवके लिए भी प्रयुक्त हुए है, किन्तु ऐसे स्थल[2] भी हैं, जहाँ उन्हें ब्रह्मके लिए प्रयुक्त किया गया है, इसलिए विरोधका भ्रम नही होना चाहिए। पहिले अध्यायके दूसरे पादमें[2] इन्ही छै शब्दोंको ब्रह्मवाची साबित किया गया है।

द्यौ और पृथिवीमें रहनेवाला भूमा (बहुत) अक्षर, ईक्षण (चाह) करनेवाला, दहर (छोटासा) अगुष्ठमात्र, देवताओंका मधु अगुष्ठ आकाश जैसे जीवात्मावाची शब्द कितने ही उपनिषदों[3] में आए हैं, इनमें भी जन्मादि कर्त्ता जैसे विशेषण आए हैं, तीसरे पादमें इन्हें ब्रह्म-वाची सिद्ध कर विरोध-परिहार किया गया है।

इस प्रकार पहिले अध्यायके प्रथम तीन पादोंमें ब्रह्म ही जिज्ञास्य

---

१. देखो क्रमशः छां० ३।१४।१, कठ० १।२।२; छां० ४।१५।१; बृह० ३।७।३, मुडक १।१।५-६; छां० ५।११।६

२. क्रमश निम्नसूत्र १-८, ९-१२, १३-१८,१९-२१,२२-२४,२५-३३

३ क्रमश मुडक २।२।५, छां० ७।२४।१; बृह० ५।८।८; प्रश्न ५।५; तै० ८।१।१, कठ २।४।१२; छां० ३।१।१; कठ २।४।१२, २।६।१७; छा० ८।१४।१

४ क्रमश १-६, ७-८, ९-११, १२, १३-२२, २३-२४, ३०-३२, ४०-४१, ४२-४४

(=ज्ञानका विषय) तथा जगत्का जन्म-स्थिति-प्रलय-कर्त्ता उपनिषद्में बतलाया गया है, इस पक्षका सूत्रकारने समर्थन तथा पारस्परिक विरोधोंका परिहार किया है। वेदान्त-सूत्रोंमें जिन उपनिषदोंके वचनोंपर ज्यादा वहस की गई है, वह ये हैं—कठ, प्रश्न, मुंड, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कौषीतकि, जिनमें छान्दोग्यके वाक्य एक दर्जनसे अधिक सूत्रोंमें बहसके विषय बनाए गए हैं।"

५. बादरायणके दार्शनिक विचार

बादरायणने उपनिषदोंके सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनी चाही, किन्तु बादरायणके सूत्रोंको लेकर आजकल, द्वैत, अद्वैत द्वैत-अद्वैत, शुद्ध-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत, त्रैत आदि कितने ही वाद चल रहे हैं, और सभी दावा करते है, कि वही भगवान् बादरायणके एकमात्र उत्तराधिकारी हैं। बादरायणने स्वयं उपनिषद्के भिन्न-भिन्न ऋषियोंके मतभेदोंको हटाकर सर्व-समन्वय करना चाहा था, किन्तु उपनिषद्में मतभेदके काफी बीज थे, जिसके कारण अनुयायियोंने गुरुकी सर्वसमन्वय नीतिको ठुकरा दिया, और आज वेदान्तके भिन्न भिन्न सम्प्रदायोंमें उससे कहीं जबर्दस्त मतभेद है, जितना कि रैक्व, आरुणि या याज्ञवल्क्यमें हमने देखा है। यहाँ ब्रह्म, जगत्, जीव आदिके बारेमें हम बादरायणके अपने विचार देते हैं, जिससे पता लगेगा, कि उनके सिद्धान्तोंके सबसे समीप यदि किसीका वेदान्त है, तो वह है रामानुजका।

(१) **ब्रह्म उपादान-कारण**—"जगत्का जन्म आदि जिससे है"[1] इस सूत्रसे ब्रह्मके कर्म—सृष्टिका उत्पादन धारण और विनाशन—को बतलाया है, साथही अगले सूत्रोंमें उपनिषद्के वाक्योंकी सहायतासे सूत्रकारने यह भी बतलाना चाहा, कि जैसे मिट्टी घड़े आदिका उपादान कारण है, वैसे ही विश्वका (निमित्त ही नहीं उपादान-) कारण भी ब्रह्म है। यहाँ प्रश्न हो सकता है—ब्रह्म, चेतन, शुद्ध, ईश्वर, स्वभाववाला है, जब कि जगत् अचेतन, अशुद्ध, अनीश्वर (पराधीन) है, फिर कारणसे

---

१. वे० सू० १।१।२

कार्य इतना विलक्षण (=अ-समान) स्वभाववाला क्यों ? इसका समाधान करते हुए बादरायण कहते हैं[1]—(कारणसे कार्यका विलक्षण होना) देखा जाता है। मक्खियाँ या तितलियाँ अपने अंडोंसे जिन कीड़ोंको पैदा करती हैं, वह अपनी मातृव्यक्तिसे बिलकुल ही विलक्षण होते हैं, और इन कीड़ोंसे जो फिर मक्खी या तितली पैदा होती हैं, वह अपने मातृस्थानीय कीड़ोंसे विलक्षण होती हैं। (देखिये वैज्ञानिक भौतिकवादका गुणात्मक-परिवर्तन कैसे स्वीकारा जा रहा है!) सृष्टिसे पहिले उसका "असद् होना जो कहा है वह सर्वथा अ-भावके अर्थमें नहीं है, बल्कि जिस रूपमें कार्य-रूप जगत् है, उसका प्रतिषेध करके कार्यसे कारणकी विलक्षणताको ही यह पुष्ट करता है। उपादानकारण माननेपर कार्य (जगत्) की अशुद्धता, परवशता आदिके ब्रह्मपर लागू होनेका भय नहीं है, क्योंकि उसका दृष्टान्त यह हमारा शरीर मौजूद है—यहाँ शरीरके दोषसे आत्मा लिप्त नहीं है, इसी तरह जगत्के दोषसे उसका शारीरक (=आत्मा) लिप्त नहीं होगा। ब्रह्मसे भिन्न प्रधानको कारण माननेसे और भी दोष उठ खड़े होंगे।—प्रधान जड़ है; पुरुष बिलकुल निष्क्रिय है; फिर प्रधान, पुरुषका न योग हो सकता है, और न उससे सृष्टि ही उत्पन्न हो सकती है। तर्कसे हम किसी एक निश्चयपर नहीं पहुँच सकते, तर्क एक दूसरेको खंडित करते रहते हैं, इसलिये उपनिषद्के वचनको स्वीकार कर ब्रह्मको जगत्का उपादान-कारण मान लेना ही ठीक है।

ब्रह्मसे जगत् भिन्न नहीं है, यह उद्दालक आरुणिके,[2] "मिट्टी ही सच है, (घडा आदि तो) बात कहनेके लिए नाम हैं"[3] इस वचनसे स्पष्ट है; क्योंकि (जिस तरह मिट्टीके होनेपर ही घड़ा मिलता है, वैसे ही ब्रह्मके) होनेपर ही (जगत्) प्राप्त होता है; और कार्य के कारण होनेसे भी ब्रह्मसे जगत् भिन्न नहीं। जैसे (सूत) पटसे (भिन्न नहीं) वैसे ही ब्रह्म जगत्से

१. वे० सू० २।१।६-७, ९-१२ भावार्थ।
२. वे० सू० २।१।१५-२० भावार्थ। ३. छां० ६।१।४

भिन्न नहीं। जैसे (वही वायु) प्राण अपान आदि कितने ही रूपोंमें देखा जाता है, वैसे ही ब्रह्म भी जगत्‌के नाना रूपोंमें दिखाई पड़ता है।

जगत्‌को ब्रह्मसे अभिन्न कहते हुए जीवको भी वैसा ही कहना पड़ेगा, फिर यदि जीव ब्रह्म है, तो अपनेको बंधनमें डालकर वह स्वयं क्यों अपने हितका न करनेवाला हो गया ? यह प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म जीव भर ही नहीं उससे अधिक भी है, यह भेद,करके बतलाया[1] गया है।—"जो आत्मामें रहने भी आत्मासे भिन्न है, जिसे आत्मा नहीं जानता, जिसका कि आत्मा शरीर है।"[2] पत्थर आदि (भौतिक पदार्थों) में उस (=ब्रह्म) के विशेष गुण सम्भव नहीं, वैसे ही जीवमें भी वह सम्भव नहीं है। इसलिए जहाँ जीव जगत् से ब्रह्मके अनन्य होनेकी बात कही गई है, वहाँ आत्मा और आत्मीय (=शरीर) भावको लेकर ही समझना चाहिए। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ब्रह्म जगत् की सृष्टि करने में साधनोंका मुहताज नहीं है, बल्कि जैसे दूध स्वयं दही रूपमें बदल सकता है, वैसे ही ब्रह्म भी अपने संकल्प (=कामना) मात्र से जगत्‌की सृष्टि कर सकता है, देव आदि अपने-अपने लोकोंमें ऐसा करते हैं, यह शास्त्रसे मालूम है।

प्रश्न हो सकता है, ब्रह्म तो एक अखंड पदार्थ है, यदि वह जगत्‌के रूपमें परिणत होता है, तो संपूर्ण शरीरसे परिणत होगा, अन्यथा उसे अखंड नहीं कहा जा सकता। किन्तु इसका उत्तर यह है कि उस परमात्मा में ऐसी बहुत सी विचित्र शक्तियाँ हैं, जिन्हें कि श्रुति हमें बतलाती है। उसी विचित्र शक्तिसे यह सब संभव है और इतना होनेपर भी वह निर्विकार रहता है।

(२) सृष्टिकर्त्ता[3]—ब्रह्म स्रष्टा (=जन्मादि कर्त्ता) कहा गया है; किन्तु सवाल होता है, उस नित्य मुक्त तृप्त ब्रह्मको सृष्टि करनेका प्रयोजन क्या है ? उत्तर है—लोकमें जैसे अपेक्षाकृत "नित्य मुक्त तृप्त"

---

१ वे० सू० २।१।२१-२१ २. बृह० ५।७।२२।३१ भाष्य।
३. वे० सू० २।१।३२-३६ भाष्य।

महाराजा भी लीला (=खेल) मात्रके लिए गेंद आदि खेलते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी सृष्टिको लीलाके लिए करता है। जगत्‌की विषमता या क्रूरताको देखकर ब्रह्मपर आक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्म तो जीवोंके कर्मकी अपेक्षा से वैसा जगत् बनाता है, और यह कर्म अनादि कालसे चला आया है, इसलिए जगत्‌की सृष्टि भी अनादिकाल से जारी है। प्रधान या परमाणुको जगत्‌का कारण मानकर जो बातें देखी जाती हैं, वह अधिक पूरे निर्दोष रूपमे सिद्ध हो सकती है, यदि ब्रह्मको ही एकमात्र निमित्त-उपादानकारण माना जाये।

इस तरह बादरायण जगत्, जीव, ब्रह्मको एक ऐसा शरीर मानते हैं, जो तीनोसे मिलकर पूर्ण होता है, और जो सारा मिलकर सजीव सशरीर ब्रह्म ही नहीं है, बल्कि जिसमे एक "अवयव"के दोष उस अखंड ब्रह्मपर लागू नहीं होते। कैसे? इसका जो उत्तर बादरायणने किया है, वह बिलकुल असन्तोषजनक है, तथा उसका आधार शब्द छोड़कर दूसरा प्रमाण नहीं है।

(३) **जगत्**—जगत् ब्रह्मका शरीर है, जगत्‌का उपादानकारण ब्रह्म है, दोनोमे विलक्षणता है, किन्तु कार्य कारणकी यह बिलक्षणता बादरायण स्वीकार करते है, यह बतला चुके है। बादरायणने कहीं भी जगत्‌को माया या काल्पनिक नहीं माना है, और न उनके दर्शनसे इसकी गंध भी मिलती है कि "ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है।"[1]

किन्तु जगत् उत्पत्तिमान् है, पृथिवी, जल, तेज, वायु ही नहीं आकाश भी उत्पत्तिमान् है। बादरायण दूसरे दर्शनोंकी भाँति आकाशको उत्पत्तिरहित नहीं मानते, इसे उन्होंने "उसी आत्मा से आकाश पैदा हुआ"[2] आदि उपनिषद्-वाक्योंमे सिद्ध किया है। आकाशकी भाँति दूसरे महाभूत—पृथिवी, जल,[3] तेज, वायु तथा इन्द्रियाँ और मन भी उत्पन्न हैं, और उनका कारण ब्रह्म है।

---

१. "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।" २. तैत्तिरीय २।१

३. वे० सू० २।३।१-१७

(४) जीव (क, ख) नित्य और चेतन—जगत् ब्रह्मका शरीर है वैसे ही जीव भी ब्रह्मका शरीर है, ब्रह्म दोनोंका ही अन्तर्यामी आत्मा है—याज्ञवल्क्यका यह सिद्धान्त[1] बादरायणके ब्रह्मवादका मौलिक आधार मालूम होता है, साथ ही वह जगत्को ब्रह्मसे उत्पन्न मानते हैं, यद्यपि उत्पन्नका अर्थ वह माया या रस्सीमें सांप जैसा भ्रम नहीं मानते। ब्रह्म और जगत्के अतिरिक्त एक तीसरी वस्तु भी है, जिसकी सत्ताको वह स्वीकार करते हैं, वह है जीवात्मा जो कि संख्यामें अनेक है। इनमें ब्रह्म स्वरूपसे ही अनादि कूटस्थ नित्य है। जगत अनादि है क्योंकि जिन कर्मोंकी अपेक्षासे ब्रह्म लीलाके लिए उसे बनाता है, वह अनादि है। जगत् स्वरूपसे नहीं प्रवाहसे अनादि है, इसीको बतलाते हुए सूत्रकारने कहा[2] है —'श्रुतिसे आत्मा (पृथिवी आदिकी भाँति उत्पत्तिमान्) नहीं (सिद्ध होता), बल्कि उनसे (उसका) नित्य होना (पाया) जाता है।' '(वह) चेतन न जन्मता है न मरता है।'[3] "नित्यों में (जीवनोंमें वह ब्रह्म) नित्य है।"[4]—आदि बहुतसे उपनिषद्-वाक्य इस बातके प्रमाण हैं।"[5] आत्मा ज्ञ (—चेतन) है।

(ग) अणु-स्वरूप आत्मा—जीवके शरीर छोड़कर शरीरान्तर लोकान्तरमें जानेकी बातसे उसका अणु (=सूक्ष्म) रूप होना सिद्ध होता है। "यह आत्मा अणु है"[6] यह स्वयं श्रुतिने कहा है। श्रुति (=उपनिषद्) में यदि कहीं महान्‌का शब्द आया है, तो वह जीवात्माके लिए नहीं परमात्मा (=ब्रह्म) के लिए है। अणु तथा हृदयमें अवस्थित होते भी आत्मा चन्दन या प्रकाशकी भाँति सारे देहमें अपनी चेतनासे व्याप्त कर सकता है। "जैसे गंध (अपने द्रव्य पृथिवीका गुण होते भी उससे भिन्न है, वैसे ही ज्ञान भी आत्मासे) भिन्न है।' कहीं-कहीं यदि आत्माको ज्ञान या विज्ञान कहा

---

१. बृह० ३।७।३-२३ २. बे० सू० २।३।१८ ३. कठ २।१८
४. श्वेताश्वतर ६।१३ ५. बे० सू० २।३।१९-३२ भावार्थ।
६. मुंडक ३।१।९

गया है, तो इसलिए कि ज्ञान आत्माका सारभूत गुण है, और इसलिए भी कि जहाँ जहाँ आत्मा है, वहाँ विज्ञान (=ज्ञान) जरूर रहता है। यदि कभी विज्ञान नही दीख पड़ता, तो मौजूद होते भी बाल्यावस्थामें जैसे (शिशुमें) पुरुषत्व नहीं प्रकट होता, वैसे समझना चाहिए। ज्ञान शरीरके भीतर तक ही रहता है, इससे भी आत्मा अणु (=एक-देशी) सिद्ध होता है।

(घ) कर्त्ता आत्मा[1]—आत्मा कर्त्ता है, इसके प्रमाण श्रुति[2] में भरे पड़े हैं। और उसके कर्त्ता न होने पर भोक्ता मानना भी गलत होगा, फिर (सांख्य-योग-सम्मत) समाधिकी क्या जरूरत ? आत्माको कर्त्ता माननेपर उसे किसी वक्त क्रिया करते न देखनेमे कोई दोष नहीं, बढ़ईमे अपने काम करनेकी (=कर्तृत्व) शक्ति है, किन्तु वह किसी वक्त उसको इस्तेमाल करता है, किसी वक्त न इस्तेमाल कर चुप बैठा रहता है। जीवकी यह कर्तृत्व शक्ति परमात्मासे मिली है, यह श्रुतिसे[3] सिद्ध है। शक्तिके ब्रह्मसे मिलनेपर भी चूँकि जीवके किए प्रयत्नकी अपेक्षासे वह कार्यपरायण होती है, इसलिए पुण्य-पापके विधि-निषेध फजूल नहीं, और न जीवको बेकसूर दड भोगनेकी बात उठ सकती है।

(ङ) ब्रह्मका अंश जीव है[4]—जीवात्मा ब्रह्मका अश है, यह उपनिषद्-सम्मत विचार बादरायणको भी स्वीकृत है। प्रश्न हो सकता है, शुद्ध ब्रह्मका अश होनेसे जीव भी शुद्ध हुआ, फिर उसके पुण्य-पापके सबधमे विधि-निषेधकी क्या आवश्यकता ? (बादरायण छुआछूत जात-पाँतके कट्टर पक्षपाती हैं, इस बारेमे उन्हे वेदान्त कुछ भी सिखलानेमे असमर्थ है,) इसीलिए वह समाधान करते हैं, कि देह-संबधसे विधि-निषेध की जरूरत होती है, जैसे आगके एक होनेपर भी अग्निहोत्री ब्राह्मणके घरकी आग ग्राह्य है और श्मशानकी त्याज्य। जीव ब्रह्मका अश है, साथ ही अणु भी है, इसलिये एक जीवके भोगके दूसरे में मिल जानेका डर

---

१. वे० सू० २।३।३३-४१ २. बृह० ४।१।१८; तैत्ति० २।५।१
३. बृह० ३।७।२२ ४. वे० सू० २।३।४२-४८

नहीं है, क्योंकि प्रत्येक जीव एक दूसरेसे भिन्न है। ·

(च) जीव ब्रह्म नहीं है—यद्यपि शरीर शरीरी भावसे बादरायण जीवको ब्रह्मके अन्तर्गत उसका अभिन्न अंश मानते हैं, किन्तु जीव और ब्रह्मके स्वरूपमें भेदको साफ रखना चाहते हैं।[1] और "(जीव तथा ब्रह्मके)" भेदको (उपनिषदमें) कहनेसे (दोनों एक नहीं[2] हैं)।" इस सूत्र को बादरायणने पहिले अध्यायमें हो तीन बार दुहराया है।" "भेदके कहनेसे (ब्रह्म जीवसे) अधिक है"[3] भी कहा है, और अन्तमें[4] मुक्त होनेपर भी जगत् बनाने आदिकी बात छोड़ जीव और ब्रह्ममें सिर्फ भोग भरकी समानता होती है, कह कर वह ब्रह्म और जीवकी एकताको किसी अवस्थामें संभव नहीं मानते।

(छ) जीवके साधन—अणु-परिमाणवाले जीवके क्रिया और ज्ञानके साधन ग्यारह इन्द्रियाँ हैं[5]—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, त्वक्—पाँच ज्ञान-इन्द्रिय; वाणी, हाथ, पैर, मल-इन्द्रिय, मूत्र-इन्द्रिय—पाँच कर्म-इन्द्रिय और ग्यारहवाँ मन। ये सभी इन्द्रिय उत्पत्तिमान (=अनित्य) और (=एकदेशी) हैं।[5]

इन ग्यारह इन्द्रियोंके अतिरिक्त प्राण (=श्रेष्ठ) भी जीवके साधनोंमें है, और वह भी अनित्य तथा अणु है।[6]

(ज) जीवकी अवस्थायें[7]—स्वप्न, सुषुप्ति, जागृत, मूर्छा जीवकी भिन्न-भिन्न अवस्थायें हैं। स्वप्नकी वस्तुयें माया मात्र हैं। स्वप्न ब्रह्मके संकल्पसे होता है, तभी तो स्वप्नसे अच्छी बुरी घटनाओं की पूर्व-सूचना मिलती है। स्वप्नका अभाव सुषुप्तिमें होता है। बातोंकी अनुस्मृतिसे सिद्ध है, कि सुषुप्तिके बाद जागनेवाला पहिला ही आत्मा होता है। मूर्छा आधा मरण है।

---

१. बे० सू० १।१।८; १।१।२२; १।३।४ २. बे० सू० २।१।२२
३. बे० सू० ४।४।१७, २१ ४. वहीं २।४।४-५ ५. वहीं २।४।१; २।४।६ ६. वहीं २।४।७ ७. बे० सू० ३।२।१-१०

(ग) कर्म—पहिले बतला चुके है,[1] कि जगत् बनानेमे ब्रह्माको भी जीवके कर्मकी अपेक्षा पड़ती है। वस्तुत जगत्मे—मानव समाजमे—जो विषमता देखी जा रही, जिस तरह हजार मे ९९० मनुष्य श्रम करते करते भूखे मरते है, और १० विना काम किये दूसरेकी कमाईमे मौज करते है, जिनको ही देखकर पुरोहितोने देवलोककी कल्पना की। फिर प्राणि-जगत्—मनुष्यसे लेकर सूक्ष्मतम कीटो तक—मे जिस तरहका भीषण सघार मचा हुआ है, वह जगत् के रचयिता ब्रह्माको भारी हृदयहीन, क्रूर ही साबित करेगा, इससे बचनेके लिए उपनिषद्ने (पूर्वजन्मके) कर्मवाले सिद्धान्तको निकाला। समाजकी तत्कालीन अवस्था—शोषक और शोषित, दास और स्वामी प्रथा—के जबर्दस्त पोषक बादरायणने उसे दुहरा दिया। कर्म तो एक समय मे किए जाते हैं, फिर उससे पहिले जगत कैसे? इसके उत्तर मे कह दिया,[2] कर्म अनादि है।

(घ) पुनर्जन्म—पुनर्जन्मके बारेमे भी बादरायणने उपनिषद्के विचारोको सुव्यवस्थित रूपसे एकत्रित किया है।[3] प्रवाहण जैवलिके[4] "पानी के पुरुष रूप धारण करने" के उपदेशोंको सामने रख बादरायण कहते है—जब जीव शरीर छोडता है, तो सूक्ष्म भूतों (=सूक्ष्म शरीर) के साथ जाता है। कृत कर्मोंके भोगके समाप्त हो जानेपर, वह कुछ बचे अनुशय (-कर्म) के साथ लौटता है।—बादरायणके पिता बादरिके मतसे उपनिषद् मे आये चरण[5] शब्दसे सुकृत दुष्कृत अभिप्रेत है, जिसके साथ कि परलोकसे लौटा पुरुष इस लोक मे फिरसे जीवन आरम्भ करता है। चन्द्रलोक वही जाते है, जिन्होंने कि पुण्य किया है। नये शरीरमें आनेके लिए चन्द्रमासे मेघ, जल, अन्न आदिका जो रास्ता उपनिषद्[6] ने बतलाया है, उसमे देरी नही होती। जिन धान आदि अनाजोंके साथ हो जीव मातृगर्भ तक पहुँचता है, उनमे वह स्वयं नही दूसरे जीवके अधिष्ठाता होते समय ऐसा

---

१. वही २।१।३४ २. वे० सू० २।१।३४,३५ ३. वही ३।१।१-२७
४. छान्दोग्य ५।३।३ ५. छां० ६।१०।७ ६. छां० ५।१०।६

करता है। उस अनाजके खानेके बाद फिर रज-वीर्यका योनिमें संयोग होता है, जिसके बाद शरीर बनता है।

(५) **मुक्ति**[1]—ब्रह्मको प्राप्त हो जीवके अपने रूपमें प्रकट होनेको मुक्ति कहते हैं। जीवका अपना स्वरूप अविद्यासे ढंका रहता है, जिसके खोलने के लिए उपनिषद्-विद्या की जरूरत पड़ती है।

(क) **मुक्तिके साधन**—बादरायण **विद्या** (=ब्रह्मज्ञान) को मुक्तिका खास साधन मानते हैं, जिसमें कर्म भी सहायक है।

(a) **ब्रह्म-विद्या**—उपनिषद्के भिन्न भिन्न ऋषियोंने ब्रह्मको सत्, उद्गीथ, प्राण, भूमा, पुरुष, दहर, वैश्वानर, आनन्दमय, अक्षर, मधु, आदिके तौर पर ज्ञान द्वारा उपासना करनेकी बात कही है, इन्हींके नामपर इनके बारेमें किए गए उपदेश सद्-विद्या, उद्गीथ-विद्या, प्राण-विद्या आदि नामोंसे पुकारे जाते हैं। बादरायण इसी (=विद्या) से **पुरुषार्थ** (=मोक्ष)-की प्राप्ति मानते हैं[2]। जैमिनि पुरुषार्थ (=स्वर्ग) में कर्मकी प्रधानता मानते हैं और विद्याको **अर्थवाद**,[3] इसके लिए वह अश्वपति कैकय जैसे ब्रह्मवेत्ता[4] का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि ब्रह्मवेत्ताओंका यज्ञ करनेका आधार भी देखा जाता है। बादरायण जैमिनिसे मतभेद प्रकट करते हुए कहते हैं[5]—(स्वर्गसे कहीं) अधिक (ब्रह्मके) उपदेशसे (=विद्यासे ही) वैसा (मोक्ष मिलता है)। ब्रह्मवेत्ताके लिए यागादि कर्म करना सर्वत्र नहीं देखा जाता। कोई कोई उपनिषद्के ऋषि गृहस्थ आदि कर्मकाण्डको ऐच्छिक भी बतलाते हैं[6]। और कुछ तो कर्मके क्षयको भी बतलाते हैं[7] संन्यास (=ऊर्ध्वरेता) आश्रम भी है, जिसमें कर्मकांड नहीं है, तो भी विद्या (=ब्रह्मज्ञान) प्रयुक्त होती है। जैमिनि जरूर ऐसे आश्रमोंको

१. वे० सू० ४।४।१ २. वे० सू ३।४।१
३. वे० सू ३।४।२-७ और मीमांसा-सूत्र ४।३।१
४. छां० ५।११।५ ५. वे सू० ३।४।८-२० ६. बृह० ६।४।१२
७. मुंडक २।२।८

मानने से इन्कार करते हैं, किन्तु बादरायण इन आश्रमों को भी श्रुतिपादित होनेसे अनुष्ठेय स्वीकार करते हैं।

विद्या—ब्रह्मज्ञानसे ब्रह्म-साक्षात्कार-रूपी ब्रह्म-उपासनासे जीवको अपने स्वरूपमें अवस्थित-रूपी मुक्ति होती है, यह कह चुके। लेकिन सद्-उद्गीथ-, प्राण-आदि विद्यायें अनेक हैं, इसलिए भ्रम हो सकता है, कि इनके उपासनाके विषय (=उपास्य) भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं। **बादरायण** इसका समाधान करते हुए सभी विद्याओंको एक ब्रह्मपरक मानते हैं।[1]

(b) **कर्म**—विद्या (=ब्रह्मज्ञान) की प्रधानताको मानते हुए भी **बादरायण** यज्ञ आदि कर्मकांडको कितने ही उपनिषद्के ऋषियोंकी भाँति तुच्छ नहीं समझते बल्कि कर्मवाले गृहस्थ आदि आश्रमोंमें वह अग्निहोत्र आदि सारे कर्मोंकी विद्या (=ब्रह्मज्ञान)में जरूरत समझते हैं[2], ज्ञानीको शम-दम आदिसे युक्त भी होना चाहिए। कर्म ठीक है, किन्तु ब्रह्मविद्याके साथ वह बलवत्तर होता है।[3]

यज्ञ-याग आदि इष्ट कर्म ही नहीं खानपान संबंधी छूतछातके नियमोंसे भी बादरायण ब्रह्मवादीको मुक्त करनेके लिए तैयार नहीं हैं, हाँ, प्राणका भय हो, तो उषस्ति चाक्रायणकी भाँति सबके (हाथके) अन्नको खानेकी अनुमति देते हैं, किन्तु जानबूझ कर करनेकी नहीं।[4] आश्रम (=गृहस्थ आदि) के कर्त्तव्य (=धर्म)को ब्रह्मज्ञानी के लिए भी ब्रह्मविद्याके सह-कारीके तौरपर कर्त्तव्य मानते हैं।[5] हाँ वह आपत्कालमें नियमों को शिथिल करनेके लिए तैयार हैं, किन्तु आश्रमहीन रहने से आश्रममें रहनेको बेह-तर बतलाते हैं।[6]

---

१. वे० सू० ३।३।१-४ २. वे० सू० ३।४।२६-२७; बृह० ६।४।२२ "तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।"
३. वे० सू० ४।१।१८ ४. वे० सू० ३।४।२८-३१
५. वहीं ३।४।३२-३५ ६. वहीं ३।४।३९

(c) उपासनाके ढंग—भिन्न-भिन्न विद्याओंसे ब्रह्मकी उपासना किस तरह की जाये, यह उपनिषद्के प्रकरण में हम बतला चुके हैं। आत्मामें ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिए, ब्रह्मसे भिन्न पदार्थों (=प्रतीकों—मूर्ति आदि) मे ब्रह्मकी उपासना नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वह (=प्रतीक) ब्रह्म नहीं है।

आसनसे बैठकर, शरीरको अचल रख ध्यानके साथ जहाँ चित्तकी एकाग्रता हो, वहाँ ब्रह्मोपासना करनी चाहिए।[1]

विद्या (=ब्रह्मोपासना) की आवृत्ति यावज्जीवन करते रहना चाहिए।[2]

(ख) मुक्तकी अन्तिम यात्रा—ब्रह्मविद्याके प्राप्त हो जानेपर भोगोन्मुख न हुए पहिले और पीछे के पाप-पुण्य विनष्ट हो जाते हैं; और वह ब्रह्मवेत्ताको नहीं लगते।[3] किन्तु जो पुण्य-पाप भोगोन्मुख (=प्रारब्ध) हो गए हैं, उन्हें भोगकर मोक्षको प्राप्त करना होता है।[4] इस तरह सपूर्ण कर्मराशिको नष्ट कर मुक्त जीव निम्न क्रमसे शरीर छोड़ता है[5]—वाणी मनमे लीन होती है, मन प्राणमे, प्राण जीवमें, और वह महाभूतोंमे। इस साधारण गतिसे मुक्तिको गतिमें विशेषता यह है[6]—ब्रह्मविद्याके सामर्थ्यसे सौ से ऊपर संख्याको नाड़ियोंमेंसे मूर्धावाली नाड़ी द्वारा जीव अपने आसन हृदयको छोड़ निकलता है, फिर सूर्य-किरणका अनुसरण करते हुए आगे प्रस्थान करता है। चाहे रात हो या दक्षिणायन, किसी वक्त मरनेपर मुक्तपुरुष की मुक्तिमे बाधा नहीं।

मुक्त पुरुषको मरनेके बाद एक दूरदेशकी यात्रा करनी पड़ती है, यह उपनिषद्में हम देख आए हैं। उपनिषद्की बिखरी सामग्रीको जमा करके बादरायणने खगोलकी कल्पना की है। क्रमशः अर्चि (=किरण)-दिन-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-संवत्सर-सूर्य-चन्द्र-विद्युत् (=बिजली) तक मुक्त पुरुष

---

१. वे० सू० ४।१।७-११   २. वहीं ४।१।१,१२
३. वहीं ४।१।१३-१५   ४. वहीं ४।१।१९
५. वहीं ४।२।१-५,१४   ६. वहीं ४।२। १६-१९

जाता है। वहाँ अ-मानव पुरुष आ उस मुक्त पुरुषको ब्रह्मके पास भेजता है।[1] बृहदारण्यकमें[2] कहा है "जब पुरुष इस लोकसे प्रयाण करता है तो वायुको प्राप्त करता है। उसे वह वहाँ छोड़ ऊपर चढ़ता है और सूर्यमें पहुँचता है।" दोनों तरहके पाठोंको ठीकसे लगाते बादरायणने संवत्सरसे वायुमें जाना बतलाया।[3] इसी तरह कौषीतकि[4] के पाठको जोड़ते हुए विद्युत्लोकसे ऊपर वरुण लोकमें जानेकी बात कही।[5] इस प्रकार उपरोक्त रास्ता हुआ—अर्चि-दिन-शुक्लपक्ष-उत्तरायण-संवत्सर-वायु-सूर्य-चन्द्र-वरुण-(अमानव पुरुष-) ब्रह्मलोक। गोया बादरायण अपनेसे हजार वर्ष पहिलेके ज्योतिष-ज्ञानको करीब करीब अक्षुण्ण मानते हुए, खगोलमें वायुलोकसे सूर्य उससे आगे चन्द्र उससे आगे वरुण, उससे आगे ब्रह्मलोकको मानते है। ब्रह्म और ब्रह्मलोक तकका ज्ञान इन ऋषियों के बायें हाथ का खेल था, मगर वास्तविक विश्वके ज्ञानमें बेचारोंकी सर्वज्ञता पिछड़ जाती थी।

(ग) **मुक्तका वैभव**—मुक्त जीव ब्रह्मसे जब प्राप्त होता है, तो उससे जुदा हुए बिना रहता है।[6] उस वक्तके उस जीवके रूपके बारे मे जैमिनिका कहना है कि वह ब्रह्मवाले रूपके साथ होता है, औडुलोमि आचार्य कहते है कि वह चैतन्यमात्र स्वरूपवाला होता है। बादरायण इन दोनों मतोंमे विरोध नहीं पाते।

मुक्तकी भोग-सामग्री उसके संकल्पमात्रसे आ उपस्थित होती है, इसलिए वह अपना स्वामी आप है।[5]

ब्रह्मके[7] पास रहते मुक्तका शरीर होता है या नहीं?—इसके बारेमें बादरि 'नहीं' कहते है, जैमिनि उसका सद्भाव मानते हैं, बादरायण कहते है—शरीर नहीं होता और संकल्प करने ही वह आ मौजूद भी होता है। शरीरके अभावमे स्वप्नकी भाँति वह ईश्वर-प्रदत्त भोगोंको भोगता है और

१. छां० ४।१५।३ २. बृह० ७।१०।१
३. वे० सू० ४।३।२ ४. कौषी० १।३ ५. वे० सू० ४।४।४-७
६ वे० सू० ४।४।८-९ ७. वहीं ४।४।१०-१४

शरीरके मौजूद होनेपर जाग्रत अवस्थाकी तरह।

मुक्त जीव फिर जन्म आदि में नहीं पड़ता, ब्रह्मके पाससे फिर उसका लौटना नहीं होता।[1]

मुक्त ब्रह्मकी भाँति सृष्टि नहीं बना सकता, उसकी ब्रह्मसे सिर्फ भोगकी समानता होती है, यह बतला चुके हैं।

(६) **वेद नित्य हैं**—यद्यपि बादरायण जैमिनिकी भाँति वेदको अपौरुषेय (किसी भी पुरुष—जीव या ब्रह्म—द्वारा न बनाया) नहीं मानते, किन्तु वेदको नित्य मनवानेकी उनको भी बहुत फिक्र है। वह समझते है, कि यदि वेद भी दूसरे शास्त्रोंकी भाँति अनित्य साबित हो गए, तो युक्ति-तर्कके बलपर सांख्य, वैशेषिक, न्याय, बौद्ध जैसे तार्किकोंके सामने अपने पक्षको नहीं साबित कर सकेंगे। ब्रह्मकी उपासना करनेके लिए मनुष्यके वास्ते अपने हृदयमें अंगुष्ठ मात्र ब्रह्मको उपनिषद्में बतलाया गया।[2] इसी प्रकरणमें देवताओंकी भी चर्चा चल गई[3], और बादरायणने कहा—मनुष्यके ऊपरवाले देवता भी ब्रह्मकी उपासना करते है, क्योंकि यह (बिलकुल) संभव है। इस प्रकार तो देवता साकार साबित होंगे फिर एक ही इन्द्र एक ही समय अनेक यज्ञोंमें कैसे उपस्थित हो सकता है? उत्तर है—वह अनेक रूप धारण कर सकता है। इन्द्र जैसे शरीरधारी अनित्य देवताका नाम वेदमें आनेसे वेद भी अनित्य होगा, यह शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन्द्रसे वेदने इस शब्दको नहीं लिया, बल्कि वेदके शब्दसे इन्द्रको यह नाम मिला; इसीलिए वेद नित्य है। इन्द्र आदिके एक ही नाम और रूपवाला होनेसे उनकी बार-बार आवृत्ति होते रहनेसे भी वेदकी नित्यतामें कोई क्षति नहीं।

(७) **शूद्रोंपर अत्याचार**—बादरायणके छूआछूतके पक्षपातकी बात अभी हम बतला आए हैं[4]। वर्णाश्रम धर्मपर उनका बहुत जोर था।

---

१. वे० सू० ४।४।१९, २२　　२. वे० सू० १।३।२४
३. वहीं १।३।२५-२९　　४. वहीं ३।४।२८-३१

ऐसे व्यक्तिसे शूद्रोके सबध मे उदार विचारकी हम आशा नही रख सकते थे। वादरायण ब्रह्मविद्यापर कलम उठा रहे थे। वह याज्ञवल्क्यके अन्त-र्यामी ब्रह्म, शारीरक ब्रह्मके दार्शनिक विचारका प्रचार करना चाह रहे थे, ऐसी अवस्थामे भारतीय मानवोमे नीच समझेजानेवालोंके प्रति अधिक सहानुभूतिकी आशा की जा सकती थी। किन्तु नही, वादरायण जैसे दार्शनिक यह प्रयत्न एक खास मतलबमे कर रहे थे।

(क) **बादरायणकी दुनिया**—भारतमे आर्य आये, उन्होने पहिलेके निवासियोको पराजित किया। फिर रग और परतन्त्रताके बहानेसे उन्हें दबाया और समाजमे नीचा स्थान स्वीकार करनेके लिए मजबूर किया। ज्यादा समय तक रह जानेपर रग-मिश्रण (=वर्णसकरता) बढने लगा। आर्योंके भीतरी द्वद्वने अनार्योंके हितैषी पैदा किए। बुद्ध जैसे दार्शनिको और धार्मिक नेताओने इसका कुछ समर्थन किया। एक हद तक वर्णभेद-पर प्रहार हुआ—कमसे कम प्रभुता और सपत्तिके मालिक हो जानेवालेके लिए वह कडाई तेजीसे दूर होने लगी। ई० पू० चौथी सदीसे यवन, शक, जट्ट, गुर्जर, आभीर जैसी कितनी ही विदेशी गोरी जातियाँ भारतमे आकर बस गईं। उस वक्तकी भारतीय सामाजिक व्यवस्थामे उनको क्या स्थान दिया जाये—यह भारी प्रश्न था। वर्ण-व्यवस्था-विरोधियो—बौद्धो—ने अपना नुमस्वा दे उन्हे अपने वर्ग (=शोषक-शोषित)-युक्त किन्तु वर्णहीन समाजकी कल्पनाको पूरा करनेके लिए इन आगन्तुकोपर प्रभाव डालना चाहा, और उसमे कुछ सीमा तक उन्हें सिर्फ इसी बातमें सफलता हुई, कि उनमेसे कितने ही अपने को बौद्ध कहने लगे, कार्ला और नासिकके गुहा-विहारोमे दान देने लगे। किन्तु ब्राह्मण भी अपने आस-पासकी इन घटनाओको देख बिना शकित हुए नहीं रह सकते थे। उन्होंने वर्ण-सहारकोंके विरोधमे अपने वर्णप्रदायक हथियारका इस्तेमाल शुरू किया —'बौद्ध तो गोरे, सुन्दर, वीर, शासक लोगोको वर्णहीन बना चाडालो-की श्रणीमे रखना चाहते हैं, हम तो उनके उच्च वर्ण होनेको स्वीकार करते है। जो आगन्तुक क्षत्रिय जातियाँ हैं, जो कि ब्राह्मणोंके दर्शन न करनेसे

म्लेच्छ हो गई थीं, अब ब्राह्मण दर्शन हुआ, हम इन्हें संस्कारके द्वारा फिर क्षत्रिय बनाते हैं, इन्हें चांडालोंके बराबर करना ठीक नहीं।" जादू अन्तमें ब्राह्मणोंका ही जबर्दस्त निकला। एक ओर इन आगन्तुकोंको क्षत्रिय, कुछको ब्राह्मण भी बनाया गया, दूसरी ओर अपनी उच्चवर्ण-भक्तिको और पक्का साबित करनेके लिए शूद्रोंके लिए अत्याचार और अपमानकी मात्रा और बढ़ा दी। ऐसे समयके ऋषियोंमें हैं, ये प्रातःस्मरणीय वेदान्तसूत्रकार भगवान् बादरायण।[1]

(ख) प्रतिक्रियावादी वर्णका समर्थन—"रैक्वके पास भारी भेंटके साथ ब्रह्मविद्या सीखनेके लिए आनेपर जानश्रुति पौत्रायणको गाड़ीवाले रैक्वने पहिले "हटा रे शूद्र! इन सबको"[2] कहा, फिर पौत्रायणको ब्रह्म-विद्या भी बतलाई, जिससे जान पड़ता है, शूद्रको भी ब्रह्मविद्याका अधिकार है। बादरायण ब्रह्मविद्यामें शूद्रका अधिकार न मानते हुए सिद्ध करते हैं, कि पौत्रायण शूद्र नहीं था, हंसोंसे इतना दानी होनेपर भी अपने लिए अनादर, रैक्वके लिए प्रशंसाके शब्द सुनकर तथा रैक्वके पास एकसे अधिक बार दौड़नेसे पौत्रायणको शोक हुआ था, इसीलिए शोकसे दौड़नेवाला (=शुक्-द्र) इस अर्थमें रैक्वने उसे शूद्र कहा था। छांदोग्यके उस प्रकरणसे पौत्रायणके क्षत्रिय होनेका पता लगता है। उसी प्रकरणमें रैक्वके 'वायु ही संवर्ग (=मूल कारण) है' इस संवर्ग-विद्याके सीखनेवालोंमें शौनक, कापेय, अभि-प्रतारी, काक्षसेनि तथा एक ब्रह्मचारीकी बात आती है; जिनमें शौनक और ब्रह्मचारी ब्राह्मण थे, और अभिप्रतारीके क्षत्रिय सिद्ध होनेमें दूसरे प्रमाण हैं।—कापेय (=कपि-गोत्री) पुरोहित चैत्ररथको यज्ञ कराते थे,[3] और "चैत्ररथ नामक एक क्षत्रपति (=क्षत्रिय) पैदा

---

१. वे० सू० १।३।३३-३९ भाष्यार्थ।
२. छां० ४।२।५, देखो पृष्ठ ४८९ भी।
३. "एतेन वै चैत्ररथं कापेया अयाजयन्"—ताण्ड्य-ब्राह्मण २।१२।५

हुआ था,"[1]। चूँकि कापेयोंका यज्ञ-संबंधी चैत्ररथ क्षत्रिय था, और यहाँ शौनक, कापेय, अभिप्रतारी काक्षिसेनके साथ ब्रह्मविद्या सीख रहा है, इसलिए यहाँ भी पुरोहित यजमान-वंशज शौनक और अभिप्रतारी क्रमशः ब्राह्मण और क्षत्रिय है। इस तरह गाड़ीवाले रैक्वकी ब्रह्मविद्याको सीखनेवाले दो ब्राह्मणोंके अतिरिक्त तीसरा क्षत्रिय ही है, फिर पौत्रायण शूद्र होगा यह संभव नहीं। सत्यकाम जाबालके बापका ठिकाना न था, उसको कैसे हारिद्रुमत गौतमने ब्रह्मविद्या सिखाई?[2] इसका उत्तर बादरायणकी ओरसे है, वहाँ "समिधा ला, तेरा उपनयन करूँगा" कहनेसे साफ है कि हारिद्रुमतने उसे ब्राह्मण समझा, क्योंकि शूद्रको उपनयनका[3] 'अभाव (मनुने) बतलाया है"—"शूद्रको पातक नहीं उसे (उपनयन आदि) संस्कारका अधिकार नहीं।"[3] यही नहीं सत्यकामके अब्राह्मण (=शूद्र) न होनेके निर्धारणकी भी हारिद्रुमत गौतम कोशिश करते हैं—"अब्राह्मण ऐसे (साफ-साफ अपने अनिश्चित पितृत्वको) नहीं कह सकता।" इससे भी साफ है कि ब्रह्मविद्यामें शूद्र ("अब्राह्मण"?) का अधिकार नहीं। शूद्रको वेदके सुनने पढ़नेका निषेध श्रुतिमें मिलता है—"शूद्र श्मशान सा है, इसलिए उसके समीप (वेद) नहीं पढ़ना चाहिए,"[4] 'शूद्र बहुत पशु और (धन) वाला भी हो तो भी वह यज्ञ करनेका अधिकारी नहीं।"[5] यही नहीं स्मृति भी इसका निषेध करती है— उस (शूद्र)को पासमें वेद सुनते पा (पिघले) सीसे और लाखसे उसके कानको भरना चाहिए, (वेदका) पाठ करनेपर उसकी जिह्वाको काटना चाहिए, याद (=धारण) करनेपर (उसके) शरीरको

---

१. "चैत्ररथो नामैकः क्षत्रपतिरजायत।"—शतपथ-ब्राह्मण ११।५।३।१३

२. छां० ४।४।१-५, देखो पृष्ठ ३७२ ३. मनुस्मृति १०।१२६

४. "पद्यु हवा एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्"।

५. "तस्माच्छूद्रो बहुपशुरयज्ञीयः।"

काट देना चाहिए।"[1]

(ग) **बादरायणीयोंका भी वही मत**—ब्रह्मज्ञानकी फिलासफीने भी वर्ग-स्वार्थपर आधारित वर्ण-व्यवस्थाके नामसे शूद्रों (किसी समय स्वतंत्र फिर आर्य-समाज-बहिष्कृत पराजित दास और तब कितने ही बादरायणोंकी नसोंमें अपना खून तक दौड़ानेवालो) के ऊपर होते शुद्ध सामाजिक अत्याचारको नरम करनेकी तो बात ही क्या, उसे और पुष्ट किया। बादरायणके ब्रह्मज्ञानने धर्मसूत्रकर्त्ता गौतमकी कठोर आज्ञाको—नरम करना तो अलग उसे—आदर्शवाक्य बनाया। शंकरके सारे अद्वैतवादने गौतमकी इन क्रूर पंक्तियोंके एक भी वज्राक्षरको विचलित करनेकी हिम्मत न की। रामानुजके गुरु तथा परदादा-नगड़दादा-गुरु स्वयं अतिशूद्र थे, तो भी वेदान्त-भाष्य करते वक्त वह धर्मसूत्रकार गौतम, बादरायण और शंकरसे भी आगे रहनेकी कोशिश करते हैं। "शूद्रको अधिकार नहीं" इस प्रकरणके अन्तिम सूत्र[2] पर उनका भाष्य तीन सवा तीन पंक्तियोंमें समाप्त होता है, किन्तु उसके बाद ५२ पंक्तियोंके एक लच्छेदार व्याख्यानमें रामानुजने उसे वर्ण-व्यवस्था-विरोधी आदि बतला शंकरके दर्शन (मायावाद) पर आक्षेप करते हुए अपने (विशिष्टाद्वैत) दर्शनके द्वारा वास्तविक शूद्र-अनधिकार सिद्ध किया है, "जो (शंकर आदि)—(सर्व-विशेषण-रहित अद्वैत) चेतनामात्र (स्वरूपवाले) ब्रह्मको ही परमार्थ (=वास्तविक तत्व), और सब (=जीव, जगत्) को मिथ्या, और (जीवके) बंधको अ-वास्तविक ....कहते हैं"; वह "ब्रह्मज्ञानमें शूद्र आदिका अधिकार नहीं"—यह नहीं कह सकते।... तर्ककी सहायतासे प्रत्यक्ष और अनुमान (प्रमाण) से भी (उस तरहके ब्रह्मज्ञानको प्राप्तकर)....शूद्र आदि भी मुक्ति पा जायेंगे।.....इसी तरह ब्राह्मण आदिको भी ब्रह्मविद्या मिल जायेगी

१. "अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।"—गौतम-धर्मसूत्र २।१२।३

२. "स्मृतेश्च"—वे० सू० १।३।३९

फिर उपनिषद् बेचारीको तो तिलाजलि (=दत्तजलांजलि) ही दे दी गई।
....किन्तु (रामानुजकी तरह) जिनके (दर्शनमे) वेदान्त-वाक्यो द्वारा उपासनारूप (ब्रह्म-)ज्ञानको मोक्षके साधनके तौरपर माना गया है, और वह (उपासना) परब्रह्म-रूपी परमपुरुषको प्रसन्न करना है। और यह एकमात्र शास्त्र (=उपनिषत्)से ही हो सकता है। और उपासना (=ज्ञान-) =शास्त्र (=उपनिषद्) उपनयन आदि संस्कारके साथ पढे स्वाध्याय (=वेद)से उत्पन्न ज्ञानको . .ही अपने लिए उपायके तौरपर स्वीकार करता है। इस तरहकी उपासनासे प्रसन्न हो पुरुषोत्तम (=ब्रह्म) उपासनाको आत्माके स्वाभाविक वास्तविक आत्मज्ञान दे कर्मसे उत्पन्न अज्ञानको नाश करा बधसे (उसे) छुडाता है।—ऐसे मतमे पहिले कहे ढगसे शूद्र आदिका (ब्रह्मज्ञानसे) अनधिकार सिद्ध होता है।"

यह है भारतके महान् ब्रह्मज्ञानका निचोड, जिसका कि ढिंढोरा आज तक कितने ही लोग पीटते रहे है, और पीट रहे हैं, बादरायण, शकर और रामानुजकी दुहाईके साथ!

६—दूसरे दर्शनोंका खंडन

बादरायणने उपनिषद्-सिद्धान्तके समन्वय तथा विपक्षियोंके आक्षेपोंके उत्तरमे ही ज्यादा लिखा है, किन्तु साथ ही उन्होने दूसरे दर्शनोकी सैद्धान्तिक निर्बलताओको भी दिखलानेकी कोशिश की है। ऐसे दर्शनोंमे सांख्य और योग तो ऐसे है जिनके मूल कर्त्ता—कपिल—को उस वक्त तक ऋषि माना जा चुका था, इसलिए ऋषिप्रोक्त होनेसे उनके मतमें स्मृतिकी कोटिमे गिने जाते थे। पाशुपत और पांचरात्र सम्भवत आर्योंके आनेके पहिलेके भारतीय धर्मों और परपराओंकी उपज थे, इसलिए ईश्वरवादी होनेपर भी अन्-ऋषि प्रोक्त होनेसे उन्हे वैदिक आर्यक्षेत्रमें सन्मानकी दृष्टिसे नही देखा जाता था। वैशेषिक, बौद्ध और जैन अन्-ऋषि प्रोक्त तथा अनीश्वरवादी होनेसे बादरायण जैसे आस्तिकके लिए और भी घृणाकी चीज थे।

क—ब्रह्मविप्रोक्त विरोधी दर्शनोंका खंडन

(१) **सांख्य-खंडन**—कपिलके सांख्य-दर्शन और उसके प्रकृति (=प्रधान) तथा पुरुषके सिद्धान्तके बारेमें हम कह चुके हैं। उपनिषद्‌के ब्रह्मकारणवादसे सांख्यका प्रधानकारणवाद कई बातोंमें उलटा था। बादरायण कारणसे कार्यको विलक्षण मानते थे, जब कि सत्कार्यवादी सांख्य कार्य-कारणको सं-लक्षण=अभिन्न मानता था। सांख्यका पुरुष निष्क्रिय था, जब कि वेदान्तका पुरुष सक्रिय। . . सांख्यके संस्थापक कपिलको श्वेताश्वतर उपनिषद् तकने ऋषि मान लिया था, इसलिए शब्द प्रमाणको अन्धाधुन्ध माननेवाले बादरायण जैसोंके लिए भारी दिक्कत थी, ऊपरसे साख्यवाले—यदि सब नहीं तो उनकी एक शाखा अपनेको वेद माननेवाला—अतएव उपनिषद्‌के वाक्योंसे पुष्ट करनेके लिए तत्पर दीख पड़ते थे। बादरायणने यह बतलानेकी कोशिश की[1] है, कि उपनिषद् न सांख्यके प्रधान (=प्रकृति)को मानती है, और नहीं उसके निष्क्रिय पुरुषको। साथ ही सांख्य अपने दर्शनको सिर्फ शब्द-प्रमाणपर ही आधारित नहीं मानता था, वह उसके लिए युक्ति तर्क भी देता था, जिसका उत्तर देते हुए बादरायण कहते हैं[2]—

अनुमान (-सिद्ध प्रधानका मानना युक्तिसंगत) नहीं है, क्योंकि (जड़ होनेसे विश्वकी विचित्र वस्तुओं)की रचना (उससे) सम्भव नहीं है, और (न उसमें प्रधानकी) प्रवृत्ति (ही हो सकती है)। (जड़) दूध जैसे (दही बन जाता), पानी जैसे (बर्फ बन जाता है, वैसे ही बिना चेतन ब्रह्मकी सहायताके भी प्रधान विश्वको बना सकता है, यह कहना ठीक नहीं) क्योंकि वहाँ भी (बिना ब्रह्मके हम दही, हिमकी रचना सिर्फ दूध और जलसे नहीं मानते)। तृण आदि जैसे (गायके पेटमें जा दूध बन जाते हैं, वैसे ही प्रधानसे भी विचित्र विश्व बन जाता है, यह भी कहना

---

१. वे० सू० १।४।१-२२　　　२. वहीं २।२।१-९ आचार्य।

ठीक नही है) क्योकि (गायसे) अन्यत्र (तृण आदिका दूध बनना) नही (देखा जाता)। यदि (कहो—जैसे अन्धा और पगु) पुरुष (आँख और पैरसे हीन भी एक दूसरेकी सहायतासे देखने और चलनेकी क्रियाको कर सकते है, अथवा जैसे लोहा तथा चुम्बक पत्थर दोनो स्वतः निष्क्रिय होते भी एक दूसरेकी समीपतासे चल सकते हैं, वैसे ही प्रकृति और पुरुष स्वतंत्र रूपसे निष्क्रिय होते हुए भी एक दूसरेकी समीपतासे विश्व-वैचित्र्य पैदा करनेवाली क्रियाको कर सकते हैं)। (उत्तर है—) तब भी (गति सभव नही, क्योंकि प्रकृति और पुरुषकी समीपता आकस्मिक नही नित्य घटना है, फिर तो सिर्फ गति ही निरन्तर होती रहेगी, किन्तु वस्तुके निर्माणके लिए गति और गति-रोध दोनो चाहिए)। (सत्व, रज, तम, गुणोके अग तथा) अगीपन (की कमी वेशी मानने) से भी (काम नही) चल सकता (क्योकि सर्वदा पुरुषके पास उपस्थित प्रकृतिके इन तीन गुणोंमे कमी-वेशी करनेवाला कौन है, जिससे कि कभी सत्वकी अधिकतासे हल्कापन और प्रकाश प्रकट होगा, कभी रजकी अधिकतासे चलन और स्तम्भन होगा, और कभी तमकी अधिकतासे भारीपन तथा निष्क्रियता आ मौजूद होगी?)।

यदि **प्रधान** को मान भी लिया जाय, तो भी उसमे कोई मतलब नही (क्योकि पुरुष—जीव—तो स्वत निष्क्रिय निर्विकार चेतन है **प्रधान**के कार्यके कारण उसमे कोई खास बात नही होगी)। फिर साख्य-सिद्धान्त परस्पर-विरोधी भी है—वहाँ एक ओर पुरुषके मोक्षके लिए प्रकृतिका रचना-परायण होना बतलाया जाता है,[1] और दूसरी जगह यह भी कहा जाता है,[2]—न कोई बद्ध होता न मुक्त होता है न आवागमनमे पडता है।

(२) **योग-खंडन**—साख्यके प्रकृति, पुरुषमे पुरुष-विशेष ईश्वरके जोड देनेसे वह ईश्वरवादी (सेश्वर) साख्य-दर्शन हो जाता है, यह बतला

१. सांख्यकारिका ५७ २. वहीं ६२

आए हैं। बादरायणको योगके खंडनके लिए ज्यादा परिश्रमकी जरूरत न थी, क्योंकि सांख्य-सम्मत प्रधान, तथा पुरुषके विरुद्ध दी गई युक्तियाँ यहाँ काम आ सकती थी। योग ईश्वरको विश्वका उपादान-कारण (=प्रकृति) नहीं मानता था, बादरायणने[1] उपनिषद्के प्रमाणसे उसे निमित्त-उपादान-कारण सिद्ध कर दिया। ईश्वर (=ब्रह्म) जगत्के रूपमे परिणत होता है, यह उसकी विचित्र शक्तिको बतलाता है, और वह योग-सम्मत निर्विकार ईश्वर नहीं है।

प्रश्न उठता है, उपनिषद्[2] ने जिस कपिलको ऋषि कहा है, उसके प्रतिपादित साँख्यका खंडन करके हम स्मृति (=ऋषि-वचन)की अव-हेलना करते हैं। उत्तर है[3]—यदि हम उसे मानते हैं, तो दूसरी स्मृतियों (=ऋषिवाक्यों)की अवहेलना होती है। इसी उत्तरसे बादरायणने योग-दर्शनकी ओरसे उठनेवाली शंकाका भी उत्तर दे दिया है।[4]

ख—अन्-ऋषिप्रोक्त दर्शन-खंडन

पाशुपत और पाञ्चरात्र ऐसे दर्शन हैं, यह बतला चुके हैं।

(क) ईश्वरवादी दर्शन

(१) पाशुपत-खंडन—शिवका नाम पशुपति है। यद्यपि शिव वैदिक (आर्य) शब्द है, किन्तु शिव-पूजा जिस लिंग (=पुरुष-जननेन्द्रिय-चिह्न) को सामने रखकर होती है, वह मोहन्-जो-दड़ो काल (आजसे ५००० वर्ष पूर्व) के अन्-आर्योंके वक्तसे चली आती है, और एक समय था जब कि इसी लिंग (=शिश्न) पूजाके कारण अन्-आर्योंको शिश्नदेव कहकर अपमानित भी किया जाता था; किन्तु इतिहासमे एक वक्त

---

१. वे० सू० १।४।२३।२७

२. श्वेताश्वतर ५।२—"ऋषिं प्रसूतं कपिलम्"।

३. वे० सू० २।१।१

४. "एतेन योगः प्रत्युक्तः"—वे० सू० २।१।३

अपमान समझी जानेवाली बात दूसरे वक्त सम्मानकी हो जाये, यह दुर्लभ नहीं है। यही लिंग-पूजा-धर्म कालान्तरमें पाशुपत (=शैव) मतके रूपमें विकसित हुआ और उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्त भी तैयार किए। आजके शैव यद्यपि पूजामें पाशुपतोंके उत्तराधिकारी हैं, किन्तु दर्शन-में वह शंकरके मायावादी अद्वैतवादका अनुसरण करते हैं। बादरायणके समय उनका अपना एक दर्शन था, जिसके खंडनमें उन्हें चार सूत्रों[1] की रचना करनी पड़ी।

पाशुपत आजकलके आर्यसमाजियोंकी भाँति त्रैतवाद—जीव (=पशु) जगत् और ईश्वर (=पशुपति)—को मानते थे। वह कहते थे—जिनमें पशुपति जगत्‌का निमित्त कारण है, फिर वह वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मकी भाँति निमित्त और उपादान दोनों कारण नहीं है।

बादरायणने पाशुपत दर्शनपर पहिला आक्षेप यह किया कि वह *"(वेद-)सगत नहीं है"* (*=असामञ्जस्य*)। (घड़ा या घर रूपी कार्यका *जैसे कोई दृश्यमान अधिष्ठाता होता है, वैसे ही जगत्‌का भी* कोई अधिष्ठाता *है, इस तरह अनुमानसे ईश्वरकी सत्ता* सिद्ध नहीं की जा सकती। क्योंकि (*निराकार ईश्वरका*) *अधिष्ठाता* होना सिद्ध नहीं हो सकता। (*निराकार जीव*) *जैसे (इन्द्रिय शरीर आदि)* साधनों (का अधिष्ठाता है, *वैसे ही पशुपति भी है, यह कहना ठीक नहीं*। क्योंकि जीवको अधिष्ठाता *होना पड़ता है फल-)भोगादिके कारण*, (कर्म-बंधन-मुक्त पशुपतिके लिए *न फल-भोग है न उसके कारण शरीर*-धारणकी जरूरत पड़ सकती है)। और (यदि पशुपतिके भोगादिको मान लिया जाये, तो उसे) अन्तवान् *और अ-सर्वज्ञ (मानना पड़ेगा)*।

(२) **पांचरात्र-खंडन**—पाशुपत मतकी भाँति पाँचरात्र मतका भी स्रोत अन्-आर्य भारतका पुराना काल है। पाशुपतने शिव और शिवलिंगको अपना इष्ट देव माना, पाँचरात्रोंने विष्णु—भगवान्—वासुदेवको अपना

---

[1] वहीं २।२।३५-३८

इष्ट बनाया; और इसीलिए इन्हें वैष्णव और भागवत भी कहते हैं। शिवकी लिंग-मूर्ति मोहन-जो-दरो काल तक जरूर जाती है, किन्तु शिवकी मूर्ति उतनी पुरानी नहीं मिलती। वासुदेवकी मूर्तियोंकी कथा ईसा-पूर्व चौथी सदी तक तथा मूर्तियोंके प्रस्तरखंड ईसा-पूर्व तीसरी सदी तकके मिलते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी सदीमें भगवान् वासुदेवके सम्मानमें एक यूनानी (हेलियोदोर) भागवत द्वारा खड़ा किया पाषाण-स्तम्भ आज भी मिलसा (ग्वालियर राज्य) में खड़ा है।

भागवत धर्मके मूल ग्रंथको ही पंचरात्र कहते हैं, जो कि एक पुस्तक न हो कई पुस्तकोंका संग्रह है। इनमें अहिर्बुध्न्य-, पौष्कर, सात्वत, परम-संहिता जैसे कुछ ग्रंथ अब भी प्राप्य हैं। जिस तरह पाशुपतोंकी पूजा और धर्म आज शैवोंके पूजा और धर्मके रूपमें परिवर्तित मिलते हैं यद्यपि दर्शन बिलकुल नया है उसी तरह पाँचरात्र भागवत-धर्म आज के विष्णु-पूजक वैष्णव धर्मके रूपमें मौजूद है, यद्यपि वह गुप्तकाल—अपने वैभवके समय—में जितना बदला था, उससे आज कहीं ज्यादा बदला हुआ है। तो भी आजके अनेक वैष्णव मतोंमें रामानुजका वैष्णव मत अभी पंच-रात्र आगमको श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है, और एक तरह से उसका उत्तराधिकारी भी है। कैसी विडंबना है? उसी सम्प्रदायके एक महान् मारथी रामानुज बादरायणके द्वारा पाँचरात्र मतपर किए गए प्रहा-रका अनुमोदन करते हैं, और पाँचरात्र दर्शनकी जगह बादरायणके दर्शनको स्वीकार करते हैं!

पाँचरात्र दर्शनके अनुसार[1] वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, क्रमशः ब्रह्म, जीव, मन और अहंकारके नाम है।—ब्रह्म (=वासुदेव) से जीव (=संकर्षण) उत्पन्न होता है, उससे मन और उससे अहंकार। इस

---

१. "परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात् संकर्षणो नाम जीवो जायते, संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते, तस्माद् अनिरुद्धसंज्ञोऽहंकारो जायते"—परमसंहिता।

सिद्धान्तका खडन करते हुए वादरायण कहते है'—

(श्रुतिमे जीवके नित्य कहे जानेसे उसकी) उत्पत्ति सभव नही। (मन कर्त्ता जीवका करण=साधन है) और कर्त्तासे कारण नही जन्मता (इसलिए जीव=सकर्षणसे मनकी उत्पत्ति कहना गलत है)। हाँ, यदि (वासुदेवको) आदि विज्ञानके तौरपर (लिया जाये) तो (पाँचरात्रके) उस (मत)का निषेध नही। परस्पर-विरोधी (बातोंके) होनेसे भी (पाँच-रात्र दर्शन त्याज्य है)।

(ख) अनीश्वरवादी दर्शन-खंडन

कणादको यद्यपि पीछे कपिलको भांति ऋषि मान लिया गया, किन्तु वादरायणके वक्त (३०० ई०) अभी कणादको हुए इतना समय नही हुआ था कि वह ऋषि-श्रेणीमे शामिल हो गए होते। अनीश्वरवादी दर्शनोमे वैशेषिक, बौद्ध और जैन दर्शनोपर ही वादरायणने लिखा है, चार्वाक दर्शनका विरोध उस वक्त क्षीण पड गया था, इसलिए उसकी ओर ध्यान देनेकी जरूरत नही पडी।

(१) **वैशेषिक दर्शनका खंडन**—कणाद परमाणुको छै पार्श्ववाला परिमडल—गोलसा—कण मानते हैं, और कहते है कि यही छ पार्श्ववाले परमाणु दो मिलकर ह्रस्व (=छोटे) परिमाणवाले द्वयणुकको बनाते हैं। इन्ही ह्रस्व-परिमडलोके योगसे महद् (=बडे) और दीर्घ परिमाणवाली वस्तुओकी उत्पत्ति होती, तथा जगत् बनता है। वादरायण कहते है'—(वैशेषिक कारणके गुणके अनुसार कार्यके गुणकी उत्पत्ति मानता है, फिर अवयव-रहित परमाणुसे सावयव ह्रस्व द्वयणुककी उत्पत्ति संभव नही) और (महद्, दीर्घ परिमाणसे रहित) ह्रस्व तथा परिमडल ((द्वयणुक कण) से (आगे) महद् दीर्घ (परिमाण) वाले (पदार्थोंकी उत्पत्ति सभव नही)।

---

१. वे० सू० २।२।३९-४२ २. वे० सू० २।२।१०

जड़ परमाणु वस्तुओंका उत्पादन तभी कर सकते हैं, जब कि उनमें क्रिया (=गति) हो। कणादके मतसे जगत्की उत्पत्तिके लिए अदृष्ट[1] (=अज्ञात नियत)की प्रेरणासे परमाणुमे कर्म (=क्रिया) उत्पन्न होता है; जिससे दो परमाणु एक दूसरेसे संयोग कर द्व्यणुकका निर्माण करते हैं और साथ ही अपने कर्म (=क्रिया)को भी उसमें देते हैं; यही सिलसिला आगे चलता जगत्को निर्माण करता है। प्रश्न उठता है—परमाणुमें जो आदिम क्रिया (=कर्म) उत्पन्न होती है, क्या वह परमाणु (=जड़)के अपने भीतरके अदृष्टसे उत्पन्न होती है, या आत्मा (=चेतन)के भीतरसे? बादरायण कहते हैं[2]—"दोनों तरहसे भी कर्म (सभव) नही। क्योंकि अदृष्ट पूर्व-जन्मके कर्मसे उत्पन्न होता है, आत्माके लिए कर्मका अदृष्ट परमाणमे कैसे जायेगा? और परमाणओंमें क्रियाके बिना जगत् ही नही उत्पन्न होगा, फिर आत्मा कर्म कैसे करेगा?" "इसलिए (अणुमें) कर्म नही हो सकता।" यदि कहा जाये कि सदा एक साथ रहनेवाले पदार्थोंमे जो समवाय (नित्य-)संबंध होता है, उससे अदृष्टका परमाणुमे होना मानेंगे; तो[3] "समवायके स्वीकारसे भी वही बात है (समवाय संबंध क्यों वहाँ है? उसके लिए दूसरा कारण फिर उसके लिए भी दूसरा कारण ....इस प्रकार) अनवस्था (=अन्तिम उत्तरका अभाव) होगी।" यही नहीं, समवाय-सबध नित्य होता है, इसलिए परमाणु और उसका अदृष्ट दोनो नित्य ही मौजूद रहेंगे, फिर जगत्का[4] "नित्य रहना ही" साबित होगा और यह जगत्की सृष्टि और प्रलय माननेवालोंके लिए ठीक नहीं है।

परमाणुको एक ओर वैशेषिक नित्य, सूक्ष्म, अवयव-रहित मानता है, दूसरी ओर उसीसे तथा 'कारणके गुणके अनुसार कार्यमें गुण उत्पन्न होता है' इस नियमके अनुसार, उत्पन्न घड़ेमें रूप आदिके[5] "देखनेसे" और पृथिवी,

---

१. "अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनं अणुमनसोश्चाद्यं कर्मेति अदृष्टकारितानि।"   २. वहीं २।२।११

३. वै० सू० २।१।१२   ४. वहीं २।१।१३   ५. वहीं २।१।१४

जल, आग, हवाके परमाणुओंमें "रूप आदि (रस, गंध, स्पर्श गुणों) के होने (की बातके स्वीकार करने) से भी "परस्पर-विरोधी" (बात होती) है)। परमाणुओको यदि रूप आदिवाला मानें, चाहे रूपादिरहित;[1] दोनों तरहसे दोष मौजूद रहता है। पहिली अवस्थामे अवयव-रहित होनेकी बात नही रहेगी, दूसरी अवस्थामे 'कारणके गुणके अनुसार कार्यमें गुण उत्पन्न होता है', यह बात गलत हो जायेगी।

इस तरह यूरोपके यांत्रिक भौतिकवादियोकी भाँति कारणमें गुणात्मक परिवर्तन हो कार्यके बननेको न माननेसे परमाणुवादमें जो कमजोरियाँ थी, उनका बादरायणने खडन किया। निर्विकार ब्रह्म उपादान-कारण बन जगत्को अपनेमेसे बनाकर सविकार हो जायेगा, और अपनेमेसे जगत्की उत्पत्ति नही करेगा तो वह उपादानकारण नही निमित्तकारण मात्र रह जायेगा, फिर उपनिषद्के "एक (मिट्टीके) विज्ञानसे ही सारे (मिट्टीसे बने पदार्थोंके) विज्ञान"की बात कैसे होगी—आदि प्रश्नोंका उत्तर बादरायण (और उनके अनुयायी रामानुज भी) कैसे देते हैं, इसे हम देख चुके है,[2] और वह लीपापोतीसे बढकर कुछ नही है।

तर्क-युक्तिसे परमाणुवादपर प्रहार करना काफी न समझ, अन्तमे बादरायण अपने असली रगमें उतर आते हैं[2]—"चूँकि (आस्तिक वैदिक लोग वैशेषिकको) नही स्वीकार करते, इसलिए (उसका) अत्यन्त त्याग ही ठीक है।"

(२) **जैनदर्शन-खंडन**—जैनोके अपने दो मुख्य सिद्धान्त—स्याद्वाद[3] और जीवका शरीरके अनुसार घटना-बढ़ना (मध्यमपरिमाणी होना)—हैं, जिनके ही ऊपर बादरायणने प्रहार किया है। स्याद्वादमे "है भी नही भी . . ." आदि सात तरहकी परस्पर-विरोधी बातें मानी गई हैं, बादरायण कहते हैं[4]—"एक (ही वस्तुमे इस तरहकी परस्पर-

---

१. वहीं २।१।१५ २. वे० सू० २।२।१६
३. देखो पृष्ठ ४९८-९९ ४. वे० सू० २।२।३१

विरोधी बातें) संभव नहीं हैं।"

जीवका आकार अनिश्चित है, वह जैसे छोटे बड़े (चींटी हाथीके) देहमें जाता है, उतने ही आकारका होता है, इसका खंडन करते हुए सूत्रकार कहते हैं[1]—"ऐसा (माननेपर) आत्मा अ-पूर्ण होगा; और (संकोच विकासका विषय होनेसे) विकारी (अतएव अनित्य) आदिके (होनेके) कारण किसी तरह भी (नित्यता अनित्यता आदि) विरोधको हटाया नही जा सकता। अन्तिम (मोक्ष-अवस्थाके जीव-परिमाण)के स्थायी रहने, तथा (मोक्ष और) इस वक्तके जीव-परिमाण—दोनोके नित्य होनेसे (बद्ध-अवस्थामें भी) वैसा ही (होना चाहिए, फिर उस वक्त देहके परिमाणके अनुसार होता है, यह बात गलत होगी)।

(३) **बौद्धदर्शन-खंडन**—बादरायणने बौद्धदर्शनको चारों शाखाओं—वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार और माध्यमिकका खडन किया है, जिससे साफ है, कि उस वक्त तक ये चारो शाखायें स्थापित हो गई थी और यह समय असग-वसुबंधु (३५० ई०) का है, इससे बादरायणका ४०० ई० के आसपास होना सिद्ध होता है, किन्तु जैसा कि हमने पहिले कहा है, अभी '३०० ई०से पहिले नहीं' इसीपर हम सन्तोष करते हैं। खडन करते वक्त बादरायणने पहिले वैशेषिक दर्शनको लिया, जिसके बाद सभी बौद्ध-दर्शन-शाखाओंके समान सिद्धान्तोंकी भी आलोचना की है, फिर भिन्न-भिन्न दर्शन-शाखाओंके अपने जो खास-खास सिद्धान्त हैं, उनका खंडन किया है।

(क) **वैभाषिक-खंडन**—वैभाषिक बाहरी जगत् (=बाह्य-अर्थ) और भीतरी वस्तु चित्त=विज्ञान तथा चैत (=चित्त-संबंधी अवस्थाओं) के अस्तित्वको स्वीकार करते हैं। सर्व (=भीतरी बाहरी सारे पदार्थोंके)-अस्तित्वको स्वीकार करनेसे ही उनका पुराना नाम सर्वास्तिवादी भी प्रसिद्ध है। लेकिन सबके अस्तित्वको वह बुद्धके मौलिक

---

1. वे० सू० २।२।३२-३४

सिद्धान्त अनित्यता—क्षणिकताके साथ मानते हैं। बादरायणने मुख्यतः उनकी इस क्षणिकतापर प्रहार किया है। यद्यपि बुद्धके वक्त परमाणुवाद अपनी जन्मभूमि यूनानमे पैदा नही हुआ था, उसके प्रवर्त्तक देमोक्रितुके पैदा होनेके लिए बुद्धकी मृत्यु (४८३ ई० पू०)के बाद और तेईस वर्षोंकी जरूरत थी। यूनानियोंके साथ वह भारत आया जरूर, तथा उसे लेनेवालोमे भारतकी सीमामे पार हो उनसे मिलनेवाले मानवतावादी (=अन्तर्राष्ट्रीयतावादी) बौद्ध सबसे पहिले थे। यूनानमे देमोक्रितु (४६०-३७० ई० पू०)का परमाणुवाद स्थिरवादका समर्थक था, और वह हेराक्लितु (५३५-४७५ ई० पू०)के क्षणिकवादसे समन्वय नही कर सका था, किन्तु भारतमे परमाणुवादके प्रथम स्वागत करनेवाले बौद्ध स्वय बुद्ध-समकालीन हेराक्लितुकी भाँति क्षणिकवादी थे। यह भी सभव है, बुद्धके वक्तसे चले आए उनके अनित्यवादका नया नामकरण, क्षणिकवाद, इसी समय हुआ हो। बौद्धोने परमाणुवादका क्षणिकवादसे गँठजोडा करा दिया। सभी भौतिकतत्त्वों (=रूप)की मूल इकाई अविभाज्य (=अ-तोम्) परमाणु है, किन्तु वह स्वय एक क्षणसे अधिककी सत्ता नही रखते—उनका प्रवाह (= सन्तान) जारी रहता है, किन्तु प्रवाहके तौरपर इस क्षणिकताके कारण हर क्षण विच्छिन्न होते हुए। अणुओके सयोग—अणु-समुदाय—से पृथिवी आदि भूतोका समुदाय पैदा होता है, और पृथिवी आदिके कारणोंमे शरीर-इन्द्रिय-विषय-समुदाय पैदा होता है। बादरायण इसका खडन करते हुए कहते है—[1]

"(परमाणु हेतु, या पृथिवी आदि हेतु) दोनों ही हेतुओंके (मानने) पर भी जगत् (का अस्तित्वमे आना) नही हो सकता, (क्योकि परमाणुओंके क्षणिक होनेसे उनका सयोग ही नही हो सकता फिर समुदाय कैसे ?)" (प्रतीत्य-समुत्पाद[2] के अविद्या आदि १२ अगोंके) एक दूसरेके

---

१. वे० सू० २।२।१७-२४ २. देखो पृष्ठ ५१४-१७

प्रत्यय[1] से (समुदाय) हो सकता है, यह (कहना) ठीक नहीं; क्योंकि (वे अविद्या आदि पृथिवी आदिके) संघात बननेमें कारण नही हो सकते, (चाहे वह दिमागमे भले ही गलत ज्ञान आदि पैदा कर सकते हों)। (क्षणिकवादके अनुसार) पीछे (की वस्तुके) उत्पन्न होनेपर पहिलेवाली नष्ट हो गई रहती है, (फिर पिछली वस्तुका कारण पहिली—नष्ट हो गई—वस्तु कैसे हो सकती है, क्योंकि उस वक्त तो उसका अत्यन्त अभाव हो चुका है?) यदि (हेतुके) न होनेपर भी (कार्य उत्पन्न होता है, यह मानते हैं, तो प्रत्ययके बिना कोई चीज नही होती यह) प्रतिज्ञा (आपकी) छूटती है, और (होनेपर होता है, कहते है,) तो (कार्य और कारण दोनोंके) एक समय मौजूद होनेसे (क्षणिकवाद गलत होता है)।

धर्मों (=वस्तुओं या घटनाओं) को बौद्धोंने संस्कृत (=कृत) और असस्कृत (=अ-कृत) दो भागोंमे बाँटा है। जिनमे रूप, वेदना सस्कार, विज्ञान ये पाँचों स्कंध (१२ आयतन या १८ धातु) संस्कृत धर्म है, और निरोध (=अभाव) तथा आकाश असस्कृत। निरोध (=अभाव, विनाश) भी दो प्रकारका है, एक प्रतिसख्या-निरोध या स्थूल-निरोध, दूसरा अप्रतिसख्या-निरोध प्रतिक्षण हो रहा अतिसूक्ष्म निरोध। दोनोंमे वह मानते हैं, कि विनाश विच्छिन्न (=निरन्वय) होता है। बादरायणका कहना है, कि जिस तरहका निरन्वय "प्रतिसख्या-अप्रतिसख्या-निरोध" (तुम मानते हो, वही) नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि विच्छेद (होता) ही नही, घट-वस्तुके नाश होनेपर भी मूल-उपादान मिट्टी घटके टुकड़ोंमें भी अविच्छिन्न भावसे मौजूद रहती है। (कारणके बिलकुल अभाव—शून्य—हो जानेपर कार्यकी उत्पत्ति तथा कार्यका नाश हो बिलकुल अभाव—शून्य—हो जाना) दोनों ही तरहसे दोष है (शून्यसे उत्पन्न तथा अन्तमें शून्य हो जानेवाला शून्य ही रहेगा),

---

[1] जिसके होनेके बाद दूसरी चीज होती है, वह इस होनेवाली चीजका प्रत्यय है।

जैसे (जगत्की उत्पत्तिकी व्याख्या नहीं की जा सकती)। (प्रतिसंख्या-अप्रतिसंख्या-निरोधके) समान ही (विरोधी युक्तियोंके कारण) आकाशमें भी (शून्य रूप माननेमें दोष आयेगा, वस्तुतः वह शून्य—अभाव—नहीं ताकी मतोंमें एक मत है)।

क्षणिकवादी बौद्ध विज्ञान (=चित्त) को भी क्षणिक मानते है, और उसके परे किसी आत्माकी सत्ता नहीं स्वीकार करते। बादरायण उनके मतको असंगत कहते हुए बतलाते है कि इस तरहकी क्षणिकता गलत है, क्योंकि "(पहिलेका जानना), अनुस्मरण" (हम साफ देखते है, यदि कोई स्थायी वस्तु नहीं, तो अनुस्मरण कैसे होता है)।"

(ख) सौत्रान्तिक खंडन—सौत्रान्तिक बाह्यार्थवादी—बाहरकी वस्तुओंकी क्षणिक सत्ताको वास्तविक स्वीकार करते—हैं। उनका कहना है—बाहरी वस्तुएं क्षणिक है यह ठीक है, और इसी वजहसे जिस वक्त किसी वस्तु (=घड़ा) का अस्तित्व हमे मालूम हो रहा है, उस वक्त वह वस्तु (=घड़ा) सर्वथा नष्ट हो चुकी है, और उसकी जगह दूसरा—किन्तु बिलकुल उसी जैसा—घड़ा पैदा हुआ है। इस तरह इस वक्त जिस घड़ेके अस्तित्वको हम अनुभव कर रहे हैं, वह है पहिले निरन्वय (=विच्छिन्न) विनष्ट हो गए घड़ेका। यह कैसे होता है, इसका उत्तर सौत्रान्तिक देते है—घड़ा आखमे प्राप्त होनेवाले विज्ञानमें अपने आकार (=लाल आदि) को छोड़कर नष्ट हुआ, उसी विज्ञानमय आकारोंको पा उससे घड़ेकी सत्ताका अनुमान होता है। बादरायणका आक्षेप है—अविद्यमान (=विनष्ट घड़े) का (यह लाल आदि आकार) नहीं है, क्योंकि (विनष्ट वस्तुके लाल आदि गुणका किसी दूसरी वस्तुमे स्थानान्तरित होना) नहीं देखा जाता। (यदि विनष्टसे भी) इस तरह (वस्तु उत्पन्न होती जाय) तो उदासीनों (=जो किसी बातको प्राप्त करनेके लिए कोई प्रयत्न भी नहीं करते उन) को भी (वह बात) प्राप्त हो जाये, (फिर तो निर्वाणके लिए भारी प्रयत्न करना ही निष्फल है)।

(ग) योगाचार-खंडन—वैभाषिक बाह्यार्थ और विज्ञान दोनोंको

मानते हैं, सौत्रान्तिक बाह्यार्थको ही मुख्य मानते हैं, विज्ञान उसीका भीतरकी ओर निक्षेप है। विज्ञानवादी योगाचारका मत सौत्रान्तिकसे बिलकुल उलटा है। क्षणिक विज्ञान ही वास्तविक तत्त्व है, बाह्य वस्तुयें, जगत्, उसीके बाहरी निक्षेप हैं। बादरायण विज्ञानवादपर आक्षेप करते हुए कहते हैं—"(बाहरी वस्तुओंका) अभाव (कहना ठीक) नहीं है, क्योंकि (विज्ञानसे परे वस्तुयें साफ) पाई जाती हैं। स्वप्न आदिकी तरह (पाई जाती हैं, यह कहना ठीक) नहीं है, क्योंकि (स्वप्नके ज्ञान और जागृत-अवस्थाके ज्ञानमे भारी) भेद है। (पदार्थोंके बिलकुल न रहनेपर ज्ञानका) होना नही (संभव है), क्योंकि (यह बात कहीं) नहीं देखी जाती।"

(घ) माध्यमिक-खंडन—शून्यवादी माध्यमिक दर्शनके खंडनमें बादरायणने एक सूत्र[1] से अधिक लिखनेकी जरूरत न समझी, और उसमें नागार्जुनके सबसे मजबूत पक्ष—सापेक्षतावाद—को न छूकर उनके सबसे कमजोर पक्ष—शून्यवाद (वस्तुकी क्षणिक वास्तविकतासे भी इन्कार)—को लिया। शायद पहिले पक्षका जवाब वह क्षणिकवादके खंडनसे दे दिया गया समझते थे। क्षणिकवादको एक समान मानते हुए वैभाषिक जड़, अजड दोनों तत्वोंके अस्तित्वको स्वीकार करते हैं, सौत्रान्तिक सिर्फ बाह्य जड़ तत्वको, योगाचार सिर्फ आभ्यन्तर अ-जड (=विज्ञान) तत्वको; लेकिन माध्यमिक बाह्य आभ्यन्तर सभी तत्वोंके अस्तित्वके ज्ञानके परस्पर-सापेक्ष होनेसे सबको शून्य मानते हैं। इसके खिलाफ बादरायणका कहना है—"सर्वथा असंगत (=युक्ति-अनुभव-विरुद्ध) होनेसे (शून्यवाद गलत है)।"

---

१. वे० सू० २।२।३०

अध्याय १८

भारतीय दर्शनका चरम विकास (६०० ई०)

§ १—असंग (३५० ई०)

भारतीय दर्शनको अपने अन्तिम विकासपर पहुँचानेके लिए पहिला जबर्दस्त प्रयत्न असग और वसुबधु दो पेशावरी पठान भाइयोंने किया। बड़े भाई असगने योगाचार भूमि[1], उत्तरतन्त्र[1] जैसे ग्रन्थोंको लिखकर विज्ञानवादका समर्थन किया। छोटे भाई वसुबन्धुकी प्रतिभा और भी बहु-मुखी थी। उन्होंने एक ओर वैभाषिक-सम्मत तथा बुद्धके दर्शनसे बहु-सम्मत अपने सर्वोत्कृष्ट ग्रथ अभिधर्मकोष तथा उसपर एक बड़ा भाष्य[1] लिखा; दूसरी ओर विज्ञानवादके सबधमे विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकी विंशिका (बीस कारिकायें) और त्रिंशिका (तीस कारिकायें) लिख अपने बड़े भाईके कामको और सुव्यवस्थित रूपमे दार्शनिकोंके सामने पेश किया। तीसरा काम उनका सबसे महत्वपूर्ण था वाद-विधान नामक न्याय-ग्रथको लिख, भारतीय न्यायशास्त्रको नागार्जुनकी पैनी दृष्टिसे मिली प्रेरणाको और नियमबद्ध करना, और सबसे बड़ी बात थी "भारतीय मध्ययुगीन न्यायके पिता" दिग्नाग जैसे शिष्यको पढ़ाकर अब तकके किये गये प्रयत्नको एक बड़े प्रवाहके रूपमे ले जानेके लिए तैयार करना।

बौद्धोंके विज्ञानवाद—क्षणिक विज्ञानवाद—के शंकराचार्य और उनके दादा गुरु गौडपाद कितने ऋणी हैं, यह हम बतलानेवाले हैं। वस्तुतः गौड-

---

१. ये दोनों ग्रंथ चीनी और तिब्बती अनुवादके रूपमें पहिले भी मौजूद थे, किन्तु उनके संस्कृत मूल मुझे तिब्बतमें मिले, उनकी फोटो और लिखित प्रतियाँ भारत आ चुकी हैं।' अभिधर्मकोशको अपनी वृत्तिके साथमें पहिले संपादित कर चुका हूँ।

पादकी मांडूक्य-कारिका "अलात शान्ति प्रकरण" प्रच्छन्न नहीं प्रकट रूपसे एक बौद्ध विज्ञानवादी ग्रंथ है। बौद्ध विज्ञानवाद और असंगका एक दूसरे-के साथ कितना संबंध है, यह इसीसे मालूम हो सकता है, कि विज्ञानवाद अपने नामकी अपेक्षा "योगाचार दर्शन"के नामसे ज्यादा प्रसिद्ध है, और योगाचार शब्द असंगके सबसे बड़े ग्रंथ "योगाचार-भूमि" से लिया गया है।

१—जीवनी

असंगका जन्म पेशावरके एक ब्राह्मण (पठान) कुलमें हुआ था। उनके छोटे भाई वसुबंधु बौद्ध जगत्के प्रमुख दार्शनिकोंमें थे। वसुबंधुके कितने ही मौलिक ग्रंथ कालकवलित हो गये। उनका अभिधर्मकोश बहुत प्रौढ़ ग्रंथ है, मगर वह सर्वास्तिवाद दर्शनका एक सुशृंखलित विवेचन मात्र है, इसलिए हमने उसके बारेमें विशेष नहीं लिखा। वसुबंधुने अभिधर्मकोश-पर विस्तृत भाष्य लिखा है, जो सौभाग्यसे तिब्बतकी यात्राओंमें मुझे संस्कृतमें मिल गया, और प्रकाशित होनेकी प्रतीक्षामें फोटो रूपमें पड़ा है। अपने बड़े भाई असंगके विज्ञानवादपर "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि" नामके "विंशिका" और "त्रिंशिका" नामसे बीस और तीस कारिकावाले दो प्रकरण भी मिल-कर प्रकाशित हो चुके हैं। वसुबंधु "मध्यकालीन न्याय-शास्त्र"के पिता दिग्नागके गुरु थे, और उन्होंने स्वयं भी "वादविधान" नामसे न्यायपर एक ग्रंथ लिखा था, किन्तु शिष्यकी प्रतिभाके सामने गुरुकी कृतियाँ ढँक गईं। वसुबंधु समुद्रगुप्तके पुत्र चंद्रगुप्त (विक्रमादित्यके) अध्यापक रह चुके थे, और इस प्रकार वह ईसवी चौथी शताब्दीके उत्तरार्धमें मौजूद थे।[1]

असंगकी जीवनीके बारेमें हम इससे अधिक नहीं जानते कि वह योगा-चार दर्शनके प्रथम आचार्य थे, कई ग्रंथोंके लेखक, वसुबंधुके बड़े भाई और पेशावरके रहनेवाले थे। वह ३५०में जरूर मौजूद रहे होंगे। यह समय नागार्जुनसे पौने दो सदी पीछे पड़ता है। नागार्जुनके ग्रंथ भारतीय न्याय-शास्त्रके प्राचीनतम ग्रंथ हैं—जहाँ तक अभी हमारा ज्ञान जाता है—लेकिन,

१. देखो मेरी "वादन्याय" और "अभिधर्मकोश"की भूमिकाएँ।

नागार्जुनको असग-वसुबंधुसे मिलानेवाली कड़ी उसी तरह हमें मालूम नहीं है, जिस तरह यूनानी दर्शनके कितने ही वादोंको भारतीय दर्शनो तक सीधे पहुँचनेवाली कड़ियाँ अभी उपलब्ध नहीं हुई हैं। असगको वादशास्त्र (= न्याय)का काफी परिचय था, यह हमें "योगाचार-भूमि"से पता लगता है।

२—असंगके ग्रंथ

महायानोत्तर तत्र, सूत्रालकार, योगाचार-भूमि-वस्तुसग्रहणी, बोधि-सत्त्व-पिटकाववाद ये पाँच ग्रथ अभी तक हमे असंगकी दार्शनिक कृतियोंमे मालूम है, इनमे पिछले दोनोंका पता तो "योगाचार-भूमि"से ही लगा है। पहिले तीनो ग्रथोके तिब्बती या चीनी अनुवादोंका पहिलेसे भी पता था।

योगाचार-भूमि—असगका यह विशाल ग्रथ निम्न सत्रह भूमियोंमें विभक्त है—

१ विज्ञान भूमि
२ मन भूमि
३ सवितर्क-सविचारा भूमि
४ अवितर्क-विचारमात्रा भूमि
५ अवितर्क-अविचारा भूमि
६. समाहिता भूमि
७ असमाहिता भूमि
८ सचित्तका भूमि
९ अचित्तका भूमि
१० श्रुतमयी भूमि
११ चिन्तामयी भूमि
१२ भावनामयी भूमि
१३ श्रावक भूमि[1]
१४. प्रत्येकबुद्ध भूमि
१५ बोधिसत्त्व भूमि[1]
१६ सोपधिका भूमि
१७ निरुपधिका भूमि[2]

---

१. श्रावक भूमि और बोधिसत्त्व-भूमि तिब्बतमें मिली "योगाचारभूमि" की तालपत्र पोथी (दसवीं सदी)में नहीं है। बोधिसत्त्वभूमिको प्रो० उ० वोगोहारा (जापान १९३०)प्रकाशित कर चुके है। अलग भी मिल चुकी है।

२. "योगाचारभूमि" में आचार्यने किन-किन विषयोंपर विस्तृत विवेचन किया है। यह निम्न विषयसूचीसे मालूम हो जायेगा:—

भूमि १

§१. (पाँच इन्द्रियोंके) विज्ञानोंकी भूमियाँ।

§२. पाँच इन्द्रियोंके विज्ञान (= ज्ञान

१. आँखका विज्ञान
   (१) विज्ञानोंके स्वभाव
   (२) उनके आश्रय (सहभू, समनन्तर, बीज)
   (३) उनके आलंबन (Objects) वर्ण, संस्थान, विज्ञप्ति (= क्रिया)
   (४) उनके सहाय (= सहयोगी)
   (५) कर्म
      (क) अपने विषयके आलंबनकी क्रिया (= विज्ञप्ति)
      (ख) अपने (स्वरूप (= स्वलक्षण) की विज्ञप्ति
      (ग) वर्तमान कालकी विज्ञप्ति
      (घ) एक क्षणकी विज्ञप्ति
      (ङ) मनवाले विज्ञानकी अनुवृत्ति (= पीछे आना)
      (च) भलाई बुराईकी अनुवृत्ति

२. कानका विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ

३. घ्राणका विज्ञान (,,)

४. जिह्वाका विज्ञान (,,)

५. काया (= त्वक् इन्द्रिय) का विज्ञान (स्वभाव आदिके साथ)

§३. पाँचों विज्ञानोंका उत्पन्न होना

§४. पाँचों विज्ञानोंके साथ संबद्ध चित्त

§५. पाँचो विज्ञानोंके सहाय आदिकी 'एक क़ाफ़िलेवाला' आदि होनेकी उपमा।

भूमि २

मनकी भूमि

§१. मनके स्वभाव आदि

१. मनका स्वभाव

२. मनका आश्रय

३. मनका आलंबन (= विषय)

४. मनका सहाय (= सहयोगी)

५. मनके विशेष कर्म
   (१) आलंबन विज्ञप्ति
   (२) विशेष कर्म
      (क) विषयकी विकल्पना

(ख) उपनिध्यान
(ग) मत्त होना
(घ) उन्मत्त होना
(ङ) सोना
(च) जागना
(छ) मूच्छित होना
(ज) मूर्च्छासे उठना
(झ) कायिक, वाचिक काम कराना
(ञ) विरक्त होना
(ट) विरागका हटना
(ठ) भली अवस्थाकी जड़का कटना
(ड) भली अवस्थाकी जड़का जुड़ना

२. मनका शरीरसे च्युति और उत्पत्ति
(१) शरीरसे च्युति (= छूटना, मृत्यु)
(२) एक शरीरसे दूसरे शरीरके बीचकी अवस्थाका सूक्ष्मकायिक मन (=अन्तराभव)

३. दूसरे शरीरमें उत्पत्ति
(१) उत्पत्तिवाले स्थानमें जानेकी अभिलाषा
(२) गर्भमें प्रवेश करना
(क) गर्भाधानमें सहायक
(ख) गर्भाधानमें बाधक
(a) योनिका दोष
(b) बीजका दोष
(c) पुरविले कर्मका दोष
(ग) अन्तराभवकी दृष्टि में परिवर्तन
(घ) पापी और पुण्यात्माके जन्मकुल
(ङ) गर्भाशय में आलय विज्ञान (-प्रवाह) जुड़नेका ढंग
(च) गर्भकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ
(a) कालल-अवस्था
(b) अर्बुद-अवस्था
(c) पेशी ,,
(d) घन ,,
(e) प्रशाख ,,
(f) केश - रोम-नखकी अवस्था
(g) इन्द्रियोंका प्रकट होना
(h) स्त्री - पुरुष - लिंग प्रकट होना

(१) ध्यान
(२) विमोक्ष
(३) समाधि
(४) समापत्ति
२. व्यवस्थान
§ २. विमोक्ष
§ ३. समाधि
§ ४ समापत्ति
भूमि ७

(असमाहिता भूमि
भूमि ८, ९
अचित्तका भूमि
भूमि १०
सचित्तका भूमि
(श्रुतमयी भूमि)
पाँच विद्यायें-
§ १. अध्यात्मविद्या
१. वस्तुप्रज्ञप्ति
(१) सूत्र वस्तु
(२) विनय वस्तु
(३) मातृका वस्तु
२. संज्ञाभेद प्रज्ञप्ति
(१) पद
(२) भ्रान्ति
(३) प्रपंच
(४) स्थिति
(५) तत्त्व
(६) शुभ
(७) वर
(८) प्रशम
(९) प्रकृति
(१०) युक्ति
(११) संकेत
(१२) अभिसमय
३. बुद्ध-शासनके अर्थमें प्रज्ञप्ति
३. बुद्ध-वचनके श्रेयोंका अधिष्ठान
§ २. चिकित्सा विद्या
§ ३. हेतु (=वाद) विद्या
१. वाद
(१) वाद
(२) प्रतिवाद
(३) विवाद
(४) अपवाद
(५) अनुवाद
(६) अववाद
२. वादके अधिकरण
३. वादके अधिष्ठान (दस)
(१) दो प्रकारके साध्य
(२) आठ प्रकारके साधन
(क) प्रतिज्ञा
(ख) हेतु

(ग) उदाहरण

(घ) सारूप्य

(a) लिंगमें सादृश्य

(b) स्वभावमें सादृश्य

(c) कर्ममें सादृश्य

(d) धर्ममे सादृश्य

(e) हेतुफल (=कार्य-कारण) मे सादृश्य

(ङ) वैरूप्य

(च) प्रत्यक्ष

(a) अ-परोक्ष

(b) अनभ्यूहित अन-भ्यूह्य

(c) अ-भ्रान्त

(भ्रान्तियाँ—संज्ञा, सख्या, संस्थान, वर्ण, कर्म, चित्त दृष्टिमे सबध रखनेवाली)

(प्रत्यक्षके भेद—इन्द्रिय - प्रत्यक्ष, मन-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष, युद्ध (योगि)-प्रत्यक्ष

(छ) अनुमान

(a) लिंगसे

(b) स्वभावसे

(c) कर्मसे

(d) धर्मसे

(e) हेतु-फल (=कार्य-कारण) से

(ज) आप्तागम (=शब्द)

४. वादके अलंकार

(१) अपने और पराये वाद की अभिज्ञता

(२) वाक्-कर्म सम्पन्नता (=भाषण-पटुता)

(क) अग्राम्य भाषण

(ख) लघु (=मित)-भाषण

(ग) ओजस्वी भाषण

(घ) पूर्वापरसंबद्ध भाषण

(ङ) अच्छे अर्थोवाला भाषण

(३) विशारद होना

(४) स्थिरता

(५) दाक्षिण्य (=उदारता)

५. वादका निग्रह

(१) कथात्याग

(२) कथासाद

(३) कथादोष

(क) बुरा वचन

(ख) संरब्ध (=कुपित वचन)

(ग) अ-गमक वचन

(घ) अ-मिति वचन
(ङ) अनर्थ-युक्त वचन
(च) अ-काल वचन
(छ) अ-स्थिर वचन
(ज) अ-दीप्त वचन
(झ) अ-प्रबद्ध वचन
६. वाद-निःसरण
(१) गुणदोष-परीक्षा
(२) परिषत्-परीक्षा
(३) कौशल्य (=नैपुण्य)-
(परीक्षा
७. वादमें उपकारक बातें
§४. शब्द-विद्या
१. धर्म-प्रज्ञप्ति
२. अर्थ-प्रज्ञप्ति
३. पुद्गल-प्रज्ञप्ति
४. काल-प्रज्ञप्ति
५ संख्या-प्रज्ञप्ति
६. अधिकरण-प्रज्ञप्ति
§५. शिल्प-कर्मस्थान विद्या

भूमि ११

(चिन्तामयी भूमि)

§१. स्वभावशुद्धि
§२. ज्ञेयों (= प्रमेयों) का संचय
१. सत् (वस्तु)
(१) स्वलक्षण सत्
(२) सामान्यलक्षण सत्
(३) संकेतलक्षण सत्
(४) हेतुलक्षण सत्
(५) फल (=कार्य)-लक्षण
(सत्
२. असत् (वस्तु)
(१) अनुत्पन्न असत्
(२) निरुद्ध असत्
(३) अन्योन्य असत्
(४) परमार्थ असत्
३. अस्तित्व
४. नास्तित्व
§३. धर्मों का संचय
१. सूत्रार्थोंका संचय
२. गाथार्थोंका संचय
(यहाँ पिटकोंकी सैकड़ों गाथा-
ओंका संग्रह है)

भूमि १२

(भावनामयी भूमि)

§१. स्थानतः संग्रह
१. भावनाके पद
२. भावना-उपनिषत्
३. योग-भावना
४. भावना-फल
§२. अंगतः संग्रह
१. अभिनिर्वृत्ति-संपद्

२. सद्धर्म श्रवण-संपद्
- (१) ठीक उपदेश करना
- (२) ठीक सुनना
- (३) निर्वाण-प्रमुखता
- (४) चित्त-मुक्तिको परिपक्व बनानेवाली प्रज्ञाका परिपाक
- (५) प्रतिपक्ष भावना

भूमि १३
(श्रावक भूमि)

भूमि १४
(प्रत्येकबुद्ध भूमि)

§१. गोत्र
- १. मन्द-रजवाला गोत्र
- २. मन्द-करुणावाला गोत्र
- ३. मध्य-इन्द्रियवाला गोत्र

§२. मार्ग

§३. समुदागम
- १. गैंडेकी सींग जैसा अकेला विहरनेवाला
- २. जमातके साथ विहरनेवाला

§४. चार

भूमि १५
(बोधिसत्व भूमि)

भूमि १६
(उपाधि-सहिता भूमि)

तीन प्रज्ञप्तियोंसे

१. भूमि-प्रज्ञप्ति

२. उपशम-प्रज्ञप्ति

३. उपाधि-प्रज्ञप्ति
- (१) प्रज्ञप्ति उपाधि
- (२) परिग्रह उपाधि
- (३) स्थिति प्रज्ञप्ति
- (४) प्रवृत्ति प्रज्ञप्ति
- (५) अन्तराय प्रज्ञप्ति
- (६) दुःख प्रज्ञप्ति
- (७) रति प्रज्ञप्ति
- (८) अन्य प्रज्ञप्ति

भूमि १७
(उपाधि-रहिता भूमि)

१. भूमि-प्रज्ञप्तिसे

२. निर्वृति-प्रज्ञप्तिसे
- (१) व्युपशमा निर्वृति
- (२) अव्याबाध-निर्वृति

३. निर्वृति-पर्यायविज्ञप्तिसे

"योगाचार भूमि" (संस्कृत) को महामहोपाध्याय विधुशेखर भट्टाचार्य सम्पादित कर रहे हैं।

३ — दार्शनिक विचार

असंग क्षणिक विज्ञानवादी थे। यह विज्ञानवाद असंगके पहिले भी "लंकावतार सूत्र", "संधिनिर्मोचन सूत्र" जैसे महायान सूत्रोंमें मौजूद था। इन सूत्रोंको बुद्धवचन कहा जाता है, मगर अधिकांश महायान-सूत्रोंकी भाँति यह बुद्धके नामपर बने पीछेके सूत्र हैं, लंकावतार सूत्रका, बुद्धने दक्षिणमें लंका (=सीलोन) द्वीपके पर्वत (समन्तकूट?) पर उपदेश दिया था। वस्तुतः उसे दक्षिण न ले जा उत्तरमें गंधारकी पर्वतावलीमें ले जाना अधिक युक्तियुक्त है। बौद्धोंका विज्ञानवाद बुद्धके "सब्बं अनिच्चं" (=सब अनित्य है) या क्षणिकवादका अफ़्लातूंके (स्थिरं) विज्ञानवादके साथ मिश्रण मात्र है, और यह मिश्रण उसी गधारमें किया गया, जहाँ यूनानियोंकी कलाके मिश्रण द्वारा गधार मूर्तिकलाने अवतार लिया। विज्ञानवाद विज्ञानको ही परमार्थतत्त्व मानता है, यह बतला आये हैं, और यह भी कि वह पाँच इन्द्रियोंके पाँच विज्ञानों तथा छठे मन-विज्ञानके अतिरिक्त एक सातवें **आलयविज्ञान**को मानता है। यही **आलयविज्ञान** वह तरंगित समुद्र है, जिससे तरंगोंकी भाँति विश्वकी सारी जड़-चेतन वस्तुएं प्रकट और विलीन होती रहती हैं।

यहाँ हम असगके दार्शनिक विचारोंको उनकी योगाचार-भूमिके आधार पर देते हैं। स्मरण रहे "योगाचार-भूमि" कोई सुसंबद्ध दार्शनिक ग्रंथ नहीं है, वह बुद्धघोषके "विसुद्धिमग्ग" (=विशुद्धिमार्ग) की भाँति ज्यादातर बौद्ध सदाचार, योग तथा धर्मतत्त्वका विस्तृत विवेचन है। असगने अपने इस तरुण समकालीनकी भाँति बुद्धकी किसी एक गाथाको आधार बनाकर अपने ग्रंथको नहीं लिखा है। "गाथार्थ-प्रविचय"[1] में ज़रूर १७८ गाथाएँ—हीनयान महायान दोनों पिटकोंकी—एकत्रित कर दी हैं। बुद्धघोषकी भाँति असंगने भी सूत्रोंकी भाषा-शैलीका इतना अधिक अनुकरण किया है, कि

---

[1]. योगाचारभूमि (श्रुतमयीभूमि १०)

बाज वक्त भ्रम होने लगता है कि, हम अभिसंस्कृत संस्कृतके कालमें न हो पिटक-कालकी किसी पुस्तकको संस्कृत-शब्दान्तरके रूप में पढ़ रहे हैं। बुद्धघोष अपने ग्रथको पालीमें लिख रहे थे, जिसे वसुबंधु-कालिदास-कालीन संस्कृतकी भाँति संस्कृत बननेका अभी मौका नहीं मिला था, इसलिए बुद्धघोष पालिकी भाषा-शैलीका अनुकरण करनेके लिए मजबूर थे, मगर असंगको ऐसी कोई मजबूरी न थी, न वह अपनी कृतिको बुद्धके नामसे प्रकट करनेके लिए ही इच्छुक थे। फिर, उन्होंने क्यों ऐसी शैलीको स्वीकार किया, जिसमें किसी बातको संक्षेपमें कहा ही नहीं जा सकता ? संभव है, सूत्रों की शैली से परिचित अपने पाठकोंके लिए आसान करनेके ख्यालसे उन्होंने ऐसा किया हो।

हम यहाँ "योगाचार भूमि" का पूरा संक्षेप नहीं देना चाहते इसलिए उसमें आये असंगके ज्ञेय (=प्रमेय), विज्ञानवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद हेतु (-वाद) विद्या, परवाद-खंडन और द्रव्य-परमाणु-संबंधी विचारोंको देने ही पर सन्तोष करते हैं।

(१) ज्ञेय (=प्रमेय) विषय

ज्ञेय[1] कहते है परीक्षणीय पदार्थको। ये चार प्रकारके होते हैं, सत या भाव रूप, दूसरा असत् या अभाव रूप—अस्तित्व और नास्तित्व।

(क) सत्—यह पाँच प्रकारका होता है, **(१) स्वलक्षण** (=अपने स्वरूपमें) सत्, (२) सामान्यलक्षण (=जाति आदिके रूप में) सत्, (३) संकेतलक्षण (संकेत किये रूपमें) सत्, **(४) हेतु** लक्षण (=इष्ट-अनिष्ट आदिके हेतुके रूपमें) सत्, (५) **फल लक्षण** (=परिणामके रूपमें) सत्।

(ख) असत्—यह भी पाँच प्रकारका है। (१) **अनुत्पन्न** (=जो पदार्थ उत्पन्न नहीं हुआ, अतएव) असत्, (२) **निरुद्ध** (=जो उत्पन्न

[1] 'योगाचारभूमि' (चिन्तामयी भूमि ११)

हो कर निरुद्ध या नष्ट हो गया, अतएव) असत; (३) अन्योन्य (=गाय घोडा नही घोडा गाय नहीं, इस तरह एक दूसरेके रूपमे) असत्; (४) परमार्थ (=मूलमें जानेपर) असत्, और (५) (=बंध्या-पुत्र की भाँति) अत्यन्त असत्।

(ग) **अस्तित्व**—यह भी पाँच प्रकारका होता है—(१) परिनिष्पन्नलक्षण—जो अस्तित्व परमार्थतः हैं (जैसे कि असंगके मत में विज्ञान, भौतिकवादियोंके मतमें मूल भौतिकतत्त्व); (२) परतन्त्रलक्षण अस्तित्व प्रतीत्यसमुत्पन्न ("अमुकके होनेके बाद अमुक अस्तित्वमें आता है") अस्तित्वको कहते हैं, (३) परिकल्पितलक्षण अस्तित्व है, संकेत (Convention) वश जिसको माना जाये, (४) विशेषलक्षण है काल, जन्म, मृत्यु आदिके सबघसे माना जानेवाला अस्तित्व; और (५) अवक्तव्यलक्षण अस्तित्व वह है, जिसे "हाँ" या "नही" मे दो टूक नही कहा जा सके (जैसे बौद्ध दर्शनमे पुद्गल=चेतनाको स्कन्धों से न अलग कहा जा सकता, न एक ही कहा जा सकता)।

(घ) **नास्तित्व**—यह पाँच प्रकारका होता है—(१) परमार्थरूपेण नास्तित्व, (२) स्वतन्त्ररूपेण नास्तित्व, (३) सर्वमर्वाकारूपसे नास्तित्व; (४) अविशेष रूपमे नास्तित्व और (५) अवक्तव्य रूपसे नास्तित्व।

परमार्थतः सत्, असत् अस्तित्व या नास्तित्व को बतलानेके लिए असगने **परमार्थ-गाथाके** नामसे महायान-सूत्रोंकी कितनी ही गाथाएँ उद्धृत की हैं। इनमे (१) वस्तुओके अपने भीतर किसी प्रकारके स्थिर तत्त्वकी सत्ताको इन्कार करते हुए, उन्हे **शून्य** (=सार-शून्य) कहा गया है, बाह्य और मानस तत्त्वोंको सार-शून्य कहते हुए उन्हें क्षणिक (=क्षण क्षण विनाशी) बतलाया गया है, और यह भी कि (३) कोई (ईश्वर आदि) जनक और नाशक नही है, बल्कि जगतोके सारे पदार्थ स्वरस (=स्वभावतः) भंगुर है। रूप (Matter), वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंमे स्थिरताका भास सिर्फ भ्रममात्र है, वस्तुत वे फेन, बुलबुले, मृगमरीचिका, कदली-गर्भ तथा

मायाकी भाँति निस्सार है।¹—

"आध्यात्मिक (=मानसजगत्) शून्य है, बाह्य भी शून्य है।

ऐसा कोई (आत्मा) भी नहीं है, जो शून्यताको अनुभव करता ॥३॥

अपना (कोई) आत्मा ही नहीं है, (यह आत्माकी कल्पना) उलटी कल्पना है। यहाँ कोई सत्य या आत्मा नहीं है ये (सारे) धर्म (=पदार्थ) अपने ही अपने कारण है॥४॥

सारे संस्कार (=उत्पन्न पदार्थ) क्षणिक हैं ·····॥५॥ ····· ।

उसे कोई दूसरा नहीं जन्माता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है। प्रत्ययके होनेपर पदार्थ (=भाव) पुराने नहीं बिलकुल नये-नये जनमते है॥८॥ न दूसरा इसे नाश करता है, और न स्वयं नष्ट होता है। प्रत्यय (=पूर्वकारण) के होनेपर (ये पदार्थ) उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न स्वरस ही क्षणभगुर हैं। ॥९॥ · रूप (=भौतिकतत्त्व) फेनके पिंड समान है, वेदना (स्कन्ध) बुद्बुद जैसी ॥१७॥ संज्ञा (मृग)-मरीचिका सदृशी है, संस्कार कदली जैसे, और विज्ञानको माया-समान सूर्यवंशज (=बुद्ध) ने बतलाया है॥१८॥"

(२) विज्ञानवाद

(क) आलयविज्ञान—बाह्य-आभ्यन्तर, जड-चेतन—जो कुछ जगत् है, सब विज्ञानका परिणाम है। विज्ञान-समष्टिको आलयविज्ञान, कहते है, इसीसे वीचि-तरग की भाँति जगत् तथा उसकी सारी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं। इस विश्व-विज्ञान² या आलय-विज्ञानसे जैसे जड़-जगत् उत्पन्न हुआ, उसी तरह, वैयक्ति-विज्ञान (=प्रवृत्ति विज्ञान)—पाँचों इन्द्रियोके विज्ञान और छठां मन पैदा हुआ।

(ख) पाँच इन्द्रिय-विज्ञान—इन्द्रियोंके आश्रयसे जो विज्ञान (=चेतना) पैदा होता है, वह इन्द्रिय-विज्ञान है। अपने आश्रयों नभ

१. योगाचार-भूमि (चिन्तामयी भूमि ११) २. देखो, रोज़, पृष्ठ २४२

(=आँख) आदि पाँचों इंद्रियोंके अनुसार, इन्द्रिय-विज्ञान भी पाँच प्रकारके होते हैं।—

(a) **चक्षु-विज्ञान**[1] (i) स्वभाव—चक्षु (=आँख) के आश्रय (=सहारे) से जो विज्ञान प्राप्त होता है, वह चक्षु-विज्ञान है। यह है चक्षु-विज्ञानका स्वभाव (=स्वरूप)।

(ii) **आश्रय**—चक्षु-विज्ञानके आश्रय तीन हैं: चक्षु, जो कि साथ साथ अस्तित्वमें आता तथा विलीन होता है, अतएव **सहभू** आश्रय है; मन जो इस विज्ञान (की सन्तति) का बादमें आश्रय होता है, अतएव समनन्तर आश्रय है; रूप-इन्द्रिय, मन तथा सारे जगत्‌का बीज जिसमें मौजूद रहता है, वह **सर्वबीजक** आश्रय है **आलय-विज्ञान**। इन तीनों आश्रयोंमें चक्षु रूप (=भौतिक) होनेसे रूपी आश्रय है, और बाकी अरूपी।

(iii) **आलंबन** या विषय हैं—वर्ण (=रंग), **संस्थान** (=आकृति) और **विज्ञप्ति** (=क्रिया)। (a) **वर्ण** हैं—नील, पीत, लाल, सफेद छाया, धूप, प्रकाश, अन्धकार, मेघ, धूम, रज, महिका और नभ। (b) सस्थान हैं—लम्बा, छोटा, वृत्त, परिमंडल, अणु, स्थूल, सात, विसात, उन्नत और अवनत। (c) **विज्ञप्ति** है—लेना, फेंकना, सिकोड़ना फैलाना, ठहरना, बैठना, लेटना, दौड़ना इत्यादि।

(iv) **सहाय**—चक्षु-विज्ञानके साथ पैदा होनेवाले एक ही आलबन-के चैतसिक धर्म हैं।

(v) **कर्म**—छ है: (१) स्वविषय-अवलंबी, (२) स्वलक्षण, (३) वर्तमान काल, (४) एक क्षण, (५) शुद्ध (—कुशल) अशुद्ध मनके विज्ञान कर्मके उत्थान, इन दो आकारोंसे अनुवृत्ति; (६) इष्ट या अनिष्ट फलका ग्रहण।

(b-c) **श्रोत्र आदि-विज्ञान**—इसी तरह श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा और काया (=त्वग्) इन्द्रियोंके इन्द्रिय-विज्ञान हैं।

---

१. योगाचार भूमि (१)

(ग) मन-विज्ञान—यह छठा विज्ञान है। इसके स्वभाव आदि हैं—

(a) स्वभाव—चित्त, मन और विज्ञान इसके स्वरूप (=स्वभाव) हैं। सारे बीजों (=मूल कारणों) वाला आश्रय स्वरूप आलय-विज्ञान चित्त है, (२) मन सदा अविद्या, "मैं आत्मा हूँ" इस दृष्टि, अस्मिमान और तृष्णा (=शोपनहारकी तृष्णा) इन चार क्लेशों (=चित्तमलों) से युक्त रहता है। (३) विज्ञान जो आलंबन (=विषय) क्रियामें उपस्थित होता है।

(b) आश्रय—मन समनन्तर-आश्रय है, अर्थात् चक्षु आदि इन्द्रियों-के विज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेके अनन्तर वही इन विज्ञानोंका आश्रय होता है, बीज-आश्रय तो वही सारे बीजोंका रखनेवाला आलय-विज्ञान है।

(c) आलम्बन—मनका आलम्बन (=विषय) पाँचों इन्द्रियों के पाँचो विज्ञान—जिन्हें धर्म भी कहा जाता है—हैं।

(d) सहाय—मनके सहाय (=साथी) बहुत हैं, जिनमेंसे कुछ हैं—मनस्कार, स्पर्श[1], वेदना, संज्ञा, चेतना, स्मृति, प्रज्ञा, श्रद्धा, लज्जा, निर्लज्जता, अलोभ, अद्वेष, अमोह, पराक्रम, उपेक्षा, अहिंसा, राग, सन्देह क्रोध, ईर्ष्या, शठता, हिंसा आदि चैतसिक धर्म।

(e) कर्म—पहिला है अपने पराये विषयों सम्बन्धी क्रिया जो कि क्रमशः छ आकारोंमें प्रकट होती है—(१) मनकी प्रथम क्रिया है, विषयके सामान्य स्वरूपकी विज्ञप्ति, (२) फिर उसके तीनों कालोंकी विज्ञप्ति, (३) फिर क्षणोंके क्रमकी विज्ञप्ति; (४) फिर प्रवृत्ति या अन्तर्वृत्ति शुद्ध-अशुद्ध धर्म-कर्मोंकी विज्ञप्ति, (५) फिर इष्ट-अनिष्ट फलका ग्रहण, (६) दूसरे विज्ञान-समुदायोंका उत्थापन। दूसरी तरहपर जैसे मनके विशेष (=वैशेषिक) कर्म होते हैं—(१) विषय की विकल्पना, (२) विषयका उपनिध्यान (=चिन्तन); (३) मत्त होना; (४)

[1] Contact.

उन्मादमें होना; (५) निद्रामें जाना; (६) जागना; (७) मूर्च्छा खाना; (८) मूर्च्छासे उठना; (९) कायिक-वाचिक कर्मोंका करना; (१०) वैराग्य करना; (११) वैराग्य छोड़ना; (१२) भलाईकी जड़ोंको काटना; (१३) भलाईकी जड़ोंको जोड़ना; (१४) शरीर छोड़ना (=च्युति) और (१५) शरीरमें आना (=उत्पत्ति)।

इन कर्मोंमेंसे कुछके होनेके बारेमें असग कहते हैं[1]—

पुरविले कर्मोंसे अथवा शरीरधातुकी विषमता, भय, मर्म-स्थानमें चोट, और भूत-प्रेतके आवेशसे उन्माद (=पागलपन) होता है।

शरीरकी दुर्बलता, परिश्रमकी थकावट, भोजनके भारीपन आदि कारणोंसे निद्रा होती है।

वात-पित्तके बिगाड़, अधिक पाखाना और खूनके निकलनेसे मूर्च्छा होती है।

(मनकी च्युति तथा उत्पत्ति)

बौद्ध-दर्शन क्षण-क्षण परिवर्तनशील मनसे परे किसी भी नित्य जीवात्माको नहीं मानता। मरनेका मतलब है, एक शरीर-प्रवाह (=शरीर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील होनेसे वस्तु नहीं बल्कि प्रवाह है) से एक मन-प्रवाह (=मन-सन्तति) का च्युत होना। उसी तरह उत्पत्तिका मतलब है, एक मन-प्रवाहका दूसरे शरीर-प्रवाहमे उत्पन्न होना।

(a) च्युति (=मृत्यु)—मृत्यु तीन कारणोंसे होती है—आयुका खतम हो जाना, पुण्यका खतम हो जाना और शरीरकी विषम क्रिया यानी भोजनमे न मात्राका ख्याल, न पथ्यका ख्याल, दवा सेवन न करना, अकालचारी अब्रह्मचारी होना।

मृत्युके वक्त पापियोके शरीरका हृदयसे ऊपरी भाग पहिले ठंडा पड़ता है, और पुण्यात्माओंका निचला भाग, फिर सारा शरीर।

---

१. योगाचार-भूमि (मन-भूमि १)

(अन्तराभव)—एक शरीरके छोडने, दूसरे शरीरमें उत्पन्न होने तकजो बीचकी अवस्थामे मन (=जीव) रहता है, इसीको **अन्तराभव**, गन्धर्व, मनोमय कहते है। अन्तराभवको जैसे शरीरमें उत्पन्न होना होता है, वैसी ही उसकी आकृति होती है। वह अपने रास्तेमें सप्ताह भर तक लगा रहता है।

(b) **उत्पत्ति (=जन्म)**—मरणकालमें मन अपने भले बुरे कर्मोंको साकार देखता, और वैसा ही **अन्तराभवीय रूप धारण करता है।** मनके किसी शरीरमे उत्पन्न होनेके लिए तीन बातोंकी जरूरत है—माता ऋतुमती हो, पिताका बीज मौजूद हो और गवर्व (=अन्तराभव) उपस्थित हो, साथ ही योनि, बीज और कर्मके दोष बाधक न हों।

(गर्भ में लिंगभेद)—अन्तराभव माता-पिताकी मैथुन क्रियाको देखता है, उस समय यदि स्त्री बननेवाला होता है, तो उसको पुरुषमे आसक्ति हो जाती है, और यदि पुरुष बननेवाला होता है, तो स्त्रीमें।

(1) **गर्भाधान**—मथुनके पश्चात् घना बीज छूटता है, और रक्तका विन्दु भी। बीज और शोणित विन्दु दोनों मॉकी योनि हीमें मिश्रित हो, एकपिंड बनकर उबलकर ठंडे हो गए दूधकी भाँति स्थित होते हैं, इसी पिंडमे सारे बीजोको अपने भीतर रखनेवाला **आलय-विज्ञान** समा जाता है, अन्तराभव उसमे आकर जुड जाता है। इसे गर्भको **कलल-अवस्था** कहते है। कललके जिस स्थानमे विज्ञान जुडता है, वही उसका हृदय स्थान होता है। (१) कललमे आगे बढते हुए गर्भ और सात अवस्थाएँ धारण करता है—(२) अर्बुद, (३) पेशी, (४) घन, (५) प्रशाख, (६) केश-रोम-नखवाली अवस्था, (७) इन्द्रिय-अवस्था, और (८) व्यंजन (=लिंगभेद)-अवस्था। इनमे अर्बुद-अवस्थामें गर्भ दही जैसा होता है, वही मासावस्था तक न-पहुँचा अर्बुद होता है। पेशी शिथिल माससी होती है। कुछ और घना हो जानेपर **घन,** शाखाकी भाँति हाथ-पैर आदिका फूटना प्रशाख होना है।

आदि—बुरे कर्मोंके कारण अथवा माताके अधिक

क्षार-लवण रसवाले अन्न-पानके सेवनसे बालकके केशोंमें नानारंग होते हैं। बालकके केश काले-गोरे होनेमें पूर्व जन्मके अतिरिक्त निम्न कारण हैं—यदि माँ बहुत गर्मी, तथा धूप आदिका सेवन करती है, तो बच्चा काला होगा। यदि माँ बहुत ठंडे कमरेमें रहती है, तो लड़का गोरा। बहुत गर्म खाना खानेपर लड़का लाल होगा। चमड़ेमें दाद, कुष्ट आदि विकार माताके अत्यन्त मैथुन-सेवनसे होता है। माताके बहुत दौड़ने-कूदने, तैरनेसे बच्चेके अंग विकृत होते हैं।

कन्या होनेपर गर्भ माताकी कोखमें बाईं ओर होता है, और पुत्र होनेपर दाहिनी ओर। प्रसवके वक्त माताके उदरमें असह्य कष्ट देनेवाली हवा पैदा होती है, जो गर्भके शिरको नीचे और पैरको ऊपर कर देता है।

(३) अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद

"इसे कोई दूसरा नहीं जनमाता और न वह स्वयं उत्पन्न होता है प्रत्ययके होनेपर भाव (=वस्तुएँ) पुराने नहीं बिल्कुल नये-नये जनमते हैं।. . प्रत्ययके होनेपर भाव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न हो स्वरस (=स्वत) ही क्षणभंगुर हैं।"[1]

महायानसूत्रकी इन गाथाओं द्वारा असंगने बौद्ध-दर्शनके मूल सिद्धान्त अनित्यवाद या क्षणिकवादको बतलाया है। "क्षणिकके अर्थको लेकर प्रतीत्य-समुत्पाद"[2] कहते हुए उन्होंने क्षणिकवाद शब्दसे प्रतीत्य-समुत्पादको स्वीकार किया है।

प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य-समुत्पादका अर्थ करते हुए असंग कहते हैं[3]—प्रतिगमन करके (=खतम करके एक चीजको दूसरीको उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।) प्रत्यय अर्थात गतिशील अत्यय (=विनाश) के साथ उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है, जो क्षणिकके अर्थको लेकर होता है

---

१. देखो पृष्ठ १९- २. यो० भू० (भूमि ३,४,५) "प्रत्यय इत्व रात्ययसंगत उत्पादः प्रतीत्य-समुत्पादः क्षणिकार्थमधिकृत्य।" ३. वहीं।

अथवा प्रत्यय अर्थात् अतीत (=खतम हुई चीज)से अपने प्रवाहमें उत्पाद। 'इसके होनेके बाद यह होता है', 'इसके उत्पादसे यह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह नहीं', पहिलीके नष्ट-विनष्ट होनेपर उत्पाद इस अर्थमें। अथवा अतीत कालमे प्रत्यय (=खतम) हो जानेपर साथ ही उसी प्रवाहमें उत्पत्ति प्रतीत्य-समुत्पाद है।

और भी[1]—

"प्रतीत्य-समुत्पाद क्या है? निःसत्त्व (=अन्-आत्मा) के अर्थमें . . । निःसत्त्व होनेसे अनित्य है इस अर्थमें । अनित्य होनेपर गति-शीलके अर्थमे। गतिशील होनेपर परतन्त्रताके अर्थमें । परतंत्र होनेपर निरीहके अर्थमे । निरीह होनेपर कार्य-कारण (=हेतु-फल) व्यवस्थाके खडित हो जानेके अर्थमे। (कार्य-कारण) व्यवस्थाके खंडित होनेपर अनुकूल कार्य-कारणकी प्रवृत्तिके अर्थमे । अनुरूप कार्य-कारणकी प्रवृत्ति होनेपर कर्मके स्वभावके अर्थमे ।

अनित्य, दुःख, शून्य और नैरात्म्य (=नित्य आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना)के अर्थमें होनेसे भगवान (बुद्ध)ने प्रतीत्य-समुत्पादके बारेमे कहा[2] "प्रतीत्य-समुत्पाद गम्भीर है।"

"(वस्तुएँ) प्रतिक्षण नये-नये रूपमे जीवन-यात्रा (=प्रवृत्ति) करती है। प्रतीत्य-समुत्पाद क्षणभंगुर है।"[3]

(४) हेतु विद्या

असंगने विद्या (=ज्ञान)को पाँच प्रकारकी माना है[4]—(१) अध्यात्मविद्या जिसमे बुद्धोक्त सूत्र, विनय और मातृका (=अभि-धर्म। अर्थात् त्रिपिटक तथा उसमे वर्णित विषय सम्मिलित हैं; (२) चिकित्सा-

---

१. वहीं कुछ पहिले। २ संयुत्तनिकाय २।९२; दीघनिकाय २।५५
३. "प्रतिक्षणं च नव लक्षणानिप्रवर्तन्ते। क्षणभंगुरश्च प्रतीत्य-समुत्पादः"।
४. यो० भू० (श्रुतमयी भूमि १०)

विद्या या वैद्यकशास्त्र; (३) हेतुविद्या या तर्कशास्त्र; (४) शब्दविद्या जिससे धर्म, अर्थ, पुद्गल (=जीव), काल, संख्या और अखिलाधिकरण (=व्याकरणशास्त्र) का ज्ञान होता है, और शिल्पकर्मस्थानविद्या (=शिल्पशास्त्र)।

हेतुविद्याको कुछ विस्तारपूर्वक समझाते हुए असंग उसे छ भागोंमें बाँटते हैं—(१) वाद, (२) वाद-अधिकरण, (३) वाद-अधिष्ठान, (४) वाद-अलंकार, (५) वाद-निग्रह और (६) वादेबहुकर (=वाद-उपयोगी) बातें।

(क) वाद—वाद बहस या सलाप छ प्रकारके होते हैं।

(a) वाद—जो कुछ मुँहसे बोला जाये, वह वाद है।

(b) प्रवाद—लोकश्रुति या जनश्रुति प्रवाद है।

(c) विवाद—भोगोंके रखने-छीननेके सम्बन्धमें अथवा दृष्टि (=दर्शन) या विचारके संबंधमें परस्पर विरोधी वाद (=वाग्युद्ध) विवाद है।[1]

(d) अपवाद—निन्दा।

(e) अनुवाद—धर्मके बारेमें उठे सन्देहोंके दूर करनेके लिए जो बात की जाये।

(f) अववाद—तत्त्वज्ञान करानेके लिए किया गया वाद।

इनमें विवाद और अपवाद त्याज्य हैं, और अनुवाद तथा अववाद सेवनीय।

(ख) वाद-अधिकरण—वादके उपयुक्त अधिकरण या स्थान दो

---

१. "कामेषु तद्यथा नट-नर्तक-लासक-हासकाद्युपसंहितेषु वा वैश्य जनोपसंहितेषु वा पुनः संदर्शनाय वा उपभोगाय वा...विगृहीतानां ...नानावादः।.....दृष्टेर्वा पुनः आरभ्य तद्यथा सत्कायदृष्टिं, उच्छेददृष्टिं, विषम हेतुदृष्टिं, शाश्वतदृष्टिं, वार्षगण्यदृष्टिं मिथ्यादृष्टिं मिति वा.....नानावादः।"

हैं, राजा या योग्यकुलकी परिषद् और धर्म-अर्थमें निपुण ब्राह्मणों या श्रमणों-की सभा।

(ग) **वाद-अधिष्ठान**—वादके अधिष्ठान (=मुख्य विषय) हैं दो प्रकारके साध्य और साध्यको सिद्ध करनेके लिए उपयुक्त होनेवाले आठ प्रकारके साधन। इसमें साध्यके सत्-असत्के स्वभाव (=स्वरूप) तथा नित्य-अनित्य, भौतिक-अभौतिक आदि विशेषको लेकर साध्यके स्वभाव और विशेष ये दो भेद होते हैं।

(**आठ साधन**) साध्य वस्तुके सिद्ध करनेवाले साधन निम्न आठ प्रकारके हैं।

(a) **प्रतिज्ञा**—स्वभाव या विशेषवाले दोनों प्रकारके साध्योंको लेकर (वादी-प्रतिवादीका) जो अपने पक्षका परिग्रह (=ग्रहण) है। वही प्रतिज्ञा है। यह पक्ष-परिग्रह शास्त्र (-मत)की स्वीकृतिसे हो सकता है या अपनी प्रतिभासे, या दूसरेके तिरस्कारसे या दूसरेके शास्त्रीय मत (=अनुभव) से, या तत्त्व-साक्षात्कारसे, या अपने पक्षकी स्थापनासे, या पर-पक्षके दूषणसे, या दूसरेके पराजयसे, या दूसरेपर अनुकंपासे भी हो सकता है।

(b) **हेतु**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए सारूप्य (=सादृश्य) या वैरूप्य उदाहरणकी सहायतासे, अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान या आप्त-आगम (=शब्दप्रमाण, ग्रंथ-प्रमाण) से युक्तिका कहना हेतु है।

(c) **उदाहरण**—उसी प्रतिज्ञावाली बातकी सिद्धिके लिए हेतुपर आश्रित दुनियामें उचित प्रसिद्ध वस्तुको लेकर बात करना उदाहरण है।

(d) **सारूप्य**—किसी चीजका किसीके साथ सादृश्य सारूप्य कहा जाता है। यह पाँच प्रकारका होता है।—(१) वर्तमान या पूर्वमे देखे हेतुसे चिह्नको लेकर एक दूसरेका सादृश्य **लिंग-सादृश्य** है; (२) परस्पर स्वरूप (=लक्षण) सादृश्य **स्वभाव-सादृश्य** कहा जाता है, (३) परस्पर क्रिया-सादृश्यको **कर्म-सादृश्य** कहते हैं; (४) धर्मता (=गुण)

सादृश्य धर्म-सादृश्य कहा जाता है, जैसे अनित्यमें दुःख धर्मताका सादृश्य दुःखमें नैरात्म्यधर्मताका, निरात्मकोंमें जन्म-धर्मताका इत्यादि; (५) हेतुफल-सादृश्य परस्पर कार्य-कारण बननेका सादृश्य है।

(e) वैरूप्य—किसी वस्तुका किसी वस्तुके साथ अ-सदृश होना वैरूप्य है। यह भी लिंग–, स्वभाव–, कर्म–, धर्म–, और हेतुफल–वैसा–दृश्योंके तौरपर पाँच प्रकारका होता है।

(f) प्रत्यक्ष—प्रत्यक्ष उसे कहते हैं, जो कि अ-परोक्ष (=इन्द्रियसे परेका नहीं) अनभ्यूहितअनभ्यूह्य और अ-भ्रान्त है।[1] यहाँ जो कल्पना नहीं, सिर्फ (इन्द्रियके) ग्रहण मात्रसे सिद्ध है, और जो वस्तु (=विषय) पर आधारित है,[2] उसे अनभ्यूहित-अनभ्यूह्य कहते हैं। अभ्रान्त उसे कहते हैं, जो कि पाँच भ्रान्तियोंसे मुक्त है। यह पाँच भ्रान्तियाँ हैं—

(i) संज्ञा भ्रान्ति—जैसे मृगतृष्णावाली (मरु)-मरीचिकामें पानी, की संज्ञा (=ज्ञान)।

(ii) संख्या-भ्रान्ति—जैसे धुन्धवालेका एक चन्द्रमें दो चन्द्रको देखना।

(iii) संस्थान-भ्रान्ति—जैसे बनेठी (=अलात) में (प्रकाश-) चक्रकी भ्रान्ति संस्थान (=आकार)-संबंधी भ्रान्ति है।

(iv) वर्ण-भ्रान्ति—जैसे कामला रोगवाले आदमीको न-पीली चीजें भी पीली दिखलाई पड़ती हैं।

(v) कर्म-भ्रान्ति—जैसे कड़ी मुट्ठी बाँधकर दौड़नेवालेको वृक्ष पीछे चले आते दीख पड़ते हैं।

---

१. "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तं"—धर्मकीर्ति, पृ० ७६५ (असंगानुज वसुबन्धुके शिष्य दिग्नागका भी यही मत)।

२. "यो ग्रहणमात्रप्रसिद्धोऽनभ्यूह्यायमो विषयः यश्च विषयप्रतिष्ठोपलब्धामयो विषयः" यो० भू०

चित्त-भ्रान्ति—उक्त पाँचों भ्रान्तियोंसे भ्रमपूर्ण विषयमें चित्तकी रति चित्त-भ्रान्ति है।

दृष्टि-भ्रान्ति—उक्त पाँचों भ्रान्तियोंसे भ्रमपूर्ण विषयमें जो रुचि, स्थिति, मंगल मानना, आसक्ति है, उसे दृष्टिभ्रान्ति कहते हैं।

प्रत्यक्ष चार प्रकार का होता है—रूपी (=भौतिक), इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मन-अनुभव-प्रत्यक्ष, लोक-प्रत्यक्ष और शुद्ध-प्रत्यक्ष।[1] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष और मन-अनुभव प्रत्यक्षका ही नाम लोक-प्रत्यक्ष है, यह असंग खुद मानते हैं।[2] इस प्रकार प्रत्यक्ष तीन ही हैं, जिन्हें धर्मकीर्ति (दिग्नाग, और शायद उनके गुरु वसुबन्धु भी) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष कहते हैं। हाँ वह लोक-प्रत्यक्षकी जगह स्वसंवेदन-प्रत्यक्षसे चारकी संख्या पूरी करा देते हैं, इस तरह प्रत्यक्षके अपरोक्ष, कल्पना-रहित (=कल्पना-पोढ) अभ्रान्त इस प्रत्यक्ष-लक्षण और इन्द्रिय-, मानस-, योगि-प्रत्यक्ष इन तीन भेदोंकी परम्पराको हम बौद्धन्यायके सबसे पीछेके ग्रंथकारों ज्ञानश्री आदिसे लेकर असंग तक पाते हैं। असंगसे पौने दो शताब्दी पहिले नागार्जुनसे और नागार्जुनसे शताब्दी पहिले अश्वघोष तक उसे जोड़नेका हमारे पास साधन नहीं है।

(४) **अनुमान**—ऊहा (=तर्क) से अभ्यूहित (=तर्कित) और तर्कणीय जिसका विषय है वह अनुमान है। इसके पाँच भेद होते हैं—(१) लिंग से किया गया अनुमान, जैसे ध्वजसे रथका अनुमान, धूमसे अग्नि, राजासे राष्ट्र, पतिसे स्त्री, ककुद (=डडा)-सींगसे बैलका अनुमान, (२) स्वभाव-से अनुमान यह एक देश (=अंश)से सारेका अनुमान है, जैसे एक चावलके पकनेसे सारी हांडीके पकनेका अनुमान, (३) कर्मसे अनुमान, जैसे हिलने, अंग-चालनसे पुरुषका अनुमान, पैरकी चालसे हाथी, शरीरकी गतिसे साँप, हिनहिनानेसे घोड़े, होकड़नेसे साँढका अनुमान; देखनेसे आँख, सुननेसे

---

१. शुद्ध-प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष ही है "यो लोकोत्तरस्य ज्ञानस्य विषयः।"

२. "तदुभयमेकध्यमभिसंक्षिप्य लोक-प्रत्यक्षमित्युच्यते।" यो० भू०

कान, सूंघनेसे घ्राण, चखनेसे जिह्वा, छूनेसे त्वक्, जाननेसे मनका अनुमान; पानीमें वेलनेको रुकावटसे पृथिवी, चिकने हरे होनेसे जल, दाह-भस्म देखनेसे अग्नि, वनस्पतिके हिलनेसे हवा। (४) धर्म (=गुण)से अनुमान, जैसा अनित्य होनेसे दुःख होनेका अनुमान, दुःख होनेसे शून्य और अनात्मक होनेका अनुमान। (५) कार्य-कारण (=हेतु-फल) से अनुमान, अर्थात् कार्यसे कारणका अनुमान तथा कारणमें कार्यका अनुमान, जैसे राजाकी सेवासे महाऐश्वर्य (=महाभिसार)के लाभका अनुमान, महाऐश्वर्यके लाभसे राज-सेवाका अनुमान, बहुत भोजनसे तृप्ति, तृप्तिसे बहुत भोजन, विषम भोजनसे व्याधि, व्याधिसे विषम भोजनका अनुमान।

धर्मकीर्तिने तादात्म्य और तदुत्पत्तिसे अनुमानके जिन भेदोंको बतलाया है, वे असंगके इन भेदोंमें भी मौजूद हैं।

(h) आप्तागम—यहाँ शब्द प्रमाण है।

(घ) वाद-अलंकार—वादमें भूषण रूप हैं वक्ताकी निम्न पाँच योग्यताएँ—(१) स्व-पर-समयज्ञता—अपने और पराये मतोंकी अभिज्ञता। (२) वाक्कर्म-संपन्नता—बोलनेमें निपुणता जोकि अग्राम्य, लघु (=सुबोध), ओजस्वी, सबद्ध (=परस्पर अ-विरोधी और अशिथिल) और सु-अर्थ शब्दोंके प्रयोगको कहते है। (३) वैशारद्य—सभामें अदीनता, निर्भीकता, न-पीला मुख होने, गदगद स्वर न होने, अदीन वचन होनेको कहते हैं। (४) स्थैर्य—काल लेकर जल्दी किये बिना बोलना। (५) दाक्षिण्य—मित्रको भाँति पर-चित्तके अनुकूल बात करनेका ढंग।

(ङ) वाद-निग्रह—वादमें पकड़ा जाना, जिससे कि वादी पराजित हो जाता है। ये तीन हैं—कथा-त्याग, कथा-साद (=इधर-उधरकी बातें करने लगना) और कथा-दोष। बेठीक बोलना, अ-परिमित बोलना, अनर्थवाली बात बोलना, बेसमय बोलना, अ-स्थिर, अ-दीप्त और अ-सबद्ध बोलना ये कथा-दोष है।

(च) वाद-निःसरण—गुण-दोष, कौशल्य (=निपुणता) और सभाकी परीक्षा करके वादको न करना वाद-निःसरण है।

(छ) **वादेबहुकर बातें**--ये हैं वादकी उपयोगी बातें स्व-पर-मत-अभिज्ञता, वैशारद्य और प्रतिभान्विता।

(५) परमत-खंडन

असंगने "योगाचार-भूमि"में सोलह पर-वादों (=दूसरोंके मतों) को देकर उनका खंडन किया है। वे पर-वाद हैं—

(क) **हेतु-फल-सद्वाद**—हेतु (=कारण)में फल (=कार्य) सदा मौजूद रहता है, जैसा कि **सांख्य** (सांख्य) मानते हैं। ये अपने इस सद्वाद (पीछे यही सत्कार्यवाद) को आगम (=ग्रंथ) पर आधारित तथा युक्ति-सम्मत मानते हैं। वे कहते हैं, जो फल (=कार्य) जिससे उत्पन्न होता वह उसका हेतु (=कारण) होता है; इसीलिए आदमी जिस फलको चाहता है, वह उसीके हेतुका उपयोग करता है, दूसरेका नहीं। यदि ऐसा न होता तो जिस किसी वस्तु (तेलके लिए तिल नहीं रेत आदि किसी भी चीज) का भी उपयोग करता।

खंडन--मगर उनका यह वाद गलत है। आप हेतु (=कारण) को फल (=कार्य)-स्वरूप मानते हैं या भिन्न स्वरूप? यदि हेतु फल-स्वरूप ही है, अर्थात् दोनों अभिन्न हैं, तो हेतु और फल, हेतुसे फल यह कहना गलत है। यदि भिन्न स्वरूप हैं, तो सवाल होगा--वह भिन्न स्वरूप उत्पन्न हुआ है या अनुत्पन्न? उत्पन्न माननेपर, 'हेतुमे फल हैं' कहना ठीक नहीं। यदि उत्पन्न मानते हैं, तो जो अनुत्पन्न है, वह हेतुमें "है" कैसे कहा जायेगा? इसलिए हेतुमे फलका सद्भाव नहीं होता, हेतुके होनेपर फल उत्पन्न होता है। अतएव "नित्य काल सनातनसे हेतुमे फल विद्यमान है" यह कहना ठीक नहीं है। यह वाद अयोग-विहित (=युक्ति-रहित) है।

(ख) **अभिव्यक्तिवाद**--अभिव्यक्ति या अभिव्यजनावादके अनुसार पदार्थ उत्पन्न नहीं होते, बल्कि अभिव्यक्त (=प्रकाशित) होते हैं। हेतु-फल-सद्वादके माननेवाले सांख्यों और शब्द-लक्षणवादी वैयाकरणोंका

यही मत है। हेतु-फल-सद्भावके अनुसार फल (=कार्य) यदि पहिलेहीसे मौजूद है, तो प्रयत्न करनेकी क्या जरूरत ? अभिव्यक्तिके लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

खंडन—क्या आप अनभिव्यक्तिमें आवरण करनेवाले कारणके होनेको मानते हैं या न होनेको ? "आवरण-कारणके न होनेपर" यह कह नही सकते। "होनेपर" भी नही कह सकते, क्योंकि जब वह हेतुको नहीं ढाँक सकता, जो कि सदा फल-संयुक्त है, तो फलको कैसे ढाँक सकता है ? हेतु-फल सद्भाव वस्तुतः गलत है, वस्तुओंके अभिव्यक्त न होनेके छ कारण हैं[1]—(१) दूर होनेसे, (२) चार प्रकारके आवरणोंसे ढँके होनेसे, (३) सूक्ष्म होनेसे, (४) चित्तके विक्षेपसे, (५) इन्द्रियके उपघातसे, (६) इन्द्रिय-संबंधी ज्ञानोंके न पानेसे।

जिस तरह सांख्योंका हेतु-फल-अभिव्यक्तिवाद गलत है, वैसे ही वैयाकरणों (और मीमांसकोंका भी) शब्द-अभिव्यक्तिवाद भी गलत है। "शब्द नित्य है" यह युक्तिहीन वाद है।

(ग) भूत-भविष्यके द्रव्योंका सद्भाव—यह बौद्ध सर्वास्तिवादियोंका मत है, अश्वघोष (५० ई०)से असंगके वक्त तक गंधार (असंगकी जन्म-भूमि) सर्वास्तिवादियोंका गढ़ चला आया था। असंगके अनुज वसुबन्धुका महान् ग्रंथ अभिधर्मकोश तथा उसपर स्वरचित-भाष्य सर्वास्तिवाद (=वैभाषिक) के ही ग्रंथ हैं। लेकिन अब गंधार तथा सारे भारतसे इन प्राचीन (=स्थविर) बौद्ध संप्रदायोंका लोप होनेवाला था और उनका स्थान महायान लेने जा रहा था। सर्वास्तिवादी कहते "अतीत (=भूत) है, अनागत (=भविष्य) है, दोनों उसी तरह लक्षण-संपन्न हैं जैसे कि वर्तमान द्रव्य।"

---

१. ईश्वरकृष्णने भी सांख्य-कारिकामें इन हेतुओंको गिनाया है। ईश्वर-कृष्णका दूसरा नाम विन्ध्यवासी भी था, और उनकी प्रतिद्वंद्विता असंगानुज वसुबन्धुसे थी, यह हमें चीनी लेखोंसे मालूम है।

खंडन—असंग इसका खंडन करते हुए कहते हैं—इन (अतीत-अनागत) *काल-संबंधी वस्तुओं (=धर्मों) को नित्य मानते हो या अनित्य?* यदि नित्य मानते हो, तो त्रिकाल-संबद्ध नहीं बल्कि कालातीत होंगे। यदि अनित्य लक्षण (=स्वरूप) मानते हो, तो "तीनों कालोंमें वैसा ही विद्यमान है" यह कहना ठीक नहीं।

(घ) आत्मवाद—आत्मा, सत्त्व, जीव, पोत या पुद्गल नामधारी एक स्थिर सत्य तत्त्वको मानना आत्मवाद है; (उपनिषदका यह प्रधान मत है)। असंग इसका खंडन करते हैं—जो देखता है वह आत्मा है यह भी युक्ति-युक्त नहीं। आत्माकी धारणा न प्रत्यक्ष पदार्थमें होती है, न अनुमान-गम्य पदार्थमें ही। यदि चेष्टा (=शरीर-क्रिया) को बुद्धि-हेतुक मानें, तो 'आत्मा चेष्टा करता है' यह कहना ठीक नहीं। नित्य आत्मा चेष्टा कर नहीं सकता। नित्य आत्मा सुख-दुःखमें भी लिप्त नहीं हो सकता।

वस्तुतः धर्मों (=सांसारिक वस्तु-घटनाओं)में आत्मा एक कल्पना मात्र है। सारे "धर्म" अनित्य, अध्रुव, अन्-आश्वासिक, विकारी, जन्म-जरा-व्याधिवाले है, दुःख मात्र उनका स्वरूप है। इसीलिए भगवान्ने कहा—"भिक्षुओ! ये धर्म (=वस्तुएँ) ही आत्मा हैं। भिक्षु! यह तेरा आत्मा अ-ध्रुव, अन्-आश्वासिक, विपरिणामी (=विकारी) है।" यह सत्त्वकी कल्पना संस्कारों (=कृत वस्तुओं, घटनाओं)में ही समझनी चाहिए, दुनियामें व्यवहारकी आसानी[1] के लिए ऐसा किया जाता है। वस्तुतः सत्त्व या आत्मा नामकी वस्तु कोई नहीं है। आत्मवाद युक्तिहीन वाद है।

(ङ) शाश्वतवाद[2]—आत्मा और लोकको शाश्वत, अकृत, अकृत-कृत, अनिर्मित, अनिर्माणकृत, अवध्य, कूटस्थायी मानना शाश्वतवाद है। कितने ही (यूनानी दार्शनिकोंकी) परमाणु नित्यताको माननेवाले भी शाश्वतवादी होते हैं। परमाणु नित्यवादके बारेमें आगे कहेंगे।

---

१. "सुख-संव्यवहारार्थम्।" २. प्रकुध कात्यायन, पृष्ठ ५९२

(**ख**) **पूर्वकृतहेतुवाद**[1]—जो कुछ आदमीको भोग भोगना पड़ रहा है, वह सभी पूर्वके किये कर्मोंके कारण हैं, इसे कहते हैं पूर्वकृत-हेतुवाद, यह जैनोंका मत है। दुनियामें ठीकसे काम करनेवालोंको दुःख पाते, झूठे काम करनेवालोंको हम सुख पाते देखते हैं। यदि पुरुष-प्रयत्नके आधीन होता, तो ऐसा न होता। इसलिए यह सब पूर्वकृतहेतुक, पुरिविलेका फल है।

असंग इस बातसे बिल्कुल इन्कार नहीं करते, हाँ, वह साथ ही पुरुषके आजके प्रयत्नको भी फलदायक मानते हैं।

(**छ**) **ईश्वरादिकर्तृत्ववाद**—इसके अनुसार पुरुष जो कुछ भी पवेदना (=अनुभव) करता है, वह सभी ईश्वरके करनेके कारण होता है। मनुष्य शुभ करना चाहता है, पाप कर बैठता है; स्वर्गलोकमें जानेकी कामना करता है, नरकमें चला जाता है; सुख भोगनेकी इच्छा रखते दुःख ही भोगता है। चूँकि ऐसा देखा जाता है, इससे जान पड़ता है कि भावोंका कोई कर्त्ता, स्रष्टा, निर्माता, पितासा ईश्वर है।

खंडन—ईश्वरमें जगत् बनानेकी शक्ति (जीवोंके) कर्मके कारण है, या बिना कारण ही? कर्मके कारण (=हेतु) होनेसे सहेतुक है हो, फिर ईश्वरका क्या काम? यदि कर्मके कारण नहीं, अतएव अहेतुक है, तब भी ठीक नहीं। फिर सवाल होगा—(सृष्टिकर्त्ता) ईश्वर जगत्के अन्तर्भूत है या नहीं? यदि अन्तर्भूत है, तो जगत्से समानधर्मा हो वह जगत् सृजता है, यह ठीक नहीं है; यदि अन्तर्भूत नहीं है, तो (जगत्से) मुक्त (या दूर) जगत् सृजता है, यह भी ठीक नहीं। फिर प्रश्न है—वह जगत्को सप्रयोजन सृजता है या निष्प्रयोजन? यदि सप्रयोजन तो उस प्रयोजनके प्रति अनीश्वर (=बेबस) है फिर जगदीश्वर कैसे? यदि निष्प्रयोजन सृजता है, तो यह भी ठीक नहीं (यह तो मूर्ख चेष्टित होगा)। इसी तरह, यदि ईश्वरहेतुक सृष्टि होती है, तो जब ईश्वर है तब सृष्टि, जब

---

१. महावीर, पृष्ठ ४९६

सृष्टि है तब ईश्वर और यह ठीक नहीं; (क्योंकि दोनों तब अनादि होंगे)। ईश्वर-इच्छाके कारण सृष्टि है. इसमे भी वही दोष है। इस प्रकार सामर्थ्य, जगत्‌मे अन्तर्भूत-अनन्तर्भूत होने, सप्रयोजन-निष्प्रयोजन, और हेतु होनेकी बात लेकर विचार करनेसे पता लगा कि सृष्टिकर्त्ता ईश्वर मानना बिल्कुल अयुक्त है।

(ज) **हिंसाधर्मवाद**—जो यज्ञमे मंत्रविधिके अनुसार हिंसा (= प्राणातिपात) करता है, हवन करता है या जो हवन होता है (पशु), और जो इसमे सहायक होता है, सभी स्वर्ग जाते हैं—यह याज्ञिकों (और मीमांसकों) का मत हिंसाधर्मवाद है। कलियुगके आनेपर ब्राह्मणोंने पुराने ब्राह्मण-धर्मको छोड़ मांस खानेकी इच्छासे इस (हिंसाधर्म) का विधान किया।

हेतु, दृष्टान्त, व्यभिचार, फलशक्तिके अभाव, मत्रप्रणेताके संबंधसे विचार करने पर यह वाद अयुक्त ठहरता है।

(झ) **अन्तानन्तिकवाद**—लोक अन्तवान्, लोक अनन्तवान् है, इस वादको अन्तानन्तिकवाद कहते हैं। बुद्धके उपदेशों[1] में भी इस वादका जिक्र आया है।

(ञ) **अमराविक्षेपवाद**—यह वाद भी बुद्ध-वचनोंमें मिलता है, और पहिले इसके बारेमे कहा जा चुका है।[2]

(ट) **अहेतुकवाद**—आत्मा और लोक अहेतुक (=बिना हेतुके) हो है, यह अहेतुकवाद है, यह भी पीछे आ चुका है।[3] अभावके अनुस्मरण, आत्माके अनुस्मरण, बाह्य-आभ्यन्तर जगत्‌मे निर्हेतुक वैचित्र्यपर विचार करनेसे यह वाद अयुक्त जान पड़ता है।

(ठ) **उच्छेदवाद**[4]—आत्मा रूपी, स्थूल चार महाभूतोसे बना है, वह रोग-, गंड-, शल्य-सहित है। मरनेके बाद वह उच्छिन्न हो जाता है,

---

१. देखो दीघनिकाय १।१ २. देखो पीछे, पृष्ठ ४९३
३. देखो पीछे, पृष्ठ ४८९ ४. देखो पीछे, पृष्ठ ४८७-८

नष्ट हो जाता है, फिर नहीं रहता। जिस तरह टूटे कपाल (बर्तनके टुकड़े) जुड़ने लायक नहीं होते, जिस तरह टूटा पत्थर अप्रतिसन्धिक होता है, वैसे ही यहाँ (आत्माके बारेमें) भी समझना चाहिए।

खंडन—यदि आत्मा (पाँच) स्कन्ध है, तो स्कन्ध (स्वरूपसे नाशमान होते भी) परंपरासे चलते रहते हैं, वैसे ही आत्माको भी मानना चाहिए। रूपी, औदारिक, चातुर्महाभूतिक, सराग, सगंड, सशल्य आत्मा होता, तो देवलोकोंसे वह इससे भिन्न रूपमें कैसे दीख पड़ता है?

उच्छेदवाद अर्थात् भौतिकवादके विरुद्ध बस इतनी ही युक्ति दे असंगने मौन धारण किया है।

(ङ) नास्तिकवाद—दान-यज्ञ कुछ नहीं, यह लोक परलोक कुछ नहीं, सुकृत दुष्कृतका फल नहीं होता—यह नास्तिकवाद, पहिले[1] भी आ चुका है।

(ढ) अग्रवाद—ब्राह्मण ही अग्र (=उच्च श्रेष्ठ) वर्ण है, दूसरे वर्ण हीन हैं, ब्राह्मण शुक्ल वर्ण हैं, दूसरे वर्ण कृष्ण हैं, ब्राह्मण शुद्ध होते हैं, अब्राह्मण नहीं; ब्राह्मण ब्रह्माके औरस पुत्र मुखसे उत्पन्न ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्गत, ब्रह्म-पार्षद हैं, जैसे कि कलियुगवाले ये ब्राह्मण।

खंडन—ब्राह्मण भी दूसरे वर्णोंकी भाँति प्रत्यक्ष मातृ-योनिसे उत्पन्न हुए देखे जाते हैं, (फिर ब्रह्माका औरस पुत्र कहना ठीक नहीं), अतः "ब्राह्मण अग्रवर्ण हैं" कहना ठीक नहीं। क्या योनिसे उत्पन्न होनेके ही कारण ब्राह्मण-को अग्र मानते हो, या उसमें विद्या और सदाचारकी भी जरूरत समझते हो? यदि योनिसे ही मानते हो, तो यज्ञमें श्रुत-प्रधान, शील-प्रधान ब्राह्मण-के लेनेकी बात क्यों करते हो? यदि श्रुत (=विद्या) और शील (=सदाचार)को मानते हो, तो 'ब्राह्मण अग्र वर्ण हैं' कहना ठीक नहीं।

(ण) शुद्धिवाद—जो सुन्दरिका नदीमें नहाता है, उसके सारे पाप धुल जाते हैं, इसी तरह बाहुदा, गया, सरस्वती, गंगामें नहानेसे पाप छूटता

---

[1] देखो, पृष्ठ ४८७

है। कोई उदक स्नान मात्रसे शुद्धि मानते हैं। कोई कुक्कुर व्रत (=कुक्कुरकी तरह हाथ बिना लगाये मुँहसे खाना, वैसे ही हाथ पैर करके बैठना-चलना आदि), गोव्रत, तैलमसि-व्रत, नग्न-व्रत, भस्म-व्रत, काष्ठ-व्रत, विष्ठा-व्रत जैसे व्रतोंसे शुद्धि मानते हैं; इसे शुद्धिवाद कहते है।

खंडन—शुद्धि आध्यात्मिक बात है, फिर वह तीर्थ-स्नानसे कैसे हो सकती है?

(त) **कौतुकमंगलवाद**—सूर्य-ग्रहण, चन्द्र-ग्रहण, ग्रहों-नक्षत्रोंकी विशेष स्थितिमे आदमीके मनोरथोंकी सिद्धि या असिद्धि होती है। इसलिए ऐसा विश्वास रखनेवाले (=कौतुकमगलवादी) लोग सूर्य आदिकी पूजा करते है, होम, जप, तर्पण, कुम्भ, बेल (=बिल्व), शंख आदि चढ़ाते हैं, जैसा कि जोतिसी (=गाणितिक) करते हैं।

खडन—आप सूर्य-चन्द्र-ग्रहण आदिके कारण पुरुषकी सम्पत्ति-विपत्तिको मानते हैं या उसके अपने शुभ-अशुभ कर्मसे? यदि ग्रहण आदिसे तो शुभ-अशुभ कर्म फजूल, यदि शुभ-अशुभ कर्मसे तो ग्रहणसे कहना ठीक नही।

४—अन्य विचार

असगने स्कध द्रव्य, परमाणुके बारेमे भी अपने विचार प्रकट किए हैं।

(१) स्कध—

(क) **रूप-स्कध या द्रव्य**—रूप-समुदाय (=रूपस्कध)मे चौदह द्रव्य है—पृथिवी-जल-अग्नि-वायु चार महाभूत, रूप-शब्द-गन्ध-रस स्प्रष्टव्य पाच इन्द्रिय-विषय और चक्षु-श्रोत-घ्राण-जिह्वा-काय (=त्वक) पाँच इन्द्रियाँ।

ये द्रव्य कही-कही अकेले मिलते हैं, जैसे हीरा-शंख-शिला-मूँगा आदिमे

अकेला पृथिवी-द्रव्य, चश्मा-सार-तड़ाग-नदी-प्रपात आदिमें सिर्फ अकेला जल, दीपक-उल्का आदिमें अकेला अग्नि, पुरवा-पछवाँ आदिमें अकेला वायु। कहीं दो-दो द्रव्य इकट्ठा मिलते हैं, जैसे बर्फ-पत्ता-फल-फूल आदिमें और मणि आदिमें भी। कहीं-कहीं वृक्षादिके तप्त होनेपर तीन भी। और कहीं-कहीं चार भी, जैसे शरीरके भीतरके केशसे लेकर मल-मूत्र तकमें। खक्खट (=खटखट) होना पृथिवीका सूचक है, बहना जलका, ऊपरकी ओर जलना अग्निका और ऊपरकी ओर जाना वायुका। जहाँ जो-जो मिले, वहाँ उस महाभूतको मानना चाहिए। सभी रूप-समुदायमें सारे महाभूत रहते हैं, इसीलिए तो सूखे काठ (=पृथिवी)को मथनेसे आग पैदा होती है, अतिसंतप्त लोहा-रूपा- सुवर्ण पिघल जाते हैं।

(ख) वेदना—अनुभव करने को कहते हैं।

(ग) संज्ञा—संज्ञा संजानन, जाननेको कहते हैं।

(घ) संस्कार—चित्तमें संस्कारको कहते हैं।

(ङ) विज्ञान—विज्ञानके बारेमें पहिले कहा जा चुका है।

(२) परमाणु—बौद्धोंकी भाँति परमाणु सारे रूपी स्थूल द्रव्योंका निर्माण करते हैं, वह सूक्ष्म और नित्य होते हैं। असग ऐसे परमाणुओंकी सत्ताका खंडन करते हैं।—

परमाणुके संचयसे रूपसमुदाय नहीं तैयार हो सकता क्योंकि पर-माणुके परिमाण, अन्त, परिच्छेदका ज्ञान बुद्धि (=कल्पना) पर निर्भर है, (प्रत्यक्षपर नहीं)। परमाणु अवयव रहित है, फिर वह सावयव द्रव्योंका निर्माण कैसे कर सकता है? परमाणु अवयव-सहित है, यह नहीं कह सकते, क्योंकि परमाणु ही अवयव है, और अवयव द्रव्यका होता है, परमाणु का नहीं।

परमाणु नित्य हैं, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि इस नित्यताको परीक्षा करके किसीने सिद्ध नहीं किया। सूक्ष्म होनेसे परमाणु नित्य है, यह भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि सूक्ष्म होनेसे तो वह अधिक दुर्बल (अतएव भंगुर) होगा।

§ २–दिग्नाग (४२५ ई०)

वसुबन्धुकी तरह दिग्नागको भी छोडकर आगे बढ़ना नहीं चाहिए, यह मैं मानता हूँ, किंतु मैं धर्मकीर्त्तिके दर्शन के बारेमें उनके प्रमाणवार्त्तिकके आधारपर सविस्तर लिखने जा रहा हूँ। प्रमाणवार्त्तिक वस्तुत: आचार्य दिग्नागके प्रधान ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चयकी** व्याख्या (वार्त्तिक) है—जिसमें धर्मकीर्त्तिने अपनी मौलिक दृष्टिको कितने ही जगह दिग्नागसे मतभेद रखते हुए भी प्रकट किया—इसलिए दिग्नागपर और लिखनेका मतलब पुनरुक्ति और ग्रंथविस्तार होगा। दिग्नागके बारेमें मैंने अन्यत्र[1] लिखा है—

"दिग्नाग (४२५ ई०) वसुबन्धुके शिष्य थे, यह तिब्बतकी परंपरासे मालूम होता है। और तिब्बतमें इस संबंधकी यह परंपराएं आठवीं शताब्दी-में भारतसे गई थीं, इसलिए उन्हें भारतीय-परंपरा ही कहना चाहिए यद्यपि चीनी परंपरामें दिग्नागके वसुबंधुका शिष्य होनेका उल्लेख नहीं है, तो भी वहाँ उसके विरुद्ध भी कुछ नहीं पाया जाता। दिग्नागका काल वसुबंधु और कालिदासके बीचमें हो सकता है, और इस प्रकार उन्हें ४२५ ई० के आसपास माना जा सकता है। न्यायमुखके अतिरिक्त दिग्नागका मुख्य ग्रंथ **प्रमाणसमुच्चय** है, जो सिर्फ तिब्बती भाषामें ही मिलता है। उसी भाषामें प्रमाण समुच्चयपर महावैयाकरण काशिकाविवरणपंजिका (=न्यास)के कर्त्ता जिनेन्द्रबुद्धि (७०० ई०)की टीका भी मिलती है। "

दिग्नागका जन्म तमिल प्रदेशके काञ्ची (=कंजीवरम्)के पास "सिंहवक्र" नामके गाँवमें एक ब्राह्मण-घरमें हुआ था। सयाना होनेपर वह वात्सीपुत्रीय बौद्धसंप्रदायके एक भिक्षु नागदत्तके संपर्कमें आ भिक्षु बने। कुछ समय पढनेके बाद अपने गुरुसे उनका पुद्गल (=आत्मा)[2] के बारेमें

---

१. पुरातत्व-निबंधावली, पृष्ठ २१४-१५

२. वात्सीपुत्रीय बौद्धोंके पुराने सम्प्रदायोंमें वह सम्प्रदाय है, जो अनात्मवादसे साफ इन्कार न करते भी, छिपे तौरसे एक तरहके आत्म-वादका समर्थन करना चाहता था।

मतभेद हो गया, जिसके कारण उन्होंने मठको छोड़ दिया, और वह उत्तर भारतमें आ आचार्य वसुबंधुके शिष्योंमें दाखिल हो गए, और न्यायशास्त्र-का विशेषतौरसे अध्ययन किया। अध्ययनके बाद उन्होंने शास्त्रार्थोंमें प्रतिद्वंदियोंपर विजय (दिग्विजय) पाने और न्यायके थोड़ेसे किंतु गंभीर ग्रंथोंके लिखनेमें समय बिताया।

दिग्नागके प्रधान ग्रंथ प्रमाणसमुच्चयमें परिच्छेदों और श्लोकों (=कारिकाओं) की संख्या निम्न प्रकार है—

परिच्छेद	विषय	श्लोक संख्या
१	प्रत्यक्ष-परीक्षा	४८
२	स्वार्थानुमान-परीक्षा	५१
३	परार्थानुमान-परीक्षा	५०
४	दृष्टान्त-परीक्षा	२१
५	अपोह-परीक्षा	५२
६	जाति-परीक्षा	२५
		२४७

प्रमाण-समुच्चयका मूल संस्कृत अभी तक नहीं मिल सका है, मैंने अपनी चार तिब्बत-यात्राओंमें इस ग्रंथके ढूँढ़नेमें बहुत परिश्रम किया, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिली, किन्तु मुझे अब भी आशा है, कि वह तिब्बतके किसी मठ, स्तूप या मूर्तिके भीतरसे जरूर कभी मिलेगा।

प्रमाणसमुच्चयके प्रथम श्लोकमें दिग्नागने ग्रंथ लिखनेका प्रयोजन इस प्रकार लिखा है[1]—

"जगत्के हितैषी प्रमाणभूत उपदेष्टा ... बुद्धको नमस्कार कर, जहाँ-तहाँ फैले हुए अपने मतोंको यहाँ एक जगह प्रमाणसिद्धिके लिए जमा किया जायेगा।"

---

१. "प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने।
प्रमाणसिद्धयै स्वमतात् समुच्चयः करिष्यते विप्रसितादिहैकतः।"

दिग्नागने अपने ग्रंथोमे दूसरे दर्शनो और वात्स्यायनके न्यायभाष्यकी तो इतनी तर्कसगत आलोचना की है, कि वात्स्यायनके भाष्यपर पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाजको सिर्फ उसका उत्तर देने के लिए न्यायवार्त्तिक लिखना पडा[1]।

§३–धर्मकीर्त्ति (६०० ई०)

डाक्टर श्चेर्वास्कीके शब्दोमे धर्मकीर्ति भारतीय कान्ट थे। धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभाका लोहा उनके पुराने प्रतिद्वंदी भी मानते थे। उद्योतकर (५५० ई०)के "न्यायवार्तिक"को धर्मकीर्त्तिने अपने तर्कशरमे इतना छिन्न-भिन्न कर दिया था, कि वाचस्पति (८४१)ने उसपर टीका[2] करके (धर्मकीर्तिके) "तर्कपकमे-मग्न उद्योतकरकी अत्यन्त बूढ़ी गायोंके उद्धार करने"का पुण्य प्राप्त करना चाहा। जयन्त भट्ट (१००० ई०)ने धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोके कडे आलोचक होते हुए भी उनके "सुनिपुणबुद्धि" होने, तथा उनके प्रयत्नको "जगदभिभव-धीर" माना।[3] अपनेको अद्वितीय कवि और दार्शनिक समझनेवाले श्रीहर्ष (११९२ ई०) ने धर्मकीर्त्तिके तर्कपथको "दुराबाध"[4] कहकर उनकी प्रतिभाका समर्थन किया। वस्तुत: धर्मकीर्त्तिकी प्रतिभाका

---

१. यदक्षपाद:प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद।
कुतार्किकाज्ञाननिवृत्तिहेतुः करिष्यते तस्य मया निबन्धः॥
—न्यायवार्तिक १।१।१

२. न्यायवार्त्तिक-तात्पर्यटोका १।१।१

३. इति सुनिपुणबुद्धिलक्षणं वक्तुकामः पदयुगलमपीदं निर्ममे नानवद्यम्।
भवतु मतिमहिम्नश्चेष्टितं दृष्टमेतज्जगदभिभवधीरं धीमतो धर्मकीर्तेः।
—न्यायमंजरी, पृ० १००

४ दुराबाध इव चायं धर्म्मकीर्तेः पन्था इत्यवहितेन भाव्यमिहेति॥
—खण्डनखण्डखाद्य १

लोहा सबसे ज्यादा आजकी विद्वन्मंडली मान सकती है, क्योंकि आजकी दार्शनिक और वैज्ञानिक प्रगतिमें उसके मूल्यको वह ज्यादा समझ सकते हैं।

१. जीवनी—धर्मकीर्तिका जन्म चोल (=उत्तर तमिल) प्रान्तके तिरुमलै नामक ग्राममें एक ब्राह्मणके घरमें हुआ था। उनके पिताका नाम तिब्बती परंपरामें कोरुनन्द (?) मिलता है, और किसी-किसीमें यह भी कहा गया है, कि वह कुमारिलभट्टके भांजे थे। यदि यह ठीक है—जिसकी बहुत कम संभावना है—तो मामाके तर्कोंका भांजेने जिस तरह प्रमाण-वार्तिकमें खंडन करते हुए मार्मिक परिहास किया है, वह उन्हें सजीव हास्य-प्रिय व्यक्तिके रूपमें हमारे सामने ला रखता है। धर्मकीर्ति बचपनसे ही बड़े प्रतिभाशाली थे। पहिले उन्होंने ब्राह्मणोंके शास्त्रों और वेदों-वेदांगोंका अध्ययन किया। उस समय बौद्धधर्मकी ध्वजा भारतके कोने-कोनेमें फहरा रही थी, और नागार्जुन, वसुबंधु, दिग्नागका बौद्धदर्शन विरोधियोंमें प्रतिष्ठा पा चुका था। धर्मकीर्तिको उसके बारेमें जाननेका मौका मिला और वह उससे इतने प्रभावित हुए कि तिब्बती परंपराके अनुसार उन्होंने बौद्ध गृहस्थोंके वेषमें बाहर आना जाना शुरू किया (?), जिसके कारण ब्राह्मणों-ने उनका बहिष्कार किया। उस वक्त नालन्दाकी ख्याति भारतसे दूर-दूर तक फैली हुई थी। धर्मकीर्ति नालंदा चले आये और अपने समयके महान् विज्ञानवादी दार्शनिक तथा नालन्दाके संघ-स्थविर (=प्रधान) धर्मपालके शिष्य बन भिक्षुसंघमें सम्मिलित हुए।

धर्मकीर्तिकी न्यायशास्त्रके अध्ययनमें ज्यादा रुचि थी, और उसे उन्होंने दिग्नागकी शिष्य-परंपराके आचार्य ईश्वरसेनसे पढ़ा।

विद्या समाप्त करनेके बाद उन्होंने अपना जीवन ग्रंथ लिखने, शास्त्रार्थ करने और पढ़ानेमें बिताया।

(धर्मकीर्तिका काल ६०० ई०)[1]—"चीनी पर्यटक इ-चिङने धर्म-

---

१. मेरी "पुरातत्त्वनिबंधावली", पृष्ठ २१५-१७

कीर्तिका वर्णन अपने ग्रंथमें किया है, इसलिए धर्मकीर्ति ६७९ ई० से पहिले हुए, (इसमे संदेह नही)। ' धर्मकीर्ति नालदाके प्रधान आचार्य धर्मपालके शिष्य थे। युन-च्वेङके समय (६३३ ई०) धर्मपालके शिष्य शीलभद्र नालंदाके प्रधान आचार्य थे, जिनकी आयु उस समय १०६ वर्षकी थी। ऐसी अवस्थामे धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्ति ६३५ ई० में बच्चे नही हो सकते थे।' (धर्मकीर्तिके बारेमे) युन्-च्वेङकी चुप्पीका कारण हो सकता है युन-च्वेङके नालन्दा-निवासके समयसे पूर्वही धर्मकीर्तिका देहान्त हो चुका होना हो। . "

यह और दूसरी बातोंपर विचारते हुए धर्मकीर्तिका समय ६०० ई० ठीक मालूम होता है।

२. **धर्मकीर्तिके ग्रंथ**--धर्मकीर्तिने अपने ग्रंथ सिर्फ प्रमाण-संबद्ध बौद्धदर्शन या बौद्ध प्रमाणशास्त्रपर लिखे है। इनकी संख्या नौ है, जिनमे सात मूल ग्रंथ और दो अपने ही ग्रंथोपर टीकाएँ है।

ग्रंथनाम	ग्रंथपरिमाण (श्लोकोमे)	गद्य या पद्य
१ प्रमाणवार्त्तिक	१४५४३	पद्य
२. प्रमाणविनिश्चय	१३४०	गद्य-पद्य
३ न्यायविन्दु	१७७	गद्य
४ हेतुविन्दु	४४४	गद्य
५ संबंध-परीक्षा	२९	पद्य
६ वाद-न्याय	७९८	गद्य-पद्य
७ सन्तानान्तर-सिद्धि	७२	पद्य
	४३१४३	

टीकाएँ--

१ (८) वृत्ति	३५००	गद्य	प्रमाणवार्त्तिक १ परिच्छेदपर।
२ (९) वृत्ति	१४७	गद्य	संबंधपरीक्षापर
	३६४७		

गोया धर्मकीर्त्तिने मूल और टीका मिलाकर (४३१४$\frac{3}{4}$+३६४७) ७९६१$\frac{3}{4}$ श्लोकोंके बराबर ग्रंथ लिखे हैं। धर्मकीर्त्तिके ग्रंथ कितने महत्त्व-पूर्ण समझे जाते थे, यह इसीसे पता लगता है कि तिब्बती भाषामें अनुवादित बौद्ध न्यायके कुल संस्कृत ग्रंथोंके १७५००० श्लोकोंमें १३७००० धर्मकीर्त्तिके ग्रंथोंकी टीका-अनुटीकाओंके हैं।[2]

---

१. श्लोकसे ३२ अक्षर समझना चाहिए।

२. टीकाएँ इस प्रकार हैं--

मूल ग्रंथ	टीकाकार	किस परिच्छेदपर	ग्रंथ-परिमाण
१. प्रमाण-वार्तिक	१. देवेन्द्रबुद्धि (पंजिका) T	२-४	८,७४८
	२. शाक्यबुद्धि (पंजिका-टीका) T	२-४	१७,०४६
	३. प्रज्ञाकरगुप्त (भाष्य) ST	२-४	१६,२७६
	४. जयानन्त (भाष्यटीका) T	२-४	१८,१४८
	५. यमारि (भाष्यटीका) T	२-४	२६,५५२
	६. रविगुप्त (भाष्यटीका) T	२-४	७,५५२
	७. मनोरथनन्दी (वृत्ति) S	१-४	८,०००
	८. धर्मकीर्त्ति (स्ववृत्ति) TS	१	३,५००
	९. शंकरानंद (स्ववृत्ति-टीका) T (अपूर्ण)	१	७,५७८
	१०. कर्णकगोमी (स्ववृत्ति-टीका) S	१	१०,०००
	११. शाक्यबुद्धि (स्ववृत्तिटीका) T	१	....
२. प्रमाण-विनिश्चय	१. धर्मोत्तर (टीका) T	१-३	१२,४६३
	१. ज्ञानश्री (टीका) T		३,[illegible]
३. न्यायबिन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-३	१,०३०
	२. धर्मोत्तर (टीका) TS	१-३	१,४७७
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) S	१-३	....
	४. कमलशील (टीका) T		२२१

	५. जिनमित्र (टीका) T		३१
४. हेतुबिन्दु	१. विनीतदेव (टीका) T	१-४	२,२६८
	२. अर्चट (विवरण) TS	१-४	१,७६८
	३. दुर्वेकमिश्र (अनु-टीका) T	१-४	"
५. संबंध-परीक्षा	१. धर्मकीर्ति (वृत्ति) T		१४७
	५. विनीतदेव (टीका) T		५४८
	३. शंकरानंद (टीका) T		३८४
६. वादन्याय	१. विनीतदेव (टीका) T		६०९
	२. शान्तरक्षित (टीका) TS		२,९००
७. सन्तानान्तर-सिद्धि	१. विनीतदेव (टीका) T		४७४

I. T. तिब्बती भाषानुवाद उपलब्ध; S=संस्कृत मूल, मौजूद।

II. प्रमाणवार्त्तिकके टीकाकारोंका क्रम इस प्रकार है—
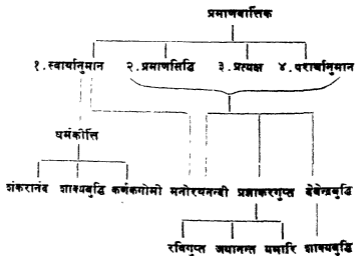
(प्रमाणवार्त्तिक)—यह कह चुके हैं, कि धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्त्तिक दिग्नागके प्रमाणसमुच्चयकी एक स्वतंत्र व्याख्या है। प्रमाणसमुच्चयके छ परिच्छेदोंको हम बतला चुके हैं। प्रमाणवार्त्तिकके चार परिच्छेदोंके विषय प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष-स्वार्थानुमान प्रमाण, और परार्थानुमान-प्रमाण हैं; किन्तु आमतौरसे पुस्तकोंमें यह क्रम पाया जाता है—स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष और परार्थानुमान। यह क्रम गलत है यह समझनेमें दिक्कत नहीं होती, जब हम देखते हैं कि प्रमाणसमुच्चयके जिस भागपर प्रमाणवार्त्तिक लिखा गया है, वह किस क्रमसे है। इसके लिए देखिए, प्रमाण-समुच्चयके भाग और उसपरके प्रमाण-वार्त्तिकको—

III. कालके साथ धर्मकीर्त्तिकी शिष्य-परंपरा—

६०० ई० धर्मकीर्ति
|
६२५ ई० देवेन्द्रबुद्धि
|
६५० ई० शाक्यबुद्धि
|
६७५ ई० जिनेन्द्रबुद्धि प्रज्ञाकरगुप्त धर्माकरदत्त कल्याणरक्षित
|
७०० ई० ज्ञानश्री रविगुप्त धर्मोत्तर
|
७२५ ई० यमारि
|
७५० ई० विनीतदेव
|
७७५ ई० शंकरानंद
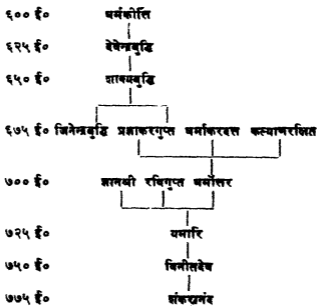
प्रमाणसमुच्चय	परिच्छेद	प्रमाणवार्तिक	परिच्छेद (होना चाहिए)
मंगलाचरण[1]	१।१	प्रमाणसिद्धि	(१)
प्रत्यक्ष	१	प्रत्यक्ष	(२)
स्वार्थानुमान	२	स्वार्थानुमान	(३)
परार्थानुमान	३	परार्थानुमान	(४)

प्रमाणसमुच्चयके बाकी परिच्छेदों—दृष्टान्त[2]-, अपोह[3]-, जाति[4] (=सामान्य)-परीक्षाओं—के बारेमें अलग परिच्छेदोंमें न लिखकर धर्मकीर्तिने उन्हें प्रमाणवार्तिकके इन्हीं चार परिच्छेदोंमें प्रकरणके अनुकूल बाँट दिया है।

न्यायबिन्दु तथा धर्मकीर्तिके दूसरे ग्रंथोंमें भी प्रत्यक्ष, स्वार्थानुमान, परार्थानुमानके युक्तिसंगत क्रमको ही माना गया है; और मनोरथनन्दीने प्रमाणवार्तिकवृत्तिमें यही क्रम स्वीकार किया है, इसलिए भाष्यों, पंजिकाओं, टीकाओं या मूलपाठोंमें सर्वत्र स्वार्थानुमान, प्रमाणसिद्धि, प्रत्यक्ष, परार्थानुमानके क्रमको देखनेपर भी ग्रंथकारका क्रम यह नहीं बल्कि मनोरथनंदी द्वारा स्वीकृत क्रम ही ठीक सिद्ध होता है। क्रममें उलटपुलट हो जानेका कारण धर्मकीर्तिकी स्वार्थानुमानपर स्वरचित वृत्ति है। उनके शिष्य देवेन्द्रबुद्धिने ग्रंथकारकी वृत्तिवाले स्वार्थानुमान परिच्छेदको छोड़कर अपनी पंजिका लिखी, जिससे आगे वृत्ति और पंजिकाको अलग-अलग रखनेके लिए प्रमाणवार्तिकको दो भागोंमें कर दिया गया। इस विभागको और स्थायी रूप देनेमें प्रज्ञाकरगुप्तके भाष्य तथा देवेन्द्रबुद्धिकी पंजिकावाले तीनों परिच्छेदोंके चुनावने सहायता की। इस क्रमको सर्वत्र प्रचलित देखकर मूल कारिकाकी प्रतियोंमें भी लेखकोंको वही क्रम अपना लेना पड़ा।

---

१. देखो पृ० ६९२—फुटनोट २. प्र० वा० ३।३७, ३।१३६
३. वहीं २।१६३-७३ ४. वहीं २।५-५५; २।१४५-६२; ३।५५-१६१; ४।१३३-४८; ४।१७६-८८

यद्यपि मनोरथनंदी द्वारा स्वीकृत क्रमके अनुसार उनकी वृत्तिको मैंने सम्पादित किया है, और वह उपलभ्य है; तो भी मूल प्रमाणवार्तिकको मैंने सर्वस्वीकृत तथा तिब्बती-अनुवाद और तालपत्रमे मिले क्रमसे सम्पादित किया है, और प्रज्ञाकर गुप्तका प्रमाणवार्तिक-भाष्य (वार्तिकालकार) उसी क्रमसे सस्कृतमें मिला प्रकाशित होनेके लिए तैयार है, इसलिए मैंने भी यहाँ परिच्छेद और कारिका देनेमें उसी सर्वस्वीकृत क्रमको स्वीकार किया है।

धर्मकीर्तिके दार्शनिक विचारोंपर लिखते हुए प्रमाणवार्तिकमें आए मुख्य-मुख्य विषयोंपर हम आगे कहने ही वाले हैं, तो भी यहाँ परिच्छेदके क्रमसे मुख्य विषयोंको दे देते हैं—

विषय	परिच्छेद कारिका	विषय	परिच्छेद कारिका
पहिला परिच्छेद (स्वार्थानुमान)		**तीसरा परिच्छेद** (प्रत्यक्षप्रमाण)	
१ ग्रथका प्रयोजन	१।१	१. प्रमाण दो हो— प्रत्यक्ष, अनुमान	३।१
२ हेतुपर विचार	१।३	२. परमार्थ सत्य और व्यवहार सत्य	३।३
३ अभावपर विचार	१।५ (+४।१२६)	३. सामान्य कोई वस्तु नहीं	३।३ (+४।१३१)
४. शब्दपर विचार	१।१८६	४. अनुमान प्रमाण	३।५५
५ शब्द प्रमाण नही	१।२१४	५. प्रत्यक्ष प्रमाण	३।१२३
६. अपौरुषेय वेद प्रमाण नही	१।२२५	६. प्रत्यक्षके भेद	३।१९१
दूसरा परिच्छेद (प्रमाणसिद्धि)			
१. प्रमाणका लक्षण	२।१	७. प्रत्यक्षाभास कौन हैं?	३।२८८
२. बुद्धके वचन क्यों माननीय हैं।	२।२९	८. प्रमाणका फल	३।३००

चौथा परिच्छेद

(परार्थानुमान)

३. **धर्मकीर्त्तिका दर्शन**—धर्मकीर्त्तिने सिर्फ प्रमाण (न्याय) शास्त्र ही पर सातों ग्रंथ लिखे हैं, और उन्हें दर्शनके बारेमें जो कुछ कहना था, उसे इन्हीं प्रमाणशास्त्रीय ग्रंथोंमें कह दिया। इन सात ग्रंथोंमें **प्रमाणवार्त्तिक** (१४५४½ "श्लोक") **प्रमाणविनिश्चय** (१३४० "श्लोक"), **हेतुबिन्दु** (४४४ "श्लोक"), **न्यायबिन्दु** (१७७ "श्लोक")के प्रतिपाद्य विषय एक ही हैं, और उनमें सबसे बड़ा और सक्षेपमें अधिक बातोंपर प्रकाश डालने-वाला ग्रंथ प्रमाणवार्त्तिक है। **वादन्यायमें** आचार्यने अक्षपादके अठारह निग्रहस्थानोंकी भारी भरकम सूचीको फजूल बतलाकर, उसे आधे श्लोकमें कह दिया है[1]—

"निग्रह (=पराजय) स्थान है (वादके लिए) अ-साधन, बातका कथन और (प्रतिवादीके) दोषका न पकड़ना।"

सम्बन्ध-परीक्षाकी २९ कारिकाओंमें धर्मकीर्त्तिने क्षणिकवादके अनुसार कार्य-कारण सबंध कैसे माना जा सकता है, इसे बतलाया है; यह विषय प्रमाणवार्त्तिकमें भी आया है।

---

१. "असाधनांगवचनं अदोषोद्भावनं द्वयोः।"—वादन्याय, पृ० १

सन्तानान्तरसिद्धिके ७२ सूत्रोंमें धर्मकीर्तिने पहिले तो इस मन-सन्तान (मन एक वस्तु नहीं बल्कि प्रतिक्षण नष्ट और नई उत्पन्न होती सन्तान=घटना है)से परे भी दूसरी-दूसरी मन-सन्तानें (सन्तानान्तर) हैं इसे सिद्ध किया है, और अन्तमें बतलाया है कि ये सब मन (=विज्ञान)-सन्तानें किस प्रकार मिलकर दृश्य जगत्को (विज्ञानवादके अनुसार) बाहर क्षेप करती हैं। विज्ञानवादकी चर्चा प्रमाणवार्तिकमें भी धर्मकीर्तिने की है।

धर्मकीर्तिके दर्शनको जाननेके लिए प्रमाणवार्तिक पर्याप्त है।

(१) तत्कालीन दार्शनिक परिस्थिति—धर्मकीर्ति दिग्नागकी भाँति असंगके योगाचार (विज्ञानवाद) दार्शनिक सम्प्रदायके माननेवाले थे। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति जैसे महान् तार्किकोंका शून्यवाद छोड़ विज्ञान-वादसे संबंध होना यह भी बतलाता है, कि हेगेलकी तरह इन्हें भी अपने तर्कसम्मत दार्शनिक विचारोंके लिए विज्ञानवादकी बड़ी जरूरत थी। किन्तु धर्मकीर्ति शुद्ध योगाचार नहीं सौत्रांतिक (या स्वातंत्रिक) योगा-चारी माने जाते हैं। सौत्रांतिक बाहरी जगत्की सत्ताको ही मूलतत्त्व मानते हैं और योगाचारी सिर्फ विज्ञान (=चित्त, मन)को। सौत्रांतिक (या स्वातंत्रिक) योगाचारका मतलब है, बाह्य जगत्को प्रवाह रूपी (क्षणिक) वास्तविकताको स्वीकार करते हुए विज्ञानको मूलतत्त्व मानना—ठीक हेगेलकी भाँति—जिसका अर्थ आजकी भाषामें होगा जड़ (=भौतिक)-तत्त्व विज्ञानका ही वास्तविक गुणात्मक परिवर्तन है। पुराने योगाचार दर्शनमें मूलतत्त्व विज्ञान (चित्त)का विश्लेषण करके उसे दो भागोंमें बाँटा गया था—आलयविज्ञान और प्रवृत्तिविज्ञान। प्रवृत्ति विज्ञान छै हैं—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, स्पर्श—पाँचों ज्ञान-इंद्रियोंके पाँच विज्ञान (=ज्ञान), जो कि विषय तथा इन्द्रियके संपर्क होते वक्त रंग, आकार आदिकी कल्पना उठनेसे पहिले भान होते है, और छठा है मनका विज्ञान। आलय-विज्ञान उक्त छओं विज्ञानोंके साथ जन्मता-मरता भी अपने प्रवाह (=सन्तान)में सारे प्रवृत्ति-विज्ञानोंका आलय (=घर) है। इसीमें पहिलेके संस्कारोंकी वासना और आगे उत्पन्न होनेवाले विज्ञानोंकी वासना

रहती है। यद्यपि क्षणिकताके सदा साथ रहनेसे आलय विज्ञानमे ब्रह्म या आत्माका भ्रम नही हो सकता था, तो भी यह एक तरहका रहस्यपूर्ण तत्व बन जाता था, जिससे विमुक्तसेन, हरिभद्र, धर्मकीर्ति जैसे कितने ही विचारक इसमे प्रच्छन्न आत्मतत्वकी शका करने लगे थे, और वे आलय-विज्ञानके इस सिद्धातको अँधेरेमे तीर चलानेकी तरह खतरनाक समझते थे।[1] धर्मकीर्तिने आलय (-विज्ञान) शब्दका प्रयोग प्रमाणवार्त्तिक[2] में किया है, किन्तु वह है विज्ञान साधारण—के अर्थमे, उसके पीछे वहाँ किसी अदभुत रहस्यमयी शक्तिका ख्याल[3] नही है।

सन्तान रूपेण (क्षणिक या विच्छिन्नप्रवाहरूपेण) भौतिक जगत्की वास्तविकताको साफ तौरमे इन्कार तो नही करना चाहते थे, जैसा कि आगे मालूम होगा, किन्तु बेचारोको था कुछ धर्मसकट भी; यदि अपने तर्कोमे जगह-जगह प्रयुक्त भौतिक तत्वोकी वास्तविकताको साफ स्वीकार करते है, तो धर्मका नकाब गिर जाता है, और वह सीधे भौतिकवादी बन जाते है, इसीलिए स्वातन्त्रिक ही नही किन्तु उन्हें विज्ञानवादी रहना जरूरी था। यूरोपमें भौतिकवादको फूलने-फलनेका मौका तब मिला, जब कि सामन्तवादके गर्भमे एक होनहार जमात—व्यापारी और पूँजीपति—बाहर निकल साइसके आविष्कारोकी सहायतासे अपना प्रभाव बढ़ा रही थी.

---

१. तिब्बती नैयायिक जम्-यङ-शद्-पा (मंजुघोषपाद १६४८-१७२२ ई०) अपने ग्रंथ "सप्तनिबंध-न्यायालंकार-सिद्धिः" (अलंकार-सिद्धि) मे लिखते हैं—"जो लोग कहते हैं कि (धर्मकीर्तिके) सात निबंधों (=ग्रंथों) के मन्तव्योंमें "आलय-विज्ञान" भी है, वह अन्धे हैं, अपने ही अज्ञानान्धकार-में रहनेवाले हैं।"—डाक्टर श्चेर्बात्स्कीकी Buddhist Logic Vol II, p. 329 के फुटनोटमें उद्धृत। २. ३।५२२

३. "आलय" शब्द पुराने पाली सूत्रोंमें भी मिलता है। किंतु वहाँ वह रुचि, अनुनय, या अध्यवसायके अर्थमें आता है। देखो "महाहत्थिपदोपम सुत्त" (मज्झिम-निकाय १।३।८); बुद्धचर्या, पृष्ट १७९

और हर क्षेत्रमें पुराने विचारोंको दकियानूसी कह भौतिक जगत्‌की वास्तविकतापर आधारित विचारोंको प्रोत्साहन दे रहो थी। छठी सदी ईसवीके भारतमें अभी यह अवस्था आनेमें १४ सदियोंकी जरूरत थी; किंतु इसीको कम न समझिए कि भारतीय हेगेल् (धर्मकीर्ति) जर्मनीके हेगेल् (१७७०-१८३१ ई०)से बारह सदियों पहिले हुआ था।

(२) **तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति**—यहाँ जरा इस दर्शनके पीछेकी सामाजिक भित्तिको देखना चाहिए, क्योंकि दर्शन चाहे कितना ही हाड-मांससे नफरत करते हुए अपनेको उससे ऊपर समझे; किन्तु, है वह भी हाड़-मांसकी ही उपज। वसुबन्धुसे धर्मकीर्ति तकका समय(४००-६०० ई०) भारतीय दर्शनके (और काव्य, ज्योतिष, चित्र-मूर्त्ति, वास्तुकलाके भी)[1] चरम विकास का समय है। इस दर्शनके पीछे आप गुप्त—मौखरी—हर्षवर्द्धन महान् तथा दृढ़ शासित साम्राज्यका हाथ भी कहना चाहेंगे; किन्तु महान् साम्राज्य कहकर हम मूल भित्तिको प्रकाशमें नहीं लाते, बल्कि उसे अन्धेरेमें छिपा देते हैं। उस कालका वह महान् साम्राज्य क्या था? कितने ही सामन्त-परिवार एक बडे सामन्त—समुद्रगुप्त, हरिवर्मा या हर्षवर्द्धन—को अपने ऊपर मान, नये प्रदेशों नये लोगोंको अपने आधीन करने या अपने आधीन जनता को दूसरेके हाथमें न जाने देनेके लिए सैनिक शासन—युद्ध—या युद्धकी तैयारी—करते; और अपने शासनमें पहिलेसे मौजूद या नवागत जमातमें "शान्ति और व्यवस्था" कायम रखनेके लिए नागरिक शासन करते थे। किन्तु यह दोनों प्रकारका शासन "पेटपर पत्थर बाँधकर" सिर्फ परोपकार बुद्धया नहीं होता था। साधारण जनतासे आया सैनिक—जिसकी सख्या लड़नेवालोंमें हाँ नहीं मरनेवालोंमें भी सबसे ज्यादा थी—को

---

१. काव्य—कालिदास, दंडी, बाण; ज्योतिष—आर्यभट्ट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त; चित्रकला—अजन्ता और बाघ; मूर्तिकला—गुप्तकालिक पाषाण और पीतलमूर्तियाँ; वास्तुकला—अजंता, एलौराकी गुहा, देव, कोणार्कके मन्दिर।

जरूर बहुत हद तक "पेटपर पत्थर बाँधना" पडता था; किन्तु सेनानायक सेनापति सामन्त-खान्दानोंसे आनेके कारण पहिले होसे बड़ी सपत्तिके मालिक थे, और अपने इस पदके कारण बडे वेतन, लूटकी अपार धनराशि, और जागीर तथा इनामके पानेवाले होते थे—गोया समुद्रमे मूसलाधार वर्षा हो रही थी। और नागरिक शासनके बडे-बडे अधिकारी—उपरिक (=भुक्तिका शासक या गवर्नर), कुमारामात्य (=विषयका शासक या कमिश्नर)—आनरेरी काम करनेवाले नही थे, वह प्रजासे भेंट (= रिश्वत), सम्राट्से वेतन, इनाम और जागीर लेते थे।

यह निश्चित है, कि आदमी जितना अपने आहार-विहार, वस्त्र-आभूषण तथा दूसरे न-टिकाऊ कामोपर खर्च करता है, उससे बहुत कम उन वस्तुओपर खर्च करता है, जो कि कुछ सदियों तक कायम रह सकती है। और इनमे भी अधिकाश सदियोसे गुजरते कालके ध्वसात्मक कृत्यामे ही नही बर्बर मानवके क्रूर हाथोमे नष्ट हो जाती है। तो भी बोधगया, बैजनाथके मन्दिर अथवा अजन्ता, एलोराके गुहाप्रासाद जो अब भी बच रहे है, अथवा कालिदासकी कृतियो और बाण भट्टकी कादम्बरीमे जिन नगर-अट्टालिकाओ राजप्रासादोका वर्णन मिलता है, उनके देखने से पता लगता है कि इनपर उस समयका सम्पत्तिशाली वर्ग कितना धन खर्च करता था, और सब मिलाकर अपने ऊपर उनका कितना खर्च था। आज भी शौकीनी विलासकी चीजे महँगी मिलती है, किन्तु इस मशीनयुगमे यह चीजे मशीनसे बननेके कारण बहुत सस्ती है—अर्थात् उनपर आज जितने मानव हाथोंको काम करना पडता है, गुप्तकालमे उससे कई गुना अधिक हाथोंकी जरूरत पडती।

साराश यह कि इस शासक सामन्तवर्गकी शारीरिक आवश्यकताओके लिए ही नही बल्कि उनकी विलास-सामग्रीको पैदा करनेके लिए भी जनताके एक भारी सख्याको अपना सारा श्रम देना पडता था। कितनी सख्या, इसका अन्दाज इसीसे लग सकता है, कि आजसे सौ वर्ष पहिले कम्पनीके शासनमे भारत जितना धन अपने, अग्रेज शासकोंके लिए सालाना उगल

घर भेजता था, उसके उपार्जनके लिए छै करोड़ आदमियों—या सारी जनसंख्याके चौथाईसे अधिक—के श्रमकी आवश्यकता होती थी। इसके अतिरिक्त वह खर्च अलग था, जिसे अंग्रेज कर्मचारी भारतमें रहते खर्च करते थे।

यही नही कि जनताके आधे तिहाई भागको शासकोंके लिए इस तरहकी वस्तुओंको अपने श्रमसे जुटाना पड़ता था; बल्कि उनकी काम-वासनाकी तृप्तिके लिए लाखों स्त्रियोंको वैध या अवैधरूपसे अपना शरीर बेंचना पड़ता था, उनकी एक बड़ी संख्याको दासी बनकर बिकना पड़ता था। मनुष्यका दास-दासीके रूपमे सरेबाजार बिकना उस वक्तका एक आम नजारा था।

अर्थात् इस दर्शन—कला—साहित्यके महान् युगकी सारी भव्यता मनुष्यकी पशुवत् परतन्त्रता और हृदयहीन गुलामीपर आधारित थी—यह हमे नही भूलना चाहिए। फिर दार्शनिक दृष्टिसे क्रान्तिकारोंसे क्रान्तिकारी विचारककी भी अपनी विचार-संबंधी क्रान्तिको उस सीमाके अन्दर रखना जरूरी था, जिसके बाहर जाते ही शासक-वर्गके कोपका भाजन—चाहे सीधे राजदंडके रूपमे, उसकी कृपासे वंचित होनेके रूपमे, चाहे उसके स्थापित धर्म-मठ-मन्दिरमे स्थान न पानेके रूपमें—होना पड़ता। उस वक्त "शान्ति और व्यवस्था" की बाँह आजसे बहुत लंबी थी, जिसमे बचनेमें धार्मिक सहानुभूति ही थोड़ा बहुत सहायक हो सकती थी, जिसने उसको खोया उसके जीवनका मूल्य एक घोषित डाकूके जीवनसे अधिक नही था।

धर्मकीर्त्ति जिस नालन्दाके रत्न थे, उसको गाँवों और नगरके रूपमे बड़े-बड़े दान देनेवाले यही सामन्त थे, जिनके ताम्रपत्रपर लिखे दानपत्र आज भी हमे काफी मिले हैं। युन्-च्वेङके समय (६४० ई०)में वहाँके दस हजार विद्यार्थियों और पंडितोंपर जिस तरह खुले हाथों धन खर्च किया जाता था, यह हो नही सकता था, कि प्रमाणवार्तिककी पंक्तियाँ उन हाथोंको भुलाकर उन्हें काटनेपर तुल जाती; इसीलिए स्वातंत्रिक (वस्तुवादी) धर्मकीर्त्ति भी दु:खकी व्याख्या आध्यात्मिक तलसे ही करके छुट्टी ले लेते

हैं। विश्वके कारणको ईश्वर आदि छोड विश्वमे, उसके क्षुद्रतम तथा महत्तम अवयवोंको क्षणिक परिवर्तनशीलता तथा गुणात्मक परिवर्तनके रूपमे ढूंढनेवाले धर्मकीर्ति दुखके कारणको अलौकिक रूपमें—पुनर्जन्ममें—निहित बतलाकर साकार और वास्तविक दुःखके लिए साकार और वास्तविक कारणके पता लगानेसे मुँह मोडते हैं। यदि जनताके एक तिहाई उन दासों तथा संख्यामे कम-से-कम उनके बराबरके उन आदमियोंको—जो कि सूद और व्यापारके नफेके रूपमे अपने श्रमको मुफ्त देते थे—दासतासे मुक्त कर, उनके श्रमको सारी जनता—जिसमें वह खुद भी शामिल थे—के हितोंमे लगाया जाता, यदि सामन्त परिवारों और वणिक्-श्रेष्ठी-परिवारोंके निठल्लेपन कामचोरपनको हटाकर उन्हे भी समाजके लिए लाभदायक काम करनेके लिए मजबूर किया जाता, तो निश्चय ही उस समयके साकार दुःखकी मात्रा बहुत हद तक कम होती। हाँ, यह ठीक है, कामचोरपनके हटानेका अभी समय नही था, यह स्वप्नचारिणी योजना उस वक्त असफल होती, इसमे सन्देह नहीं। किन्तु यही बात तो उस वक्तको सभी दार्शनिक उडानोंमें सभी धार्मिक मनोहर कल्पनाओंके बारेमे थी। सफल न होनेपर भी दार्शनिककी गलती एक अच्छे कामकी ओर होती है, उसकी सहृदयता और निर्भीकताकी दाद दी जाती, यदि उपेक्षा और शत्रुप्रहारसे उसकी कृतियाँ नष्ट हो जाती, तो भी खडनके लिए उद्धृत उसकी प्रतिभाके प्रखर तीर सदियोको चीरकर मानवताके पास पहुँचने, और उसे नया सदेश देते।

(३) **विज्ञानवाद**—सहृदय मस्तिष्कसे वास्तविक दुनिया (भौतिक वाद) को भुलाने-भुलवानेमे दार्शनिक विज्ञानवाद वही काम देता है, जो शराबकी बोतल कामसे चूर मजदूरको अपने कष्टोंको भुलवानेमे। चाहे क्रूर दासताकी सहायतासे ही सही, मनुष्यका मस्तिष्क और हृदय तब तक बहुत अधिक विकसित हो चुका था, उसमे अपने साथी प्राणियोंके लिए सवेदना आना स्वाभाविक-सी बात थी। आसपासके लोगोंकी दयनीय दशाको देखकर हो नही सकता था, कि वह उसे महसूस न करता, विकल न होता। जगत्को झूठा कह इस विकलताको दूर करनेमें दार्शनिक विज्ञान-

बाद कुछ सहायता जरूर करता था—आखिर अभी "दार्शनिकोंका काम जगत्‌की व्याख्या करना था, उसे बदलना नहीं।"

धर्मकीर्ति बाह्यजगत्—भौतिक तत्वों—को अवास्तविक बतलाते हुए विज्ञान (=चित्त)को असली तत्व साबित करते हैं—

(क) विज्ञान ही एक मात्र तत्त्व—हम किसी वस्तु (=कपड़े) को देखते हैं, तो वहाँ हमें नीला, पीला रंग तथा लंबाई, चौड़ाई-मुटाई, भारीपन-चिकनापन आदिको छोड़ केवल रूप (=भौतिक-तत्व) नहीं दिखाई पडता।[1] दर्शन नील आदिके तौरपर होता है, उससे रहित (वस्तु)का (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) ग्रहण ही नहीं हो सकता और नीलादिके ग्रहणपर ही (उसका) ग्रहण होता है। इसलिए जो कुछ दर्शन है वह नील आदिके तौरपर है, केवल बाह्यार्थ (=भौतिक तत्व)के तौरपर नहीं है।[2] जिसको हम भौतिक तत्त्व या बाह्यार्थ कहते है, वह क्या है इसका विश्लेषण करें तो वहाँ आँखसे देखे रंग-आकार, हाथसे छुए सख्त-नरम-चिकनापन, आदि ही मिलता है, फिर यह इंद्रियाँ इनके इस स्थूल रूपमे अपने निजी ज्ञान (चक्षु-विज्ञान, स्पर्श-विज्ञान ···) द्वारा मनको कल्पना करनेके लिए नहीं प्रदान करती। मनका निर्णय इन्द्रिय चर्वित ज्ञानके पुन चर्वणपर निर्भर है; इस तरह जहाँसे अन्तिम निर्णय होता है, उस मनमे तथा जिनकी दी हुई सामग्रीके आधारपर मन निर्णय करता है, उन इन्द्रियोंके विज्ञानोंमें भी, बाह्य-अर्थ (=भौतिक तत्त्व) का पता नहीं, निर्णायक स्थानपर हमें सिर्फ विज्ञान (=चेतना) ही विज्ञान मिलता है, इसलिए "वस्तुओ द्वारा वही (विज्ञान) सिद्ध है, जिससे कि विचारक कहते हैं—'जैसे-जैसे अर्थों (=पदार्थों)पर चिन्तन किया जाता है, वैसे ही वैसे वह छिन्न-भिन्न हो लुप्त हो जाते हैं (—उनका भौतिक रूप नहीं सिद्ध होता)।'"[3]

(ख) चेतना और भौतिक तत्त्व विज्ञान होके दो रूप—विज्ञान-का भीतरी आकार चित्त—सुख आदिका ग्राहक—है, यह तो स्पष्ट है; किन्तु

---

१. प्रमाण-वार्तिक ३।२०२ २. प्र० वा० ३।३३५ ३. प्र० वा० ३।२०९

जो बाहरी पदार्थ (=भौतिक तत्त्व घड़ा या कपड़ा) है, वह भी विज्ञानसे अलग नहीं बल्कि विज्ञानका ही एक दूसरा भाग है, और बाहरमें अवस्थित सा जान पड़ता है—इसे अभी बतला आए है। इसका अर्थ यह हुआ कि एक ही विज्ञान भीतर (चित्तके तौरपर) ग्राहक, और बाहर (विषयके तौरपर) ग्राह्य भी है। "विज्ञान जब अभिन्न है, तो उसका (भीतर और बाहरके विज्ञान तथा भौतिक तत्त्वके रूपमें) भिन्न प्रतिभासित होना सत्य नहीं (भ्रम) है।"[1] "ग्राह्य (वाह्य पदार्थके रूपमें मालूम पड़नेवाला विज्ञान) और ग्राहक (=भीतरी चित्तके रूपमें विज्ञान) मेंसे एकके भी अभावमें दोनों ही नहीं रहते (ग्राहक नहीं रहेगा, तो ग्राह्य है इसका कैसे पता लगेगा? और फिर ग्राह्यके न रहनेपर अपनी ग्राहकताको दिखलाकर ग्राहक चित्त अपनी सत्ताको कैसे सिद्ध करेगा? इस तरह किसी एकके अभावमें दोनों नहीं रहते) इसलिए ज्ञानका भी तत्त्व है (ग्राह्य-ग्राहक) दो होनेका अभाव (=अभिन्नता)।"[2] जो आकार-प्रकार (बाहरी पदार्थोंके मौजूद हैं, वह) ग्राह्य और ग्राहकके आकारको छोड़ (और किसी आकारमें) नहीं मिलते, (और ग्राह्य ग्राहक एक ही निराकार विज्ञानके दो रूप है), इसलिए आकार-प्रकारसे शून्य होनेसे (सारे पदार्थ) निराकार कहे गए है।"[3]

प्रश्न हो सकता है यदि वाह्य पदार्थोंकी वस्तुसत्ताको अस्वीकार करते हैं, तो उनकी भिन्नताको भी अस्वीकार करना पड़ेगा, फिर बाहरी अर्थोंके बिना "यह घड़ा है, यह कपड़ा" इस तरह ज्ञानोंका भेद कैसे होगा? उत्तर है—

"किसी (घड़े आदि आकारवाले ज्ञान)का कोई (एक ज्ञान) है, जो कि (चित्तके) भीतरवाली वासना (=पूर्व संस्कार) को जगाता है, उसी (वासनाके जगने)से ज्ञानों (की भिन्नता) का नियम देखा जाता है, न कि बाहरी पदार्थकी अपेक्षासे।"[4]

---

१. प्र० वा ३।२१२ २. प्र० वा० ३।२१३
३. प्र० वा० ३।२१५ ४. प्र० वा० ३।३३६

"चूंकि बाहरी पदार्थका अनुभव हमे नही होता, इसलिए एक ही (विज्ञान) दो (=भीतरी ज्ञान, बाहरी विषय) रूपोंवाला (देखा जाता) है, और दोनों रूपोंमें स्मरण भी किया जाता है। इस (एक ही विज्ञानके बाह्य-अन्तर दोनों आकारोंके होने)का परिणाम है, स्व-संवेदन (अपने भीतर ज्ञानका साक्षात्कार)।"[1]

फिर प्रश्न होता है—"(वह जो बाह्य-पदार्थके रूपमे) अवभासित होनेवाला (ज्ञान है), उसका जैसे कैसे भी जो (बाहरी) पदार्थवाला रूप (भासित हो रहा है), उसे छोड़ देनेपर पदार्थ (=घड़े)का ग्रहण (= इन्द्रिय-प्रत्यक्ष आदि) कैसे होगा? (आखिर अपने स्वरूपके ज्ञानके साक्षात्कारसे ही तो पदार्थोंका अपना अपना ग्रहण है?)—(प्रश्न) ठीक है, मैं भी नही जानता कैसे यह होता है। · · · जैसे मंत्र (हेप्नोटिज्म) आदिसे जिनकी (आँख आदि) इन्द्रियोंको बाँध दिया गया है; उन्हें मिट्टीके ठीकरे (रुपया आदि) दूसरे ही रूपमे दीखते हैं; यद्यपि वह (वस्तुतः) उस (रुपये · · ·)के रूपसे रहित है।"[2]

इस तरह यद्यपि अन्तर, बाहर सभी एक ही विज्ञान तत्त्व है, किन्तु "तत्त्व-अर्थ (=वास्तविकता)की ओर न ध्यान दे हाथीकी तरह आँख मूंदकर सिर्फ लोक व्यवहारका अनुसरण करते तत्त्वज्ञानियोंको (कितनी ही बार) बाहरी (पदार्थो)का चिन्तन (=वर्णन) करना पड़ता है।"[3]

(४) **क्षणिकवाद**—बुद्धके दर्शनमे "सब अनित्य है" इस सिद्धांतपर बहुत जोर दिया गया है, यह हम बतला आए हैं। इसी अनित्यवादको पीछेके बौद्ध दार्शनिकोने **क्षणिकवाद** कहकर उसे अभावात्मकसे भावात्मक रूप दिया। धर्मकीर्त्तिने इसपर और जोर देते हुए कहा—"सत्ता मात्रमे नाश (=धर्म) पाया जाता है।"[4] इस भावको पीछे ज्ञानश्री (७००

---

१. प्र० वा० ३।३३७

२. प्र० वा० ३।३५३-५५ ३. वहीं ३।२१९

४. प्र० वा० १।२७२—"**सत्तामात्रानुबन्धित्वात् नाशस्य**"

ई०) ने कहा है—"जो (जो) सत् (=भाव रूप) है, वह क्षणिक है।"[1] "सभी संस्कार (=किए हुए पदार्थ) अनित्य हैं" इस बुद्धवचनकी ओर इशारा करते हुए धर्मकीर्त्तिने कहा है[2]—"जो कुछ उत्पन्न स्वभाववाला है, वह नाश स्वभाववाली है।" अनित्य क्या है, इसे बतलाते हुए लिखा है—"पहिले होकर जो भाव (=पदार्थ) पीछे नहीं रहता, वह अनित्य है।"[3]

इस प्रकार बिना किसी अपवादके क्षणिकताका नियम सारे भाव (=सत्ता) रखनेवाले पदार्थोंमें हैं।

(५) **परमार्थ सत्की व्याख्या**—अफलातूं और उपनिषद्के दर्शनकार क्षण-क्षण परिवर्तनशील जगत् और उसके पदार्थोंके पीछे एक अपरिवर्तनशील तत्त्वको परमार्थ सत् मानते हैं, किन्तु बौद्ध दर्शनको ऐसे इन्द्रिय और बुद्धिकी गतिसे परे किसी तत्त्वको माननेकी जरूरत न थी, इसलिए धर्मकीर्त्तिने परमार्थ सत्की व्याख्या करते हुए कहा—

"अर्थवाली क्रियामें जो समर्थ है, वही यहाँ परमार्थ सत् है, इसके विरुद्ध, जो (अर्थक्रियामें असमर्थ) है, वह संवृति (=फर्जी) सत् है।"[4] घड़ा, कपड़ा, परमार्थ सत् है, क्योंकि वह अर्थक्रिया-समर्थ हैं, उनसे जल-आनयन या सर्दी-गर्मीका निवारण हो सकता है, किन्तु घड़ापन, कपड़ापन जो सामान्य (=जाति) माने जाते है, वह संवृत्ति (=काल्पनिक या फ़र्जी) सत् हैं। क्योंकि उनसे अर्थक्रिया नही हो सकती। इस तरह व्यक्ति और उनका नानापन ही परमार्थसत् है। "(वस्तुत सारे) भाव (=पदार्थ) स्वय भेद (=भिन्नता) रखनेवाले हैं, किन्तु उसी संवृति (=कल्पना) से जब उनके नानापन (=अलग-अलग घड़ों) को ढाँक दिया जाता है, तो वह किसी (घड़ापन) रूपमें अभिन्नसे मालूम होने लगते हैं।"[5]

---

१. "यत् सत् तत् क्षणिकं"—क्षण भंग १।१ (ज्ञान श्री)
२ प्र० वा० २।२८४-५ ३. वहीं ३।११० ४. वहीं ३।३
५. प्र० वा० १।७१

(६) नाश अहेतुक होता है—क्षणिकता सारे भावों (=पदार्थों) में स्वभावसे ही है, इसलिए नाश भी स्वाभाविक है; फिर नाशके लिए किसी हेतु या हेतुओंकी जरूरत नहीं—अर्थात् नाश अहेतुक है; वस्तु की उत्पत्तिके लिए हेतु या बहुतसे हेतु (=हेतु-सामग्री) चाहिए, जिनसे कि पहिले न मौजूद पदार्थ भावमें आवें। चूँकि एक मौजूद वस्तुका नाश और दूसरी ना-मौजूद वस्तुकी उत्पत्ति पास-पास होती है, इसलिए हमारी भाषामें कहनेकी यह गलत परिपाटी पड़ गई है, कि हम हेतुको उत्पन्न वस्तुसे न जोड़ नष्टसे जोड़ देते हैं। इसी तथ्यको साबित करते हुए धर्म-कीर्त्ति कहते हैं—

(क) अभाव रूपी नाशको हेतु नहीं चाहिए—"यदि कोई कार्य (करणीय पदार्थ) हो, तो उसके लिए किसी (=कारण) की जरूरत हो सकती है; (नाश) जो कि (अभाव रूप होनेसे) कोई वस्तु ही नही है, उसके लिए कारणकी क्या जरूरत ?"[1]

"जो कार्य (=कारणसे उत्पन्न) है वह अनित्य है, जो अ-कार्य (=कारणसे नही उत्पन्न) है, वह अ-विनाशी (=नित्य) है। (वस्तुका विनाश नित्य अर्थात् हमेशाके लिए होता है, इसलिए वह अ-कार्य= अ-हेतुक है; फिर इस प्रकार) अहेतुक होनेसे वह (=नाश) स्वभावतः (वस्तुमात्रका) अनुसरण करता है।"[2] और इस प्रकार विनाशके लिए हेतुकी जरूरत नही।

(ख) नश्वर या अनश्वर दोनों अवस्थाओं में भावके नाशके लिए हेतु नहीं चाहिए—"यदि (हम उसे अनश्वर मान ले, तब) दूसरे किसी (हेतु) से भावका नाश न मानेंगे, फिर ऐसे (अनश्वर भाव) की स्थिति के लिए हेतुकी क्या जरूरत ? (—अर्थात् भावका होना अहेतुक हो जायेगा)। (यदि हम भावको नश्वर मान लें, तो) वह दूसरे (हेतुओं=कारणों) के बिना भी नष्ट होगा, (फिर उसकी) स्थितिके लिए हेतु असमर्थ होंगे।"[3]

---

१. प्र० वा० १।२८२ २. वहीं १।१९५ ३. वहीं २।७०

"जो स्वग अनश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए दूसरे स्थापकको जरूरत नही, जो स्वय नश्वर स्वभाववाला है, उसके लिए भी दूसरे स्थापककी जरूरत नही।"[1] इस तरह विनाशको नश्वर स्वभाववाला मानें या अनश्वर स्वभाववाला, दोनों हालतोंमे उसे स्थिर रखनेवाले हेतुकी जरूरत नही।

(a) **भावके स्वरूपसे नाश भिन्न हो या अभिन्न, दोनों अवस्थाओंमें नाश अहेतुक**—आग और लकडी एकत्रित होती है, फिर हम लकडीका नाश और कोयले-राखकी उत्पत्ति देखते है। इसीको हम व्यवहार-की भाषामे "आगने लकडीको जला दिया—नष्ट कर दिया" कहते हैं, किन्तु वस्तुत कहना चाहिए "आगने कोयले-राखको उत्पन्न किया।" चूँकि लकडी हमारी नजरमे कोयले-राखसे अधिक उपयोगी (=मूल्यवान्) है, इसलिए यहाँ भाषा द्वारा हम अपने लिए एक उपयोगी वस्तुको खो देनेपर ज्यादा जोर देते है। यदि कोयला-राख लकडीमे ज्यादा उपयोगी होते तो हम 'आगने लकडीका नाश कर दिया" की जगह कहते "आगने कोयला-राखको बनाया।" वस्तुत जगलोमे जहाँ मजदूर लकडीकी जगह कोयला बनाकर बेचनेमे ज्यादा लाभ देखते हैं, वहाँ "क्या काम करते हो" पूछनेपर यह नही कहते कि "हम लकडीका नाश करते है," बल्कि कहते हैं "हम कोयला बनाते है।" ताताके कारखानेमे (लोहेवाले) पत्थरका नाश और लोहे या फौलाद-का उत्पादन होता है, किन्तु वहाँ नाशको स्वाभाविक (=अहेतुक) समझकर उसकी बात न कह, यही कहा जाता है, कि ताता प्रति वर्ष इतने करोड मन लोहा और इतने लाख मन फौलाद बनाता है। इसी भावको हमारे दार्शनिकने समझानेकी कोशिश की है।

प्रश्न है—आग (=कारण, हेतु) क्या करती है लकडीका विनाश या कोयलेकी उत्पत्ति? आप कहते है, लकडीका विनाश करती है। फिर सवाल होता है विनाश लकडीसे भिन्न वस्तु है या अभिन्न? अभिन्न माननेपर

---

१. वहीं २।७२

आग जिस विनाशको उत्पन्न करती है, वह काष्ठ ही हुआ, फिर तो "विनाश" होनेका मतलब काष्ठका होना हुआ, अर्थात् काष्ठका विनाश नहीं हुआ, फिर काष्ठके अविनाशसे काष्ठका दर्शन होना चाहिए। "यदि (कहो) वही (आगमें उत्पन्न वस्तु काष्ठका) विनाश है, (इसलिए काष्ठका दर्शन नहीं होता; तो फिर प्रश्न होगा—) "कैसे (विनाशरूपी) एक पदार्थ (काष्ठ रूपी) दूसरे (पदार्थ) का विनाश होगा? (और यदि नाश एक भाव पदार्थ है, तो) काष्ठ क्यों नहीं दिखाई देता?"[1]

(b) **विनाश एक भिन्न ही भावरूपी वस्तु है यह माननेसे भी काम नहीं चलता**—यदि कहीं, विनाश (सिर्फ काष्ठका अभाव नहीं बल्कि) एक दूसरा ही भावरूपी पदार्थ है; और "उस (भाव रूपी विनाश नामवाले दूसरे पदार्थ) के द्वारा ढँका होनेसे (काष्ठ हमें नहीं दिखलाई देता); (तो यह भी ठीक नहीं), उस (एक दूसरे भाव=नाश) से (काष्ठका) आवरण (=आच्छादन) नहीं हो सकता, क्योंकि (ऐसा माननेपर नाशको वस्तुका आवरण मानना पड़ेगा, फिर तो वह) विनाश ही नहीं रह जायेगा (=विनष्ट हो जायगा)"[2] और इस प्रकार आग काष्ठके विनाशको उत्पन्न करती है, कर्मके अभावमें यह कहना भी गलत है।

और यदि आग द्वारा नाशकी उत्पत्ति मानें, तो "उत्पन्न होनेके कारण" उसे नाशमान मानना पड़ेगा, क्योंकि जितने उत्पत्तिमान् भाव (=पदार्थ) हैं, सभी नाशमान होते हैं। "और फिर (नाशमान होनेसे जब नष्ट हो जाता है) तो (आवरण-मुक्त होनेसे) काष्ठका दर्शन होना चाहिए।

यदि कहो—नाश रूपी भाव पदार्थ काष्ठका हन्ता है। रामने श्यामको मार डाला (=नष्ट कर दिया), फिर न्यायाधीश रामको फाँसी चढ़ा देता है; किंतु रामके फाँसी चढ़ा देने—"हन्ताके नाश हो जाने—पर जैसे मृत (=नष्ट श्याम) का फिरसे अस्तित्वमें आना नहीं होता, उसी तरह यहाँ

---

१. प्र० वा० १।२७३　　२. वहीं १।२७४

भी"[1] (नश्वर स्वभाववाले नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी काष्ठ फिरसे अस्तित्वमे नही आता)।

किन्तु, यह दृष्टान्त गलत है ? राम श्यामके नाश में "हन्ता (=राम) (=श्यामका) मरण नहीं है,"[2] बल्कि श्यामका मरण है अपने प्राण, इन्द्रिय आदिका नाश होना। यदि श्यामके प्राण-इन्द्रिय आदिका नाश होना हटा दिया जाये, तो श्याम जरूर अस्तित्वमे आ जायगा। किन्तु यहाँ आप 'नाश पदार्थ=काष्ठका मरण' मानते हैं, इसलिए नाश पदार्थके नष्ट हो जानेपर काष्ठको फिरसे अस्तित्वमे आना चाहिए।

(c) **'नाश=एक अभिन्न भावरूपी वस्तु' यह माननेसे भी काम नहीं चलेगा**--"यदि (मानें कि) विनाश (भावरूपी वस्तु काष्ठसे) अभिन्न है, तो 'नाश=काष्ठ' है। तो (काष्ठ)=(नाश=) अ-सत्, अतएव (नाशक आग) उसका हेतु नही हो सकती।"

"नाशको (काष्ठमे) भिन्न या अभिन्न दो छोड़ और नही माना जा सकता," और हमने ऊपर देख लिया कि दोनो ही अवस्थाओंमे नाशके लिए हेतु (=कारण) की जरूरत नहीं, अतएव नाश अहेतुक होना है।

यदि कहो—"नाशके अहेतुक माननेपर (वह) नित्य होगा, फिर (काष्ठका) भाव और नाश दोनों एक साथ रहनेवाले मानने पड़ेंगे।" तो यह शका ही गलत बुनियाद पर है, क्योकि (नाश तो) असत् है (=अभाव) है, उसकी नित्यता कैसे होगी,"[2] नित्य-अनित्य होनेका सवाल भाव पदार्थके लिए होता है, गदहेकी सींग—अ-सत् पदार्थ—के लिए नही।

(७) **कारण-समूहवाद**--कार्य एकसे नहीं बल्कि अनेक कारणोंके इकट्ठा होने—कारण-सामग्री—से उत्पन्न होता है, अर्थात् अनेक कारण मिलकर एक कार्यको उत्पन्न करते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा बौद्ध दार्शनिक जहाँ जगत्मे प्रयोगतः सिद्ध वस्तुस्थितिकी व्याख्या करते हैं, वहाँ किसी एक

---

१. प्र० वा० १।२७४, २७५ २. प्र० वा० १।२७५-२७७

ईश्वरके कर्तापनका भी खंडन करते हैं। साथ ही यह भी बतलाते हैं कि स्थिरवाद—चाहे वह परमाणुओंका हो या ईश्वरका—कारणोंकी सामग्री (=इकट्ठा होनेको) अस्तित्वमें नहीं ला सकता; यह क्षणिकवाद ही है, जो कि भावोंकी क्षणिकता—देश और कालमें गति—की वजहसे कारणोंको सामग्री (=इकट्ठा होना) करा सकता है।

"कोई भी एक (वस्तु) एक (कारण) से नहीं उत्पन्न होती, बल्कि सामग्री (=बहुतसे कारणोंके इकट्ठा होने) से (एक या अनेक) सभी कार्योंकी उत्पत्ति होती है।"[1]

"कार्योंके स्वभावों (=स्वरूपों) में जो भेद है, वह आकस्मिक नहीं, बल्कि कारणों (=कारण-सामग्री) से उत्पन्न होता है। उनके बिना (=कारणोंके बिना, किसी दूसरेसे) उत्पन्न होना (मानें तो कार्यके) रूप (=कोयले) को उस (आग) से उत्पन्न कैसे कहा जायगा?"[2]

"(चूँकि) सामग्री (=कारण-समुदाय) की शक्तियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं, (अतः) उन्हींकी वजहसे वस्तुओं (=कार्यों) में भिन्न-रूपता दिखलाई पड़ती है। यदि वह (अनेक कारणोंकी सामग्री) भेद करनेवाली न होती, तो यह जगत् (विश्व-रूप नहीं) एक-रूप होता।"[3]

मिट्टी, चक्का, कुम्हार अलग-अलग (किसी घड़े जैसे भिन्न रूपवाले) कार्यके करनेमें असमर्थ हैं; किन्तु उनके (एकत्र) होनेपर कार्य होता है; इससे मालूम होता है, कि सहत (=एकत्रित) हुई उन (=क्षणिक वस्तुओं) में हेतुपन (=कारणपन) है, ईश्वर आदिमें नहीं, क्योंकि (ईश्वर आदिमें क्षणिकता न होने से) अभेद (=एक-रसता) है।"[4]

(८) **प्रमाणपर विचार**—मानवका ज्ञान जितना ही बढ़ता गया, उतना ही उसने उसके महत्त्वको समझा, और अपने जीवनके हर क्षेत्रमें मस्तिष्कको अधिक इस्तेमाल किया। यही ज्ञानकी महिमा आगे प्रयोगसिद्ध

---

१. प्र० वा० ३।५३६ २. वहीं ४।२४८ ३. वहीं ४।२४९
४. वहीं २।२८

नहीं कल्पना-सिद्ध रूपमें धर्म तथा धर्म-सहायक दर्शनमें परिणत हुई, यह हम उपनिषद्कालमें देख चुके हैं ? उपनिषद्के दार्शनिकोंका जितना जोर ज्ञानपर था, बुद्धका उससे भी कहीं अधिक उसपर जोर था, क्योंकि अविद्याको वह सारी बुराइयोंकी जड़ मानते थे और उसके दूर करनेके लिए आर्य-सत्य या निर्दोष ज्ञानको बहुत जरूरी समझते थे। पिछली शताब्दियोंमें जब भारतीयोंको अरस्तूके तर्कशास्त्रके सपर्कमें आनेका मौका मिला, तो ज्ञान और उसकी प्राप्तिके साधनोंकी ओर उनका ध्यान अधिक गया, यह हम नागार्जुन, कणाद, अक्षपाद आदि के वर्णनमें देख आए हैं। वसुबंधु, दिग्नाग, धर्मकीर्तिने इसी बातको अपना मुख्य विषय बनाकर अपने प्रमाण-शास्त्रकी रचना की। दिग्नागने अपने प्रधान ग्रंथका नाम "प्रमाणसमुच्चय" क्यों रखा, धर्मकीर्त्तिने भी उसी तरह अपने श्रेष्ठ ग्रंथका नाम प्रमाणवार्त्तिक क्यों घोषित किया, इसे हम उपरोक्त बातोंपर ध्यान रखते हुए अच्छी तरह समझ सकते है।

प्रमाण—प्रमाण क्या है ? धर्मकीर्त्तिने उत्तर दिया[1]—"(दूसरे जरिएसे) अज्ञात अर्थके प्रकाशक, अ-विसंवादी (=वस्तु-स्थितिके विरुद्ध न जानेवाले) ज्ञानको कहते है।" अ-विसवाद क्या है ?—"(ज्ञानका कल्पनाके ऊपर नहीं) अर्थ-क्रियाके ऊपर स्थित होना।" इसीलिए किसी, ज्ञानकी "प्रमाणता व्यवहार (=प्रयोग. अर्थक्रिया) से होती है।"[2]

(प्रमाण- संख्या)—हम देख चुके हैं, अन्य भारतीय दार्शनिक शब्द उपमान, अर्थापत्ति आदि कितने ही और प्रमाणोंको भी मानते हैं। धर्मकीर्ति अर्थक्रिया या प्रयोगको परमार्थ सत्की कसौटी मानते थे, इसलिये वह ऐसे ही प्रमाणोंको मान सकते थे, जो कि अर्थ-क्रियापर आधारित हो।

' (पदार्थ—अलग-अलग लेने पर स्व-लक्षण—शब्द आदिके प्रयोगके बिना केवल अपने रूपमें—मिलते हैं, अथवा कइयोंके बीचके सादृश्यको

१ प्र० वा० २।१ २. वहीं २।४

लेनेपर सामान्य लक्षण—अनेकोंमें उनके आकारकी समानता—मे मिलते हैं; इस प्रकार) विषयके (सिर्फ) दो ही प्रकार होनेसे प्रमाण भी दो प्रकार-का ही होता है। (इनमें पहिला प्रत्यक्ष है और दूसरा अनुमान। प्रत्यक्षका आधार वस्तुका स्वलक्षण—अपना निजी स्वरूप—है, और यह स्वलक्षण) अर्थक्रियामें समर्थ होना है; (अनुमानका आधार सामान्य-लक्षण—अनेक वस्तुओंमें समानरूपता—है, और यह सामान्य लक्षण अर्थक्रियामें) असमर्थ होता है।"[1]

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण—ज्ञानके साधन दो ही हैं, प्रत्यक्ष या अनुमान। प्रत्यक्ष क्या है?—"(इन्द्रिय, मन और विषयके संयोग होनेपर) कल्पनासे बिलकुल रहित (जो ज्ञान होता है) तथा जो (किसी दूसरे साधन द्वारा अज्ञात अर्थका प्रकाशक है वह प्रत्यक्ष है, और वह (कल्पना नहीं) सिर्फ प्रति-अक्षसे ही सिद्ध होता है।" इस तरह प्रत्यक्ष वह अ-विसंवादी (= अर्थ-क्रियाका अनुसरण करनेवाला) अज्ञात अर्थका प्रकाशक ज्ञान है, जो कि विषयके संपर्कसे उस पहिले क्षणमें होता है, जब कि कल्पनाने वहाँ दखल नहीं दिया। धर्मकीर्तिने दिग्नागकी तरह प्रत्यक्षके चार भेद माने हैं—इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष, स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष और योगि-प्रत्यक्ष अमगके लोक-प्रत्यक्षका पता नहीं।

(a) इंद्रिय-प्रत्यक्ष—"चारों ओरसे ध्यान (=चिन्तन) को हटाकर (कल्पनासे मुक्त होनेके कारण) निश्चल (=स्तिमित) चित्तके साथ स्थित (पुरुष) रूपको देखता है, यही इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है।"[2] इन्द्रिय-प्रत्यक्ष हो जानेके "पीछे (जब वह) कुछ कल्पना करता है, और वह जानता है—मेरे (मनमें) ऐसी कल्पना (=यह खास आकार प्रकारका होनेसे घड़ा है) हुई थी; किन्तु (यह बात) पूर्वोक्त इन्द्रियसे (उत्पन्न) ज्ञानके वक्त नहीं होती।"[3] "इसीलिए सारे (चक्षु आदि वाले) इन्द्रिय-प्रत्यक्ष (व्यक्ति-) विशेष (मात्र) के बारेमें होते हैं; विशेष (वस्तुओंका स्वरूप सामान्यसे

---

१. प्र० वा० ३।१ २. वहीं ३।१२४ ३. वहीं ३।१२४

मुक्त सिर्फ स्वलक्षण मात्र हैं, इसलिए उनमें) शब्दोंका प्रयोग नहीं हो सकता।"[1] "इस (=घट वस्तु) का यह (वाचक, घट शब्द) है इस तरह (वाच्य-वाचकका जो) संबंध (है, उस) में जो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं, उन्हीं (वाच्य-वाचक पदार्थों) का (वह) संबंध है, (और जिस वक्त उस वाच्य-वाचक संबंधको और मन कल्पना दौड़ाता है) उस वक्त (वस्तु) इन्द्रिय के सामनेसे हट गई रहती है (और मन अपने संस्कारके भीतर अवस्थित ताजे और पुराने दो कल्पना-चित्रोंको मिलाकर नाम देने-की कोशिशमे रहता है)।"[2]

"(शंकर स्वामी जैसे कुछ बौद्ध प्रमाणशास्त्री, प्रत्यक्ष-ज्ञानको) इन्द्रिय-ज होनेसे (शब्दके ज्ञानसे वंचित) छोटे बच्चेके ज्ञानकी भांति कल्पना रहित (ज्ञान) बतलाते हैं, और बच्चेके (ज्ञानको इस तरह) कल्पना-रहित होनेमे (वाच्य-वाचक रूपसे शब्द-अर्थ संबंधके) संकेतको कारण कहते हैं। ऐसोंको (मतमे) कल्पनाके (सर्वथा) अभावके कारण बच्चोंका (सारा ज्ञान) सिर्फ प्रत्यक्ष ही होगा; और (बच्चोंको) संकेत (जानने) के लिए कोई उपाय न होनेसे पीछे (बड़े होनेपर) भी वह (= संकेत-ज्ञान) नही हो सकेगा।"[3]

(b) मानस-प्रत्यक्ष—दिग्नागने प्रमाणसमुच्चयमे मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हुए कहा[4]—"पदार्थके प्रति राग आदिका जो (ज्ञान) है, वही (कल्पनारहित ज्ञान) मानस (-प्रत्यक्ष) है।" मानस प्रत्यक्ष स्वतंत्र प्रत्यक्ष नही रहेगा, यदि "पहिलेके इन्द्रिय द्वारा ज्ञात (अर्थ) को ही ग्रहण करे, क्योंकि ऐसी दशामें (पहिलेसे ज्ञात अर्थका प्रकाशक होनेसे अज्ञात-अर्थ-प्रकाशक नही अतएव वह) प्रमाण नही होगा। यदि (इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा) अ-दृष्टको (मानस-प्रत्यक्ष) माना जाये, तो अंधे आदिको भी

---

१. प्र० वा० ३।१२५, १२७ २. वहीं ३।१२९
३. वहीं ३।१४१-१४२ ४. "मानसं चार्थरागादि।"

(रूप आदि) अर्थोंका दर्शन (होता है यह) मानना होगा।"[1] इस सबका ख्याल कर धर्मकीर्ति मानस-प्रत्यक्षकी व्याख्या करते हैं—

"(चक्षु आदि) इन्द्रियसे जो (विषयका) विज्ञान हुआ है, उसीको अनन्तर-प्रत्यय (=तुरन्त पहिले गुजरा कारण) बना, जो मन (= चेतना) उत्पन्न हुआ है, वही (मानस-प्रत्यक्ष है)। चूँकि (चक्षु आदि इन्द्रियोंसे ज्ञात रूप आदि ज्ञानसे) भिन्नको (मन प्रत्यक्षमें) ग्रहण करता है (इस-) लिए वह ज्ञात अर्थका प्रकाशन नहीं, साथ ही मन द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाले रूप आदिके विज्ञान इन्द्रियसे ज्ञात उन रूप आदिकोंसे संबद्ध है, जिन्हें कि अंधे आदि नहीं देख सकते, इसलिए) आँखके अंधोंकी (रूप · · ·) देखनेकी बात नहीं आती।"[2]

(c) स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष—दिग्नागने इसका लक्षण करते हुए कहा—"(चक्षु-इन्द्रियसे गृहीत रूपका ज्ञान मनसे गृहीत रूप-विज्ञानका ज्ञान होनेके बाद रूप आदि) अर्थके प्रति अपने भीतर जो राग (द्वेष) आदिका संवेदन (=अनुभव) होता है, (वही) कल्पना-रहित (ज्ञान) स्वसंवेदन (-प्रत्यक्ष) है।"[3] इसके अर्थको अपने वार्त्तिकसे स्पष्ट करते हुए धर्मकीर्त्तिने कहा—

"राग (सुख) आदिके जिस स्वरूपको (हम अनुभव करते हैं वह) किसी दूसरे (इन्द्रिय आदिसे) संबंध नहीं रखता, अतः उसके स्वरूपके प्रति (वाच्य-वाचक) संकेतका प्रयोग नहीं हो सकता (और इसीलिए) उसका जो अपने भीतर संवेदन होता है, वह (वाचक शब्दसे) प्रकट होने लायक नहीं है।"[4] इस तरह अज्ञात अर्थका प्रकाशक, कल्पनारहित तथा अविसंवादी होनेसे राग-सुख आदिका जो अनुभव हम करते हैं, वह स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष भी इन्द्रिय-और मानस-प्रत्यक्षसे भिन्न एक प्रत्यक्ष है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष

---

१. प्र० वा० ३।२३९ २. वहीं ३।२४३

३. "अर्थरागादि स्वसंवित्तिरकल्पिका"—प्रमाण-समुच्चय।

४. प्र० वा० ३।२४९

मे हम किसी इन्द्रियके एक विषय (=रूप, गंध) का ज्ञान प्राप्त करते हैं; मानस प्रत्यक्ष हमे उससे आगे बढ़कर इन्द्रियसे जो यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, उसका अनुभव कराता है, और इस प्रकार अब भी उसका संबंध विषयसे जुड़ा हुआ है। किन्तु, स्वसंवेदन प्रत्यक्षमे हम इन्द्रियके (रूप-) ज्ञान और उस इन्द्रिय-ज्ञानके ज्ञानसे आगे तथा बिल्कुल भिन्न राग-द्वेष, या सुख-दुख का प्रत्यक्ष करते हैं।

(d) **योगि-प्रत्यक्ष**[1]—उपरोक्त तीन प्रकारके प्रत्यक्षोंके अतिरिक्त बौद्धोने एक चौथा प्रत्यक्ष योगि-प्रत्यक्ष माना है। अज्ञात-प्रकाशक अविसंवादी—प्रत्यक्षोंके ये विशेषण यहाँ भी लिए गए हैं, साथ ही कहा है —'उन (योगियों) का ज्ञान भावनासे उत्पन्न कल्पनाके जालसे रहित स्पष्ट ही भासित होता है। (स्पष्ट इसलिए कहा कि) काम, शोक, भय उन्माद, चोर, स्वप्न आदिके कारण भ्रममे पड़े (व्यक्ति) अ-भूत (=असत्) पदार्थोंको भी सामने अवस्थितकी भाँति देखते हैं, लेकिन वह स्पष्ट नही होते। जिस (ज्ञान) मे विकल्प (=कल्पना) मिला रहता है, वह स्पष्ट पदार्थके रूपमे भासित नही होता। स्वप्नमे (देखा पदार्थ) भी स्मृतिमे आता है, किन्तु वह (जागनेकी अवस्थामे) वैसे (=विकल्परहित) पदार्थके साथ नही स्मरणमे आता।"[2]

समाधि (=चित्तकी एकाग्रता) आदि भावनासे प्राप्त जितने ज्ञान है, सभी योगि-प्रत्यक्ष-प्रमाणमे नही आते, बल्कि "उनमे वही भावनामे उत्पन्न (ज्ञान) प्रत्यक्ष-प्रमाणसे अभिप्रेत है, जो कि पहिले (अज्ञात-प्रकाशक आदि) की भाँति संवादी (=अर्थक्रियाको अनुसरण करनेवाला) हो, बाकी (दूसरे भावनासे उत्पन्न ज्ञान) भ्रम है।"[3]

प्रत्यक्ष ज्ञान होनेके लिए उसे कल्पना-रहित होना चाहिए, इसपर जोर दिया गया है। इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तक कल्पनासे रहित होना आसानीसे समझा जा सकता है, क्योंकि वहाँ हम देखते हैं कि सामने घड़ा देखनेपर नेत्रपर पड़े

---

१. Intuition. २. प्र० वा० ३।२८१-२८३ ३. प्र० वा० ३।२८६

घड़ेके प्रतिबिंबका जो पहिला दबाव ज्ञानतंतुओं द्वारा हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है, वह कल्पना-रहित होता है। पहिले दबावके बाद एक छाप (=प्रतिबिंब) मस्तिष्कपर पड़ता है, फिर मस्तिष्कमें संस्काररूप में पहिलेके देखे घड़ोंके जो प्रतिबिंब (या प्रतिबिंब-संतान) मौजूद हैं, उनसे इस नए प्रतिबिंब (या लगातार पड रहे प्रतिबिंब-संतान) को मिलाया जाता है—अब यहाँ कल्पना का आरम्भ हो गया। फिर जिस प्रतिबिंबसे यह नया प्रतिबिंब मिल जाता है, उसके वाचक नामका स्मरण होता है, फिर इस नए प्रतिबिंबवाले पदार्थका नामकरण किया जाता है। यहाँ कहाँ तक कल्पनारहित ज्ञान रहा, और कहाँसे कल्पना शुरू हुई, यह समझना उस प्रथम दबावके द्वारा आसान है, किंतु जहाँ बाहरी वस्तुके दबावकी बात नही रहती, वहाँ कल्पनाके आरंभकी सीमा निर्धारित करना —खासकर योगिप्रत्यक्ष जैसे ज्ञानमे—बहुत कठिन है। इसीलिए कल्पना की व्याख्या करते हुए धर्मकीर्तिने लिखा—

"जिस (विषय, वस्तु) मे जो (ज्ञान, दूसरेसे पृथक् करनेवाले) शब्द-अर्थ (के सबध) को ग्रहण करने वाला है, वह ज्ञान उस (विषय) मे कल्पना है। (वस्तुका) अपना रूप पदार्थ (=शब्दका विषय) नहीं होता, इस लिए वहाँका सारा (ज्ञान) प्रत्यक्ष है।"[1]

इस तरह चाहे ज्ञानका विषय बाहरी वस्तु हो अथवा भीतरी विज्ञान; जब तक समानता असमानताको लेकर प्रयुक्त होनेवाले शब्दार्थको अव-काश नही मिल रहा है, तब तक वह प्रत्यक्ष की सीमाके भीतर रहता है।

(प्रत्यक्षाभास)—चार प्रकार के प्रत्यक्षज्ञानको बतला चुके। किन्तु ज्ञान ऐसे भी हैं, जो प्रत्यक्ष-प्रमाण नहीं है, और देखनेमे प्रत्यक्षसे लगते हैं, ऐसे प्रत्यक्षाभासोका भी परिचय होना जरूरी है, जिसमे कि हम गलत रास्ते पर न चले जायें। दिग्नागने ऐसे प्रत्यक्षाभासोंकी सख्या चार बतलाई

१. प्र० वा० ३।२८७

है¹—"भ्रान्तिज्ञान सवृत्तिमत्-ज्ञान अनुमानानुमानिक-स्मार्ताभिलापिक और तैमिरि ज्ञान।" (१) भ्रान्तिज्ञान मरुभूमिकी बालुकामे जलका ज्ञान है। (२) सवृत्तिवाला ज्ञान फर्जी द्रव्यके गुण आदिका ज्ञान—"यह अमुक द्रव्य है, अमुक गुण है।" (३) अनुमान (=लिंग, धूम) आनुमानिक (=लिंगी आग) के सकेतवादी स्मृतिके अभिलाप (=वचनके विषय) वाला ज्ञान—"यह घडा है।" (४) तैमिरि ज्ञान वह ज्ञान है जो कि इन्द्रियमे किसी तरह के विकारके कारण होता है, जैसे कामला रोगवालेको सभी चीजे पीली मालूम होती है। इनमे पहिले "तीन प्रकारके प्रत्यक्षा-भास कल्पना-युक्त ज्ञान हैं, (जो कल्पनायुक्त होनेके कारण ही प्रत्यक्षके भीतर नही गिने जा सकते), और एक (=तैमिरि) कल्पना रहित है किन्तु आश्रय (=इन्द्रिय) मे (विकार होनेके कारण उत्पन्न होता है) इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञानमे नही आ सकता—ये हैं चार प्रकारके प्रत्यक्षाभास।"²

(ख) अनुमान-प्रमाण—अग्निका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है, एक अपने स्वरूपसे, जैसा कि प्रत्यक्षसे देखनेपर होता है, दूसरा, दूसरेके रूपसे, जैसे धुआँ देखनेपर एक दूसरी (=रसोईघरकी) आगका रूप याद आता है, और इस प्रकार दूसरेके रूपसे इस धुएँके लिंग (=चिह्न) वाली आगका ज्ञान होता है—यह अनुमान है। चूंकि पदार्थका "स्वरूप और पर-रूप दो ही तरहसे ज्ञान होता है, अत प्रमाणके विषय (भेद) दो ही प्रकारके होते हैं"³—एक प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय और दूसरा अनुमानका विषय।

किन्तु "(जो स्वरूपसे, अनुमान ज्ञान होता) है, वह जैसी (वस्तुस्थिति) है, उसके अनुसार नही लिया जाता, इसलिए (यह) दूसरे तरहका (ज्ञान) भ्रान्ति है। (फिर प्रश्न होता है) यदि (वस्तुका अपने नहीं) पर-रूपमे

---

१. "भ्रान्तिसंवृतिसज्ज्ञानं अनुमानानुमानिकम्। स्मार्ताभिलापिकं चेति प्रत्यक्षाभं सतैमिरम्।"—प्रमाण-समुच्चय।

२. प्र० वा० ३।२८८ ३. प्र० वा० ३।५४

ज्ञान होता है, तो (वह भ्रान्ति है) और भ्रान्तिको प्रमाण नहीं कह सकते (क्योंकि वह अ-विसंवादी नहीं होगी)। (उत्तर है—) भ्रान्तिको भी प्रमाण माना जा सकता है, यदि (उस ज्ञानका) अभिप्राय (जिस अर्थ से है, उस अर्थ) से अ-विसंवाद न हो (=उसके विरुद्ध न जाये; क्योंकि) दूसरे रूपसे पाया ज्ञान भी (अभिप्रेत अर्थ का संवादी) देखा जाता है।"[1] यहाँ पहाड़में देखे धुएँवाली आगके ज्ञानको हम अपने रूपसे नहीं पा, रसोईघर वाली आगके रूपके द्वारा पाते हैं, परन्तु हमारे इस अनुमान ज्ञानसे जो अभिप्रेत अर्थ (पहाड़की आग) है, उससे उसका विरोध नही है।

(a) अनुमानकी आवश्यकता—"वस्तुका जो अपना स्वरूप (=स्वलक्षण) है, उसमें कल्पना-रहित प्रत्यक्ष प्रमाणकी जरूरत होती है (यह बतला चुके हैं); किन्तु (अनेक वस्तुओंके भीतर जो) सामान्य है, उसे कल्पना के बिना नहीं ग्रहण किया जा सकता, इसलिए इस (सामान्यके ज्ञान) में अनुमानकी जरूरत पड़ती है।"[2]

(b) अनुमानका लक्षण—किसी "संबंधी" (पदार्थ, धूमसे संबंध रखनेवाली आग) के धर्म (=लिंग, धूम) से धर्मी (=धर्मवाली, आग) के विषयमें (जो परोक्ष) ज्ञान होता है, वह अनुमान है।"[3]

पहाड़में हम दूरसे धुआँ देखते हैं, हमें रसोईघर या दूसरी जगह देखी आग याद आती है, और यह भी कि "जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग होती है" फिर धुएँको हेतु बनाकर हम जान जाते हैं कि पर्वतमें आग है। यहाँ आग परोक्ष है, इसलिए उसका ज्ञान उसके अपने स्वरूपसे हमें नहीं होता, जैसा कि प्रत्यक्ष आगमें होता है; दूसरी बात है, कि हमें यह ज्ञान स्वतः नहीं होता, बल्कि उसमें स्मृति, शब्द-अर्थ-संबंध—अर्थात् कल्पना—का आश्रय

---

१. वहीं ३।५५, ५६ २. प्र० वा० ३।७५

३. वहीं ३।६२ "अटूट संबंधवाले (दो) पदार्थों (मेंसे एक) का दर्शन उस (=संबंध) के जानकारके लिए अनुमान होता है। (अनन्तरीयकार्थ-दर्शनं तद्विदोऽनुमानम्"—वसुबन्धुकी वादविधि)।

लेना पड़ता है।

(प्रमाण दो ही)—प्रमाण द्वारा ज्ञेय (=प्रमेय) पदार्थ स्वरूप और पर-रूप (=कल्पना-रहित, कल्पना-युक्त) दो ही प्रकारसे जाने जाते हैं। इनमें पहिला प्रत्यक्ष रहते जाना जाता है, दूसरा परोक्ष (अ-प्रत्यक्ष) रहते। "प्रत्यक्ष और परोक्ष छोड़ और कोई (तीसरा) प्रमेय संभव नहीं है, इसलिए प्रमेयके (सिर्फ) दो होनेके कारण प्रमाण भी दो ही होते हैं। दो तरहके प्रमेयोंके देखनेसे (प्रमाणोंकी) संख्याको (बढ़ाकर) तीन या (घटाकर) एक करना भी गलत है।"[1]

(c) **अनुमानके भेद**—कणाद, अक्षपादने अनुमानको एक ही माना था, इसलिए अपने पूर्ववर्ती "ऋषियों" के पदपर चलते हुए प्रशस्तपाद जैसे थोड़ेसे अपवादोंके साथ आज तक ब्राह्मण नैयायिक उसे एकही मानते आ रहे हैं। अनुमानके स्वार्थ-अनुमान, परार्थ-अनुमान ये दो भेद पहिले-पहिल आचार्य दिग्नागने किया।[2] दो प्रकारके अनुमानोंमें स्वार्थ-अनुमान वह अनुमान है, जिसमें तीन प्रकारके हेतुओं (=लिंगों, चिह्नों, धूम आदि) से किसी प्रमेयका ज्ञान अपने लिए (=स्वार्थ) किया जाता है।[3] परार्थानुमानमें उन्हीं तीन प्रकारके हेतुओं द्वारा दूसरेके लिए (= परार्थ) प्रमेयका ज्ञान कराया जाता है।

(d) **हेतु (=लिंग) धर्म**—पदार्थ (=प्रमेय) के जिस धर्मको हम देखकर कल्पना द्वारा उसके अस्तित्वका अनुमान करते हैं, वह हेतु है। अथवा "पक्ष (=आग) का धर्म हेतु है, जो कि पक्ष (=आग) के अंश (=धर्म, धूम) से व्याप्त है।"[4]

"हेतु सिर्फ तीन तरहके होते हैं"[5]—कार्य-हेतु, स्वभाव-हेतु, और अनुपलब्धि-हेतु। हम किसी पदार्थका अनुमान करते हैं उसके कार्यसे—"पहाड़में आग है धुआँ होनेसे"। यहाँ धुआँ आगका कार्य है, इस तरह

---

१. प्र० वा० ३।६३, ६४ २. धर्मोत्तर (न्यायबिन्दु, पृ० ४२)
३. देखो, न्यायबिन्दु २।३ ४. प्र० वा० १।१ ५. वहीं

कार्यसे उसके कारण (=आग) का हम अनुमान करते हैं। इसलिए "धुआँ होनेसे" यह हेतु कार्य-हेतु है।

"यह सामनेकी वस्तु वृक्ष है, शीशम होनेसे" यहाँ "शीशम होनेसे" हेतु दिया गया है। वृक्ष सारे शीशमोंका स्वभाव (=स्व-रूप) है, सामनेकी वस्तुको यदि हम शीशम समझते हैं, तो उसे इस स्वभाव-हेतुके कारण वृक्ष भी मानना पड़ेगा।

"मेजपर गिलास नहीं है", "उपलब्धि-योग्य स्वरूपवाली होनेपर भी उसकी उपलब्धि न होनेसे" यह अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण है। गिलास ऐसी वस्तु है, जो कि वहाँ होनेपर दिखाई देगा, उसके न दिखाई देने (उपलब्धि न होने) का मतलब है, कि वह मेजपर नहीं है। गिलासकी अनुपलब्धि यहाँ हेतु बनकर उसके न होनेको सिद्ध करती है।

अनुमानसे किसी बातको सिद्ध करनेके लिए कार्य-, स्वभाव-, अनुपलब्धिके रूपमें तीन प्रकारके हेतु इसीलिए होते हैं, क्योंकि हेतुवाले इन धर्मोंके बिना धर्मी (=साध्य, आग) कभी नहीं होता—इस धर्मका धर्मीके साथ अ-विनाभाव संबंध है। हम जानते हैं "जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग जरूर रहती है", "जो जो शीशम है वह वृक्ष जरूर होता है", "आँखसे दिखाई पड़नेवाला गिलास होनेपर जरूर दिखाई देता है, न दिखाई देनेका मतलब है नहीं होना।

(९) **मन और शरीर (क) एक दूसरे पर आश्रित**—मन और शरीर अलग हैं या एक ही हैं, इस पर भी धर्मकीर्त्तिने अपने विचार प्रकट किए हैं। बौद्ध-दर्शनके बारेमें लिखते हुए हम पहिले बतला चुके हैं, और आगेभी बतलायेंगे, कि बौद्ध आत्माको नहीं मानते, उसकी जगह वह चित्त, मन और विज्ञानको मानते हैं, जो तीनों ही पर्याय हैं। मन शरीर नहीं है, किन्तु साथ ही "मन काया के आश्रित है।"[1] इन्द्रियाँ काया (=शरीर) में होती हैं, यह हम जानते हैं, और "यद्यपि इन्द्रियोंके बिना बुद्धि (=मन, ज्ञान)

---

1. प्र० वा० २।४१

नहीं होता, साथ ही इन्द्रियाँ भी बुद्धिके बिना नहीं होतीं, इस तरह दोनों (=इन्द्रियाँ और बुद्धि) अन्योन्य=हेतुक (=एक दूसरेपर निर्भर हैं), और इससे (मन और काया) का अन्योन्य-हेतुक होना (सिद्ध है)"।

(ख) मन शरीर नहीं—मन और शरीरका इस तरह एक दूसरेपर आश्रित होना—दोनोमे अविनाभाव संबंध होना—हमें इस परिणामपर पहुँचाता है, कि मन शरीरसे सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं है, वह शरीरका ही एक अंश है, अथवा मन और शरीर दोनो उन्ही भौतिक तत्त्वोंके विकास हैं, अत तत्त्वत उनमे कोई भेद नहीं—भूतसे ही चैतन्य है, जो चैतन्य है वह भूत है। धर्मकीर्ति अन्य बौद्ध दार्शनिकोंकी भाँति भूतचैतन्यवाद (भौतिकवाद या जडवाद) का खंडन करते हुए कहते हैं—"प्राण=अपान (=श्वास-प्रश्वास,) इन्द्रियाँ और बुद्धि (=मन) की उत्पत्ति अपनसे समानता रखनेवाले (=सजातीय) पूर्वके कारणके बिना केवल शरीरसे ही नही होती। यदि इस तरहकी उत्पत्ति (=जन्मग्रहण) होती, तो (प्राण-अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाले शरीरसे उत्पन्न होनेका) नियम न रहता (और जिस किसी भूत से जीवन=प्राण अपान-इन्द्रिय-बुद्धिवाला शरीर उत्पन्न होता)।"[1]

जीवनवाले बीजसे ही दूसरे जीवनकी उत्पत्ति होती है, यह भी इस बातकी दलील है, कि मन (=चेतना) केवल भूतोंकी उपज नही है। कही-कही जीवन-बीजके बिना भी जीवन उत्पन्न होता दिखाई देता है, जैसे कि वर्षामे क्षुद्रकीट, इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्ति कहते हैं—

"पृथिवी आदिका ऐसा कोई अंश नही है, जहाँ स्वेदज आदि जन्तु न पैदा होते हों, इससे मालूम होता है, सब (भूतसे उत्पन्न होती दिखाई देने वाली वस्तुएँ) बीजात्मक हैं।"[2]

"यदि अपने सजातीय (जीवनमुक्त कारण) के बिना इन्द्रिय आदिकी उत्पत्ति मानी जाय, तो जैसे एक (जगहके भूत जीवनके रूपमे) परिणत

---

१. प्र० वा० २।३५ २. वहीं २।३७

हो जाते हैं, उसी तरह सभी (भूत परिणत हो जाने चाहिए); क्योंकि (पहिले जीवन-शून्यहोनेसे सभी) चुकते हैं, (लेकिन हर कंकड़ और ढलेको सजीव आदमीके रूपमें परिणत होते नहीं देखा जाता)।"

"बत्ती (तेल) आदिकी भाँति (कफ, पित्त आदि) दोषों द्वारा देह विगुण (=मृत) हो जाता है—यह कहना ठीक नहीं; ऐसा होता तो मरनेके बाद भी (कफ, पित्त आदि) दोषोंका शमन हो जाता है (फिर तो दोषोंके शमनसे विगुणता हट जाने के कारण मृतकको) फिर जी जाना चाहि .।

"यदि कहो (जलाकर) आगके निवृत्त (=शान्त) हो जानेपर भी काष्ठके विकार (=कोयले या राख) की निवृत्ति (पहिले काष्ठके रूपमे परिणति) नही होती, उसी तरह (मृत शरीरकी भी कफ आदिके शान्त होने पर भी सजीव शरीरके रूपमें) परिणति नहीं होती—यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि चिकित्साके प्रयोगसे (जब दोषोंको हटाया जाता है, तो शरीर प्रकृतिस्थ हो जाता है किन्तु यह शरीरके सजीव होते ही होते)।

"(दोषोंसे होनेवाले विकारोंकी निवृत्ति या अनिवृत्ति सभी जगह एकसी नहीं है) कोई वस्तु कहीं-कहीं न लौटने देनेवाले (=अनिवर्त्य) विकारकी जनक (=उत्पादक) होती है, जैसे आग काष्ठके बारेमे (अनिवर्त्य विकारकी जनक) है; और कहीं उलटा (=निवर्त्य विकार-जनक) है, जैसे (वही आग) सुवर्णमें। पहिले (काष्ठकी आग) का थोड़ा भी विकार (=काला आदि पड़ जाना) अनिवर्त्य (=लौटाया जानेवाला) है। (किन्तु दूसरे सोना-आगमे जो) लौटाया जा सकने-वाला (=प्रत्यानेय) विकार है, वह फिर (पूर्ववत् पिछले) ठोस सोनेकी तरह हो सकता है।

"(जो कुछ) असाध्य कहा जाता है, (वह रोगों और मृत्युके कारण कफ आदि दोषोंके) निवारक (औषधों) के दुर्लभ होनेसे अथवा आयुकी

१. प्र० वा० २।३८

क्षयकी वजहसे (कहा जाता है)। यदि (भौतिकवादियोंके मतानुसार) केवल (भौतिकदोष ही मृत्युके कारण हों) तो (ऐसे दोषोंका हटाना) असाध्य नहीं हो सकता।

"(माना जाता है कि साँप काटनेपर जब तक जीवन रहता है, तब तक विष सारे शरीरमे फैलता जाता है, किन्तु शरीरके निर्जीव हो जानेपर विष काटे स्थानपर जमा हो जाता है, इस तरह तो यदि भूत ही चेतना होती, तो (शरीरके) मर जानेपर विष आदिके (शरीरके अन्य स्थानोंसे हटकर एक स्थानपर) जमा होनेसे (शरीरके बाकी स्थानों) अथवा कटे (स्थान के काट डालनेसे (बाकी शरीरमें निर्जीवतारूपी) विकारके हेतु (=विष) के हट जानेसे वह (शरीर) क्यों नही साँस लेने लगता? (इससे पता लगता है कि चेतना भूत ही नहीं है, बल्कि उससे भिन्न वस्तु है, यद्यपि दोनों एक दूसरेके आश्रित होने से अलग-अलग नहीं रह सकते)।

"(भूतसे चेतनाकी उत्पत्ति माननेपर भूत उपादान और चेतना उपादेय हुई फिर) उपादान (=शरीर) के विकारके बिना उपादेय (=चेतना) मे विकार नही किया जा सकता, जैसे कि मिट्टीमें विकार बिना (मिट्टीके बने) कसोरे आदिमे (विकार नही किया जा सकता)। किसी वस्तुके विकार-युक्त हुए बिना जो पदार्थ विकारवान् होता है, वह वस्तु उस (पदार्थ) का उपादान नही (हो सकती)! जैसे कि (एकके विकारके बिना दूसरी विकार-युक्त होनेवाली) गाय और नीलगायमें (एक दूसरेका उपादान नही हो सकती); इसी तरह मन और शरीरकी भी (बात है, दोनोमे से एकके विकार-युक्त हुए बिना भी दूसरेमें विकार देखा जाता है)।"[1]

(ग) मनका स्वरूप—"स्वभावसे मन प्रभास्वर (=निर्विकार) है, (उसमे पाए जानेवाले) मल आगन्तुक (आकाशमें अन्धकार, कुहरा, आदिकी भाँति अपनेसे भिन्न) हैं।"[2]

---

१. प्र० वा० २।५४-६२ २. वहीं २।२०८

४—दूसरे दार्शनिकोंका खंडन

धर्मकीर्त्तिने अपने ग्रंथ प्रमाण-वार्त्तिकमें अपने दार्शनिक सिद्धान्तोंका समर्थन और प्रतिपादन ही नहीं किया है, बल्कि उन्होंने अपने समय तककी हिन्दू दार्शनिक प्रगति की आलोचना भी की है। जिन दार्शनिकोंके ग्रंथोंको सामने रखकर उन्होंने यह आलोचना की है, उनमे उद्योतकर और कुमारिल जैसे प्रमुख ब्राह्मण दार्शनिक भी हैं। हमने पुनरुक्ति और ग्रंथ-विस्तारके डरसे उनके बारेमे अलग नही लिखा, किन्तु यहाँ धर्मकीर्त्तिकी आलोचनासे उनके विचारोको हम जान सकते हैं।

(१) **नित्यवादियोंका सामान्यरूपसे खंडन**—पहिले हम उन सिद्धान्तोको ले रहे हैं, जिन्हें एकसे अधिक दार्शनिक सम्प्रदाय मानते हैं।

(क) **नित्यवादका खंडन**—अनित्यवाद (=क्षणिकवाद) का घोर पक्षपाती होनेसे बौद्धदर्शन नित्यवादका जबर्दस्त विरोधी है। भारतके बाकी सारे ही दार्शनिक किसी-न-किसी रूपमे नित्यवादको मानते हैं, जैन और मीमांसक जैसे आत्मवादी ही नही चार्वाक जैसे भौतिकवादी भी भूतके सूक्ष्मतम अवयवको क्षणिक (=अनित्य) कहनेके लिए तैयार नहीं थे, जैसे कि पिछली सदी तकके यूरोपके यान्त्रिक भौतिकवादी विश्वकी मूलईंटों—परमाणुओं—को क्षणिक कहनेके लिए तैयार न थे।

दिग्नाग कहते हैं[1]—"कारण (स्वय) विकारको प्राप्त होकर ही दूसरी (चीज) का कारण हो सकता है।" धर्मकीर्त्तिने कहा—"जिसके होनेके बाद जिस (वस्तु) का जन्म होता है, अथवा (जिसके) विकारयुक्त होनेपर (दूसरी वस्तु) मे विकार होता है, उसे उस (पीछेवाली वस्तु) का कारण कहते हैं।"[2]

इस प्रकार कारण वही हो सकता है, जिनमे विकार हो सकता है। "नित्य (वस्तु) मे यह (बात) नहीं हो सकती, अत. ईश्वर आदि (जो नित्य

---

१. (कारणं विकृतिं गच्छज्जायतेऽन्यस्य कारणम्"।

२. प्र० वा० २।१८१-८२

पदार्थ) हैं, उनसे (कोई वस्तु) उत्पन्न नहीं हो सकती।"[1]

"जिसे अनित्य नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज) का हेतु नहीं हो सकता। (नित्यवादी) विद्वान् उसी (स्वरूप) को नित्य कहते हैं जो स्वभाव (=स्वरूप) विनष्ट नहीं होता।"[2]

यह भी बतला चुके हैं कि धर्मकीर्ति परार्थ-सत् उसी वस्तुको मानते हैं, जो कि अर्थवाली (=सार्थक) क्रिया (करने) में समर्थ हो। नित्यमें विकारका सर्वथा अभाव होनेसे क्रिया हो ही नहीं सकती। आत्मा, ईश्वर, इन्द्रिय आदिसे अगोचर हैं, साथ ही वह नित्य होनेके कारण निष्क्रिय भी हैं; इतनेपर भी उनके अस्तित्वकी घोषणा करना यह साहस मात्र है।

(ख) आत्मवादका खंडन—चार्वाक और बौद्ध-दर्शनको छोड़ बाकी सारे भारतीय दर्शन आत्माको एक नित्य चेतन पदार्थ, मानते हैं। बौद्ध अनात्मवादी हैं, अर्थात् आत्माको नहीं मानते। आत्माको न माननेपर भी क्षण-क्षण परिवर्तनशील चेतना-प्रवाह (=विज्ञान-संतति) एकसे दूसरे शरीरसे जुड़ता (=प्रतिसंधि ग्रहण करता) रहता है, इसे हम पहिले बतला चुके हैं। चेतना (=मन या विज्ञान) सदा कायाश्रित रहता है। जब कि एक शरीरका दूसरे शरीरसे एकदम सन्निकटका संबंध नहीं है, मरनेवाला क शरीर भूलोकपर है और उसके बादका सजीव बननेवाला ख शरीर मंगललोकमें; ऐसी अवस्थामें क शरीरको छोड़ ख शरीर तक पहुँचनेमें बीचकी एक अवस्था होगी, जिसमें विज्ञानको कायासे बिलकुल स्वतंत्र मानना पड़ेगा, फिर "मन कायाश्रित है"—कहना गलत होगा। इसके उत्तर में बौद्ध कह सकते हैं, कि हम मनको एक नहीं बल्कि प्रवाह मानते हैं, प्रवाहका अर्थ निरन्तर—अ-विच्छिन्न चली आती एक वस्तु नहीं, बल्कि, हर क्षण अपने रूपसे विच्छिन्न—सर्वथा नष्ट—होती, तथा उसके बाद उसी तरहकी किन्तु बिलकुल नई चीजका उत्पन्न होना, और इस · · · · नष्ट-उत्पत्ति-नष्ट-उत्पत्ति · · · · से एक विच्छिन्न प्रवाहका

---

१. वहीं २।१८३ २. वहीं २।२०४

जारी रहना। चेतन-प्रवाह इसी तरहका विच्छिन्न प्रवाह है, वह जीवन-रेखा मालूम होता है, किन्तु है जीवन-बिन्दुओंकी पाँती। फिर प्रवाहको विच्छिन्न मान लेने पर "मन कायाश्रित" का मतलब मनके हर एक "बिन्दु" को बिना काया के नहीं रहना चाहिए। क शरीर—जो कि स्वयं क्षण-क्षण परिवर्तन-शील-शरीर-निर्मापक मूल बिन्दुओं (=कणों) का विच्छिन्न प्रवाह है—का अन्तिम चित्त-बिन्दु नष्ट होता है, उसका उत्तराधिकारी ख शरीरके साथ होता है। क शरीर (-प्रवाह) के अन्तिम और ख शरीर (-प्रवाह) के आदिम चित्त-बिन्दुओं (क-चित्त, ख-चित्त) के बीच यदि किसी ग चित्त-बिन्दुको मानें तब न आक्षेप किया जा सकता है, कि ग चित्त-बिन्दु काया के बिना है। इस तरह स्थिर (=नित्य या चिरस्थायी) नहीं, बल्कि बिजली-की चमकसे भी बहुत तेज गति से "आँख मिचौनी" करनेवाले चित्त-प्रवाहके अनात्म तत्त्व) को मानते हुए भी वह एकसे अधिक शरीरों (=शरीर-प्रवाहों) में उसका जाना सिद्ध करते हैं।

(३) **नित्य आत्मा नहीं**—आत्माको नित्य माननेवाले वैसा मानना सबसे जरूरी इस बातके लिए समझते हैं, कि उसके बिना बंध—जन्म-मरणमें पड़कर दुःख भोगना, और मोक्ष—दुःखोंसे छूटकर परम "सुखी" हो विचरण करना—दोनों संभव नहीं। इसपर धर्मकीर्ति कहते हैं—

"दुःखकी उत्पत्तिमें कारण (=कर्म) बंध है, (किन्तु) जो नित्य है (वह निष्क्रिय है इसलिए) वह ऐसा (कारण) कैसे हो सकता है? दुःखकी उत्पत्ति न होनेमें कारण (कर्मसे उत्पन्न बंधसे) मोक्ष (मुक्त होना) है, जो नित्य है, वह एसा (कारण) कैसे हो सकता है? (वस्तुतः) जिसे अ-नित्य (=क्षणिक) नहीं कहा जा सकता, वह किसी (चीज) का कारण नहीं हो सकता। नित्य उस स्वरूपको कहते हैं, जो कि नष्ट नहीं होता। इस लज्जाजनक दृष्टि (=नित्यताके सिद्धान्त) को छोड़कर उसे (=आत्माको) (अत) अनित्य कहो।"[१]

---

१. प्र० वा० २।२०२-२०५

(b) **नित्य आत्माका विचार (=सत्काय दृष्टि) सारी बुराइयोंकी जड़**—"मैं सुखी होऊँ या दुःखी नहीं होऊँ—यह तृष्णा करते (पुरुष) का जो 'मैं' ऐसा ख्याल (=बुद्धि) होती है, वही सहज आत्मवाद (=सत्त्व-दर्शन) है। 'मैं' ऐसी धारणाके बिना कोई आत्मामें स्नेह नहीं कर सकता; और आत्मामे (इस तरहके) स्नेहके बिना सुखकी कामना करनेवाला बन (कोई गर्भस्थानकी ओर) दौड़ नही सकता है।"[1]

"जब तक आत्मा-सबधी प्रेम नहीं छूटता, तब तक (पुरुष अपनेको) दुःखी मानता रहेगा और स्वस्थ (=चिन्ता-रहित) नहीं हो सकेगा। यद्यपि कोई (अपनेको) मुक्त करनेवाला नहीं है, तो भी ('मैं', मेरा', जैसे) झूठे ख्याल (=आरोप) को हटानेके लिए यत्न करना पड़ता है।"[2]

"यह (क्षणिक मन, शरीर-प्रवाहसे) भिन्न आत्माका ख्याल है, जिससे उससे उलटे स्वभाव (=वस्तुकी स्थिरता आदि) मे राग (=स्नेह) उत्पन्न होता है।"[3]

"आत्माका ख्याल (केवल) मोह और वही सारी बुराइयोंकी जड (=दोषोंका मूल) है।"[4]

"(यह) मोह सत्यकाय दृष्टि (=नित्य आत्माकी धारणा) है; मोह-मूलक ही सारे मल (=चित्त-विकार) हैं।"[5]

धर्मके माननेवालोके लिए भी आत्मवाद (=सत्काय-दृष्टि) बुरी चीज है, इसे बतलाते हुए कहा है—

"जो (नित्य) आत्माको मानता है, उसको "मै" इस तरहका स्नेह (=राग) सदा बना रहता है, स्नेहसे सुखकी तृष्णा करता है, और तृष्णा दोषोंको ढांक देती है। (दोषोके ढँक जानेसे वहाँ वह गुणोंको देखता है, और) गुणदर्शी तृष्णा करते हुए 'मेरा (सुख)' ऐसा (चाह करते) उस (की प्राप्ति) के लिए साधनों (=पुनर्जन्म आदि) को ग्रहण करता है।

---

१. प्र० वा० २।२०१-२ २. वहीं २।१९१-९२
३. प्र० वा० १।१९५ ४. वहीं २।१९६ ५. वहीं २।२१३

इस सत्काय-दृष्टिसे जब तक आत्माकी धारणा है, तब तक वह संसार (=भवसागर) में है। आत्मा (=मेरा) जब है, तभी पराए (=अन्य)-का ख्याल होता है। मेरा-परायाका भेद जब (पुरुष) में आता है, तो लेना, छोड़ना (=राग-द्वेष) होता है, इन्हीं (लेने छोड़ने) से बँधे सारे दोष (=ईर्ष्या आदि) पैदा होते हैं। जो नियमसे आत्मामें स्नेह करता है, वह आत्मीय (=सुख साधनों) से रागरहित नहीं हो सकता।"[1]

"आत्माकी धारणा सर्वथा अपने (व्यक्तित्वमें) स्नेहको दृढ़ करती है। आत्मीयोंके प्रति स्नेहका बीज (जब मौजूद है, तो वह दोषोंको) वैसा ही कायम रखेगा।"[2]

"(वस्तुतः आत्मा नहीं नैरात्म्य ही है,) किन्तु नैरात्म्यमें जब (गलतीसे) आत्म-स्नेह हो गया, तो उससे (=आत्मस्नेहसे कि जिसे वह आत्मीय सुख आदिकी चीज समझता है, उसमें) जितना भी लाभ हो, उसके अनुसार क्रिया-परायण होता है। (—बड़ा लाभ न होनेपर छोटे लाभको भी हासिल करनेसे बाज नहीं आता, जैसे) मत्तकामिनी (=मत्त-गजगामिनी सुन्दरी) के न मिलनेपर (कामुक पुरुष) पशुमें भी कामतृप्ति करता है।"[3]

इस प्रकार नित्य आत्मा युक्तिसे सिद्ध नहीं हो सकता है, और धर्म परलोक, मुक्तिमें भी उसके माननेसे बाधा ही होती है।

(ग) ईश्वर-खंडन—ईश्वरवादी ईश्वरको नित्य और जगत्‌का कर्ता मानते हैं। धर्म कीर्ति ईश्वरके अस्तित्वका खंडन करते हुए कहते हैं—

"जैसे (स्वरूपसे) वह (ईश्वर जगत्‌की सृष्टिके वक्त) कारण वस्तु है, वैसे ही (स्वभावसे सृष्टि करनेसे पहिले) वह अ-कारण भी था। (आखिर स्वरूप एकरस होनेसे दोनों अवस्थामें उसमें भेद नहीं हो सकता, फिर) जब वह कारण (माना गया, उसी वक्त) किस (वजह) से (वैसा) माना गया (और) अ-कारण नहीं माना गया?

---

१. प्र० वा० २।२१७-२२० २. वहीं २।२३५-२३६ ३. वहीं २।२३३

"(कारक और अकारक दोनो अवस्थाओंमें एकरस रहनेवाला ईश्वर जब कारण कहा जाता है, तो प्रश्न होता है—) राम (के शरीर) में शस्त्रके लगनेसे घाव और औषधके लगनेसे घाव-भरना (देखा जाता है), शस्त्र और औषध क्षणिक होनेसे क्रिया कर सकते हैं, इसलिए उनके लिए यह संभव है, किन्तु यदि (नित्य अतएव निष्क्रिय ईश्वरको कारक मानते हो, तो क्रिया आदि) सबध रहित ठूँठमे ही क्यो न विश्वकी कारणता मान लेते ?

'(यदि कहो कि ईश्वरके सृष्टिके कारक होनेकी अवस्थासे अकारक अवस्थामे विशषता होती है, तो प्रश्न होगा—ऐसा होनेमे उसके स्वरूपमे परिवतन हा जायगा क्योकि) स्वरूपमे परिवर्तन हुए बिना (वह कारक नही हो सकता, और नित्य होनेसे) वह कोई व्यापार (=क्रिया) नहीं कर सकता। और (साथही) जो नित्य है वह तो अलग नही (सदा वहाँ मौजूद) है, (फिर उसकी सृष्टि-रचना-सबधी) सामर्थ्यके बारेमे यह समझना मुश्किल है (कि सदा अपनी उसी सामर्थ्यके रहते भी वह उसे एक समय ही प्रदर्शित कर सकता है दूसरे समय नहीं)।

जिन (कारणो) के होनेपर हो जो (कार्य) होता है, उन (कारणों) मे अन्यको उस (काय) का कारण माननपर (कारण ढूँढते वक्त ईश्वर तक ही जाकर थम जाना नही पडगा बल्कि) सर्वत्र कारणोंका खातमा ही नही होगा। (ईश्वरके आगे भी और तथा उससे आगे और कारण ढूँढन पडग)।

(कारण वही होता है, जिसके स्वरूपमे कार्यके उत्पादनके समय परिवतन होता है) भूमि आदि अकुर पैदा करनेमे कारण अपने स्वरूप-परिवतन करत हुए होते हैं क्योकि उन (=भूमि आदि) के सस्कारसे अकुरमे विशषता देखते हैं। (ईश्वर अपने स्वरूपमें परिवर्तन किए बिना कारण नही बन सकता, और स्वरूप-परिवर्तन करनेपर वह नित्य नहीं रह सकता)। [१]

---

१ प्र० वा० २।२१-२५

ईश्वरवादी ईश्वर सिद्ध करनेके लिए इसे एक जबर्दस्त युक्ति समझते हैं—सन्निवेश (=खास आकार-प्रकार) की वस्तुको देखनेपर कर्त्ताका अनुमान होता है, जैसे सन्निवेशवाले घड़ेको देखकर उसके कर्त्ता कुम्हारका अनुमान होता है। इसका उत्तर देते हुए धर्मकीर्त्ति कहते हैं—

"किसी वस्तु (=घट) के बारेमें (पुरुषकी उपस्थितिमें सन्निवेशका होना यदि) प्रसिद्ध है, तो उसके एकसे शब्द (=सन्निवेश पुरुषपूर्वक होता है) की समानतासे (कुम्हारकी तरह ईश्वरका) अनुमान करना ठीक नहीं; जैसे कि (एक जगह कहीं) पीले रंगवाले धुएँको देखकर आपने आगका अनुमान किया, और फिर सभी जगह पीले रंगको देखकर आगका अनुमान करने लगें। यदि ऐसा न मानें तब तो चूँकि कुम्हारने मिट्टीके किसी घड़े आदिको बनाया, इसलिए दीमकोंके 'टीले' को कुम्हारकी ही कृति सिद्ध करना होगा।"[1]

पहिले सामग्रीकारणवादके बारेमें कहते वक्त धर्मकीर्ति बतला चुके हैं, कि कोई एक वस्तु कार्यको नहीं उत्पादन करती, अनेक वस्तु मिलकर अर्थात् कारण-सामग्री कार्य करनेमें समर्थ होती है।

(२) **न्याय-वैशेषिक खंडन**—वैशेषिक और न्याय-दर्शनमें जगत्को बाहरसे परिवर्तनशील मानते हुए, यूनानी दार्शनिकों—खासकर अरस्तूके दर्शन—का अनुसरण करते हुए, बाहरी परिवर्तनके भीतर नित्य एक रस तत्त्वों—चेतन और जड़ मूल तत्त्वोंको सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है। बौद्धदर्शन अपवादरहित क्षणिकताके अटल सर्वव्यापी नियमको स्वीकार करते हुए किसी स्थिरता-साधक सिद्धान्तको माननेके लिए तैयार नहीं था; इसीलिए हम प्रमाणवार्त्तिकमें धर्मकीर्तिको मुख्यतः ऐसे सिद्धान्तोंका जबर्दस्त खंडन करते देखते हैं। वैशेषिकने स्थिरवादी सिद्धान्तके अनुसार अपने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय—छै पदार्थोंको स्वीकृत किया है, इनमें कर्म और विशेष ही हैं जिनके माननेमें बौद्धोंको आनाकानी

१. वही २।१२,१३

नहीं हो सकती थी; क्योंकि कर्म या क्रिया क्षणिकवादका ही साकार—परमार्थसत्—स्वरूप है और हेतु-सामग्री तथा अपोह (जिसके बारेमें आगे शब्दप्रमाणपर बहस करने वक्त लिखेंगे) के सिद्धान्तोंको माननेवाले होनेसे विशेषको भी वह स्वीकार कर लेते थे। बाकी द्रव्य, गुण, सामान्य, समवायको वह कल्पनापर निर्भर व्यवहारसत्के तौरपर ही मान सकते थे।

(क) द्रव्य गुण आदिका खंडन—बौद्धोंको परमार्थसत् और व्यवहारसत् को परिभाषाके बारेमें पहिले कहा जा चुका है, उसमे परमार्थ सत्की कसौटी उन्होंने—अर्थक्रिया—को रखा है। विश्वमें जो कुछ वस्तु सत् है, वह अर्थ-क्रियामें व्याप्त है, जो अर्थक्रियाकारी नहीं है, वह वस्तु सत् (=परमार्थसत्) नहीं हो सकती। विश्व और उसकी "वस्तुओं"के बारेमें ऐसा विचार रखते हुए वह वस्तुत "वस्तु" को हो नहीं मान सकते थे; क्योंकि "वस्तु" से साधारण जनके मनमें स्थिर पदार्थका ख्याल आता है, इसीलिए बौद्ध दार्शनिकोंने वस्तुके स्थानमें "धर्म" या "भाव" शब्दका अधिक प्रयोग करना चाहा है। "धर्म" को मजहब या मजहबी स्थिर-सत्यके अर्थमे नहीं, बल्कि विच्छिन्न प्रवाहके उन विन्दुओंके अर्थमें लिया है, जो क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होते वस्तुके आकारमें हमें दिखलाई पड़ते है। "भाव" (=होना) को वह इसलिए पसन्द करते है, क्योंकि वस्तु-स्थिति हमे "है" का नहीं बल्कि "होने" का पता देती है—विश्व स्थिर तत्त्वोंका समूह नहीं है कि हम "है" का प्रयोग करें, बल्कि वह उन घटनाओंका समूह है जो प्रतिक्षण घटित हो रही हैं। वैशेषिकको द्रव्य, गुणकी कल्पना भावके पीछे छिपे **विच्छिन्न-प्रवाहवाले विचारके विरुद्ध है।**

वैशेषिकका कहना है—द्रव्य और गुण दो चीजें (पदार्थ) हैं, जिनमे गुण वह है, जो सदा किसीके आधारपर रहता है, गंधको हमेशा हम पृथिवी (तत्त्व) के आधारपर देखते हैं, रसको जल (तत्त्व) के आधारपर। उसी तरह जहाँ-जहाँ हम द्रव्य देखते हैं, वहाँ-वहाँ उसके आधेय—गुण—भी पाए जाते है, जहाँ-जहाँ पृथ्वी (तत्त्व) मिलता है, वहाँ-वहाँ उसका आधेय गुण गंध भी मिलता है। इस तरह गुणके लिए कोई आधार होना चाहिए, यह

ख्याल हमें द्रव्यकी सत्ता स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है; और द्रव्य सदा अपने आधेय गुणके साथ रहता है, यह ख्याल हमें गुणकी सत्ताको स्वीकार करनेके लिए मजबूर करता है। बौद्धोंका कहना है—प्रकृति इस द्रव्य गुणके भेदको नहीं जानती, यह तो हम समझनेकी आसानीके लिए अलग करके कहते हैं; जिस तरह प्रकृति दस आमोंमेंसे एकको पहिला, एकको दूसरा ····इस तरह नंबर देकर हमारे सामने उपस्थित नहीं करती, हर एक आम एक दूसरेसे भिन्न हैं—बस वह इतना ही जानती है। "भाव प्रतिक्षण विनष्ट हो रहे हैं, भावोंके प्रवाहको उस तरहको (प्रतिक्षण विनाशसे युक्त) उत्पत्तिसे (सिद्ध होता है, कि यह उत्पत्ति सदा) स-हेतुक (=कारण या पूर्ववर्ती भावके होनेपर) होती है, इससे आश्रय (=आधार है, सिर्फ इसी अर्थमें लेना चाहिए कि हर एक भावकी उत्पत्तिके पहिले भाव-प्रवाह मौजूद रहता) है, इससे भिन्न अर्थमें (आश्रय, आधार या द्रव्य का मानना) अ-युक्त है।"[1]

जैसे जलका आधार घड़ेको मानते हैं, उसी तरह गंधका आधार पृथिवी (-तत्त्व) है, यह कहना गलत है "जल आदिके लिए आधार (की जरूरत) हो सकती है, क्योंकि (गतिशील जलके) गमनका (घड़ेसे) प्रतिबंध होता है। गुण, सामान्य (=जाति) और कर्म (तो तुम्हारे मतमें गतिरहित हो द्रव्यके भीतर रहते हैं, फिर ऐसे) गतिहीनोंको आधार लेकर क्या करना है?"[2]

इस तरह आधारकी कल्पना गलत साबित होनेपर आधेय गुण आदिका पृथक पदार्थ होना भी गलत ख्याल है। गुण सदा द्रव्यमें रहता है, अर्थात् दोनोंके बीच समवाय (=नित्य) संबंध है, तथा द्रव्य गुणका समवायी (=नित्य संबंध रखनेवाला) कारण है, यह समवाय और समवायी-कारणका ख्याल भी पूर्व-खंडित द्रव्य-गुणकी कल्पनापर आधारित होनेसे गलत है।

---

१. प्र० वा० २।६७ २. प्र० वा० २।६८

(ख) सामान्यका खंडन—गायें करोड़ों हैं, जब हम उनकी भूत, वर्तमान, भविष्यकी व्यक्तियोंपर विचार करते हैं, तो वह अनगिनत मालूम होती हैं। इन अनगिनत गाय-व्यक्तियोंमे एक बात हम सदा पाते हैं, वह है गायपन (=गोत्व), जो गाय व्यक्तियोंके मरते रहनेपर भी हर नई उत्पन्न गायमें पाया जाता है। अनेक व्यक्तियोंमें एकसा पाया जानेवाला यह पदार्थ सामान्य या जाति है, जो नित्य—सर्वकालीन—है। यह है सामान्यको सिद्ध करनेमे वैशेषिककी युक्ति, जिसके बारेमें पहिले लिख चुकनेपर भी प्रकरणके समझनेमे आसानीके लिए हमे यहाँ फिर कहना पड़ा है।

अनुमानके प्रकरणमे धर्मकीर्ति कह चुके हैं, कि सामान्य अनुमानका विषय है, साथ ही सामान्य वस्तु-सत् नही बल्कि कल्पनापर निर्भर है। इस तरह जहाँ तक व्यवहार का संबंध है, उसके माननेसे वह इन्कार नही करते इसीलिए वह कहते हैं—

"बाहरी अर्थ (=पदार्थ) की अपेक्षाके बिना जैसे (अर्थ, पदार्थमें उसे वाचक मान वक्ता जिस शब्दको नियत करते हैं, वह शब्द वैसा (ही) वाचक होता है।

"(एक स्त्रीके लिए भी सस्कृतमे बहुवचन) दाराः, (छः नगरोंके बहुवचनवाले अर्थके लिए सस्कृतमें एक वचन) षण्णगरी (छ नगरी) कहा जाता है, जैसे (शब्द-रूपों) मे एक वचन और बहुवचनकी व्यवस्थाका क्या कारण है? अथवा (सामान्य अनेक व्यक्तियोंमें एक होता है, आकाश तो ख सिर्फ एक है फिर) ख का स्वभाव खपन (=आकाशपन) यह सामान्य क्यों माना जाता है?"[1]

इसका अर्थ यही है, शब्दोंके प्रयोगमें वस्तुकी पर्वाह नहीं करके वक्ता बहुत जगह स्वतत्रता दिखलाते हैं, गायपन आदि इसी तरहकी उनकी "स्वतत्र" कल्पना है, जिसके ऊपर वस्तुस्थितिका फैसला करना गलत होगा।

"(सर्वथा एक दूसरेसे) भिन्नता रखनेवाले भावों (=वस्तुओं) को

---

१. प्र० वा० १।६८, ६९

लेकर जो एक अर्थ (=गायपन) जतलानेवाली (बुद्धि=ज्ञान पैदा होती है, जिस) के द्वारा उन (भावों) का (वास्तविक) रूप ढँक (=संवृत हो) जाता है, (इसलिए) ऐसे ज्ञानको संवृति (=वास्तविकताको ढाँकनेवाली कहते हैं।

"ऐसी संवृतिसे (भावों=गायों ····) का नानापन ढँक गया है (इसीलिए) भाव (=गायें आपसमे) स्वय भिन्नता रखते हुए (भी) किसी (कल्पित) रूपसे अभिन्नता रखनेवालेसे जान पड़ते हैं।

"उसी (संवृति या कल्पनावाली बुद्धि) के अभिप्रायको लेकर सामान्यको सत् कहा जाता है, क्योंकि परमार्थमे वह अ-सत् (और) उस (संवृति बुद्धि) के द्वारा कल्पित है।"[1]

गायपन एक वस्तु सत् है, जो सभी गाय-व्यक्तियोंमे है, यह ख्याल गलत है, क्योंकि—

"व्यक्तियाँ (भिन्न-भिन्न गायें एक दूसरेमें) अनुगत नही हैं, (और) न उन (भिन्न गाय व्यक्तियो) मे (कोई) अनुगत होनेवाला (पदार्थ) दीख पड़ता है; (जो दीखती हैं, वह भिन्न-भिन्न गाय-व्यक्तियाँ हैं)। ज्ञानसे अभिन्न (यह सामान्य) कैसे (एकसे) दूसरे पदार्थको प्राप्त हो सकता है?"

"इसलिए (अनेक) पदार्थोंमे एकरूपता (=सामान्य) का ग्रहण झूठी कल्पना है, इस (झूठी कल्पना) का मूल (व्यक्तियोंका) पारस्परिक भेद है, जिसके लिए (गोत्व आदि) सज्ञा (=शब्दका प्रयोग होता) है।"[2]

"यदि (संज्ञाओं शब्दों द्वारा पदार्थोंका) भेद (मालूम होता है, तो इतना ही तो शब्दोंका प्रयोजन है, फिर) वहाँ सामान्य या किसी दूसरी (चीजकी कल्पनासे) तुम्हें क्या (लेना) है?"[3]

वस्तुतः गायपन आदि सामान्यवाची शब्द विद्वानोंने व्यवहारके सुभीतेके लिए बनाए हैं।

---

१. प्र० वा० १।७०-७२ २. प्र० वा० १।७३-७४ ३. वही १।९९

"एक (तरहके) कार्य (करनेवाले) भावों (='वस्तुओं') में उनके कार्योंके जतलानेके लिए भेद करनेवाली सज्ञा (की जरूरत होती है, जैसे दूध तथा श्रम देना आदि क्रियाओंको करनेवाली गायोंमें उनके कार्योंके जत-लानेके लिए भेद करनेवाली सज्ञाकी; किन्तु गाय-व्यक्तियोंके अनगिनत होनेसे हर व्यक्तिको अलग-अलग सज्ञा रखनेपर नाम) बहुत बढ़ जाता, (वह) हो भी नही सकता था, और (प्रयास) फजूल भी होता, इसलिए (व्यवहार कुशल) वृद्धोंने उस (गायवाले) कार्यसे फर्क करनेके विचारसे एक शब्द (=गाय नाम) प्रयुक्त किया।"[1]

फिर प्रश्न होता है, सामान्य (=गायपन) जिसे नित्य कहते हो, वह एक-देशी है या सर्वव्यापी? यदि कहो वह एकदेशी अर्थात अपनेसे संबंध रखनेवाली गाय-व्यक्तियोंमें ही रहता है, तो—

"(एक गायमे स्थित सामान्य उस व्यक्तिके मरने तथा दूसरी गायके उत्पन्न होनेपर एकसे दूसरेमें) न जाता है, और न उस (व्यक्तिकी उत्पत्ति वाले देश) में (पहिलेसे) था; (क्योंकि वह सिर्फ व्यक्तियोंमें ही रहता है) और (व्यक्तिकी उत्पत्तिके) पीछे (तो जरूर) है, (क्योंकि सामान्यके बिना व्यक्ति हो नहीं सकती); यदि (सामान्यको) अंशवाला (मानते हो, जिसमे कि उसका एक अंश=छोर पहिली व्यक्तिसे और दूसरा पीछे उत्पन्न होनेवाली व्यक्तिसे संबद्ध हो)। और (अंशरहित मानने पर यह नही कह सकते कि वह) पहिलेके (उत्पन्न होकर नष्ट होते) आधारको छोडता है (क्योंकि ऐसा माननेपर देश-कालके अन्तरको नित्य सामान्य जब पार करेगा, उस वक्त उसे व्यक्तिसे अलग भी मानना पड़ेगा, इस प्रकार बेचारे सामान्यवादीके लिए) मुसीबतोंका अन्त नही।

"दूसरी जगह वर्तमान (सामान्य) का अपने स्थानसे बिना हिले उस (पहिले स्थान) से दूसरे स्थानमें जन्मनेवाले (पिंड) मे मौजूद होना युक्ति-युक्त बात नही है।

---

१. प्र० वा० १।१३९-१४०

"जिस (देश) में वह भाव (=खास गाय) वर्त्तमान है, उस (देश=स्थान) से (सामान्य गायपन) सबद्ध भी नहीं होता (क्योंकि तुम मानते हो कि सामान्य देशमें नहीं व्यक्तिमे रहता है), और (फिर कहते हो, देशमे रहनेपर भी उस) देशवाले (पदार्थ—गाय-व्यक्ति) मे व्याप्त होता है, यह तो कोई भारी चमत्कार सा है!!

"यदि सामान्यको (एक देशी नहीं) सर्वव्यापी (सर्वत्र) मानते हो, तो एक जगह एक गाय-व्यक्ति द्वारा व्यक्त कर दिए जानेपर उसे सर्वत्र दिखाई देना चाहिए, (क्योंकि सर्वव्यापी सामान्यमें) भेद न होने (=एक होने) से व्यक्तिको अपेक्षा नही।

"(और ऊपरकी बातसे यह भी सिद्ध होता है, कि गायपन सामान्य सर्वत्र है। फिर यह दिखलाई देता क्यों नहीं, यह पूछनेपर आप कहते हैं—क्योंकि उसके लिए व्यजक (=प्रकट करनेवाली) व्यक्ति—गाय—की जरूरत है। इसका अर्थ हुआ—) "(पहिले) व्यजकके ज्ञान हुए बिना व्यंग्य (=सामान्य) ठीकसे नही प्रतीत होता। तब फिर सामान्य (=गायपन) और सामान्यवान् (=गायपनवाली गाय-व्यक्ति) के सबधमे उलटा क्यों मानते हो।—अर्थात् गायपन-सामान्य गाय-व्यक्तिकी उत्पत्तिसे पहिले भी मौजूद था?"[1]

अतएव सामान्य है ही नही—

"क्योंकि (व्यक्तिसे भिन्न) केवल जातिका दर्शन नहीं होता, और (गाय-) व्यक्तिके ग्रहणके वक्त भी उसके (नामवाची) शब्दरूप ('गाय') से भिन्न (कुछ) नही दिखाई देता।"[2]

"इसलिए सामान्य अ-रूप (=अ-वस्तु) है, (और वह) रूपों (=गाय-व्यक्तियों) के आधारपर नही कल्पित किया गया है; बल्कि (वह व्यक्तियोंकी क्रिया-संबधी) उन-उन विशेषताओंके जतलानेके लिए शब्दों द्वारा प्रकाशित किया जाता है।

---

१. प्र० वा० ३।१५४-५८ २. प्र० वा० ३।४९

"ऐसे (सामान्य) में वास्तविकता (=रूप) का अवभास अथवा सामान्यके रूपमें अर्थ (=पदार्थ गाय-व्यक्ति) का ग्रहण भ्रान्ति (मात्र) है, (और वह भ्रान्ति) चिरकालसे (वैसे प्रयोगको) देखते रहनेके अभ्याससे पैदा हुई है।

"और पदार्थों (=विशेषों या व्यक्तियों) का यह (अपनेसे भिन्न व्यक्ति) से बिलगाव रूपी जो समानता (=सामान्य) है, और जिस (सामान्य) के विषयमे ये (शब्दार्थ-संबंधी संकेत रखनेवाले) शब्द हैं उसका कोई भी स्व-रूप (=वास्तविक रूप) नहीं है (क्योंकि वे शब्द-व्यवहारके सुभीतेके लिए कल्पित किए गये हैं)।"[1]

(ग) अवयवी का खंडन—हम बतला आए है, कि कैसे अक्षपाद अवयवों (=अंगों) के भीतर किंतु उनसे अलग एक स्वतंत्र पदार्थ—**अवयवी** (=अंगी)—को मानते हैं। धर्मकीर्त्ति सामान्यकी भाँति अवयवोका व्यवहार (=संवृति) सत् माननेके लिए तैयार हैं, किंतु अवयवोंसे परे अवयवी एक परमार्थ सत है, इसे वह नहीं स्वीकार करते। "बुद्धि (=ज्ञान) जिस आकारकी होती है, वही उस (=बुद्धि) का ग्राह्य कहा जाता है।"[2] हम बुद्धि (=ज्ञान) से अवयवोंके स्वरूपको ही देखते हैं, उसमें हमे अवयवीका पता नही लगता, भिन्न-भिन्न अवयवोंके प्रत्यक्ष ज्ञानोंको एकत्रित कर कल्पनाके सहारे हम अवयवीकी मानसिक सृष्टि करते हैं, जो कि कल्पित छोड वास्तविक वस्तु नही हो सकता। यदि कहो कि अवयवोंका भी ग्रहण होता है तो सवाल होगा—

"एक ही बार अपने अवयवोंके साथ कैसे अवयवीका ग्रहण हो सकता है? गलेकी कमरी, (सींग) आदि (अवयवों) के न देखनेपर गाय (=अवयवी) नही देखी जा सकती।"[3]

जिस तरह वाक्य पढ़ते वक्त पहिलेसे एक-एक अक्षर पढ़नेके साथ वाक्यका अर्थ हमें नही मालूम होता जाता, बल्कि एक-एक अक्षर हमारे

---

१. प्र० वा० २।३१-३२ २. प्र० वा० ३।२२४ ३. प्र० वा० ३।२२५

सामनेसे गुजरता सकेतानुसार खास छाप हमारे मस्तिष्कपर छोड़ता जाता है, इन्ही छापोंको मिलाकर मन कल्पना द्वारा सारे वाक्यका अर्थ तैयार करता है। उसी तरह हम गायकी सींग, गलकम्बल, पूँछको बारी-बारीसे देखते जो छाप छोड़ते हैं, उनके अनुसार गाय-अवयवीकी कल्पना करते हैं; किंतु जिस तरह सामान्य व्यक्तिसे भिन्न कोई वस्तु-सत् नहीं है, उसी तरह अवयवी भी वस्तुसे भिन्न कोई वस्तुसत् नहीं। यदि अवयवी वस्तुतः एक स्वतंत्र वास्तविक पदार्थ होता तो—

"हाथ आदि (मेंसे किसी एक) के कम्पनमे (शरीर) का कपन होता, क्योकि एक (ही अखड अवयवी) मे (कम्पन) कर्म (और उसके) विरोधी (अकपन दोनों) नहीं रह सकते, ऐसा न होनेपर (कम्पनवालेसे अ-कम्पनवाला अवयवी) अलग सिद्ध होगा।"[1]

अवयवोंके योगसे अवयवी अलग वस्तु पैदा होती है, ऐसा माननेपर अवयवोंके योगके साथ अवयवी के भी मिल जानेसे अवय+अवयव+अव-यव ... =भार जितना होता है, अवयव+अवयव+अवय ... + अवयवी=भार बहुत ज्यादा होना चाहिए। क्योंकि (यदि अवयवोंके भार और उसके अनुसार तोलनेपर तराजूका) नीचे जाना होता है, तो (अवयवोंके साथ अवयवीके भी मिल जानेपर) तराजूका नीचे जाना (और अधिक) होना चाहिए।"[2]

"क्रमश (सूक्ष्म अवयवोंको बढाते हुए बहुत अवयवोंसे) युक्त धूलिकी राशिमे एक समय (अलग-अलग अवयवों और उनसे) युक्त (राशि) के भारमे भेद होना चाहिए, और इस (गौरवके) भेदके कारण (सोनेके या चाँदी-के छोटे-छोटे टुकड़ोंको) अलग-अलग तोलने तथा (उन टुकड़ोंको गलाकर एक पिंड बना) साथ (तोलने) पर सोनेके माषक (=मासा, रत्ती) आदि (मे तोलनेकी) सख्यामे समानता नही होनी चाहिए।"[3]

---

१. प्र० वा० ३।२८४ २. प्र० वा० ४।१५४

३. प्र० वा० ४।१५७, १५८

एक मासा भर सोना अलग तोलनेपर भले ही एक मासा हो, किन्तु जब ९६ मासा सोनेको गलाकर एक डला तैयार किया जाय तो उसमें ९६ मासेके ९६ टुकडोंके अतिरिक्त उससे बना अवयवी भी आ मौजूद हुआ है, इसलिए अब वजन ९६ मासासे ज्यादा होना चाहिए।

(संख्या आदिका खंडन)—वैशेषिकने सख्या, संयोग, कर्म, विभाग, आदि गुणोंको वस्तुसत्के तौरपर माना है, जिन्हें कि धर्मकीर्ति व्यवहार (=सवृति) सत् भर माननेके लिए तैयार हैं, और कहते हैं—

"सख्या, सयोग, कर्म, आदिका भी स्वरूप उसके रखनेवाले (द्रव्य) के स्वरूपसे (या) भेदके साथ कहनेसे बुद्धि (=ज्ञान) में नहीं भासित होता। (इसलिए भासित न होनेपर भी उन्हें वस्तुसत् मानना गलत है)।

"शब्दके ज्ञानमे (एक घट इस) कल्पित अर्थमें वस्तुओंके (पारस्परिक) भेदको अनुसरण करनेवाले विकल्पके द्वारा (सख्या आदिका प्रयोग उसी तरह किया जाता है), जैसे गुण आदिमें (=पाँतोमें 'एक बड़ी जाति है', यहाँ एक भी गुण और बडी भी गुण, किन्तु गुणमे गुण नहीं हो सकनेसे एक सख्याके साथ बडा परिमाणका प्रयोग नही होना चाहिए) अथवा नष्ट या अबतक न पैदा हुओंमे ('एक, दो, बहुत मर गए) या 'पैदा होंगे' का कहना। निश्चय ही जो एक, दो ... सख्या मरे या न पैदा-हुए-जैसे अस्तित्वशून्य आधारका आधेय—गुण—है, वह कल्पित छोड़ वास्तविक नही हो सकता।"[1]

(३) सांख्य दर्शनका खंडन—साख्य-दर्शन चेतन और जड़ दो प्रकारके तत्वोंको मानता है। जिनमे चेतन—पुरुष—तो निष्क्रिय साक्षी मात्र है, हाँ उसके सपर्कसे जड़तत्व—प्रधान—सारे जगत्को अपने स्वरूप-परिवर्तन द्वारा बनाता है। साख्य प्रधानमें भिन्नता नही मानता, और साथही सत्कार्यवाद—अर्थात् कार्यमे पहिलेसे ही पूर्णरूपेण कारणके मौजूद होने—को स्वीकार करता है। धर्मकीर्ति कहते हैं—

---

१. प्र० वा० २।९२

"अगर अनेक (=बीज, पानी, मिट्टी आदि) एक (प्रधान=प्रकृति) स्वरूप होते एक कार्य (अंकुर) को करते हैं, तो (वही) स्वरूप (=प्रधान) एक (बीज) मे (वैसे ही है, जैसे कि वह दूसरी जगह); इसलिए (दूसरे) सहकारी (कारण पानी, मिट्टी आदि) फजूल हैं।

"(पानी, मिट्टी आदि सहकारी कारणोंके न होनेपर बीजके रहनेसे) वह (प्रधान—मौलिक भौतिक तत्त्व तो) अ-भिन्न—(है) और (वह पानी, मिट्टी आदि बन जानेपर भी अपने पहिले) स्वरूपको नही छोड़ता (क्योंकि वह नित्य है; और) विशेष (=पानी, मिट्टी आदि) नाशमान हैं (किन्तु हम देखते हैं) एक (सहकारी जल या मिट्टी) के न होनेपर (भी) कार्य (=अंकुर) नही होता, इससे (पता लगता है कि) वह (अंकुर, प्रधानसे नही बल्कि) विशेषों (=पानी, मिट्टी आदि) से उत्पन्न होता है।

"परमार्थवाला भाव (=पदार्थ) वही है, जो कि अर्थक्रियाको कर सकता है। (ऐसे अर्थक्रिया करनेवाले हैं मिट्टी, पानी आदि विशेष) और वह (परस्पर भिन्न होनेसे कार्य=अंकुरमें) एक-रूप नहीं होते, और जिसे (तुम) एक रूप होता (कहते हो) उस (प्रधान) से (अंकुर-) कार्यका सम्भव नहीं (; क्योंकि सत्कार्यवादके अनुसार वह तो, जैसा अपने स्वरूपमें है, वैसा ही मिट्टी आदि बननेपर भी है)।

"(और प्रधानको हर हालतमें एक रूप माननेपर बीज, मिट्टी, पानी सभी प्रधान-मय और एक रूप हैं, फिर एक बीजके रहनेसे मिट्टी, पानी आदिके न होनेपर भी अंकुरको उत्पत्तिमें कोई हर्ज नहीं होना चाहिए; किन्तु हम) यह स्वभाव (देखते हैं कि) उस (कारण-) स्वरूपसे (बीज, मिट्टी, पानी आदिके आपसमें) भिन्न होनेपर कोई (=बीज, मिट्टी, आदि अंकुरका) कारण होता है, दूसरे (आग, सुवर्ण आदि) नहीं; यदि (बीज, मिट्टी, आग, पानी आदि विशेषोंका) अभेद होता, तो (अंकुरका आगसे) नाश (और बीज आदिसे) उत्पत्ति (दोनों) एक साथ होतो।"[1]

---

१. प्र० वा १।१६६-१७०

"(जो अर्थक्रिया करनेवाला¹ है) उसीको कार्य और कारण कहते हैं, वही स्व-लक्षण (=वस्तुसत्) है, (और) उसीके त्याग और प्राप्तिके लिए पुरुषोंकी (नाना कार्योंमें) प्रवृत्ति होती है।

"जैसे (सांख्य-सम्मत मूल भौतिक तत्त्व, प्रधानकी सभी भौतिक तत्त्वों—मिट्टी, बीज, पानी आगमें) अभिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (बीज, पानी, आग · ·प्रधानमय तत्त्व) सभी (कार्यों—अंकुर, घड़ा आदि) के (करनेमे) साधन नहीं होते, वैसे ही, पूर्वपूर्व कारण (क्षणिक परमाणु या भौतिक तत्त्वोंकी) सभी उत्तर-उत्तर कार्यों (मिट्टी, बीज, पानी, आग आदि) मे भिन्नताके एक समान होनेपर भी सभी (कारण) सभी (कार्यों) के (करनेमे) साधन नहीं होते।

"(यही नही, सत्कार्यवादके विरुद्ध कारणसे कार्यको) भिन्न माननेपर (सब नहीं) कोई-कोई ही (वस्तुएँ) अपनी विशेषता (=धर्म) की वजहसे (किसी एक कार्यका) कारण हो सकती हैं। किन्तु (सत्कार्यवादके अनुसार कारणमे कार्यको) अभिन्न माननेपर (सभी वस्तुएँ अभिन्न हैं, फिर उनमेंसे) एकका (कही) क्रिया (=कार्य) कर सकना और (कहीं) न कर सकना (यह दो परस्पर-) विरोधी (बातें) हैं।"²

इस प्रकार सांख्यका सत्कार्यवाद—मूलतः विश्व और विश्वकी वस्तुएँ कारणसे कार्य अवस्थामे कोई भेद नही रखती (प्रधान=पानी, प्रधान=आग, प्रधान=चीनी, प्रधान=मिर्च)—गलत है; और बौद्धोंका असत्-कार्यवाद ही ठीक है, जिसके अनुसार कि—कारण एक नहीं अनेक हैं, और हर कार्य अपने कारणसे बिलकुल भिन्न चीज, यद्यपि हर नया उत्पन्न होनेवाला कार्य अपने कारणसे सादृश्य रखता है, जिससे 'यह वही है' का

---

१. अर्थक्रियाकारी=अर्थक्रिया-समर्थ-कार्यके उत्पादनमें समर्थ, **क्रियाके उत्पादनमें समर्थ, सार्थक क्रिया करनेमें समर्थ, सफल क्रिया करनेमें समर्थ, क्रिया करनेमें योग्य, क्रिया कर सकने वाला—आदि इसके अर्थ हैं।**

२. प्र० वा० १।१७५-१७७

भ्रम होता है।

(४) **मीमांसाका-खंडन**—मीमांसाके सिद्धान्तोंके बारेमें हम पहिले-लिख चुके हैं। मीमांसाका कहना है कि प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण सामने उपस्थित पदार्थ भी वस्तुतः क्या है इसे नहीं बतला सकते, और पर-लोक, स्वर्ग, नर्क, आत्मा आदि जो पदार्थ इन्द्रिय-अगोचर हैं, उनका ज्ञान करानेमें तो वे बिलकुल असमर्थ हैं; इसलिए उनका सबसे ज्यादा जोर शब्द-प्रमाण—वेद—पर है, जिसे कि वह अ-पौरुषेय किसी पुरुष (=मनुष्य, देवता या ईश्वर) द्वारा नहीं बनाया अर्थात् अकृत सनातन मानते हैं। बौद्ध प्रत्यक्ष, तथा अशतः प्रत्यक्ष अर्थात् अनुमानके सिवा किसी तीसरे प्रमाणको नहीं मानते, और प्रत्यक्ष-अनुमानकी कसौटीपर कसनेसे वेद उसके हिंसामय यज्ञ—कर्मकांड आदि ही नहीं बहुतसी दूसरी गप्पें और पुरोहितोंकी दक्षिणाके लोभसे बनाई बातें गलत साबित होतीं; ऐसी अवस्थामें सभी धर्मानुयायियोंकी भाँति वैदिक पुरोहितोंके लिए मीमांसा जैसे शास्त्रकी रचना करके शब्दप्रमाणको ही सर्वश्रेष्ठ प्रमाण सिद्ध करना जरूरी था। बुद्ध से लेकर नागार्जुन तक ब्राह्मण-पुरोहितोंके जबर्दस्त हथियार वेदके कर्मकांड और ज्ञानकांडपर भारी प्रहार हो रहा था। युक्तिके सहारे ज्ञानकांडके बचानेकी कोशिश अक्षपाद और उनके भाष्यकार वात्स्यायनने की, जिनपर दिग्नागके कर्कश तर्क-शरोंका प्रहार हुआ, जिससे बचानेकी कोशिश पाशुपताचार्य उद्योतकर भारद्वाज (५०० ई०) ने की, किन्तु धर्मकीर्त्तिने उद्योतकरकी ऐसी गति बनाई कि वाचस्पति मिश्रको "उद्यो-तकरकी बूढ़ी गायोंके उद्धार" के लिए कमर बाँधनी पड़ी।

किन्तु युक्तिवादियों (=तार्किकों) की सहायतासे वैदिक ज्ञान—और कर्म-कांडके ठीकेदारोंका काम नहीं चल सकता था, इसलिए बादरायणको ज्ञानकांड (=ब्रह्मवाद) और जैमिनिको कर्मकांडपर कलम उठानी पड़ी। उनके भाष्यकार शबर असंगके विज्ञानवादसे परिचित थे। दिग्नागने अक्षपाद और वात्स्यायनकी भाँति शबर और जैमिनिपर भी जबर्दस्त चोट की; जिसपर नैयायिक उद्योतकरकी भाँति मीमांसक कुमारिलभट्ट मैदानमें आए।

धर्मकीर्त्ति उद्योतकरपर जिस तरह प्रहार करते हैं, उससे भी निष्ठुर प्रहार उनका कुमारिलपर है। वेद-प्रमाणके अतिरिक्त मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को भी एक जबर्दस्त प्रमाण मानते हैं, हम इन्ही दोनोंके बारेमें धर्मकीर्त्तिके विचारोको लिखेंगे।

(क) प्रत्यभिज्ञा-खंडन—पदार्थ (=राम) को सामने देखकर 'यह वही (राम) है" ऐसी **प्रत्यभिज्ञा** (=प्रामाणिक स्मृति) स्पष्ट मालूम होनेवाली (=स्पष्टावभास) प्रत्यक्ष प्रमाण है, —मीमांसकोंकी यह प्रत्य-भिज्ञा है। बौद्ध इस प्रत्यभिज्ञाको "यह वही" को कल्पनापर आश्रित होनेसे प्रत्यक्ष नही मानते और "स्पष्ट मालूम होनेवाले" के बारेमें धर्म-कीर्त्ति कहते हैं—

"(काटनेपर फिरसे जमे) केशों, (मदारीके नये-नये निकाले) गोलों, तथा (क्षण-क्षण न‌ होनेवाले नई टेमवाले) दीपों मे भी ('यह वही है' यह) स्पष्ट भासित होता है (, किन्तु क्या इससे यह कहना सही होगा कि केश—गोला—दीप वही है?)।

"जब भेद (प्रत्यक्षतः) ज्ञात है, (तो भी) वैसा (=एक होनेके भ्रमवाला अभेद-) ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष हो सकता है? इसलिए प्रत्यभिज्ञाके ज्ञानसे (केश आदिकी) एकताका निश्चय ठीक नही है।"[1]

(ख) शब्दप्रमाण-खंडन—यथार्थ ज्ञानको प्रमाण कहा जाता है, शब्दप्रमाणको माननेवाले कपिल, कणाद, अक्षपाद प्रत्यक्ष अनुमानके अति रिक्त यथार्थवक्ता (=आप्त) पुरुषके वचन (=शब्दको) भी प्रमाण मानते है। मीमांसक "कौन पुरुष यथार्थवक्ता है" इसे जानना असंभव समझते हुए कहते हैं—

(a) **अपौरुषेयता फ़जूल**—"यह (पुरुष) ऐसा (=यथार्थवक्ता) है या नही है, इस प्रकार (निश्चयात्मक) प्रमाणोंके दुर्लभ होनेसे (किसी) दूसरे (पुरुष) के दोषयुक्त (=झूठे) या निर्दोष (=सच्चे, यथार्थवक्ता)

---

१. प्र० वा० ३।५०३-५०५

होनेको जानना अति कठिन है।"[1]

और फिर—

"(किन्ही) वचनोंके झूठे होनेके हेतु (वे अज्ञान, राग, द्वेष आदि) दोष पुरुषमे रहनेवाले है, (इसलिए पुरुषवाले=पौरुषेय वचन झूठे होने हैं, और)अ-पौरुषेय सत्यार्थ ।"[2]

इसके उत्तरमे धर्मकीर्त्ति कहते हैं —

"(किन्ही) वचनोंके सत्य होनेके हेतु (ज्ञान, अराग, अ-द्वेष आदि) गुण पुरुषमे रहनेवाले हैं, (इसलिए जो वचन पुरुषके नही हैं, वह सत्य कैसे हो सकते हैं, और जो) पौरुषेय (हैं, वही) सत्यार्थ (हो सकते हैं)।[3]

'(साथही शब्दके) अर्थको समझानेका साधन है (गाय शब्दका अर्थ 'सींग-पूँछ-गलकम्बलवाला पिंड' ऐसा) सकेत (और वह सकेत) पुरुषके ही आश्रयसे रहता (पौरुषेय) है। इस (सकेतके पौरुषेय होने) से वचनाके अपौरुषेय होनेपर भी उनके झूठे होनेका दोष सम्भव है।

'यदि (कहो शब्द और अर्थका) सबंध अ-पौरुषेय है, तो (आग और आँच के सबंधकी भाँति उसके स्वाभाविक होनेसे सकेतसे) अज्ञान पुरुष को भी (सारे वेदार्थका) ज्ञान होना चाहिए। यदि (पौरुषेय) सकेतसे वह (सबंध) प्रकट होता है, तो (सकेतसे भिन्न कोई) दूसरी कल्पना (सबंधको व्यवस्थापित) नही कर सकती।

"यदि (वस्तुत) वचनोंका एक अर्थमे नियत होना (प्रकृति-सिद्ध) होता, तो (एक वचनका एक छोड़) दूसरे अर्थमे प्रयोग न होता।

"यदि (कहो—एक वचनका) अनेको अर्थों (=पदार्थों)से (वाच्य-वाचक) सबंध (स्वाभाविक) है, तो (एक ही वचनसे) विरुद्ध (अर्थों-की) सूचना होगी, फिर 'अग्निष्टोम याग स्वर्गका साधन है' इस वचनका अर्थ 'अग्निष्टोम याग नरकका साधन है' भी हो सकता है।"[4]

---

१. प्र० वा० १।२२२ २. वही १।२२७

३. वही १।२२७, २२८ ४. वही १।२२७-२३१

जैसे भी हो वेदको पुरुषरचित न माननेपर भी पिंड नहीं छूटता, क्योंकि "(शब्द-अर्थके संबंधको) पुरुष (-संकेत) द्वारा न-संस्कार्य (=न प्रकट होनेवाला माननेपर वचनोंकी ही) बिलकुल निरर्थकता होगी; (क्योंकि शब्दार्थ-संबंधके संकेतको सभी लोग गुरु-शिष्य संबंधसे ही जानते हैं, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता)। यदि (पुरुष द्वारा) संस्कार (होने) को स्वीकार करते हो तो यह ठीक गजस्नान हुआ (—वेद-वचन और उसके शब्दार्थ-संबंधको तो पौरुषेय नहीं माना, किन्तु शब्दार्थ-संबंधके संकेतको पुरुष द्वार ही संस्कार्य मानकर फिर वचनसे मिलनेवाले ज्ञानके सच-झूठ होनेमें सन्देह पैदा कर दिया)।"[1]

और वस्तुतः वेदको जैमिनि जिस तरह अपौरुषेय सिद्ध करना चाहते हैं, वह बिलकुल गलत है।—

"('चूँकि वेद-वचनोंके) कर्त्ता (पुरुष) याद नहीं इसलिए (वह) अपौरुषेय हैं'—ऐसे भी (ढीठ) बोलनेवाले हैं! धिक्कार है (जगत्में) छाये (इस जड़ताके) अन्धकारको!"[2]

अपौरुषेयता सिद्ध करनेके लिए "कोई (कहता है—) 'जैसे यह (आजका विद्यार्थी) दूसरे (पुरुष—अपने गुरु—से) बिना सुने इस वर्ण (=अक्षर) और पद (के) क्रम (वाले वेद) को नहीं बोल सकता, वैसे ही कोई दूसरा पुरुष (=गुरु) भी (अपने गुरु और वह अपने गुरु · · · ·से सुने बिना नहीं बोल सकता; और इस प्रकार गुरुओंकी परम्पराका अन्त न होनेसे वेद अनादि, अपौरुषेय सिद्ध होता है।)"[3]

किन्तु ऐसा कहनेवाला भूल जाता है—"(वेदसे भिन्न) दूसरे (पुरुषके) रचित (रघुवंश आदि) ग्रंथ भी (गुरु-शिष्यके) संप्रदायके बिना (पढ़ा) जाता नहीं देखा गया, फिर इससे तो वह (=रघुवंश) (वेदकी) तरह (अनादि) अनुमान किया जायेगा।"[4]

---

१. प्र० वा० ११२३३ २. वही ११२४२, २४३
३. वही ११२४२, २४३ ४. वही ११२४३,२४४

गुरु-शिष्य, पिता-पुत्रके संबंधसे हर एक तरहकी बात मनुष्य सीखता है, और इसीसे मीमांसक वेदको अनादि सिद्ध करते हैं, फिर "वैसा तो तो म्लेच्छ आदि (अ-भारतीय जातियों) के व्यवहार (अपनी माँ और बेटीसे ब्याह आदि) तथा नास्तिकोंके वचन (ग्रंथ) भी अनादि (मानने पड़ेंगे। और) अनादि होनेसे (उन्हें भी वेद) जैसे ही स्वतःप्रमाण मानना होगा।"[१]

"फिर इस तरहके अपौरुषेयत्वके सिद्ध होनेपर भी (जैमिनि और कुमारिलको) कौनसा फायदा होगा (; क्योंकि इससे तो सब धान बाईस-पसेरी हो जावेगा)।"[२]

(b) **अपौरुषेयताकी आड़में कुछ पुरुषोंका महत्त्व बढ़ाना**—वस्तुतः एक दूसरे ही भावसे प्रेरित होकर जैमिनि-कुमारिल एण्ड-कम्पनीने अपौरुषेयताका नारा बुलंद किया है—

"(इस वेद-वचनका) 'यह अर्थ है, यह अर्थ नहीं है' यह (वेदके) शब्द (खुद) नहीं कहते। (शब्दका) यह अर्थ तो पुरुष कल्पित करते हैं, और वे रागादि-युक्त होते हैं। (उन्हीं रागादिमान् पुरुषोंके बीच जैमिनि वेदार्थका तत्त्ववेत्ता है! फिर प्रश्न होता है—) वह एक जैमिनि · · ही) तत्त्ववेत्ता है, दूसरा नहीं, यह भेद क्यों? उस (=जैमिनि) की भाँति पुरुषत्व होते भी किसी तरह किसी (दूसरेको) ज्ञानी तुम क्यों नहीं मानते?"[३]

(c) **अपौरुषेयतासे वेदके अर्थका अनर्थ**—आप कहते हैं, चूँकि "(पुरुष) स्वयं रागादिवाला (है, इसलिए) वेदके अर्थको नहीं जानता, और (उसी कारण वह) दूसरे (पुरुष) से भी नहीं (जाना जा सकता; बेचारा) वेद (स्वय तो अपने अर्थको) जतलाता नहीं, (फिर) वेदार्थकी क्या गति होगी? इस (गड़बडी) से तो 'स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे' इस श्रुति का अर्थ 'कुत्तेका मांस भक्षण करे' नहीं है इसमें क्या प्रमाण है?

---

१. प्र० वा० १।२४८, २४९ २. वहीं १।२४९ ३. वहीं १।३१६

"यदि (कहो) लोगोंमें बात प्रसिद्ध है (जिससे इस तरहका अर्थ नहीं हो सकता), तो (सवाल होगा, सभी लोग तो रागादिवाले हैं) उनमें कौन (स्वर्ग जैसे) अतीन्द्रिय पदार्थका देखनेवाला है, जिसने कि अनेक-अर्थवाले शब्दोंमे 'यही अर्थ है' इसका निश्चय किया है ?

"स्वर्ग, उर्वशी आदि (कितने ही वैदिक) शब्दोंका (वेदज्ञ होनेका दावा करनेवाले मीमासको द्वारा किया गया लोक-) रूढ़िसे भिन्न अर्थ भी देखा जाता है (,जैसे स्वर्गका लोकसमत अर्थ है—मनुष्यसे बहुत ऊँचे दर्जेके विशेष पुरुषोका वासस्थान, जहाँ अ-मानुष सुख तथा उसके नाना साधन सदा सुलभ हैं, उसके विरुद्ध मीमासक कहते हैं, कि वह दुःखसे सर्वथा रहित सर्वोत्कृष्ट सुखका नाम है, उर्वशीका लोक-सम्मत अर्थ है, स्वर्गकी अप्सरा, किन्तु उसके विरुद्ध मीमांसक वेदज्ञ उसे अरणि या पात्री (नामक यज्ञपात्रोका पर्याय बतलाते हैं), फिर उसी तरह 'जुहुयात' का अर्थ 'कुत्ता-मांस खाओ'। सभी तरहके अर्थ लग सकनेवाले दूसरे शब्दो ('अग्निहोत्र जुहुयात')मे वैसे ही ('कुत्ता-मास खाओ' इस अर्थको) कल्पना (भी) मानो।"[1]

अपौरुषेयताका नारा पुरोहितोकी वैसी ही परवचना मात्र है, जैसे कि राजगृहका मार्ग पूछनेपर "कोई कहे 'यह ठूंठ कहता है कि यह मार्ग है', और दूसरा (पुरुष कहे 'यह मार्ग है' इसे) मैं खुद कहता हूँ। (अब आप) इन दोनाकी (वचना और सचाईकी खुद) परीक्षा कर सकते हैं।"[2]

(d) **वेदकी एक बात सच होनेसे सारा वेद सच नहीं**—वेदका एक वाक्य है "अग्निर्हिमस्य भेषज" (=आग सर्दीकी दवा है), इसे लेकर मीमासक कहते है—"चूंकि 'अग्निर्हिमस्य भेषज' यह वाक्य बिलकुल सत्य (=प्रत्यक्ष-सिद्ध) है, (उसी तरह 'अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्ग काम.' —स्वर्गचाहनेवाला अग्निहोत्र होम करे, इस) दूसरे वचनको भी (उसी) वेदका एक अश होनेसे (प्रमाण मानना चाहिए।)"[3]

---

१. प्र० वा० १।३२०-३२३ २. वहीं १।३२८ ३. वहीं १।३३३

इसके उत्तरके बारेमें इतना ही कहना है —

"यदि इस तरह (एक बातकी सच्चाईसे) प्रमाण सिद्ध होता, तो फिर यहाँ अ-प्रमाण क्या है? बहुभाषी (झूठे) पुरुषकी एक बात भी सच्ची न हो, यह (तो है) नहीं।"[1]

(c) **शब्द कभी प्रमाण नहीं हो सकता**—"जो अर्थ (प्रत्यक्ष या अनुमानसे) सिद्ध हैं, उन (के साधन) में वेद (शास्त्र) के त्याग देनेसे (कोई) क्षति नहीं; और जो परोक्ष (=इन्द्रिय-अगोचर पदार्थ हैं), वह अभी साबित ही नहीं हो सके हैं, अतः उनमें वेद (=आगम) का (उपयोग) ही ठीक नहीं हो सकता, अतः (वहाँ इसका) ख्याल ही नहीं हो सकता (इस प्रकार परोक्ष और अपरोक्ष दोनों बातोंमें वेद या शब्द-प्रमाणकी गुंजाइश नहीं।)"[2]

"किसने यह व्यवस्था (=कानून) बनाई कि 'सभी (बातों) के बारेमे विचार करते वक्त शास्त्र (=वेद) को लेना चाहिए, (और) (वेदके) सिद्धांतको न जाननेवालेको धुआँ देख आग (होने की बात) न ग्रहण करनी चाहिए।'

"(वेदके फंदेसे) रहित (वेद-वचनोंके) गुण या दोषको न जानने-वाले सहज प्राणी (=सीधे-सादे आदमीके मत्थे वेद आदिकी प्रमाणता रूपी) ये सिद्धान्त विकट पिशाच किसने थोपे।"[3]

अन्त मे धर्मकीर्तिने मीमांसकोंके प्रत्यक्ष, अनुमान जैसे प्रमाणोंको छोड़ "अपौरुषेय वेद" के वचनपर आँख मूँदकर विश्वास करनेकी बातपर जोर देनेका जबर्दस्त खंडन एक दृष्टान्त देकर किया—कोई दुराचारिणी (स्त्री) परपुरुषके समागमके समय देखी गई, और जब पतिने उसे डाँटा, तो उसने पासकी स्त्रियोंको संबोधन करके कहा—'देखती हो बहिनो! मेरे पतिकी बेवकूफीको? मेरी जैसी धर्मपत्नीके वचन (=शब्द-प्रमाण) पर विश्वास न कर वह अपनी आँखोंके दो बुलबुलों (=प्रत्यक्ष और अनु-

१. प्र० वा० १।३३८ २. वहीं ४।१०६ ३. वहीं १।५३,५४

मान) पर विश्वास करता है।"[1]

(५) अ-हेतुवाद खंडन—कितने ही ईश्वरवादी और सन्देहवादी दार्शनिक विश्वमे कार्य-कारण-नियम या हेतुवादको नही मानते। इस्लामिक दार्शनिकोमे अश-अरीने कार्य-कारण-नियमको ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्तामे भारी बाधा समझा, और इसे एक तरह भौतिकवादको छिपी हिमायत समझ, बतलाया कि चीजोके पैदा होनेमे कोई कारण पहिलेसे उपस्थित नही, अल्ला मियाँ हर वस्तुको हर वक्त बिलकुल नई—असत्मे सत्के रूपमे—बनाते है। अशअरीके अतिरिक्त कुछ सन्देहवादी आधुनिक और प्राचीन दार्शनिक भी है, जो विश्वकी वस्तुओकी रचनामे किसी प्रकारके कार्य-कारण नियमको नही मानते। वह कहते है, चीजे न किसी कारणसे बनती है, और न तुरन्त नष्ट हुए अपने पूर्वगामीके स्वभाव आदिमे सदृश उत्पत्ति होनेके किसी नियमका अनुसरण करती है। वह कहते है—

"(जैसे) काँट आदिमे तीक्ष्णता आदिका (कोई) कारण नही, उसी तरह (जगत् मे) यह सब कुछ बिना कारण (अ-हेतुक) है।'[2]

धर्मकीर्त्ति उत्तर देते हैं—

'जिसके (पहिले) होनेपर जो (बादमे) जन्मे, अथवा (जिसके) विकारमे (जिसको) विकार हो, वह उसका कारण कहा जाता है और वह इन (काँटो) मे भी है।"[3]

हर उत्पन्न होनेवाली चीजको बिलकुल नई बौद्ध दार्शनिक भी मानते है, किन्तु वह उन्हे क्षण-विनाशी विन्दुओके प्रवाहका एक विन्दु मानते है, और इस प्रकार कोई वस्तु-विन्दु ऐसा नही, जिसका पूर्व और पश्चाद्-गामी विन्दु

---

१. **प्रमाणवार्त्तिक-स्ववृत्ति १।३३७ "सा स्वामिना 'परेणसंगता त्वमित्युपालब्धाऽह—'पश्यत पुंसो वैपरीत्यं धर्मपत्न्यां प्रत्ययमकृत्वा स्वगेत्रबुद्बुदयोः प्रत्येति।"**

२. प्र० वा० २।१८०-१८१ ३. **वहीं २।१८१-१८२**

न हो। यही पूर्वगामी विन्दु कारण है और पश्चाद्गामी अपने पूर्वगामी विन्दुके स्वभावसे सादृश्य रखता है, यदि यह नियम न होता, तो आम-खानेवाला आमकी गुठली रोपनेके लिए ज्यादा ध्यान न देता। एक भाव (=वस्तु) के होनेपर ही दूसरे भावका होना, तथा हर एक वस्तुकी अपने पूर्वगामीके सदृश उत्पत्ति, यह हेतुवादको साबित करता है। जबतक विश्वमें सर्वत्र देखा जानेवाला यह उत्पत्ति-प्रवाह और सदृश-उत्पत्तिका नियम विद्यमान है, तबतक अहेतुवाद बिलकुल गलत माना जायेगा।

(६) जैन अनेकान्तवादका खंडन—जैन-दर्शनके स्याद्वाद या अनेकान्तवादका जिक्र हम कर चुके हैं। इस वादके अनुसार घड़ा घड़ा भी है और कपड़ा भी, उसी तरह कपड़ा कपड़ा भी है और घड़ा भी। इसपर धर्मकीर्त्तिका आक्षेप है—

"यदि सब वस्तु (=अपना और अन्य) दोनों रूप हैं, तो (दही दही ही है, ऊँट नहीं अथवा ऊँट ऊँट ही है दही नहीं, इस तरह दहीमें) उसकी विशेषताको इन्कार करनेसे (किसीको) 'दही खा' कहनेपर (वह) क्यों ऊँटपर नहीं दौड़ता? (—आखिर ऊँटमें भी दही वैसे ही मौजूद है, जैसे दही में)।

"यदि (कहो, दहीमे) कुछ विशेषता है, जिस विशेषताके साथ (दही वर्तमान है, ऊँट नहीं; तब तो) वही विशेषता अन्यत्र भी है, यह (बात) नहीं रही, और इसीलिए (सब वस्तु) दोनों रूप नहीं (बल्कि अपना ही अपना है, और) पर ही (पर है)।"[1]

धर्मकीर्त्तिके दर्शनके इस संक्षिप्त विवरणको उनके ही एक पद्यके साथ हम समाप्त करते हैं—

"वेद (=ग्रंथ) की प्रमाणता, किसी (ईश्वर) का (सृष्टि-) कर्तापन (=कर्तृवाद), स्नान (करने) में धर्म (होने) की इच्छा रखना, जातिवाद (=छोटी बड़ी जाति-पाँत) का घमंड, और पाप दूर करने के लि

---

१. प्र० वा० ३।१८०-१८२०

(शरीरको) सन्ताप देना (=उपवास तथा शारीरिक तपस्याएँ करना)—ये पांच हैं, अकल-मारे (लोगों) की मूर्खता (=जड़ता) की निशानियाँ।"[1]

१: प्रमाणवार्तिक-स्ववृत्ति १।३४२–
"वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारंभः पापहानाय चेति ध्वस्तप्रज्ञानां पंच लिंगानि जाड्ये॥"

अध्याय १९

गौडपाद और शंकर

(सामाजिक परिस्थिति)—धर्मकीर्तिके बाद हम शान्तरक्षित, कमलशील, ज्ञानश्री जैसे महान् बौद्ध दार्शनिकोंको पाते हैं। वैसे ही ब्राह्मणोंमें भी शंकरके अतिरिक्त और कई बातोंमें उनसे बढ़चढ़कर उदयन, गंगेश जैसे नैयायिक; तथा पार्थसारथी जैसे मीमांसक और वाचस्पति, श्रीहर्ष एवं रामानुज जैसे वेदान्ती दार्शनिक हुए हैं। इनसे भी महत्त्वपूर्ण स्थान काश्मीरके शैव दार्शनिक वसुगुप्तका है, जिन्होंने बौद्धोंके विज्ञानवादको तोड़े-मरोड़े बिना, उसे स्पन्द करनेवाले (=लहरानेवाले) क्षणिक विज्ञानके रूप ही में ले लिया; और बौद्धोंके आलय-विज्ञान (=समष्टिरूपेण विज्ञान) को शिव नाम देकर अपने दर्शनकी नींव रखी। इन दार्शनिकोंके बारेमें लिखकर हम ग्रंथको और नहीं बढ़ाना चाहते, क्योंकि अभी ही इसके पूर्वनियत आकारको हम बढ़ा चुके हैं, और एकाध जगह ग्रंथका जरूरतसे ज्यादा विस्तार करनेमें हम इसलिए भी मजबूर थे, कि वह विषय हिन्दीमें अभी आया नहीं है। अतमे हम अद्वैत वेदान्तके सस्थापक दार्शनिकोंके बारेमे लिखे बिना भारतीय दर्शनसे विदाई नही ले सकते।

उपनिषद्के दार्शनिकों और बादरायणका क्या मत था, इसके बारेमें हम पहिले काफी लिख चुके हैं, वहाँ यह भी जिक्र आ चुका है, कि इन दार्शनिकोंके विचारोंको विशिष्टाद्वैती (भूत-चेतन-सहित-ब्रह्म-वादी) रामानुज अनेक्षाकृत अधिक ईमानदारीसे प्रकट करते हैं; हाँ, बादरायणके दोषोंको कुछ बढ़ाचढ़ाकर लेते हुए। बादरायणने खुद दूसरे दर्शनों और विशेषकर बौद्धोंके प्रहारसे उपनिषद्-दर्शनको बचानेके लिए अपना

ग्रंथ लिखा था। न्याय-वैशेषिकके वाद[1] चल रहे थे, उनके खिलाफ बौद्धोंका प्रतिवाद[2] जारी हुआ; उपनिषद्-वेदान्तका वाद चल रहा था और उसका प्रतिवाद[2] बौद्ध कर रहे थे। सदियों तक वाद-प्रतिवाद चलते रहे, और दोनोंसे प्रभावित एक तीसरा वाद—संवाद—न पैदा हो, यह हो नही सकता था। पुराने न्याय-वैशेषिक वादों तथा दिग्नाग धर्मकीर्तिके प्रतिवादोंसे मिलाकर गंगेश (१२०० ई०) को हम एक नये तर्कशास्त्र (=नव्य-न्याय, तत्त्वचिन्तामणि) के रूपमें संवाद उत्पन्न करते देखते हैं, जिसमे पुराने न्याय-वैशेषिककी बहुतसी कमजोर बातोंको छोड़नेका प्रयत्न किया गया है। वसु-गुप्तने तो अपने शैवदर्शनमें ब्राह्मणोंके ईश्वर (=शिव) और बौद्धोके क्षणिक विज्ञानको ले एक अलग संवाद तैयार किया। उपनिषद् और बादरायणकी परम्परामे भी वाद, प्रतिवाद बिना अपना प्रभाव जमाए नही रह सकते थे, और इसका नतीजा था, गौडपादका बुद्धके अनुचर-दार्शनिकों नागार्जुन और असगकी शरणमे जाना। गौडपाद असगको न छोड़ते हुए भी नागार्जुनके शून्यवादके बहुत नजदीक हैं, और "द्विपदांबर" (मनुष्योंमे श्रेष्ठ) "संबुद्ध" के प्रति अपनी भक्ति खुले शब्दोंमे प्रकट करते हैं। उनके अनुयायी (प्रशिष्य ?) शंकर असगके नजदीक है, और साथ ही इस बातकी पूरी कोशिश करते हैं, कि कोई उन्हें बौद्ध न कह दे।

शंकर उस युगके थोड़े बाद पैदा हुए, जिसमे कालिदास-भवभूति-बाण जैसे कवि, दिग्नाग-उद्योतकर-कुमारिल धर्मकीर्ति जैसे दार्शनिक हुए। राजनीतिक तौरसे यह उस युगका आरंभ था, जब कि भारत पतन और चिर-दासता स्वीकार करनेकी जोरसे तैयारी कर रहा था। हर्षवर्धनका केन्द्रीकृत महान् साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो चुका था, और पुराने ग्रामीण प्रजातंत्र और कबीले (=प्रान्तों) तथा जातियोंकी प्रतिद्वंदितामें पलती मनोवृत्ति आन्तरिक विग्रहको प्रोत्साहन तथा बाहरी आक्रमणको निमंत्रण दे रही थी। हम इस्लामिक दर्शनके प्रकरणमे बतला चुके हैं,

---

१. Thesis. २. Antithesis. ३. Synthesis.

कि कैसे सातवीं सदीके दूसरे पादमें दुनियाकी दो खानाबदोश पशुपालक जातियाँ—तिब्बती और अरब—अपने निर्भीक, निष्ठुर तथा बहादुर योद्धाओंको संगठित कर एक मजबूत सैनिक शक्ति बन, सभ्य किन्तु पुंस्त्व-हीन देशोंको परास्त कर उनके सर्वस्वपर अधिकार जमानेके लिए दौड़ पड़े। गौडपाद और शंकरका समय वह था, जब कि अरब और तिब्बतका पहिला जोश खतम हो गया था, और स्रोङ-चन्-गम्बो (६३०-६९८ ई०) तथा खलीफ़ा उमर (६४२-४४ ई०) की विजयी तलवारें अपने म्यानोंमें चिर-विश्राम कर रही थीं और उनके सिंहासनोंको ठि-स्रोङ दे-चन् (८०२-४५ ई०) तथा खलीफा मामून् (८१३-३३ ई०) जैसे कोमल-कला और दर्शनके प्रेमी अलंकृत कर रहे थे। मामूनके समय अरबी भाषाको जिस तरह समृद्ध बनाया जा रहा था, ठि-स्रोङदे-चंन्के समय उसी तरह भारतीय बौद्ध साहित्य और दर्शनके अनुवादोंसे तिब्बती भाषा मालामाल की जा रही थी। यही समय था जब कि नालंदाके दार्शनिक शान्त-रक्षित—जो कि वस्तुतः अपने समयके भारतके अद्वितीय दार्शनिक थे आखिरी उम्रमें तिब्बत' से जा उस बर्बर जाति को दुःखवादी दर्शनके साथ सभ्यता की मीठी घूंट देकर भुलाना चाहते थे। फर्क इतना था जरूर कि अरबोंकी तलवारको बगदादमें ठंडी पड़ते देख, उसे उठानेवाले (मराको-वासी) बर्बर तथा मध्य एसियाके तुर्क, मुगल जैसी जातियाँ मिल जाती हैं, क्योंकि वहाँ इस्लामकी व्यवहारवादी शिक्षा तथा एक 'खास उद्देश्य' के लिए जगत्-विजय—आकांक्षा थी; लेकिन बेचारे स्रोङ-चंन्की तलवारके साथ वैसा "खास उद्देश्य" न होनेसे वह किसी दूसरेको अपना भार वहन करनेके लिए तैयार नहीं कर सकी।

बगदादमें अरबी तलवारका जो शान्ति-होम किया जा रहा था, उसके पुरोहितोंमें कुछ भारतीय भी थे, जिन्होंने अरबोंको योग, गणित, ज्योतिष, वैद्यकके कितने ही पाठ पढ़ाये; किन्तु जैसा कि मैंने अभी कहा, वह शान्त नहीं हुई, उसने सिर्फ हाथ बदला और किसी अरबकी जगह महमूद गजनवी और मुहम्मद गोरी जैसे तुर्कोंके हाथमें पड़कर भारतको भी अपने पंजेमें ले दबोचा।

यह वह समय था, जबकि भारतमें तंत्र-मंत्रका जबर्दस्त प्रचार हो रहा था, और राजा धर्मपाल (७६८-८०९) के समकालीन सरहपाद[1] (८०० ई०) जैसे तांत्रिक सिद्ध अपनी सिद्धियों और उनसे बढ़कर अपनी मोहक हिन्दी-कविताओंसे जनता और शासकवर्गका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे। शताब्दियोंसे धर्म, सदाचारके नामपर "मानव" की अपनी सभी प्राकृतिक भूखों—विशेषकर यौन सुखों—के तृप्त करनेमें बाधा-पर-बाधा पहुँचाई जाती रही। ब्रह्मचर्य और इन्द्रिय-निग्रहके यशोगान, दिखावा तथा कीर्ति-प्रलोभन द्वारा भारी जन-संख्याको इस तरहके अप्राकृतिक जीवनको अपनानेके लिए मजबूर किया जा रहा था। इसीका नतीजा था, यह तंत्र-मार्ग, जिसने मद्य, मांस, मत्स्य, मैथुन, मुद्रा (शराबके प्याला रखने आदिके लिए हाथ द्वारा बनाए जानेवाले खास चिह्न)—इन पांच मकारोंको मुक्तिका सर्वश्रेष्ठ उपाय बतलाना शुरू किया। लोग बाहरी सदाचारके डरसे इधर आनेसे हिचकिचाते थे, इसलिए उसने डबल (=दुहरे) सदाचारका प्रचार किया—भैरवी-चक्रमे पंच मकार ही महान सदाचार है, और उसके बाहर वह आचार जिसे लोग मानते आ रहे हैं। एक दूसरेसे बिलकुल उलटे इस डबल सदाचारके युगमें यदि शकराचार्य जैसे डबल-दर्शन-सिद्धान्ती पैदा हो, तो कोई आश्चर्य नहीं।

आर्थिक तौरपर देखनेसे यह सामन्तों-महन्तों और दासों-कम्मियोंका समाज था। इनके बीचमे बनिया और साहूकार भी थे, जिनका स्वार्थ शासक—सामन्त-महन्त—से अलग न था; और उन्हींकी भाँति यह भी डबल सदाचारके शिकार थे। शासक और सम्पत्तिमान् वर्ग विलासके नये-नये साधनोंके आविष्कारोंमे तथा दास-कम्मी वर्गके अपने खून-पसीने एक कर उसे जुटानेमे लगा था।—एक खाते-खाते मरा जा रहा था, दूसरा भूखसे तड़फते-तड़फते; एक ओर अपार ऐश्वर्य-लक्ष्मी हँस रही थी, दूसरी ओर नंगी-भूखी जनता कराह रही थी। यह नाटक दिल रखनेवाले व्यक्तिपर चोट पहुँचाए

---

१. देखो, मेरी 'हिन्दी काव्य-धारा' प्रथम खण्ड

मिला नहीं रह सकता था; और चोट खाया दिल दिमागको कुछ करनेके लिए मजबूर कर सकता था। इसलिए दिल-दिमागको बेकाबू न होने देनेके लिए एक भूल-भुलैयाकी जरूरत थी, जिसे कि इस तरहके और समयोंमें पहिले भी पैदा किया जाता रहा और अब भी पैदा किया जा रहा है। गौड-पाद तथा शंकर भी उसी भूल-भुलैयाके वाहन बने।

§ १—गौडपाद (५०० ई०)

१. **जीवनी**—शंकरके दर्शनके मूलको ढूँढ़नेके लिए हमे उनके पूर्व-गामी गौडपादके पास जाना होगा। शंकरका जन्म ७८८ ई० और मृत्यु ८२० ई० है। म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य[1] ने गौडपादका समय ईसाकी पाँचवीं सदी ठीक ही निश्चित किया है। गौडपादके जीवनके बारेमें हमें इससे ज्यादा कुछ नहीं मालूम है, कि वह नर्मदाके किनारे रहते थे। नर्मदा मध्यप्रान्त, मालवा और गुजरात तक बहती चली गई है, इसलिए यह भी कहना आसान नहीं है, कि गौडपादका निवास कहाँपर था।

२. **कृतियाँ**—गौडपादकी कृतियोंमें सबसे बड़े शंकर ही हैं, जिनके दीक्षा-गुरु यद्यपि गोविंद थे, किन्तु निर्माता निस्सन्देह गौडपाद थे; किन्तु उनके अतिरिक्त गौडपादका एक दर्शन-ग्रंथ आगमशास्त्र या माण्डूक्य-कारिका है। ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकापर भी गौडपादकी एक छोटीसी टीका (वृत्ति) है, किन्तु वह मामूली तथा बहुत कुछ माठर वृत्तिसे ली गई है। माण्डूक्य-कारिकामें चार अध्याय हैं, जिनमें पहिला अध्याय ही माण्डूक्य उपनिषद्से संबंध रखता है, नहीं तो बाकी तीन अध्यायोंमे गौडपादने अपने दार्शनिक विचारोंको प्रकट किया है।

गौडपादका माण्डूक्य-उपनिषद्पर कारिका लिखना बतलाता है, कि वह उपनिषद्को अपने दर्शनसे संबद्ध मानते हैं, लेकिन साथ ही वह छिपाना नहीं चाहते, कि बुद्ध भी उनके लिए उतने ही श्रद्धा और

---

१. The Agama Shastra of Gaudapada, Calcutta, 1943.

सम्मानके भाजन हैं। चौथे अध्याय ("अलातशान्ति-प्रकरण" जो कि वस्तुतः बौद्ध विज्ञानवादका एक स्वतंत्र प्रकरण ग्रंथ है) की प्रारंभिक कारिकामें ही वह कहते हैं—"मैं द्विपद्-वर[1] (=मनुष्य-श्रेष्ठ) को प्रणाम करता हूँ, जिसने अपने आकाश जैसे विस्तृत ज्ञानसे जाना (=संबुद्ध किया), कि सभी धर्म (=भाव, वस्तुएँ) आकाश-समान (गगनोपम) शून्य हैं।" इसी प्रकरणकी १९वी कारिकामे फिर बुद्धका नाम लिया गया है।[2] इसके अतिरिक्त भी उन्होंने बुद्धके उपदेश करनेकी बात दूसरी कारिका (४।२) में की है। ४२वीं (४।४२) कारिकामें वह फिर बुद्ध और ९०वीमे "अग्रयान" (=महायान) का नाम लेते हैं। ९८वी और ९९वीमें बुद्धका नाम ले (नागार्जुनकी भाँति) कहते हैं कि सभी वस्तुएँ स्वभावतः शुद्ध अनावृत्त है, इसे बुद्ध और मुक्त जानते हैं। अन्तिम कारिका (४।१००) मे वह फिर पर्यायसे बुद्धकी वंदना करके अपने ग्रथको समाप्त करते हैं।

शकरने माण्डूक्य-उपनिषद्पर भाष्य करते हुए इन स्पष्ट बौद्ध प्रभावों को हटानेकी निष्फल चेष्टा की है।

गौडपादका माण्डूक्य-उपनिषद्को ही कारिका लिखनेके लिए चुनना खास मतलबसे मालूम होता है। (१) माण्डूक्य एक बहुत छोटी सिर्फ पच्चीस पक्तिकी उपनिषद् है, जिससे वहाँ उन्हें अपने विचारोंको ज्यादा स्वतत्रतापूर्वक प्रकट करना आसान था; (२) माण्डूक्यमें सिर्फ ओम् और उसके चारों अक्षरोंसे आत्मा (=जीव) की जाग्रत आदि चार अवस्थाओंका वर्णन किया गया है; यह ऐसा विषय था, जिसमे उनके माध्यमिक-योगाचारी विचारोंके विकृत होनेकी सभावना न थी; (३) इसमे आत्माके लिए अ-दृष्ट, अ-व्यवहार्य, अ-ग्राह्य, अ-लक्षण, अ-चिन्त्य आदि जो विशेषण आए है, वह नागार्जुनके माध्यमिक-तत्त्वपर भी लागू

---

१. बौद्धोंके संस्कृत और पालि-साहित्यमें द्विपदोत्तम, या द्विपदुत्तम शब्द बुद्धके लिए आता है। देखो "आगमशास्त्र" (म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य-संपादित, कलकत्ता १९४३) २. "सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता।

होते हैं। गौडपादकी चेष्टा थी, बौद्ध दर्शनका पलड़ा भारी रखते हुए उपनिषद्से उसका संबंध जोड़ना। शून्यवादके अपनानेमें उन्हें क्षणिक अ-क्षणिकके झगड़ेमें पड़नेकी ज़रूरत न थी। शंकरने भी बौद्ध दार्शनिक विचारोंसे पूरा फायदा उठाया, किन्तु वह उसे सोलहो आने उपनिषद्की चीज बनाकर वैसा करना चाहते थे। हाँ, साथ ही वह उसे बुद्धिवादके पास रखना चाहते थे, इसलिए उन्हें योगाचारके विज्ञानवादको अपनाना पड़ा, किन्तु, विज्ञान (=चित्त)-तत्त्वकी घोषणा करते हुए उन्हें क्षणिक, अक्षणिकमेंसे एक चुनना था, शंकरने अ-क्षणिक (=नित्य) चित्त-तत्त्व स्वीकार कर अपनेको शुद्ध ब्राह्मण दार्शनिक साबित करनेका प्रयत्न किया।

३. **दार्शनिक विचार**—यहाँ हमें गौडपादके उन विचारोंमेंसे कुछके बारेमें कहना है, जिनको आधार बनाकर शंकरने अपने दर्शनकी इमारत खड़ी की।

जगत् नहीं—"कोई वस्तु न अपनेसे जनमती न दूसरेसे ही; (जो) कोई वस्तु विद्यमान, अविद्यमान या विद्यमान अ-विद्यमान है, वह (भी) नहीं उत्पन्न होती।"[1] जो (वस्तु) न आदिमें है, न अन्तमे, वह वर्त्तमान-कालमे भी वैसी ही है; झूठेकी तरह होती वह झूठी ही दिखलाई पड़ती है।"[2]

सब माया—"वस्तुएँ जो जनमती कही जाती हैं, वह भ्रमसे ही न कि वस्तुतः। उनका जन्म मायारूपी है, और मायाकी कोई सत्ता नहीं।"[3] "जैसे स्वप्नमें चित्त मायासे (द्रष्टा और दृश्य) दो रूपोंमें गति करता है, वैसे ही जाग्रतमें भी चित्त मायासे दो रूपमे गति करता है।"[4]

जीव नहीं—"जैसे स्वप्नवाला या मायावाला जीव जनमता और मरता (सा दीखता है) उसी तरह ये सारे जीव 'हैं' भी और 'नहीं' भी हैं।"[5]

परमतत्त्व—"बाल बुद्धि (पुरुष) 'है', 'न-है', 'है-न है' और 'न-है-

१. आगमशास्त्र ४।२२ २. वही ४।३१ ३. वही ४।५८
४. वही ४।६१ ५. वही ४।६८-६९

न-न हैं' इन (चारों कोटियों) में चल, स्थिर, चल-स्थिर, नचल-नस्थिर-के तौरपर (वास्तविकताको) छिपाते हैं। इन चारों कोटियोंको पकड़से भगवान् (=परमतत्त्व) सदा ढँके उन्हें नहीं छुवाई देते। जिसने उसे देख लिया वही सर्वद्रष्टा है।"[1]

शंकरके सारे मायावादकी मौलिक सामग्री यहाँ मौजूद है। और विज्ञानवाद ?—

"जैसे फिरती बनेठी सीधी या गोल आदि दीखती है, वैसे ही विज्ञान द्रष्टा और दृश्य जैसा दीखता है।"[2]

गौडपाद मानते हैं कि (१) एक अद्वय (विज्ञान) तत्त्व है जो शंकरके ब्रह्मकी अपेक्षा नागार्जुनके शून्यके ज्यादा नजदीक है; (२) जगत् माया और भ्रम मात्र है; (३) जीव नहीं है, जन्म, मरण, और कर्म-भोग किसीको नहीं होता। ये विचार "ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या जीव ब्रह्म ही है"[3] से काफी अन्तर रखता है, और वह अन्तर बौद्ध शून्यवादके पक्षमें है।

§ २–शंकराचार्य (७८८–८२० ई०)

१. जीवनी—शंकरका जन्म ७८८ ई० में मलाबार (केरल) में एक ब्राह्मण कुलमें हुआ था। अभी शंकर गर्भमें ही थे कि उनके पिता शिवगुरुका देहान्त हो गया, और उनके पालन-पोषण तथा बाल्य-शिक्षाका भार माताके ऊपर पड़ा। यह वह समय था जब कि बौद्ध, ब्राह्मण, जैन सभी धर्म अधिकसे अधिक लोगोंको साधु बनानेकी होड़ लगाए हुए थे। आठ वर्षके बालक शंकरके ऊपर किसी संन्यासी गोविन्दकी नजर पड़ी, और उन्होंने उसे चेला बनाया। जैसा कि पहिले कह चुके हैं, गोविन्दके दीक्षागुरु होनेपर

---

१. वहीं ४।८३, ८४; तुलना करो "न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्। चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः।"—सर्वदर्शन संग्रह (बौद्ध-दर्शन)। २. आगम० ४।४७

३. "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"।

भी शंकरके "शिक्षागुरु" गौडपाद बतलाये जाते हैं। एकसे अधिक शंकर-दिग्विजयोंमें शंकरके भारी भारी शास्त्रार्थों, उनकी दिव्य प्रतिभा और चमत्कारोंका जिक्र है; किन्तु हर एक धर्ममें अपने आचार्यके बारेमें ऐसी कथाएँ मिलती हैं। हम निश्चित तौर से इतना ही कह सकते हैं, कि शंकर एक मेधावी तरुण थे, बत्तीस वर्षकी कम आयुमें मृत्युके पहिले वेदान्त और दस प्रधान उपनिषदोंपर सुन्दर और विचारपूर्ण भाष्य उनकी प्रतिभाके पक्के प्रमाण हैं। शास्त्रार्थके बारेमें हम इतना ही कह सकते हैं, कि शंकरके समकालीन शान्तरक्षित ही नहीं, उनके बादके भी कमलशील (८५०ई०), जितारि (१००० ई०) जैसे महान् दार्शनिक उनके बारेमें कुछ नहीं जानते। जान पड़ता है, बौद्धोंके तर्कशसे कुछ बाणोंको लेकर शंकरने अलग एक छोटा सा शस्त्रागार तैयार किया था, जिसका महत्व शायद सबसे पहिले वाचस्पति मिश्र[1] (८४१ ई०) को मालूम हुआ; किन्तु वह तब तक गुमनाम ही पड़ा रहा, जब तक कि तुर्कोंके आक्रमणसे त्राण पानेके लिए बौद्ध-दर्शनके नेताओंने भारतको छोड़ हिमालय और समुद्रपारके देशोंमें भाग जाना नहीं पसन्द किया। हाँ, इतना कह सकते हैं, कि बौद्ध भारतके अन्तिम प्रधान आचार्य या संघराज शाक्य श्रीभद्र (११२७-१२२५ ई०) के भारत छोड़ने (१२०६ ई०) से पहिले शंकरको श्रीहर्ष[2] (११९८ ई०) जैसा एक और जबर्दस्त वरदान मिल चुका था।

२. **शंकरके दार्शनिक विचार**—शंकरने वैसे तो अपने विचारोंकी छाप अपने सभी ग्रंथोंपर छोड़ी है; किन्तु वेदान्तसूत्रके पहिले चार सूत्रों (चतुःसूत्री) के भाष्यमें उन्होंने अधिक स्वतंत्रताके साथ काम लिया है। *बौद्धोंके संवृति-सत्य और परमार्थ-सत्यको अपना मुख्य हथियार बनाकर*

---

१. शंकरके वेदान्त-भाष्यकी टीका (भामती) रचयिता।

२. शंकरके सिद्धान्तपर, किन्तु गौडपादकी भाँति नागार्जुनके शून्यवादसे अत्यन्त प्रभावित ग्रंथ "खंडन-खंड-खाद्य"के रचयिता तथा कनउजाधिपति जयचंदके सभा-पंडित।

ब्रह्मको ही एकमात्र (=द्वैत) सत् पदार्थ मानते हुए उन्होंने व्यवहार-सत्यके तौरपर सभी बुद्धि और अ-बुद्धि-गम्य ब्राह्मण-सिद्धान्तोंको स्वीकार किया।

(१) **शब्द स्वतः प्रमाण**—शब्द ही स्वत प्रमाण है, दूसरे प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण शब्द (=वेद) की कृपासे ही प्रमाण रह सकते हैं—मीमासकोंकी इस अध-पकडको व्यवहारमे शकर भी उसी तरह मानते हैं, एक तार्किक किसी बातको अपने तर्कबलसे सिद्ध करता है, दूसरा अधिक तर्क-कुशल उसे गलत साबित कर दूसरी ही बातको सिद्ध कर देता है, इस तरह तर्कके हम किसी स्थिर स्थानपर नही पहुँच सकते। सत्यकी प्राप्ति हमें सिर्फ उपनिषद्मे ही हो सकती है। तर्क युक्तिको हम सिर्फ उपनिषद्के अभिप्रायको ठीकसे समझनेके लिए ही इस्तेमाल कर सकते है। शकरके अनुसार वेदान्त-सिद्धान्तोंकी सत्यता तर्क या युक्ति (=बुद्धि) पर नही निर्भर करती, बल्कि वह इसपर निर्भर है कि वह उपनिषत्-प्रतिपादित है। इस प्रकार प्रमाणके बारेमे शकरके वही विचार थे, जो कि जैमिनि और कुमारिलके, और जिनके खडनमे धर्मकीर्ति युक्तियोंको हम उद्धृत कर चुके हैं।

(२) **ब्रह्म ही एक सत्य**—अनादि कालसे चली आती अविद्या(=अज्ञान) के कारण यह नाना प्रकारका भेद प्रतीत होता है, जिससे ही यह जन्म जरा, मरण आदि सासारिक दुख होते हैं। इन सारे दुखो की जड काटनेके लिए सिर्फ "एकआत्माही सत् है" यह ज्ञान जरूरी है। इसी आत्माकी एकता या ब्रह्म-अद्वैतके ज्ञानके प्रतिपादनको ही शकर अपने ग्रथका प्रयोजन बतलाते हैं।[1] वह ब्रह्म सत् (=अस्तित्व)-मात्र, चित् (=चेतना) और आनन्द-स्वरूप है। सत्-चित्-आनन्द-स्वरूपता उसके गुण हैं और वह उनका गुणी। यह बात ठीक नही, क्योंकि गुण-गुणीकी कल्पना भेद—द्वैत—को लाती है, इसलिए वह किसी विशेषण—गुण—से रहित निर्विशेष चित्-मात्र हैं। सभी मानसिक और शारीरिक वस्तुएँ विलीन, परिवर्तित होती जाती हैं, और उनके भीतर एक अपरिवर्तनीय परम-सत् बना रहता है। दूसरे सारे

---

१. शकर वेदान्त-भाष्य १।३।१७

दर्शन प्रमाणोंकी खोजमें है, जिसमें कि वे बाहरी वस्तुओंकी सत्यताका पता लगा सकें; किन्तु वेदान्त बाहरी दृश्यों (=वस्तुओं) की तहमें जो चरम परम-सत्य है, उसकी खोज करता है; इसीलिए वेदान्तके सामने दूसरे शास्त्र तुच्छ हैं।[1]

(३) जीव और अविद्या—ब्रह्मही सिर्फ एक तत्व है, भेद—नानापन—का ख्याल गलत है, इसे मान लेनेपर उससे भिन्न कोई ज्ञाता—जीव—का विचार ठीक नहीं रहता। "मैं जानता हूँ"—यहाँ जाननेवाले "मैं" का जो अनुभव हमें होता है, उस। जीवका अस्तित्व सिद्ध होता है, यह कहना ठीक नहीं है। इस तरहका अनुभव तथा उससे होनेवाले जीवका ज्ञान केवल भ्रान्तिमात्र है, उसी तरह जैसे सीपमें चाँद, रस्सीमें साँप, मृगतृष्णावाले बालूमें जलका प्रत्यक्ष-अनुभव तथा ज्ञान भ्रान्तिके सिवा कुछ नहीं। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयके भेदोंको छोड सिर्फ अनुभवमात्र हम ले सकते हैं, क्योंकि भेदके आदि और अन्त भी न होनेसे, वर्तमानमें भी अस्तित्व न रखनेके कारण अनुभव मात्र ही तीनों कालोंमें एकसा रहता है; फिर अनुभवमात्र—सत्तामात्र—ब्रह्म ही है। अतएव ब्रह्मके अतिरिक्त भेद-प्रतिपादक "मैं मनुष्य हूँ" इस तरहका मनुष्यता आदिसे युक्त पिंडमें ज्ञाताका ख्याल केवल अध्यास (=भ्रम) मात्र है। ज्ञाता उसे कहते हैं, जो कि ज्ञानको क्रिया करता है। क्रिया करनेवाला निर्विकार नहीं रह सकता, फिर ऐसे विकारी जीवकी सारे विकारोंके बीच एकरस, साक्षी, चित्-मात्र तत्त्वमें कहा गुजाइश हो सकती है? फिर ज्ञेय (=बाहरी पदार्थों) के बिना किसीको ज्ञाता नहीं कह सकते। आगे बतायेंगे कि ज्ञेय, दृश्य, जगत् सिर्फ भ्रममात्र हैं। "मैं जानता हूँ" यह अनुभव सब अवस्थामें नहीं होता, सुषुप्ति (=गाढ़

---

१. "तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्त-केसरी॥"
(तब तक ही दूसरे शास्त्र जंगलमें स्यारकी तरह गर्जते हैं, जब तक कि महाबली वेदान्त-सिंह नहीं गर्जता।)

निद्रा) और मूर्च्छामें उसका कहीं पता नहीं रहता, किन्तु आत्माका अहं-रहित अनुभव उस वक्त भी होता है, इसलिए अहंका ख्याल तथा उससे जीवकी कल्पना गलत है। दर्पणखंडमें मुख या चन्द्रमाका प्रतिबिंब दिखलाई पड़ता है, किन्तु सभी जानते हैं, कि वहाँ मुख या चन्द्रमा नहीं है, वह भ्रम मात्र है; इसी तरह चिन्मात्र निर्विशेष ब्रह्ममें 'अहं' या ज्ञाताका ख्याल सिर्फ भ्रम, अविद्या है। वस्तुतः ब्रह्ममें ज्ञाता—जीव—के ख्यालकी जननी यही अविद्या है—ब्रह्मपर पड़ा अविद्याका पर्दा जीवको उत्पन्न करता है।

सवाल हो सकते हैं —ब्रह्मके अतिरिक्त किसी दूसरे तत्त्वको न स्वीकार करनेवाले अद्वैती वेदान्तियोंके यहाँ अविद्या कहाँसे आ गई? अविद्या अज्ञान-स्वरूप है, ब्रह्म ज्ञान-स्वरूप, दोनों प्रकाश और अन्धकारकी भाँति एक दूसरेके अत्यन्त विरोधी एवं एक दूसरेके साथ न रह सकनेवाले हैं; फिर ब्रह्मपर अविद्याका पर्दा डालना वैसे ही हुआ, जैसे प्रकाशपर अंधकार-का पर्दा डाला जाय। वस्तुजगत्‌के सर्वथा अपलापसे इन और ऐसे हजारों प्रश्नोंका उत्तर अद्वैती सिर्फ यही दे सकते हैं, कि सत्य वही है, जिसे कि उपनिषद् बतलाते हैं। इसपर धर्मकीर्तिकी आँखोंके दो बुलबुलेवाली बात याद आ जाती है।

(४) जगत् मिथ्या—प्रमाणशास्त्रकी दृष्टिसे विचार करनेपर मालूम होता है, कि दृश्य जगत् है, किन्तु वर्तमानमें ही। उसकी परिवर्तन-शीलता बतलाती है, कि वह पहिले न था, न आगे रहेगा। इस तरह उसका अस्तित्व सब कालमें है, यह तो स्वयं गलत हो जाता है—"आदौ अन्ते च यत् नास्ति वर्तमानेऽपि तत् तथा।" वस्तुतः जगत् तीनों कालमें नहीं है। "जगत् है" में जगत्‌की कल्पना भ्रान्तिमूलक है, और "है" (=सत्) ब्रह्मका अपना स्वरूप है। "है" (=सत्) न होता, जो जगत्‌का भान न होता, इसलिए जगत्‌की भ्रान्तिका अधिष्ठान (=भ्रम-स्थान) ब्रह्म है, उसी तरह जैसे साँपकी भ्रान्तिका अधिष्ठान रस्सी, चाँदीकी भ्रान्तिका अधिष्ठान सीप।

(५) माया—"आदि अन्तमें नदारद वर्तमानमें भी वैसा" के अनुसार, यह जगत् वस्तुतः है ही नहीं, फिर यह प्रतीत (=प्रत्यक्ष अनुमानसे ज्ञात) क्यों हो रहा है?—यही तो माया है। मदारी ढेर-के-ढेर रुपये बनाता है, किन्तु क्या वह वास्तविक रुपये हैं, यदि ऐसा होता, तो उसे तमाशा दिखलाकर एक-एक पैसा माँगनेकी जरूरत न पड़ती। वह रुपये क्या हैं?—माया, मायाके अलावा कुछ नहीं। जगत् भी माया है। माँ भी माया, बाप भी माया, पत्नी भी माया, पति भी माया, उपकार भी माया, अपकार भी माया, गरीबकी कामसे पिसती भूखसे तिलमिलाती अँतड़ियाँ भी माया, निकम्मे अमीरकी फूली तोंद और ऐंठी मूछें भी माया, कोड़ोंसे लो-लोहान तड़फता दास भी माया और बेकसूरपर कोड़े चलाने वाला जालिम मालिक भी माया, चोर भी माया साहु भी माया, गुलाम हिन्दुस्तान भी माया, स्वतंत्र भारत भी माया, हिटलरकी हिंसा भी माया, गाँधीकी अहिंसा भी माया, स्वर्ग भी माया, नर्क भी माया, धर्म भी माया, अधर्म भी माया, बंधन भी माया, मुक्ति भी माया, ...। जगत् जादू है, माया है और कुछ नहीं।

यह है शंकरका मायावाद, जोकि समाजकी हर विषमता हर अत्याचारको अक्षुण्ण, अछूता रखनेके लिए जबर्दस्त हथियार है।

माया ब्रह्ममें कैसे लिपटती है?—शंकर इस प्रश्नहीको गलत बतलाते हैं। लिपटना वस्तुतः है ही नहीं, कूटस्थ एक-रस ब्रह्मपर जब उसका कोई असर हो, तब तो उसे लिपटना कहेंगे। मायामें कोई वास्तविकता नहीं, यह तो अविद्याके सिवाय और कुछ नहीं, और जैसे ही सत्य (=अद्वैत-ब्रह्म) का साक्षात्कार होता है, वैसे ही वह विलीन हो जाती है। माया क्या है?—इसका उत्तर सिर्फ यह दे सकते हैं कि वह अनिर्वचनीय (= =अ-कथ) है। वस्तु न होनेसे उसे सत् नहीं कह सकते; जगत् जीव, आदिके भेदोंकी प्रतीति होती है, इससे उसे बिलकुल असत् भी नहीं कह सकते; इस तरह उसे सत् और असत् दोनोंसे अ-निर्वचनीय (=अ-कथनीय) कह सकते हैं।

(६) **मुक्ति**—परमार्थतः पूछनेपर शंकर बंधन और मुक्तिके अस्तित्वसे इन्कार करते हैं, किन्तु उस कालके तान्त्रिकोंके जबर्दस्त डबल सदाचारकी भाँति वह अपने दर्शनके डबल सिद्धान्तको बहुत सफलतासे इस्तेमाल कर सकते थे, इसीलिए व्यवहार-सत्यके रूपमें उन्हें बंधन और मुक्तिको माननेसे इन्कार नहीं। अविद्या ही बंधन है, जिसके ही कारण जीवको भ्रम होता है, यह पहिले कह आए हैं। "निर्विशेष नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, स्वप्रकाश, चिन्मात्र, ब्रह्म ही मैं हूँ" जब यह ज्ञान हो जाता है, तो अविद्या दूर हो जाती है, और बद्ध होनेका भ्रम हट जाता है, जिसे ही मुक्ति कहते हैं। ब्रह्म सत्य है जगत् मिथ्या, जीव ब्रह्म ही है दूसरा नहीं"[1]—यही ज्ञान है, जिससे अपनेको बद्ध समझनेवाला जीव मुक्त हो जाता है; आखिर बद्ध समझना एक भ्रमात्मक ज्ञान था, जो कि वास्तविक ज्ञानके होनेपर नहीं रह सकता। "मैं ब्रह्म" हूँ उपनिषद्का यह महावाक्य ही सबसे महान् सत्य है।

व्यवहारमें जब बंधनको मान लिया, तो उससे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले (=मुमुक्षु) को साधन भी बतलाने पड़ेंगे। शंकर ने यहाँ एक सच्चे द्वैतवादीके तौरपर बतलाया, कि वह साधन चार हैं—(१) नित्य और अनित्य वस्तुओंमें फर्क करना (=नित्यानित्य-वस्तुविवेक), (२) इस लोक परलोकके फल-भोगसे विराग, (३) मनका शमन, इन्द्रियोंका दमन, त्याग-भावना, कष्ट-सहिष्णुता, श्रद्धा, चित्तकी एकाग्रता (शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधि); और (४) मुक्ति पानेकी बेताबी (=मुमुक्षुत्व)।

(७) **"प्रच्छन्न बौद्ध"**—शंकरके दर्शनको सरसरी नजरसे देखनेपर मालूम होगा, कि वह ब्रह्मवादको मानता है, और उपनिषद्के अध्यात्म-ज्ञानको सबसे अधिक प्रधानता देता है; किन्तु जब उसके भीतर घुसते हैं, तो वह नागार्जुनके शून्यवादका मायावादके नामसे नामान्तर मात्र है। यह बात इससे भी स्पष्ट हो जाती है, कि उसकी आधार-शिला रखनेवाले

१. "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः"।

गौड़पाद सीधे तौरसे बुद्ध और नागार्जुनके दर्शनके अनुयायी थे; और शंकरके अनुयायियोंमें सबसे बड़े अनुयायी श्रीहर्षका "खंडनखंडखाद्य" सिर्फ सीताराम के मंगलाचरण तथा दो-चार मामूली बातोंके ही कारण शुद्ध माध्यमिक दर्शन (=शून्यवाद) का ग्रंथ कहे जानेसे बचाया जा सकता है। इसीलिए कोई ताज्जुब नहीं, यदि परांकुशदास "व्यास" ने कहा—

"वेदोऽनृतो बुद्धकृतागमोऽनृतः,
प्रामाण्यमेतस्य च तस्य चानृतम्।
बोद्धाऽनृतो बुद्धिफले तथाऽनृते,
यूयं च बौद्धाश्च समानसंसदः॥"[1]

"(शंकरानुयायियो! तुम्हारे लिए) वेद (परमार्थतः) अनृत (=असत्) हैं, (वैसे ही शून्यवादी बौद्धोंके लिए) बुद्धके लिए उपदेश अनृत हैं; (तुम्हारे लिए) इस (=वेद) का और (उनके लिए) उस (=बुद्ध-आगम) का प्रमाण होना गलत है। (तुम दोनोंके लिए) बोद्धा (=ज्ञाता, जीव) अनृत है, (उसी तरह) बुद्धि (=ज्ञान) और (उसका) फल (=मुक्ति) भी अनृत है; इस प्रकार तुम और बौद्ध एक ही भाई-बिरादर हो।"

इसीलिए शंकर "प्रच्छन्न बौद्ध" कहे जाते हैं।

---

१. रामानुजके वेदान्त-भाष्यकी टीका "श्रुतप्रकाशिका"

परिशिष्ट

१–ग्रंथ-सूची

Das Gupta (S. N.)	History of Indian Philosophy, 2 Vols.
Radhakrishnan (S.)	Indian Philosophy, 2. Vols
Vidyabhushana (S. C.)	History of Indian Logic.
Stcherbatsky (T. H.)	Buddhist Logic, 2 Vols.
Winternitz	History of Indian Literature, Vol. II.
Lewis (G. E.)	History of Philosophy.
Lewis (John)	Introduction to Philosophy, 1937
De Boer (T. J.)	History of Philosophy in Islam, 1903.
Thilly	History of Philosophy.
Macdougall	Modern Materialism and Emergent Evolutions, 1929.
Stapledon	Philosophy and Living, 1939.
Feuerbach (L.)	Atheism.
	Essence of Christianity.
Engels (F.)	(Anti-Duhring)
Marx (Karl)	Capital, 3 Vols.
	Thesis on Feuerbach
	Holy family
	Poverty of Philosophy.
Marx and Engels	German Ideology.
	Communist Manifesto.

	(इस्लामी दर्शन)
ग़ज़ाली	अह्याउ'ल्-उलूम
	तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा
इब्न-रोश्द	तोहाफ़तु'त्-तोहाफ़तु'ल्-फ़िलासफ़ा
इब्न-खल्दून	मुकद्दमये-तवारीख़
शिब्ली नेमानी	अल-ग़ज़ाली
	अल्-कलाम
मुहम्मद यूनस् अन्सारी	इब्न-रोश्द
	(भारतीय दर्शन)
	ऋग्वेद
	शतपथ-ब्राह्मण
	उपनिषद् (ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंड, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर, कौषीतकि, मैत्री)
	महाभारत
	भगवद्गीता
	परमसंहिता (पंचरात्र)
गौतम	गौतम-धर्मसूत्र
बुद्ध (गौतम)	सुत्त-पिटक (दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, अंगुत्तरनिकाय, उदान)
	विनयपिटक (पातिमोक्ख, महावग्ग, चुल्लवग्ग)
	लंकावतार-सूत्र
नागसेन	मिलिन्दप्रश्न
नागार्जुन	विग्रह-व्यावर्तनी
	माध्यमिक-कारिका
वसुबंधु	विज्ञप्तिमात्रता-सिद्धि (त्रिंशिका)
दिग्नाग	प्रमाणसमुच्चय

धर्मकीर्ति	न्यायबिन्दु
	प्रमाणवार्त्तिक
	वादन्याय
अक्षपाद (गौतम)	न्याय-सूत्र
कणाद	वैशेषिक-सूत्र
पतंजलि	योग-सूत्र
बादरायण	वेदान्त-सूत्र
जैमिनि	मीमांसा-सूत्र
ईश्वरकृष्ण	सांख्य-कारिका
प्रशस्तपाद	वैशेषिक-भाष्य
उद्योतकर	न्यायवार्त्तिक
जयंत भट्ट	न्यायमंजरी
गौडपाद	माडूक्य-कारिका
शंकर	वेदान्त-भाष्य
रामानुज	वेदान्त-भाष्य
परांकुशदास (व्यास)	वेदान्त टीका (श्रुतप्रकाशिका)
श्रीहर्ष	खण्डन-खण्ड-खाद्य
	नैषधीयचरित
माधवाचार्य	सर्वदर्शनसंग्रह
बाण	हर्षचरित
भर्तृहरि	वैराग्यशतक
वराहमिहिर	बृहत्संहिता
राहुल सांकृत्यायन	बुद्धचर्या
	विश्वकी रूपरेखा
	मानव-समाज
	वैज्ञानिक-भौतिकवाद
	ईरान
	कुरानसार
	पुरातत्त्व-निबंधावली

२—पारिभाषिक-शब्द-सूची

अक्ल—Nous (विज्ञान)
अखवानुस्सफ़ा—पवित्र-संघ
अज्ञेयवाद—Agnosticism.
अतिभौतिकशास्त्र—Metaphysics.
अतिमानुष आत्माएँ—अजराम्-अलुव्वा
अद्वैत—तौहीद
अद्वैतवाद—Monism.
अध्यात्मदर्शन—Metaphysics.
अनीश्वरवाद—Atheism.
अनुभयवाद—Neutrism.
अन्तर्व्यापन—Interpenetration.
अन्तर्हित शक्ति—इस्तेदादे-कूवत्
अफ़लातूनीवाद। नवीन—neo Platonism.
अभावग्रस्त—Negated.
अरूपवाद—Nominalism.
अर्यघेना—Eregena.
अवयवी—Whole.
अस्बीलिया—Seville.
आकृति—Form (सूरत)
आचारशास्त्र—Ethics.
आत्मकण—Monad.
आत्मकणवाद—Monadism.
आत्मसम्मोहन—Self-hypnotisation.
आत्मा—Self, soul, spirit, (नफ़्स)
आत्मा—नातिक—, रूहे-अक्ली
आत्मानुभूति—Intuition.
आत्मिक। जीवन—Spiritual life.
आधार। कार्य—, इन्फ़आल्
आसमानोंकी दुनिया—आलम्-अफ़्लाक्।
ईश्वरमें समाना—हुलूल्
ईसाई जहाद—Crusade.
उटोपिया—Utopia.
उपलब्धि— Perception.
एकीकरण—Concentration.
कर्दोवा—Cardova (in Spain)
कर्तृविज्ञान—Creative spirit.
कल्पनामय—Abstract.
कारण—cause.
कार्य—Effect.
कार्यकारणवाद—Causality.
कार्यकारण-संबंध—Causality.

कार्यक्षमता—आदत
काव्यशास्त्र—Poetics.
किरणप्रसरण—Radiation
क्वन्तम् सिद्धान्त—Quantum.
खगोलीय यंत्रशास्त्र—Celestial Mechanics.
गरनाता—Granada (in Spain).
गुण—Quality.
गुणात्मक परिवर्तन—Qualitative change.
घटना—Event.
चिन्तन—Contemplation.
चेतनावाद—Idealism.
जगजीवन—नफ़्स-आलम्
जालीनूस्—Galen
जीव—Soul, रूह, फ़लक, अव्वल
जीवन—Life.
ज्ञाता—मुद्रिक
ज्ञानकी प्रामाणिकता—Validity of knowledge.
तत्त्व—Element.
तर्कशास्त्र—Logic
तलेतला—Toledo (in Spain)
तुफ़ैल। इब्न—Abubacer.
तृष्णा—Will.
दर्शन—Philosophy.
दिव्य चमत्कार—मोजेज़ा
दिशा—Space.
देव—अफ़लाक्
देवजगत्—आलमे-अफ़लाक्
देवता—अफ़लाक्, आस्मान्, फ़रिश्ता
देवलोक—आलम्-अफ़लाक्,
देवात्मा—अज्राम्-अफ़लाक् जरम्-अफ़लाक्
देश—Space.
द्रव्य—Substance.
द्वंद्ववाद— Dialectics.
द्वंद्वात्मक भौतिकवाद—Dialectical materialism.
द्वंद्वात्मक विकास—Dialectical evolution.
द्वंद्वात्मक विज्ञानवाद–Dialectical idealism.
द्वैतवाद—Dualism.
धर्ममीमांसा—फ़िक़ा
धातुत्रय—मवाल्लीद-सलासा (= धातु, वनस्पति, प्राणी)
नफ़्स—nous, अक़्ल, आत्मा, ब्रह्म, विज्ञान
नातिक बुद्धि—Nautic nous.
नातिक विज्ञान—Nautic nous.
नाम—Mind.

नामवाद—Nominalism.
नास्तिकवाद—Atheism.
निमित्तकारण—Efficient Cause.
नियतिवाद—Determinism.
निराकार—Abstract.
परम—Absolute.
परमतत्त्व—Absolute.
परमशरीर—जिस्मे-मुतलक़्
परमाणुवाद—Atomism.
परमात्मतत्त्व—Absolute, Absolute self.
परिचय—अद्राक्
परिचय। होशके साथ—, अद्राक् शऊरी।
परिचय। होशके बिना—, अद्राक् ला-शऊरी
परिमाण—Quantity.
परिवर्तन—Change.
पवित्रसंघ—अक़वानुस्सफ़ा
पहचान—अद्राक्
प्रकृति—Hyla, nature, भूत, माद्दा, हेवला
प्रतिषेधका प्रतिषेध—Negation of negation.
प्रतिवाद—Antithesis.
प्रतीयमान जगत्—Phenomena
प्रत्यक्ष—Perception.
प्रत्यक्षीकरण। सम्मिलित—हिस्स-मुश्तरक्,
प्रभाववाद—Pragmatism,.
प्रमेय—Category.
प्रयोग—Practice.
प्रयोगवाद—Empiricism.
प्रयोजनवाद—Teleology.
प्रवाह—Continuity.
प्राकृति प्राकृतिक—हेवलानी, तबई
प्राकृतिक पिंड—जिस्म-तबई
प्रामाण्य—Validity of knowledge.
पैगंबर-वाक्य—हदीस्
फ़रिश्ता—फ़लक, देवता
फ़लक-अव्वल—जीव
बाजा। इब्न—, Avempace.
बाह्यजगत्—Phenomenon.
बुद्धिपूर्वक—Rational.
बुद्धिवाद—Rationalism.
ब्रह्म—अक़्ल, नफ़्स
ब्रह्मलय—हलूल्
ब्रह्मलीनता—फ़नाफ़िल्लाह
ब्रह्मवाद। सर्व—Pantheism.
भाग्यवाद—Determinism.
भाषणशास्त्र—Rhetorics.
भूत—माद्दा,Matter.

भोगवाद—Hedonsim.
भौतिकतत्त्व—Matter (माद्दा)
भौतिक पिंड—जिस्म-तबई
भौतिकवाद—Materialism.
भौतिकवाद। यांत्रिक—Mechanical materialism.
भौतिकवाद। वैज्ञानिक—Scientific materialism.
भौतिकशास्त्र—Physics.
मन—Mind.
मनुष्यमापवाद—Pragmatism.
मनोमय—Rational.
मात्रा—Quantity.
माद्दा—प्रकृति,Hyla, matter,
मानवजीव—नफ़्स इन्फ़आल्
मानवता—नफ़्स-आलम्
मूलतत्व—Element.
मूल स्वरूप—Arche-type.
यथार्थवाद—Realism.
योगिप्रत्यक्ष—Intuition.
रहस्यवाद—Mysticism.
रूप— Matter.
रोश्द। इब्न—Averroes.
वरुण—Uranus.
वस्तु-अपने-भीतर—Thing-in-itself.
वस्तुवाद—Realism.
वस्तुसार—Objective reality, Nomena, thing-in-itself.
वस्तुसारवाद—Noumenalism.
वाद—Theory, Thesis, कलाम
वादशास्त्र—इल्म-कलाम
वादशास्त्री—मुतकल्लमीन्
विकास— Evolution.
विकास। सृजनात्मक—Creative evolution.
विचार—Idea.
विच्छिन्न प्रवाह—Discontinuous continuity.
विच्छिन्न सन्तति—Discontinuous continuity.
विच्छेदयुक्त प्रवाह—Discontinuous continuity
विज्ञान—Idea, intelligence, mind, nous, (नफ़्स) science.
विज्ञान। अधिकरण—अक़्ल-इन्फ़आल्, नफ़्स-इन्फ़आल्
विज्ञान। अभ्यस्त—अक़्ल-मुस्तफ़ाद
विज्ञान। एक—वाहदत्-अक़्ल्
विज्ञान। कर्ता—अक़्ल-फ़आल,

नफ़्स-फ़आल
विज्ञान। क्रिया—नेफ़्स-फ़ेअली
विज्ञान। जगदात्मा—अक्ल-अव्वल्
विज्ञान। ज्ञाता—अक्ल-मुद्रिक
विज्ञान। देव—अक्ल-सानी
विज्ञान। देवात्मा—अक्लसानी
विज्ञान। नातिक्—Nautic
nous, नफ़्स-नातिक
विज्ञान। परम—अक्ल-मुत्लक
विज्ञान। प्राकृतिक—अक्लमाद्दी
अक्ल-हेवलानी
विज्ञान। मानव—नफ़्स-इन्सानी
विज्ञानकण—Monad.
विज्ञानवाद—Idealism.
विज्ञानीय शक्ति—अक्ली कूवत
विभाजन—Differentiation.
विरस्—Virus.
विरोधि समागम—Unity of opposites.
विशेष—Particular.
विश्लेषण—Analysis.
विश्वात्मा—Logo.
वेदना—Sensation.
वैज्ञानिक भौतिकवाद—Scientific materialism, Dialectical materialism.
व्यक्ति—Particular.
शक्ति। अन्तर्हित—इस्तेदाद-कूवत
शारीरक (ब्रह्म) वाद—Organism, pantheism.
शिवता—सआदत
सेविली—Seville (in Spain).
संक्षेप—तल्खीस्
सन्तति—Continuity.
सन्तान—Continuity.
सन्देहवाद—Scepticism.
संपूर्ण—Whole, अवयवी
समन्वय—Harmony.
सलेबीजंग—Crusade.
संवाद—Synthesis.
साइंस—Science.
साकार—Objective, concrete.
सापेक्ष—Relative.
सापेक्षतावाद—Relativity.
सामर्थ्य—सलाहियत्
सामान्य—Universal, जाति
सिद्धान्त—Theory.
सिद्धि—मोजज़ा
सीमापारी—Transcendental.
सूरत—आकृति
सोफ़ी—Sophist.
सोफ़ीवाद—Sophism.

स्कोलास्तिक आचार्य—Scholastic doctor.
स्तनधारी—Mammal.
स्थिति—Duration
स्पर्श—Impression
स्मृति—हदीस्, हिफ्ज़
स्मृति। उच्च परिचयोंको—हिफ्ज़ मआनी।
स्मृति। सामूहिक—हिफ्ज़-मज्मुई
स्वत उत्पन्न—*A priori*
स्वत सिद्ध—*A priori.*
अस्वत सिद्ध—*A posteriori.*
अस्वत. उत्पन्न—*A posteriori.*
innate.
स्वभाव—Character.
स्वयंभू—*A priori*, innate.
स्वरूप—Character.
स्वलक्षण—Character.
हलूल—ईश्वरमें समाना, ब्रह्मालय
हेतु—Cause.
हेतुता—Causality.
हेतुवाद—Causality.
हेवला—Hyla प्रकृति
हेवलानी—प्राकृतिक, माद्दी

३—दार्शनिकोंका कालक्रम

पश्चिमी यूनानी—	ई० पू०	ई० पू०	भारतीय
		१०००	वामदेव
		७००	प्रवाहण जैवलि
		७००	उद्दालक आरुणि
		६५०	याज्ञवल्क्य
		६००	चार्वाक
थेल्	६४०-५५०		
अनक्सिमन्दर	६१०-५४५	६००	कृश सांकृत्य
अनक्सिमन	५९०-५५०	५००	वर्धमान महावीर
पिथागोर	५७०-५००	५००	पूर्ण काश्यप

पश्चिमी	ई० पू०	ई० पू०	भारतीय
क्सेनोफोन	५७०-४८०	५६३-४८३	बुद्ध
परमेनिद	५४०-४८३	५००	अजित केशकम्बल[1]
		५००	संजय
		५००	गोशाल
हेराक्लितु[1]	५३५-४२५		
एम्पेदोकल	४९०-४३०		
सुक्रात	४६९-३९९	४००	कपिल
देमोक्रितु[1]	४६०-३७०		
अफलातूँ	४२७-३४७	४००	पाणिनि
देवजेन	४१२-३२२		
अरस्तू	३८४-३२२		
(सिकन्दर)	३५६-३२३	(३२१-२९७	चन्द्रगुप्त मौर्य)
		(२६९	अशोक मौर्य)
पिर्हो	३६५-२७०		
एपीकुरु[1]	३४१-२७०		
जेना	३३६-२४६		
थ्योफास्तु	२८७		
नेलुस	१३३	१५०	नागसेन
		(१५०	पतंजलि वैयाकरण)
अन्द्रानिकुस्	८६		

सन् ईसवी

(नव-अफलातूनी दर्शन)—

फिलो यूदियो	२५-५०		
अन्तियोक्	६८	१००	(विज्ञानवाद)

---

१. भौतिकवादी

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
		१००	(वैभाषिक)
		१५०	कणाद
अगस्तिन्	१६६	१७५	नागार्जुन
प्लोतिनु	२०५-७१	२५०	अक्षपाद
	२४	२५०	पतंजलि (योग)
पोर्फिरी	२३३		
मानी (ईरान)	२४५		
		३००	बादरायण
		३००	जैमिनि
		३००	सौत्रान्तिक
		(३४०-७५	समुद्रगुप्त, राजा)
अगस्तिन, सन्त—	३५३-४३०	(३८०-४१५	चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य)
		४००	बौधायन
		४००	उपवर्ष
		४००	वात्स्यायन
		३५०	असंग
		४००	वसुबंधु
		४००	शबर
		४००	प्रशस्तपाद
हिपाशिया (वध)	४१५	४००	कालिदास
		४२५	दिग्नाग
		(४७६	आर्यभट ज्योतिषी)
मज्दक (ईरान)	४८०-५३१	५००	उद्योतकर
(ईसाइयो द्वारा	५००		गौडपाद
दशन पढना निषिद्ध)	५२९	५५०	कुमारिल

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
[illegible]	५४९	(६००	हर्षवर्धन, राजा)
[illegible]—			
(मुहम्मद पैगम्बर)	५७०-६३२	६००	धर्मकीर्ति
		६००	सिद्धसेन (जैन)
(म्वाविया, खलीफा दमिश्क)	६६१-८०		
		७००	प्रज्ञाकर-गुप्त
		७२५	धर्मोत्तर
		७२५	ज्ञानश्री
(अब्दुल अब्बास, खलीफा, बगदाद)	७४९-५४		
(मंसूर-खलीफा बगदाद)	७५४-७५		
		७५०	अकलंकदेव (जैन)
		८००	गोविंदपाद
मुकफ़्फ़ा	७५४		
(हारून, खलीफा बगदाद)	७८६-८०९	८००	वसुगुप्त (कश्मीर-शैव)
		७४०-८४०	शान्तरक्षित
(मामून, खलीफा बगदाद)	८११-३३	७८८-८२०	शंकराचार्य
अल्लाफ़	८३०		
किन्दी	८३५	८४१	वाचस्पति मिश्र
नज्ज़ाम	८४५		
इब्न-मैमून	८५०		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
एरिगेना	८१०-७७		
जहीज	८६९		
"अखवानुस्सफा"	९००		
अश्अरी	८७३-९३५		
किन्दी	८७०		
राजी	९२३		
फाराबी	८७०-९५०		
(फिर्दोसी कवि)	८४०-१०२०	९८४	उदयनाचार्य
मस्कविया	१०३०	१०००	जितारि
(अल्-बेरूनी)	९७३-१०४८	१०००	रत्नकीर्त्ति
सीना	९८०-१०३७	१०००	जयन्त भट्ट
जिब्रोल	१०२१-७०	१०२५	रत्नाकरशान्ति
गजाली	१०५९-११११		
बाजा	११३८		
(तोमरत)	११४७		
तुफैल	-११८५	१०८८-११७२	हेमचन्द्र सूरि
रोश्द	११२६-११९८,	(११९४	जयचंद राजा)
		११९०	श्रीहर्ष
इब्न-मैमून	११३५-१२०८	१२००	गगेश
यूरोपीय दार्शनिक—		११२७-१२२५	शाक्य श्रीभद्र
[मध्यकाल—			
राजर बैकन	१२१४-९४		
तामस् अक्विना	१२२५-७४		
द्वितीय फ्रेडरिक, होहेन्सटाफेनका राजा	(११९४-१२५०)		

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
रेमोंद लिली	१२२४-१३१५		
पिदारक	१३४-७४		
(इब्न-खल्दून)	१३३२-१४०६		
(ल्योनार्दो-दा-विन्ची)	१४५२-१५१९		
(कस्तुन्तुनिया तुर्कोंके हाथमे)	१४५३		

आधुनिक काल—

बेकन	१५६१-१६२६		
हॉब्स	१५८८-१६३९		
दे-कार्त	१५९६-१६५०		
(क्राम्वेल्)	१५९९-१६५८	(१६२८-१६५८	शाहजहाँ)
स्पिनोजा	१६३२-७७	(१६२७-८०	शिवाजी)
लॉक	१६३२-१७०४	(१६५८-१७०७	औरंगजेब)
लाइब्निट्ज	१६४६-१७१६		
(चार्ल्सका-शिरच्छेद)	१६४९		
टॉलैंड	१६७०-१७२२		
बर्कले	१६८५-१७५३		
वोल्तेर	१६९४-१७७८	(१७५७-६०	क्लाइव)
हार्टली	१७०४-५७		
ला मेत्रा*	१७०९-५१		
ह्यूम*	१७११-७६		
रूसो	१७१२-७८		
हेलवेशियस*	१७१५-७१	(१७७२-८५	वारेन हेस्टिंग्स)
		(१७८६-९३	कार्नवालिस्)

पश्चिमी	ई०	ई०	भारतीय
(नेपोलियन)			
कान्ट	१७२४-१८०४		
(जेनर, चेचक टीका	१७४९-१८२३		
दो 'ल्बाख*	१७२३-८९		
कबानिस्*	१७५७-१८०८		
फिख्टे	१७६२-१८१४		
हेगेल्	१७७०-१८३१	(१७७४-१८३३	राजा राममोहन राय)
शेलिंग	१७७५-१८८४		
शोपेनहार	१७८८-१८६०		
फ्वेरबाख़	१८०४-७२		
मार्क्स	१८१८-८३	(१८२४-८३	दयानंद)
स्पेन्सर (हर्बर्ट)	१८२०-१९०३		
एन्गेल्स	१८२१-९५		
(मेंडेल)	१८२२-८४		
(पास्तोर)	१८२२-९७		
बुख्नेर*	१८२४-९९		
माख्	जन्म १८३८		
जेम्स, (विलियम)	१८४२-१९१०		
निट्ज़्शे	१८४४-१९००		
ब्राडले	जन्म १८४६		
डेवी	जन्म १८५९		
बेर्गसाँ	१८५९-१९४१		
ह्वाइटहेड	जन्म १८६१		
लेनिन*	१८७०-१९२४		
रसल (बर्टरंड)	जन्म १८७२		

परिशिष्ट

४—नाम-सूची

परिशिष्ट

५—शब्द सूची